संस्कृत काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक १४
ग्रन्थमाला सम्पादक :
डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आ. ने. उपाध्ये,
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण : सितम्बर १९७१

संस्कृत काव्यके विकासमें
जैन कवियोंका योगदान

(शोध-प्रबन्ध)

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री

©

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

○ ○ ○ ○

SANSKRIT KĀVYA KE VIKĀSA MEN
JAINA KAVIYON KĀ YOGADĀNA

(Thesis)

Dr. Nemichandra Shastri

Published by : BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6
(*Phone* : 272582. *Gram* : 'JNANPITH', Delhi)

Price
Rs 30.00

मूल्य : तीस रुपये

समर्पण

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं पाली आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं
और उनके वाङ्मयके मूधन्य विद्वान्, प्रतिभाके अपूर्व धनी
शोध-खोजके मर्मज्ञ एवं प्रथित यशस्वी
परमादरणीय डॉ. ए. एन. उपाध्ये
कोल्हापुरके करकमलोंमें
सादर और सभक्ति
समर्पित

श्रद्धावनत
नेमिचन्द्र शास्त्री

प्राक्कथन

महर्षि वाल्मीकिने आदि महाकाव्य रामायणकी रचना की। उनका यह प्रयास निरुद्देश्य नहीं था। वे एक ऐसे गुणवान्, शक्तिशाली, धर्मात्मा, विद्वान् महापुरुषको अपने काव्यका नायक बनाना चाहते थे जो लोक-कल्याण हेतु आदर्श माना जा सके। इसके लिए नारदजीने उन्हें रामके चरित्रका सुझाव दिया। किन्तु उस कार्य हेतु आन्तरिक प्रेरणा उन्हें तब मिली जब उन्होंने एक व्याध द्वारा क्रौंच पक्षीका घात होते देखा, और उसकी वियोगिनी क्रौंचीका करुण चीत्कार सुना। उनके हृदयमें शोककी लहर उठ खड़ी हुई और उनके मुखसे एक वाक्य निकल पड़ा। वह साधारण वाक्य नहीं था। वह था पदबद्ध समक्षर तन्त्रीलय-समन्वित श्लोक। ऋषिका शोक ही तो श्लोकके रूपमें प्रस्फुटित हुआ—'शोकः श्लोकत्वमागतः'। और उसीका अनुचिन्तन करते हुए वे उस महाकाव्यकी रचनामें प्रवृत्त हो गये। वह छन्द भी अपूर्व था, और उस छन्दमें रचा गया रामायण काव्य भी अद्वितीय बन पड़ा, जो युग-युगान्तरोंसे प्रचलित और सहस्रों कवियोंको प्रेरणादायक होता हुआ आज भी अपनी कोटिका बेजोड़ है। ध्यान देनेकी बात यह है कि इस आदिकाव्य, इस अमरकृतिका मूलस्रोत करुणरस है जिसका स्थायीभाव शोक है। किसी शृंगार या वीररसकी भावनासे इस महाकाव्यकी उत्पत्ति नहीं हुई।

भले ही नाट्यशास्त्रके कर्ता कहें कि नाटकका प्रधान रस शृंगार या वीर होना चाहिए, किन्तु रामायणकी कथाको नाटकके रूपमे उपस्थित करनेवाले महाकवि भवभूतिने प्रबल शब्दोंमें कहा है कि—

एको रस. करुण एव निमित्त-भेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त-बुद्बुद्-तरङ्ग-मयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

अर्थात् जैसे जल तत्त्व तो एक ही है, किन्तु बाह्य कारणोंसे विकृत होकर वह भँवर, बुलबुले व तरंग आदि नाना रूपों में दिखाई देने लगता है। उसी प्रकार रस तो एक ही है, और वह है करुण। वही करुणरस निमित्त-भेदसे अन्य नाना रसोंके रूपमें प्रकट होता हुआ दिखलाई पड़ता है। भवभूतिने अपने नाटक 'उत्तररामचरित' में उसके नायक राम और नायिका सीताके माध्यमसे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह करुण-

रस ही है जो न केवल मानव व अन्य प्राणियोंके हृदयको द्रवित कर सकता है, किन्तु वह पाषाणको भी रुला सकता है और वज्रके हृदयको भी विदीर्ण कर सकता है—

"अपि ग्रावा रोदिति अपि दलति वज्रस्य हृदयम्"

कारुण्यकी यह गरिमा मानवीय है, और विश्वव्यापी है। जहाँ भी और जब भी तत्त्व-वेदियो ने जीवन की अनुभूतियोंका वास्तविक विश्लेषण किया है, वे इसी निष्कर्षपर पहुँचे है कि हृदयको प्रभावित करनेवाली प्रबल भावना जैसी करुणा है वैसी अन्य कोई नही। एक अँगरेज़ीके महाकविने भी कहा है कि—

"Our sweetest memories are those which speak of the saddest thoughts." अर्थात् हमारी मधुरतम स्मृतियाँ वे ही हैं जो शोकको चरम-सीमाके विचारोका उद्घाटन करती हैं। यहाँ जो शोकको माधुर्यसे जोड़ा गया है उसका अभिप्राय किसीके दु:खमें सुखानुभवनसे नही है। वह तो मानवीय नही, पैशाचिक वृत्ति है जो व्यावहारिक भाषामें क्रूरता, निर्दयता कहलायेगी। यहाँ माधुर्यसे तात्पर्य उस काव्योचित गुणसे है जो घटनाके क्षेत्रसे विचार व भावनाकी परिधिमे आकर एक अद्भुत हृदयग्राही आनन्दका अनुभव कराता है और जिसे शास्त्रकारोंने काव्यरसको संज्ञा प्रदान की है।

यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि काव्यरसोमें करुणरस प्रधान है, तब अन्य आठ-नौ काव्यरसोका क्या स्थान है, और नाटककारोने शृंगार व वीररसको हो नाटकका प्रधान रस बनानेका क्यो विधान व प्रयास किया है? इस बातको समझनेके लिए हमें कुछ गहराईसे विचार करनेकी आवश्यकता है। यथार्थत: जीव-जगत्में तो दु:ख-क्लेशकी हो अधिक व्यापकता है और इसो अनुभूतिने एक मौलिक चेतना बनकर परस्पर कल्याण हेतु, सघर्ष में विजयी होनेके लिए परिवार व समाज रचनाको जन्म दिया है। इसी मौलिक चेतनाने भिन्न परिस्थितियोमें विभिन्न रूप धारण किये है जिसमें प्राबल्य है, राग और द्वेषका, आकर्षण और अपकर्षणका। इन्ही ने सुख और सम्पन्नताके वातावरणमें भोग-विलास अथवा ईर्ष्या और विद्वेषका स्वरूप धारण किया जिन्हे काव्यमे शृंगार और वीरताकी संज्ञा दी गयी है। जो संस्कृत नाटक राजभवनो तथा सामन्तशाहीके परिवेशमे लिखे गये उनमें इन दो रसोका प्राधान्य स्वाभाविक था। किन्तु इन परिस्थितियोंसे हटकर जिन नाटक या काव्यके रचयिताओने साधारण जीवनकी वास्तविकताओंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया उनमें कारुण्यकी इन विकृतियोंका नही, किन्तु उसी मौलिक प्रधान रसका परिपाक दिखाई पड़ता है। यह दुर्भाग्य है कि अश्वघोषके नाटक हमें उनके पूर्व रूपोंमें उपलब्ध नही हो सके। यदि होते तो, जैसा उनके अवशिष्ट अंशोसे इंगित होता है, उनमें हमें कारुण्यकी प्रधानता प्राप्त होती। किन्तु इनके दो महाकाव्य तो उपलब्ध है ही। और वे इस बातके प्रमाण है कि करुणाका जीवनमें कैसा उच्च स्थान है। भवभूतिकी कृति व उनके रसात्मक विचारोंका तो उल्लेख किया ही जा चुका है। स्वयं हर्षवर्धन नरेशने रत्नावली और प्रियदर्शिका नामक

अपने नाटकोंमें राजोचित शृंगाररसका तो प्रदर्शन किया ही, किन्तु आश्चर्य ! उन्होंने नागानन्द नाटक भी लिखा और उसे करुण-रस-प्रधान बनाया ।

किन्तु जो शृंगार या वीररस प्रधान नाटक या काव्य लिखे गये उनमें भी, विचार कीजिए, काव्यरसका उत्कर्ष कहाँ मिलता है ? स्पष्टतः उन अंशोंमें नहीं जिन्हें संयोग शृंगार कहा जाता है, किन्तु उन स्थलोंपर जहाँ वियोग शृंगारकी अभिव्यक्ति पायी जाती है, जहाँ नायिका एक तीव्र व्यथासे पीड़ित होती हुई दर्शकों या पाठकोंके हृदयको द्रवित कर उनकी संवेदना और सहानुभूति प्राप्त करती है । यही तो द्रष्टा और श्रोता काव्यरसका आस्वादन प्राप्त करते हैं, जिसे न सुख कहा जा सकता और न दुःख । वह अवस्था वचनातीत है, सहृदय-हृदय-प्रमाण है । तात्पर्य यह निकला कि काव्यकी आत्मा भोग-विलास तथा राग-द्वेषके प्रदर्शनात्मक शृंगार और वीररसोंमें नही, किन्तु बहुजन समाजमें अभिव्याप्त दुःखकी प्रेरणासे उत्पन्न करुणा भावमें है । जन-कल्याण रूप एक ही हेतुसे प्रेरित होते हुए भी ऋषि-सम्प्रदाय अर्थात् वैदिक-परम्परा तथा मुनि-सम्प्रदाय अर्थात् जैन-बौद्ध-श्रमण परम्पराके साहित्यमें यह एक मौलिक भेद है । एक ओर जहाँ सांसारिक सुखकी उपलब्धि व उसके उपायोंकी प्रधानता है, तो दूसरे पक्षमे उनकी ओरसे विरक्ति तथा जन-कल्याणके लिए आत्म-समर्पणका लक्ष्य सर्वोपरि स्थापित है । यह श्रमण-संस्कृतिकी मूलभूत देन है । भगवान् बुद्धने इहलोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, आत्म-परमात्म आदि विषयोंको छोड़ जीवनमे दुःखकी अभिव्याप्ति, उसके कारण, उसके निरोध एवं तत्सम्बन्धी उपायोंपर ही बल दिया है, और इसीका प्रतिपादन करते हुए उन्होने चार आर्य सत्यो तथा अष्टांगिक मार्गका उपदेश दिया है । इसके फलस्वरूप उनके अनुयायियोने तो यहाँ तक घोषणा कर दी कि "हमें राज्यकी कामना नही है और न स्वर्गकी । हम पुनर्जन्म होने न होने की भी चिन्ता नही करते । हम तो केवल यही कामना करते है कि हम दुःखसे पीड़ित प्राणियोंके शोक-सन्तापको दूर करनेमे कुछ सहायक हो सकें ।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।
कामये दुःख-तप्तानां शोक-संताप-नाशनम् ॥

और भगवान् महावीरने क्या किया ? उन्होंने महात्मा बुद्धके समान किसी भी दिशामें चिन्तन और विचारका अवरोध नही किया, प्रत्युत तत्त्व-चिन्तनको आत्म और परकल्याणके हेतु आवश्यक अनिवार्य निरूपित किया । किन्तु उस समस्त ज्ञानका उद्देश्य वही रखा—अपने ही नही, जीवमात्रके दुःखोंको दूर करना—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म-निबर्हणम् ।
संसार-दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥

मैं इस पवित्र और कर्म-विनाशक धर्मका उपदेश इसी हेतुसे दे रहा हूँ कि उसके द्वारा प्राणिमात्रका संसारके दुःखोंसे उद्धार हो जाये और वे उत्तम सुखका

उपभोग कर सकें। यही बात एक हिन्दी जैन कविने बड़ी सरल और स्पष्ट भाषामें कह दी है—

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त।
सुख चाहें दुःख तें भयवन्त॥
तातैं दुखहारी सुखकार।
कहैं सीख गुरु करुणा धार॥

यह ध्येय और लक्ष्य उस उद्देश्यसे स्पष्टतः ही भिन्न है जिसके अनुसार युद्ध और तज्जन्य नरसंहारमें प्रवृत्त होनेके लिए इस हेतु द्वारा प्रेरणा दी जाती है कि—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्।
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्॥

किन्तु अट्ठारह अक्षौहिणी दलका विनाश होकर भी जो विजय प्राप्त की गयी वह सुखकर सिद्ध नहीं हुई, यह महाभारतके अवसानसे सुस्पष्ट है। ऐतिहासिक कालमें भी सम्राट् अशोकने लाखों व्यक्तियों व घर-परिवारोंका विनाश कर जो कलिंग देशपर विजय प्राप्त की, उसने उन्हें भारत-सम्राट्के पदपर आरूढ़ कराकर भी सुख प्रदान नहीं किया। एक आन्तरिक वेदना उनके हृदयको कचोटने लगी जिसके फलस्वरूप उन्होंने युद्ध-विजयको सदाके लिए तिलाञ्जलि देकर अपना शेष समस्त जीवन धर्मविजयमें लगाया।

इससे अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं। वैदिक और श्रमण परम्परामें अनुस्यूत हुए साहित्यके मौलिक भेदको समझने हेतु इस दृष्टिकोणको सदैव ध्यानमें रखना चाहिए।

कारुण्यभाव द्वारा प्रस्फुटित हुई वाणीके माध्यमसे वाल्मीकिने रामायण महाकाव्यकी रचना कर डाली। किन्तु उस मूलवाणी "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" का अर्थ क्या था? क्रौंच पक्षीका घात करनेवाले निषादके प्रति उनका रोष स्वाभाविक तथा सुसभ्य समाजके अनुकूल था। तथापि उसे शाप देना, और वह भी ऐसा कि अनन्तकाल तक अपराधीको आत्मोद्धारका अवसर ही न मिले, यह क्या उचित कहा जा सकता है? महामुनिको तत्काल इसकी चिन्ता उत्पन्न हुई। और वे कह उठे—'शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया' अरे, इस पक्षीकी दुर्घटनाके शोकावेशमें यह मैं क्या कह गया? किन्तु इस पश्चात्तापका विवरण हमें रामायणमें नहीं मिलता। रहा भी हो तो उसे हटाकर सन्दर्भ श्लोक छन्दके आविष्कारकी ओर मोड़ दिया गया है, क्योंकि वैदिक-सम्प्रदाय में शाप और वरदानकी परम्परा है। नैतिक दृष्टिसे उसका मूल्याकन न करके उसे ऋषियोंका सामर्थ्य और अधिकार मानकर स्वीकार कर लिया गया है, भले ही उसके पीछे नीतिकी भावना हो, या अनीतिकी। इसके उदाहरणोंसे साहित्य भरा पड़ा है। महर्षि दुर्वासके

शकुन्तलाको इस कारण एक कठोर शाप दे दिया, क्योंकि वह अपने नव-विवाहित पतिके वियोगकी व्यथामें इतनी खोई हुई थी कि उसने उन महर्षिके आगमनकी आवाज नहीं सुन पायी, और वह उनकी आव-भगत नहीं कर सकी। "अच्छा, तू अपने पतिके चिन्तनमें इतनी खो गयी है कि मुझ तपोधनकी उपस्थितिका तुझे कुछ भान ही नहीं है—'तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्'? तो ले, तेरे मिलनेपर तेरा पति तुझे पहचानेगा भी नहीं।" भला यह भी तपस्वीका स्वभाव है? अहंकारकी भी कहीं मर्यादा है? और तो और, इक्ष्वाकुवंशी भारत-सम्राट् दिलीप इसलिए निस्सन्तान होकर रह गये क्योंकि वे जब इन्द्रकी सहायतार्थ युद्धसे बहुत दिनोंमें घर लौट रहे थे तब मार्गमें बैठी हुई गौकी उन्होंने वन्दना नहीं की। उनका यह शाप तब छूटा जब उन्होंने और उनकी महारानीने दीर्घकाल तक उस गायकी पुत्रीकी सेवा करके उसे प्रसन्न कर लिया और इसीसे पुत्र-प्राप्तिका वरदान प्राप्त किया। आलोचकोंने इन घटनाओंमें काव्यात्मक न्याय (पोयटिक जस्टिस) की कल्पना की है, किन्तु वह कल्पनामात्र ही है।

शाप और वरदानकी एक घटना विशेष महत्त्वपूर्ण है। महाभारतके अनुसार अद्रिका नामक एक अप्सरा थी जो ब्राह्मणके शापसे मछली हो गयी। उसके गर्भसे एक पुरुष और एक स्त्रीका जन्म हुआ। राजा वसुकी कृपासे पुरुष तो मत्स्य देशका राजा बन गया और पुत्रीका परिपालन एक धीवर द्वारा किया गया। जब वह युवती हुई तब एक दिन वह महर्षि पाराशरको नाव द्वारा यमुना पार करा रही थी कि मध्य नदीमें ऋषि उसके रूपपर मोहित हो गये और उन्होंने उससे प्रेम-याचना की। इच्छापूर्ति होनेपर महर्षिने उसे वरदान दिया कि उसके शरीरमें जो मत्स्यकी तीव्र दुर्गन्ध थी वह दूर होकर मनोहर सुगन्ध उत्पन्न हो जाय जिसका प्रभाव एक योजन तक फैल सके। ऐसा ही हुआ। उसीके गर्भसे महर्षि व्यास पाराशर अपर नाम कृष्ण द्वैपायनका जन्म हुआ जो वेदव्यास भी कहलाये। कालान्तरमें वही योजनगन्धा सत्यवती राजा शान्तनुकी पत्नी हुई जिससे कौरव-पाण्डव वंश चला।

यहाँ इस कथाको देनेका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि वैदिक परम्परामें ऋषियोंके आचरणमें वह संयमकी कठोरता नहीं है जो श्रमण मुनियोंके चरित्रमें दिखाई देती है। और दूसरी बात यह कि शाप और वरदानकी शक्तिका प्रयोग केवल परोपकार व लोक-कल्याणके लिए ही किया जाये सो भी नहीं है। वे अपनी वैयक्तिक कामनाओं और लालसाओंकी पूर्ति हेतु भी इनका उपयोग कर सकते थे, और इस कारण उनके आचरणमें न कोई कलंक लगता था और न उनकी प्रतिष्ठाको कुछ भी आघात पहुँचता था।

इसके विपरीत कुछ समान परिस्थितियोंमें जैन परम्पराके एक सुप्रसिद्ध कथानक की ओर ध्यान दीजिए। एक महिलाने एक मुनिको कड़वी तुम्बीका आहार करा दिया। उसके विषसे मुनिका मरण हो गया। उस स्त्रीके पापकर्मका यह प्रभाव

हुआ कि वह कुष्ट व्याधिसे पीड़ित हो गयी और उसके शरीरसे सब ओर दुर्गन्ध फैलने लगी जिससे लोगोंने उसका तिरस्कार कर दिया। अन्ततः एक ज्ञानी मुनिने उसके रोगका निदान वह पाप और उसे दूर करनेका उपाय धर्म-साधना बतलाया। जब उस महिलाने अपने पापका स्वयं प्रायश्चित्त और धर्माचरण द्वारा पुण्य उपार्जित किया तब उसकी वह व्याधि शान्त हुई और उसने एक नया सौभाग्यपूर्ण जीवन भी प्राप्त किया।

उक्त मत्स्यगन्धा और इस दुर्गन्धाके आख्यानोंमें साम्य और भेद स्पष्ट है। एककी कार्य-कारण परम्परा अन्य द्वारा शाप और वरदानके आधारपर अवलम्बित है, दूसरेकी स्व-कृत पाप-पुण्यपर। यह दूसरा महान् तत्त्व है जो जैन काव्यधाराको वैदिक धारासे पृथक् निर्दिष्ट करता है।

इसीसे सम्बद्ध एक तीसरा तत्त्व भी है। ऋषियोंके शाप-वरदानका स्थान, दर्शन-विकासके अनुसार, एक सर्वशक्तिमान् ईश्वरके रोष-तोषने ले लिया, और इस आधारपर भक्तिमार्ग एक विशेष दिशामें विकसित होता हुआ अपनी उस चरम सीमापर पहुँच गया जहाँ ईश्वर यह कहता हुआ पाया जाता है कि "सब धर्म-कर्म छोड़कर तू एकमात्र मेरे शरणमें आ। तू बिलकुल चिन्ता मत कर, मैं तुझे समस्त पापोंसे छुटकारा दिला दूँगा।" इस परावलम्बी विश्वासने भी बहुत साहित्यको प्रभावित किया है। वैदिक परम्पराके स्तोत्र तो प्रायः शत-प्रतिशत इसी मान्यतासे प्रेरित हैं। कुछ अशमें इस भावनाने जैन पूजा-विधान व स्तवनको भी अभिभूत किया है। किन्तु जैन दर्शनका सुदृढ आधार तो कर्म-सिद्धान्त है जिसका समावेश भगवद्गीतामें भी कर लिया गया है, जहाँ भगवान् कृष्ण कहते हैं कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल - संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न पुण्य कस्यचिद् विभु.।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

अर्थात् लोकमें कर्तृत्व भाव-कर्मोंका विधान भगवान् नही करता, और न वह कर्म और उसके फलका संयोग ही करता है। यह सब तो जगत्का अपना स्वाभाविक गुण है। भगवान् न तो किसीके पापका अपहरण करता और न किसीको पुण्य प्रदान करता। ऐसी बातें तो मोहवश वे लोग करते हैं जिनका ज्ञान अज्ञान द्वारा आच्छादित हो गया है। इतना ही नहीं, वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपनी उन्नति व अवनतिके लिए उत्तरदायी है—वही अपना भला कर सकता है या बुरा :

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

वेदान्तके भीतर प्रबल तर्कोंके टकरावमें भी ईश्वर-कर्तृत्वको वैयक्तिक कर्मफलका सहारा लेना पड़ा है। बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र हैं और उनपर शंकराचार्यका शारीरक भाष्य है। वहाँ यह एक प्रतिपाद्य विषय है कि जगत्का कर्ता ईश्वर है, किन्तु इसपर दो आपत्तियाँ उठीं। एक तो यह कि यदि ईश्वरको जीवोंका कर्ता माना जाये तो वह विषमता अर्थात् पक्षपातका दोषी ठहरता है, क्योंकि उसने सब जीवोंको एक समान न बनाकर किसीको अच्छा, समर्थ व सम्पन्न बनाया, और किसीको बुरा, निर्बल व हीन। दूसरे, उसने जगत्में दुःखकी मात्रा इतनी अधिक रखी है कि उसे क्रूरताका भी दोषी ठहराया जा सकता है। इस आपत्तिके प्रसंगका निराकरण इस तर्कके द्वारा किया गया है कि हाँ, यदि ईश्वर निरपेक्ष भावसे जगत्की उत्पत्तिमें प्रवृत्त होता तो वह इन दूषणोंका पात्र कहा जा सकता था किन्तु वह यह कार्य सापेक्ष भावसे करता है। वह इस अपेक्षासे अच्छे-बुरे तथा सुखी और दुखीको सृष्टिमें भेद करता है कि कौनने कैसा कर्म किया है। अर्थात् ईश्वर पुण्यकर्म करनेवालोंको सुखी बनाता है, और पापकर्मियोंको दुखी। तात्पर्य यह कि ईश्वरकी ईशता भी तभी निर्दोष कही जा सकती है जब वह व्यक्तिके सदसत् कर्मोंपर आधारित हो और इसका यही अभिप्राय हुआ कि अन्ततः प्रत्येकको अपने कर्मोंके अनुसार ही सुख-दुःख भोगना पड़ता है।

जैन दार्शनिक व साहित्यिक परम्परामें कर्मकी ही प्रधानता है और उसमें ईश्वर कर्तृत्व का कोई स्थान नहीं है। यह कर्म और कर्मफलकी शृंखला प्रत्येक जीवके साथ अनादिकालसे चल रही है और तब तक चलती रहती है जब तक जीव सच्ची दृष्टि, सच्चा ज्ञान और सदाचरणरूपी रत्नत्रयकी प्राप्ति कर नये कर्म-बन्धकी रोक तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा नहीं कर डालता। तभी जीवको वह परमात्मत्व प्राप्त होता है जो अनन्तज्ञान और अनन्त सुखरूप है। वही मोक्ष है और वही जीवका परम लक्ष्य है। इसी ओर जीवके बढ़ते-हटते चरणोंको दर्शानेके लिए उसके अनेक जन्मान्तरोंका विवरण उपस्थित करना जैन साहित्यकी एक बड़ी विशेषता है।

जैन साहित्यकी इन मौलिक, प्राणभूत मान्यताओं व विशेषताओंके विषयमें मुझे यह सब कहनेका अवसर इसलिए मिला, क्योंकि मेरे सम्मुख प्रोफेसर डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्रीका लिखा हुआ "संस्कृत काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान" शीर्षक विशाल ग्रन्थ खुला रखा है। इसके प्रारम्भमें ही संस्कृत काव्यके आविर्भाव और विकासके पश्चात् ही "अन्तरंगकी दृष्टिसे जैन काव्यकी भिन्नताएँ" वर्णित है। जिनकी सम्भवतः यहाँ मेरे द्वारा उपस्थित दृष्टियोंके परिवेषमें रखकर देखनेसे उनको और भी भली प्रकार समझनेमें सहायता मिलेगी।

विगत एक शताब्दिमें संस्कृत साहित्यपर बहुत कुछ लिखा गया है जिनमें वेबर, मैकडोनल, कीथ आदि विद्वानोंके संस्कृत-साहित्य-इतिहास सुप्रसिद्ध हैं और उनका विश्वविद्यालयोंमें पठन-पाठन हेतु भी अच्छा उपयोग किया जाता है। किन्तु इनमें जैन काव्योंका उल्लेख नाममात्रका ही किया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो जैन

साहित्यकारों द्वारा संस्कृतका प्रयोग जब-कब अपवाद रूपसे ही किया गया है। डॉ. विंटरनिजने स्वयं कहा है कि वे जैन साहित्यको उसके समग्र रूपमें प्रथम बार प्रस्तुत कर रहे हैं। उनका यह ग्रन्थ जर्मनमें सन् १९२० में तथा उसका अँगरेजी अनुवाद कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ। इसमें जैन साहित्यका एक शृंखला-बद्ध इतिहास तो अवश्य आ गया है, किन्तु उसमें भी जैन संस्कृत काव्योंका लेखा-जोखा अलगसे नहीं दिया गया। कुछ गिनी-चुनी कृतियोंके नाम व थोड़ा-बहुत परिचय प्राकृत रचनाओंके साथ इधर-उधर आ गये है। इस मिले-जुले विवरणका प्रमाण भी ३०-४० पृष्ठोंसे अधिक नहीं है।

ऐसी अवस्थामें डॉ. नेमिचन्द्रजीका प्रस्तुत जैन संस्कृत काव्योका सुविस्तृत विवेचन बड़ा ही अभिनन्दनीय है। कर्ताकी विद्वत्ता व साहित्यिक योग्यता तो उनकी प्रकाशित दर्जनों रचनाओंसे पहले ही सिद्ध हो चुकी है तथा साहित्यिक जगत् उससे भलीभाँति परिचित भी है। उनकी यह वर्तमान रचना अपने विषयकी एक बड़ी भारी कमीकी पूर्ति करनेवाली है। इन दो गुणोका संयोग बड़ी कठिनाईसे हो पाता है—प्राचीन प्रणालीका गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान तथा वर्तमान युगकी ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टि। सौभाग्यवश यहाँ इन सभी बातोंका समुचित व सन्तुलित मात्रामे समावेश पाया जाता है। विषयका विभाजन, वस्तुका चयन, साहित्यिक गुणोका मूल्यांकन आदि सभी बातोंमें लेखककी अपनी मौलिकता परिलक्षित होती है। प्रतिपादन शैली भी कर्ताकी अपनी है।

अँगरेजीकी एक कहावत है—विद्वान् क्वचित ही एकमत होते हैं (वाइजमैन सेल्डम एग्री)। तदनुसार इस विशाल, खोजपूर्ण सामग्री प्रचुर ग्रन्थमे अनेक ऐसे स्थल मिलेंगे जिनपर अन्य विद्वानोंका मतभेद पाया जायेगा। विषय-विभाजन, कालनिर्णय, मानदण्ड, तुलनामें हीनाधिक्य, प्रभावकी मात्रा, परस्पर लेन-देन आदि बातें प्रायः मतभेद उपस्थित करती ही है। और इन्हीके टकरावसे तो क्रमशः वास्तविक वस्तुस्थितिपर पहुँचा जा सकता है। कितनी ही महत्वपूर्ण बातें यहाँ प्रथम बार कही गयी है, कितने ही तथ्य पहली बार उभारकर सामने लाये गये हैं। साहित्यका जितना विभिन्न दृष्टियोंसे अध्ययन किया जा सकता है उनमें-से शायद ही कोई दृष्टि यहाँ छूट पायी हो। यह भी भावी शोधकारोंको एक सीखनेकी बात होगी। इनपर विद्वानोंको विचार करनेका अवसर मिले, विषयमें रुचि उत्पन्न हो व साहित्यिक रचनाओका उनके वास्तविक स्थान परिवेशमें पठन-पाठन किया जाये, यही तो लेखककी अभिलाषा होगी, और इसी ओर ध्यानाकर्षण व ज्ञानवृद्धिके इस सफल प्रयासका अभिनन्दन करता हुआ मैं उसके कर्ताको हार्दिक साधुवाद अर्पित करता हूँ।

१२-८-७१

हीरालाल जैन

दो शब्द

सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तुनि:ष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
आलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ ध्वन्यालोक १।६

आस्वादयुक्त अर्थतत्त्वको प्रेषित करनेवाली महाकवियोंकी वाणी अलौकिक और स्फुरणशील प्रतिभाके वैशिष्टयको व्यक्त करती है। इस वाणीसे ही सहृदय रसास्वादके साथ अनिर्वचनीय तत्त्वको भी प्राप्त करते है। मानवका जिज्ञासु मन आत्मानुभूतिको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है और यह चेष्टा काव्य एवं वाङ्मय के चिन्तन-मनन द्वारा सम्पन्न होती है। तथ्य यह है कि कवि जीवन की बिखरी अनुभूतियों को एकत्र कर उन्हे शब्द और अर्थके माध्यमसे कलापूर्ण रूप देकर हृदयावर्जक बनाता है। काव्यानुभूतिको अभिव्यक्त करनेके हेतु कविके लिए न धर्मका बन्धन रहता है और न किसी वर्ग-विशेषका ही। अतएव संस्कृतके जैन कवियोने ईसवी सन्‌की द्वितीय-तृतीय शताब्दीसे ही संस्कृत काव्य-परम्पराका सूत्रपात किया। काव्य-निर्माणकी दृष्टिसे संस्कृतके सर्वप्रथम जैन कवि समन्तभद्र हैं, जिन्होंने स्तुति-काव्यका प्रणयन कर काव्यकी समृद्धिमे योगदान दिया है। जैन कवि द्वितीय शताब्दीसे अठारहवी शताब्दी तक काव्योका सृजन करते रहे हैं। फलतः काव्यके माध्यमसे नीतिबोध, तत्त्वबोध, सौन्दर्य, कला आदिकी अभिव्यंजना भी होती रही।

जैन काव्योंके नायकोका लक्ष्य न तो महाभारतके समान खोये हुए राज्यको प्राप्त करना है और न रामायणके समान पैतृक अधिकारको ही पुनः हस्तगत करना है; बल्कि उनके जीवनका लक्ष्य चिरन्तन सौन्दर्यकी उपलब्धि करना है। यह उपलब्धि काम-भोगोंके गुणात्मक परिवर्तन द्वारा निर्वाण या मोक्षके रूपमे परिवर्तित हो जाती है। अतः आध्यात्मिक पक्षके साथ जीवनके विविध भोग पक्षो का उद्घाटन सरस और मनोरम शैलीमें सम्पन्न हुआ है। कवियोंने सौन्दर्यका चित्रण कर अस्तित्वके क्षणोंको कलापूर्ण बनानेका प्रयास किया है। लौकिक और भौतिक सौन्दर्य भोगसे जब चरम तृप्ति प्राप्त नहीं होती और उसकी निस्सारताका अनुभव हो जाता है, तब जैन कवि नायकोंको आध्यात्मिक सौन्दर्यकी ओर रत दिखलाते हैं। संयम, तप और त्यागको चर्चा उस सौन्दर्यकी उपलब्धिमें सहायक होती है, जो सौन्दर्य चिरन्तन और अधूमिल है। जिसमें वासना या लौकिक जीवनका भोग रंचमात्र भी नहीं है।

महाकवि असगकी दृष्टिमें "प्रियेषु यत्प्रेमरसावहत्वं तच्चारुताया हि फलं प्रधानम्[१]" अर्थात् प्रिय वस्तुओंमें जो प्रेमरस उत्पन्न होता है, वह चारुता—रमणीयताका प्रधान फल है। इस प्रकार कविने सौन्दर्यकी परिभाषा अंकित कर जीवनके लिए काव्यका रसास्वादन आवश्यक माना है। कविके मतमें सौन्दर्य एक विशेष प्रकारकी मनःस्थिति है, जिसका मापन या आस्वादन इन्द्रिय संवेदन या कल्पना द्वारा होता है। वस्तुतः वस्तु और व्यक्तिकी चित्तवृत्तिका सम्यक् योग रमण कहलाता है। जिस वस्तु या व्यापारके साथ चित्त रमण करता है, वह रमणीय हो जाता है, सुन्दर लगता है। अतएव काव्य द्वारा स्वस्थ सौन्दर्यकी अनुभूति की जाती है।

संस्कृतके जैन कवियोंने काव्यकी रचना इसी ध्येयसे की है कि रस और भावोंके मध्यसे पाठक जीवनमूल्योंको प्राप्त कर सके। हमारी दृष्टिमें जैन कवियोंने संवेदनाओं और अन्तर्वृत्तियोंका पूर्ण विस्तार किया है। अतएव वे मूल्योद्भावनमें अधिक सजग रहे हैं। यह उद्भावनपक्ष जीवन-रुचिका परिष्कारक है और है सत्प्रेरणाओंका स्रोत। सभी कवि वैयक्तिक और वर्गीय परिधियोंसे ऊपर उठकर व्यापक क्षितिजके आलोकमें सामान्य मानवताकी भाव-भूमियोंकी प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी रचनाओंमें आचारकी केन्द्रीय सार्थकता नहीं है, किन्तु उसका परिपाश्विक महत्त्व है। आचार और नैतिकताके साथ काव्यात्मक रसोद्बोध भी समवेत है। अनुभूतिका वैशिष्ट्य और भावोंका ऐक्य निहित रहनेके कारण संस्कृत जैन काव्य भी अन्य काव्योंके समान ही उपादेय है। काव्यके समस्त गुण और तत्त्वोंके रहनेपर भी जैन काव्योंका सार्वजनीनरूपमें अध्ययन न हो सका और ये काव्य उपेक्षित ही बने रहे। अतएव मैंने पूज्य डॉ. हीरालालजी जैनके परामर्शानुसार 'संस्कृत काव्यके विकासमे जैन कवियोंका योगदान' शीर्षक विषय शोधके लिए ग्रहण किया। आदरणीय डॉ. जैनने समय-समयपर समुचित सुझाव और निर्देश देकर उक्त शोध-प्रबन्धको समाप्त कराया। इस शोध-प्रबन्धपर मुझे मगध विश्वविद्यालयसे डी. लिट्‌की उपाधि प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ सात अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम अध्यायमें संस्कृत काव्यका आविर्भाव और विकासके अन्तर्गत जैन संस्कृत काव्योंकी विशेषताओं और उसके विकासक्रमको अंकित किया गया है! द्वितीय परिवर्तमे दशम शतकके चरितनामान्तक संस्कृत महाकाव्योंका समीक्षात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इसमें चन्द्रप्रभचरित, प्रद्युम्नचरित और वर्धमानचरितकी कथावस्तु, कथानकस्रोत गठन, वस्तु-व्यापारोंका विश्लेषण, शील-सौन्दर्य विश्लेषण, काव्य उपकरण एवं पूर्ववर्ती कवियोंके प्रभाव आदिका विचार किया गया है। तृतीय परिवर्तमें ११वी शताब्दीसे १४वी शताब्दी तक के चरितनामान्त महाकाव्योंके प्रसंगमें पार्श्वनाथचरित, वरांगचरित और शान्तिनाथचरितका अनुशीलन किया है।

---

[१] वर्द्धमानचरित, सोलापुर, संस्करण १२।२८

चतुर्थ परिवर्तमें इतरनामान्त महाकाव्योंके क्रममें धर्मशर्माभ्युदय, नेमिनिर्वाण, जयन्तविजय, पद्मानन्द और नरनारायणानन्द महाकाव्योंका परिशीलन प्रस्तुत किया गया है। इस परिवर्तकी प्रमुख विशेषता उपमानोंके वर्गीकरण और चयनकी है। अप्रस्तुतोंका स्रोतमूलक विश्लेषण करते हुए अग्नि, अन्धकार प्रकाश, शस्त्रास्त्र, आकाश, प्रसाधन सामग्री, अंगोपांग कीटपतंग, खनिज-धातु, गृहोपकरण, ग्रह-नक्षत्र, जलचर, जंगली पशु, दिक्, देश, दिव्य-पुरुष, दिव्यपदार्थ, धार्मिक वस्तु, नर-नारी, नृप-अमात्य, पयोद, पर्वत, पक्षी, पुष्प-पल्लव, रोग, ओषधि, लता, वृक्ष वीरुध, समुद्र, सरोवर, सरीसृप, पुराण, वाङ्मय आदि चौंतीस वर्गोमें विभक्त किया है। काव्यात्मक अनुशीलनको दृष्टिसे इस परिवर्तमें कई विशेषताएँ प्राप्त होंगी।

पंचम परिवर्तमें सन्धान और ऐतिहासिक महाकाव्योंके अध्ययनके साथ अभिलेखीय काव्योंका भी परिशीलन किया गया है। इस परिवर्तमें काव्यात्मक अनुचिन्तनके साथ ऐतिहासिक मूल्योंकी भी स्थापना की गयी है। ऐतिहासिक और अभिलेखीय काव्य रसोद्बोधनकी दृष्टिसे जितने महत्त्वपूर्ण होते हैं, उससे कहीं अधिक ऐतिहासिक दृष्टिसे। कवि ऐतिहासिक तथ्योंकी योजना संवेदनाओं और भावनाओंके परिपार्श्वमें करता है, जिससे ऐतिहासिक तथ्य भी रसात्मक रूपमें परिणत हो जाते हैं।

षष्ठ परिवर्तमें एकार्थ, लघु. सन्देश, सूक्ति एवं स्तोत्र-काव्योंका परिशीलन किया गया है। छत्रचूडामणि, पार्श्वाभ्युदय, यशोधरचरित, महीपालचरित, जैनकुमारसम्भव, नेमिदूत, पवनदूत, शीलदूत, सूक्तिमुक्तावली, सुभाषित रत्नसन्दोह, भक्तामरस्तोत्र, एकीभाव, विषापहार, कल्याण मन्दिर, भूपाल चतुर्विंशतिका एवं वैराग्यशतक आदिके काव्यात्मक मूल्योंका उद्घाटन किया गया है।

सप्तम परिवर्तमे संस्कृत जैन काव्योंमे प्रतिपादित सौन्दर्य, जीवनभोग दार्शनिक और धार्मिक विचारधारा, आध्यात्मिक अनुभूति, संस्कृति और सामाजिक जीवन तथा आर्थिक और राजनीतिक विचार एवं कला-कौशल आदिका अध्ययन किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें जैन संस्कृत काव्योंका सर्वांगीण अध्ययन करनेका प्रयास किया गया है। इस प्रयासमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, यह तो सुधीवर्गके ऊपर ही छोड़ा जाता है। पर इस प्रयासमें जिन महानुभावोंसे सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अत्यावश्यक है। सर्वप्रथम मैं अपने निदेशक डॉ. श्री हीरालालजी जैनके प्रति नतमस्तक हूँ, जिनकी भावयित्री और कारयित्री प्रतिभासे मुझे संबल प्राप्त हुआ और यह प्रयास सफल हो सका। अतः मैं पुनः-पुनः परम श्रद्धेय डॉ. जैनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रकाशनका श्रेय भारतीय ज्ञानपीठ काशीके अधिकारी एवं उसके सुयोग्य मन्त्री श्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैनको है, जिनकी महनीय अनुकम्पासे यह शोध-प्रबन्ध जिज्ञासुओंके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। बन्धुवर श्री डॉ० गोकुलचन्द्रजी जैनको भी नहीं

भूला जा सकता है, जिनके प्रोत्साहनसे यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। मैं ज्ञानपीठके सभी वरीय पदाधिकारियोंके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

श्री डॉ. ए. एन. उपाध्येके प्रति भी नतमस्तक हूँ, जिनके स्नेह और समालोचनसे लाभान्वित हुआ हूँ। अन्तमें अपने गुरु पूज्य श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसीके चरणोंमें भी श्रद्धाभक्ति व्यक्त करता हूँ, जिनके आशीर्वादसे यह ग्रन्थ लिखा गया।

सहयोगियोंमें श्री डॉ. राजाराम जैन और श्री पं० रामनाथ पाठक प्रणयीका भी उपकृत हूँ, जिनसे प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्रूफ संशोधनका कार्य श्री पं० महादेवजी चतुर्वेदीने किया है। उनकी इस सत्कृपाके लिए भी मैं आभारी हूँ।

इस प्रयासमें सहयोग देनेवालोंमें मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलाजीको भी साधुवाद देता हूँ, जिनकी कर्मठताके कारण मैं घरेलू चिन्ताओंसे मुक्त रहकर साहित्यदेवताकी आराधनामें तत्पर रहता हूँ। अन्तमें सभी सहायता करनेवाले महानुभावोंके उपकारका स्मरण कर अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

नेमिचन्द्र शास्त्री

भोलाभवन, १.
महाजन टोली, आरा

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

प्रथम परिवर्त

संस्कृत काव्यका आविर्भाव और विकास १
  याकोवीके अनुसार ३
  डॉ. ए. वी. कीथके अनुसार ३
संस्कृत काव्यपरम्पराका इतिवृत्त ५
जैन संस्कृत काव्यका उद्भव ९
अन्तरंगकी दृष्टिसे जैन काव्यकी भिन्नताएँ ११
रस योजना सम्बन्धी विशेषता चित्रों द्वारा १५
चरितनामान्त महाकाव्य १७
  क. कर्मसंस्कार प्रधान प्रबन्ध १९
  ख. जीवपरक प्रबन्ध १९
  ग. जगत्परक प्रबन्ध २०
चरितनामान्त जैन महाकाव्योंका विकासक्रम २१
इतर नामांकित महाकाव्य ३२
सन्धान, ऐतिहासिक और अभिलेख काव्य ४०
ऐतिहासिक काव्य ४३
अभिलेख काव्य ४७
एकार्थ-लघु-सन्देश-सूक्ति-स्तोत्र काव्य ४८
लघुकाव्य ५२
सन्देशकाव्य ५३
सूक्तिकाव्य ५४
स्तोत्रकाव्य ५५
जैन स्तोत्र काव्योंका प्रादुर्भाव और विकास ५९
संस्कृत भाषामें रचित उपेक्षित स्तोत्र ६०
जिनशतकालंकार या स्तुतिविद्या ६३
देवागमस्तोत्र या आप्तमीमांसा ६४

युक्त्यनुशासन ६४
कवि सिद्धसेनके स्तोत्र ६५
संस्कृत जैन काव्योंका आभ्यन्तरिक विश्लेषण ७१

द्वितीय परिवर्त

दसवीं शती तकके चरितनामान्त महाकाव्य ७५
चन्द्रप्रभचरितम् ७५
रचयिताका परिचय ७५
स्थितिकाल ७६
कथावस्तु ७७
कथानक स्रोत और उसका गठन ७९
महाकाव्यत्व ८१
वस्तुव्यापार वर्णन ८१
महच्चरित्र ८४
रस-भाव-योजना ८७
अलंकार-योजना ९३
छन्दोयोजना ९९
भाषा और शैली १००
पूर्ववर्ती कवियोका प्रभाव १०२
प्रद्युम्नचरित १०९
रचयिता का परिचय १०९
स्थितिकाल १०९
कथावस्तु ११०
कथानक स्रोत ११३
असमानताएँ ११४
साम्य ११६
असाम्य ११६
कथानक गठन ११७
महाकाव्यत्व ११७
वस्तुव्यापार वर्णन ११८
चरित्रचित्रण ११९
रसभाव-योजना १२०
अलंकार-योजना १२४
प्रकृति चित्रण १२९

    - छन्दोयोजना १२९
    - भाषा और शैली १३०
    - प्रद्युम्न चरितपर पूर्ववर्ती काव्योंका प्रभाव १३२
    - सौन्दरनन्द और प्रद्युम्नचरित १३२
    - कालिदासकी रचनाएँ और प्रद्युम्नचरित १३३
    - किरात और प्रद्युम्नचरित १३४
    - माघ और प्रद्युम्नचरित १३६
    - प्रद्युम्नचरितका उत्तरवर्ती काव्योंपर प्रभाव १३७
- वर्धमानचरितम् १३९
    - रचयिता का परिचय १३९
    - कथावस्तु १४०
    - कथावस्तुका स्रोत और गठन १४४
    - महाकाव्यत्व १४६
    - वस्तुव्यापार वर्णन १४६
    - सौन्दर्य १४८
    - चरित्रचित्रण १४८
    - रसभाव योजना १५०
    - अलंकारयोजना १५३
    - छन्दोयोजना १६१
    - शैली १६१
    - वर्धमानचरितपर पूर्ववर्ती कवियोंका प्रभाव १६२
    - रघुवंश और वर्द्धमानचरित १६२
    - कुमारसम्भव और वर्द्धमानचरित १६३
    - किरात और वर्द्धमानचरित १६३
    - शिशुपालवध और वर्द्धमानचरित १६४
    - चन्द्रप्रभचरित और वर्द्धमानचरित १६५
    - धर्मशर्माभ्युदय और वर्द्धमानचरित १६६
    - जीवन्धरचम्पू और वर्धमानचरित १६७

तृतीय परिवर्त

- चरितनामान्त महाकाव्य (ई० शती ११–१४) १७१
    - पार्श्वनाथचरितम् १७२
        - रचयिताका परिचय १७२
        - स्थितिकाल १७४

कथावस्तु १७५
कथावस्तुका स्रोत और गठन १७९
महाकाव्यत्व १८१
रसयोजना १८१
चरित्रचित्रण १८७
उद्देश्य १८८
प्रकृति-चित्रण १८८
अलंकार विधान १९०
भाषा और शैली १९५
वराङ्गचरितम् १९६
रचयिताका परिचय १९७
स्थितिकाल १९७
कथावस्तु १९८
कथावस्तुका स्रोत २००
प्रबन्ध-कल्पना २०१
महाकाव्यत्व २०३
रसभाव योजना २०३
अलंकार नियोजन २०६
छन्दोयोजना २०८
काव्यमें वर्णित जीवन मूल्य २०८
उपसंहार २११
शान्तिनाथचरितम् २१२
रचयिता २१३
स्थितिकाल २१३
कथावस्तु २१४
कथावस्तुका स्रोत २१६
कथावस्तुका गठन २१७
महाकाव्यत्व २१८
रसभाव-नियोजन २१९
अलंकार-संयोजन २२३
छन्दोयोजना २२६
शीलस्थापत्य २२७
शान्तिनाथचरितपर अन्य काव्योंका प्रभाव २२९

चतुर्थ परिवर्त

इतरनामान्त महाकाव्य २३३
- धर्मशर्माभ्युदयम् २३४
  - स्थितिकाल २३५
  - रचनाएँ २३८
  - धर्मशर्माभ्युदयकी कथावस्तु २३९
  - कथावस्तुका स्रोत और गठन २४२
  - महाकाव्यत्व २४४
  - रसभाव-योजना २४९
  - अलंकार-योजना २५२
  - उपमान या अप्रस्तुत योजनाका स्रोतमूलक विश्लेषण जैसे—
  - अग्नि, अन्धकार, प्रकाश आदि २५३
  - छन्दोयोजना २७१
  - आदान-प्रदान २७२
  - शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदय २७५
  - दशकुमारचरित और धर्मशर्माभ्युदय २७८
  - हरिचन्द्रका प्रभाव २७९
  - धर्मशर्माभ्युदय और पुरुदेवचम्पू २८१
- नेमिनिर्वाणकाव्यम् २८२
  - कविपरिचय २८२
  - स्थितिकाल २८३
  - कथावस्तु २८३
  - कथावस्तुका स्रोत और गठन २८७
  - महाकाव्यत्व २८८
  - प्रकृति चित्रण २९४
  - रसभाव योजना २९५
  - अलंकार योजना २९७
  - छन्दोयोजना ३०१
  - शैली ३०२
  - माधुर्यगुण ३०२
- जयन्तविजयम् ३०३
  - रचयिता ३०३
  - स्थितिकाल ३०३

- रचना और काव्यप्रतिभा ३०४
- महाकाव्यकी कथावस्तु ३०४
- कथावस्तुका स्रोत और गठन ३०७
- महाकाव्यत्व ३०८
- प्रकृति-चित्रण ३१०
- पात्रोंका शील स्थापत्य ३१२
- रसभाव-नियोजन ३१४
- अलंकार योजना ३१५
  - उपमान या अप्रस्तुत योजनाका स्रोतमूलक विश्लेषण जैसे—अंगवाचक, ग्रहनक्षत्र, पर्वत-पृथ्वी आदि ३१९
- छन्दोयोजना ३२४
- भाषा शैली ३२५
- जयन्तविजयम्पर अन्य संस्कृत काव्योंका प्रभाव ३२५
- महाकवि कालिदासके काव्य और जयन्तविजय ३२५
- किरातार्जनीय और जयन्तविजय ३२७
- शिशुपालवध और जयन्तविजय ३२७
- नैषधचरितम् और जयन्तविजयम् ३२८

नरनारायणानन्दमहाकाव्यम् ३२९
- रचयिता वस्तुपाल ३२९
- स्थितिकाल ३३०
- रचनाएँ और काव्यप्रतिभा ३३१
- कथावस्तु ३३२
- कथानक स्रोत और उसका गठन ३३४
- महाकाव्यत्व ३३५
- चरित्र चित्रण ३३७
- शैली और भाषा ३३८
- रसभाव योजना ३३९
- अलंकार योजना ३४२
  - उपमान या अप्रस्तुत योजनाका स्रोत मूलक विश्लेषण जैसे—अस्त्र-शस्त्र, आकृति-सौन्दर्य ३४३
- छन्दोयोजना ३४९

पद्मानन्दमहाकाव्यम् ३५०
- कविका परिचय ३५०
- स्थितिकाल ३५२

- रचनाएँ ३५३
- कथावस्तु ३५४
- कथावस्तुका स्रोत और गठन ३५५
- सांस्कृतिक महत्त्व ३५७
- महाकाव्यत्व ३५८
- अलंकार योजना ३६०
- छन्दोयोजना ३६०
- भाषा और शैली ३६०

पंचम परिवर्त

- सन्धान, ऐतिहासिक और अभिलेख काव्य ३६३
- द्विसन्धानम् ३६३
  - रचयिता कवि धनंजय ३६४
  - स्थिति काल ३६४
  - रचनाएँ ३६५
  - कथावस्तु ३६६
  - कथावस्तुका स्रोत और गठन ३७१
  - महाकाव्यत्व ३७१
  - नगरीचित्रण ३७१
  - प्रकृतिचित्रण ३७२
  - रसभाव-योजना ३७४
  - अलंकार-योजना ३७७
  - छन्दोयोजना ३८०
  - शास्त्रीय पाण्डित्य ३८१

अन्य काव्योका प्रभाव

- रघुवंश और द्विसन्धान ३८३
- मेघदूत और द्विसन्धान ३८५
- किरात और द्विसन्धान ३८६
- माघ और द्विसन्धान ३८६
- सप्तसन्धान ३८७
  - कवि परिचय ३८७
  - स्थितिकाल ३८८
  - रचनाएँ ३८८
  - कथावस्तु ३८९

- कथास्रोत और गठन ३९१
- महाकाव्यत्व ३९२
- रस-योजना ३९४
- अलंकार-योजना ३९५
- छन्दोयोजना ३९८
- शैली ३९८

ऐतिहासिक महाकाव्य ३९८

- हम्मीरमहाकाव्यम् ३९९
  - कविका परिचय ३९९
  - रचनाएँ ४००
  - कथावस्तु ४०१
  - कथावस्तुका स्रोत और गठन ४०७
  - महाकाव्यत्व ४०८
  - सौन्दर्यचित्रण ४०८
  - रसभाव-योजना ४१०
  - अलंकार-योजना ४१०
  - शैली और भाषा ४१३
  - शीलस्थापत्य ४१४
  - ऐतिहासिक तथ्य ४१४

अभिलेख काव्य ४१९

- ऐहोल-अभिलेख ४११
  - विषयवस्तु ४२०
  - अभिलेखका ऐतिहासिक मूल्य ४२१
  - कालिदास और भारविका प्रभाव ४२३
  - काव्यमूल्य ४२४
  - रूपकका एक अन्य चमत्कार ४२४
- मन्ने अभिलेख ४२७
  - विषयवस्तु ४२७
  - काव्यमूल्य ४२८
- कोन्नूर (धारवाड़) अभिलेख ४३०
  - काव्यात्मक मूल्य ४३०
  - समय ४३३

मल्लिषेण-प्रशस्ति ४३३
    काव्यमूल्य ४३४

षष्ठ परिवर्त

एकार्थ-लघु-सन्देश-सूक्ति-स्तोत्र काव्योंका परिशीलन ४३७

एकार्थकाव्य ४३९
  क्षत्रचूडामणि ४३९
    रचयिता ४४०
    समय ४४०
    रचनाएँ ४४२
    कथावस्तु ४४२
    कथावस्तुका स्रोत और गठन ४४५
    काव्यगुण ४४७
  शत्रुजयमाहात्म्य ४४९
    रचयिता ४४९
    काव्यकी कथावस्तुका सार ४५१
    काव्यगुण ४५२
  सुदर्शनचरितम् ४५४
    कथावस्तु ४५५
    काव्यगुण ४५७

    लघुकाव्य ४५९
  यशोधरचरितम् ४५९
    कथावस्तु ४५९
    काव्यगुण ४६१

  जैनकुमारसम्भव ४६३
    कथावस्तु ४६४
    काव्यगुण ४६५
  महीपालचरितम् ४६७
    कथावस्तु ४६७
    काव्यगुण ४७०

सन्देशकाव्य ४७१
- पार्श्वाभ्युदय ४७२
  - कथावस्तु ४७३
  - समालोचन ४७५
- नेमिदूत ४७८
  - कथावस्तु ४७९
  - समालोचन ४८०
- जैनमेघदूतम् ४८२
  - कथावस्तु ४८३
  - समालोचन ४८४
- शीलदूतम् ४८६
  - कथावस्तु ४८६
  - समालोचन ४८७
- पवनदूतम् ४८९
  - स्थितिकाल ४८९
  - कथावस्तु ४९०
  - समालोचन ४९०

अन्य सन्देश काव्य ४९२

सूक्ति या सुभाषित काव्य ४९३
- सुभाषितरत्न सन्दोह ४९४
  - विषय ४९५
- सूक्तिमुक्तावली ४९७
  - विषय-परिचय ४९७
- स्तोत्रकाव्य ४९९
  - १. भक्तामर स्तोत्र ५००
    - स्तोत्रका परिचय और समालोचन ५०१
  - २. विषापहार स्तोत्र ५०३
    - विषय और समीक्षा ५०४
  - ३. एकीभाव स्तोत्र ५०६
  - ४. कल्याणमन्दिर स्तोत्र ५०८
    - विषय और समालोचन ५०९
  - ५. चतुर्विंशति जिनानन्दस्तवन ५११

सप्तम परिवर्त

संस्कृत जैन काव्योंका आभ्यन्तरिक विश्लेषण ५१३
उपेक्षित संस्कृत काव्योंका अन्तरंग अनुशीलन ५१५
- राजनीति और शासनतत्त्व ५२०
- राजा और प्रजाका सम्बन्ध तथा राजाके कर्तव्य ५२२
- राजा के प्रकार ५२४
- युवराज ५२४
- मन्त्रिमण्डल ५२५
- कोष और राजस्व ५२७
- स्वराष्ट्र परराष्ट्र विभाग ५२८
- सैनिक शक्ति ५३१
- समाजतत्त्व ५३२
- समाजरचना ५३३
- परिवार गठन ५३६
- विवाह ५४१
- स्वयंवर विधि ५४५
- गान्धर्व विवाह ५४६
- बहुविवाह ५४६
- विवाहित जीवन ५४७
- गर्भकालीन पुंसवनादि संस्कार ५४९
- गर्भोत्तरकालीन संस्कार ५५०
- बालकके संस्कारोंका वर्णन ५५२
- बालक्रीड़ा तत्त्व ५५३
- उपनयन और विद्यारम्भ ५५५
- शिक्षा आरम्भ करनेकी आयु ५५५
- शिष्यकी योग्यता और गुण ५५६
- गुरु या शिक्षकको योग्यता ५५८
- शिक्षा संस्थाओंके भेद ५५९
- पाठ्यक्रम और शिक्षाके विषय ५६१
- विद्या और विद्वान्की महिमा ५६६
- नारी शिक्षा ५६६

ज्योतिष, शकुन और आयुर्वेद ५६७
- नवग्रह और ग्रहण ५६८

- मित्रदृष्टि ५७०
- ग्रहोंका बलाबल ५७१
- ग्रहोंका स्वामित्व ५७१
- षड्वर्ग ५७१
- ग्रहण और अयन ५७२
- मुहूर्त ५७३
- शकुनविचार ५७४
- स्वप्न विचार ५७५
- आयुर्वेद ५७५

प्रेम, सौन्दर्यबोध और जीवनसम्भोग ५७६
- नारी-शरीर-सौन्दर्य ५७९
- नगर सौन्दर्य ५८४
- प्रकृति सौन्दर्य ५८५
- सांस्कृतिक सौन्दर्य ५८७
- जीवन सम्भोग ५८९
- सम्पत्ति और उपभोग ५९३
- संगीततत्त्व ५९७
- दर्शनतत्त्व ६०१
- चार्वाक दर्शन ६०२
- चार्वाक मतका निरसन—उत्तरपक्ष ६०४
- धूर्त चार्वाकके मायावादकी समीक्षा ६०७

तत्त्वोपप्लववाद ६०९
- उत्तरपक्ष-समीक्षा ६११
- बौद्धदर्शन-समीक्षा ६१४
- सांख्यदर्शन ६१६
- समीक्षा ६१८
- मीमांसादर्शन ६१९
- उत्तरपक्ष ६२३
- न्यायदर्शन-समीक्षा ६२४
- जैन दर्शन ६२६
- १. जीवतत्त्व ६२७
- २. अजीवतत्त्व ६२८
  - धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ६२९
  - आकाश द्रव्य ६३०

कालद्रव्य
३. आस्रवतत्त्व ६३०
४. बन्ध ६३०
५. संवरा ६३१
६. निर्जरा ६३१
कर्मसिद्धान्त ६३१
कर्मोंके भेद ६३२
आचार ६३३
श्रावकाचारका श्राद्धधर्म ६३५
श्रावक के उत्तरगुण ६३८
मुनि-आचार ३३९
उपसंहार ६४१
परिशिष्ट १ ६४३
ग्रन्थ और ग्रन्थकार
परिशिष्ट २ ६५५
काव्यात्मक पारिभाषिक शब्द
परिशिष्ट ३ ६६५
देश, नगर, ग्राम, वन, नदी एवं पर्वतादि
परिशिष्ट ४ ६७२
व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द ६७६

●

प्रथम परिवर्त

*

संस्कृत जैनकाव्यका अन्तर्दर्शन

Religious Book Distribution Fund
दिल्ली-110006

(क) संस्कृत-काव्यका आविर्भाव और विकास
(ख) संक्षिप्त इतिवृत्त
(ग) संस्कृत जैनकाव्यका उद्भव
(घ) अन्तरंगको दृष्टिसे जैनकाव्योंकी भिन्नताएँ
(ङ) चरितनामान्त संस्कृत जैन महाकाव्योंकी विकास परम्परा
(च) इतरनामान्त महाकाव्योंकी परम्परा
(छ) सन्धान और ऐतिहासिक महाकाव्योंकी परम्परा
(ज) अभिलेख, एकार्थ, लघु, सन्देश, सूक्ति और स्तोत्रकाव्योंकी परम्परा

संस्कृत काव्यका आविर्भाव और विकास

काव्य शान्तिसे परिपूर्ण क्षणोंमें लिखित कोमल शब्दों, मधुर कल्पनाओं एवं उद्रेकमयी भावनाओंकी मर्मस्पृक् भाषा है। यह सहजरूपमें तरंगित भावोंका मधुर प्रकाशन है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि काव्यभाषाके माध्यमसे अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवनका परिष्करण है। मानव-जीवन काव्यका पाथेय ग्रहण कर सांस्कृतिक संतरणकी क्षमता प्राप्त करता है। राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और जातीय भावनाएँ काव्यमें सुरक्षित रहती हैं। संस्कृत-काव्य भारतके गर्वोन्नत भालकी दीप्तिसे संक्रान्त जीवनका चित्र है।

संस्कृत-काव्यका प्रादुर्भाव भारतीय सभ्यताके उषःकालमें ही हुआ है। यह अपनी रूपमाधुरी एवं रसमयी भावधाराके कारण जनजीवनको वैदिककालसे ही प्रभावित करता आ रहा है। अग्निपुराणमें बताया गया है कि अनन्त काव्य-जगत्‌में केवल कवि ही एक प्रजापति है, उसे जैसा अच्छा लगता है, यह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है।[1] यत. वैदिककालीन कवि भी प्रकृतिके मसृण और रौद्र रूपोंसे आकृष्ट हुआ और उसने इन रूपोंमें दिव्यत्वका आरोप कर प्रकृतिका आवाहन एवं शसन किया। सोमकी सरसता, ज्योतिर्मय अग्निगोलकको जाज्वल्यमानता, प्रभाभास्वर हिरण्यपिण्डका साश्चर्य अवलोकन, आकाशके अवगुण्ठनसे आच्छादित गुलाबी उषासुन्दरीका लावण्य एवं ग्रावाणोंसे पीसे गये सोमकी मस्तीने कविके मनको आश्चर्य और कुतूहलसे भर दिया। फलतः उसकी भावनाओंका रागात्मक सम्बन्ध इन्द्र, वरुण, अग्नि, उषा आदिके साथ स्थापित हो गया।

दिव्य आत्माएँ भी हर्ष-विषाद, सुख-दुःख एवं आशा-निराशामें सहयोग करती हुई देखी जाने लगी। वैदिक कविने मन्त्रद्रष्टाके रूपमें दिव्य शक्तियोंमें सौन्दर्यका अध्यारोप कर उनके लावण्यको वाणीके फलकपर चित्रित किया। चिरकुमारी उषा अपने अधखुले लावण्यका प्रदर्शन करती हुई सूर्यसे प्रणयकी अभिलाषा प्रकट करती देखी गयी। कल्पना और भावनाका निविड़ संश्लेषण काव्यके रूपमें फूट पड़ा। शंसन, हवन और उद्गीथके क्षेत्रसे काव्यकी भावधारा आगेकी ओर बढ़ी और नाराशसी, दानस्तुतियोंके साथ पुरूरवा-उर्वशी एवं यम-यमी जैसी प्रेम कविताएँ भी गुम्फित होने लगी। स्तुतियों

---

[1] अपारे काव्यसंसारे कविरेक प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
—अग्निपुराणका काव्यशास्त्रीय भाग-नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, १९५९ ई०, श्लोक० १०, पृ० ३८।

के प्रसंगमें उपमा और उत्प्रेक्षाओंकी रंगीनियोंने ऐसा सुन्दर रम्य रूप उपस्थित किया जो किसी भी भाषाके काव्यके लिए अपार भाव सम्पत्ति माना जा सकता है। इस सन्दर्भमें व्यास और सतलुजकी काव्यमयी स्तुतियाँ द्रष्टव्य हैं[१]। इन स्तुतियोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपककी योजनाने कविताको एक नया ही परिवेश प्रदान किया है।

जीवनकी स्थिरताके साथ गम्भीर चिन्तन आरम्भ हुआ। कल्पना और भावनाने विचारोंके साथ मिलकर त्रिवेणीकी सृष्टि की। हृदयके साथ मस्तिष्क भी प्रौढ़ हुआ और संहिताकालकी लौकिक अभ्युदयकी भावनाने उपनिषद् कालके आध्यात्मिक चिन्तनको प्रसूत किया। ऋग्वेदके अन्तिम दिनोंके कविके मनमें अनेक देवमूर्तियोंके प्रति आशंका उत्पन्न हुई और चिन्तनशील होकर उसके मुखसे निकला—"कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" वह अपनी समस्याको सुलझा न सका। जीवनकी गतिविधि और लक्ष्यको समझनेका प्रयत्न किया गया। फलतः उपनिषद् कालका आध्यात्मिक चिन्तन प्रसूत हुआ। संहिताकालके अनन्तर एक ओर यज्ञादि विधानोकी बौद्धिक व्याख्या करनेवाले एवं आर्यजीवनकी कथाओंके संग्रह, ब्राह्मण ग्रन्थोंकी रचना हुई और दूसरी ओर संसारके रहस्यात्मक कार्यकारणवादको अवगत करनेके लिए दर्शनका श्रीगणेश हुआ। समाजको व्यवस्थित करनेके हेतु श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्रोंका प्रणयन हुआ।

संस्कृतके कविने यहाँ विराम नहीं लिया। वह संहिताओंकी कल्पना और भावना, ब्राह्मण ग्रन्थोंकी भोगवादी कर्मभावना, आरण्यकोंकी यज्ञसम्बन्धी आध्यात्मिक प्रवचन भावना एवं उपनिषद्की आत्मा, पुनर्जन्म एवं कर्मफलभावनाके दायके साथ गतिशील हुआ, पर चिन्तन और विचार-ततिका रूप उत्तरवर्ती संस्कृत काव्यपरम्परा (Classical Poetry) में तद्वत् न रह सका। वैदिक कविकी काव्य-प्रकृति, लौकिक संस्कृत (Classical Sanskrit) के कविकी काव्य प्रकृतिसे भिन्न है। यत (१) वैदिक कविका काव्य तत्कालीन जनभाषाका काव्य है और साहित्यिक संस्कृतका काव्य अभिजात वर्गकी साहित्यिक भाषाका। (२) वैदिककाव्य प्राकृतिक शक्तियोंसे सम्बद्ध दैवी काव्य है, पर साहित्यिक संस्कृतका काव्य मानवकाव्य है। (३) वैदिक काव्य ग्राम्य संस्कृतिका काव्य है, जब आर्योंमें पशुचारण वृत्तिके साथ कृषिका विकास हो गया था, पर साहित्यिक संस्कृतका काव्य नागरिक सभ्यताका काव्य है। (४) वेदोंका समाज दो वर्गों—आर्य और अनार्य या विजेता और विजितका समाज है, पर संस्कृतका समाज चातुर्वर्ण्यकी नींव पर आधृत पौराणिक समाज है। (५) वैदिक काव्य भावना और कल्पनाके अनाविल और अनलंकृत रूपसे मण्डित है, इसमें संगीत और कवित्वका नैसर्गिक योग है, पर लौकिक संस्कृत काव्यमें कला और शास्त्रका अपूर्व मणिकांचन संयोग हुआ है। (६) वैदिक साहित्य लोकगीतोंका स्वाभाविक काव्य है, पर लौकिक संस्कृत काव्य अलंकृत शैलीका। इस प्रकार वैदिक काव्यकी प्रकृतिका गुणात्मक परिवर्तन लौकिक संस्कृत काव्य (Classical Poetry) में पाया जाता है।

---

[१] ऋक्० ३।३३।१-२।

कतिपय मनीषी वैदिक और श्रेण्य संस्कृत काव्यकी प्रकृति भिन्नताके कारण श्रेण्य संस्कृत काव्यका मूल स्रोत प्राकृत-काव्यको मानते हैं। उनका अभिमत है कि श्रमणिक-काव्यका प्रादुर्भाव ईसवी सन्‌से ४-५ सौ वर्ष पूर्व ही हो चुका था। इस काव्यकी प्रकृति कई दृष्टियोंसे श्रेण्य संस्कृत काव्यके अनुकूल है। जनसाधारण अपनी बोली प्राकृतमें गीतोंको गाया करता था। ये गीत ही आगे चलकर काव्यके रूपमें संग्रहीत हुए। ल्यूडर्स (Luders) ने प्राकृत गीतिकाव्यका अस्तित्व सिद्ध करते हुए बताया है कि रामगढ़ पहाड़ीपर सीताबेंगा और जोगीमाराकी गुफाओंके लघु अभिलेखोंमें प्राकृत काव्यके रूप पाये जाते हैं। कलिंगके खारवेलके हाथीगुम्फा अभिलेखमें भी संस्कृत गद्यकाव्यकी अनेक विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार ल्यूडर्स संस्कृत काव्यका स्रोत प्राकृत काव्यको स्वीकार करते हैं।[१]

याकोबीने[२] हालको सातवाहनसे अभिन्न माना है और बताया है कि हालके आश्रयमें 'गाथासप्तशती' जैसे सरस प्राकृत काव्यका संग्रह किया गया है। इस संग्रहका समय जैन अनुश्रुतिके[3] अनुसार वीर निर्वाण संवत् ७४० है। महापण्डित राहुल साकृत्यायनने लिखा है—"इस समयकी कविताएँ पालिमें सुरक्षित हैं। संस्कृतमे उनके नमूने महाभारत और रामायणमें मिलते हैं, जो कि सदियों तक मौखिक दोहराये जाते मौर्यवंशके उच्छेदके बाद शुंगकालमे स्थायी रूप लेने लगे[४]।" राहुलजीने जिसे पालि कहा है वस्तुतः वह एक प्रकारकी प्राकृत ही है। गायगिरने[५] पालिको आर्षप्राकृत कहा है। अशोकके शिलालेखोंका भी संस्कृत गद्यशैलीके विकासमें योगदान माना जा सकता है। अतः जो विद्वान् संस्कृत-काव्यका मूलस्रोत प्राकृतको मानते है, उनके तर्कोंपर अभी तक यथार्थ रूपमें विचार नही हो सका है।

डॉ० ए. बी. कीथने उपर्युक्त मान्यताको अस्वीकार तो किया है पर सयुक्तिक खण्डन नही किया। उनका अभिमत है कि संस्कृतसे प्राकृतकी पूर्वस्थिति सिद्ध नही हो सकती है। अतएव प्राकृत काव्यको संस्कृत काव्यका स्रोत मानना अनुचित है[६]। उन्होंने लिखा है—"ऋग्वेदमें भी अपने आश्रयदाता प्रभुओंकी प्रशंसाके साथ-साथ देवताओंकी स्तुति करनेवाले सूक्त और कुशल प्रशस्तिकर्ताओंको दिये जानेवाले पुष्कल पारितोषिकोंका वर्णन करनेवाली दान-स्तुतियाँ भी पायी जाती हैं। इसमे सन्देह नही कि पौराणिक

---

[१] Dr A. B Keith, A History of Sanskrit Literature, London, 1941, PP 40-41.

[२] Ang. Erzahrungen in Maharastri P. XVII, cf. Bhavistta Kaha, P. 83.

[३] प्रबन्धकोश, सं० मुनि जिनविजय, सिन्घी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ६, शान्तिनिकेतन, १९३५ ई० पृ० ७४।

[४] संस्कृत काव्यधारा किताब महल, इलाहाबाद, १९५८ ई०, पृ० ८४।

[५] Pali is an archaic Prakrit, a Middle Indian idiom, which is characterised by the same peculiarities which distinguish the Middle-Indian from the old Indian Pali Literature and Language. Calcutta 1956, P. 1.

[६] History of Sanskrit Literature, London 1941, P. 41.

काव्यकी आख्यानात्मक साधारण शैलीकी अपेक्षा साहित्यिक शैलीका विकास नाराशंसियोंसे माना जा सकता है[१]।"

अतएव स्पष्ट है कि श्रेण्य संस्कृत काव्यका स्रोत अधिकांश विद्वान् वैदिक काव्य को ही मानते है। उनका विचार है[२] कि नाराशंसी गाथाओंकी प्रणालीका विकास रामायण और महाभारत काव्यग्रन्थोंमें पाया जाता है। इन ग्रन्थोके लिपिबद्ध होनेके बहुत पहले ही सहृदय रसिक कौरव-पाण्डव युद्ध और रामचरित सम्बन्धी गीतोंको गाते रहे होंगे। यह भी सम्भव है कि उक्त विषयोंके अतिरिक्त अन्य राजवंशों एवं वीरपुरुषोंकी गौरवगाथाओंका गान भी होता रहा हो। इस प्रकार रामायण और महाभारतमें अनेक आख्यान सम्मिलित होते रहे होंगे।

वीर-स्तुतियोके रचयिता एवं प्रचारक सूत कहलाते थे। ये सूत उत्सवो या विशेष अवसरो पर राजाओके समक्ष गौरवगाथाओका पाठ करते थे। इन सूतोकी जाति विशेषमे ही रामायण एवं महाभारतके आख्यानोकी उत्पत्ति हुई होगी। सूतोके अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग भी था जो उन स्तुतियोको कण्ठस्थ करके स्थान-स्थान पर सस्वर गाकर सुनाया करता था। यह वर्ग कुशीलव कहलाता था। इन कुशीलवोने रामायण एवं महाभारतका जनतामें प्रचार किया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सजय इसी प्रकारके सूत थे जो धृतराष्ट्रको महाभारतका आख्यान सुनाते थे। रामके पुत्र कुश और लव वाल्मीकिसे पढे हुए रामचरितको जहाँ-तहाँ भ्रमण कर गाते हुए सुनाते चलते थे। अत. ये कुश और लव भी प्रकारान्तरसे कुशीलव ही है[३]।

उपर्युक्त विवेचनका यह अर्थ कदापि नही है कि सूतो और कुशीलवो द्वारा गायी जानेवाली वीर-स्तुतियोका संग्रह ही रामायण और महाभारत है। वस्तुत. ये दोनो महाकाव्य वैदिक काल और श्रेण्य संस्कृत कालकी वे कड़ी है जिनके वर्तमान संस्करण कई शताब्दियोमे प्रस्तुत हुए होंगे। समय-समय पर इन ग्रन्थोमे प्रक्षेपको और परिवर्तनो का समावेश होता रहा है।

रामायण अपने काव्यगुणोके कारण आदि महाकाव्य कहलाता है। विषयकी उदात्तता, घटनाओका वैचित्र्यपूर्ण विन्यास एवं भाषाका सौष्ठव उसकी मुख्य विशेषता है। इस महाकाव्यकी लोकप्रियता, शैली, चरित्र-चित्रण एवं असख्य रमणीय सुभाषितोके कारण है। इस काव्यमे मानव-हृदयके क्रियाकलापोके प्रति असाधारण अन्तर्दृष्टि परिलक्षित होती है। वनप्रदेशों, आश्रमो, सेनाओं, युद्धो, राजप्रासादो, नगरों, मनुष्यो

---

[१] A History of Sanskrit Literature, London, 1941. P. 41.

[२] The History and Culture of the Indian people, The Age of Imperial unity, Vol II Bhartiya Vidya Bhavan Series 1960. Chapter XVI P. 244

[३] The History and Culture of Indian People, The Age of Imperial Unity Chapter XVI. P. 245. तथा वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड चतुर्थ सर्ग—कुश और लव के रामायण गानका उल्लेख।

और उनके व्यवहारोंका वर्णन वास्तविकतासे परिपूर्ण है। मानव-मनोवृत्तियोंका व्यापक, विशद और सांगोपांग निरूपण भी इसमे पाया जाता है।

महाभारत श्रेष्ठ संस्कृत काव्यका दूसरा ग्रन्थ है। विषय, भाषा, भाव, छन्द-रचना, युद्धचित्रण, आन्तरिक द्वन्द्व आदि इस काव्यमे विवेचित हैं। इस काव्यमे केवल कौरव-पाण्डवोके युद्धकी ही कथा नही है, अपितु समयके दीर्घ प्रवाहमे मूलकथाके चारों ओर अनेक अन्य आख्यानोका एक बहुत बडा जमघट है।

इस प्रकार रामायण और महाभारत महाप्रबन्ध काव्य हैं। संस्कृत काव्यके ये दोनों ग्रन्थ प्रधान स्रोत है। डॉ० एस. के. डे ने लिखा है—

"Even if there is no direct evidence, it would not be entirely unjustifiable to assume that the Samskrit-kavya literature, highly styled though it is, had its origin in the two great Epics of India The Indian Tradition, no doubt distinguishes the Itihasa from the kavya, but it has always, not unjustly, regarded the Ramayana, if not the Mahabharata as the first kavyas [१]

स्पष्ट है कि रामायण एवं महाभारत दोनो ही परवर्ती संस्कृत काव्य तथा अन्य देश्यभाषा काव्योके प्रेरक है। इन दोनो महाप्रबन्ध काव्योसे परवर्ती कवियोने काव्य-शैली और विषय दोनो ही दृष्टियोसे प्रेरणा एव उपादान सामग्री ग्रहण की है। भास, अश्वघोष, कालिदास, भारवि एव माघ आदि विभिन्न कवियोने उक्त महाप्रबन्ध काव्योसे उपादान सामग्री ग्रहण की है। संस्कृत काव्य साहित्यके इतिहासमे रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवतको उपजीव्य-काव्य कहा गया है। इन तीनोंका अवान्तर संस्कृत काव्यके ऊपर बड़ा ही विशाल, मार्मिक एव आभ्यन्तर प्रभाव पड़ा है।

संस्कृत काव्यपरम्पराका इतिवृत्त

संस्कृत काव्यपरम्पराके इतिवृत्तको तीन युगोमें विभक्त किया जा सकता है—

१. आदिकाल—ई० पू० से ईसवी प्रथम शती तक

२. विकासकाल—ई० सन् की द्वितीय शतीसे सातवी शती तक, एवं

३. ह्रासोन्मुखकाल—ई० सन्की आठवी शतीसे बारहवी शती तक

आदिकालको काव्यपरम्परा रामायण, महाभारत, पुराण एवं पतंजलिकालीन वाररुच काव्यमें[२] उपलब्ध है। इस कालमे ब्राह्मण धर्मके उत्थानके साथ संस्कृत भाषाका भी पर्याप्त प्रचार हुआ था। अतएव पुष्यमित्रके समयको संस्कृत काव्यमे प्रारम्भिक युग माना जा सकता है। इस युगकी काव्यसामग्री इतनी अपर्याप्त और अनिश्चित रूपाकृतिसे पूर्ण है, जिससे काव्यकी विशेष प्रवृत्तियो और मौलिक उद्भावनाओंका विश्लेषण सम्भव नही।

---

[१] A History of Samskrit Literature—Classical Period—University of Calcutta. 1962. Chapter I P. 1.

[२] श्रीबलदेव उपाध्याय कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, काशी, पृ० १५०।

विकासकालमें संस्कृत कवियोने काव्यको नयी प्रवृत्तियाँ, नयी भंगिमाएँ एवं नूतन उद्भावनाएँ प्रदान की हैं। उन्होंने अजन्ताकी चित्रकलासे भावभंगिमाएँ, वहाँकी मूर्तिकलासे कलात्मक नक्काशी, वात्स्यायनके कामसूत्रसे वासन्ती विलास एवं स्मृत्यानुमोदित वर्णाश्रम धर्मसे सामाजिक जीवनकी रूपरेखाका अंकन किया है। इस कालखण्डके कवि राजाओ द्वारा सम्मानित थे, अतः विशेष रूपसे काव्यकी उन्नति हुई। शुंग, कुषाण, उज्जयिनीके महाक्षत्रप, नागभारशिव एवं वाकाटक-गुप्त प्रभृति राजाओंने संस्कृत-कवियोंको विशेष प्रोत्साहन दिया। फलस्वरूप अश्वघोष, कालिदास, भारवि, भट्टि, माघ, बाण, अमरुक जैसे प्रतिभाशाली कवियोंका आविर्भाव हुआ जिनकी कृतियोंने संस्कृत काव्यके भव्य भण्डारको समृद्ध बनाया।

इस कालखण्डका सबसे पहला कवि अश्वघोष हैं। यह एक प्रकारसे दार्शनिक कवि हैं। इनके सौन्दरनन्द एवं बुद्धचरित नामक दो महाकाव्य उपलब्ध हैं। इन काव्योंमें नैतिक और धार्मिक उपदेशोकी प्रचुरता होते हुए भी काव्यरसकी कमी नही है। उपदेशवादी और प्रचारवादी प्रवृत्तिके रहनेपर भी वैदर्भी शैलीके सुन्दर समावेशके कारण पर्याप्त सरसता है। काव्यके माध्यमसे दर्शनके कटु तथ्योको मधुर रूपमे प्रस्तुत कर अपूर्व कलाका प्रदर्शन किया गया है। इन काव्योंको कथावस्तुओंके स्रोत बौद्ध अवदान ग्रन्थोसे संग्रहीत है। कविने वर्णन चमत्कार, अलंकार नियोजन एव उदात्त भावोंकी अभिव्यंजना काव्यके परिप्रेक्ष्यमें की है। सौन्दरनन्दमें स्वयं लिखा है—"काव्यका रस सरस होता है और दर्शनका उपदेश कटु। कड़वी औषधि मधुमें मिला देनेपर मीठी हो जाती है। इसी प्रकार कटु उपदेश भी काव्यके सरस आश्रयसे मधुर हो जायेगा।"[1] अश्वघोषकी शैली आदिकवि वाल्मीकिके समान सरल और सरस है।

भावसम्पत्ति एवं कल्पनाके धनी रससिद्ध कवि कालिदासने अपने युगकी चेतना को अपनी रचनाओंमे तरलित किया है। ये पौराणिक ब्राह्मण धर्म एव वर्णाश्रमके पोषक कवि है। इनके चार काव्य प्रसिद्ध है—ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव एवं रघुवंश। कालिदासके काव्योका वस्तु-सविधान अत्यधिक स्वाभाविक प्रवाहमय एवं सरस है। कलापक्ष और भावपक्षका सन्तुलित समन्वय इनकी कृतियोकी प्रमुख विशेषता है। इनके युगकी सामाजिक चेतनाका सच्चा प्रतिफलन इनकी कृतियोमे उपलब्ध है। शृंगार और करुणारसके अमर कवि कालिदासकी रचनाओंमें प्रसाद परिपूर्ण वैदर्भी शैलीकी अनुपम छटा विद्यमान है। उपमाको चारुताके कारण इनकी 'दीपशिखा'[2] उपाधि प्रसिद्ध है। इन्दुमती स्वयंवरमे जिस राजाको छोड़ती जाती थी, उसके चेहरेपर नैराश्यकी ऐसी कालिमा छा जाती, जैसे राजमार्गके उन महलोंपर, जिन्हें

---

[1] मौन्दरनन्द, सस्कृत भवन, कठौतिया, १९४८ ई०. १८।६३।

[2] मंचारिणी दोपशिखेव रात्रौ, यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा।
नगेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ रघु० ६।६७।

रात्रिके समय आगे बढ़नेवाली दीपशिखा पीछे छोड़ती जाती है। उपमाओंमें विविधताके साथ शास्त्रीयता भी है।

विकासकालके अन्य कवियोंमें भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ, हर्षवर्धन एवं बाणके नाम भी आदरके साथ लिये जाते हैं। भारविमें पाण्डित्य प्रदर्शन अधिक पाया जाता है। अर्थगाम्भीर्यके लिए इनका काव्य प्रसिद्ध है। भारवि अलंकृत काव्यशैलीके सर्वप्रथम कवि हैं। इनका 'किरातार्जुनीयम्' काव्य प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथने इनके काव्यको 'नारिकेलफलसम्मितं वचो'—जिस प्रकार नारियलके कठोर भागको तोड़नेपर ही उसका रस प्राप्त होता है, उसी प्रकार पदोंके भीतर प्रवेश करनेपर ही काव्यरस उपलब्ध होता है, कहा है। कलाके सम्बन्धमे भारविका सिद्धान्त है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥किरात० २।२७

माघको पण्डित कवि कहा जाता है। इनके महाकाव्य शिशुपालवधमें कालिदासकी भावतरलता, भारविकी कलाप्रवणता और भट्टिकी व्याकरणपटुता इन तीनोंका समन्वय हुआ है। माघ भारविसे अधिक कलाबाज हैं, पर भट्टिसे कम वैयाकरण भी नही। माघ वस्तुतः विकट गौडीबन्धके कवि है। माघ ही ऐसा पहला कवि है, जिसने संस्कृत महाकाव्योंको एक नयी शैली दी जो भावी महाकाव्योंके लिए दीपस्तम्भ बनी। प्रौढोक्ति, श्लेषयोजना और गम्भीर पदविन्यासके कारण शिशुपालवध सहृदयोंका कण्ठहार है।

भारवि और माघके मध्यवर्ती कवियोमें भट्टि और कुमारदास भी आते हैं। भट्टि प्रकृतिसे पण्डित हैं और उनमें वैयाकरण एवं आलंकारिकका विद्वत्तापूर्ण समन्वय है। जहाँ ये व्याकरणके संकीर्ण पथसे निकलकर बाहर आते है, इनके कविहृदयकी झाँकी मिलने लगती है।

प्रसाद और सुकुमारता कुमारदासकी कृतिका विशेष गुण है। इन्होंने जानकीहरण नामक महाकाव्य लिखा है। इसमें रामायणकी पुरानी कथाको नवीन कलेवर प्रदान किया गया है। मौलिकता अधिक न होते हुए भी वर्णनशैली सुन्दर है। विकासकालकी कृतियोंमें संस्कृतकाव्यका रूपगठन पूर्णतया पाया जाता है।

ह्रासोन्मुख काव्ययुगका आरम्भ हर्षवर्धनके पश्चात् होता है। इस युगमें काव्यको पाण्डित्य प्रदर्शनने धर दबाया और काव्य-साहित्य सामन्ती विलासका दर्पण बन गया। माघोत्तरकालमें संस्कृत-काव्योंमें तीन प्रकारकी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं।

प्रथम प्रवृत्ति यमक और द्व्याश्रय श्लेष काव्यकी है। इस कोटिके काव्योंमें भावपक्षके स्थानपर शाब्दिक क्रीडा आसीन हो गयी है। यमक काव्योंमें मलबार

निवासी वासुदेव कविके युधिष्ठिर-विजय और नलोदय प्रसिद्ध हैं । श्लेषकाव्योंमें प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति कविराजकी राघवपाण्डवीय है, इसमे श्लेषके द्वारा एक साथ रामायण और महाभारतकी कथा दी गयी है। प्रत्येक पद्यका सभंग और अभंग श्लेषके कारण दोनो पक्षोमे अर्थ घटित होता है। इस युगमें कविराज के अनुकरण पर हरिदत्तसूरि कृत राघवनैषधीय और चिदम्बर कृत राघवपाण्डवीय-जैसे काव्य भी लिखे गये।

द्वितीय प्रवृत्तिकी रचनाएं सूक्ति प्रधान महाकाव्य हैं, जिनमें कविका उद्देश्य दूरकी उड़ान, हेतूत्प्रेक्षा और प्रौढोक्तिकी लम्बी कल्पना करना रहा है। मंख (१२-वीं शती) का श्रीकण्ठ-चरित प्रौढोक्तियों के लिए प्रसिद्ध है, इसमें शिवसे सम्बद्ध पौराणिक आख्यान है।

तृतीय प्रवृत्ति ऐतिहासिक चरितकाव्योंकी है। इस श्रेणीके महाकाव्योंमें ऐतिहासिक तथ्योंकी अपेक्षा कल्पनाका पुट ही प्रधान है। चरितकाव्योका विकास शिला-प्रशस्तियोसे हुआ है, पर इस विधाका पूर्ण प्रस्फुटन बाणके हर्षचरित और वाक्पतिराजके गउडवहोमे पाया जाता है। विल्हण (११वी शती) का विक्रमांकदेवचरित, पद्मगुप्त (११वी शती) का नवसाहसाकचरित एव कल्हण (१२वी शती) का राजतरंगिणी काव्य इस श्रेणीके उत्तम काव्य है।

बारहवी शतीमे संस्कृत काव्यक्षेत्रमे एक प्रबल व्यक्तित्वका उदय हुआ, जिसने उक्त तीनो प्रवृत्तियोसे प्रभावित होकर एक अनुपम कृतिका प्रणयन किया है, वह व्यक्तित्व है श्रीहर्षका। इनकी रचना नैषधचरितमे नल-दमयन्तीके प्रेम और विवाहकी कथा सरसशैलीमे वर्णित है। २२ सर्गोका यह महाकाव्य प्रथम मिलन-रात्रिका रुचिर वर्णन कर समाप्त होता है। इसमें काव्य सौन्दर्य तथा शोभातिशायक अलकारोंका मणिकाचन संयोग है। यह शब्दोंके सुन्दर विन्यास, भावोंके समुचित निर्वाह, कल्पनाकी ऊँची उडान एवं प्रकृतिके सजीव चित्रणमे अपनी शानी नही रखता। ह्रासोन्मुखकालकी यह रचना काव्यगुणोके कारण अनुपम है। श्रीहर्षके बाद संस्कृत-काव्यकी परम्परामे गतिरोध उत्पन्न हुआ तो भी १७वी शताब्दी तक काव्य-निर्माण-की परम्परा चलती रही। दक्षिणके राजपरिवार और काश्मीरके पण्डितोको इस परम्पराको जीवित रखनेका अधिक श्रेय प्राप्त है।

महाकाव्योंके साथ खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक, चम्पू एवं सुभाषित काव्योंके रूपमें संस्कृत काव्यकी परम्परा १७वीं शती तक पायी जाती है। इस विशाल और विराट् संस्कृत काव्य-परम्पराको जैन कवियोने भी समृद्ध बनानेमे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है। संस्कृत काव्यकी समस्त प्रमुख विधाओं पर जैनकवियों द्वारा रचनाएँ निबद्ध की गयी हैं। इस सम्प्रदायके कवियोके अमूल्य सहयोगका लेखा-जोखा अगले परिवर्तोंमें प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैन संस्कृत काव्य का उद्भव

जैनाचार्य और जैन मनीषी आरम्भमें प्राकृत-भाषामें ही ग्रन्थ-प्रणयन करते थे। प्राकृत जनसामान्यकी भाषा थी, अतः लोकपरक सुधारवादी रचनाओंका प्रणयन जैनाचार्योंने प्राकृत भाषामें ही प्रारम्भ किया। भारतीय वाङ्मयके विकासमें किये गये जैनाचार्योंके सहयोगकी प्रशंसा करते हुए डॉ० विंटरनित्सने लिखा है—

"I was not able to do full justice to the literary achievements of the Jainas But I hope to have shown that the Jainas have contributed their full share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India"[1]

अनुयोगद्वारसूत्रमें प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओंको ऋषिभाषित कहकर समान रूपसे सम्मान प्रदान किया गया है।

सक्कया पायया चेव भणिईओ होंति दोण्णि वा ।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिया[2] ॥

स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओंमें साहित्य सृजन करने की स्वीकृति जैनाचार्यो द्वारा प्रदान की गयी है।

ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियोंमें ही 'संस्कृत-भाषा तार्किकोंके तीक्ष्ण तर्कबाणोंके लिए तूणीर बन चुकी थी। अतः इस भाषाका अध्ययन, मनन न करने वालोंके लिए विचारोंकी सुरक्षा खतरे मे थी। भारतके समस्त दार्शनिकोंने दर्शन-शास्त्रके गूढ और गहन ग्रन्थोंका प्रणयन संस्कृत भाषामें आरम्भ किया। जैनकवि और दार्शनिक भी इस दौड़ मे पीछे न रहें। उन्होंने प्राकृतके समान ही सस्कृत पर अपना अधिकार कर लिया और काव्य और दर्शनके क्षेत्रको अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओके द्वारा समृद्ध बनाया। डॉ० भोलाशंकर व्यासने लिखा है—"जैनोंको अपना मत एवं दर्शनको अभिजातवर्ग पर थोपनेके लिए साथ ही ब्राह्मणधर्मकी मान्यताओंका खण्डन करनेके लिए संस्कृत को चुनना पड़ा[3]।"

जिस प्रकार वैदिक-ब्राह्मणधर्ममे वेदोंको सर्वोपरि स्थान दिया गया है[4] और बौद्धधर्ममे त्रिपिटकको उसी प्रकार जैनधर्ममें द्वादशांगवाणी[6]को सर्वोपरि

---

[1] The Jainas in the History of Indian Literature by Dr. Winternitz, Edited by Jina Vijaya Muni, Ahmedabad 1946 page 4

[2] अनुयोगद्वारसूत्र, ब्यावर प्रकाशन, वि० सं० २०१०, सूत्रसंख्या १२७।

[3] डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत संस्कृत कवि दर्शन, चौखम्बा वाराणसी, वि० सं० २०१२, आमुख पृ०११।

[4] मनुस्मृति, चौखम्बा, १९५३ ई०, २।८, २।१०, २।११, २।१३।

[5] Indian Literature, Vol II, University of Calcutta 1933, page 2

[6] तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्ट। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात् प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम्। तत्प्रमाणम्; तत्प्रामाण्यात्।
—सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५५ ई०, पृ० १२४।

स्थान प्राप्त है। इस द्वादशाग वाङ्मयमे चौदहपूर्व नामका वाङ्मय भी सम्मिलित है। भगवान् महावीरके पूर्वसे जो ज्ञान-परम्परा चली आ रही थी, उसीको उत्तरवर्ती साहित्य रचनाके समय 'पूर्व'[१] कहा गया है। साधारण बुद्धिवाले इन पूर्वोंको समझनेमें असमर्थ थे अतः गणधरोंने भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनिके आधार पर प्राकृतमें द्वादशांग-वाणीको निबद्ध किया। स्पष्ट है कि जैन लेखकोंकी मूलभाषा प्राकृत थी। संस्कृतके प्रचारयुगमें जैनाचार्य भी काव्य और दर्शन ग्रन्थोंका प्रणयन इस भाषामें करने लगे।

काव्य निर्माणकी दृष्टिमे सबसे पहला संस्कृतका जैन कवि समन्तभद्र है जिसने ईसवी सन्‌की द्वितीय शताब्दीमे स्तुतिकाव्यका सृजन कर जैनोंके मध्य संस्कृत काव्यकी परम्पराका श्रीगणेश किया। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि संस्कृत-भाषामे काव्योका प्रादुर्भाव स्तुतियोसे ही हुआ है। वेदमन्त्र वैदिक युगके स्तवन-काव्य हैं, तो समन्तभद्रके स्तोत्र संस्कृत जैन साहित्यके आदि स्तवन-काव्य क्यों नही? अतः संस्कृत भाषामें जैन काव्यकी परम्परा द्वितीय शतीसे आरम्भ होकर अठाहरवी शती तक अविराम रूपसे चलती रही है। संस्कृत काव्यके विकासकालमें जितने काव्यग्रन्थ जैनकवियोने रचे है, उनसे कई गुने अधिक ह्रासोन्मुख कालमे भी जैनोंने लिखे हैं। अत. जैन संस्कृत काव्य ग्रन्थोंमें संस्कृतके विकास और ह्रासोन्मुख कालकी समस्त प्रवृत्तियोका समवाय पाया जाता है। जैन संस्कृत काव्योंके क्रमिक विकासकी परम्पराका इतिवृत्त उपस्थित करनेके पूर्व इनकी उन विशेषताओंपर प्रकाश डालना आवश्यक है जो वैदिक—ब्राह्मण-धर्मानुयायी कवियोके संस्कृत काव्योंकी अपेक्षा भिन्न है। आशय यह है कि वैदिक धर्मानुयायी कवियोके सस्कृत काव्यो और जैन कवियोंके संस्कृत काव्योंमें बहिरग दृष्टिसे अनेक समताओंके रहनेपर भी अन्तरगकी दृष्टिसे भिन्नताएँ भी वर्तमान है। काव्य किसी न किसी सिद्धान्त विशेषको लेकर ही रचे जाते है अतः स्थापत्य, वस्तुगठन आदि की समताके रहनेपर भी सिद्धान्तकी अपेक्षा काव्य-आत्मामें अन्तर आ ही जाता है, पर इतने अन्तरसे उच्च कोटिके काव्योकी साम्प्रदायिकताके नामपर अवहेलना नही की जा सकती है। जीवन प्रक्रिया एवं रसोद्बोधनकी क्षमता सभी काव्योमे साधारण रूपसे ही प्रतिपादित रहती है।

संस्कृत जैन कवियोने काव्य-स्थापत्यकी साज-सज्जाके लिए भले ही अजन्ताकी चित्र और मूर्तिकला, वात्स्यायनका कामसूत्र, रामायण, महाभारत एवं अश्वघोष, कालिदास, माघ और बाणभट्टके ग्रन्थोका अध्ययन कर प्रेरणाएँ और सहायक-सामग्री

---

[१] भावश्रुतकी अपेक्षा जैनश्रुतांगोंके भीतर कुछ ऐसी रचनाएँ मानी गयी हैं जो महावीरसे पूर्व श्रमण-परम्परामें प्रचलित थीं, और इसी कारण उन्हें पूर्व कहा गया है।
—डॉ० श्री हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, प्र० मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२ ई०, पृ० ५१।

ग्रहण की हो, पर काव्य-आत्माको सजानेमें द्वादशांगवाणीका ही उपयोग कर श्रमणिक परम्पराकी प्रतिष्ठा की है।

अन्तरंगकी दृष्टिसे जैन काव्यकी भिन्नताएँ

यह पूर्वमें लिखा जा चुका है कि संस्कृत जैन काव्योंकी मूल आधारशिला द्वादशांगवाणी है। इस वाणीमें आत्म-उत्क्रान्ति द्वारा प्रत्येक व्यक्तिको निर्वाण प्राप्त करनेका पूर्ण अधिकार प्राप्त है। रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी साधना द्वारा मानवमात्र चरम सुखको प्राप्त कर सकता है। संस्कृत भाषाका प्रत्येक जैन काव्य उक्त सन्देशको ही पुष्पोंमें निवास करने वाली गन्धके समान विकीर्ण करता है। यहाँ प्रधान विशेषताओंको परिगणित किया जाता है—

१. जैन संस्कृत काव्य स्मृत्यनुमोदित वर्णाश्रम धर्मके पोषक नहीं है। इनमें जातिवादके प्रति क्रान्ति प्रदर्शित की गयी है। आश्रम-व्यवस्था भी मान्य नही है। समाज सागार—श्रावक और अनागार—मुनि इन दो वर्गोंमें विभक्त है। चतुर्विध संघ—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाको ही समाज माना गया है। यह समाज श्रावक और मुनिके पारस्परिक सहयोगसे विकसित होना है। तप, त्याग, संयम एवं अहिंसाकी साधनाके द्वारा मानवमात्र समान रूपसे आत्मोत्थान करनेका अधिकारी है।[1] आत्मोत्थानके लिए किसी परोक्ष शक्तिकी सहायता अपेक्षित नही है।[2] अपने पुरुषार्थ द्वारा कोई भी व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है।

२. जैन काव्योंके नायक देव, ऋषि, मुनि नही हैं, अपितु राजाओंके साथ सेठ, सार्थवाह, धर्मात्मा व्यक्ति, तीर्थंकर, शूरवीर या सामान्य जन आदि हैं। नायक अपने चरित्रका विकास इन्द्रियदमन और सयम-पालन द्वारा स्वयं करता है। आरम्भसे ही नायक त्यागी नही होता, वह अर्थ और काम दोनो पुरुषार्थोंका पूर्णतया उपयोग करता हुआ किसी निमित्त विशेषको प्राप्त कर विरक्त होता है और आत्म-साधनामें लग जाता है। जिन काव्योंके नायक तीर्थंकर या अन्य पौराणिक महापुरुष हैं, उन काव्योंमें तीर्थंकरादि पुण्यपुरुषोंकी सेवाके लिए स्वर्गसे देवी, देवता आते है, पर वे महापुरुष भी अपने चरित्रका उत्थान स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा ही करते है।

३. जैन संस्कृत काव्योंके कथास्रोत वैदिक पुराणों या अन्य ग्रन्थोंसे नहीं ग्रहण किये गये है, अपितु इनके कथास्रोत लोकप्रचलित प्राचीन कथाओं एवं श्रमणिक परम्पराके पुराणोंसे संग्रहीत हैं। कवियोंने कथावस्तुको जैनधर्मानुकूल बनानेके लिए उसे पूर्णतया जैनधर्मके साँचेमें ढालनेका प्रयास किया है। रामायण या महाभारतके कथांश जिन काव्योंके आधार हैं उनमें भी उक्त कथाएँ जैनपरम्परानुमोदित ही हैं।

---

[1] उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४, ७४।४९२।

[2] द्वात्रिंशतिका–अमितगति, श्लोक २९।

यतः बुद्धिसंगत यथार्थवाद द्वारा विकृतियोंका निराकरण कर मानवताको प्रतिष्ठा की गयी है। काव्योंके कथास्रोतोंका निरूपण करते हुए महाकवि अर्हद्दासने महावीरकी दिव्यध्वनिसे ही कथावस्तुका सम्बन्ध बताया है[1]।

४. संस्कृत जैन काव्योंके नायक जीवनमूल्यों, धार्मिक निर्देशों एवं जीवनतत्त्वोंकी व्यवस्था और प्रसारके लिए माध्यम (Medium) का कार्य करते हैं। वे संसारके दुखों एवं जन्म-मरण-सन्ततिके कष्टोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके हेतु रत्नत्रयका अवलम्बन ग्रहण करते हैं। संस्कृत-काव्योंके 'दुष्ट-निग्रह' और 'शिष्ट अनुग्रह' आदर्शके स्थान पर दुःख-निवृत्ति ही नायकका लक्ष्य होता है। स्वयकी दुःख निवृत्तिके आदर्शसे समाजकी दुःख निवृत्तिका संकेत ग्रहण कराया जाता है। व्यक्तिहित और समाजहितका इतना एकीकरण रहता है जिससे वैयक्तिक जीवनमूल्य ही सामाजिक जीवन मूल्य बन जाते हैं। संस्कृत जैन काव्योके इस आन्तरिक रचनातन्त्रको रत्नत्रयके त्रिपार्श्व समत्रिभुज द्वारा व्यक्त होना माना जा सकता है। इस जीवन त्रिभुजको तीनो भुजाएँ समान होती है और कोण भी त्याग, संयम एव तपके अनुपातसे निर्मित होते है।

५. जैन संस्कृत काव्योके रचनातन्त्रमे चरित्रका विकास प्राय. लम्बमान (Vertical) रूपमे नही होता है, जबकि अन्य संस्कृत काव्योमे चरित्रका विकास लम्बमान रूपमे पाया जाता है। जहाँ चरित्र कई सन्दर्भोंमे बँटा रहता है वहाँ चरित्रका विकास अनुप्रस्थ (Horizental) माना जाता है। जैसे राम और कृष्ण सम्बन्धी काव्योमें राम और कृष्णका चरित्र अनेक सन्दर्भोंके बीच विकसित होता हुआ दिखलाई पड़ता है। परिवार, समाज एव देशके बीच अनेक कार्य-कलापोंकी भूमिका अनेक रूपोमें घटित होती है। इसी प्रकार श्रेण्य संस्कृतके किरात, माघ आदि काव्योमे अनेक सन्दर्भोंके बीच चरित्रका विकास मिलता है पर विकासका क्रम लम्बमान रूप ही है, अनुप्रस्थ नही। संस्कृतके जैन काव्योमे चरित्रका विकास प्रायः अनेक जन्मोके बीच हुआ है। कवियोने एक ही व्यक्तिके चरितको साधनाक्रमसे विकसित रूपमे प्रदर्शित करते हुए वर्तमान जन्ममें निर्वाण तक पहुँचाया है। अतः चारित्रिक विकास लम्बमान न होकर अनुप्रस्थ है। प्रायः प्रत्येक काव्यके अर्धाधिक सर्गोंमे कई जन्मोकी विभिन्न परिस्थितियो और वातावरणोंके बीच जीवनकी विविध घटनाओको चित्रित किया गया है। काव्योंके उत्तरार्धमें घटनाएँ इतनी क्षिप्र गतिसे बढ़ती है, जिससे आख्यानमें क्रमशः क्षीणता आती जाती है। पाठक पूर्वार्धमे अनुरंजन कर काव्यानन्द ग्रहण करता है पर उत्तरार्धमें उसके हाथ आध्यात्मिक और सदाचार तत्त्व ही आ पाते है, काव्यानन्द नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि शान्तरस प्रधान काव्योंमे निर्वेदकी स्थितिका उत्तरोत्तर विकास होनेसे अन्तिम उपलब्धि अध्यात्मतत्त्वके रूपमें ही सम्भव होती है।

---

[1] वीराकरोत्थं मुनिसार्थनीतं कथामणिं· ।
—मुनिसुव्रतकाव्यम्, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, १६२६ ई०, १।११.।

इस तथ्यको संक्षेपमे हम यों कह सकते हैं कि श्रेण्य संस्कृत महाकाव्योंमें एक जीवनकी कथा राज्यप्राप्ति अथवा किसी विजय तक ही सीमित है। अतएव चरित्रका विकास लम्बमान रूपमें ही सम्भव है, पर जैन काव्योंकी कथावस्तु अनेक जन्मोंसे सम्बद्ध है। अतः चरित्रका विकास अनुप्रस्थ रूपमें हो घटित हुआ है। जीवनके विविधपक्ष जन्म-जन्मान्तरोंकी विभिन्न घटनाओंमें समाहित हैं।

६. संस्कृत जैनकाव्योमे आत्माका अमरत्व एवं जन्म-जन्मान्तरोंके संस्कारोंकी अपरिहार्यता दिखलानेके लिए पूर्व जन्मके आख्यानोंका संयोजन किया गया है। प्रसंगवश चार्वाक, तत्त्वोपप्लववाद प्रभृति नास्तिकवादोका निरसन कर आत्माका अमरत्व और कर्मसंस्कारका वैशिष्ट्य निरूपित किया गया है। पूर्वजन्मके सभी आख्यान नायकोके जीवनमें कलात्मक शैलीमें गुम्फित किये गये है। फलतः अन्तरंग काव्यक्षेत्रमें नयी भंगिमाएँ एवं नयी उद्भावनाएँ प्रस्तुत की गयी है। पुनर्जन्मका सिद्धान्त निरूपित करनेके लिए ही अनेक जन्मोंके आख्यान इस प्रकार निबद्ध किये हैं जिससे काव्य-चमत्कारके साथ दार्शनिक गन्ध भी उपलब्ध हो जाती है। यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्तोमे उलझ जानेसे काव्यरसमे न्यूनता यत्र-यत्र अवश्य आ गयी है, पर कवियोंने आख्यानोको सरस बनाकर इस त्रुटिका परिमार्जन भी किया है।

७. कालिदास, भारवि एवं माघ प्रभृति कवियोके काव्य वैदिक साहित्यके दायको लेकर उपस्थित होते हैं, पर संस्कृतके उपेक्षित जैन कवियोके काव्य श्रमण संस्कृतिके प्रमुख आदर्श स्याद्वाद—विचार-समन्वय एवं अहिंसाके पाथेयको अपना संबल बनाते हैं। इन काव्योका अन्तिम लक्ष्य प्राय. निर्वाणप्राप्ति है। अत: आत्मोत्थान और चरित्र विकासकी विभिन्न कार्यभूमिकाएँ परिलक्षित होती हैं।

८ व्यक्तियोंकी पूर्ण समानताका आदर्श स्थापित करने एवं मनुष्य-मनुष्यके बीच जातिगत भेदको दूर करनेके हेतु काव्यके रसभाव शबलित परिप्रेक्ष्यमें कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद एवं कर्तृत्ववादका निरसन किया गया है। उपेक्षित सस्कृत काव्योमे अहिंसा और विचार-स्वातन्त्र्यका क्रियात्मक भावोन्मेष भी वर्तमान है। अतः संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि जैन परम्पराप्रथित सदाचार सहिताकी भित्तिपर जातीय मेधा और चरित्रकी रेखाएँ अंकित की गयी है। वैभवदृप्त अशान्तिका उपचार, परिग्रहत्याग एवं इच्छा नियन्त्रण मर्मस्पृक् काव्यशैलीमें वर्णित है।

९. मानव कही भ्रमात्मक मार्ग न अपना ले, अतः मिथ्यात्वके विश्लेषणके साथ आचारात्मक मुख्य-मुख्य तत्त्वोका वर्णन करना भी संस्कृत जैन कवियोका अभीष्ट रहा है। महाकवि अश्वघोषके समान जैनकवियोने भी काव्यकी शैलीमें मोक्ष, कर्मसंयोग, जीवन-शोधन, गृहस्थाचार एवं मुनि-आचारपर प्रकाश डाला है। दार्शनिक और सदाचार सम्बन्धी तत्त्वोंका निरूपण दर्शनकी कर्कश-शैलीमें नही किया गया है, अपितु काव्यकी मधुमय शैलीमें ही तत्त्व निरूपित हैं।

१०. इन प्रमुख अन्तरंग विशेषताओंके अतिरिक्त वस्तु-व्यापार वर्णनमें भी जैन संस्कृत कवियोंकी एक सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वे किसी भी नगरका वर्णन करते समय उसके द्वीप, क्षेत्र एवं देश आदिका निर्देश अवश्य करेंगे। उदाहरणार्थ अयोध्याका वर्णन करते समय कवि जम्बूद्वीप और उसकी समृद्धि, आर्यखण्ड और उसका वैशिष्ट्य, भरतक्षेत्र और उसका वैभव, कोशलदेश एवं उसका ऐश्वर्य वर्णन करनेके उपरान्त ही अयोध्या नगरीका सांगोपांग चित्रण करता है[1]। श्रेष्य संस्कृत काव्योंमें नगरीका चित्रण करते समय कवि सीधे ही बिना किसी क्षेत्र एवं द्वीप-निर्देशके वर्णन करने लगता है[2]। अतः कथास्थापनमें देश और नगरीका चित्रण जैन-काव्योंकी रचना-तन्त्र सम्बन्धी एक अपनी विशेषता है।

११. कलापक्ष और भावपक्षमें जैनकाव्य और अन्य संस्कृत काव्योंके रचनातन्त्र में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पर कुछ ऐसी बातें भी है जिनके कारण अन्तर माना जा सकता है। काव्यका लक्ष्य केवल मनोरंजन कराना ही नहीं है बल्कि किसी आदर्शको प्राप्त कराना है। जीवनका यह आदर्श ही काव्यका अन्तिम लक्ष्य होता है। इस अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्ति काव्यमें जिस प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होती है, वह प्रक्रिया या विधि काव्यकी टेकनीक है। कालिदास, भारवि, माघ, कुमारदास प्रभृति संस्कृतके कवियोंके काव्योंमें चारो ओरसे घटना, चरित्र और संवेदन संगठित होते हैं तथा यह संगठन वृत्ताकार पुष्पकी तरह पूर्ण विकसित हो प्रस्फुटित होता है और सम्प्रेषणीयता केन्द्रिय प्रभावको विकीर्ण कर देती है। इस प्रकार अनुभूति द्वारा रसका संचार होनेसे काव्यानन्द प्राप्त होता है और अन्तिम साध्यरूप जीवन आदर्श तक पाठक पहुँचनेका प्रयास करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि महाकाव्योंमें रसानुभूतिके साथ नायकके चरितके अन्तिम उदात्तरूप तक, जिसे उसने किसी आदर्शरूपमें प्राप्त किया है, पाठकको पहुँचाना किसी भी काव्यप्रणेताके लिए आवश्यक-सा है। अतः कालिदास आदि कवियोंके काव्योंका रचनातन्त्र वृत्ताकार है, सभी घटनाएँ विस्तृत होती हुई वृत्तरूपमें ही लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। पर जैन संस्कृत काव्योंका रचनातन्त्र हाथीदाँतके नुकीले शंकुके समान मसृण और ठोस होता है। चरित्र, संवेदन और घटनाएँ वृत्तके रूपमें संघटित होकर भी सूची रूपको धारण कर लेती हैं तथा रसानुभूति कराती हुई तीरकी तरह पाठकको अन्तिम लक्ष्यपर पहुँचा देती है।

स्पष्टीकरणके लिए यो कहा जा सकता है कि काव्यकी वस्तुका निर्माण दो तत्त्वोंसे होता है। वे दो तत्त्व है—क्षेत्र और काल। काव्यमें क्षेत्रका अर्थ घटनाओ (Events) और उनकी पृष्ठभूमिसे है। यतः कथावस्तुका विस्तार ही काव्यका क्षेत्र (Space) है। आशय यह है कि जितने धरातलमें घटनाओं और उनकी पृष्ठभूमिका

---

[1] देखें—धर्मशर्माभ्युदय १।३२, १।३४, १।४१, १।४२, १।५६।

[2] तुलनाके लिए देखें—वा० रा० बालकाण्ड ५।५-६ तथा सौन्दरनन्द १।५७-५८ नैषध २।७३, भट्टि १।५।

सम्पादन हो रहा है उतना धरातल उसका क्षेत्र है। वातावरणकी व्यापकताके कारण क्षेत्रका तिर्यक् रूपमें विस्तार रहता है। पूर्वापर प्रसंगानुसार ऊर्ध्वोन्मुख कथावस्तुका विकसित होना ही कालतत्त्व है। नायक अपने चारित्रिक अन्तर्विकाससे कालकी कई अवस्थाओंको प्राप्त करता है। इस क्रममें प्रासंगिक कथाएँ या चरित महत्त्वपूर्ण रूपमें अपने कार्यका सम्पादन करते हुए भी अप्रमुख रूपमें ही उपस्थित रहते हैं।

जैन संस्कृत काव्योंके प्रारम्भमें कथावस्तुका विस्तार क्षेत्र-सम्बन्धी रहता है पर यह क्षेत्र क्रमशः संकुचित होने लगता है और कुछ ही आगे जानेपर क्षेत्र कालमें विलीन हो जाता है और यह एकीकरण इतना स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि केवल काल ही अवशिष्ट दिखाई पड़ता है। इस प्रकार शृंगार, विकार, प्रेम और राग, जो कि प्रारम्भिक वातावरणमें बहुत ही विस्तृत थे, थोड़ेसे निमित्तके मिलते ही संकुचित हो वे विरक्तिकी ओर अग्रसर होने लगते हैं। संयम, तप, त्याग और अहिंसाकी साधना कथावस्तुके झीने आवरणमें ऊर्ध्वोन्मुख हो जाती है। फलतः जन्म-जन्मान्तरकी कथानक योजना भी घात-प्रतिघातके रूपमें एकाकार प्रतीत होती है। सम्भोगकी मादकता और विप्रलम्भकी हृदयद्रावक विह्वलता गंगोत्रीके उभय निर्झरोंके समान शान्तरसकी मन्दाकिनीमें लीन हो विशाल भागीरथीका रूप ग्रहण करती है।

रचनातन्त्र सम्बन्धी भिन्नताको निम्नलिखित चित्रों द्वारा स्पष्ट करनेका प्रयास किया जाता है—

श्रेण्य संस्कृत काव्य

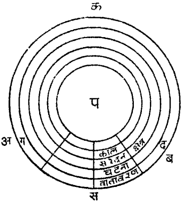

जैन संस्कृत काव्य

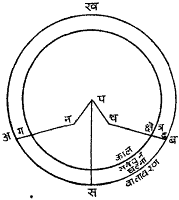

वृत्त 'क' में 'प' बिन्दु अन्तिम लक्ष्य है। परिधि रेखाएँ 'अ' 'ब' 'ग' 'द' आदि घटनाएँ, पृष्ठभूमि और संवेदनाएँ हैं। दूसरे शब्दोंमें यह काव्यका वातावरण है। यह तिर्यक्रूपमें व्याप्त काव्यका क्षेत्र है। नायक विभिन्न प्रकारके वातावरणसे

केन्द्रकी ओर अर्थात् क्षेत्रसे काल[1] की ओर गतिशील होता है। प्रेम, मिलनकी अवस्थाके अनन्तर वियोग या विरोधकी स्थिति आती है। बाधक कारणके दूर होने पर स्थायी संयोग होता है अथवा पुरुषार्थरूप अन्य किसी फलकी प्राप्ति होती है तथा क्षेत्र रूपमें ही कालकी परिणति होती है। अन्तमें यही वृत्ताकार परिणति लक्ष्य बिन्दुको प्राप्त होती है।

वृत्त 'ख' में लक्ष्यबिन्दु 'प' है। आरम्भमें घटनाओं, उनकी पृष्ठभूमि और संवेदनाओं द्वारा काव्यक्षेत्र विस्तृत होता है। घोर शृंगार, प्रेम, बीभत्स विकार आदि के कारण वृत्त 'क' को अपेक्षा भी वृत्त 'ख' का क्षेत्र विस्तृत रहता है। 'च' बिन्दु तक इस विस्तारमें व्यापकता रहती है पर इसके आगे पहुँचते हो नायकको विरक्तिका कोई निमित्त मिलता है, फलतः शृंगार और विकारकी प्रवृत्तियाँ संकुचित होने लगती है तथा शनैः शनैः संकोचन सूच्याकार होता हुआ काव्यसम्मत काल[2] की ओर गतिशील होता है। नायकको सभी बहिरंग प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और शंखाकारमें लक्ष्यको प्राप्त कर लेती है।

इस विश्लेषणसे स्पष्ट है कि श्रेण्य संस्कृत काव्योंका रचनातन्त्र वृत्ताकार है और जैन संस्कृत काव्योका शङ्खाकार।

१२. जैन काव्योंमें इन्द्रियोंके विषयोंकी सत्ता रहने पर भी आध्यात्मिक अनुभवकी सम्भावनाएँ अधिकाधिक रूपमें वर्तमान रहती हैं। इन्द्रियोंके माध्यमसे सांसारिक रूपोंकी अभिज्ञताके साथ काव्य प्रक्रिया द्वारा निर्वाण तत्त्वको अनुभूति भी उपस्थित की जाती है। भौतिक ऐश्वर्य, सौन्दर्यपरक अभिरुचियाँ, शिष्ट एवं परिष्कृत संस्कृतिके विश्लेषणके साथ आत्मोत्थानकी भूमिकाएँ भी वर्णित रहती हैं। जैन काव्य-साहित्यकी विशेषताओंके सम्बन्धमें विंटरनित्सने भी लिखा है—

Its characteristics features are the following It disregards the system of castes and asramas, its heroes are, as a rule, not Gods and Ṛsis, but kings or merchants or even Sudras The subjects of poetry taken up by it are not Brahmanic myths and legends, but popular tales, fairy stories, fables and parables It likes to insist on the misery and sufferings of Samsara, and it teaches a morality of compassion and Ahimsa, quite distinct from the ethics of Brahmanism

---

[1] यद्यपि क्षेत्र और काल दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है पर काव्यमें तिर्यक्‌को क्षेत्र एवं ऊर्ध्वको काल कहा जाता है।

[2] ऊर्ध्वोन्मुख कथावस्तुका विकसित होना ही काव्यका कालतत्त्व है। नायक चारित्रिक अन्तर्विकासमें कालकी कई कोटियोंको पार करता हुआ अन्तिम उपलब्धि प्राप्त करता है। इस क्रममें प्रासंगिक कथाएँ या आख्यान प्रमुख रूपमें सामने नहीं आ पाते। तथ्य यह है कि काव्यमें घटना (Events) और क्रियाएँ (Actions) क्षेत्र है तथा चारित्रिक विकास काल है। क्षेत्र और काल इन दो तत्त्वोंमें काव्य-वस्तुका गठन होता है।

—लेखक

with its ideals of the great sacrificer and generous supporter of the priests, and its strict adherence to the caste system[१].

प्रातिभज्ञान (Intuition) द्वारा हृद्गत वृत्तियोंके शोधन और परिष्कारके लिए जैन मनीषियोंने धर्म और दर्शनके स्थान पर काव्यको प्रतिष्ठित किया। यतः काव्य-निर्माता और ग्रहीता—पाठक इन दोनोंके हृदयोंका एकीकरण इसी प्रक्रिया द्वारा सम्भव है तथा मानव-मानवके मध्य रागात्मक सम्बन्धकी स्थापना कर लोकरंजनका कार्य भी इसीके द्वारा होता है। अतएव जैन मनीषियोने ईसवीकी द्वितीय शताब्दीसे ही काव्योंका प्रणयन आरम्भ किया और तबसे अठारहवी शती तक जैनों द्वारा निर्मित संस्कृत-काव्य परम्परा अनवरत रूपमें चलती आ रही है संस्कृतके जैन कवियोंने संस्कृतके काव्यक्षेत्रमें अपने बहुमूल्य योगदान द्वारा महाकाव्य, एकार्थकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य प्रभृति विभिन्न विधा-विषयक काव्योका प्रणयन किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्धमें जैन कवियोके योगदानको निम्नलिखित काव्य विधाओंके रूपमें अंकित किया जायेगा।

चरित नामान्त महाकाव्य

महाकाव्योंका प्रादुर्भाव अचानक नही होता, प्रत्युत उनके प्रादुर्भावके पूर्व समस्त उपादान सामग्री संकलित हो जाती है। जिस प्रकार वर्षा प्रारम्भ होनेके पहले नभोमण्डलमें मेघघटाओका वितान आच्छादित हो जाता है, वायुका संचरण होने लगता है और प्रकृतिका समस्त परिवेश वृष्टि होनेके उपक्रमसे व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार महाकाव्यकी उत्पत्तिके पूर्व सामूहिक गीत, नृत्य, स्तोत्र, गाथा, आख्यान एवं अभिलेख आदि विकसित होकर एकत्र हो जाते हैं और महाकाव्यकी परम्परा प्रादुर्भूत हो जाती है।

महाकाव्योंकी परम्परा और उनके पूर्वरूपोंको अवगत करनेके लिए सामाजिक विकासकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। यह सत्य है कि प्रथम युगमें कबीले ही समाज थे, सामूहिकताकी प्रवृत्ति प्रमुख थी और प्रत्येक कार्य सामूहिक रूपमें ही सम्पन्न होता था। उस समय तक व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं व्यष्टि भावनाका विकास नही हुआ था। यही प्रारम्भिक समाज था और सामूहिक नृत्य-गीत, प्रारम्भिक पौराणिक एवं निजन्धरी आख्यान प्रभृति ही धार्मिक और सामाजिक अभिव्यक्तिके माध्यम थे। पशुचारण और वन्यवृत्ति जीवन-निर्वाहके साधन थे, पर जब कृषि और व्यापार जीविकाके साधन बने तो व्यक्तिगत सम्पत्तिके साथ व्यष्टि भावनाका भी विकास हुआ। फलतः सामाजिक सम्बन्धों, संस्कृतिके प्रतिमानों एवं सौन्दर्य-चेतनाके उपकरणोंमें भी परिवर्तन हुए। व्यष्टि भावना एवं अन्तर्मुखी प्रवृत्तियोंके परिणाम स्वरूप कृषियुग या सामन्तयुगने गीतात्मक (Lyrical Poetry) काव्यको उत्पन्न किया।

---

१. The Jainas in the History of Indian literature, by Dr. M. Winternitz, Ed. Jina Vijaya Muni, Ahmedabad, 1946 A. D., P. 5.

कविके अन्तस्तलकी सुषुप्त अनुभूतियाँ जागृत हुई और अन्तःप्रेरणाने उसके अनुभवको बाहर अभिव्यक्त करनेके लिए बाध्य किया। अतएव प्रकृतिके रागात्मक सम्बन्ध एवं जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंकी बिखरी अनुभूतियाँ शब्द और अर्थके माध्यमसे कलापूर्ण रूपमें अभिव्यंजित हुई। प्रेम, भक्ति, अनुराग, धर्म संवेदन प्रभृतिने उस युगके मानव-हृदयको मथा और शनैः-शनैः स्तुति, प्रशस्तिगीत, आख्यानगीत एवं आख्यानक गीत-नृत्यका विकास हुआ और इस प्रकार महाकाव्यकी उत्पत्तिके योग्य धरातलका निर्माण हुआ।

महाकाव्योंके प्रादुर्भाव कालको वीरयुग (Heroic Age) कहा जाता है। पूर्वजोंकी गौरवगाथा एवं जातीय भावनाकी रक्षाके हेतु प्रबन्धात्मक आख्यानोंका लिखा जाना आवश्यक हो गया। नृतत्त्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियोंका अनुमान है कि सबसे पहले मानवकी धार्मिक क्रियाएँ सामूहिक गीत-नृत्यके रूपमें अभिव्यक्त होती थी। जन-समाज युगके कबीले अपने आदिपुरुषके सम्बन्धमें अपने मनोभावोंकी अभिव्यक्ति सामूहिक रूपमें करते थे। ऐसे अवसरों पर सभी व्यक्ति एकत्र होकर सामूहिक रूपमें ही नृत्य-गानके आनन्दका अनुभव करते थे[1]।

वीरयुग भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न देशोंमें विभिन्न कालोंमें रहा है। भारतमें इस युगका आरम्भ वैदिककालसे ही माना जाता है। जैनकवियोंने आरम्भ में पौराणिक गाथाके रूपमें महाकाव्यकी रूपविधाका सूत्रपात किया है। महाभारत और रामायणकी कथावस्तु जैनकवियोंको भी बहुत प्रिय रही है और उन्होंने इस कथावस्तुको अपनी मान्यताके अनुसार गठित कर एक नया ही रूप प्रदान किया है। तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, गणधरों, नारायणों एवं जैनधर्मके अन्य उपासकोंके आख्यान भी काव्य और कथाके लिए ग्रहण किये गये हैं, यद्यपि इन आख्यानोंके मूल स्रोत प्राकृत द्वादशांग वाणीमें निहित है तो भी कवियोंने संस्कृत पुराण और काव्योंके लिए इन स्रोतोंको पल्लवित कर एक नये रूपमें ही प्रस्तुत किया है।

पुराण और महाकाव्यका उद्भव और विकास समानान्तर रूपमें होता है। आरम्भमें दोनोंका रूप एकमें मिला हुआ था, पर जब अलंकरणकी प्रवृत्ति और सौन्दर्यबोधकी चेतना विस्तृत होती है तो महाकाव्योंका पृथक् रूपमें संगठन हो जाता है। वास्तवमें महाकाव्य पुराणोंके ही परिष्कृत, अलंकृत और अन्विति युक्त कलात्मक रूप हैं। कुछ जैन पुराण तो चरित्र नामांकित होनेके साथ भाषा, शैली, छन्द, अलंकरण और कथा अन्वितिकी दृष्टिसे महाकाव्यके समकक्ष है।

चरित नामान्त महाकाव्योंसे हमारा तात्पर्य उस प्रकारके महाकाव्योंसे है, जिनमें किसी तीर्थंकर या अन्य पुण्यपुरुषका आख्यान निबद्ध हो, साथ ही वस्तु-व्यापारोंका नियोजन काव्यशास्त्रीय परम्पराके अनुसार संगठित हुआ हो। अवान्तर-कथाओं और घटनाओंमें वैविध्यके साथ अलौकिक और अप्राकृतिक तत्त्वोंका अधिक सन्निवेश न हो।

---

[1] F. B. Gummere : A Handbook of Poetry—London, 1894 A. D Introduction, P. 9.

दर्शन और आचार तत्त्व इस श्रेणीके काव्योंमें अवश्य समन्वित रहते हैं। कथावस्तु व्यापक, मर्मस्पर्शी स्थलोंसे युक्त और भावपूर्ण होती हैं।

सामान्यतः जहाँ अनेक नायकोंका अस्तित्व पाया जाय वह पुराण कहलाता है और जिसमें कथावस्तु एक ही नायकसे सम्बद्ध हो वह महाकाव्य कहा जाता है। जैन कवियोंने संस्कृत भाषामें चरित काव्योंकी रचना प्रचुर परिमाणमें की है। यह सत्य है कि जिन काव्योंकी गणना हमने चरित नामान्त महाकाव्य शीर्षकमें की है उन सभी काव्योंमें शास्त्रीय महाकाव्योंके लक्षण भी पाये जाते हैं। वस्तुतः जैन कवियों द्वारा रचित काव्य इस कोटिके महाकाव्य हैं, जिनमें रससिद्ध महाकाव्य, पौराणिक महाकाव्य और रोमांचक या कथात्मक महाकाव्यके लक्षणोंका समन्वय हुआ है। काव्य-चमत्कार इन काव्योंमें आद्यन्त पाया जाता है। वास्तवमें चरित-काव्य प्रबन्धकी ही एक रूपयोजना है, जहाँ पात्र पौराणिक या ऐतिहासिक हैं और कालक्रमसे तिथिगत एवं तथ्यगत ब्यौरोंसे पुष्ट हैं। प्रसंगोंकी मार्मिक उद्भावना भी इनमें रहती है। जीव कर्मको रसानुवर्ती प्रज्ञा और तीव्रभावनाके कारण पात्रोंके शीलमें रुचिर अनुराग और सार्थकताका समावेश होता है। जैन परम्परामें अनेक व्यक्तियोंके चरितोंसे पुराणोंका सृजन और एक व्यक्तिके चरितसे महाकाव्योंका प्रणयन होता है।

चरितकाव्य अलंकृत, मर्मस्पर्शी काव्यकी श्रेणीमें परिगणित हैं। इनका जीवन-व्यापी सन्देश पुरुषार्थ जागृत करनेके लिए होता है। इसी कारण इन्हें भवितव्यता-काव्य कहा जाता है, मात्र भूतकाव्य नहीं। मात्रभूतसे अभिप्राय विचित्र और कौतूहल-वर्धक घटनाओंके शृंखलाक्रमसे है, केवल, 'होना' एक घटना है, किसीसे 'कुछ' हो जाना एक क्रिया है। चरितकाव्य क्रियाका नहीं बल्कि कर्मका प्रबन्ध है। कर्म इच्छाके चलते होता है, इच्छाशक्तिको सक्रिय करता है। कोई न कोई भाव ही शीलकी, चरितकी आधारशिला है। यही कारण है कि चरितकाव्यका नायक प्रायः मोक्ष-पुरुषार्थको प्राप्त करनेका प्रयास करता है। उसकी समस्त भावशक्ति अपने लक्ष्यकी ओर प्रवृत्त रहती है। चरितकाव्योंमें प्रबन्धके अनेक रूप हो सकते हैं पर जैन कवियों द्वारा निम्नप्रकारके प्रबन्धरूप ही व्यवहृत हुए हैं—

१. कर्मसंस्कार प्रधान प्रबन्ध—जहाँ चरित जन्म-जन्मान्तरके विभिन्न कर्मोंकी विभिन्न गुत्थियोंका स्वरूप विश्लेषणके लिए अनेक जन्मव्यापी एक ही व्यक्ति—आत्माकी कथावस्तुके गुम्फनसे निर्मित हो और कर्मके विभिन्न स्तरों—आस्रव, बन्ध प्रभृति स्तरोंका विश्लेषण हो, वहाँ संस्कार-प्रधान प्रबन्ध माना जाता है। यों तो प्रायः समस्त जैन काव्योंका लक्ष्य ही पुनर्जन्म एवं कर्मफलकी अनिवार्यता प्रदर्शित करना है, पर इस प्रकारके प्रबन्धोंमें एक ही व्यक्ति नाना भूमिकाओंमें कर्मार्जन और कर्मोंकी निर्जरा असंयमित और संयमित जीवनके कारण करता रहता है, यह दिखलाना है।

२. जीवपरक प्रबन्ध—यह प्रबन्ध नायक-नायिकाके यशोवर्णनसे सम्बद्ध रहता है। अलंकार और रूपकोंके मोहक जालमें आबद्ध होकर सन्दर्भ गतिशील होते

हैं। सन्दर्भोके उद्‌घाटनमें कवि अपने कल्पना-कोषका पूरा उपयोग करता है तथा मानव-जीवनकी समस्त अवस्थाओंका सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करता है। इस प्रकारके प्रबन्धका प्रधान लक्ष्य नायक-नायिकाकी यशोगाथा प्रस्तुत करना ही होता है।

३. जगत्‌परक प्रबन्ध—इस श्रेणीके प्रबन्धोंमें नायक-नायिका चरित तो व्याज या निमित्त रहता है, पर देश या युगका चित्रण ही प्रधान होता है।

जैन चरितकाव्योंमें निम्नांकित तत्त्व उपलब्ध होते हैं

१. कथावस्तुमें व्यासकी अपेक्षा गहनताका अधिक समावेश।
२. आख्यान और वर्णनोंके समन्वयके साथ सूक्ष्म भावदशाओंका विश्लेषण।
३. घटनाओ, पात्रो या परिवेशकी सन्दर्भ पुरस्सर व्याख्या अथवा वातावरणके सौरभकी अभिव्यंजना।
४. सर्ग-विभाजन पद्धतिका निर्वाह करते हुए कथावस्तुमे पूर्वजन्मोकी भवावलिका नियोजन।
५. कथानकमे चमत्कार उत्पन्न करनेके लिए पूर्वभवके किसी मर्मस्पर्शी आख्यानका विस्तार तथा आचार्य या गुरुके द्वारा जीवनके किसी मार्मिक पक्षका उद्‌घाटन।
६. आख्यानको रम्य और सरस बनानेके लिए शृंगारिक जीवनका उद्‌घाटन एवं विरेचन सिद्धान्त द्वारा वासनाका विरेचन कर प्रशम या निर्वेदकी उत्पत्ति।
७. चरितका अंकन खलनायक या प्रतिनायकके सन्दर्भके साथ, तथा प्रेयस्‌पर श्रेयस्‌की विजय, रतिपर त्यागकी विजय।
८. चरितमें परिस्थितियोका नियोजन इस प्रकारसे होना चाहिए, जिससे चरित्रका उद्‌घाटन क्रमशः होता चले। कथानक बिखरा हुआ न होकर सूचीबद्ध रहे तथा उसका प्रवाह नदीकी शान्त स्वभावसे बहनेवाली धाराके समान न होकर, आवर्त-विवर्तमयी उस फेनिल धाराके समान हो, जिसका स्वच्छ और निर्मल जल भीतर दिखलाई पड़ता है।
९. चरितकी समग्रता प्रदर्शित करनेके हेतु जीवनके विभिन्न व्यापार और परिस्थितियो—प्रेम, विवाह, मिलन, युद्ध, सैनिक-अभियान, दीक्षा, तपश्चरण, नाना उपसर्ग प्रभृतिका विश्लेषण अपेक्षित है।
१०. चरितकाव्यका मूल आगम और पुराणोंमें है, अतः इसमें मानवमात्रके हृदयमें प्रतिष्ठित धार्मिक वृत्तियो, पौराणिक और निजन्धरी विश्वासो, आश्चर्य और औत्सुक्यको सहज प्रवृत्तियोका पाया जाना आवश्यक है।
११. शीलका महत्त्व प्रदर्शित करते हुए रसकी उत्पत्ति—पात्रो और परिस्थियोके सम्पर्क, संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा प्रतिष्ठित करना। अतएव जीवनके विविध रूपो और पक्षोंके चित्रणमें रसमय स्थितियोंका नियोजन करना।

चरितनामान्त काव्योंको प्रधानतः तीन वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. चरितनामान्त महाकाव्य
२. चरितनामान्त एकार्थ काव्य
३. चरितनामान्त लघुकाव्य

चरितनामान्त एकार्थकाव्य और लघुकाव्योंका अनुशीलन षष्ठ परिवर्तमें प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय और तृतीय परिवर्तोंमे चरितनामान्त महाकाव्योका परिशीलन रहेगा। यहाँ सुविधाकी दृष्टिसे चरितनामान्त महाकाव्योंके सम्बन्धमें संक्षिप्त परिचय अंकित रहेगा।

चरितनामान्त जैन महाकाव्योंका विकासक्रम

यह पूर्वमें ही लिखा जा चुका है कि संस्कृत भाषाके जैनकवियोंने काव्यका आरम्भ स्तोत्रोंसे किया है। पुराण, दर्शन, आचार और धार्मिक मान्यताओंके विकसित होने पर धर्मप्रचारका सुलभ साधन काव्य-ग्रन्थ ही होते हैं। पुण्यपुरुषोके चरितोंको बुद्धिजीवियों तक पहुँचाने मे काव्य ग्रन्थ उपयोगी साधन हैं। यही कारण है कि संगीत, चरित, आख्यान, रोमांच, प्रेम, कामतत्त्व, दर्शनतत्त्वके निरूपणके साथ जीवनकी प्राणवन्त समस्याएँ भी काव्योमें उपस्थित की जाती हैं। महाकाव्योको जातीय जीवनका प्रतिनिधि माना जाता है। फलत: जैन कवियोंने आगमोंसे दर्शन और आचार तत्त्व, पुराणोंसे चरित, लौकिक संस्कृतकाव्योसे प्रेम और काव्यतत्त्व; नीतिग्रन्थोंसे राजनीति, विश्वास और सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं स्तोत्रोसे भावात्मक अभिव्यंजनाएँ ग्रहण कर चरितनामान्त महाकाव्योंका प्रणयन किया।

जैन चरित काव्योंमें संस्कृतका सर्वप्रथम चरितकाव्य जटासिंहनन्दिका 'वराङ्गचरित' है। यद्यपि इसके पूर्व रविषेणका 'पद्मचरित'[1] भी उपलब्ध है, पर वह काव्य नही, पुराण है। कथावस्तुमे बहुनायकत्व विद्यमान है। 'वराङ्गचरित' को कविने चतुर्वर्गसमन्वित सरल शब्द अर्थगुम्फित धर्मकथा कहा है[2]। इस काव्यमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्णके समकालिक वराङ्गनामक पुण्य पुरुषकी कथावस्तु अंकित है। नायकमें धीरोदात्तके सभी गुण समवेत हैं। नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीड़ा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, जन्म, राज्याभिषेक, युद्ध, विजय आदिका वर्णन महाकाव्यके समान है। इसमे ३१ सर्ग हैं, पर लक्षण ग्रन्थोंके अनुसार महाकाव्यमें ३० से अधिक सर्ग नही होना चाहिए।

प्रस्तुत महाकाव्यकी कथावस्तुमें चतुर्थ सर्गसे दसम सर्ग पर्यन्त तथा छब्बीसवें एवं सत्ताईसवें सर्गकी कथावस्तुमें मुख्यकथासे कोई सम्बन्ध नही है। इन सर्गोंकी

---

[1] पद्मचरित, पं० पन्नालाल साहित्याचार्यके हिन्दी अनु० सह, भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे १९५८-५९ ई० में तीन जिल्दोंमें प्रकाशित।

[2] काव्यके प्रत्येक सर्गकी पुष्पिकामें—इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते। स्फुट-शब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते।

कथावस्तुके हटा देनेपर भी काव्यमें कोई कमी नहीं आती है। तत्त्वनिरूपण और जैन सिद्धान्तके विभिन्न विषयोंका प्रतिपादन इतना अधिक किया गया है, जिससे पाठकका मन ऊब जाता है। यों तो इस काव्यमें रम्य सन्दर्भोंकी कमी नहीं है। यहाँ एकाध उदाहरण देकर कविके वैशिष्टयका निरूपण किया जायेगा।

कवि पालकीका सांगोपांग ब्यौरेवार चित्रण करता हुआ कहता है—

जलप्रभाभिः कृतभूमिभागां प्राचीनदेशोपहितप्रवालाम्।
सर्वार्जिनोपात्तकपोतपालीं वैडूर्यसव्यानवतीं परार्ध्याम्॥
हेमोत्तमस्तम्भवृतां विशालां महेन्द्रनीलप्रतिबद्धकुम्भाम्।
तां पद्मरागोपगृहीतकण्ठां विशुद्धरूपोन्नतचारुकूटाम्॥
द्विजातिवक्त्रोद्गलितप्रलम्बां मुक्ताकलापच्छुरितान्तरालाम्।
मन्दानिलाकम्पिचलत्पताकामात्मप्रभाक्षेपितसूर्यभासम्॥
नानाप्रकारोज्ज्वलरत्नदण्डां विलासिनीधारितचामराढ्याम्।
आरुह्य कन्यां शिविकां पृथुश्रीः पुरीं विवेशोत्तमनामधेयाम्॥
—वराङ्गचरित, माणिक० ग्र० १९३८ ई०, २।५३-५६।

महाराज धृतषेणने जिस पालकीपर राजकुमारीको बैठाया था, उसका धरातल पानीके समान रंगोंका बनाया गया था। फलतः वह जलकुण्डकी भ्रान्ति उत्पन्न करता था। उसकी बन्दनवारमे लगे हुए मूंगे दूरदेशसे लाये गये थे। उसके कबूतरो युक्त छज्जे बनानेमें तो समस्त संसारका धन ही खर्च कर दिया गया था। उसकी छत वैडूर्य-मणियो से निर्मित थी। स्वर्ण-निर्मित स्तम्भोंपर महेन्द्र नीलमणिके कलश तथा ऊपरी भाग पद्मरागमणिसे खचित था। रजतके कलश सुशोभित हो रहे थे। ऊपरी भागमें मणियोंके पक्षी बनाये गये थे, जिनके मुखसे मुक्ताफल गिरते हुए चित्रित किये गये थे। पालकी का मध्यभाग मुक्तामणियोंसे व्याप्त था। ऊपरमें ध्वजाएँ फहरा रही थी। उठानेके डण्डोंमें नाना प्रकारके रत्नजटित थे।

स्पष्ट है कि कल्पनाके ऐश्वर्यके साथ कविका सूक्ष्म निरीक्षण भी अभिनन्दनीय है। पालकीके स्तम्भों पर ऊपर और नीचे दोनों ही ओर कलशोंका विवेचन कविकी दृष्टिकी जागरूकताका परिचायक है। यद्यपि इस प्रकारके वर्णन काव्यमें रसपेशलताकी वृद्धि नहीं करते, तो भी वर्णनकी मंजुल छटा विकीर्ण करते हैं।

कल्पना और वर्णनोके स्रोत कविने वाल्मीकि और अश्वघोषसे ग्रहण किये हैं। वाल्मीकि रामायणमें जिस प्रकार शूर्पणखा राम-लक्ष्मणसे पति बननेकी प्रार्थना करती है, उसी प्रकार यक्षिणी इस काव्यमे वरांग से।

वर्णन, धार्मिक तथ्य और काव्य चमत्कारोंके रहने पर भी कविने रसाभिव्यक्ति में न्यूनता नहीं आने दी है। वरांग और उसकी नवोढ़ा पत्नियोंकी केलिक्रीड़ाके

चित्रणमें संयोग-शृंगारका सजीवरूप प्रस्तुत किया गया है[1]। कविने त्रयोदश सर्गमें बीभत्स-रसका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। पुलिन्दकी बस्तीमें जब कुमार वरांग पहुँचा तो उसे वहाँ पुलिन्दराजके झोंपड़ेके चारों ओर हाथियोंके दाँतोंकी बाढ़, मृगोंकी अस्थियोंके ढेर, माँस और रक्तसे प्लावित शवों द्वारा उसका आच्छादन, बैठनेके मंडपमें चर्बी, आँतें एवं नस-नाड़ियोंका विस्तार तथा दुर्गन्धपूर्ण वातावरण मिला। कविने यहाँ पुलिन्दराजके झोंपड़ेकी बीभत्सता मूर्तरूपमें चित्रित की है[2]। पुलिन्दके भीषण कारागार का चित्रण भी कम बीभत्सता उत्पन्न नहीं करता[3]।

कविने चतुर्दश सर्गमें वीररसका सांगोपांग चित्रण किया है। पुलिन्दराजके साथ उसके सम्पन्न हुए युद्धका विभाव, अनुभाव और संचारी भावों सहित निरूपण किया गया है[4]।

इस काव्यमें वसन्ततिलका, उपजाति, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी, भुजंगप्रयात, वंशस्थ, अनुष्टुप्, मालभारिणी और द्रुतविलम्बित छन्दोंका प्रयोग किया गया है। कविको उपजाति छन्द बहुत प्रिय है। प्रारम्भके तीन सर्ग इस काव्यके बहुत ही सरस है।

इसके रचयिता जटासिंहनन्दिका समय ईसवी सन्‌की आठवी शतीका पूर्वार्ध है। उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमाला[5] मे वरागचरित और रचयिता जटिल या जटासिंहनन्दीका उल्लेख किया है। उद्योतनका समय ई० स० ७७८ निश्चित है[6]। अतः जटासिंहनन्दि ई० स० ७७८ के पूर्ववर्ती है।

यदि इस चरित महाकाव्यका संस्कृत काव्योमें स्थानांकन किया जाय तो इसे अश्वघोषके बुद्धचरितके समकक्ष कह सकते हैं। काव्यगुण एवं उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का समवाय भी बुद्धचरितके समान है।

द्वितीय चरितकाव्य वीरनन्दीका 'चन्द्रप्रभचरितम्' है। इस काव्यमें कविने जनसाधारणके मनोभावो, हृदयकी विभिन्न वृत्तियों एव विभिन्न अवस्थाओमें उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकारोंका सजीव चित्रण किया है। कविने उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, परिसंख्या, विरोधाभास प्रभृति अलंकारोंकी योजना रसोत्कर्ष उत्पन्न करनेके लिए की है। इस महाकाव्यका परिशीलन तो अगले परिवर्तमें प्रस्तुत किया जायेगा, तो भी यहाँ दो-चार बातो पर प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। कविने उत्प्रेक्षा द्वारा भावोंको कितना प्रेषणोय बनाया है यह द्रष्टव्य है—

---

१. वराङ्गचरित २।८९-९४।

२. वही १३।५०-५१।

३ वही १३।४६-४७।

४. वही १४।३५; ४१।

५. जेहि कए रमणिज्जे वरंग पउमाण चरिय-वित्थारे।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणे ॥ कुव०, सि०, ग्र०, १९५९ ई०, पृ० ४, पंक्ति १।

६. वही; पृ० २८३, पं० ६।

अन्योन्यसंहतकराङ्गुलिबाहुयुग्ममन्या निधाय निजमूर्धनि जृम्भमाणा ।
तद्दर्शनाध्वविशतो हृदये स्मरस्य माङ्गल्यतोरणमिवोत्क्षिपती रराज ॥ ७।८७
—चन्द्र० काव्यमाला ग्रन्थांक ३०, निर्णय० बम्बई, १९१२ ई०

एक नायिका अँगुलियोंसे अँगुलियाँ मिलाकर दोनों हाथोंको सिर पर धनुषाकार रखकर जम्हाई लेने लगी, कवि उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है कि वह अजितसेनको देखकर हृदयमें प्रवेश किये कामदेवके हेतु मंगलमय तोरण बना रही है। तोरणकी यह कल्पना बहुत ही उचित है। कविने विलासियोंकी चेष्टाका बहुत ही सजीव वर्णन किया है।

इस महाकाव्यके नवम सर्गमें जहाँ शृंगार विलासका वर्णन है वहाँ एकादशमें वैराग्यका। कवि इस मनोवैज्ञानिक तथ्यसे पूर्णतया अवगत प्रतीत होता है कि शृंगारके विरेचनके अनन्तर ही वैराग्यकी स्थिति आती है।

काव्यके रचयिता वीरनन्दीका समय ई० स० की दसवीं शताब्दी है[1]।

दसवीं शताब्दीमें ही महाकवि असगने शान्तिनाथचरित और वर्धमानचरित नामक महाकाव्योंकी रचना की है। इन दोनों महाकाव्योंमें महाकाव्यके शास्त्रीय लक्षण पाये जाते हैं। इनके शान्तिनाथ चरित[2] में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथका जीवनवृत्त अंकित है। वस्तुवर्णनोंमें सूर्योदय, चन्द्रोदय, सन्ध्या, उषा, ऋतु, नदी, वन, सरोवर आदिका सजीव चित्रण किया है। दार्शनिक और धार्मिक भावनाएँ इस काव्यमें इतनी सघन है, जिससे काव्यरस दबा ही रह जाता है। निस्सन्देह शान्तिनाथ-चरितकी अपेक्षा वर्धमानचरित उत्कृष्ट काव्य है।

इसी दसवीं शताब्दीमें महाकवि वादिराजने पार्श्वनाथचरित[3] की रचना की है। यह काव्य सिंहचक्रेश्वर या चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंहदेवकी राजधानीमें निवास करते हुए शक संवत् ९४७ (ई० १०२५) कार्तिक शुक्ला तृतीयाको पूर्ण किया था। यह बारह सर्गोंका महाकाव्य है। इस काव्यका परिशीलन आगे उपस्थित किया जायेगा। कविकी कल्पनाशक्ति बहुत ही उन्नत है। कवि भूताचलका वर्णन करता हुआ कहता है कि दोनों ओर पार्श्वभागोंमें विचित्र मेघ लटकते रहते है और उनके ऊपर पर्वतीय लताएँ आच्छादित रहती है। अतएव रात्रिमें वे मेघ चित्र-विचित्र आस्तरणको डाले हुए नक्षत्रमालासे आवृत्त उस ऐरावत हाथीके समान परिलक्षित होते है जिनके मस्तकपर विभिन्न प्रकारकी चित्रकारी सम्पादित की गयी हो—

यः पार्श्वभागप्रविलम्बितेन विचित्रजीमूतकुथेन रात्रौ ।
नक्षत्रमालापरिवीतमूर्धा संनद्धमन्वेति गजाधिराजम् ॥ पार्श्व० २।६८

---

[1] वीरनन्दिन्‌के समय पर इसी प्रबन्धके द्वितीय परिवर्तमें विचार किया गया है।

[2] श्री जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले द्वारा सम्पादित 'वर्धमान-चरित' महाकाव्य, शोलापुर १९३१ ई० की प्रस्तावनामें उद्धृत पद्य एवं संक्षिप्त परिचय देखिए।

[3] माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १९१६ ई०।

ग्यारहवीं शताब्दीमें महाकवि महासेनने 'प्रद्युम्नचरित'[1] की रचना की है। ये लाट-वर्गट या लाड-बागड संघके आचार्य थे। इस महाकाव्यमें चौदह सर्ग हैं और श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका चरित वर्णित है। पुण्यपुरुष प्रद्युम्नका चरित इतना लोकप्रिय रहा है, जिससे इस चरितका अवलम्बन लेकर अपभ्रंश और हिन्दीमें भी चरित-ग्रन्थ लिखे गये है। स्वर्गमें देवोंकी दृष्टि अपलक होती है। कवि कल्पना द्वारा इसी एकटक दृष्टिका चित्रण करता हुआ कहता है—

लावण्यरूपादि गुणातिरेकं यत्सुन्दरीणामवलोक्य मन्ये।
अद्यापि तद्विस्मयतः सुराणां चक्षापिहग् निश्चलतामवाप ॥ प्र० १।२७

बारहवी शताब्दीमें हेमचन्द्राचार्यने 'कुमारपाल चरित'[2] को रचना की है। इस काव्यको द्वाश्रयकाव्य भी कहते हैं। इस नामके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण तो यह है कि यह संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओंमें लिखा गया है। द्वितीय कारण यह भी सम्भव है कि इस कृतिका उद्देश्य अपने समयके राजा कुमारपाल के चरितका वर्णन करना है और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अपने संस्कृत और प्राकृत व्याकरणके सूत्र-क्रमानुसार ही नियमोंके उदाहरण प्रस्तुत करना है। यह कितना कठिन कार्य है. इसे सहृदय काव्यरसिक ही जान सकते हैं।

प्रथम सर्गमें चौलुक्यवंशके आशीर्वचनके अनन्तर आणहिलपाटन एवं मूलराज का वर्णन है। द्वितीय सर्गमे मूलराजको स्वप्नमें शम्भुकृतोपदेश, वन्दियों द्वारा प्रभात एवं ग्राहरिपुको नष्ट करनेके लिए मूलराजको मन्त्रियों द्वारा प्रोत्साहन दिये जानेका वर्णन है। तृतीय सर्गमें शरत्कालके निरूपणके अनन्तर मूलराजका यात्रोपकरण एव जम्बुमालीमे स्कन्धवार सन्निवेशका चित्रण किया गया है। चतुर्थ एवं पंचम सर्गमें ग्राहरिपुके दूतके साथ वार्तालाप, युद्ध एव ग्राहका बन्दी होना वर्णित है। अधीनता स्वीकार कर लेने पर मूलराज ग्राहरिपुको बन्दीगृहसे मुक्त कर देता है। षष्ठ सर्गमें मूलराजको चामुण्डराज नामक पुत्र प्राप्त होता है। चामुण्डराज युवक होनेपर अपने पिताके साथ लाट राजापर आक्रमण करता है। युद्धमे लाट राजा मारा जाता है। इसी सर्गमें चामुण्डराजके राज्याभिषेकके अनन्तर मूलराजके स्वर्गवासका भी निरूपण है। सप्तम सर्गमें चामुण्डराजके वल्लभराज, नागराज और दुर्लभराज नामक तीन पुत्रोंकी उत्पत्ति का निरूपण है। शीतलासे वल्लभराजकी मृत्यु हो जाती है, जिससे चामुण्डराजको मर्मान्त व्यथा होती है। चामुण्डराज दुर्लभराजका राज्याभिषेक कर नर्मदाके तीर तपस्या करने चला जाता है। दुर्लभराजका विवाह महेन्द्रकी बहन दुर्लभदेवीके साथ और नागराजका महेन्द्रको दूसरी बहन लक्ष्मीदेवीके साथ विवाह सम्पन्न होता है।

---

[1] माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७३।

[2] अभयतिलकगणि विरचित सं० टी० सहित, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरीज १९१५, एवं १९२१ ई० में दो भागोंमें प्रकाशित।

अष्टम और नवम सर्गमें बताया गया है कि नागराजको भीमराज नामक पुत्र उत्पन्न होता है। भीमराज उत्तराधिकार प्राप्त कर सिन्धुपति हम्मुकको पराजित करता है। भीमराज और भी कई देशोंको जीतकर अपने राज्यका विस्तार करता है। इसको क्षेमराज और कर्णराज नामक दो पुत्र प्राप्त होते हैं। भीमका स्वर्गवास होने पर कर्णराज उत्तराधिकारी बनता है और क्षेमराज मण्डुकेश्वर पुण्यक्षेत्रमें तपश्चरण करने चला जाता है। दशम सर्गमे बताया गया है कि सन्तान-प्राप्ति न होनेसे कर्णराज दु:खी होता है और लक्ष्मीदेवीके मन्दिरमें जाकर उपासना करता है। परीक्षा लेनेके उपरान्त देवी प्रसन्न होती है और पुत्रप्राप्तिका वरदान देती है।

एकादश सर्गमें कर्णराजको जयसिंह नामक पुत्रके उत्पन्न होनेका वर्णन है। कर्णराजका स्वर्गवास हो जाता है। बारहवें सर्गमें बताया गया है कि जयसिंह युवक होनेपर ऋषियोके कष्ट निवारणके लिए प्रस्थान करता है और राक्षसोका वध कर यशस्वी बनता है। त्रयादश सर्गमे वर्णित है कि राजा जयसिंह रात्रिमे प्रजाका समाचार अवगत करनेके लिए बाहर परिभ्रमण करता है। सरस्वतीके तटपर जाकर नागमिथुनका दर्शन करता है और कनकचूड आदिको संकटमुक्त कर नगरमे चला आता है। चतुर्दश सर्गमे जयसिंहका योगिनीके साथ सम्भाषण होता है। वह योगिनीको जीतकर यशोवर्मा और सीमा नृपतिको बन्दी बनाता है। पञ्चदश सर्गमे सोमनाथकी यात्राका वर्णन है। इसी सर्गमें जयसिंहकी मृत्युका भी वर्णन है। षोडश सर्गमे कुमारपालके राज्याभिषेकका निरूपण है। सप्तदश सर्गमे कुमारपालके स्त्रियो सहित वनगमनका चित्रण है। वहाँ वह जलक्रीड़ा, सुरत एवं विविध प्रकारके विलास करता है। रात्रि, चन्द्रोदय एवं सूर्योदयका भी काव्यात्मक वर्णन है।

अष्टादश सर्गमें कुमारपालका आन्ननायक राजाके साथ युद्ध होने एव आन्नको परास्त किये जानेका निरूपण है। उन्नोसवें सर्गमे आन्न कुमारपालको प्रसन्न करनेके लिए अपनी कन्या प्रदान करता है। कुमारपाल अन्य शत्रुओको परास्त कर न्यायनीतिपूर्वक पृथ्वीका शासन करता है। बीसवे सर्गमें कुमारपालके अहिंसा-प्रचारका निरूपण है।

इस प्रकार इस महाकाव्यके बीस सर्गोंमें आचार्य हेमचन्द्रने चौलुक्य राजवशका चित्रण किया है। रघुवंश महाकाव्यके समान इस महाकाव्यका नायक भी चौलुक्य राजवंशके राजा है। कविने भट्टि महाकाव्यके समान अपने सिद्धहेमशब्दानुशासनक उदाहरणोका प्रयोग किया है। इस ऐतिहासिक कथानकमे रोचकता, मधुरता और काव्योचित भावप्रवणताकी कमी नही है। यथा—

धाराप्रवृष्टिमथ कौलटिनेयबुद्धया द्राक्चाटकैरमिव तं चटकारिपक्षी।
जग्राह मालवपतिं युधि नर्तितासि नाटेरकः सपुलकश्चुलुकप्रवीरः॥

द्वया० १४।७२

इसी शताब्दीमें गुणभद्र द्वितीयने 'धन्यकुमार चरित' नामक काव्यकी रचना की है। हमें दिगम्बर परम्परामें गुणभद्र नामके अठारह मुनियोंका पता चलता है, पर संस्कृत काव्य निर्माताके रूपमें दो गुणभद्र ही ज्ञात हैं। गुणभद्र प्रथम उत्तरपुराण एवं जिनदत्त चरितके प्रणेताके रूपमें प्रसिद्ध हैं। ये सुप्रसिद्ध आचार्य जिनसेनके शिष्य थे। गुणभद्र द्वितीय माणिक्यसेनके प्रशिष्य और नेमिसेनके शिष्य हैं। इन्होंने 'धन्यकुमार चरित'की रचना राजा परमार्दिन्के राज्यमें विलासपुरके जिनालयमें सम्पन्न की है और इस काव्यरचनाके प्रेरक लम्बकंचुकगोत्रमें उत्पन्न धर्मवत्सल श्रावक साधु शुभचन्द्रके दानी एवं परोपकारी पुत्र बिल्हण हैं। कविके समयके सम्बन्धमें डॉ० श्रीज्योतिप्रसाद जैन[१] ने विस्तारपूर्वक विचार कर बारहवी शतीका अन्तिम चरण निर्धारित किया है।

'धन्यकुमार चरित'की कथावस्तुका आधार उत्तरपुराण है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसको एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुरमे है और दूसरी दि० जैन मन्दिर दिल्लीमें है।

तेरहवी शताब्दीमे कई चरित-महाकाव्योंका प्रणयन हुआ है। इनमे धर्मकुमारका शालिभद्र चरित, जिनपाल उपाध्यायका सन्तकुमार चरित, मलधारि देवप्रभका पाण्डव चरित एवं मृगावती चरित, माणिक्यचन्द्र सूरिका पार्श्वनाथ चरित एवं शान्तिनाथ चरित, सर्वानन्द (प्रथम) का चन्द्रप्रभ चरित और पार्श्वनाथ चरित एवं विनयचन्द्रका मल्लिनाथ चरित, पार्श्वनाथ चरित एवं मुनिसुव्रत चरित प्रसिद्ध है। जिनपाल उपाध्यायने सनत्कुमार चक्रवर्तीके जीवन वृत्तका आधार लेकर सन्तकुमार महाकाव्यकी रचना चौबीस सर्ग प्रमाणमे की है। यह अभी तक अप्रकाशित है और इसकी प्रति श्रीअगरचन्द्र नाहटा बोकानेरके पास सुरक्षित है। कवि—चित्रालंकारोको योजना एवं वस्तुव्यापार वर्णनमे पटु प्रतीत होता है। ग्रीष्मका चित्रण करता हुआ वह कहता है—

मध्याह्ने घर्मसन्त्रस्ता वने चित्रगता इव।
निसर्गचापलं हित्वा यत्र तिष्ठन्ति वानराः॥
लोलाजिह्वागलद्वारि सिक्तसन्तप्तभूमय.।
यत्र छायास्वपि स्वास्थ्य लभन्ते न मृगारयः॥ १०।६४–६५

निसर्ग चपलताको छोड़कर छायामे चुपचाप शान्त बैठे रहने वाले वानरों एवं सघन छायामें व्याकुल अतएव मुखसे बाहर लटकती हुई जिह्वासे जलबिन्दु गिराते हुए सिंहोंका चित्रण कर ग्रीष्मकी भयंकरताका चित्रण सजीव रूपमे उपस्थित किया है।

उत्प्रेक्षाके क्षेत्रमे कविकी दौड़ बहुत दूर तक है। वह सनत्कुमारको सरलोन्मत्त नासिकाको जगद्विजयके लिए प्रस्थित कामदेवकी पताकायष्टि बताता है—

नासा तदीया सरसोन्नता च विस्तीर्णनेत्रोपगता सदा स्यात्।
जगज्जयप्रस्थितमन्मथस्योल्लसत् पताकध्वनियष्टिलक्ष्मीम्॥ ८।१५

---

[१] जैन सन्देश (शोधांक) ८, २८ जुलाई, १९६० ई०, पृ० २७६ तथा जैन सन्देश (शोधांक) १७, १०, अक्टूबर १९६३ ई०।

मलधारिदेवप्रभसूरिने पाण्डवचरित[1] की रचना अठारह सर्गोंमें की है। आरम्भ की कथावस्तु महाभारतसे ग्रहण की गयी है। काव्यमें वीर रसकी प्रमुखता है पर पर्यवसान शान्त रसमें होता है।

वि० सं० १२७६[2] में माणिक्यचन्द्र सूरिने पार्श्वनाथ चरितकी रचना की है। अभी तक यह अमुद्रित है, यह शान्तिनाथ भण्डार खम्भातमें सुरक्षित है। इस महाकाव्यमें दस सर्ग है और ६७७० श्लोक। काव्यके नायक लोकप्रसिद्ध पार्श्वनाथ हैं। अंगीरस शान्त है और गौणरूपमें शृंगार, करुण, वीर रस भी आये हैं। सर्गोंके नामकरण वर्णित घटनाओंके आधारपर किये गये हैं। मूलकथाके अतिरिक्त अवान्तर कथाओंमें कलावती, कमलादेवी, ललितांग, नल-दमयन्ती, रतनसार एवं परशुरामकी कथाएँ मुख्य है। नल-दमयन्ती कथामें बताया है कि नल क्रौंच निशाचरसे युद्ध करता है। कर्कोटक नाग नलकी सहायता करता है। यह नाग और हंस मानवी-भाषामे वार्तालाप करते है। नलका सुन्दररूप कुरूप कुब्जेके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार अनेक पौराणिक सन्दर्भ इस काव्यमें निबद्ध किये है। वर्णन क्षमता द्रष्टव्य है—

अस्ते दिनश्रीदयिते दिनश्रीमलिनच्छविः।
सन्ध्यारुणां शुकादीनां रुवती स्फुरितैः रुतैः॥
निरुद्धमृगावलिव्याजात् कृपाणीमुदरे क्षिपन्।
पद्मानि मित्रविरहे मूर्च्छामगुरमूनि तत् ॥२।३६२-३६३

सन्ध्याके चित्रणमें कविने प्रकृतिको मानवकी तरह स्पन्दनशील चित्रित किया है। कलावती दुःखसे विह्वल हो रोती है। उधर दिनश्री पति सूर्यके विरहमे रुदन करती है। उसका मुख मलिन हो जाता है। सन्ध्याकालीन पक्षियोंका कलरव ही उसका रुदन है। कमल मित्र—सूर्यके विरहमें कटार भोंककर आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार दिनश्रीमें रमणीका आरोप कर सन्ध्याका मानवीरूप प्रस्तुत किया गया है।

आठ सर्गोंमें विभक्त विनय नामांकित मल्लिनाथ चरित[3] नामक महाकाव्य विनयचन्द्र सूरिका उल्लेख्य है। इस काव्यके सर्गोंका नामकरण वर्ण्य विषयके आधार पर हुआ है। नगर, समुद्र, पर्वत, षड्ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, उद्यानक्रीड़ा, संयोग-वियोग, कुमारजन्म, सेनाप्रयाण आदिका समावेश इस काव्यमे है। मूलकथाके साथ सत्य हरिश्चन्द्र, रत्नचन्द्र, श्रीबल, सुदत्त, सुबन्धु, भीमसेन आदिकी उप-कथाएँ भी निबद्ध हैं। रत्नचन्द्र उपकथामें बताया है कि एकदेव मृतराजा रत्नचन्द्रको जीवित कर देता है। हरिश्चन्द्र-कथामें मुनि हरिश्चन्द्र नृपके मन्त्री कुन्तलको जम्बुक बना देता है। इसी आख्यानमें बताया है कि एक मान्त्रिक मृत अनंगमंजरीको जीवित कर देता है और

---

[1] पं० केदारनाथ बी० ए०, बी० एल० पणिशीकर, निर्णयसागर, बम्बई, १९११ ई०।

[2] रसर्षिरवि (१२७६) संख्यायां समायां दीपपर्वणि।—प्रशस्ति श्लोक १।

[3] पं० हरगोविन्ददास एव बेचरदास द्वारा सम्पादित तथा धर्माभ्युदय प्रेस, बनारस (वीर निर्वाण संवत् २४३८) द्वारा प्रकाशित।

सुतारा दासीको राक्षसी बना देता है। जिनदत्त कथामें आया है कि एक तृषार्त सर्पकुमार पद्मशंकरसे मनुष्य-वाणीमें पानी माँगता है। आगे चलकर वही सर्प उसका दंशन करता है और उसे वामन बना देता है। इसी आख्यानमें भद्रदेवी कुमारको ऐसा रत्न देती है जिससे उस रत्नके धनुषदण्ड पर बाँधनेसे शत्रुसेना मूर्च्छित हो जाती है। इस काव्यकी भाषा व्यावहारिक है। अनुष्टुप् छन्दमें प्रायः समस्त काव्य लिखा गया है। यहाँ उदाहरणार्थ कविका श्मशान-चित्रण उपस्थित किया जाता है—

क्वचिद्रक्षोगणाकीर्णं क्वचिद्योगीन्द्रसेवितम् ।
क्वचित्फेरण्डफेत्कारं क्वचिद्भूतविभीषणम् ॥
क्वचिद्विभीषिकाभीष्मं श्मशानं स परिभ्रमन् ।
रुदतीं सुदतीं कांचिद् हरिश्चन्द्रो व्यलोकयत् ॥ १।५७-५८

विक्रमकी चौदहवी शताब्दीमे मालधारि हेमचन्द्रने नेमिनाथ-चरित, वर्धमान भट्टारकने वराग चरित, जिनप्रभने श्रेणिक चरित, मानतुंगने श्रेयांसचरित, कमलप्रभने पुण्डरीकचरित, भावदेव सूरिने पार्श्वनाथ चरित, मुनिभद्रने शान्तिनाथ चरित एवं चन्द्रतिलकने अभयकुमार चरितकी रचना की है। इन चरितकाव्योंमें चन्द्रतिलकका अभयकुमार चरित[1] शास्त्रीय महाकाव्यके लक्षणोसे समन्वित है। कविने इस महाकाव्यकी समाप्ति वि० स० १३१२[2] मे की है।

इस महाकाव्यमे बारह सर्ग हैं। पौराणिक शैलीमें यह लिखा गया है। राजगृह के राजा प्रसेनजित् अपने पुत्रोकी चातुर्य-परीक्षा अनेक प्रकारसे करते है जिनमें केवल श्रेणिक ही उत्तीर्ण होते हैं। प्रसेनजित्के उचित आदर न करने पर श्रेणिक विदेश चला जाता है और श्रेष्ठिपुत्री नन्दासे विवाह करता है। कुछ समय अनन्तर श्रेणिक राजगृह में लौट आता है और नन्दाके गर्भसे अभयकुमारका जन्म होता है। वयस्क होने पर अपने चातुर्यके कारण अभयकुमार श्रेणिकका मन्त्री बनता है। श्रेणिकका विवाह चेटक नरेशकी पुत्री चेलनाके साथ होता है जिसके गर्भसे कुणिक, हल्ल, बिहल्ल नामक पुत्र उत्पन्न होते हैं। अभयकुमार अपने बुद्धिबलसे मालवराज और चण्डप्रद्योतको बन्दी बना लाता है। कृतपुण्यकी पत्नियों एवं पुत्रोंको उससे मिला देता है। भगवान् महावीरके प्रवचनसे प्रभावित हो मुनि दीक्षा ग्रहण कर लेता है और तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न होता है।

इस महाकाव्यकी कथा अस्त-व्यस्त एवं जटिल है। प्रबन्ध भी शिथिल है। स्थान-स्थानपर नयी-नयी अवान्तर कथाएँ समाविष्ट है, जिनका सम्बन्ध बहुत आगे जाकर मूलकथासे जुड़ता है। हाँ, इतना सत्य है कि कथावस्तु अत्यन्त रोचक है। काव्यकी भाषा मुहावरेदार है। यहाँ उदाहरणार्थ दो-चार सूक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

---

[1] जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१७ ई०।

[2] चक्षुः शीतिकरत्रयोदशमिते (१३१२) संवत्सरे विक्रमे ।
काव्य भव्यतमं समर्थितमिद दीपोत्सवे वासरे ॥—अन्तिम प्रशस्ति पद्य ।

यथैकः पतितः कूपे पतेत्किं परोऽपि हि ॥५।४४२
करगे हि कंकणे किं दर्पणेनेह भवेत्प्रयोजनम् ॥ ४।६९४
क्रियेदाच्छादनं तादृक् यादृग्वाति समीरणः ॥ ९।१७२
यो म्रियते गुडेन किं दीयते क्वचन तस्य विषं कदाचित् ? ८।१२८
भुजंगानां प्रयातानि जानन्ति भुजगाः खलु ॥ ७।६९३
सर्वोऽपि हि परस्थाले स्थूलं पश्यति मोदकम् ॥११।७२१

वि० सं० १३१२ मे भावदेव सूरिने पार्श्वनाथ चरित[2] नामक महाकाव्य लिखा है। इस काव्यमे आठ सर्ग है। यह भवांकित काव्य है। कविने इसे महाकाव्य कहा है पर वस्तुतः महाकाव्यकी गरिमा इसमें नही है। कथानक परम्परा-प्राप्त है। कविने कथावस्तुमें कही कुछ भी परिवर्तन नही किया है। प्रथम सर्गमे भगवान् पार्श्वनाथके प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भवका, द्वितीय सर्गमें चतुर्थ एवं पंचम भवका, तृतीयमें षष्ठ-सप्तमका, चतुर्थमें अष्टम-नवम भवका वर्णन किया है। पंचम-षष्ठ सर्गमें पार्श्वनाथके गर्भ, जन्म, तप, केवल ज्ञान, समवशरण एवं देशनाका वर्णन है। सप्तम सर्गमे जिन गणधर देशना और अष्टम सर्गमे विहार एवं निर्वाणका विवेचन है।

इस काव्यमे पार्श्वनाथके नौ भवोंमें उनके धार्मिक जीवनका उत्तरोत्तर विकास दिखाई देता है। प्रथम भवमे विश्वभूति पुरोहितके पुत्र मरुभूति है जो हरिश्चन्द्र मुनिका आगमन सुनकर अपने बडे भाई कमठके साथ मुनिकी धर्मदेशना सुनने जाते है। मरुभूति प्रकृतिसे लघुकर्मी है, मुनिकी देशनासे उनका जीवन बदल जाता है। वे अपनी आँखोंसे अपने बडे भाई कमठको अपनी पत्नीके साथ दुराचार करते देखते है, तो भी इस अनुचित सम्बन्ध की शिकायत राजासे नही करते हैं। राजा कमठको गधे पर सवार कराकर लाछनापूर्वक निर्वासित कर देता है। इस पर मरुभूतिका हृदय पश्चात्ताप से जल उठता है। राजाके द्वारा मना करने पर भी मरुभूति कमठसे क्षमा माँगने जाता है। यहाँ चरणोमे गिरे हुए भाईको कमठ मार डालता है।

द्वितीय भवमे मरुभूति यूथनाथ करि होता है और अपनी वल्लभा करेणुकाके साथ आनन्द विलास करता है। सरोवरसे पानी पीकर लौटते समय वह एक हाथी पर आक्रमण करता है। अरविन्द मुनि उसे मरुभूतिके भवकी स्मृति कराते है, वह उद्दण्डता त्याग भावयति बन जाता है। कुक्कुटोरगके काटनेसे उसकी मृत्यु हो जाती है, पर समताभावपूर्वक मरण करनेसे वह स्वर्गमें देव हो जाता है। वहाँसे च्युत हो चतुर्थ भवमे मरुभूमिका जीवतिलकापुरीके राजा विद्युत्मतिके पुत्र किरणवेगके रूपमे जन्म ग्रहण करता है। राजा होने पर किरणवेग बड़ी कुशलतासे शासन कार्य चलाता है। इस भवमें भी सर्पके काटनेसे उसकी मृत्यु हो जाती है। वह पुनः देवगति प्राप्त करता है। वहाँसे

---

[1] पं० हरगोविन्ददास—बेचरदास द्वारा सम्पादित एवं धर्माभ्युदय प्रेस बनारस (वीर निर्वाण संवत् २४३८) द्वारा प्रकाशित।

च्युत होकर षष्ठ भवमें मरुभूतिका जीव शुभंकरा नगरीके राजा वज्रवीर्यके पुत्र वज्रानन के रूपमें जन्म लेता है। इस भवमें उसका चरित्र किरणवेगके समान ही रहता है, पर विशेषता यह है कि वह अन्तिम समयमें विरक्त हो तप करता है और उसके प्रभावसे ग्रैवेयकमें ललितांग देव होता है। वहाँसे च्युत होकर विद्याधर राजा सुवर्णबाहुके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। इस जन्ममें तप करते समय सिंहके द्वारा उसकी मृत्यु होती है पर सिंहके प्रति उसके मनमे तनिक भी रोष उत्पन्न नही होता। अतः वह महाप्रभा विमलमें देव होता है। वहाँसे च्युत होकर वह काशीनरेश अश्वसेनके यहाँ पुत्ररूपमें जन्म धारण करता है।

समस्त काव्य अनुष्टुप् छन्दोंमें रचा गया है, केवल सर्गान्तमें ही छन्द-परिवर्तन पाया जाता है। सर्गोंके बीचमें क्वचित् कदाचित् ही छन्दोंमें परिवर्तन हुआ है। कविता साधारण कोटि की है, वर्णनोंमे चमत्कार यत्र-यत्र ही दृष्टिगोचर होता है। कविने नायकके महिमातिशायि चरितके सम्बन्धमें काव्यके अन्तमें लिखा है—

विश्वातिशायिमहिमाधरणोरगेन्द्र पद्मावती सततसेवितपादपीठः।
अन्तर्बहिश्च दुरितच्छिदनन्तशर्मा देवः क्रियादुदयिनीं शुभमावलक्ष्मीम् ॥८।३९२

जिनप्रभ सूरिने वि० सं० १३५६[1] में श्रेणिक चरित नामक महाकाव्यकी रचना की है। इस काव्यका दूसरा नाम दुर्गवृत्तिद्व्याश्रय महाकाव्य भी है। इसमे अठारह सर्ग हैं। भगवान् महावीरके समकालीन महाराज श्रेणिकका चरित्र वर्णित है। प्रस्तुत काव्य के सात सर्ग जैनधर्म विद्या प्रसारक पालीतानासे पुस्तकाकार प्रकाशित है। अवशिष्ट ग्यारह सर्ग अभी तक अमुद्रित है। इस कहाकाव्यकी हस्तलिखित प्रति खम्भातके जैनशास्त्र भण्डारमे सुरक्षित है। इस काव्यका वैशिष्ट्य यह है कि हेमचन्द्रके द्व्याश्रयके समान कातन्त्र व्याकरणके प्रयोगोंका व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया गया है। प्रथम सर्गमे सन्धिरूपोका प्रदर्शन करते हुए कहा है—

यें गुणास्तेऽत्र सर्वेँऽपि यजन्तेऽत्र जिनं जनाः।
कस्को नाम न भूम्नात्र वैयाकरण उच्चकैः ॥ १।८

ते + अत्र, सर्वे + अपि, यजन्ते + अत्र, कः + कः, भूम्ना + अत्र,

अत्र प्रियहलीषानां लांगलीषे चतुष्टये।
पुण्यसाधनसामग्री मनीषाशालिनां भवेत् ॥ १।१५

हल + ईषा, लाङ्गल + ईषा, मनस् + ईषा—उदाहरण।

प्रथम सर्गमें लिंगपाद प्रकरणके अन्तर्गत पूर्वस्मात्, परस्मात् प्रभृति सर्वनाम रूप भी प्रदर्शित हैं—

पूर्वस्माच्च परस्माच्च राजकादधिको गुणैः।
नृपः श्रेणिकस्तत्र राजलक्ष्मीमपालयत् ॥ १।१०१

---

[1] देखें, प्रशस्तिश्लोक, संख्या २।

द्वितीय सर्गमें ऋकारान्त शब्द, तृतीय सर्गमे युष्मद्, अस्मद् आदि शब्द तथा कारकोंके प्रयोग, चतुर्थ सर्गमें समासोंके प्रयोग, पंचममें तद्धितान्त प्रयोग, षष्ठसे एकादश तक आख्यात प्रयोग एवं द्वादशसे अष्टादश तक कृत् प्रत्ययोके उदाहरणोंका प्रयोग किया गया है। भट्टिकाव्यके समान व्याकरण प्रयोगोंमें उलझ जानेसे कवि विविध रसोंका निर्वाह नहीं कर सकता है।

इतरनामांकित महाकाव्य

प्रस्तुत प्रबन्धका चतुर्थ परिवर्त इतर नामांकित महाकाव्य है। इस परिवर्तमें ऐसे महाकाव्योंका अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है, जिनके अन्तमे चरित शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। यद्यपि तीर्थंकर या महापुरुषोके चरित इन काव्योंमें भी निबद्ध किये गये हैं, तो भी इतना अन्तर अवश्य है कि इस श्रेणीके महाकाव्य शिशुपालवध-महाकाव्यसे प्रभावित हैं और उसीकी परम्परापर उक्त काव्योंका प्रणयन हुआ है। चरित काव्य रघुवंश, बुद्धचरित, सौन्दरनन्द एवं कुमारसम्भवकी शैलीपर ही प्रायः रचे गये हैं। यद्यपि इन काव्योपर किरात और माघका भी प्रभाव यत्र-तत्र पाया जाता है, पर परम्परा चरित काव्योंमें माघकी नही है। माघने संस्कृत काव्य परम्परामें एक नयी रूपविधाको जन्म दिया है। काव्यका चमत्कार, वस्तु-व्यापार वर्णन एवं अलंकार नियोजनमें सर्वाधिक माना गया है। यमक, अनुप्रास और चित्रालंकारकी छटाने काव्य-विधाको एक नयी दिशाको ओर ही प्रेरित किया है। अतः जैन चरित काव्योंमें जहाँ दर्शन, आचार एवं पुण्यचरितकी त्रिवेणी परिलक्षित होती है वहाँ इतर नामांकित काव्योंमें वात्स्यायनके कामसूत्रसे प्रभावित काम और विलासके चित्र, जलक्रीड़ा और वनविहारके मार्मिक चित्र उपलब्ध होते है। सदाचारनिष्ठ मुनि और आचार्यों द्वारा काव्योके निर्मित होने पर भी सुरापानके लिए एक सर्गका पृथक् रखा जाना स्पष्टत. अलंकृत काव्य शैलीके प्रभावका परिचायक है। यह आश्चर्यकी बात है कि सुरत वर्णन और सुरापानको गृहविरक्त आचार्योंने इतना महत्त्व दिया है।

इतर नामांकित महाकाव्योकी दूसरी विशेषता यह है कि ये काव्य पौराणिक शैलीका परिधान छोडकर विशुद्ध शास्त्रीय काव्य शैलीके क्षेत्रमे अग्रसर प्रतीत होते हैं। जहाँ पौराणिक आख्यानको अपनाया गया है वहाँ भी कवियोंने उस आख्यानको रससिक्त बनानेकी पूर्ण चेष्टा की।

इस विधाका सबसे पहला काव्य महाकवि हरिचन्द्रका धर्मशर्माभ्युदय[1] है। इस महाकाव्यमें धर्मनाथका आख्यान वर्णित है। इसके पश्चात् बारहवीं शतीमें वाग्भट द्वितीयने नेमिनिर्वाण[2] महाकाव्यकी रचना की है। शैलीकी दृष्टिसे यह काव्य माघका अनुगामी है। विक्रमकी तेरहवी शताब्दीमें संस्कृत-भाषाके प्रकाण्ड कवि अभयदेव सूरिने

---

[1] काव्यमाला ग्रन्थांक ८, निर्णय०, बम्बई, १९३३।

[2] वही,

जयन्तविजय[1] नामक महाकाव्य रचा है। माघके समान यह भी श्रीशब्दांकित है और यह काव्य भी शिशुपालको प्रथित परम्पराका ही अनुसरण करता है। इसी शताब्दीमें कवि वस्तुपालने नरनारायणानन्द[2] महाकाव्यकी रचना की है। कविने इसे शास्त्रीय दृष्टिसे महाकाव्यके रूपमें ही गुम्फित किया है। महाकवि बालचन्द्रने तेरहवीं शताब्दीके अन्तिम पाद या चौदहवीं शताब्दीके प्रथम पादमें वसन्त-विलास नामक महाकाव्यकी रचना की है।

इस महाकाव्यमें चौदह सर्ग हैं। काव्य प्रशंसाके अनन्तर अणहिलपत्तनके दिव्यभवन, दुर्ग, परिखा एवं दुर्लभराज द्वारा निर्मित सरोवरोंका वर्णन किया गया है। श्रीकर्ण पदलाभ सर्गमें मूलराजसे लेकर भीमदेव द्वितीय तकके गुजरातके राजाओके पराक्रम वर्णित हैं। बताया गया है कि वीरधवल एवं उसके पूर्वजोंने गुजरातको किस प्रकार छिन्न-भिन्न होनेसे बचाया। इसी प्रसंगमें स्वप्नमे गुर्जरराज्य लक्ष्मीके निर्देशसे वीरधवल तथा उसके पूर्वजों द्वारा वस्तुपाल-तेजपालकी मन्त्रि-पदपर हुई नियुक्तिका निरूपण है। वीरधवल वस्तुपालके गुणोपर मुग्ध हो जाता है और उसे खम्भातका शासक नियुक्त करता है। लूणसाकनपतिके साथ मारवाड नरेशके युद्ध छिड़नेपर उसमें वीरधवल ससैन्य सम्मिलित होता है। वीरधवलको अनुपस्थितिसे लाभ उठाकर लाट नरेश शंख वीरधवलकी राजधानीपर आक्रमण कर देता है। मन्त्री वस्तुपाल इस आक्रमणका प्रतिरोध करता है और लाट नरेश पराजित होकर भाग जाता है।

कवि परम्परा-प्राप्त ऋतुओंका वर्णन करता है। पुष्पावचय, दोलान्दोलन, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, सन्ध्या प्रभृतिका मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। रात्रिमें निद्रामग्न वस्तुपालको एक स्वप्न दिखलाई पड़ता है, जिसमें धर्म एक पैरसे लंगडाता हुआ सामने आता है और वस्तुपालसे प्रार्थना करता है कि मैं सतयुगमें चार पैरका था, त्रेतामें तीन पैरका, द्वापरमें दो पैरका और अब इस कलियुगमें एक पैरका रह गया हूँ। कृपया मेरी सहायता कीजिए। तीर्थयात्रा करनेसे मेरी शक्तिका संवर्धन होगा। प्रात.-काल होते ही वस्तुपाल जाग जाता है और नित्य-क्रियाओंसे निवृत्त हो वीरधवलसे तीर्थयात्रा करनेका आदेश प्राप्त करता है तथा शासनका भार तेजपालको सौंपता है। लाट, गौड, भरुकच्छ, अवन्ती आदि देशोंके संघ भी वस्तुपालके निमन्त्रणपर तीर्थयात्रामें सम्मिलित होते हैं। वस्तुपालके नेतृत्वमें यह विस्तृत संघ शत्रुंजयपर पहुँचता है। यहाँ वस्तुपाल व्रत ग्रहण कर संघको भोज देता है। यह संघ शत्रुंजयसे चलकर पादलिप्तपुर, प्रभासपत्तन, प्रेमिलतीर्थ, गिरनार आदि क्षेत्रोंकी यात्रा करता हुआ वापिस लौटता है। कविने अन्तिम सर्गमें वस्तुपालके धर्मकृत्योंका निर्देश किया है।

---

[1] काव्यमाला, ग्रन्थांक ७५, निर्णय सागर, बम्बई १९०२।

[2] गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, सख्या ११, बड़ौदा, १९१६।

इस काव्यकी[1] कथावस्तु बहुत ही सीमित है पर कविने महाकाव्योचितरूप प्रदान करनेकी चेष्टा की है। आरम्भके चार सर्ग कथानककी भूमिका मात्र हैं। पाँचवें सर्गसे कथानकमें गति आती है। छठेसे आठवें सर्ग तक महाकाव्यको परम्पराका निर्वाह करनेके लिए ऋतु, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदिका सजीव चित्रण किया गया है। नवम सर्गसे कथानकका टूटा हुआ सूत्र पुनः जुड़ता है और कथावस्तु धारावाहिकतापूर्वक आगे बढ़ती है। स्वप्नकी कल्पना कविकी अपनी है। इस सन्दर्भने कथावस्तुको रोचक बनाया है। इस काव्यको अर्ध ऐतिहासिक-काव्य कहा जा सकता है।

परम्परागत नियमोंके अनुसार सर्गान्तमे छन्दका परिवर्तन, विविध छन्दोंका प्रयोग, सर्गके अन्तमें आगामी कथाकी सूचना प्राप्त होती है।

वस्तुपालका दूसरा नाम वसन्तपाल भी हैं। इसी कारण कविने इस काव्यका नाम वसन्तपाल रखा है। इसी महाकाव्यसे निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं—

१. चालुक्यवंशका आदिपुरुष चुलुक था, इसकी उत्पत्ति ब्रह्माके चुलुक जलसे हुई थी। इसी चौलुक्य आदि पुरुषने प्रतिपक्षियोंका संहार कर राज्यकी स्थापना की थी।

२. इस वंशमें मूलराज, चामुण्डराज, दुर्लभराज, भीम, सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल हुए। भीमने अवन्ती नरेश भोजको युद्धमें परास्त किया था। सिद्धराज जयसिंहने धाराधिपतिको युद्धमे परास्त किया था।

३. कुमारपालके उपरान्त अजयपाल, मूलराज एवं भीम हुए। भीम निर्बल था अतः उसकी रक्षाका भार अर्णोराज पर था। अर्णोराजका पुत्र लवणप्रसाद हुआ। इसी लवणप्रसादका पुत्र वीरधवल था।

४. वस्तुपाल प्राग्वाट वंशी था। इस वंशमें चण्डप नामका प्रसिद्ध वीर हुआ जिसके पुत्रका नाम चण्डप्रसाद था। चण्डप्रसादके पुत्रका नाम सोम था जो सिद्धराज जयसिंहका सामन्त था। सोमने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। सोमका पुत्र अश्वराज हुआ और इस अश्वराजके तीन पुत्र हुए—मालदेव, वस्तुपाल और तेजपाल। वस्तुपालने यात्रासंघ निकाला था। इस काव्यका प्रधान रस वीर है। युद्धवीर और धर्मवीरके रूपमे इस रसकी अभिव्यंजना हुई है। कविता उच्चकोटिकी है। कविने वर्णनोंमें उत्प्रेक्षा एवं कल्पनाओंका प्रचुर प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ चन्द्रोदय-वर्णन सन्दर्भको प्रस्तुत किया जाता है—

सरस्वतीवारिभिर्वीचिहस्तसंचारितैर्यस्य पुरः पुरस्य।
परस्पराश्लेषवि·दवद्भिश्चामर्यमाचर्यत फेनकूटैः॥

---

[1] वसन्तविलासमहाकाव्यम्, संपा०—सी० डी० दलाल, गायक० ओरियण्टल सीरीज-बड़ौदा, ग्रन्थांक ७, १९१७ ई०।

तीरस्फुटच्छीशकदम्बकेन बहिः सदा गर्जति यत्र वार्द्धौ ।
वृथैव सोमेश पिनाकिनोऽग्रे त्रिधूंपवेलापटहप्रपञ्चः ॥
—वसन्त० ११।३३-३४

उक्त पद्योंमें कविने सरस्वती नदीका समुद्रके साथ संगम करनेका विवरण उपस्थित किया है। कविकी श्लेष शक्ति चमत्कारका सृजन करती है। मन्त्रिपदपर नियुक्तिके समय वस्तुपालके मुखसे कहलाया गया है—

अस्थ्यर्थमर्थमुपढौकितमाद्रियन्ते सं च प्रभूतगुणितं पुनरर्पयन्ति ।
न्यस्ताः पदे समुचिते गमिताश्च मैत्रीं शब्दाः कवेरिव नृपस्य नियोगिनः स्युः ॥
—वसन्त० ३।७९

अपराजित कविने बालचन्द्रको वैदर्भी शैलीमें चतुर कहा है[1]।

तेरहवी शताब्दीमें महाकवि अर्हद्दासने मुनिसुव्रत–महाकाव्य[2]की रचना की है। कविने अकलंक, गुणभद्र, समन्तभद्र और पूज्यपादके ग्रन्थोंका अध्ययन कर अपने काव्य-ज्ञानको पुष्ट किया था। कहा जाता है कि अर्हद्दासके गुरु आचार्यकल्प पण्डितप्रवर आशाधर थे।

इस महाकाव्यमें बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतकी कथा वर्णित है। कविने दस सर्गोंमे काव्यको समाप्त किया है। कथा मूलतः उत्तरपुराणसे ग्रहीत है। कविने कथानकको मूल रूपमें ग्रहण कर प्रासंगिक और अवान्तर कथाओंकी योजना नहीं की है। काव्यमें शृगारभावनाका आरोप किये बिना भी मानव जीवनका सांगोपांग विश्लेषण किया है।

काव्यके इस लघु कलेवरमें विविध प्राकृतिक दृश्योंका चित्रण भी किया गया है। मगधदेशको विशेषताओंकी प्रकृतिके माध्यम द्वारा अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

नगेषु यस्योन्नतवंशजाताः सुनिर्मला विश्रुतवृत्तरूपाः ।
भव्या भवन्त्यात्तगुणाभिरामा मुक्ताः सदालोकशिरोविभूषाः ॥ मु० १।२४
तरङ्गिणीनां तरुणान्वितानामतुच्छपद्मच्छदलाञ्छितानि ।
पृथूनि यस्मिन्पुलिनानि रेजुः काञ्चीपदानीव नखाङ्कितानि ॥ मु० १।२६

मगधके उत्तरीभागमें फैली हुई पर्वत श्रेणीपर विविध वृक्ष, मध्यभागमें लहलहाते हुए जलपूर्ण खेत और उनमे उत्पन्न रक्तकमल दर्शकोके चित्तको सहजमे ही आकृष्ट कर लेते हैं। राजगृहके निरूपण प्रसंगमें विविध वृक्षलता और कमलोसे परिपूर्ण सरोवरोंके रेखाचित्र भी अंकित किये गये है। द्वितीय पद्यमें बताया है कि वृक्ष पंक्तिसे युक्त नदियोंके, सुन्दर विकसित कमलपत्रोंसे चिह्नित विस्तृत पुलिन नायिकाके नख-क्षत

---

[1] महामात्य वस्तुपालका साहित्यमण्डल—जैन संस्कृति संशोधन मण्डल बनारस द्वारा प्रकाशित १९५९ ई०, पृ० १०६।

[2] जैन सिद्धान्त भवन आरा, १९२९।

जघनके समान सुशोभित होते हैं। वाटिकाओंके वृक्षों और क्रीड़ा-पर्वतोंपर स्नान करने वाली रमणियोंका चित्रण करते हुए कविने कहा है—

बहिर्वणे यत्र विधाय वृक्षारोहं परिष्वज्य समर्पितास्याः।
कृताधिकारा इव कामतन्त्रे कुर्वन्ति संगं विटपैर्व्रतत्यः॥
आरामरामाशिरसीव केलिशैले लताकुन्तलभासि यत्र।
सकुङ्कुमा निर्झरवारिधारा सीमन्तसिन्दूरनिभा विभाति॥ मु० १।३८-३९

राजगृहके बाहरी उपवनोंमें वृक्षोंपर चढ़ी हुई लताएँ कामशास्त्रमें प्रवीण उपपतियोंको आलिंगन तथा चुम्बन करती हुई कामिनियोंके समान जान पड़ती है।

जिस राजगृहमें स्त्रीरूपिणी वाटिकाओंमें उनके मस्तकके समान वेणी-रूपिणी लताओंसे मण्डित क्रीडा-पर्वतोंपर स्त्रियोंके स्नान करनेसे कुंकुम मिश्रित जलधारा—झरनेसे गिरती हुई सीमन्तके सिन्दूरके समान शोभती थी।

कविने उक्त दोनों पद्योंमे प्रकृतिका मानवीकरण कर मनोरम और मधुर रूपोंको प्रस्तुत किया है। उत्प्रेक्षाजन्य चमत्कार दोनो ही पद्योंमें वर्तमान है।

दशम सर्गमें जिनेन्द्रके सान्निध्यसे नीलीवनके अशोक, सप्तच्छद, चम्पक, आम्र आदि वृक्षोंका क्रमशः सुन्दरी स्त्रियोके चरणघात, चाटुवाद, छाया, कटाक्ष आदिके बिना ही पुष्पित होना वर्णित है[1]। कविने यहाँ कविरूढियोका अतिक्रमण किया है।

आलम्बनरूपमें प्रकृति-चित्रण करते हुए कविने वर्षाकालमें मेघगर्जन, हंसशावको और वियोगीजनोके कम्पित होने, सर्पोके बिलसे निकलने, मयूरोके नृत्यमग्न होने एव चातकोके अधरपुटके उन्मीलित होनेके वर्णन द्वारा वर्षाकालीन प्रकृतिका भव्यरूप उपस्थित किया है[2]।

प्रकृतिमें मानवीय व्यापारो और चेष्टाओके भी सुन्दर उदाहरण आये है। हेमन्त वर्णन प्रसंगमे प्रातःकालीन बिखरे हुए ओसबिन्दुओसे सुशोभित, लताओसे लिपटे हुए और उनके गुच्छों रूपी स्तनोका आलिंगन किये हुए वृक्षोपर सम्भोगान्तमे नि.सृत श्वेत कणोंसे युक्त युवकोंका आरोप स्वभावतः उद्दीपक है[3]।

वर्षाकालमे नायक और आकाशमे नायिकाका आरोप कर गाढालिंगनका सरस वर्णन प्रस्तुत किया गया है। आकाश नायिकाके स्तन प्रदेशपर स्थित माला टूट जाती है जिससे उसके मोती और मूँगे इन्द्रवधूटी और ओलोके रूपमें बिखरे हुए दीख पड़ते हैं[4]।

कवि ग्रीष्मका चित्रण करता हुआ कहता है कि तरु और वल्लि समूह अपने मित्र वसन्तके चले जानेपर विरह-ज्वरसे दग्ध हो झुलस रहा है[5]।

---

[1] मुनिसुव्रत १०।१७।
[2] वही ६।१३।
[3] वही, ६।२८।
[4] वही, ६।२२।
[5] वही, ६।३।

वसुधामें वात्सल्यमयी माताका आरोप किया है। जो माना अपने पुत्रों—वृक्षों-का अत्याचारी सूर्य-सन्तापसे रक्षण करनेके हेतु उसके सामने दाँत निकालकर गिड़गिड़ा रही है[1]।

इस प्रकार कविने इस काव्यमें कल्पनाओं और उत्प्रेक्षाओं द्वारा सन्दर्भांशोंको चमत्कारपूर्ण और सरस बनाया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, परिसंख्या, एकावली आदि अलंकारका रसोत्कर्ष उत्पन्न करनेमें सहायक हैं। इस काव्यमें पौराणिक मान्यताएँ भी वर्णित हैं, पर यथार्थतः यह शास्त्रीय महाकाव्य है।

संस्कृतके जैन कवियोंमें श्रीहर्षके समान प्रतिभाशाली महाकवि अमरचन्द्र हैं। ये अपने आशुकवित्वके लिए अत्यधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इनका बालभारत[2] महाकाव्य एक असाम्प्रदायिक रचना है। इसमे समस्त महाभारतकी कथाको महाकाव्यके रूपमें निबद्ध किया गया है। इसमें चवालीस सर्ग हैं।

पाण्डवोंकी मुख्य कथाके साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ भी निबद्ध हैं, जिन्होने मुख्यकथाके प्रवाहको अवरुद्ध कर दिया है। काव्यकी कथावस्तुका आरम्भ आदिपर्वके पाँचवें सर्गमें द्रोणाचार्यकी परीक्षामें अर्जुनके सफल होने एवं उनके प्रतिस्पर्द्धी कर्णको दुर्योधन द्वारा चम्पाका राज्य दिये जानेके प्रसंगमें कौरवो एवं पाण्डवोंके द्वेषसे होता है, जो शनैःशनैः वृद्धिगत होता हुआ महाभारतके युद्धका रूप धारण कर लेता है। कथावस्तुका अन्त कौरवोके विनाश और पाण्डवोंकी राज्यप्राप्तिसे होता है। यद्यपि कथानक यही समाप्त हो जाता है तो भी इसे शान्तरस पर्यवसायी बनाने के लिए महाभारतके समान पाण्डवोंका हिमालयपर जाकर स्वर्गप्राप्तिका वर्णन है।

महाकाव्योके नियमोंके अनुसार बालभारतमे सर्गके अन्तमें छन्दपरिवर्तन पाया जाता है। तृतीय पर्वके द्वितीय सर्ग तथा सप्तम पर्वके तृतीय सर्गमें विविध छन्दोका प्रयोग हुआ हैं। इस महाकाव्यमे जातीय आदर्श और विचार समाजकी विविध परिस्थितियाँ एवं जीवनकी विविध समस्याएँ चरित्रोंकी स्वाभाविक शालीनता, भाषाकी प्रौढता तथा अलंकारोंके प्रचुर प्रयोग पाये जाते है। कविने स्वयं इसे महाकाव्य कहा है और है भी यह पौराणिक शैलीका महाकाव्य। महाभारतके समान ही पौराणिक तत्त्व इस काव्यमें गुम्फित हैं। वस्तुव्यापार वर्णन इस काव्यमें शास्त्रीय महाकाव्योंके अनुसार ही निबद्ध है। आदि पर्वके सप्तम सर्गमें वसन्तका वर्णन कविने बहुत ही रोचक और उत्प्रेक्षापूर्ण किया है। खाण्डव वनको तपस्वीकी कल्पना करते हुए कवि कहता है।

उल्लङ्घितं च परितः परितापितं च
तिग्मांशुना कलितदुःखमिवान्तरिक्षम्।
पश्येदमत्र यमुनाजलसीम्नि वेल्ल-
द्वल्लीजटं वनमिषेण तपस्तनोति ॥ आदि० ७।४

---

१. मुनिसुव्रत काव्य ६।१०।

२. काव्यमाला सीरीज, ग्रन्थांक ४५, निर्णय सागर बम्बई, १६६४ ई०।

जैसे कोई तपस्वी उपवास करते हुए चारों ओर पंचाग्नि तपते हुए दुःखका त्याग कर स्वच्छ आकाशकी तरह स्वच्छ हृदयसे युक्त तपस्या करता है, उसी प्रकार यह खाण्डव वन भी यमुनाके तटपर लटकती हुई लतारूपी जटाके बहाने तपस्या कर रहा है।

पूर्णोपमाके साथ भ्रान्तिमान् अलंकारकी योजना करता हुआ कवि कहता है—"अत्यन्त सघन वृक्षोंकी शाखाओंमें छिपे हुए चन्द्रमारूपी आकाश-मणिकी स्थितिमें यमुनाके जलमें स्नान करनेवाले हाथियोंके गर्जनसे उत्पन्न नादको मेघ-गर्जन समझ पथिकोंको बेचैन करनेवाले मयूर वर्षाके भ्रमसे वसन्तमें भी नाचने लगते हैं[1]।" "जंगली हाथियोंके मस्तकसे निकले हुए मोतियोंमें गुंजाओंको मिलाकर सुन्दर आभूषण धारण करनेवाली शबर-कन्याएँ नागरिक-बालाओंके सौन्दर्यको हँसी उड़ाती हैं। ये कन्याएँ विचित्र तरहसे चीताके शरीरके चर्मका परिधान धारण किये हुई थी अतएव इनका सौन्दर्य नागरिक बालाओंसे भी बढ़कर था[2]।"

वसन्तके दिनोंमें जब सूर्य उत्तरायण होने लगता है तो तापकी वृद्धि होने लगती है। कवि इसी तथ्यको कल्पनाकी उड़ान लेकर कहता है—"कमलिनीरूपी युवति पतिरूपी सूर्यके उत्तरायण—दूर होनेपर वियोगसे तपने लगती है। मालूम होता है कि उधरकी दिशामें बसनेवाले त्रिलोचन शंकरके तृतीय नेत्रकी अग्निकी किरणोंसे लिप्त रहनेके कारण ही इस प्रकारका सन्ताप हो रहा है[3]।" "जान पड़ता है कि अत्यन्त प्रखर सूर्यकी किरणोके भारसे सन्तप्त होकर चन्द्रमाकी वधुएँ—तारिकाएँ आकाशका परित्याग कर पसीनेको बूंदोंके बहाने अपने पतिके भ्रमसे चन्द्रमुखी नारियोंके मुख पर सुशोभित हैं[4]।"

कविने कवि-रूढ़ियों और कवि-प्रौढोक्तियोका भी सम्यक् प्रयोग किया है। कवि-रूढ़िमें प्रसिद्धि है कि अशोक वृक्ष कामिनीके पदाघातसे, तिलकवृक्ष कटाक्षसे पुष्पित होता है। कवि कहता है—"वसन्तलक्ष्मीने अपने मदयुक्त पदार्पण द्वारा अशोकवृक्षमे नवपल्लवोंका पदार्पण कर दिया है। यह वसन्तलक्ष्मी उस नायिकाके समान है, जो करधनीकी मन्द-मन्द ध्वनि द्वारा हंसमालाको आकर्षित और वाचाल बनाती हुई बालकमलके सदृश है[5]।" रमणीयताका प्रार्थी तिलकवृक्ष कामाकुल—कामसे व्याकुल हो कटाक्षोका निक्षेप करती हुई रमणीको देख तत्काल मस्तकपर नये-नये पुष्पोंको धारण कर किसके हृदयमें प्रेमका संचार नहीं करता है?"[6] "यह मौलश्रीका वृक्ष

---

१ बालभारत, आदि० प० ७।५।
२, वही, ७।६।
३. वही, ७।१३।
४. वही, ७।१४।
५ वही, ७।२५।
६. वही, ७।३०।

फूलोंकी कान्तिसे हँस रहा है, भ्रमरोंके नादसे गा रहा है, पवनसे झूम रहा है। मानो अभी इसने चन्द्रमुखियोंके मुखके मधका पान करके प्रमत्तके समान किसी विचित्र लीलाको प्राप्त हो रहा है[१]।" कवि प्रौढोक्ति है कि कामिनीके मख-गण्डूषसे वकुल विकसित होता है।

कविने रूपक अलंकारका प्रयोग कर बताया है कि बार-बार मधुपान करनेवाला विदग्ध भ्रमर इलायची पर, कुरबकके गुच्छे पर, प्रियंगु पर, अशोक, दमनक पर, नवमल्लिका पर बैठकर उनके पुष्पोंको सूँघ रहा है। मालूम पड़ता है कि वह कामदेवकी प्रेरणासे पुष्पबाणोंकी परीक्षा करता चलता है[२]।" कविने वसन्तश्रीमें नारीका रूप प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"इसके अशोक पल्लव ही हाथ हैं, विकसित कमल मुख हैं, श्रोतव्य कोकिलवाणी मधुर वाणी है, पुष्पपंक्ति सुन्दर उरोजोंपर की गयी पत्र-रचना है[३]।"

कवि दोला-क्रीड़ाका चित्रण करता हुआ कहता है "झूलापर झूलते समय जब झूला बहुत ऊँचा ऊपर चढ़ जाता है और युवतियोंके गलेके हार टूट जाते हैं तथा उन हारोंके बिखरे हुए मोतियोंके दाने आकाशमें व्याप्त हो जाते हैं, उस समय वह आकाश युवतियोंके पदाघातसे आगे बढ़े हुए झूलेके कारण पसीने की बूँदोंसे युक्त जैसा परिलक्षित होता है[४]।"

"झूलते समय जब झूला आकाशकी ओर बढ़ जाता है तो अत्यन्त ढीठ युवतियाँ हाथसे पकड़े हुए डण्डोंको छोड़कर गीत गाती हुई हाथोंसे ताल देती हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि उन युवतियोंको भय है कि कहीं चन्द्रमामें स्थित मृगकलंक हमारे मुखपर न आ जाये। अतएव वे ताली बजाकर उस मृगको भगा रही हैं[५]।"

इस प्रकार कविने वसन्त-विहारका सरस और सजीव चित्रण किया है। अष्टम सर्गमें कविने पुष्पावचय क्रीड़ाका बहुत ही सरस और रम्य चित्र उपस्थित किया है। कवि पुष्पावचयके समय नायक-नायिकाओंकी पारस्परिक ईर्ष्याका सुन्दर चित्रण करता हुआ कहता है—

अपि प्रसूनेषु नखक्षतं प्रिये सृजत्यसूयां विदधे मनस्विनी।
भृङ्गोऽपि पुष्पावचयोत्थितः पिबन्प्रियामुखाब्जं रसिनाप्यसूयत॥

—आदि० प० ८।२१

फूल चुनते समय प्रिय जब पुष्पोंको नखक्षत करता है तो उसकी मनस्विनी नायिकाको ईर्ष्या होती है। उधर नायिका द्वारा पुष्प चयनके कारण उड़ा हुआ भ्रमर

---

[१] बालभारत, ७।२८।

[२] वही, ७।४३।

[३] वही, ७।३६।

[४] वही, आदि० प० ७।६६।

[५] वही, ७।७१।

प्रियाके मुखकमल रसका पान करता है, जिससे रसिकप्रियको भी असूया होती है। इस पद्यमें मनस्विनी नायिका और रसिक नायक दोनों को भावनाओंका अच्छा चित्रण किया गया है। इसी सन्दर्भमें कवि आगे कहता है--

भृङ्गेण दष्टो नवपल्लवभ्रमादुपेत्य दूरादधरो मृगीदृशः।
विषव्यथां हर्तुमिव स्वयं रयादुपात्ति पीतो दयितेन धीमता॥
—आदि० प० ८।२२

नवीन पल्लवके भ्रमसे दूरसे आकर भ्रमर द्वारा डँसा मृगनयनीका अधर विष-वेदनासे व्याप्त है, अतः विषव्यथाको दूर करनेके लिए शीघ्रतापूर्वक स्वयं बुद्धिमान् प्रियने अधरका पान कर लिया। कवि नायक-नायिकोके पारस्परिक क्रोधका चित्रण करते हुए कहता है—

रजोऽवकीर्णं दयितेन कौसुमं परां यदालिङ्गितुमङ्गनादृशि।
तदाशु निःश्वासभरेण निघ्नती हाहात्मनि द्रोहमपि व्यधत्त सा।
निशम्य क्लृप्तामसुनाभिधामिदा मदर्पणे मोऽस्यजदाशुमास्म माम्।
प्रियेण वध्वा हृदि रोपिता व्यधादितीव माला तुमुलं चलालिभिः॥
—आदि० प० ८।२८-२९

प्रेमी द्वारा अन्य प्रेयसीका आलिंगन करनेके लिए अपनी अंगनाकी आँखमें पुष्प-पराग डाल दिया गया है जिससे वह अंगना व्याकुल हो हाहाकार करती है और इस कपटको अवगत कर लेनेके कारण वह लम्बी साँस लेती हुई द्रोह करती है।

प्रेमी द्वारा गोत्र-स्खलन सुनकर कोई नायिका जिसे प्रेमी माल्यार्पण कर रहा है, बिगड़ उठती है, और कह उठती है कि मुझे छोड़ दो। इस अवस्थामें प्रिय द्वारा प्रेयसीके गलेमें पहिनायी गयी माला ऐसी प्रतीत होती है, मानो चंचल भ्रमरोकी माला ही व्यथा पहुँचा रही है।

रस-परिपाककी दृष्टिसे वीर-रस प्रधान होते हुए भी यह काव्य शान्तरस पर्यवसायी है। कविने भीम और जरासन्धके युद्धका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है[1]। वीर रसके सहायक रौद्र और बीभत्स रसोका भी परिपाक हुआ है। द्रोणाचार्यके वधके अनन्तर अश्वत्थामाका क्रोधाभिभूत होना रौद्ररस[2] का सुन्दर उदाहरण है।

इस कविका दूसरा महाकाव्य 'पद्मानन्द' है। इसका अनुशीलन चतुर्थ परिवर्तमें प्रस्तुत किया जा रहा है।

सन्धान, ऐतिहासिक और अभिलेख-काव्य

संस्कृत-भाषामें एक ही वस्तुके अनेक पर्यायवाची शब्द और एक ही शब्दके अनेक अर्थ पाये जाते है। इस विशिष्टताके कारण संस्कृतके जैनकवियोंने द्विसन्धान, चतु-

---

[1] बालभारत पर्व०२ सर्ग १।६३-६६।
[2] पर्व २ सर्ग ४।१४३-१४४।

स्सन्धान, पंचसन्धान, सप्तसन्धान एवं चतुर्विंशति सन्धान काव्य रचे हैं। जैनकाव्य-जगत्में अनेकार्थ काव्योंका प्रवेश ईसाकी पाँचवी-छठी सदीसे हुआ है। वसुदेव-हिण्डीकी चत्तारि-अट्ठ गाथाके चौदह अर्थ किये गये हैं। आठवी शताब्दीमे महाकवि धनंजयका द्विसन्धान महाकाव्य सन्धान[1] विधाका उपलब्ध सर्वप्रथम जैन महाकाव्य है। ग्यारहवी शतीके एक पंचसन्धान महाकाव्यकी पाण्डुलिपि उपलब्ध है। इस कहाकाव्यका रचयिता शान्तिराज कवि हैं। इसकी कन्नड़ लिपिमें लिखित एक पाण्डुलिपि जैनसिद्धान्त आरामें है।

अठारहवीं शतीके सुप्रसिद्ध कवि मेघविजय उपाध्यायने सप्तसन्धान नामक महाकाव्यकी रचना की है। इसी शताब्दीमें हरिदत्तसूरिने राघवनैषधीय[2] नामक काव्य दो सर्गोंका लिखा है। कुछ ग्रन्थ-सूचियों एवं अन्य सूचनाओंमे अवगत होता है कि वि० सं० १०८० में सुराचार्यने नाभेयनेमिद्विसन्धान[3] नामक काव्यकी रचना की है। इस काव्य मे तीर्थंकर ऋषभदेव और नेमिनाथका श्लेषमय जीवन चरित वर्णित है। बृहद्गच्छीय हेमचन्द्र सूरिका नाभेयनेमिद्विसन्धान नामक काव्य भी उल्लिखित है। कहा जाता है कि इसका संशोधन कवि चक्रवर्ति श्रीपालने किया है। इस काव्यमे भी नेमि और ऋषभ की कथाएं समानान्तर रूपसे वर्णित है। काव्यकी पाण्डुलिपियाँ बड़ौदा और पाटन-भण्डार में सुरक्षित हैं। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ'[4] से सूचना प्राप्त होती है कि मनोहर और शोभन रचित चतुस्सन्धान काव्य भी लिखे गये हैं। इसी ग्रन्थसे जगन्नाथ रचित सप्तसन्धान काव्यकी सूचना भी प्राप्त होती है। जगन्नाथ कविका एक चतुर्विंशति सन्धान[5] काव्य भी प्राप्त है। इस काव्यमें एक ही श्लोकके चौबीस अर्थ किये गये है।

इन काव्योंके अतिरिक्त सन्धानविषयक कतिपय स्तोत्र भी प्राप्त हैं। श्री अगरचन्द्र नाहटा[6] ने अनेकार्थ विषयक स्तोत्रो में ज्ञानसागरसूरि रचित नवखण्ड पार्श्वस्तव, सोम तिलकसूरि रचित विविधार्थमय सर्वज्ञ स्तोत्र, रत्नशेखर सूरि रचित नवग्रह गर्भित पार्श्व स्तवन तथा पार्श्वस्तव, मेघविजयरचित पंचतीर्थीस्तुति, समयसुन्दररचित द्व्यर्थ-कर्णपार्श्वस्तव आदिका नामोल्लेख किया है।

कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबरकी विद्वत् सभामें जैनोंके 'समस्त सुत्तस्स अणन्तो अत्थो' वाक्यका किसीने उपहास किया। यह बात महोपाध्याय समयसुन्दरको बुरी लगी और उन्होंने उक्त सूत्र वाक्यकी सार्थकता बतलानेके लिए 'राजानो ददते सौख्यम्' इस आठ अक्षर वाले वाक्यके दस लाख बाईस हजार चार सौ सात अर्थ किये। वि० सं० १६४९ श्रावण शुक्ला त्रयोदशीको जब सम्राट्ने काश्मीर

---

[1] संधीयते यदिति—स + धा + ल्युट्।

[2] काव्यमाला० ग्रन्थाक ५७, निर्णयसागर०, १९२६ ई०।

[3] दे० जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १, पृ० २३।

[4] गांधी नाथारंगजी शोलापुर, वि० सं० १९८५।

[5] ले० श्री नाथूरामजी प्रेमी, जैन हितैषी, बम्बई, भाग ६, अंक ५-६ में प्रकाशित।

[6] दे० जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १, पृ० २४।

का प्रथम प्रयाण किया तो उसने प्रथम शिविर राजा श्रीरामदासकी वाटिकामें स्थापित किया। यहाँ सन्ध्याके समय विद्वत् सभा एकत्र हुई जिसमे सम्राट् अकबर, शाहजादा सलीम, अनेक सामन्त, कवि, वैयाकरण एवं तार्किक विद्वान् सम्मिलित थे। कविवर समयसुन्दरने अपना यह ग्रन्थ पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर सम्राट् एव सभासदस्य आश्चर्य चकित हुए। कविने उक्त अर्थोंमेंसे असम्भव या योजनाविरुद्ध पड़नेवाले अर्थोंको निकालकर इस ग्रन्थका नाम 'अष्टलक्षी'[1] रखा। यह अष्टलक्षी ग्रन्थ संस्कृत साहित्यका ही नही विश्व साहित्यका अद्वितीय मणि है।

कवि लाभविजयने 'तमोदुर्वाररागादिवैरिवारनिवारणे। अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने॥ पद्यके पाँच सौ अर्थ किये है[2]।

चतुर्विशति सन्धान काव्यके अन्तमें कवि जगन्नाथने काव्यके रचनाकालका निर्देश किया है। बताया है कि वि० सं० १६९९ ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी रविवारके दिन सुन्दर भवनोंसे सुशोभित अम्बावत् नामक नगरमे इस काव्यको रचना की[3]। जगन्नाथ महापण्डित भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीने इन्हें पण्डितराज जगन्नाथसे अभिन्न माना है और रसगंगाधरके रचयिताके रूपमें सम्भावना प्रकट की है[4]। कविवर जगन्नाथका प्रसिद्ध श्लोक निम्नलिखित है—

श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपति. श्रीद्रुमाङ्कोऽथ धर्मो,
हर्यङ्कः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनन्तवाक् श्रीसुपार्श्वः।
शान्ति. पद्मप्रभोरो विमलविभुरसौ वर्द्धमानोप्यजाङ्को,
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मां सुमतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम्॥

—चतुर्विशति० पृ० १

इस काव्यके संस्कृत टीकाकार स्वय कवि जगन्नाथ ही है। टीकाके अन्तमें कविने जो पुष्पिका अंकित की है उससे स्पष्ट है कि उक्त कवि जगन्नाथ रसगगाधरके रचयिता जगन्नाथसे भिन्न है। अत: श्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका उक्त अनुमान हमे भ्रान्त प्रतीत होता है। इसमे सन्देह नही कि कवि सस्कृत भाषाका प्रौढ पण्डित है और उसकी कवित्वशक्ति भी अपरिमित है। टीकाके आरम्भमे मंगलाचरण करते हुए लिखा है—

प्रणम्याङ्घ्रियुग्मं जिनानां जिनानां जगन्नाथपूज्याङ्घ्रिपाथोरुहाणाम्।
वरैकाक्षरार्थैर्महायुक्तियुक्तै. सुवृत्तिं च तेषां नुतेश्चकरीमि॥

---

[1] देवचन्द्रलाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत, ग्रन्थांक ८१।

[2] जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १।

[3] नयनयधररूपाङ्कं सुवत्से तपामा सै इह विशदपञ्चम्यां च सरसौरिवारे।
विहितजिनमहोऽम्बावत्पुरे मोघशुभ्रं सुजिननुतिकार्षीच्छ्रीजगन्नाथनामा॥
— चतु० अन्त्यप्रशस्ति।

[4] जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ५, किरण ४, पृ० २२५।

वाग्देवतायाश्चरणाम्बुजद्वयं स्मरामि शब्दाम्बुधिपारदं वरम् ।
यन्नाममात्रस्मरणोत्थयुक्तयो हरन्त्यघ कोविदमानसामिति ॥ चतु० पद्य १-२

स्पष्ट है कि कविकी प्रतिभा नयी कल्पनाओं और उद्भावनाओके लिए प्रौढ़ कवियोके समकक्ष ही है ।

ऐतिहासिक काव्य

इतिहासका आश्रय लेकर काव्य लिखनेकी परिपाटी संस्कृत काव्य परम्परामे कोई नवीन नहीं है । पौराणिक साहित्यमें तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक जीवनका विशद् चित्र उपलब्ध होता है । बाणभट्ट इस विधाके सर्वप्रथम कवि है । उनके हर्षचरित[1] में सम्राट् हर्षवर्धनका जीवनवृत्त अंकित है । कविने हर्षके जीवनकी जिन घटनाओंका उल्लेख किया है वे प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसागके वर्णनसे मेल खाती है[2] । आठवी शताब्दीमें महाकवि वाक्पतिराजने 'गउडवहो'[3] काव्यकी प्राकृतमें रचना की है । वाक्पतिराजके पिताका नाम हर्षदेव था । वे कन्नौजके राजा यशोवर्माके आश्रित तथा भवभूतिके समकालीन थे । ये यशोवर्मा कश्मीरके राजा ललितादित्य द्वारा मारे गये थे । डॉ० स्टीनके मतानुसार यह घटना ७३६ ई० के पूर्वकी नही हो सकती हैं[4] । गउडवहोके अधूरे होनेसे भी प्रतीत होता है कि वाक्पतिराजने अपने काव्यकी रचना यशोवर्माके विजयी होनेके दिनोमे प्रारम्भ की थी, पर ललितादित्यके हाथों यशोवर्माकी मृत्यु होनेपर उसे अधूरा ही छोड़ दिया ।

ईसवी सन् १००५ के लगभग पद्मगुप्तने 'नवसाहसाकचरित'[5] नामक ऐतिहासिक काव्यकी रचना की है । कविने सिन्धुराजको ही नवसाहसांक माना है । सिन्धुराज नागोंके शत्रु वज्रांकुशको पराजित कर नागराज शंखपालकी राजकुमारी शशिप्रभासे विवाह करता है । कविने इसी घटनाका विस्तारसे वर्णन किया है । ईसवी सन् १०८५ के लगभग महाकवि बिल्हणने 'विक्रमाकदेव चरित'[6] नामक महाकाव्यकी रचना की है । इस काव्यमें अठारह सर्ग है और चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्यका चरित वर्णित है । ईसवी सन्की बारहवी शतीमें महाकवि कल्हणने राजतरंगिणी[7] नामक ऐतिहासिक काव्यको रचना की है । इस काव्यमें आदिकालसे लेकर सन् ११५१ ई० के आरम्भ तकके कश्मीरके प्रत्येक राजाके शासनकालकी घटनाओका यथाक्रम विवरण दिया है । राजतरंगिणी आठ खण्डोमें विभाजित है । इसमे कुल ७८२६ श्लोक है ।

---

१. बम्बई संस्कृत सीरीज बम्बई, १९०९ ।
२. दे० सं० सा० रू०, साहित्य निकेतन कानपुर, १९६०, पृ० ३३६ ।
३. भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना, १९२७ ।
४. दे० सं० सा० रू० कानपुर, १९६०, पृ० ३३७ ।
५. वामन इस्लामपुरकर द्वारा सम्पादित तथा बम्बई संस्कृत सीरीज बम्बई द्वारा प्रकाशित १८९५ ई० ।
६. संस्कृत साहित्य रिसर्च कमैटी, काशी विश्वविद्यालय, १९५८ ।
७. एम० ए० स्टोन कृत अंग्रेजी अनु० सह लन्दन १९०० ई० ।

इस ऐतिहासिक काव्य परम्परामें जैनकवियोंने भी कई सुन्दर रचनाएँ लिखी है। जैन काव्योके प्रेरक धार्मिक राजा, राजमन्त्री, गुरु या श्रद्धालु श्रावक है। अमरचन्द्र, बालचन्द्र, उदयप्रभ, माणिक्यचन्द्र और नयचन्द्र आदि कवियोंकी राजदरबारमें पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। हेमचन्द्र सूरिकी जयसिंह कुमारपालकी राजसभामें पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। इन्होने अपने कुमारपाल चरितमे तत्कालीन गुजरातका राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रामाणिक रूपसे निबद्ध किया है। नयचन्द्र सूरि ग्वालियर नरेश वीरमदेव तथा कुछ कवि गुर्जरेश्वर वीरधवलके महामात्य वस्तुपालके विद्वन्मण्डलमें सम्मिलित थे। जैनकवि राज्याश्रय प्राप्त होने पर भी धनकी कामनासे निस्पृह थे। अतएव उन्होंने चाटुकारिताकी प्रवृत्तिके बिना ही यथार्थ घटनाओंका चित्रण किया है जो इतिहासकी दृष्टिसे बहुमूल्य हैं। इसमें सन्देह नही कि गुजरातका मध्यकालीन सम्यक् इतिहास जैनकवियोकी रचनाओमें मुखरित हुआ है। ऐतिहासिक जैन सस्कृत काव्याकी परम्परा अभिलेखोसे आरम्भ होती है। कई अभिलेख इतिहासकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

हेमचन्द्रके पश्चात् ऐतिहासिक काव्योमे सर्वानन्दका जगडूचरित[1] प्रसिद्ध है। जगडूशाहने वि० स० १३१२–१५ के भीषण दुर्भिक्षमं भूखसे मरते हुए प्राणियोको बचाया था। इस दुर्भिक्षमे वीसलदेव जैसे राजाओके पास भी अन्न नही था। यह काव्य सात सर्गोमे विभक्त है।

कथावस्तुमें बताया गया है कि भद्रेश्वरपुर नामक नगरमे सोर नामक व्यक्ति रहता था जिसके जगडू राण और पद्म नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। एक दिन जगडू एक बकरीके कण्ठमें सर्वसाधक मणि बँधी हुई देखकर उस बकरीको खरीद लेता है और बकरीको घर लाकर उसके गलेसे मणि निकाल उसकी पूजा करता है और मणिके प्रभावसे विपुल सम्पत्तिका स्वामी बन जाता है। जगडू अपनी विधवा पुत्रीका पुनर्विवाह करना चाहता है किन्तु कुटुम्बीजन उसका विरोध करते है अत. वह अपना विचार त्याग देता है। पुत्रीके कल्याणके लिए वह धर्मकार्यमे अपनी सम्पत्तिका उपयोग करता है। पुत्र न होनेसे चिन्तित है, अतः पुत्रलाभके लिए वह रत्नाकरकी आराधना करता है। रत्नाकर प्रकट हो उससे अपनी असमर्थता व्यक्त करता है और लक्ष्मीके अटल रहने तथा जलयानका समुद्रमें कभी न डूबनेका वरदान देता है।

जगडूका एक सेवक जयन्तसिंह विविध वस्तुओसे पूर्ण जलयानको लेकर व्यापार के लिए आर्द्रपुर जाता है। वहाँ एक शिलाके खरीदनेमे स्तम्भपुर निवासी तुर्क पोताधिकारीके साथ उसकी प्रतियोगिता हो जाती है। जयन्तसिंह आर्द्रपुरनरेशको अपना समस्त सामान देकर उस शिलाको खरीद लेता है। उसके इस कार्यसे जगडू बहुत प्रसन्न होता है। शिलाके तोडने पर उसमेंसे बहुमूल्य हीरे निकलते हैं। जगडूशाह बहुत-सा धन दानमे व्यय करता है।

---

[1] आत्मानन्द जैन सभा अम्बाला सिटी, १९२५ ई०।

जगडू भद्रेश्वरमें एक नवीन दुर्गका निर्माण कराता है। इस पर पारदेशका शासक पीठदेव क्रोधित होकर दूत द्वारा सन्देश भेजता है कि दुर्ग बनाना सम्भव नहीं है। यह कार्य उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार गर्दभके सींगका निकलना। जगडू अणहिलपुरके शासक लवणप्रसादसे सैनिक सहायता प्राप्त कर दुर्गका निर्माण कराता है और उसके एक कोनेमें शृंगद्वय युक्त स्वर्णगर्दभकी मूर्ति स्थापित करता है। पीठदेव भयभीत होकर सन्धि कर लेता है। गुरु-द्वारा त्रिवर्षीय दुर्भिक्षकी सूचना पाकर देश-विदेशसे धान्यका संग्रह कराता है और दुर्गको अन्नसे भर देता है। दुर्भिक्षके समय गुजरात, मालवा, सिन्ध, दिल्ली और काशीके नरेशोंको प्रजापालनके लिए अनाज देता है।

इस काव्यमें निम्न ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं—

(१) वि० सं० १३१२–१३१५ में गुजरातमें भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसमे वीसलदेव जैसे राजाओंके पास भी अन्न नही था। इस समय गुजरातमें वीसलदेव, मालवामें मदनवर्मा और काशीमे प्रतापसिंह शासन करता था।

(२) उन दिनो गुजरातमें समुद्री व्यापार उन्नत था। भारतीय जलयान समुद्र-पार देशोंमें जाते थे। वीसलदेवके दरबारमे सोमेश्वर आदि कवि रहते थे।

ऐतिहासिक काव्य होने पर भी काव्य-रमणीयताकी कमी नही है। कवि जगडू के चरित्र और यशका वर्णन करता हुआ कहता है :

गङ्गातरङ्गविमलेन यशोमरेण, दानोद्भवेन किल कल्पशतस्थिरेण।
एकस्त्रिलोकमखिल धवलीचकार, धिक्कारकृत कलिरिपोर्जगडूर्विवेकी॥
—जगडूचरित, १।९

उक्त पद्यमें कविने जगडूके यशसे सारे संसारको धवलित होते देखा है। कवि-का कल्पना-चमत्कार निम्न पद्यमें दिखलाई पड़ता है जिसमें उसने भद्रेश्वर नगरकी रक्षाके हेतु परिखाके बहाने शेषनागका आया हुआ कल्पित किया है और यह शेषनाग दुर्गके रूपमे कुण्डली बनाये हुए स्थित है—

यत्र श्रियं त्रातुमिवाहिराजः पातालमध्यात्परिखामिषेण।
आविर्बभूवोत्तमदुर्गदम्भान्निरन्तरं कुण्डलितोरुकाय.॥ जगडू० ·।२

कविने जगडूको राजहंसका रूपक देकर निम्नप्रकार वर्णित किया है—

वर्द्धमाना कुलाम्भोज राजहंसी क्रमेण सा।
मनो जहार नो कस्य गत्या चकलया गिरा॥ जगडू १।२०

जिस भद्रेश्वर नगरके भवनोंमें नाना रत्नोंकी द्युतिके कारण इन्द्रधनुषका भ्रम, अगुरुधूपके धूम्रके कारण पयोधरोंका भ्रम तथा गीत-नृत्यके अवसर पर सम्पन्न होने वाले मृदंग निनादसे मेघ गर्जनका भ्रम उत्पन्न होनेसे मयूर भ्रमित हो नृत्य करने लगते हैं। कविने इस सन्दर्भमें भ्रान्तिमान् अलकारकी सुन्दर योजना की है—

नानारत्नमयालयद्युतिभरे जम्भारिचापभ्रमं
विभ्राणे मरुधूपधूमनिवहे व्योम्न्यभ्ररूपे सति ।
अश्रान्तं मधुरे मृदङ्गनिनदे ऽप्युज्जृम्भमाणे पुन-
र्नृत्यं यत्र वितेनिरेऽपि शिखिनः क्रीडावनस्थायिनः ॥ जगडू० २।१७

वि० सं० १४२२ के लगभग जयसिंह सूरिने कुमार भूपालचरित[1] नामक महाकाव्य लिखा है। इस काव्यमें निम्न ऐतिहासिक तथ्य हैं—

(१) कुमारपालकी वंश परम्परा एवं हेमचन्द्र सूरिकी गुरु परम्परा।

(२) मूलराजसे लेकर अजयपाल तक गुजरातके राजाओंका क्रमिक विवरण।

(३) सिद्धराज जयसिंहका निस्सन्तानत्व तथा अनेक विरोधके पश्चात् भी कुमारपालका गुर्जरेश्वर होना। आरम्भमें कुमारपाल शैव धर्मानुयायी था, पश्चात् उसका जैन होना वर्णित है।

(४) उदयन और वाग्भट क्रमशः कुमारपालके महामात्य और अमात्य थे।

(५) जाबालपुर, अजमेर, कुरु और मालवोंका कुमारपाल द्वारा प्रभावित होना एवं आभीर, सौराष्ट्र, कच्छ, पचनद और मूलस्थानके राजाओंको पराजित करना। अजमेरके शासक अर्णराजका युद्धमे पराजित होना, मेड़ता पर आक्रमण एव पल्लीकोट-को जीतना।

(६) सोमेश्वरका जीर्णोद्धार करना, सोमनाथकी यात्रा और साथमे हेमचन्द्राचार्यका रहना। वाग्भट द्वारा शत्रुंजय तीर्थका पुनरुद्धार करना।

(७) वि० सं० १२२९मे हेमचन्द्रकी मृत्यु, अनन्तर एक वर्षके बाद वि० सं० १२३० में कुमारपालकी मृत्युका होना और अजयपालका उत्तराधिकारी बनना।

वि० सं० १४५० के लगभग जयचन्द्रने हम्मीर महाकाव्यकी रचना की है। इस काव्यमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य हैं और काव्यकलाकी दृष्टिसे भी यह उत्तम काव्य है। ऐतिहासिक महाकाव्योंकी प्रतिनिधि रचनाओंमें केवल इसी महाकाव्यका अनुशीलन प्रस्तुत किया जायेगा।

तेरहवी शताब्दीमे एक अर्द्धऐतिहासिक काव्य उदयप्रभसूरि कृत धर्माभ्युदय काव्य[2] है। इस काव्यमें १५ सर्ग है। ऐतिहासिकताकी अपेक्षा इस काव्यमें पौराणिकता ही अधिक है। वस्तुपाल महामात्य द्वारा की गयी ऐतिहासिक संघयात्राका वर्णन इस काव्यमें किया गया है। प्रथम एवं अन्तिम सर्गमें ही कतिपय ऐतिहासिक तथ्य है।

---

१. प्र० स० क्षान्तिविजय गणि बम्बई, २६, तिथि अनकित।
२. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४, बम्बई, १९४९।

अभिलेख काव्य

प्रशस्ति या गुणकीर्तन संस्कृत-साहित्यकी एक अत्यन्त रोचक शैली है। प्राचीन प्रस्तर खण्डों पर अंकित अभिलेख इतिहासकी दृष्टिसे जितने मूल्यवान् हैं काव्यकी दृष्टिसे भी उतने ही। योद्धाओं, राजाओं, दानवीरों एवं गुरुओंकी प्रशस्तिके रूपमें अभिलेख उत्कीर्ण मिलते हैं। अभिलेखोंकी रचना सीधी और सरल होती है, मंगलाचरण या आशीर्वचनके पश्चात् ही निर्माता या दाताका वृत्तान्त अंकित किया जाता है। यदि निर्माता या दाता राजा नहीं है तो अभिलेखमें तात्कालिक राजाके सम्बन्धमें भी कुछ वर्णन जोड़ दिया जाता है। इतना तथ्य है कि प्रायः प्रत्येक अच्छे अभिलेखमें राजवंश परिचय, प्रतिष्ठाता गुरुकी प्रशस्ति एवं दिये गये दानका उल्लेख अथवा सम्पादित हुए कार्यका निर्देश अवश्य रहता है। अभिलेख, मन्दिर, मूर्ति लोकभवन, ताम्रपत्र या अन्य शिलाखण्डोंमें उत्कीर्ण मिलते हैं। जैन अभिलेख एक पंक्तिसे लेकर सौ-सौ पंक्तियोंतकके प्राप्य हैं। गद्य-पद्य दोनोंमें अथवा पृथक्-पृथक् गद्य और पद्य दोनोमें पाये जाते हैं। इस सन्दर्भमे दो-एक प्रसिद्ध अभिलेखका निर्देश कर उसके काव्य-मूल्योंपर प्रकाश डालनेका प्रयास किया जायेगा—

जैन अभिलेख माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे पाँच भागोंमे प्रकाशित हो चुके हैं। अभिलेखोकी भाषा कितनी पुष्ट है यह निम्न उदाहरणसे स्पष्ट है। बाण की कादम्बरी और वादीभसिंहकी गद्यचिन्तामणिकी गन्ध स्पष्ट रूपसे उपलब्ध होती है—

अथ खलु सकल-जगदुदय-करणोदित-निरतिशय-गुणास्पदीभूत-परमजित-शासन-सरस्समभिवर्द्धित-भव्यजन-कमल-विकसन-वितिमिर-गुणकिरण-सहस्र-महोति-महावीर-सवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि गौतम - गणधर-साक्षाच्छिष्यलोहार्य-जम्बु-विष्णुदेवा-पराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिलादि-गुरुपरम्परीणवक्रमाभ्यागत महापुरुष सन्तति-समवद्योतितान्वयभद्रबाहुस्वामिना "" .... जिनशासनमिति[1]।

यह अभिलेख शक संवत् ५२२ (वि० स० ६५७) का है। पद्य अभिलेखोंमे अंकित कई अभिलेख खण्डकाव्यका आनन्द देते है। यहां उदाहरणके लिए कुछ पद्य उद्धृत किये जाते है—

पुर गज-शरदिन्दु-प्रस्फुरत्कीर्त्ति-शुभ्री
भवदखिल-दिनन्तो वाग्वधू-चित्तकान्तः।
बुध-निधि-नयकीर्त्ति-ख्यात-योगीन्द्र-पादा-
म्बुज-युगकृत-सेव. शोभते नागदेवः॥

—जैं० शि० सं० प्र० लेख नं० ४२, पृ० ४३

---

[1] जैनशिलालेख सग्रह, प्र० भा० मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, लेखांक १ (१)

परपरिणतदूरोऽध्यात्मसत्सारधारो
विषय-विरति-भावो जैनमार्ग-प्रभाव ।
कुमत-घन-समीरो ध्वस्तमायान्धकारो
निखिलमुनिविभूतो रागकोपादिघातः ॥

—वही, लेख नं० ४१, प०७

येनाशेषपरीषहादिरिपवस्सम्यग्जिता प्रोद्धताः
येनाप्ता दशलक्षणोत्तममहाधर्माख्यकल्पद्रुमाः ।
येनाशेष-भवोपताप-हननस्वाध्यात्मसंवेदनम्
प्राप्त स्यादभयादिनन्दिमुनिपस्सो यं कृतार्थो भुवि ॥

—वही, लेख नं० ४७, प० १९

एकार्थ-लघु-सन्देश-सूक्ति-स्तोत्र काव्य

शोध प्रबन्धका छठा परिवर्त 'एकार्थ-लघु-सन्देश-सूक्ति-स्तोत्र काव्य' शीर्षक है। इसमें उक्त प्रकारके काव्योंका परिशोलन प्रस्तुत किया जायेगा। जैन कवियो द्वारा कुछ इस प्रकारके प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये है, जिन्हें महाकाव्य तो नही कहा जा सकता है। यतः महाकाव्योचित वस्तुव्यापार वर्णन और भावव्यंजना इनमें नहो हैं।

एकार्थकाव्योमें पूर्ण जीवनवृत्त तो अंकित है, कथा भी सानुबन्ध है, सर्गोंका विभाजन भी है, पर वस्तुव्यापारोकी योजना महाकाव्यके समान नही हो पायो है। काव्यके मूलत. दो तत्त्व होते है—(१) वस्तुवर्णनोको सम्पूर्णता और (२) कथा-वस्तुका विस्तार। महाकाव्यमें कथाप्रवाह विविध भंगिमाओके साथ मोड लेता आगे बढ़ता है, पर एकार्थकाव्यमे कथाप्रवाहके मोड़ कम होते है। वर्णन भी चमत्कारपूर्ण नही बन पाते हैं। सन्ध्या, उषा, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन, पर्वत, समुद्र, नदी, नगर, ऋतुवर्णन, जलक्रीडा, दोलाक्रोडा, पुष्पावचय आदि नाममात्रको ही आते है। कवि कथाका विस्तार करता जाता है, पर उसमे किसी भी प्रकारकी विविधता उत्पन्न नही हो पाती है। मर्मस्पर्शी स्थलोंका भी प्राय· अभाव रहता है, एकाध घटना ही रससिक्त कर पाती है। अधिकांश कथानक केवल कथा का स्वाद देकर ही समाप्त हो जाते है। मस्तिष्कके समक्ष चिन्तनके लिए सामग्री नही छोड़ते। एकार्थकाव्योमे वादीभसिंहको क्षत्रचूड़ामणि काव्य (९वी शती), श्रीपालका वैरोचन पराजय (१२ वी शती), अरिसिंह का सुकृतसंकीर्तन (१३वी शती), धनेश्वरसूरि का शत्रुजय माहात्म्य (१२वी शती), जयतिलकका मलयसुन्दरीचरित (१५वी शती), सोम-कीर्तिका प्रद्युम्नचरित (१६वी शती एवं पद्मसुन्दरका रायमल्लाभ्युदय (१७वी शती) अच्छे काव्य हैं।

विक्रम पन्द्रहवीं शतीमें भट्टारक सकलकीर्तिने शन्तिनाथचरित, वर्द्धमानचरित, मल्लिनाथ चरित, धन्यकुमारचरित, सुकुमालचरित, सुदर्शन[२]चरित, जम्बूस्वामीचरित और श्रीपालचरितकी रचना की है। ये सभी चरितकाव्य एकार्थकाव्य ही हैं। इनमें न तो वस्तुव्यापार वर्णनोंका विस्तार है और न मर्मस्पर्शी सन्दर्भोंकी योजना ही है। कथा जीवनव्यापी है अवश्य, पर उसका प्रवाह उस पहाड़ी नदीकी तेज धाराके समान है, जो शीघ्र ही संगमस्थलको प्राप्त कर लेती है। इसी शताब्दीमें ब्रह्मजिनदास[३]ने रामचरित और हनुमच्चरितकी रचना की है। सोहलवी शतीमें ब्रह्म नेमिदत्त[४]ने सुदर्शनचरित, श्रीपालचरित, धन्यकुमारचरित और प्रीतिंकर महामुनिचरितका प्रणयन किया है। इसी शताब्दीमें शुभचन्द्र द्वितीय द्वारा चन्द्रप्रभचरित, पद्मनाभचरित, जीवन्धरचरित, श्रेणिकचरित और करकण्डुचरितकी रचना सम्पन्न हुई है। शुभचन्द्र द्वितीय मूलसंघ बलात्कार गणकी ईडर शाखाके भट्टारक थे, ये विजयकीर्तिके शिष्य और ज्ञानभूषण के प्रशिष्य थे। इनके पद पर सुमतिकीर्ति आसीन हुए थे। शुभचन्द्रके एक शिष्य श्रीपालवर्णी थे, जिन्होने पाण्डवपुराणकी रचनामें कविको सहयोग दिया था। इन्होंने त्रिभुवनकीर्तिके आग्रहसे वि० सं० १५७३ (सन् १५१६ ई०) की आश्विन शुक्ला पचमीको अमृतचन्द्रकृत समयसार कलशोंपर परमाध्यात्मतरगिणी नामक टीका लिखी है[५]। वि० सं० १६०७ (सन् १५५० ई०) की वैशाख कृष्णा तृतीयाको इन्होने एक पंचपरमेष्ठीको मूर्ति स्थापित की थी[६]। वि० सं० १६११ (सन् १५५४ ई०) के भाद्रपदमें करकण्डुचरितकी समाप्ति की गयी है[७]।

एकार्थकाव्योंके विकासमें १५वी, १६वी, १७वी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भट्टारको द्वारा जितने चरितकाव्य लिखे गये है, वे प्राय: एकार्थक या लघुकाव्य ही है। ई० सन्‌की सत्रहवी शतीमे मेघविजय उपाध्यायने शान्तिनाथचरित, देवानन्द और दिग्विजय नामक तीन एकार्थकाव्योकी रचना की है। शान्तिनाथचरित[८] नैषध महाकाव्य के प्रथम सर्गके सम्पूर्ण श्लोकोंकी समस्यापूर्तिके रूपमें लिखा गया हैं। इस काव्यके प्रथम चरणमे नैषधके प्रथम चरणको, द्वितीयमें द्वितीय चरणको, तृतीयमें तृतीय चरणको और चतुर्थमे चतुर्थपादको नियोजित कर प्रथम सर्गको पूर्ण समाविष्ट कर दिया है। इसमें छह सर्ग है, मेरुविजय शिष्यकी प्रेरणासे इसका सृजन किया गया है।

१-२ सुकुमालचरित और सुदर्शनचरित—रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा प्रकाशित, क्रमश वि० सं० २४५५ और वि० सं० २४५३, अवशेष काव्य अप्रकाशित हैं।

३-४ ब्रह्म जिनदास और ब्रह्म जिनदत्तके ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

५ विक्रमभूपालात्पञ्चत्रिशते त्रिसप्ततिव्याधिके (१५७३)
वर्षेऽप्याश्विनमासे शुक्ले पक्षेऽथ पञ्चमीदिवसे ॥ —अध्यात्म० अन्तिम श्लो० ६।

६ सवत् १६०७ वर्षे वैसाख (शा) वदी ३ गुरु मूलसंघे भ० शुभचन्द्रगुरूपदेशात् हुंबडसंखेस्वरा गोत्रे सा० जिना० ।—भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, ले० ३६८।

७ द्वयष्टे विक्रमत: शते समदूते चैकादशाब्दाधिके—करकण्डुचरित प्रशस्ति।

८ जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित।

देवानन्द[1] में माघकाव्यके प्रत्येक श्लोकका अन्तिम चरण लेकर और तीन पाद स्वयं नये रचकर विजयदेव सूरिके चरितको निबद्ध किया है। इस काव्यमें सात सर्ग हैं। देवानन्दमें कहीं-कहीं माघके प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरण भी उपयोगमें लाये गये हैं। काव्यमें आया है कि गुजरातके इलादुर्ग (ईडर) में राठौडवंशी राजा नारायण शासन करता था। इस नगरमें स्थिर नामका एक व्यापारी रहता था, जिसकी पत्नी का नाम रूपा था। इस दम्पतिके वि० सं० १६३४ पौषशुक्ला त्रयोदशी रविवारको एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वासुदेव रखा गया। युवा होने पर वासुदेवने विवाह करनेसे इनकार कर दिया और उसने हरिविजयके पट्टधर विजयसेन सूरिसे अहमदाबादमें दीक्षा ग्रहण कर ली। वासुदेवका नाम अब विद्याविजय हो गया। आचार्य पद प्राप्त होनेके उपरान्त विद्याविजयका नाम विजयदेव सूरि रखा गया। इनके गुरु विजयसेनका अकबरके दरबारमें बड़ा सम्मान था। यही विजयदेव सूरि प्रस्तुत काव्यके नायक हैं। एक विजयदेव सूरि दिल्ली जहाँगीरके दरबारमें बुलाये गये और वहाँ इन्हें 'महातमा' का विरुद प्राप्त हुआ। इन्होंने गुजरात और मारवाड़में विहार किया तथा रैवतक तीर्थका दर्शन किया। इन्होंने अनेक तीर्थोंकी वन्दना की और वि० सं० १७१२ आषाढ़ शुक्ला एकादशीको स्वर्ग प्राप्त किया।

प्रस्तुत काव्य समस्यापूर्ति काव्य है। माघके चरणोंका नया ही अर्थ समस्याकारने निकाला है। माघमें जहाँ-जहाँ श्लोकके प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणमे यमक है, वहाँ-वहाँ समस्याकारने यमक रखकर बड़ी चतुराईसे अर्थानुसन्धान किया है। माघ काव्यके समान ही चमत्कार इस काव्यमें भी है, पर कथाका विस्तार महाकाव्योचित नही है। कविने स्वयं लिखा है।

> नोद्रेकः कवितामदस्य न पुनः स्पर्धा न साम्यस्पृहा
> श्रीमन्माघकवेस्तथापि सुगुरोर्मे भक्तिरेव प्रिया।
> तस्यां निस्परते. सुतेव सुभगा जज्ञे समस्याद्भुता
> सेयं शारदचन्द्रिकेव कृतिनां कुर्याद् दृशामुत्सवम् ॥ प्रशस्ति० प० ८२

कविने समस्यापूर्तिमें कितना कौशल प्रदर्शित किया है, यह एक-दो उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जाता है। कवि मेघविजय गंगा नदीसे पवित्र भारतका वर्णन करता हुआ कहता है—

> अथात्र जम्बूपपदेऽस्ति भारतं प्रभारतं द्वीपकुलप्रदीपकं।
> महोदयं ध्यायदिवास्य गङ्गया विभातमच्छास्फुटिकाक्षमालया ॥दे० १।१०

इस पद्यमें माघ १।९ के चतुर्थ चरणको समस्यापूर्ति की गयी है। कविने अर्थको बिलकुल परिवर्तित कर दिया है।

---

[1] सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद—कलकत्ता, सन् १९३७ में प्रकाशित।

विजयदेव सूरि मारवाड़ आदि देशोंमें धर्मोपदेश देते हुए मेदपाट नामक देशमें पहुँचे। कवि उनके इस विहारका वर्णन करता हुआ कहता है—

साटोपमूर्वीमनिशं नदन्तो धर्मोपदेशेषु मरौ विहृत्य।
पविभ्रयन्तः कतिचित् समान्ते जग्मुर्गणीन्द्रा गिरिमेदपाटम्॥ दे० ३।१४१

प्रस्तुत पद्यमें माघके ३।७४ के "साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो" प्रथम चरणकी समस्यापूर्ति की गयी है। कविने अर्थमें किस प्रकार परिवर्तन किया है, द्रष्टव्य है।

दिग्विजय काव्य[1] में विजयप्रभ सूरिका जीवन चरित निबद्ध है। इसमें १३ सर्ग हैं। विजयप्रभ सूरिने मारवाड़, सौराष्ट्र, गुजरात, मेवाड़ आदि देशोंमें विहार कर धर्मोपदेश दिया था। जीर्णोद्धार और प्रतिष्ठाएँ करायी थीं। प्रसंगवश देवसूरिका भी चरित आया है। शत्रुजय तीर्थकी यात्रा भी की थी। इस काव्यमें विजयसेन, विजयदेव, विजयसिंह और विजयप्रभ सूरिके इतिवृत्त अंकित हैं। इतना सत्य है कि काव्यमे जीवनव्यापी घटनाएँ वर्णित नहीं हो पायी हैं। काव्यकलाकी दृष्टिसे यह रचना अच्छी है। कवि भारतका स्पष्ट और जीवन्त चित्रण करता हुआ कहता है कि त्रिदिव—स्वर्ग रात्रिके समय तृष्णापूर्ण अपने नक्षत्ररूपी नेत्रोंसे भारतके अनिन्द्य सौन्दर्यका अवलोकन करता है। इस सन्दर्भमें भारतके आभूषणोका वर्णन भी अलंकृत शैलीमें उपस्थित किया गया है—

अथास्त्यनुष्मिन् दिशि दक्षिणस्यां हिमाद्रितः श्रीभरताख्यवर्षम्।
तच्चारुतां द्रष्टुमिवोडुनेत्रैर्विभाति रात्रौ त्रिदिवं सतर्षम्॥ दि० २।१
सुवर्णमौलिर्हिमवान् नगेन्द्रो यस्योत्तमाङ्गे नृपचिह्नमाभात।
रूप्याद्रिरस्याभरणं बभूव ग्रैवेयकं रत्नमयूखपूर्णम्॥ दि० २।२
मुक्ताकलापश्रियमस्य धत्ते स्वः सिन्धुसिन्धुद्वितयस्य धारा।
पयोधिरूपं दधतो दुकूलं वेलानुकूलं नृपतेरिवात्र॥ दि० २।३
काश्मीरजार्चिर्निचयैरजस्रं धृताङ्गरागोऽद्भुतकौशलाढ्यः।
वहन् सजीवां धनुराकृतिं स राजेव रेजे भरतप्रदेश.॥ दि० २।५

कवि भारतको चरित्र और नीतिकी दृष्टिसे सर्वोत्कृष्ट पावन सिद्ध करता हुआ कहता है कि इन्द्र, प्रजापति, चन्द्रमा आदिसे भी यह श्रेष्ठ है। यथा—

राजा कलङ्की मघवापि गोत्रच्छेदी तथाभूदृषिदारजारः।
प्रजापतिः स्वां चकमेऽङ्गजातां स्वर्गोऽमुना किं समता न येन॥ दि० २।८

जम्बूद्वीपका वर्णन करते हुए उसे विष्णुका केलिमन्दिर, निर्दोष उद्यमका स्थल, सुमेरुको उन्नत स्तम्भ, समुद्रकी लहरोंको भित्ति और सूर्य-चन्द्रको दीपक कहा है[2]। कविने देवानन्द और दिग्विजयको महाकाव्य कहा है, पर हैं ये एकार्थकाव्य।

---

१. भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९४५ ई०।
२. दिग्विजय काव्य, भा० वि०, १९४५ ई० १।७४।

संस्कृत जैन एकार्थकाव्योंमें निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

(१) कथावस्तुमें विस्तार और गाम्भीर्यका अभाव, पर पौराणिक और धार्मिक मान्यताओंका विश्लेषण।

(२) रस और भावोंका सूक्ष्म विवेचन न होकर पात्र और परिस्थितियोका ही चित्रण।

(३) घटना-प्रवाह और वस्तुव्यापार योजनाके स्थानपर कथा-प्रवाह और पौराणिक सन्दर्भोंकी योजना।

(४) नगरी, नदी, वन, नायकका वंश, कीर्ति आदिका महाकाव्यके समान ही वर्णन।

(५) सर्गबद्ध रहने पर भी नाटकीय तत्त्वोका अभाव।

(६) समग्र युगका चित्रण न होकर युगके किसी अंशका चित्रण।

(७) चरितनामान्त एकार्थ काव्योमे सुसघटित जीवन्त कथानकके न भी रहने पर नायकके समग्र जीवन पर प्रकाश; किन्तु विभिन्न मानसिक दशाओ और परिस्थितियोके चित्रणका प्रभाव। वस्तु-व्यापारोके वैविध्यके अभावमे काव्य चमत्कारकी न्यूनता। अलंकृति और प्रौढ कवित्वके रहने पर भी कथावस्तु मे प्रवाह। फलतः महाकाव्योके समान ही शान्त, शृंगार और वीरमें से किसी एक रसका अंगीभूत होना।

(८) विषयवस्तु और रूपशिल्पमे असन्तुलन होने पर भी कथावस्तुका पूर्ण विस्तार। फलतः काव्यके परिप्रेक्ष्यमे चरित और दर्शनके तत्त्वोका निरूपण।

(९) महाकाव्यके सर्गबद्धता, छन्दपरिवर्तन, रसनिरूपण प्रभृति लक्षणोका सद्भाव।

लघुकाव्य

जिन काव्योंमे सर्गोंकी संख्या महाकाव्यके समान है, पर विविध भगिमाओका अभाव है, उन्हे एकार्थ काव्य कहा है। इसी प्रकार जिनके सर्गोंकी संख्या आठ अथवा छहसे कम है, पर कथा जीवनव्यापी है, इस प्रकारके काव्योको लघु काव्य कहा जा रहा है। खण्ड जीवनकी कथा न होनेसे इन्हे खण्ड काव्य नही माना जा सकता है। एकार्थकाव्योके समान इनमे भी प्राय. पूर्ण जीवन चित्रित रहता है। अतएव लघुकाव्य माने जानेका प्रधान कारण यही है कि इन काव्योमे सर्गोकी संख्या प्रायः छह से कम ही है। वादिराजका यशोधरचरित (११वी शती), चरित्र सुन्दर गणिका महीपालचरित (१५वी शती), मल्लिषेणका नागकुमार काव्य, जयतिलकका मलयसुन्दरीचरित (१५वी शती), पद्मसुन्दरका रायमल्लाभ्युदय (१७वी शती) एवं जगन्नाथ कविका सुषेणचरित (१७वी शती) इस प्रकारके काव्य है।

सन्देशकाव्य

सन्देशकाव्योंको दूत काव्य भी कहा गया है। विप्रलम्भ शृंगार तथा विरहकी पृष्ठभूमिको लेकर इस कोटिके काव्य लिखे गये हैं। जैन कवियोंने सन्देश काव्योंमें शृंगार रसके वातावरणको शान्त रसकी ओर मोड़ कर नयी काव्य-परम्पराको नयी दिशा प्रदान की है। त्याग और संयमको जीवनका पाथेय समझनेवाले कवियोंने प्रेम और शृंगार प्रधान काव्य विधामें संस्कृतिके उच्च तत्त्वोंका समावेश किया है। सन्देश प्रधान काव्योंमें पार्श्वनाथ और नेमिनाथ जैसे महापुरुषोंके जीवनवृत्तोंका अंकन किया गया है। कतिपय जैन कवियोंने मेघदूतके छन्दोंके अन्तिम या प्रथम पादको लेकर समस्यापूर्ति की है। इस समस्यापूर्तिका आरम्भ जैनकवियोंमें जिनसेन द्वितीयके पार्श्वाभ्युदयसे होता है। जिनसेन प्रथमने अपने हरिवंशपुराण (सन् ७८३ ई०) में पार्श्वाभ्युदय[1] की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

> यामिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
> स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं सकीर्तयत्यसौ ॥

—हरिवशपुराण, ज्ञानपीठ काशी, १।४०

इस श्रेणीके काव्योमे साहित्यिक सौन्दर्यके साथ दार्शनिक सिद्धान्त भी पाये जाते है। जैन कवियोने सस्कृतकी दूतकाव्य परम्पराका पर्याप्त विकास एव पल्लवन किया है। विक्रमका नेमिदूत[2] (ई० सन् १३वी शतीका अन्तिम चरण), मेरुतुंगका जैनमेघदूत[3] (सन् १३४६-१४१४ ई०), चरित्रसुन्दर गणिका शीलदूत[4] (१५वी शती) वादिचन्द्र सूरिका पवनदूत[5] (१७वी शती), विनय-विजय गणिका इन्दुदूत[6] (१८वी शती), मेघविजयका मेघदूत समस्या लेख[7] (१८वी शती) एवं अज्ञात नामवाले कवि चेतोदूत[8] की रचना की है। विमलकीर्ति गणिका चन्द्रदूत भी उस विधा सम्बन्धी रचना है। इन समस्त सन्देश काव्योमे साहित्यिक सौन्दर्यके साथ जीवनव्यापी सत्योकी भी अभिव्यंजना हुई है। शील, संयम, तप, त्याग, भाव शुद्धि और साधनाका समन्वय इन काव्योमें पाया जाता है। घोर शृंगारकी धाराको वैराग्यकी ओर मोड़ देना साधारण प्रतिभाका कार्य नही है। इन सन्देश काव्योमे अभिव्यंजित शान्तरसकी सुधा धारा राग-द्वेषसे ग्रस्त मानवको शाश्वत आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता रखती है।

---

[1] योगिराट् पण्डिताचार्यकी टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०६ में प्रकाशित।
[2] जैनप्रेस, कोटा, वि० सं० २००५ में प्रकाशित।
[3] जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, वि० सं० १९८०।
[4] यशोविजय ग्रन्थमाला, वाराणसी।
[5] हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, सन् १९१४ ई०।
[6] जैन साहित्य-वर्धक सभा, शिरपुर (पश्चिम खानदेश), वि० सं० १९४६।
[7] जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० स० १९७०।
[8] वही, वि० सं० १९८०।

सूक्तिकाव्य

उपदेश, प्रेम और नीति सम्बन्धी काव्योंको सूक्ति या सुभाषित काव्य कहा जाता है। लोकवृत्त अथवा नैतिक शिक्षाका निरूपण काव्यकी अनुरंजनकारिणी भाषा में सम्पन्न होनेसे यह काव्य विधा भी रसिकोंको अपनी ओर आकृष्ट करती है। शर्करा-मिश्रित औषधिके समान काव्यचमत्कार उत्पन्न करते हुए सदुपदेश देना या किसी विशेष भावको उत्पन्न करना सूक्ति काव्यका लक्ष्य होता है। यों तो सूक्ति काव्यके अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, पर प्रधानरूपसे धार्मिक सूक्ति काव्य, नैतिक सूक्ति काव्य और काम या प्रेमपरक सक्ति काव्य इस विधाके उपभेद हैं। सत्य, त्याग, उदारता, अहिंसा, क्षमा, मार्दव प्रभृतिका चमत्कारी उपदेश धार्मिक सूक्ति काव्योंमें रहता है। इस प्रकारके सूक्तिकाव्य सदाचार सम्बन्धी सार्वजनीन सिद्धान्तोंका काव्यरूपमें प्रतिपादन करते हैं। अतः धार्मिक काव्य और धार्मिक सूक्ति काव्योंमे यह अन्तर है कि धार्मिक काव्योंमें विशिष्ट धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले उपास्यों और सिद्धान्तोंकी महत्ता समाहित रहती है, पर धार्मिक सूक्ति काव्य किसी धर्मविशेषसे सम्बन्ध न होकर जीवनके शाश्वत और सार्वभौमिक मूल्योंसे सम्बद्ध रहते हैं। नैतिक सूक्ति काव्योंमें लोककी स्वार्थमयी प्रवृत्तिका उल्लेख करके पाठकको उसके प्रति जागरूक किया जाता है। स्वार्थ साधनके उपाय लोकवृत्तानुकूल उपदेश एवं ऐहिक जीवनको सुखी बनानेवाले सिद्धान्त काव्य चमत्कारोंके साथ उक्त प्रकारके सूक्ति काव्योंमें निबद्ध रहते हैं। काम या प्रेमपरक सूक्ति काव्योंमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धके विषयमें मौलिक तथ्योंका प्रस्फुटन किया जाता है। रसात्मक काव्य—शृंगारप्रधान और काम या प्रेमपरक सूक्ति काव्योमे यह भेद रहता है कि रसात्मक काव्योंमें विभाव, अनुभाव, और संचारी भावोंका आश्रय लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया अपनायी जाती है अथवा प्रसिद्ध प्रतीकों द्वारा काल्पनिक अनुमेय प्रतीकोंके आधार पर रस-चर्वणा की जाती है और भावोंको व्यक्तिगत क्षेत्रसे सर्वसाधारण परिस्थितिमें पहुँचाया जाता है। किन्तु काम या प्रेमपरक सूक्ति काव्योंमे बिम्बों और प्रतीकोकी अपेक्षा नही रहती और न व्यक्तिगत उद्भावना ही अभीष्ट होती है।

सूक्तियों में रसकी समस्त विशेषताएँ और चमत्कृति के सारे उपकरण समाहित रहते है। शब्दचमत्कार और अर्थ-चमत्कारका जो समवाय सूक्तियोंमें पाया जाता है, वह प्रबन्धमें नहीं। अतिशोभन, मोक्षप्रापण, आनन्दानुभवन और कौतूहल शमन एक साथ सूक्ति काव्यों द्वारा सम्पन्न होते है। कथा प्रसंग या सन्दर्भांशोंके नहीं रहने पर भी आनन्दानुभूतिमें कमी नही आ पाती है। रसोपनिबन्ध और चमत्कृति-सम्पादन करनेके लिए सूक्तिकाव्योंके प्रणयनमें कविको पर्याप्त सतर्क रहना पड़ता है। वाग्वैदग्ध्यकी प्रधानता रहने पर भी रसका समावेश करना सुकर नही है। इस कार्यके लिए कवि को भावाभिव्यक्तिमें पर्याप्त पटुता प्रदर्शित करनी होती है। उक्ति-वैचित्र्यके द्वारा रसका संचार करना और पाठकके हृदयमें किसी भाव विशेषको जाग्रत् कर देना कोई सामान्य बात नही है। सूक्तिकाव्योंमें कल्पनाकी उड़ान, ऊहोक्ति, वर्णनवैचित्र्य या

शब्दार्थवैचित्र्य प्रधान तत्त्व होते हैं। स्वानुभूति निरूपिणी कवितामें जब कवि अपनी भावनाओंकी मधुरिमामयी अभिव्यंजना करता है और उसकी अनुभूति तीव्रतर हो जाती है, तो संगीतात्मकता फूट पड़ती है तथा सुन्दर सूक्तियाँ कविकण्ठ से निनादित होने लगती हैं।

गुणभद्रका आत्मानुशासन[1] (९वी शती) और शुभचन्द्र प्रथमका ज्ञानार्णव[2] (१२वीं शती) एक प्रकारसे धार्मिक सूक्तिकाव्य है। अमितगतिका सुभाषित रत्नसन्दोह[3] (वि० सं० १०५०), अर्हद्दासका भव्यजनकण्ठाभरण[4] (१३वी शतीं) और सोमप्रभका सूक्तिमुक्तावलिकाव्य[5] (१३वीं शती) अच्छे सुभाषित जैन काव्य हैं। पद्मानन्द कविकी एक रचना 'वैराग्य शतकम्'[6] विमल कविकी प्रश्नोत्तर रत्नमाला और दिवाकर मुनि की शृंगार-वैराग्य तरंगिणी (१५वी शती) रुचिर सूक्ति काव्य हैं।

स्तोत्रकाव्य

स्तोत्र शब्द स्तु + ष्ट्रन्से बना है। स्तोत्र शब्द के पर्यायवाची स्तुति और स्तव शब्द भी माने जाते है। इन दोनों शब्दोंकी निष्पत्ति स्तु + क्तिन् तथा स्तु + अप् से हुई है। मलयगिरिने व्यवहारभाष्यमें स्तुति और स्तव में अन्तर बताते हुए लिखा है—

एगदुगतिसिलोया थुतिआ अन्नेसि होइ जा सत्त।
देविदत्थयमादी तेणं तु परं यथा होइ[7]

एकश्लोक: द्विश्लोकौ त्रिश्लोकाः वा स्तुतिर्भवति। परतश्चतुः श्लोकादिक: स्तव.। अन्येषामाचार्याणां मतेन एकश्लोकादिः सप्तश्लोकपर्यन्ता स्तुतिः। ततः परमष्टश्लोकादिकाः स्तवा ।

अर्थात् एक श्लोकसे तीन श्लोक पर्यन्त स्तुति और उसके अनन्तर चार श्लोक आदि स्तव हैं। मतान्तर से एक श्लोकसे सात श्लोक पर्यन्त स्तुति और आठ श्लोक अथवा इससे अधिक श्लोक स्तव कहलाते है।

स्तव और स्तोत्रमें भेद बतलाते हुए लिखा है—'स्तव गम्भीर अर्थवाला और संस्कृत भाषामे निबद्ध किया जाता है, तथा स्तोत्रकी रचना विविध छन्दोंके द्वारा प्राकृत भाषा में होती है।'[8] पर स्तोत्र और स्तवका यह संविधान आरम्भमें भले ही रहा

---

[1] जात्रराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ११, शोलापुर, १९६१ई०।

[2] रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगस्त, १९६१ ई०।

[3] काव्यमाला संख्या ८२, बम्बई १९०९।

[4] शास्त्री, कैलाशचन्द्र द्वारा अनूदित और जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, सन्१९५४ ई० में प्रका०।

[5] काव्यमाला सप्तम गुच्छक में, निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९२६ ई० में, पृ० ३५-५१।

[6] वही, पृ० ७१-८५।

[7] व्यवहारभाष्ये उ० ७ गा० १८३।

[8] सक्कयभासाबद्धो, गम्भीरत्थो थओत्ति विक्खाओ।
पाइयभासाबद्धं थोत्तं विविहेहिं छड्डेहिं॥ ८५१॥
—श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदणमहाभास · जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर, वि० सं० १९७७, पृ० १५०।

हो, आगे नहीं रहा है। समन्तभद्रने (विक्रम संवत् द्वितोय शती) संस्कृत में ही स्तोत्रों की रचना है।

वस्तुतः आराध्यके गुणोकी प्रशसा करना स्तुति है। अतएव स्तोत्र वे रचनाएँ हैं, जिनमें परमात्मा, परमेष्ठी या अन्य देवी-देवताओंकी स्तुति की जाय। आचार्य समन्तभद्रने बतलाया है कि अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा वीतरागो प्रभु पर घटित नही होती। यतः भगवान्में अनन्तगुण है, उनके एक गुणका वर्णन करना ही अशक्य है, फिर अतिशयोक्ति किस प्रकार हो सकती है। वे लिखते है—"थोडे गुणोंका उल्लंघन करके बहुत्व-कथावाली स्तुति भगवान् जिनेन्द्र पर नही घटती, क्योकि उनमें अनन्त गुण है, उन गुणोंको कहना भो संभव नही है।[१]" आचार्य बट्टकेरने बताया है—"ऋषभ, अजित आदि चौबोस तीर्थंकरोंके नाम उच्चारण करना, उन नामोंकी निरुक्ति अर्थात् नामोंके अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणोंकी प्रशंसा करना, उनके चरण युगल पूजकर मन-वचन-कायकी शुद्धतासे उन्हें प्रणाम करना स्तव है।[२]" वस्तुत तीर्थंकरोंके असाधारण गुणोकी प्रशंसा करना ही स्तव या स्तवन है। उत्तराध्ययनमे स्तोत्रोंकी महत्ता बतलाते हुए लिखा है—

थयथुइमंगलेण भंते ! जीवे किं जणयइ। थयाथुइमंगलेण नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरिय कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहइ ॥

—उत्तराध्ययन, अँगरेजी प्रस्तावना, टिप्पण सहि—जार्ल चार्पेंटियर उपसाला १९१४ ई०, २९ अ० १४ सू०

अर्थात्—स्तव, स्तुति, मंगलपाठसे जीव ज्ञान, दर्शन और चरित्ररूप बोधिलाभ को प्राप्त करता है। अनन्तर ज्ञान, दर्शन और चरित्ररूप बोधिलाभको प्राप्त करनेवाला जीव, अन्तक्रिया वा कल्पविमानोपपत्तिको प्राप्त करता है।

आचार्य समन्तभद्रने भी बताया है—"तुम पुण्यकीर्ति और मुनियोंके इन्द्र हो। यदि तुम्हारे नामका उच्चारण कर लिया जाय तो वह हमे पवित्र बना देता है, यही तुम्हारे स्तवनका प्रयोजन है।[३]" तथ्य यह है कि स्तोत्र पाठ करनेसे चित्तमें निर्मलता उत्पन्न होती है, जिससे पुण्यका बन्ध होता है। आचार्य समन्तभद्रने बताया है कि

---

[१] गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथास्तुतिः
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥
—आ० स० स्वयम्भू०, वीरसेवामन्दिर सरसावा, वि० सं० २००८, १९५१, पृ० ६१।

[२] उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ ॥
—मूलाचार, हिन्दी अनु० स०, अन० बम्बई, १९१९ ई०।

[३] तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम्।
पुनाति पुण्य कीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किंचन ॥ —स्वयम्भू० वी० से० मं० स० २००८, १९५१, पृ० ६१।

स्तुति करनेसे प्रशस्त परिणाम उत्पन्न होते हैं। उसमें उपास्यके गुणोंका अच्छी तरह वर्णन रहे अथवा न भी रहे, पर गुणकीर्तन होनेसे कल्याणकी प्राप्ति होती ही है।[1] विद्वानोंने स्तोत्रको 'पूजाकोटिसमं स्तोत्रं'[2]—एक करोड़ बार पूजा करनेसे जो फल मिलता है, उतना एक बार स्तोत्रपाठ करनेसे मिलता है, लिखा है। यतः पूजा करनेवाले व्यक्तिका मन पूजनसामग्री या अन्य बाह्य उपकरणोंमें आसक्त रहता है, पर स्तोत्रपाठ करनेवाले व्यक्तिका चित्त भगवान्के गुणोंमें संलग्न हो जाता है, अतः स्तोत्र पाठ पूजाकी अपेक्षा अधिक लाभप्रद है।

जैन स्तोत्रोंका प्रेरणास्रोत जिनेश्वर भक्ति है। जैन दर्शनमें भक्तिका रूप दास्य, सख्य और माधुर्य भावकी भक्तिसे भिन्न है; क्योंकि कोई भी साधक अनेक चिकनी-चुपड़ी प्रशंसात्मक बातों द्वारा वीतरागी प्रभुको प्रसन्न कर उनकी प्रसन्नता द्वारा अपने किसी लौकिक या अलौकिक कार्यको सिद्ध करनेका उद्देश्य नहीं रखता है और न परम वीतरागी देवके साथ यह घटित ही हो सकता है। सच्चिदानन्दमय प्रभुमें रागांशका अभाव होनेसे पूजा, स्तुति या भक्ति द्वारा प्रसन्नताका संचार होना असम्भव है, अतएव वह भक्ति करनेवालोंको कुछ देता-दिलाता नहीं है। इसी प्रकार द्वेषांशका अभाव होनेसे वीतरागी किसीकी निन्दासे अप्रसन्न या कुपित नहीं होते है और न दण्ड देने-दिलानेकी ही कोई व्यवस्था निर्धारित करते है। निन्दा-स्तुति और भक्ति-ईर्ष्या इन दोनोंके प्रति वह उदासीन हैं। परन्तु विचित्रता यही है कि स्तुति और निन्दा करनेवाला स्वतः अभ्युदय या दण्डको प्राप्त कर लेता है[3]।

शुद्धात्माओंकी उपासना या भक्तिका आलम्बन पाकर मानवका चञ्चल चित्त क्षणभरके लिए स्थिर हो जाता है, आलम्बनके गुणोंका स्मरणकर अपने भीतर उन्हीं गुणोंको विकसित करनेकी प्रेरणा पाता है तथा उनके गुणोंसे अनुप्राणित हो मिथ्या परिणतिको दूर करनेके पुरुषार्थमें रत हो जाता है। जैन दर्शनमें शुद्ध आत्माका नाम ही परमात्मा है। प्रत्येक जीवात्मा कर्मबन्धनोंके विलग हो जाने पर परमात्मा बन जाता है। अतः अपने उत्थान और पतनका दायित्व स्वयं अपना है। अपने कार्योंसे ही यह जीव बँधता है और अपने कार्योंसे ही बन्धनमुक्त होता है।

कर्मोंका कर्ता और भोक्ता यह जीव ही है। अपने किये कर्मोंका फल इसको स्वयं भोगना पड़ता है। ईश्वर या परमात्मा सृष्टिकर्ता नहीं है[4], वह किसी भी प्राणी

---

[1] स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ॥ —[illegible] ११, पृ० ७४

[2] अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ७, पृ० १६३ पर उद्धृत।

[3] सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो। परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥
—स्व०, वी० से सं० १४१५।

[4] तन्वादयो न बुद्धिमन्निमित्तकास्तदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भात
—आप्त० सरसावा, १९४९ ई०, पृ० ४०।

Religious Book Distribution Fund
C/o [illegible]
महावीर प्रसाद जैन सर्राफ
13[illegible] चाँदनी चौक, देहली-110006

८

को किसी भी प्रकारका फल नहीं देता है। इस प्रकारके वीतरागी ईश्वरकी उपासना करनेका गुणानुवाद करनेसे साधककी परिणति स्वयं शुद्ध हो जाती है, जिससे अभ्युदय की प्राप्ति होती है[1]। जैन दर्शनके अनुसार उपासना या भक्ति अकिंचन या नैराश्यकी भावना नही है। साधक संयम, त्याग, तप और ध्यान द्वारा कर्मबन्धनको नष्ट कर जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त कर लेता है। जैनभक्ति काव्यकी पृष्ठभूमिमें बताया है—"वीतरागी भगवान् भले ही कुछ न देता हो, किन्तु उसके सान्निध्यमें वह प्रेरक शक्ति है, जिससे भक्त स्वयं सब कुछ पा लेता है।"[2]

तथ्य यह है कि जैन दर्शनमें निष्काम भक्तिको महत्त्व प्राप्त है। जहाँ सांसारिक स्वार्थ रहता है, वहाँ कर्मबन्ध अवश्य होता है। जैन स्तोत्रोंमें जो भक्तिका रूप वर्णित है, वह दीनतासे दूर है। विषापहार स्तोत्रमें बताया है—"हे देव, इस प्रकार आपकी स्तुति कर मैं आपसे कोई वर नही माँगता; क्योंकि किसीसे भी कुछ माँगना एक प्रकार की दीनता है और सच तो यह है कि आप तो उपेक्षक हैं। आपमें न द्वेष है और न राग। रागके बिना कोई किसीकी आकांक्षा पूरी करनेके लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है। एक बात यह भी है कि छायावाले वृक्षके नीचे बैठकर उस वृक्षसे छायाकी याचना करना तो बिलकुल ही व्यर्थ है, यतः वृक्षके नीचे बैठनेवालेको छायाकी प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है। इतना होने पर भी यदि आप स्तुतिका कोई फल देना चाहें; इतना ही नहीं इसके लिए आपका आग्रह भी हो तो हे भगवन्! आप मुझे यही वर दीजिए कि आपकी भक्तिमें ही मेरी बुद्धि लगी रहे। यह कृपा तो मुझपर अवश्य ही कीजिए। ऐसा कौन है जो आत्मपोष्य—अपने व्यक्ति पर ध्यान नही देता"।[3]

भक्तामर स्तोत्रमें भी आचार्य मानतुंगने बताया है—"हे जगत्के भूषण! हे जीवोंके नाथ! आपके यथार्थ गुणोसे आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाय, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसा तो होना ही चाहिए, क्योंकि स्वामीका यह कर्तव्य है कि वह अपने सेवकको अपने समान बना ले, नही तो उस स्वामीसे क्या लाभ है, जो अपने आश्रितको अपने वैभवसे अपने समान नही बना देता।"[4]

---

१. तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।

—स्व० वी० से स० १२।२, पृ० ४१।

२. डॉ० प्रेमसागर, जैन काव्यकी पृष्ठभूमि, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६३ ई०, पृ० २९।

३. इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्याद्व वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्याद् कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥१॥
अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधः त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति-बुद्धिम्।
करिष्यते देव! तथा कृपां मे, को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥२॥

—पंचस्तोत्र संग्रह सूरत, पृ० ११।

४. नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ! भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

—काव्यमाला सप्तम गुच्छक : पं० दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण द्वारा सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२६ ई० पृ० ३-४।

उपर्युक्त सन्दर्भसे ऐसा प्रतीत होता है कि जैन स्तोत्रोंमें भगवान्‌का रूप वीतरागी होने पर भी अभीष्टकी पूर्ति करता है। उपासनाका आधार गुण है, अतः भगवान्‌के गुणोंका कथन करनेसे आत्मामें गुणोंका विकास हो जाता है। जिस प्रकार एक दीपककी ज्योतिसे दूसरा दीपक प्रज्वलित हो जाता है, उसी प्रकार वीतरागीके गुणोंकी उपासनासे राग-द्वेषका अभाव।

कल्याणमन्दिरमें आचार्य कुमुदचन्द्रने बतलाया है—"हे नाथ, आपके चरण-कमलोंकी निरन्तर संचित भक्तिका यदि कोई फल हो तो वह यही फल होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्ममें आप ही मेरे शरण्य हों।"[1]

इस प्रकार स्तोत्र साहित्यमें भक्तिका स्वरूप अंकित मिलता है। वीतरागीसे राग करनेवाला स्वयं ही वीतरागी बन जाता है। लौकिक सिद्धियाँ तो उसके लिए अत्यन्त सरल है।

जैन स्तोत्र काव्योंका प्रादुर्भाव और विकास

जैन स्तोत्रोंकी रचना सर्वप्रथम प्राकृत भाषामें उपलब्ध होती है। परम्परामें माना जाता है कि भगवान् महावीरको केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् कई महीनों तक गणधरके अभावमें उनका धर्मोपदेश न हो सका[2]। अतः इन्द्र विद्यार्थीके रूपमें मगध देशवासी इन्द्रभूति नामक उद्भट विद्वान्‌के यहाँ पहुँचा और उसने इन्द्रभूतिसे कई प्रश्न पूछे। इन्द्रभूति जब प्रश्नोंका उत्तर देनेमें असमर्थ रहा, तो उसने कहा कि मैं तुमसे क्या शास्त्रार्थ करूँ ? चलो तुम्हारे गुरुसे ही शास्त्रार्थ करूँगा। इस प्रकार जब इन्द्रभूति महावीरके समक्ष पहुँचा तो उसने 'जयतिहुअण'[3] नामक स्तोत्रका पाठ करते हुए उन्हें नमस्कार किया। विक्रमकी प्रथम शती[4] में आचार्य कुन्दकुन्दने 'तित्थयर सुद्धि'[5] की रचना की है। इस स्तोत्रमें केवल आठ गाथाएँ हैं, जिनमें प्रथम कुन्दकुन्दने प्राकृतमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, और निर्वाण-भक्तिकी भी रचना की है। भद्रबाहुके नामसे 'उवसग्गहर'[6] स्तोत्रकी रचना मानी जाती है। इस स्तोत्रमें केवल पाँच पद्य है, पर ये पद्य इतने सशक्त हैं कि इन पर कई टीकाएँ लिखी गयी है। ये भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहुसे भिन्न हैं। इन्होंने

---

[1] यद्यस्ति नाथ । भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां भक्ते फलं किमपि संतत संचितायाः ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥
—काव्यमाला सप्तम गुच्छक, निर्णय सागर, बम्बई, पृ० १७।

[2] पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्यका इतिहास (पूर्व पीठिका), श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी, वी० नि० सं० २४८९, पृ० २५९-२६३।

[3] जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम द्वारा प्रकाशित।

[4] पुरातन जैनवाक्य सूची, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, प्रस्तावना, पृ० १२।

[5] प्रभाचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित, दशभक्ति, सोलापुर, पृ० १७-१८।

[6] जैनस्तोत्रसंदोह, द्वितीय भाग, अहमदाबाद, पृ० १-१३—पार्श्वदेवगणिकी लघुवृत्तिके साथ मुद्रित।

पंचसिद्धान्तिकाके अन्तमें स्वयं ही अपना समय शक संवत् ४२७ (वि० सं० ५६८) लिखा है।[1] मानतुंग सूरिका 'भयहर'[2] स्तोत्र भी प्राकृत भाषाका अच्छा काव्य है। इसमें २१ पद्य है और भगवान् पार्श्वनाथकी भक्ति प्रदर्शित की गयी है। डॉ० विण्टरनित्स इनका समय ईसवी तीसरी शती मानते है।[3] पर मुनि चतुरविजयने इनका समय विक्रम संवत् सप्तम शती माना है।[4] प्राकृतभाषामें धनपाल कवि विरचित 'ऋषभपंचाशिका'[5] ५० पद्योंका प्रसिद्ध स्तोत्र है। इस स्तोत्रके प्रारम्भके बीस पद्योंमे ऋषभदेवकी जीवन-घटनाएँ और शेष तीस पद्योमे उनकी प्रशंसा की गयी है। 'वीरथुई'[6] नामक एक अन्य स्तोत्र भी धनपालका माना जाता है। धनपालका समय विक्रम सवत्की ग्यारहवी शती है।[7] अभयदेवका महावीर स्तोत्र[8], जिनवल्लभ सूरिका 'पंचकल्याणक स्तोत्र'[9] और जिनप्रभ सूरिका 'चतुर्विंशति जिनकल्याण कल्प'[10] भी उपयोगी है।

संस्कृत भाषामें रचित उपेक्षित स्तोत्र

विक्रमकी द्वितीय शताब्दीसे ही जैनकवि संस्कृत भाषामे स्तोत्रोकी रचनाएँ करते आ रहे है। वे अपने हृदयकी बाते आराध्यके समक्ष प्रकट करनेके लिए तथा आराध्यकी महिमाका निरूपण करनेके लिए अपने कोमल एव भक्तिपूरित हृदयको उडेल देते है। भक्तकवि सृष्टिकर्तृत्वसे शून्य रहने पर भी भगवान्की दिव्य विभूतियो से चकित हो उठे है, और समताकी धरती पर स्थित हो उन्होंने आराध्यके शील, स्वभाव, और प्रभावका मसृण वाणीमे गान किया है। संस्कृत जैन स्तोत्रोमे भक्ति, दर्शन और अध्यात्मकी त्रिवेणी प्रवाहित है। जैन संस्कृत स्तोत्रोमे निम्नलिखित तत्त्व पाये जाते हैं—

(१) उपास्यकी महत्ता—उपास्यके दिव्य शील, सौन्दर्य और अलौकिक गुणोकी महत्ता।

(२) आत्मनिवेदन—कर्मावरणके कारण उत्पन्न होनेवाली विकृतिका कथन।

(३) आध्यात्मिकता या दार्शनिक विचारोकी प्रमुखता।

---

[1] सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य पंचसिद्धान्तिका पद्य ८।

[2] जैनस्तोत्र सदोह द्वितीय भाग चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० १४-१६।

[3] History of Indian Literature, Vol. II P 549.

[4] जैनस्तोत्र सदोह द्वितीय भागकी प्रस्तावना, पृ० १३।

[5] काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णय सागर, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० १२४-१३१।

[6] देवचन्द्र लाल भाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९३३ ई०।

[7] जैन साहित्य और इतिहास प० नाथूराम प्रेमी, बम्बई, द्वितीय संस्करण, पृ० ४०६।

[8] जैन स्तोत्र सन्दोह, प्रथम भाग, अहमदाबाद, पृ० १६७-६६ तथा ६५-६८।

[9] वही।

[10] *विविधतीर्थकल्प, सिन्घी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, वि० सं० १९९०, पृ० ९९।*

(४) असंभव अलौकिक और चमत्कारपूर्ण कार्योंको आराध्य द्वारा सम्पन्न करानेकी आकांक्षा।

संस्कृत भाषामें सबसे प्राचीन स्तोत्र आचार्य समन्तभद्रके उपलब्ध हैं। इनके स्वयम्भूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और जिनशतकालंकार ये चार स्तोत्र ग्रन्थ हैं। ये उच्चकोटिके दार्शनिक स्तोत्र काव्य हैं। कवित्व शक्ति स्वाभाविक है। स्वयम्भूस्तोत्र[1]में चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है। स्तोत्रका पहला शब्द स्वयम्भू होनेसे इसका नाम स्वयम्भूस्तोत्र पड़ा है। कुल १४३ पद्य हैं। इस स्तोत्रके भक्तिरसमें गम्भीर अनुभूतिका तारल्य विद्यमान है, अतः इसे सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि कहा जा सकता है। इस स्तोत्रके संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्रने इसे "निःशेषजिनोक्तधर्म" कहा है। स्तोत्रशैलीमे कविने प्रबन्ध पद्धतिके बीजोंको निहित कर इतिवृत्त सम्बन्धी अनेक तथ्योंको प्रस्तुत किया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको प्रजापतिके रूपमे असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यका उपदेष्टा कहा है। इस स्तोत्रमे आये हुए 'निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्''[2] पदसे स्वामी समन्तभद्रकी भस्मकव्याधिका अनुमान तथा सम्भवनाथकी स्तुतिमें सम्भवजिनको वैद्यका रूपक दिया जाना उनकी जीवन घटनाओंकी ओर सकेत माना जा सकता है। वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका आदि तेरह प्रकारके छन्दोंका व्यवहार किया है। भक्तिभावना, रागात्मक वृत्तियोका उदात्तीकरण, जीवनके अनुरंजनकारी चित्रण एवं ललितपदावलीके मनोरम विन्यासके साथ दार्शनिक तत्त्वोका विवेचन श्लाघ्य है। दार्शनिक तथ्योकी अभिव्यंजना मधुर-कोमल भावनाओके वातावरणमें की गयी है। काव्यके मधुमय वातावरणमे दार्शनिक गूढ मान्यताओका समवाय द्रष्टव्य है।

शरीर-रश्मि-प्रसर. प्रभोस्ते बालार्क-रश्मिच्छविरालिलेप।
नरामराकीर्ण-सभां प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम्॥ स्व० ६।३

हे प्रभो! प्रातःकालीन सूर्य किरणोकी छविके समान रक्तवर्णकी आभावाले आपके शरीरकी किरणोके विस्तारने मनुष्य और देवताओसे भरी हुई समवशरण सभाको इस प्रकार अलिप्त किया है, जैसे पद्मकान्ति मणि पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको अलिप्त करती है।

इस पद्यमे पद्मप्रभ तीर्थकरकी रक्तवर्ण कान्ति द्वारा समवशरण सभाके व्याप्त किये जानेकी उत्प्रेक्षा पद्मकान्त मणिके पर्वतकी प्रभासे की गयी है। कवि उत्प्रेक्षा अलंकारके साथ उपमाके व्यवहारमे भी पटु है। निम्न पद्यमे प्रयुक्त उपमान चमत्कार उत्पन्न करते है :—

---

[1] स्वयम्भूस्तोत्र—अनुवादक और संपादक—श्रीजुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (वर्तमान दिल्ली), सन् १९५१ ई०।

[2] स्वयम्भूस्तोत्र ११४—समन्तभद्रका समय श्रीजुगलकिशोर मुख्तार विक्रम संवत द्वितीय शती मानते है—देखें—स्वयम्भूस्तोत्रकी प्रस्तावना, पृ० ८३-१०६।

येन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दन-पङ्क-शीतं गज-प्रवेका इव धर्मतप्ताः ॥ स्व० २।१

जिन्होंने उस महान् और ज्येष्ठ धर्मतीर्थका प्रणयन किया है, जिसका आश्रय पाकर भव्यजन दुःख-सन्तापपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार ग्रीष्म-कालीन सूर्यके सन्तापसे सन्तप्त हुए बड़े-बड़े हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गंगाह्रदको प्राप्त कर सूर्यके आतपजन्य दुःखको मिटा डालते है।

यहाँ गंगाजलका उपमान चन्दनलेप है और धर्मतीर्थका उपमान गंगाजल है। जनका उपमान गज है। इस प्रकार इस पद्यमें संसार आतपकी शान्तिके लिए धर्म-तीर्थका सामर्थ्य विभिन्न उपमानों द्वारा दिखलाया गया है।

चन्द्रप्रभ जिनकी स्तुति करते हुए उन्हें संसारका अद्वितीय चन्द्रमा कहा है तथा उपमा द्वारा आराध्यकी रूपाकृतिका मनोरम चित्र अंकित किया है।

चन्द्रप्रभं चन्द्र-मरीचि-गौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जित-स्वान्त-कषाय-बन्धम् ॥ स्व० ८।१

चन्द्रकिरणके समान गौरवर्णसे युक्त चन्द्रप्रभ जिन जगत्में द्वितीय चन्द्रमाके समान दीप्तिमान् है, जिन्होने अपने अन्त.करणसे कषाय बन्धनको जीत अकषाय पद प्राप्त किया है और जो ऋद्धिधारी मुनियोंके स्वामी तथा महात्माओ द्वारा वन्दनीय हैं।

इस पद्यमें 'चन्द्रमरीचिगौरं' उपमान है। इस उपमान द्वारा चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके गौरवर्ण शरीरकी आकृतिका सुन्दर अंकन किया गया है।

चन्द्रप्रभ जिनके प्रवचनको सिंहका रूपक और एकान्तवादियोंको मदोन्मत्त गजका रूपक देकर कविने आराध्यके उपदेशकी महत्ता प्रदर्शित की है। इस प्रसंगमें रूपकालंकारकी योजना बहुत ही तर्कसंगत है। यथा—

स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदावलिप्ता वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥ स्व० ८।३

चन्दन, चन्द्रकिरण, गंगाजल और मुक्ताओंकी हारयष्टिकी शीतलताका निषेध कर शीतलनाथ तीर्थंकरके वचनोंको शीतल सिद्ध किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें व्यतिरेक अलंकार द्वारा उपमेयमें गुणाधिक्यका आरोप कर उपमानमें न्यून गुणका समावेश किया है। वाणीमें शीतलता और माधुर्यके साथ अमृतत्व भी है, जिससे वह चन्दन, चन्द्र-किरण आदिकी अपेक्षा अधिक शीतलता प्रदान करनेकी क्षमता रखती है। यथा—

न शीतलं चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥
—स्व० १०।१

जिनशतकालंकार या स्तुतिविद्या[1]—

इस स्तोत्रमें चित्रकाव्य और बन्धरचनाका अपूर्व कौशल समाहित है। शतक काव्योंमें इसकी गणना भी की गयी है। सौ पद्योंमें किसी एक विषयसे सम्बद्ध रचना लिखना प्राचीन समयमें गौरवकी बात मानी जाती थी। प्रस्तुत जिनशतकमें चौबीस तीर्थंकरोंकी चित्रबन्धोंमें स्तुति की गयी है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों नैतिक एवं धार्मिक उपदेशके उपस्कारक बनकर आये हैं। समन्तभद्रकी काव्यकला इस स्तोत्रमें आद्यन्त व्याप्त है। मुरजादि चक्रबन्धकी रचनाके कारण चित्रकाव्यका उत्कर्ष इस स्तोत्र काव्यमें पूर्णतया वर्तमान है। समन्तभद्रकी इस कृतिसे स्पष्ट है कि चित्रकाव्यका विकास माघोत्तरकालमें नहीं हुआ है, बल्कि माघ कविसे पहले ही समन्तभद्रकी रचनाओंमें चित्र, श्लेष और यमकका सन्निवेश हो चुका है। इस स्तोत्रमें मुरजबन्ध, अर्धभ्रम, गतप्रत्यागतार्ह, चक्रबन्ध, अनुलोम-प्रतिलोमक्रम और सर्वतोभद्र चित्रोंका प्रयोग उपलब्ध है। एकाक्षर पद्योंकी सुन्दरता कलाकी दृष्टिसे प्रशंसनीय है। प्रस्तुत स्तोत्रमें ११६ पद्य हैं। अन्तिम पद्यमें "कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तम्" है; जिसके बाहरसे ७वें वलयमें शान्तिवर्मकृतं और चौथे वलयमें जिनस्तुतिशतंकी उपलब्धि होती है। समन्तभद्रके इस चित्रकाव्यमें शब्दक्रीड़ा ही नहीं है, अपितु उनमें वक्रोक्तियों एवं स्वभावोक्तियोंका प्रातिभ चमत्कार भी निहित है। एक-एक व्यंजनके अक्षर क्रमसे प्रत्येक पादका ग्रथन कर चित्रालंकारकी योजना की गयी है—

ये याताया यये याय नानानूनाननानना।
ममाममाममामामिताततीति ततीतितः॥ स्तुतिविद्या १४

हे भगवन्! आपका मोक्षमार्ग उन्हीं जीवोंको प्राप्त हो सकता है, जो कि पुण्यबन्धके सम्मुख हैं अथवा जिन्होंने पुण्यबन्ध कर लिया है। समवशरणमें आपके चार मुख दिखलाई पड़ते हैं। आप केवल ज्ञानसे युक्त हैं तथा ममताभावसे मोहपरिणामोंसे रहित हैं, तो भी आप सांसारिक बड़ी-बड़ी व्याधियोंको नष्ट कर देते हैं। हे प्रभो! मेरे भी जन्ममरण रूप रोगको नष्ट कर दीजिए।

चन्द्रप्रभ और शीतल जिनकी स्तुतिमें मुरजबन्धकी योजनामें व्यतिरेक और श्लेष अलंकारकी दिव्य आभा उपलब्ध होती है। यथा—

प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालयः।
विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः॥ स्तुति० ३१

हे प्रभो! आप चन्द्ररूप हैं, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा उदय होते ही आकाशको प्रकाशित करता है, उसी तरह आप भी समाज लोकाकाश और अलोकाकाशको

---

[1] स्तुतिविद्या, सम्पादक और अनुवादक : साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त'। प्रकाशक—वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा (वर्तमान दिल्ली), सन् १९५० ई०।

प्रकाशित करते हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार मृग लांछनसे युक्त है, उसी प्रकार आप भी मनोहर अर्धचन्द्रसे युक्त हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार सोलह कलाओंका आलय-गृह होता है, उसी प्रकार आप भी केवलज्ञान आदि अनेक कलाओंके आलय—स्थान हैं। चन्द्रमा जिस तरह कुमुदों—नीलकुमुदोंको विकसित करता हुआ उदित होता है, उसी प्रकार आप भी पृथ्वीके समस्त प्राणियोंको आनन्दित करते हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार कमलाप्रिय—कमल शत्रु होता है, उसी प्रकार आप भी कमलाप्रिय—केवलज्ञानादि लक्ष्मीके प्रिय हैं।

इस स्तोत्रसे शतक काव्यका भी श्रीगणेश होता है।

देवागमस्तोत्र या आप्तमीमांसा[1]—

स्तोत्रके रूपमें तर्क और आगम परम्पराकी कसौटी पर आप्त—सर्वज्ञ देवकी मीमांसा की गयी है। समन्तभद्र अन्धश्रद्धालु नहीं है, वे श्रद्धाको तर्ककी कसौटीपर कसकर युक्ति-आगम द्वारा आप्तकी विवेचना करते हैं। इस स्तोत्रमें ११५ पद्य हैं। 'देवागम' पद द्वारा स्तोत्रका आरम्भ होनेसे देवागम स्तोत्र कहलाता है।

युक्त्यनुशासन[2]—

वीरके सर्वोदय तीर्थका महत्त्व प्रतिपादित करनेके लिए उनकी स्तुति की गयी है। युक्तिपूर्वक महावीरके शासनका मण्डन और वीरविरुद्ध मतोंका खण्डन किया गया है। समस्त जिनशासनको केवल ६४ पद्योंमें ही समाविष्ट कर दिया है। अर्थ गौरवकी दृष्टिसे यह काव्य उत्तम है, गागरमें सागरको भर देनेकी कहावत चरितार्थ होती है। इस स्तोत्रको महावीरके तीर्थका सर्वोदय तीर्थ कहा है—

> सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ यु ६२

सिद्धसेन दिवाकर (विक्रम पाँचवी शती[3]) ने द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है। द्वात्रिंशिका स्तुतिको ही कहा जाता है। २१ द्वात्रिंशिकाओंमेंसे केवल छह भगवत् विषयक स्तुतिको ही कहा जाता है। २१ द्वात्रिंशिकाओंमेंसे केवल छह भगवत् विषयक स्तुतिसे सम्बद्ध हैं। बत्तीस-बत्तीस पद्योंकी बत्तीस रचनाएँ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका कहलाती हैं, परन्तु वर्तमानमें २१ ही उपलब्ध हैं। सिद्धसेनके मतसे वीतरागीका सौन्दर्य शुद्धरूपात्मक सौन्दर्य ही नहीं हैं, अपितु आध्यात्मिक सौन्दर्य है। प्रथम द्वात्रिंशिकामें स्तोत्र रचनाके हेतुको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

> न काव्यशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीर-कीर्ति-प्रतिबोधनेच्छया।
> न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञ-पूज्योऽसि यतोऽयमादर. ॥ ४ ॥
> —प्रथम द्वात्रिंशिका, अनेकान्त, सरसावा, वर्ष ९, किरण ११, पृ० ११५

---

[1] सनातन जैन ग्रन्थमाला, बनारस, १९१४ ई०

[2] वीर सेवा मन्दिर, सरसावा द्वारा सन् १९५१ ई० में प्रकाशित।

[3] देखें—सन्मति प्रकरण, ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद, सन् १९६३ ई०, प्रस्तावना, पृ० ६।

मैं अपनी कवित्व शक्तिका परिचय देनेके लिए यह स्तुति नहीं लिख रहा हूँ, न किसीके साथ ईर्ष्यावश ही ऐसा कर रहा हूँ। न मेरे मनमें महावीरकी कीर्तिके विस्तार की ही कामना है और न श्रद्धावश ही मैं स्तोत्र कार्यमें प्रवृत्त हुआ हूँ। वास्तविक बात यह है कि आप गुणज्ञ व्यक्तियोंके द्वारा पूज्य हैं, इसी कारण मेरे मनमें भी आपके प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ है, और उसी आदरभावकी प्रेरणासे मैं इस स्तोत्र काव्यको लिखनेमे प्रवृत्त हुआ हूँ।

उक्त पद्यमे कविकी प्रतिपादन शैली तर्कपूर्ण है। एक सामान्य तथ्यको अनेक युक्तियोंके साथ वैदर्भी शैलीमें अंकित कर दिया है।

एक अन्य पद्यमें रूपक अलंकार द्वारा वीरवचनोंको अमृतौषध कहा है और कविने बतलाया है कि जो व्यक्ति इस अमृतौषध पर आस्था नही करता है और इस औषधके सम्बन्धमें विचिकित्सा करता है, वह इस भवक्लेशको दूर नहीं कर सकता। यहाँ वचनोंमें अमृतौषधका आरोप बहुत ही यथार्थ रूपमें हुआ है।

जनोऽयमन्यः करुणात्मकैरपि स्वनिश्चित-क्लेश-विनाश-काहलैः।
विकुत्सयंस्त्वद्वचनामृतौषधं न शान्तिमाप्नोति भवार्ति-विक्लवः॥ प्र० ८

इसी आशयको स्पष्ट करते हुए कविने आगे भी कहा है कि तपस्या द्वारा अनेक प्रकारसे शरीरको कष्ट देनेवाले बड़े-बड़े ज्ञानी व्यक्ति भी तुम्हारे तत्त्वज्ञानको नही समझनेके कारण बहुत काल पर्यन्त मोक्षको प्राप्त नही करते है।

तपोभिरेकान्त-शरीर-पीडनैर्व्रतानुबन्धैः श्रुत-संपदापि वा।
त्वदीय-वाक्य-प्रतिबोधपेलवैरवाप्यते नैव शिवं चिरादपि॥ प्र० १३

प्रस्तुत पद्यमे काव्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे 'एकान्तशरीरपीडनैः' और 'प्रतिबोधपेलवै.' पद विचारणीय हैं। यहाँ कर्मणि प्रयोग काव्य-सौन्दर्यका आधायक है। 'पेलवैः' पदमें लक्षणा है, इस शब्दका अर्थ है कोमल, अत. पूरे सन्दर्भका अर्थ होगा—तुम्हारे वाक्योंको समझनेमे जो सुकुमार हैं, वे चिरकाल तक मोक्ष प्राप्त नही कर सकते। लक्षणा के प्रकाशमें जिनकी बालबुद्धि है और जो आपके वचनामृतको समझनेमें असमर्थ हैं, उन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे निर्वाणलाभ नही होता है, अर्थ है।

कवि सिद्धसेनके स्तोत्र

द्वात्रिंशिकाओंकी भाषा बहुत हो प्रौढ़ और परिमार्जित है। स्तवन प्रसंगमें दीप्तियुक्त वर्णोंका प्रयोग कर आह्लादका यथेष्ट समावेश किया गया है। कवि उदाहरण द्वारा तीर्थंकरके समक्ष प्रवादियोंके दूर करनेकी बातका समर्थन करता हुआ कहता है—

समृद्धपत्रा अपि सच्छिखण्डिनो यथा न गच्छन्ति गतं गरुत्मतः।
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा न ते गतं यातुमलं प्रवादिनः॥प्र० १२

जिस प्रकार समर्थ पंखवाले होनेपर भी मयूर गरुड़के पास जानेमें असमर्थ रहते हैं, उसी प्रकार प्रवादी सुनिश्चित क्षेत्र पदार्थोंके ज्ञाता होनेपर भी हे प्रभो! आपके पास आने में असमर्थ हैं।

उक्त पद्य में 'समृद्धपक्षाः' विशेषण साभिप्राय है। अतः पुष्टपक्ष—सामर्थ्य रहनेसे ही समस्त कार्य नहीं हो सकते, यह अर्थ ध्वनित होता है। प्रतिपक्षीके प्रभाव और प्रतापके समक्ष प्रवादीकी शक्ति निस्तेज हो जाती है। द्वात्रिंशिकाओंमें उपजाति, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित छन्दोंका व्यवहार पाया जाता है।

विक्रम की छठी सदीमें[1] देवनन्दि पूज्यपाद[2]ने सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति, निर्वाणभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति और चैत्यभक्तिकी रचना की है। ये बारह भक्तियाँ बारह स्तोत्र हैं।

आचार्य पूज्यपादने कविके रूपमें अध्यात्म, आचार, स्तुति, प्रार्थना और नीतिका प्रतिपादन किया है। कवि कहता है कि हे प्रभो! कोई भी व्यक्ति स्नेहसे आपके चरणों की शरणमें नहीं आता है, बल्कि अपने दुःखसे घबड़ाकर ही शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे आपकी शरण में लोग आते हैं। यथा—

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः।
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकर-व्याकीर्णभूमण्डलो
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥१॥

—शान्ति भक्ति, नित्यपाठ संग्रह, कारंजा, १९५६ ई०

कवि आराध्यकी स्तुति करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! जब तक प्रभासे युक्त सूर्यका उदय नहीं होता तभीतक कमल संकुचित रहते हैं, पर सूर्यका उदय होते हीकमल विकसित हो जाते हैं, उनको श्री उन्हें प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार जब तक व्यक्ति

---

[1] Hence the date of Devanandı Pujyapad as arrived at by Sewis Rıce Prof. R. Narsımhamachar, Dr Bubler, Dr Keılhorm and others and hıtherto generally accepted and which is the later half of the 5th Century A. D. (i.e. cırca 450-500 A. D) 'proves to be approximately correct. Dr. J P. Jain —The Jaın Antıquary Vol. XXI No I, P.24.

[2] कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥आदि० पु०, काशी, १।५२।
जो कवियोंमें तीर्थंकरके समान थे अथवा जिन्होंने कवियोंको पथप्रदर्शन करनेके लिए किसी लक्षण ग्रन्थ की रचना की थी और जिनका वचन रूपी विद्वानों के शब्द सम्बन्धी दोषोंको नष्ट करनेवाला है, ऐसे उन देवनन्दी आचार्य का कौन वर्णन कर सकता है।
डॉ० ज्योतिप्रसादजी लिखते हैं - He was a great author, a pre-emınent scholar and a versatıle ginius. .He was a great poet, well versed ın the laws of prosody and a fıne logicıan too—The Jaın Antıquary, Arrah, vol XXI P 26.

आपके चरणोंकी शरण प्राप्त नहीं करता है, तभी तक उसका पाप उसे कष्ट देता है, किन्तु आपके चरणोंकी शरणमें पहुँचते ही समस्त पाप दूर हो जाते हैं—

यावन्नोदयते प्रभापरिकरः श्रीभास्करो भासयं-
स्तावद्धारयतीह पंकजवनं निद्रातिभारश्रमम् ।
यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन्न स्यात्प्रसादोदय-
स्तावज्जीवनिकाय एष वहति प्रायेण पापं महत् ॥७॥

—शान्ति भक्ति, नित्यपाठ सं० कारंजा

ईसवी सन्‌की छठी सदीमें[1] पात्रकेसरी[2] ने जिनेन्द्र गुण संस्तुति या पात्रकेसरी नामक स्तोत्रकी रचना की है। इस स्तोत्रमें पचास पद्य है। अर्हन्त भगवान्‌की सयोगि-केवली अवस्थाका बहुत अच्छा चित्रण किया है। स्तोत्र[3] प्रारम्भ करते हुए कवि कहता है—

जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता,
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ।
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्,
स्फुटार्थनयपेशलां सुगत ! संविधास्ये स्तुतिम् ॥

हे भगवन् ! आपके गुणोंको जो थोड़ी भी स्तुति करता है, उसके लिए वह स्तुति समस्त कर्मक्षयका कारण बनती है। अतएव मैं अत्यन्त आदरपूर्वक नय गर्भित अर्थवाली स्तुतिको करता हूँ।

इस प्रतिज्ञावाक्यके अनन्तर वीतरागीके ज्ञान एवं संयम आदिकी महत्ताका विवेचन विभिन्न प्रकारसे किया गया है। वीतरागीका शासन परस्पर विरोध रहित और सभी प्राणियोंका हितकारक होता है। जो वीतरागीकी शरणमें पहुँचता है, उसे रागादि जन्य वेदना नहीं होती। राग-द्वेष-मोहरूप त्रिदोषको नष्ट कर देनेसे व्यक्ति त्रिभुवनाधिपति होता है। प्रसंगवश अनेक दार्शनिक सम्प्रदायोंकी भी समीक्षा की है। कवि जन्म-जरा-मृत्युसे रहित आराध्यकी स्तुति करता हुआ कहता है—

न मृत्युरपि विद्यते प्रकृतिमानुषस्येव ते,
मृतस्य परिनिर्वृतिर्न मरणं पुनर्जन्मवत् ।

---

[1] हेतुका त्रिलक्षण स्वरूप दिङ्नागके न्यायप्रवेशमें स्थापित किया है और उसका विस्तार धर्मकीर्तिने किया है। पात्रस्वामीका पुराना उल्लेख करनेवाले शान्तरक्षित (ई० ७०५-७६२) और कर्णगोमि (७वीं शती का उत्तरार्ध और ८वीं का पूर्वार्ध) हैं। अत: इनका समय दिङ्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्तरक्षित के मध्यमें होना चाहिए।—डॉ० श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, सिद्धिविनिश्चय, प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५९ई० प्रस्तावना, पृ० २१।

[2] भट्टाकलंक श्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥—आदिपु० ज्ञान० का० १।५३।
पात्रकेसरीका जन्म उच्चकुलीन ब्राह्मणवंशमें हुआ था। ये राज्यके उच्च पदपर प्रतिष्ठित थे। ब्राह्मण समाजमें इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। समन्तभद्रके देवागम स्तोत्रको सुनकर इनकी श्रद्धा परिवर्तित हुई थी।—आराधनाकथाकोष (नेमिदत्त)—जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय हीराबाग, बम्बई सन् १९१५, पात्रकेसरी कथा।

[3] प्रथम गुच्छक, पन्नालाल चौधरी, भदैनी, काशी वि० सं० १९८२, पृ० २८४-२९२ पर मुद्रित।

जरा च न हि यद्वपुर्विमलकेवलोत्पत्तितः
प्रभुत्यरुजमेकरूपमवतिष्ठते प्राङ्मृते: ॥ २७

हे प्रभो! साधारण मनुष्योंके समान आपका जन्म-मरण नही होता। जन्म-मरण होनेसे निर्वाणकी स्थिति घटित नही हो सकती है। अतएव केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे जरा-वृद्धावस्थाजन्यकष्ट भी प्राप्त नही होता। रोग, जन्म, मरण, जरा प्रभृतिका कष्ट हे प्रभो आपको नही होता है।

विरोधाभास अलंकारके नियोजन द्वारा बताया गया है—

सुरेन्द्रपरिकल्पितं बृहदनर्घ्यसिंहासनं तथा तपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम्।
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निस्संगता न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते ॥१॥

इन्द्र द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य सिंहासन, आतप दूर करनेके लिए छत्रत्रय और चामर सुशोभित होते है। त्रिलोकको अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी आपको प्राप्त है, तो भी आप अपरिग्रही हैं। लक्ष्मीका सद्भाव और परिग्रहत्व ये दोनों विरोधी धर्म है, एक साथ नही रह सकते हैं, तो भी ये दोनो आपमें पाये जाते है। आशय यह है कि अंतरंगमें केवलज्ञानादि लक्ष्मी है और बहिरगमें देवो द्वारा किये गये अतिशयोके कारण सिहासन, छत्र, चमर आदि वैभव विद्यमान है।

इस स्तोत्रकी भाषा प्रौढ है। चार-पाँच पदो तकके समस्यन्त पद उपलब्ध है। स्तोत्रमे आत्मनेपदी क्रियाओका उपयोग किया है। संविधास्ये[१], संगच्छते[२], विरुध्यते[३], अश्नुते[४], उपपद्यते[५], परिपूज्यते[६], नरीनृत्यते[७], विद्यते[८], उह्यते[९], छिद्यते[१०], युज्यते[११], अनुषज्यते[१२], गम्यते[१३] एवं चेष्टते[१४] आदि क्रियाएँ प्रयुक्त है।

विक्रमकी सातवी शतीमे मानतुंगाचार्यने भक्तामरस्तोत्र[१५] की रचना की है। यह स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायोमें समानरूपसे समादृत है। इनकी यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है, जिससे उसके प्रत्येक पद्यके आद्य या अन्तिम चरणको लेकर समस्यापूर्ति-आत्मक स्तोत्रकाव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्रकी महत्ताके सम्बन्धमें अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। स्तोत्रमें ४८ पद्य है, प्रत्येक पद्यमें काव्यत्व रहनेके कारण ४८ काव्य कहे जाते है। इस स्तोत्रमे भगवान् आदिनाथकी स्तुति वर्णित है।

बप्पभट्टि (सन् ७४३-८३८ ई०) ने सरस्वतीस्तोत्र[१६] वीरस्तव, शान्तिस्तोत्र और चतुर्विंशति जिनस्तुति[१७] की रचना की है। चतुर्विंशतिकामें ९६ पद्य है और यमकालंकारमें स्तोत्रका गुम्फन किया है। सरस्वती स्तोत्रमे १३ पद्य और वीरस्तवमें ११ पद्य हैं।

१–१४. पात्रकेसरी स्तोत्र पद्य क्रमश १, ६, १३, २२, २२, २६, २६, ३१, ३२, ३४, ३४, ३६, ४४ और ४८।

१५. काव्यमाला सप्तम गुच्छक, पं० दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण सम्पादित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० १-१०।

१६. स्तोत्ररत्नाकर प्रथम भाग, यशोविजय संस्कृत पाठमाला, म्हेसाणा, सन् १९१३ ई० तथा आगमोदय समिति, बम्बई १९२६ ई०।

१७. आगमोदय समिति, बम्बई, वि० सं० १९८२।

बताया गया है कि पांचालदेशमें डुम्बतिथि ग्राममें बप्प नामका क्षत्रिय रहता था, उसकी पत्नीका नाम भट्टि था। इस दम्पतिसे वि० सं० ८०० में एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम माता-पिताके संयुक्त नामके आधार पर बप्पभट्टि रखा गया। वि० सं० ८०७ में मोढरकमें सिद्धसेनाचार्यके पास दीक्षा धारण की थी। गुरुने इनका नाम भद्रकीर्ति रखा, पर संसारमें यह बप्पभट्टिके नामसे प्रसिद्ध हुए।

ईसवी सन्‌की नवम शती (सन् ७८३-८४१ ई०)[1] मे आचार्य विद्यानन्दने श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र[2]की रचना की है। इसमें ३० पद्य है। स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी और मन्दाक्रान्ता छन्दोंका प्रयोग किया गया हं। दार्शनिक स्तोत्र होने पर भी काव्य-तत्त्वोंकी कमी नहीं है। रूपक अलंकारकी योजना करते हुए आराध्यकी भाँतिकी प्रशसा की गयी है—

> शरण्यं नाथाऽर्हन् भव भव भवारण्य-विगति-
> च्युतानामस्माकं निखर-वरकारुण्य-निलय. ।
> यतो गण्यात्पुण्याच्चिरतरमपेक्ष्यं तव पदं
> परिप्राप्ता भक्त्यावयमचल-लक्ष्मीगृहमिदम् ॥ श्रीपुर पा० २९

हे नाथ! अर्हन्! आप संसाररूपी वनमें भटकनेवाले हम संसारियोंके लिए शरण हो—आप हमे अपना आश्रय प्रदान कर संसार परिभ्रमणसे मुक्त करें, यत. आप पूर्णतया करुणानिधान हैं। हम चिरकालसे आपके पदोकी अपेक्षा कर रहे है, आज बडे पुण्योदयसे मोक्षलक्ष्मीके स्थानभूत आपके चरणोकी भक्ति प्राप्त हुई है।

उक्त पद्यमें भवारण्य, कारुण्यनिलय और लक्ष्मीगृहमें रूपककी सफल योजना है।

कविने भक्तिकी निष्ठा दिखलाते हुए अन्य दार्शनिको द्वारा अभिमत आप्तका निरसन किया है। भाषाका प्रवाह और शैलीकी उदात्तता सभीके मनको अपनी ओर आकृष्ट करती है :—

> त्वदन्ये ध्यक्षादि-प्रतिहत-वचो-युक्तिविषया
> विलुप्तायालोक-व्यपकपन-संबन्ध-मनसः ।
> भजन्ते नाप्तत्वं तदिह विदिता बञ्चन-कृतिः
> विसंवादस्तेषां प्रभवति तदर्थापरिगते: ॥ श्रीपुर पा० १६ ॥

ईसवी सन्‌की आठवी शतीमें महाकवि धनंजयने विषापहार[3] स्तोत्रका प्रणयन किया है। इस स्तोत्रमें ४० इन्द्रवज्रा पद्य है; अन्तिम पद्यका छन्द भिन्न है और उसमें कर्ताने अपना नाम सूचित किया है।

---

१. आप्तपरीक्षा, वीरसेवा मन्दिर; सरसावा, १९४७ ई० प्रस्तावना।
२. वीरसेवा मन्दिर सरसावा, सन् १९४९ ई०।
३. काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० २२-२६।

नवम शतीमें जिनसेन द्वितीयका जिनसहस्रनामस्तोत्र[1] मिलता है। इस स्त्रोत्रमें आरम्भके ३४ श्लोकोंमें नाना विशेषणों द्वारा तीर्थंकरको नमस्कार किया गया है। इसके पश्चात् दश शतकोंमें सब मिलाकर जिनेन्द्रके १००८ नाम गिनाये हैं। इन नामोंमें ब्रह्मा, शिव, विष्णु, बुद्ध, इन्द्र, बृहस्पति आदिके भी नाम आ गये हैं।

ग्यारहवी शताब्दीमें धनपाल कविके अनुजबन्धु शोभनमुनिने चतुर्विशति जिनस्तुति[2]की रचना की है, इस पर धनपालकी टीका भी है। इसी शताब्दीमे वादिराज सूरिने ज्ञानलोचनस्तोत्र[3] और एकीभावस्तोत्र[4]की रचना की है। भूपाल कवि कृत जिनचतुर्विंशतिका[5] भी एक प्रसिद्ध स्तोत्र है। आचार्य हेमचन्द्र (जन्म सं० ११४५, मृत्यु सं० १२२९) ने वीतरागस्तोत्र, महादेवस्तोत्र और महावीरस्तोत्र[6] इन स्तोत्रोंका प्रणयन किया है। तेरहवी शतीमें पं० आशाधरने सिद्धगुणस्तोत्रकी रचना की है। रामचन्द्रकृत (११०९-११७६ ई०) आदिदेवस्तव, मुनिसुव्रतदेवस्तव, नेमिस्तव और जिनस्तोत्र, जिनवल्लभ सूरि (१२वीं शती) के भवादिवारण, अजित-शान्तिस्तव, पंचकल्याणस्तव, सर्वजिनपंचकल्याणस्तव, पार्श्वनाथस्तोत्र, सरस्वतीस्तोत्र, सर्वाजिनस्तोत्र, ऋषभजिनस्तुति, जिनप्रभसूरिके (१२५०-१३२५ ई०) के सिद्धान्तागमस्तव[7] ४६ पद्यमय, पार्श्वस्तव[8] १७ पद्यमय, गौतमस्तोत्र[9] २१ पद्यमय, वीरस्तव[10] २५ पद्यमय, वीरनिर्वाणकल्याणस्तव[11] १९ पद्यमय, ऋषभ जिनस्तवन[12] ११ पद्यमय, अजितजिनस्तवन[13] २१ पद्यमय, वीरस्तवन[14] २७ पद्यमय, कुमुदचन्द्रका कल्याण मन्दिर[15], पद्मनन्दी भट्टारकके वीतरागस्तोत्र, शान्तिजिनस्तोत्र, रावणपार्श्वनाथस्तोत्र और जीरापल्लीपार्श्वनाथस्तवन[16], जयतिलक (सन् १३४९-१४१३ ई०) का हारावली चित्रस्तोत्र[17]

---

१. श्री पं० हीरालाल कृत हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५४ ई०।

२. काव्यमाला सप्तम गुच्छक, नि० प्रे० ब०, १९२६ ई०, पृ० १३२-१६०।

३. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, सख्या २१, पृ० १२४ पर मुद्रित।

४. काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, नि० प्रे० ब० १९२६ ई०, पृ० १७-२२।

५. वही, पृ० २६-३०।

६ वही, पृ० १०२-१०७।

७. वही, पृ० ८६।

८. वही, पृ० १०७।

९. वही, पृ० ११०।

१०. वही, पृ० ११२।

११. वही, पृ० ११६।

१२. जैनस्तोत्रसमुच्चय ' मुनि चतुरविजय द्वारा सम्पादित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, वि० सं० १९८४ में मुद्रित, पृ० २६।

१३. वही, पृ० २८।

१४. वही, पृ० ९२।

१५. काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, नि० प्रे० ब०, १९२६ ई०, पृ० २०।

१६. अनेकान्त वर्ष ९ किरण ७, सन् १९४८ में मुद्रित।

१७. वही, वर्ष १, किरण ८-१०, पृ० ५२२।

मुनिसुन्दर (१४वीं शती) का स्तोत्ररत्नकोष, सोमतिलकके वीरस्तोत्र[1] और चतुर्विंशति जिनस्तवन,[2] वस्तुपालकविका अम्बिकास्तवन[3] एवं धर्मशेखर गणिका चतुर्विंशति जिनस्तव[4] अच्छे स्तोत्र हैं। संस्कृत-प्राचीन-स्तवन-सन्दोह[5] में अनिर्दिष्ट लेखक नामवाले ऋषभस्तवन, अजितस्तवन, सम्भवस्तवन, अभिनन्दनस्तवन, साधारण जिनस्तवन, श्रीविंशतिजिनस्तवन, सप्ततिजिनस्तवन, त्रिकालजिनस्तवन, शाश्वताशाश्वत-जिनस्तवन, शत्रुंजयस्तवन, गिरिनारस्तवन, अष्टापदस्तवन आदि शताधिकस्तोत्र मुद्रित हैं। इसी प्रकार जैनस्तोत्र समुच्चय और जैनस्तोत्रसन्दोह[6] में भी अनेक स्तोत्र संग्रहीत हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषामें जैन कवियोंने सहस्राधिक स्तोत्रोंका प्रणयन किया है। इनमें भक्तिभावना और काव्यभावनाकी दृष्टिसे शताधिक स्तोत्र अच्छे हैं।

संस्कृत जैन काव्योंका आभ्यन्तरिक विश्लेषण

सप्तम परिवर्तमें काव्योंके आभ्यन्तरिक तत्त्वोंका विश्लेषण उपस्थित किया जायेगा। संस्कृत भाषामें रचित जैनकाव्योंमें समाज एवं संस्कृतिके तथ्योंकी प्रचुरता है। जैन कवियोने अपने संस्कृतकाव्योंमें मानव और प्रकृतिका सम्बन्ध और संघर्ष, मानवका सामाजिक सम्बन्ध और संघर्ष, विभिन्न प्रकारकी वैचारिक क्रान्ति, सौन्दर्यबोधके मानदण्ड एवं जीवन सम्बन्धी समस्याओंका विश्लेषण किया है। आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीतिके अनेक सिद्धान्त और विचार काव्योंमें प्रस्फुटित हुए है।

स्वानुभूति और सहानुभूति मूलक होनेसे काव्योंमें जीवनकी परिधिका पर्याप्त विस्तार अंकित है। मानवताके विकासमें पहले स्थूल जगत्‌की विशालताने कार्य किया है। बादमें इसी विशालताने क्रमशः सूक्ष्ममें प्रवेश कर व्यंजनाके विस्तार द्वारा स्वानुभूति और सहानुभूतिके क्षेत्रको इतना विस्तृत किया है, जिससे ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अनेक शाखाओंके तत्त्व काव्योंमें मिश्रित हो गये है। फलतः विपत्ति दूर करने और समृद्धिको प्राप्त करनेके हेतु काव्योंमें निबद्ध की गयी सामग्रीमे व्यक्ति और समाजके विभिन्न पहलू उपस्थित रहते है। समाजका यथार्थ रूप काव्योंमें उपलब्ध होता है। जैनकवियोंने मानवतावादकी प्रतिष्ठाके लिए अनेकान्त दर्शनके आलोकमें आख्यानोंको काव्यरूप दिया है। जीवन और निर्जीव पदार्थोंके स्वरूप, गुण, सृष्टिप्रक्रिया, जीवका कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृतिका काव्यकलाके परिप्रेक्ष्यमें अंकन किया गया है। मानवीय योग्य-

---

[1] जैनस्तोत्र समुच्चय, नि० प्रे० ब०, वि० सं० १९८४, पृ० ७६।

[2] वही, पृ० ११४।

[3] वही, पृ० १४३।

[4] वही, पृ० १२१।

[5] सं० मुनि विशालविजय, प्र० विजयधर्मसूरि जैन ग्रन्थमाला, छोटा सराफा, उज्जैन वि० सं० १९९५, प्रस्तावनामें सम्पादकने लिखा है—एतेषु च स्तवनेषु क्वापि कर्तृनाम्नोऽनिर्देशात् प्रतौ च लेखकसमस्यानुल्लेखात् "केन कदा स्तवनानीमानि विरचितानि" इति सम्यग् विनिर्णेतुं न शक्येत, तथापि एतानि स्तवनानि विक्रमीयपञ्चदशाधिकपञ्चदशशतकात् (१५१५) प्राचीनानीत्यनुमीयते। प्र० पृ० ८।

[6] जैनस्तोत्रसन्दोह भाग १-२, सं० मुनि चतुरविजय, प्र० साराभाई मणिलाल नवाब, प्रथम भाग।

ताओंका उत्कर्ष, पाप-पुण्यका प्रपंच, जीवनका मार्ग, शाश्वतसुख, प्रेम-भक्तिका विवेचन एवं विभिन्न संवेदनाओंका रूपायतन किया गया है। अतः इस परिवर्तमें निम्नलिखित तत्त्वोंका विश्लेषण किया जायेगा—

१. काव्यकी पृष्ठभूमि
२. काम, सौन्दर्य और प्रेमतत्त्व
३. कलातत्त्व
४. ज्योतिष एवं शकुनतत्त्व
५. समाज और संस्कृतितत्त्व
६. राजनीतितत्त्व
७. पुराणेतिहासतत्त्व
८. धर्मतत्त्व
९. दर्शनतत्त्व
१०. मनोविज्ञानतत्त्व

●

---

१. वि० सं० १९८६, दूसरा भाग वि० सं० १९९२।

द्वितीय परिवर्त

*

दसवीं शतीतकके चरितनामान्त उपेक्षित संस्कृत महाकाव्योंका परिशीलन

(क) चन्द्रप्रभचरित, प्रद्युम्नचरित और वर्द्धमानचरित काव्योंके रचयिताओंका स्थितिकाल निर्देशपूर्वक परिचय
(ख) कथावस्तु, कथानकस्रोत और कथागठन
(ग) वस्तुव्यापारोंका विश्लेषण
(घ) चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण और सौन्दर्य-विश्लेषण
(ङ) रसभाव योजना, अलंकारयोजना और छन्दोयोजना
(च) भाषाशैली एवं अन्य काव्यचमत्कार
(छ) पूर्ववर्ती कवियोंका प्रभाव-विश्लेषण

दसवीं शतीतकके चरितनामान्त महाकाव्य

प्रथम परिवर्तमें यह लिखा जा चुका है कि संस्कृत भाषाके जैन कवियोंने चरितनामान्त महाकाव्योंकी रचना प्रचुर परिमाणमें की है। इन महाकाव्योंको चार वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. महाकाव्य
२. ऐतिहासिक काव्य
३. एकार्थ या कथाकाव्य
४. काव्य या लघुकाव्य

उपेक्षित चरितनामान्त महाकाव्योंके परिशीलनमें उन प्रतिनिधि रचनाओंको ही ग्रहण किया जायेगा, जो प्रत्येक प्रवृत्ति और युगका प्रतिनिधित्व करती हैं। इन प्रतिनिधि रचनाओंको एक ही परिवर्तमें समाविष्ट करनेसे परिवर्तका कलेवर वृद्धिगत हो जायेगा। अतः यहाँ केवल ई० दसवी शतीके ही महाकाव्योंका परिशीलन रहेगा।

चन्द्रप्रभचरितम्[1]

प्रस्तुत महाकाव्यके रचयिता आचार्य वीरनन्दि हैं। जीवकी उत्तरोत्तर विकास सरणियों द्वारा तीर्थंकर चन्द्रप्रभका अनाविल चरित इस काव्यमें उपस्थित किया गया है, जिससे एक पौराणिक आख्यान भी रोमैण्टिक सुरभिसे सुरभित हो गया है। महाकाव्यके समस्त चरित्र मानवीय धरातलपर मानवीय सम्भावनाओंकी पीठिकामें चित्रित हुए हैं। इसी कारण आदर्शके गहरे रंगोंमें रंगे होने पर भी उनका प्रकृत जीवनसे सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होने पाया है। काव्यमें वर्णित घटनाओंके विस्तृत फलक पर सभी मुख्य रसोंका परिपोष सम्पन्न हुआ है।

रचयिताका परिचय

वीरनन्दि नन्दिसंघ देशीय गणके आचार्य हैं। चन्द्रप्रभकाव्यके अन्तमें जो प्रशस्ति आयी है, उससे ज्ञात होता है कि ये आचार्य अभयनन्दिके शिष्य थे। अभयनन्दिके गुरुका नाम गुणनन्दि था।

बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः।
सदग्रणीर्देशगणाग्रगण्यो गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा॥ च० प्र० श्लो० १

---

[1] काव्यमालांक ३०, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१२ ई० में प्रकाशित।

श्रवणबेलगोलके ४७वें अभिलेखमें बताया गया है कि गुणनन्दी आचार्यके ३०० शिष्य थे; उनमें ७२ सिद्धान्तशास्त्रके मर्मज्ञ थे। इनमें देवेन्द्र सैद्धान्तिक सबसे प्रसिद्ध थे। इन देवेन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य कलधौतनन्दि या कनकनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। कनकनन्दिने इन्द्रनन्दि गुरुके पास सिद्धान्तशास्त्रका अध्ययन किया था।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि और वीरनन्दि इन तीनों आचार्योंको नमस्कार किया है[1]। उनके गोम्मटसार कर्मकाण्डकी एक गाथासे यह भी अवगत होता है कि इन्द्रनन्दि इनके गुरु थे। कनकनन्दि भी गुरुके समकक्ष ही रहे होंगे; यतः इन्होंने उन्हें भी गुरु कहा है[2]। एक अन्य गाथामें बताया गया है कि जिनके चरणप्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि शिष्य अनन्त संसारसे पार हुए हैं, उन अभयनन्दि गुरुको नमस्कार है[3]। अतएव उक्त सन्दर्भोंसे सिद्ध है कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि, दादागुरु गुणनन्दि और सहाध्यायी इन्द्रनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी इनके लघुगुरु भाई प्रतीत होते हैं।

स्थितिकाल

महाकविने चन्द्रप्रभकाव्यकी प्रशस्तिमें इस काव्यके रचनाकालके सम्बन्धमें कुछ निर्देश नहीं किया है। अतः समय निर्णयके लिए अन्तरंग प्रमाणोंका अभाव है। पार्श्वनाथचरितमें वादिराजने (ई० १०२५) चन्द्रप्रभकाव्य और उसके रचयिता वीरनन्दि की संस्तुति करते हुए लिखा है—

> चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम् ।
> कुमुद्वतीव नोधत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥ पार्श्व० १।२०

अतएव यह निश्चित है कि ईसवी सन् १०२५ के पहले ही चन्द्रप्रभचरितम्की रचना हो चुकी थी, तभी तो वादिराजने उसका उल्लेख किया है।

अब विचार यह करना है कि पार्श्वनाथचरितसे कितने समय पहले इस काव्यकी रचना हुई होगी। आचार्य नेमिचन्द्रने इन्द्रनन्दिको अपना गुरु लिखा है तथा वीरनन्दि इन्हीं इन्द्रनन्दिके सहाध्यायी हैं और नेमिचन्द्रके लिखनेके क्रमसे भी यह प्रतीत होता है कि इन्द्रनन्दि और वीरनन्दि नेमिचन्द्रके समकालीन हैं। आचार्य नेमिचन्द्रने अपने गोम्मटसारकी रचना गंगवंशीय राजा राचमलके प्रधानमन्त्री और सेनापति चामुण्डरायकी प्रेरणासे की है। राचमलके भाई रक्कस गंगराजने शक संवत् ९०६-९२१ (सन् ९८४-

---

[1] णमिऊण अभयणंदिं सुदसायरपारगिंदणंदिगुरुं ।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥
—गो० कर्मका०, द्वि० सं०, बम्बई, वि० सं० १९८५, गा० ७८५।

[2] वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं ।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ॥ —वही, गाथा ३९६।

[3] जस्स य पायपसायेण णंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥—वही गाथा ४३६।

९९९ई०) तक राज्य किया है। कन्नड़के महाकवि रन्न ने शक संवत् ९१५ (सन् ९९३ ई०) में 'पुराण-तिलक' नामक ग्रन्थकी रचना की है और उसने स्वयं अपनेको रक्कस गंगराजका आश्रित लिखा है। चामुण्डराय द्वारा श्रवणवेलगोलकी प्रसिद्ध गोम्मट स्वामीकी मूर्ति १३ मार्च ९८१ ई० में प्रतिष्ठित हुई है[1] अतः इन समस्त सन्दर्भोंके प्रकाशमें वीरनन्दिका समय सन् ९५०-९९९ तक आता है। इनका चन्द्रप्रभकाव्य अनुमानतः ई० सन् ९७०-९७५ में लिखा गया होगा। यह पहला जैन चरितकाव्य है, जिसमे महाकाव्यके समस्त लक्षण पाये जाते हैं।

कथावस्तु

घातकी खण्ड द्वीपमें मंगलवती नामके देशमें रत्नसंचय नामका एक नगर है। इस नगरमे कनकप्रभ नामका राजा शासन करता था। इस राजाने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद—इन छह अन्तरंग शत्रुओको अपने वश कर लिया था। इस पराक्रमो राजाकी महिषीका नाम सुवर्णमाला था। कुछ समयके अनन्तर इस दम्पतिको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसका नाम पद्मनाभ रखा गया। एक दिन महाराज कनकप्रभने अपने भवनके प्रासादसे एक बूढ़े बैलको निकटवर्ती सरोवरके दलदलमें फँसते देखा। इस दृश्यको देखकर राजाको विरक्ति हो गयी। अतः वह पद्मनाभका राज्याभिषेक कर अनेक राजाओके साथ प्रव्रजित हो गया। पद्मनाभ की महिषी सोमप्रभादेवी थी, इस रानीके गर्भसे सुवर्णनाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। युवा होने पर सुवर्णनाभको युवराज बना दिया गया। —प्रथम सर्ग

एक दिन पद्मनाभ राजसभामें बैठा हुआ था। मालीने अत्यन्त शालीन ढंगसे एक यतीश्वरके पधारने की सूचना दी। मालीके द्वारा इस सुखद समाचारको सुन कर राजा सादे वेशमें विनीत शिष्यके समान मुनिराजके निकट पहुँचा। श्रीधर मुनिराज की वन्दना कर और धर्मोपदेश श्रवण कर राजाने अपने पूर्वभवका वृत्तान्त उनसे पूछा। मुनिराजने पश्चिम विदेहस्थ श्रीपुर नगर और उसके शासक श्रीषेण राजाका वर्णन आरम्भ किया।—द्वितीय सर्ग।

श्रीषेणकी पत्नीका नाम श्रीकान्ता था। एक दिन राज्य-कार्यों से निवृत्त होकर राजा जब अन्तःपुरमे पहुँचा तो उसने देखा कि रानी हथेली पर कपोल रखे और आँखो मे आँसू भरे हुए खिन्न बैठो है। राजाने उदासीका कारण पूछा। रानीकी बालसखीने कहा—"महारानीने अपने भवनकी छतसे धनिक बालकोको गेंद खेलते एवं अपनी माताओंका अनुरंजन करते देखा है। अतः सन्तान उत्पन्न न होनेसे दुःखी हो गयी हैं।" वसन्तऋतुमे आनन्द नामक अवधिज्ञानी आकाशमार्गसे उतरते दिखलाई पड़े। मुनिराजसे राजाने पुत्र उत्पन्न न होने का कारण पूछा तो उन्होने कहा कि अब शीघ्र पुत्र

---

[1] जैन० भा० आरा, भा० ६ कि० ४ श्रवणबेलगोल एवं वहाँकी गोम्मटमूर्ति पृ० २०५ तथा इसी अंकमें 'गोम्मटमूर्तिकी प्रतिष्ठाकालीन कुण्डलीका फल'।

उत्पन्न होगा। फलतः रानीने गर्भधारण किया और श्रीवर्मा नामक पुत्रको जन्म दिया।—तृतीय सर्ग

श्रीवर्माको सभी कलाओंकी शिक्षा दी गयी। जब वह शिक्षा प्राप्त कर योग्य हो गया तो महाराज श्रीषेण उल्कापातका निमित्त प्राप्त कर विरक्त हो गया और श्रीवर्माका राज्याभिषेक कर दीक्षित हो गया। श्रीवर्माने बड़ी योग्यतासे राज्य-शासनका संचालन किया। उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया और अनेक देशोंको जीतकर अपने राज्य की सीमावृद्धि की। श्रीवर्माका विवाह प्रभावती नामक राजकुमारीसे हुआ। इस दम्पति को श्रीकान्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। शरत् ऋतुमें मेघोंका विलयन देखकर श्रीवर्मा विरक्त हो गया और तपश्चरण कर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ।—चतुर्थ सर्ग

सौधर्म स्वर्गसे च्युत हो श्रीधरदेव अलकापुरीके राजा अजितंजयकी रानी अजितसेनाके गर्भमें आया। जन्म होनेपर कुमारका नाम अजितसेन रखा गया। एक दिन पूर्वभवकी शत्रुताके कारण चण्डरुचि नामक असुरने अदृश्य रूपमें राजकुमारका अपहरण किया। पुत्रके अदृश्य हो जानेसे माता-पिता शोकमग्न हो गये। तपोभूषण नारदसे कुछ समयापरान्त कुमारके लौट आनेका समाचार सुनकर उनका शोक हलका हुआ।—पंचम सर्ग

चण्डरुचिने कुमारको मनोरम नामक सरोवरमें गिरा दिया। यहाँ उसका मल्लयुद्ध हिरण्यक नामक देवसे हुआ। कुमारकी वीरतासे प्रसन्न हो उसने उसको अटवीसे पार कर विपुलपुर नामक नगरमें भेज दिया। यहाँ उसने महेन्द्रको ससैन्य परास्त कर जयवर्माकी सहायता की। जयवर्माने अपनी कन्या शशिप्रभाके साथ कुमार अजितसेनका विवाह सम्पन्न किया और उसने आदित्यपुर निवासी धरणीध्वज विद्याधर राजका वध किया। कुमार घर लौटा और अपने माता-पितासे मिला।—षष्ठ सर्ग

कुमार अजितसेनको पूर्वपुण्योदयसे चक्रवर्तीकी सम्पत्ति प्राप्त हुई। अतः उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया। षट्खण्डको जीतकर वह चक्रवर्ती बन गया। वह अनासक्त भावसे सांसारिक भोगोंको भोगने लगा।—सप्तम सर्ग

वसन्तका पदार्पण हुआ। अजितसेन पुरजन-परिजन सहित वनविहारके लिए गया। यहाँ जलक्रीड़ा भी सम्पन्न की गयी।—अष्टम सर्ग

अन्य व्यक्तियोंने भी वनविहार और जलविहार किया। सन्ध्याके आते ही चक्रवर्ती नगरमें लौट आया।—नवम सर्ग

सन्ध्या हो गयी। क्षणभरमें चन्द्रमा पूर्वदिशाके ललाटके समान शोभित होने लगा। युवक-युवतियाँ सुरत-क्रीड़ामें संलग्न हो गयीं। चक्रवर्ती भी शशिप्रभाके साथ रतिकेलि करने लगा। प्रातःकाल वन्दी-जनोंने मंगलगान द्वारा चक्रवर्तीको जगाया।—दशम सर्ग

अजितसेन सभाभवनमें उपस्थित हुआ। क्रुद्ध गज द्वारा नागरिकोंके कुचले जाने पर उसे विरक्ति हो गयी और वह तपस्वी बन गया। तपश्चरणके प्रभावसे वह अच्युत स्वर्गमें देव हुआ। वहाँसे च्युत होकर वह कनकप्रभ राजाके यहाँ पद्मनाभ नामका पुत्र

हुआ है। यही पद्मनाभ तुम हो। अपने इस पूर्वजन्मके वृत्तान्तको सुनकर राजाने मुनिराजसे उसकी सत्यताके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण चाहा। मुनिराजने कहा—"आजसे दसवें दिन एक हाथी तुम्हारे नगरमें आयेगा और तुम उसे अपने अधीन करोगे।" निश्चित समय पर हाथी आया और राजाने उसे पकड़ लिया।—एकादश सर्ग

एक दिन पद्मनाभके पास पृथ्वीपाल राजाका दूत आया और अपने स्वामीका सन्देश कह सुनाया—हाथी वापस दो या युद्धकी तैयारी करो। मन्त्रियोंके परामर्शसे राजाने युद्ध-निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।—द्वादश सर्ग

युद्धकी तैयारी होने लगी। अस्त्र-शस्त्रसे सज्जित हो, सेनाने प्रस्थान किया। मार्गमें मणिकूट पर्वत मिला। वहाँकी रत्नमयी भूमिको देखकर राजाने वहाँ विहार किया। पृथ्वीपालको पद्मनाभके आक्रमणका समाचार प्राप्त हुआ।—त्रयोदश एवं चतुर्दश सर्ग

पृथ्वीपाल अपनी सेनाको लेकर मणिकूट पर्वतके निकट आया और दोनों ओरकी सेना युद्ध करने लगी। पृथ्वीपालने जब स्वर्णनाभको बन्दी बना लिया तो पद्मनाभको बहुत क्रोध आया और उसने वीरतापूर्वक युद्ध कर पृथ्वीपालको मार डाला। राजा पद्मनाभके समक्ष जब पृथ्वीपालका सिर लाया गया तो उसे संसारसे विरक्ति हो गयी। फलतः वहीं समरभूमिमें पुत्र स्वर्णनाभको अभिषिक्त कर उसने मुनि दीक्षा धारण कर ली और तप द्वारा अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ।—पंचदश सर्ग

चन्द्रपुरी नगरीके महासेन राजाकी रानी लक्ष्मणाके गर्भमें अहमिन्द्रका जीव आया। गर्भ धारणके छह माह पहलेसे ही रत्नवृष्टि होने लगी। रानीको सोलह स्वप्न आये और उसकी सेवाके लिए छप्पन कुमारियाँ उपस्थित हुईं।—षोडश सर्ग

पौषकृष्णा अष्टमीको तीर्थंकर चन्द्रप्रभका जन्म हुआ। इन्द्रने जन्माभिषेक सम्पन्न किया। उन्होंने बालक्रीड़ाएँ कीं। युवा होनेपर उनका विवाह और राज्याभिषेक सम्पन्न किये। सभामें वृद्ध व्यक्तिको देखकर उन्हें विरक्ति हो गयी और तप करने चले गये। लौकान्तिक देवोंने वैराग्यकी वृद्धि की। तपश्चरण द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। कुबेरने समवशरण सभाका निर्माण किया।—सप्तदश सर्ग

तीर्थंकर चन्द्रप्रभने तत्त्व, पदार्थ और ध्यानका उपदेश दिया। श्रावकाचारकी बातें बतलायीं। सम्मेदशिखरसे मुक्ति प्राप्त की।—अष्टादश सर्ग

कथानक स्रोत और उसका गठन

चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके चरितके बीजसूत्र तिलोयपण्णत्तिमें पाये जाते हैं। इस ग्रन्थमें चन्द्रप्रभके माता-पिताका निर्देश करते हुए लिखा है—

चंदपहो चंदपुरे जादो महासेण लच्छिमइआहिं।
पुस्सस्स किण्हएयारसिए अणुराहणक्खत्ते[1] ॥

---

[1] तिलोयपण्णत्ति—जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, वि० सं० २०१२, ४।५३३।

चन्द्रप्रभ तीर्थंकर चन्द्रपुरीमें पिता महासेन और माता लक्ष्मीमती (लक्ष्मणा)-से पौषकृष्णा एकादशीको अनुराधा नक्षत्रमें अवतीर्ण हुए।

इस ग्रन्थमें चन्द्रप्रभकी शिष्यसंख्या, तीर्थप्रवर्तनकाल आदिका भी उल्लेख पाया जाता है। कवि वीरनन्दीने अपने काव्यमें जिस कथानकको निबद्ध किया है, वह उत्तरपुराणसे ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। उत्तरपुराण[1]में बताया गया है कि सुगन्धि नाम देशमें श्रीपुर नामका मनोहर नगर है। इस नगरका शासन श्रीषेण राजा अपनी श्रीकान्ता नामक पट्टरानीके साथ करता था। राजा पुत्रहीन था, अतः वह पुत्र-प्राप्तिके लिए चिन्ता करने लगा। वह सोचने लगा—"स्त्रियाँ संसारकी लताके समान हैं और उत्तम पुत्र उनके फलके समान हैं। यदि मनुष्यके पुत्र नहीं हुआ, तो उसका जन्म निष्फल है। पुत्रका मुखकमल देखे बिना षट्खण्डकी लक्ष्मी भी निरर्थक है। उसने पुत्र प्राप्त करनेके हेतु पुरोहितके उपदेशसे पाँच वर्णके अमूल्य रत्नोंसे मिले सुवर्णकी जिन-प्रतिमाएँ निर्मित करायीं। राजाने अनेक प्रकारकी पूजाभक्ति सम्पन्न की। पुण्यप्रतापसे श्रीकान्ताने गर्भ धारण किया और श्रीवर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा श्रीषेण अपने पुत्र श्रीवर्माको राज्य देकर विरक्त हो गया। श्रीवर्माको भी उल्कापातसे विरक्ति हुई और वह अपने बड़े पुत्र श्रीकान्तको राज्य देकर दीक्षित हो गया। तपके प्रभावसे वह सौधर्म स्वर्गमें श्रीधर नामक देव हुआ। अनन्तर अयोध्या नगरीके राजा अजितंजय और उनकी रानी अजितसेनाके यहाँ अजितसेन नामक पुत्र हुआ। यहाँ चक्रवर्तीकी सम्पत्तिका उपभोग कर उसने बड़े पुत्र जितशत्रुको राज्य सौंप दिया और स्वयं तप करने चला गया। वहाँसे अच्युतेन्द्र हुआ। पुनः रत्नसंचय नगरमें कनकप्रभ राजाके यहाँ पद्मनाभ नामका पुत्र हुआ। बहुत दिनोंतक सांसारिक सुख भोगनेके उपरान्त पद्मनाभ अपने पुत्र सुवर्णनाभको राज्य देकर तपस्वी बन गया। यहाँसे उसने वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। च्युत हो चन्द्रपुर नगरके काश्यपगोत्री महाराजा महासेनके यहाँ चन्द्रप्रभ नामका तीर्थंकर हुआ।

उत्तरपुराणके उपर्युक्त आख्यानको महाकाव्योचित बनानेके लिए कविने वस्तु-व्यापार वर्णनोंकी योजना की है। सन्ध्या, उषा, नगर, उद्यान, सरित्, ऋतु, आकाश, चन्द्रमा, जलक्रीड़ा आदिका काव्यमय चित्रण किया है।

इस महाकाव्यके समस्त कार्यव्यापारोंका रंगमंच बाह्य जगत् है। मानवके मनमें होनेवाली भौतिक घटनाओंके आन्तरिक स्वरूपका उद्घाटन कम मात्रा में हुआ है। कार्यव्यापारोंका नियोजन कविने इस रूपमें किया है कि घटनाएँ एकके बाद एक कर सहज रूपमें विकसित होती गयी हैं। कई जन्मोंमें कथाका विस्तार रहनेपर भी प्रबन्धमें गत्यवरोध या शिथिलता नहीं आने पायी है। प्रबन्ध-शृंखला सुसम्बद्ध और सुगठित है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभका जीव कई जन्मोंमें आध्यात्मिक विकास करता

---

[1] उत्तर पुराण—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५४, ५४वाँ पर्व।

है। अजितसेन चक्रवर्तीके जन्म सम्बन्धी आख्यानमें घटना संघर्ष, तीव्र घात-प्रतिघात एवं नाटकीय रोचकता पायी जाती है। पूर्वजन्मोंकी कथाओके बीचसे ही कमलनालके तन्तुके समान मूलकथाका विकास होता है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभके जीवनमें विभिन्न प्रकार के कार्यव्यापारों का अभाव है। वर्तमान जीवन के चित्रण मे कवि पौराणिकता-से आगे नहीं जा सकता है। अठारह सर्गोंमेंसे केवल तीन सर्गोमे—सोलह, सत्रह और अठारहमें चन्द्रप्रभका चरित अंकित है। इस वर्णनमें विवाह और धर्मरुचि देवका वृद्ध पुरुषके रूपमें राजसभामें उपस्थित होना, इन दो घटनाओके अतिरिक्त अन्य एक भी ऐसी घटना नही है, जिससे पाठकका साधारणीकरणको प्रक्रिया द्वारा अनुरंजन हो सके। अठारहवें सर्गमें धर्मोपदेशका वर्णन होनेसे काव्यसे अधिक दार्शनिकता आ गयी है। काव्यका इतिवृत्त न विरल है और न विशृंखलित ही। एकान्विति पायी जाती है।

महाकाव्यत्व

महाकाव्यके शास्त्रीय लक्षण सन्निहित हैं। १८ सर्गमे कथावस्तु है, सर्गान्तमें छन्द परिवर्तन पाया जाता है। काव्यका आरम्भ मंगलाचरणसे होता है। वस्तुव्यापार, इतिवृत्त, संवाद और भावाभिव्यंजन रूप चारो ही अवयव सन्तुलित रूपमे उपलब्ध है। जीवनकी समग्रताका चित्रण कई जन्मोंकी कथाका अवलम्बन लेकर किया है।

वस्तुव्यापार वर्णन

प्रस्तुत महाकाव्यमें जीवनके बाह्य रूपोका चित्रण कम नहीं हुआ है। मनकी विविध दशाओ और विभिन्न परिस्थितियोमे अनुभूत सत्योकी अभिव्यक्ति भी यथास्थान होती गयी है। प्रसंग प्राप्त वस्तुओं और घटनाओंका विस्तृत और ब्यौरेवार वर्णन उपलब्ध हैं। कविका वस्तुव्यापार वर्णन इतिवृत्तको सरस बनाता है। कवि अटवीका चित्रण करते हुए कहता है—

मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपङ्क्तयः समन्तात्।
पतिता इव तारका नभस्तस्तरुशाखास्खलनेन भान्ति यस्याम् ॥ चं० ६।६

उस अटवीमें सिहके तमाचेसे विदीर्ण हुए हाथियोंके मस्तकोंसे गिरकर बिखरी हुई गजमुक्ताओंको देखनेसे ऐसा जान पड़ता है कि वहाँ ऊँचे वृक्षको डालियोंसे टूटे हुए तारागण आकाशसे गिर पड़े हों।

अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकास्रारुणिता दधाति भूमिः।
रुचिरत्वमरण्यदेवतानां चरणालक्तकचर्चितेव यस्याम् ॥ चं० ६।७

अत्यन्त भयानक भीलोंके भल्ल—बाणोंसे घायल मृगोंके रुधिरसे आरक्त हुई वहाँकी भूमि, वनदेवियोंके पैरोंके महावरसे रंगी-सी मनोहर रहती है।

शबराहतपुण्डरीकयूथैर्विटपालम्बिभिरेकतोऽपरत्र ।
हरिहिंसितसामजास्थिकूटैर्जनसंत्रासकरी पुरीव मृत्योः ॥ चं० ६।८

व्याधोंके हाथों द्वारा मारे गये बाघोंकी खालें एक ओर वृक्षकी शाखाओं पर पड़ी सूखती हैं, और दूसरी ओर सिंहोंके द्वारा आहत हुए हाथियोंकी हड्डियोंके ढेर लगे हुए हैं। वह अटवी यमपुरीके समान भयानक प्रतीत हो रही है।

मदगन्धिषु सप्तपर्णकेषु प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु ।
करिशङ्कितया क्रमं दधाना हरयो यत्र भवन्ति वन्ध्यकोपाः ॥ चं० ६।९

उस अटवीमें हाथीके मदकी तीक्ष्ण सुगन्धवाले सप्तपर्णके वृक्षोंको, जिनके आस-पास घनी लताओंके द्वारा सघन अन्धकार रहता है, हाथी समझकर उन पर आक्रमण करनेवाले सिंहोंका कोप व्यर्थ हो जाया करता है।

सततप्रसृतैरपोढशीताः शयुनिःश्वासचयोष्णितैर्मरुद्भिः ।
गमयन्ति महीधराधिरूढाः शिशिरर्तुं प्लवगाः सुखेन यस्याम् ॥ च ६।१०

वहाँ अजगरोंकी साँससे गर्म होकर चारों ओर फैली हुई वायुसे पर्वतोंपर चढ़े हुए वानरोंका जाड़ा दूर हो जाया करता है और वे शीतकालको सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं।

इसी प्रकार कविने परुषा अटवीका सजीव चित्रण किया है। वसन्त[1], उपवन-यात्रा[2], उपवनविहार[3], जलकेलि[4], सायंकाल[5], अन्धकार[6], चन्द्रोदय[7], रात्रिक्रीडा[8], निशावसान[9], गजक्रीडा[10], गिरि[11], सेना-सन्निवेश[12], संग्राम[13], देश[14], ग्राम[15], नगर[16] बालक्रीडा[17], दिग्विजय[18] और सरित्[19] प्रभृतिका ब्यौरेवार चित्रण किया गया है। सन्ध्या होते ही अन्धकार व्याप्त होने लगा, पक्षी चहचहाते हुए अपने घोंसलोंकी ओर जाने लगे। कविने अन्धकारका सुन्दर चित्रण किया है।

कृतदीप्तरवैर्विहङ्गमैर्निजनीडाभिमुखैः समाकुलाः ।
वियुता इव पद्मबन्धुना प्रविलापं विदधुर्दिगङ्गनाः ॥ च० १०।८

जोर-जोरसे चहचहाते हुए पक्षी अपने घोसलोंकी ओर जा रहे थे। इस प्रकारके पक्षियोंसे युक्त दिशाओंको देखनेसे ऐसा जान पड़ता था कि सूर्यका वियोग होनेसे दिशारूपी रमणियाँ विलाप कर रही हैं।

---

१. अष्टम सर्ग।
२-४. नवम सर्ग।
५-९. दशम सर्ग।
१०. एकादश सर्ग।
११-१३ चतुर्दश सर्ग।
१४-१६. प्रथम एवं तृतीय सर्ग।
१७. सप्तदश सर्ग।
१८. चतुर्थ सर्ग।
१९. त्रयोदश सर्ग।

ककुभो मलिनात्मनाखिलं तमसा व्याप्तमवेत्य विष्टपम् ।
वपुरस्तमुपागते रवाविव विध्वंसभयाददृश्यताम् ॥ चं० १०।९

सूर्यके अस्त होनेपर मलिन अन्धकारसे सब जगत्को व्याप्त देखकर दिशाएँ अपने विध्वंसके भयसे ही मानो अदृश्य हो गयी ।

अवभास्य जगद्गृहं करै रविदीपे विरतिं गते तमः ।
प्रसरद्ददृशे शनैः शनैरिव तत्कज्जलमम्बरे जनैः ॥ चं० १०।१०

जगत्रूपी भवनको प्रकाशित कर सूर्य-दीपके अस्त हो जाने पर लोगोंने देखा कि आकाशमें उसके काजलके समान अन्धकार शनैः शनैः व्याप्त हो रहा है ।

उपर्युक्त पद्यमें कविने अन्धकारको सूर्यरूपी दीपकका काजल कहा है । यह कवि को एक नयी कल्पना है ।

तारागणोंके उदयके सम्बन्धमें उत्प्रेक्षा करते हुए कविने उन्हें आकाशके आँसू कहा है—

ककुभां विवरेषु तारका विहतध्वान्तलवाश्चकासिरे ।
गलिता इव मित्रविप्लवे गगनस्योग्रशुचोऽश्रुबिन्दवः ॥ चं० १०।१५

दिशाओंमे अन्धकारलेशका नाश करते हुए तारागण चमकने लगे । ऐसा मालूम पडता है कि ये मित्र—सूर्यके विनाशको देखकर उग्र शोकसे पीड़ित आकाशके आँसुओं-की बूँदें हैं ।

चन्द्रोदयका रुचिर वर्णन करते हुए उसके रश्मिसमूहको समुद्रमें प्रकाशित मुक्ताराशिके समान कहा है । यथा—

विसरन्बिसतन्तुनिर्मलो विबभासेऽथ नभःपयोनिधौ ।
निकरो रजनीपते रुचामिव मुक्ताफलरोचिषां चयः ॥ चं० १०।१७

कमलनालके तन्तु—धागोंके समान निर्मल चन्द्रमाकी किरणोंका समूह आकाशमें इस प्रकार जान पड़ता था, जैसे समुद्रमें मोतियोके प्रकाशको राशि हो ।

विगलत्तिमिरावगुण्ठनामुडुघर्मोदकबिन्दुसस्मृताम् ।
ददृशुः शिशिरांशुसंगमे सुरतस्थामिव शर्वरी जनाः ॥ चं० १०।२२

अन्धकाररूपी घूँघट खोले और नक्षत्ररूपी पसोनेकी बूँदोंसे सुशोभित मुखवाली रात्रि चन्द्रमाके संगममें सुरतनिरत स्त्रीके समान जान पडने लगी ।

रजनो तमसान्त्यजातिना परिमृष्टा घनवत्मंवत्मंनि ।
प्रविशातुमिवात्मशोधनं प्रविवेशेन्दुमहो महाह्रदे ॥ चं० १०।२८

आकाश मार्गका नीच अन्धकारने स्पर्श कर लिया था, इसीसे इस रात्रिने अपनेको शुद्ध करनेके हेतु ज्योत्स्नाके महान् सरोवरमे प्रवेश किया है ।

तिमिरेभमदुर्नं हिंसितुं शशिसिंहाय गुहाश्रितं नगाः ।
शरणागतरक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति ॥ चं० १०।२९

पर्वतोंने कन्दराओंमें आकर छिपे हुए अन्धकाररूपी हाथीको मारनेके लिए चन्द्रमारूपी सिंहको नहीं सौंपा। यतः सज्जनोंका शरणागतकी रक्षा करनेका स्वभाव कभी नही बदल सकता है।

बिबमावधिरोहदम्बरे विधुबिम्बं क्षणमुद्गमारुणम् ।
जनयद्धरिदिग्वधूजपाकुसुमापीडवितर्कमङ्गिनाम् ॥ १०।२०

उदयके समय अरुण वर्णके चन्द्रमण्डलने आकाशमें ऊपर उठकर क्षणभरके लिए लोगोंके मनमें यह विचार उत्पन्न किया कि वह पूर्व दिशाके मस्तकपर सुशोभित शिरोभूषणरूप जपाकुसुम—गुड़हरका फूल है।

प्रातःकालका वर्णन करते हुए बताया है कि हे नृपश्रेष्ठ ! चन्द्रमाको अस्ताचल की ओर जाते देखकर तुम्हारे मुखचन्द्रको इस जगत्की शोभाके लिए जगाती सी यह रात्रि फैली हुई तारागणकी कान्तिको दुपट्टेकी तरह समेटकर जा रही है[1]। हे राजन् ! पूर्वदिशारूपिणी कुलकामिनीकी माँगपर फैले हुए सिन्दूरकी कान्ति धारण किये हुए यह प्रात.काल शोभित हो रहा है। अब शय्याका त्याग कीजिए। तुम्हारी मुसकानसे मिली हुई कान्तिको प्रात.कालके दीपक धारण करें[2]। लतारूपी तरुणियोंको लिपटाये हुए ये वृक्ष प्रातः मोती ऐसी ओसबूँदोसे अलकृत अंगवाले होकर रतिके श्रमसे उत्पन्न पसीनेकी बूँदोसे सुशोभित तुम्हारे रूपका अनुसरण कर रहे हैं[3]।

इस प्रकार वर्णन वैविध्य द्वारा प्रेम, विवाह, सैनिक अभियान, स्कन्धावार, संग्राम, विजय, तपश्चरण, आत्मशोधन आदिका सफल चित्रण किया गया है।

महच्चरित्र

महच्चरित्र महाकाव्यका आवश्यक तत्त्व है। काव्यके नायक तीर्थंकर चन्द्रप्रभ धीरोदात्त, सद्वंशोत्पन्न और पुण्यपुरुष हैं। उनके चरित्र विकासकी परम्परा कई जन्ममे सम्पन्न हुई है। कविने श्रीवर्मा राजाके भवसे ही चारित्रिक विकास एवं कर्मावरणको तोड़नेका अथक श्रम चित्रित किया है। प्रत्येक आख्यानमें संस्कारोकी दृढ़ता वर्णित है। मुनि—गुरुकृपाको योजना तत्त्वोपदेशकी निष्ठामे सम्पन्न हुई है। जीवको कर्मशृंखलाको तोड़नेके लिए तपश्चरण करना होता है। वह करुणासे भी ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार करता हैं। पद्मनाभमे उत्पन्न हुआ वैराग्य पितृपरम्पराके पूर्वबीजका ही अंकुर है। समस्त महाकाव्यपर वंशरेतस् (Heredity) का अमोघ प्रभाव छाया हुआ हैं। वंशक्रम और जन्म-जन्मान्तर तक चलनेवाले कर्मके दुर्निवारचक्रकी आवृत्ति काव्यको रहस्य और वैज्ञानिकता दोनोंसे भर देती है। मनुष्य आस्रव और बन्धके क्रिया

---

१. चन्द्रप्रभ १०।६३।
२. वही १०।६४।
३. वही १०।६८।

व्यापारोंमें जकड़ा कालक्रममें विकासको प्राप्त मूल्यांकोंके अनुसार अवतरित होता रहता है। श्रीकान्ताने पूर्वजन्ममें गर्भभारसे क्लान्त अन्य स्त्रीको देखकर पुत्र न होनेकी कामना की थी[1], फलतः निस्सन्तान हुई। उक्त कर्मोदयकी निर्जरा हो जानेपर, बन्ध दोष नष्ट हो गया और सन्तान प्राप्ति हुई।

संस्कारोंके चरमफलकी बेला और सहसा आघातके क्षण मेघोंके घनीभूत होने, उनके विलीन होने, विद्युत्की चकाचौंध और मेघोंके गर्जनसे सहसा जीवनका पट परिवर्तित हो जाता है। राजा केलिमें लीन है, जलविहार कर रहा है या पर्वतकी सुषमाको देख रहा है''''तब तक बूढ़े[2] बैलको फँसा देखकर, उल्कापात देखकर या मेघोको विघटित होते देखकर विरक्ति हो जाती है। भोगासक्त जीवन एक ही क्षणमे तपस्वी परिलक्षित होता है। विषयभोगका उन्नयन होनेसे जीव केवल स्वार्थमय न रहकर त्यागशील बन जाता है। जलसिंचन द्वारा जिस प्रकार पृथ्वीकी सुगन्ध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार प्रबल निमित्तका संयोग प्राप्त होते ही सुपुप्त वासनात्मक संस्कार विशृखलित हो जाते हैं और जीवनकी दिशा दूसरी ओर मुड जाती है। इस प्रकार कविने पात्रोका चरित्र आत्मानन्दके धरातलपर प्रतिष्ठित किया है। आध्यात्मिक अनुभूतियोंका विस्तार, वासनात्मक वृत्तियोके संयमन और दमन एवं सास्कृतिक मूल्योका उन्नयन कविने पूर्णतया उपस्थित किया है। चरित्रका विकास अनेक भूमिकाओंमें सम्पन्न हुआ है। नारी-पात्रोके चरित्रोमें कविने पर्याप्त स्वाभाविकताकी योजना की है।

नारी जीवनकी सबसे बड़ी उपलब्धि माता बननेमे है। कवि मानव-जीवन तथा सस्कृतिके पुनीत प्रवाहको सन्तानोत्पत्ति द्वारा निरन्तर गतिमान् बनाये रखता है। वस्तुतः सन्तान प्राप्तिकी लालसा अनादिकालसे चली आ रही है। ऋग्वेदमें भी बताया गया है कि विवाह संस्कारके समय दम्पति कामना करते हैं—"आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः"[3]—प्रजापति देवता हमारे सन्तान उत्पन्न करें। नारीका सबसे पवित्र रूप माताका हैं। निस्सन्तान नारी अपने जीवनको व्यर्थ समझती है। कविने श्रीकान्ताके विचारोंका सुन्दर विश्लेषण करते हुए लिखा है—

तानिन्दुसुन्दरमुखानवलोकयन्ती
चिन्तामगादिति विषण्णमुखारविन्दा।
धन्याः स्त्रियो जगति ताः स्पृहयामि ताभ्यो
यासाममीभिरफला तनयैर्न सृष्टिः॥ चं० ३।३०

सखी कहने लगी—चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले बालकोंको देखकर चिन्तासे इनका—श्रीकान्ताका मुखकमल मलिन हो गया है। इन्होने सोचा कि ऐसे बालकोको

---

[1] चन्द्रप्रभ ३।५४।

[2] वही, १।६६।

[3] ऋग्वेद, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, सन् १९६० ई०, १०।८५।४३।

गर्भमें धारण करनेसे जिनका जन्म सफल हो चुका है, वे स्त्रियाँ धन्य हैं। मैं उनको अपनेसे कहीं अधिक भाग्यशाली समझकर उनके समान होनेकी कामना करती हूँ।

जिन्होंने पूर्वजन्ममें पुण्यसंचय नहीं किया, और इसी कारण जो मेरे समान पुष्पवती होकर भी फलसे हीन हैं, वे बाँझ स्त्रियाँ बन्ध्या लताओंके समान इस लोकमें सुशोभित नहीं होतीं और सभी लोग उनके निष्फल जन्मकी निन्दा करते हैं। गर्भधारण ही स्त्रीका प्रसिद्ध धर्म है।

> या स्त्यानधर्मिणि पुरंध्रिजने प्रसिद्धं स्त्रीशब्दमुद्वहति कारणनिर्व्यपेक्षम्।
> सा हास्यभावमुपयाति जनेषु यद्वदन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः ॥३।१२

जो स्त्री गर्भधारणके बिना ही स्त्रीशब्दको धारण करती है, वह उस अन्धेके समान है, जो अपनेको सुलोचन कहलाना चाहता है।

जब चन्द्रमा आकाशमार्गमें नहीं रहता, तब सूर्यदेव उसे अलंकृत करते हैं और इसी प्रकार हंसोंसे शून्य सरोवरको कमल-समूह सुशोभित करते हैं; किन्तु कुलकामिनियोंके लिए वंशको बढ़ानेवाले बीजरूप पुत्रके सिवा और कोई भूषण नहीं है।

> तेनोज्झितां निजकुलैकविभूषणेन सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन।
> मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां न ज्ञातयो न सुहृदो न पतिप्रसादा. ॥३।१४

उस अपने कुलके एकमात्र अलंकार तथा सौभाग्य, सुख वैभवके स्थिर कारण पुत्रसे रहित मुझ पुण्यहीनाको बन्धु-बान्धव, सुहृद्गण या पतिकी प्रसन्नता अथवा समादर आदि भी सुखी नहीं बना सकते।

इससे स्पष्ट है कि कविने वासनारूपी नारीकी अपेक्षा त्यागरूपी नारीको महत्त्व दिया है। नारी जीवनका यह चित्रण अत्यन्त मनोहर एवं लोकशीलका रक्षक है। पत्नीरूपमें सुवर्णमाला, शशिप्रभा एवं लक्ष्मणाके सुन्दर रूप चित्रित हुए हैं।

इस काव्यके पात्रोंका शील दो सीमान्तोंके बीच आबद्ध है—एक ओर साम्राज्यवादके विस्तारकी लिप्सा लिये हुए युगानुरूप पात्र मिलते हैं, तो दूसरी ओर पुंजीभूत आध्यात्मिक प्रकाशकी पावन किरणोंका स्पर्श या मोहका त्याग कर वैराग्यमें विश्रान्ति पानेवाले। अजितसेन अपनी पटरानी शशिप्रभाके प्रेममें विभोर है। वह वनविहार, जलविहार प्रभृति क्रीड़ाओंको एक रसिक युवकके समान सम्पादित करता है। अपने साम्राज्यवादके विस्तारके हेतु षट्खण्ड पृथ्वीको अपने अधीन करता है और चक्रवर्तीकी उपाधि प्राप्त कर अखण्ड साम्राज्यका भोग करता है। पर जीवनमें एक हलका झटका लगते ही, वह संन्यासी बन जाता है। उसका जीवनमूल्य बदल जाता है, उसे षट्खण्डाधिपतित्व तुच्छ प्रतीत होने लगता है। उसकी समस्त विचारधारा एक दूसरे जीवन मूल्यकी ओर मुड़ जाती है और कठोर तपश्चरण कर निर्वाणका पाथेय संचित कर लेता है। कविकी दृष्टिमें सबसे बड़ा जीवनमूल्य शाश्वत सुख या निर्वाण लाभ ही है। कोई भी पात्र जब अपनी साधना द्वारा उक्त जीवनमूल्यको स्वायत्त कर लेता

है, तो उसे अन्तिम उपलब्धि मिल जाती है। इस प्रकार कवि वीरनन्दिने पात्रोंमें महच्चरित्रकी प्रतिष्ठा की है।

रस-भाव-योजना

रस काव्यका सर्वस्व है। रसके स्वरूपका विश्लेषण करते हुए कहा गया है—"रस अलौकिक चमत्कारकारी उस आनन्दविशेषका बोधक है, जिसकी अनुभूति सहृदय-के हृदयको द्रुत, मनको तन्मय, हृदयव्यापारोंको एकतान, नेत्रोंको जलाप्लुत, शरीरको पुलकित और वचन-रचनाको गद्-गद रखनेकी क्षमता रखती है। यही आनन्द काव्यका उपादेय है और इसको जागर्ति वाङ्मयके अन्य प्रकारोंसे विलक्षण काव्य नामक पदार्थकी प्राण प्रतिष्ठा करती है।"[1]

काव्यके अध्ययनसे सहृदयोंके अन्तस्में रस-संचार होता है, इससे विचार, वितर्क और उद्देश्य तिरोहित होकर आनन्दकी उपलब्धि होती है। कवि वीरनन्दिने चन्द्रप्रभ-चरितम्में रसभावकी सुन्दर योजना की है। सुख-दुःख और आशा-निराशाके द्वन्द्व काव्यात्मक परिपार्श्वमें घटित किये गये हैं।

विचारमिश्रित सुख-दुःखानुभूति भाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने भावका लक्षण लिखा है—"भावका अभिप्राय साहित्यमें तात्पर्य बोधमात्र नहीं है; बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्थाविशेष है, जिसमें शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनोंका योग रहता है।"[2] अतः भावोंके उपयुक्त विषयोंको सामने रखकर सृष्टिके नाना रूपोंके साथ मानव हृदयका सामंजस्य स्थापित करना ही कविका लक्ष्य रहता है। वीरनन्दिने राग और द्वेषके विभिन्न रूपोंको प्रस्फुटित कर रति, हास, शोक, क्रोध प्रभृतिका विश्लेषण किया है। इन्द्रियज संवेदनोंको विभिन्न रूपोंमें उपस्थित कर भावोंका संचार किया गया है। पुत्र प्राप्त होनेपर अजितंजयको भवावलिका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

वह सोचने लगा—"मेरे सूर्य सदृश पुत्र ने अपने तेज-पराक्रम या प्रतापसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर लिया है; अब मेरा यह जन्म सफल हुआ अथवा मुझे अपने जन्मका फल मिल गया।"

मलसङ्गवर्जितमित पृथुतामुदयास्पदं सकलधामवताम्।
घनवर्त्म शीतरुचिनेव करैर्मम दीपितं कुलमनेन गुणैः ॥५।४७

जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी किरणोंसे आकाशको प्रकाशित करता है, उसी तरह इस पुत्रने अपने रूप और गुणोंसे निर्मल और महान्—प्रतिष्ठित तथा सम्पूर्ण तेजस्वियों-के उदयस्थान मेरे वंशको प्रकाशित किया है।

---

[1] विद्यावाचस्पति पं० रामदहिन मिश्र द्वारा लिखित—'काव्यदर्पण', ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, सन् १९५९ ई०, पृ० ४३।

[2] काव्यदर्पण, पटनाके पृ० ५२ भूमि० पर उद्धृत।

कुसुमाद्यथा विटपिनो वपुषो नवयौवनाच्छ्रु तवतः प्रशमात् ।
पुरुषान्वयस्य जगतीह तथा न सुपुत्रतः परमलंकरणम् ॥ ५।४८

जिस प्रकार पुष्प ही वृक्षकी परम शोभा है, युवावस्था ही शरीरका परम शृंगार, शान्ति ही शास्त्रके ज्ञाता पण्डितका आभरण है, उसी प्रकार सुपुत्र ही मनुष्यके वंशका परम अलंकार है ।

चण्डरुचि द्वारा पुत्रका अपहरण होने पर इसी राजाने विलाप करते हुए अगणित भावनाओंकी अभिव्यक्ति की है । कविने इस सन्दर्भमें करुणरसका परिपाक उपस्थित किया है । राजा कहता है—"हे मेरी गोदके आभूषण ! सहसा मुझे यों असहाय अवस्थामें छोडकर हाय तुम कहाँ चले गये ? मुझे शीघ्र दर्शन दो । मैं तुम्हारे बिना अपने प्राण धारण करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ । शैशवावस्थामें तुम्हारे ढिठाई करने पर भी मैंने कभी कठोर वचन नही कहे; फिर क्या कारण है कि मुझ असाधारण स्नेह करने वाले पितासे आज अकारण ही तुम रूठ गये हो । अपने अमृतमय वचन सुनाकर मेरे कानोको तृप्त करो । मैं तुम्हारा पिता तुम्हारे अकारण अनिष्टकी आशंकासे व्याकुल हो रहा हूँ । तुम मेरी दशा पर क्यों ध्यान नही देते । गुणी, सैकड़ो आशाओं और मनोरथों के आश्रयस्थल और अपने वंशरूप सागरके चन्द्रमा तुमको मुझसे छीन लेनेवाले विधाता ने सचमुच पहले निधि दिखाकर पीछेसे आँखें फोड़ दी । मेरे जीवनके दिन उत्सवरहित हो गये । मेरे आत्मीय स्वजन असहाय हो गये और तुम्हारे असह्य वियोगसे दुर्बल शरीरवाला मैं आज मुर्दा हो रहा हूँ । मेरे यश, सुख, वैभव तथा तेजका कारण तुम्ही थे । तुम्हारे चले जानेसे मेरे समस्त सुख, वैभवादि विलीन हो गये । ललित भौंह और नेत्रोंवाला वह सुन्दर मुख और चन्द्रमाकी चाँदनीके समान शीतल और मधुर तुम्हारे वचन, सब चीजें, हे पुत्र ! मेरे पापसे स्मृति शेष रह गयी है । हे पुत्र, वर्षाकालके समान इस असह्य शोकके दुर्दिनमें जो बन्धु-बान्धवो के आँसुओकी नदी बढ़ रही है, उसे सुखानेके लिए एकाएक प्रकट होकर ग्रीष्म ऋतु बनकर आओ । यथा—

प्रविहाय मामशरणं सहसा क्व मदङ्कदोर्लेलित हासि गत. ।
कथु देहि दर्शनमहं हि विना भवतावलम्बितुमसूननलम् ॥ ५।५८
गुणिनं मनोरथशताधिगतं निजवंशवारिधिविधुं विधिना ।
हरता भवन्तमकृपेण मम क्षतमक्षियुग्ममुपदर्श्य निधिम् ॥ ५।६२

पुत्रके तिरोहित हो जानेसे राजा अजितंजयके मनमें नाना प्रकारकी भावनाएँ उत्पन्न हुईं, जिनसे शोककी व्यंजना होती है । वस्तुतः शोक प्राथमिक भावना नहीं है । मनुष्यकी प्रीति, पलायनवृत्ति, वात्सल्य आदिकी सहचर भावना जब इष्ट-वियाग आदि-से विकल हो जाती है, या उसके प्रतिकारमे असमर्थ हो जाती है, तब शोक उत्पन्न होता है ।

शृंगाररस

शृंगाररस और तत्सम्बन्धी भावराशि इस काव्यमें एकाधिक स्थलों पर निबद्ध है। जीवनमें शृंगारकी प्रचुरतम परिव्याप्ति पायी जाती है। अतः कविने प्रेमियोंके मनमें संस्कार रूपसे वर्तमान रति या प्रेमको आस्वादयोग्य बनाकर रसावस्थाको पहुँचाया है। शृंगाररसके संयोग और वियोग दोनों पक्षोंकी सुन्दर व्यंजना हुई है।

शशिप्रभा कुमार अजितसेनसे प्रेम करती है। वह उससे मिलनेके लिए आतुर है। जब अजितसेनकी उसे प्राप्ति नहीं होती, तो वह उदास मनसे सोचा करती है। उसके कपोल पीले पड़ गये हैं। दासियाँ अन्न-जल ले जातीं, तो वह बिना ज्वरके भी अरुचि दिखलाती है। उसके अंग पालेके मारे कमलके समान हो रहे हैं। हृदयमें नाना प्रकारकी चिन्ताएँ समाविष्ट हैं। उसके सन्तापको दूर करनेके लिए सखियाँ नवपल्लवों-की सेज बनाती हैं, पर वह शय्या भी उसके शरीरको दावानलके समान दग्ध करती है। यथा—

परिशून्यमना विचिन्तयन्ती किमपि क्षामविपाण्डुगण्डलेखा।
परिवारसमाहृतेऽन्नपाने ज्वरहीनापि दधात्यरोचकत्वम् ॥ १।६२
परितापविनाशनाय शय्या क्रियते या नवपल्लवैः सखीभिः।
दववह्निशिखावलीव सापि ज्वलयत्यम्बुजकोमलं तदङ्गम् ॥ १।६३

इस सन्दर्भमें अजितसेन आलम्बन विभाव है। प्रकृतिका लुभावना रूप एवं अजितसेनकी वीरता, उसका लावण्य उद्दीपन है। सखियो द्वारा जब उसे अपने प्रेमीके गुणाख्यान सुनाई पड़ते हैं, तो उसके हृदयमे रति-जन्य वासनाकी अग्नि सुलगने लगती है। भोजनत्याग, दीर्घ साँसें लेना, छातीमे मुँह छिपाना, विलाप करना आदि अनुभाव हैं। लज्जा, स्मृति, हर्ष एवं विबोध आदि संचारी है। इन भावोंसे परिपुष्ट रति स्थायीभाव विप्रलम्भ शृंगाररसमें परिणत होकर ध्वनित होता है। शशिप्रभाकी अधीरता और अजितसेन मिलनकी उत्सुकता पूर्वानुराग सूचित करती है।

दशम सर्गमें संयोग शृंगारके अनेक रम्य चित्र हैं। जलक्रीड़ा, सुरतक्रीड़ादिमें संयोग शृंगारके उदाहरणोकी भरमार है।

वीररस

युद्ध वर्णन प्रसंगोंमें वीररसकी अभिव्यंजना हुई है। राजकुमार अजितसेनका पुरुषवेषधारी देवके साथ सम्पन्न हुए युद्धका कविने सजीव चित्रण किया है। जयलक्ष्मी-के आधार स्वरूप राजकुमारने उस पुरुषकी अभिमानपूर्ण और बाणके समान तीक्ष्ण मर्मच्छेदी वाणीको सुनकर कुपित हो मृदुतापूर्वक उत्तर दिया—"इन व्यर्थकी धमकियों से कायर व्यक्ति ही भयभीत हो सकते हैं, निर्भय वीर पुरुष नहीं। मैं अकेला ही सुर-असुरोंसे युद्ध कर सकता हूँ, फिर तुम्हारे समान मनुष्यकीटोंकी क्या गणना? वीर

व्यक्ति डींग नहीं मारते हैं, काम करके दिखलाते हैं। वीरता किसीके छिपानेसे छिप नहीं सकती है। वह तो अपने-आप प्रकट हो जाती है। मैं दम्भकी बात नहीं कहता हूँ, सत्य बोलता हूँ कि मैं एक ही घूँसेसे तुमको धराधामसे विदा कर सकता हूँ।"[1] राजकुमारके इन वचनोंको सुनकर उस पुरुषने लोहेका लठ चलाया। राजकुमारने उस प्रहारको बचाकर उस पुरुषको अपनी भुजाओंमें दबा लिया। यथा—

करणैर्विविधैरशेषबन्धैश्चरणाभ्याहतिभिर्भुजप्रहारैः ।
क्रमजातजयं प्रचण्डशक्त्योश्चिरमङ्गेन तयोर्बभूव युद्धम् ॥ ६।२५
अथ भूपतिसूनुना कराभ्यां स समुत्फाल्य नभस्तले विमुक्तः ।
कृतषोडशभूषणाभिभूषं वपुरादर्शयति स्म दिव्यरूपम् ॥ ६।२६ ।

वनदेवियाँ निश्चल होकर वृक्षजालोंके भीतरसे उनके मल्लयुद्धको देख रही थी। पैंतरे, लपट और हाथ-पैरोंकी चोटोंसे प्रचण्ड शक्तिवाले दोनों योद्धा बहुत देर तक लड़ते रहे। कभी एककी और कभी दूसरेकी जीत होती थी। राजकुमारने एक बार दोनों हाथोंसे पकड़कर उस व्यक्तिको ऊपर आकाशमें उछाल दिया। वहाँ पर उसने सोलह आभूषणोंसे भूषित दिव्यस्वरूप दिखलाया।

इस सन्दर्भमें आलम्बन विभाव पुरुष-वेषमें देव-पुरुष है। उद्दीपन उस देव-पुरुष की अभिमानपूर्ण बातें एवं उसका पराक्रम है। अनुभाव—रोमांच एवं गर्वीली वाणी आदि हैं। गर्व, धृति, स्मृति, हर्ष एवं आवेग आदि संचारी भाव है। उत्साह स्थायी भाव है।

पन्द्रहवें सर्गका आरम्भ ही वीररससे हुआ है। प्रातःकाल संग्राम सूचक पटहध्वनिको सुनकर दोनों ओरकी सेनाएँ सन्नद्ध होने लगती हैं। मेघध्वनिके समान गम्भीर और दिशाओंमें व्याप्त होनेवाली रणभेरीकी ध्वनिको सुनकर शत्रुसेनाकी तो बात ही क्या अचला पृथ्वी काँप उठी। संग्रामके उत्साही योद्धाओंके मन प्रसन्नतासे भर गये। हर्षसे अंग फूलनेके कारण पहलेकी लड़ाइयोंके भरे हुए घाव, फिर फूटने लगे हैं। वीरगण वीररसके आवेशसे कवच आदि पहनकर युद्धके लिए तैयार होने लगे। किसी-किसी वीर पुरुषका शरीर हर्षसे ऐसा प्रफुल्ल हो गया था, जिससे कवच छोटा पड़ गया। उसने उस कवचको उतार दिया और यों ही युद्धमें जानेके लिए तैयार हो गया।[2]

सेनाओंका वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि प्रलयकालकी वायुसे क्षोभको प्राप्त पूर्व और पश्चिम समुद्रकी तरह बढ़ती हुई दोनों सेनाओंकी मुठभेड़ हो गयी। परस्पर देखकर भिड़नेके लिए वीरोंको घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूलने कृपा-सी करके दमभर रोक रखा।[3] मस्त हाथियोंके मदजलके छिड़कावसे धूल दब जाने पर रणभूमिमें

---

[1] चन्द्रप्रभचरितम् ६।१८-२३।
[2] वही १५।१-११।
[3] वही १५।३५-३८।

एक दूसरेको लक्ष्य कर खड़े हुए सुभट बहुत ही शोभित हुए। इस सन्दर्भमें वीररसका सजीव चित्रण हुआ है[1]।

यहाँ दोनों ओरकी सेनाएँ आलम्बन हैं, उनकी उक्तियाँ उद्दीपन हैं, अस्त्रप्रहार आदि अनुभाव और स्मृति, गर्व संचारी भाव हैं। इस सामग्रीसे उत्साही भावकी अभिव्यंजना हो रही है।

भयानक रस

वीररसके सहायकके रूपमें भयानक रसका चित्रण हुआ है। पद्मनाभ राजाकी सेनाके आतंकसे भय व्याप्त हो गया। लोगोंके कोलाहलसे डरकर भागते हुए खच्चरकी पीठपरसे गिरती हुई अन्तःपुरवासिनी स्त्रीके स्तनादि अंगोंसे कपड़ा हट जाने पर उन्हें देख युवकोंका चित्त चलायमान हो उठा। सेनामें हाथीसे डरकर कर्णकटु शब्द करता हुआ ऊँट लम्बी गर्दन किये बोझा फेंककर भागा और इस तरह नटके समान उसने हास्य-रसकी अवतारणा की[2]। हाथीकी चिंघाड़ और फुफकारसे बिचककर मार्गमें बैलोंके भागनेसे गाड़ीके दोनों धुरे टूट गये। अत्यधिक लाभके लिए घूमनेवाले व्यापारीके फीके घड़े उसके हृदयके साथ ही फूट गये[3]।

एक ग्वालिन जा रही थी। अचानक हाथीके आ जानेसे डरके मारे वह हिल उठी। सिर परसे बड़ा भारी दहीका घड़ा गिरकर फूट गया। कुछ समय तक वह खड़ी-खड़ी इस क्षति—नुकसानके लिए सोच करती रही और उसके बाद सड़क से लौट गयी। यथा—

अविदितागमवारणभीभवत्पतनभग्नबृहद्दधिपात्रया।
निववृते क्षणशोचितनाशया नृपपथात्किल बल्लवयोषिता॥ १३।३०

इस सन्दर्भमें आलम्बन विभाव हाथी है और उद्दीपन उस हाथीकी भयानक चेष्टाएँ। रोमांच, स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य आदि अनुभाव हैं और त्रास, शंका, चिन्ता, दीनता आदि संचारी भाव हैं। भय स्थायी भाव भयानक रस उत्पन्न कर रहा है।

बीभत्स रस

वीररसके परिपार्श्वमें बीभत्स रस भी आया है। रणभूमिमें रक्तकी नदी प्रवाहित हो रही है। उसमें जड़से कटी हुई हाथियोंकी सूँड़ें मगर-सी तैर रही हैं। कच्चे मांसके साथ रक्तरूप आसवका यथेच्छ पान कर उन्मत्त हुई डाकिनियाँ नृत्य कर रही हैं। रणभूमिमें पड़े हुए कबन्ध वहाँ नाट्याचार्यके समान जान पड़ते हैं। यथा—

जज्ञे मांसोपदंशासृगासवोन्मत्तचेतसाम्।
डाकिनीनां नटन्तीनां कबन्धैर्नाट्यसूरिभिः॥ १५।५२

---

[1] चन्द्र० १५।४५-५१।

[2] वही १३।१४-२०।

[3] वही १३।२१-२२।

यहाँ रुधिरप्लावित चर्बी और मांससे परिपूर्ण रणस्थली आलम्बन विभाव है। मांस-भक्षी डाकिनियोंका नृत्य करना, उनका कुत्सित रूप-रंग और आहतोंका छटपटाना उद्दीपन है। आवेग, मोह, ग्लानि, निर्वेद प्रभृति संचारी हैं। स्थायी भाव जुगुप्सा उक्त सामग्री द्वारा पुष्ट होता हुआ बीभत्स रसका संचार करता है।

शान्तरस

इस काव्यका अंगी रस शान्त है। पात्र एक छोटेसे निमित्तके मिलते ही निर्विण्ण हो जाते हैं और तत्त्वज्ञान या तपश्चरण द्वारा वैराग्यका उत्कर्ष कर शान्तिकी प्राप्ति करते हैं। कवि महाराज कनकप्रभ की विरक्तिका चित्रण करता हुआ कहता है कि वे एक दिन अपने भवनके ऊपर बैठे हुए नगरके सौन्दर्यका अवलोकन कर रहे थे। एकाएक उनकी दृष्टि समीपवर्ती सरोवरपर पड़ी, जिससे जल पीकर गाय, बैल आदि पशु लौट रहे थे। उन्होंने देखा कि एक बूढा बैल दलदलमें फँस गया है और निकलनेमें असमर्थ है। बैलको इस असमर्थ अवस्थामें मरते देखकर उसे विरक्ति हुई। वह सोचने लगा—"संसारमें उत्पन्न प्राणियोंका जीवन क्षणभरमें नष्ट होनेवाला है, इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही। आश्चर्य तो यही है कि जो लोग संसारको इस असारताको जानते हैं, विज्ञ हैं, वे भी इसके मोहकरूपमें आसक्त हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें दिखलाई पड़नेवाली वस्तु आँख खुलते ही नही रहती, उसी प्रकार इन्द्रियोके विषय—रूप,रस, गन्धादि देखते ही नष्ट हो जाते हैं। जडबुद्धि संसारको इन क्षणविध्वंसी वस्तुओको चाहते हैं, अतः इस प्रकारकी अनात्मज्ञताको धिक्कार है। वही विचारधारा और आगे बढ़ती है—

> ग्रहतं मरणेन जीवितं जरसा यौवनमेष पश्यति।
> प्रतिजन्तु जनस्तदप्यहो स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति ।।१।६९

जीवनके साथ मरण और जवानीके साथ बुढ़ापा लगा हुआ है, इस तथ्यको जानकर भी मन्दबुद्धि अपने हितको नही देखते है !

अग्नि ईंधनके ढेरको जलाकर और सागर सैकड़ों नदियोंका जल पीकर चाहे तृप्त हो जाय, किन्तु पुरुष काम-सुखके भोगसे तृप्त नहीं होता।

इस सन्दर्भमें बूढ़े बैलका दलदलमें फँसना और उस दलदलसे उसका बाहर न निकल सकना; अतएव संसारकी असारताका समक्ष आना आलम्बन विभाव है। उद्दीपन विभावके अन्तर्गत उपदेशरूप उक्तियाँ आती हैं। मनमें निर्मलताका होना अनुभाव एवं धृति, मति, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। निर्वेद स्थायी भाव है। इस प्रकार समस्त सामग्री मिलकर शान्तरसकी पुष्टि करती है।

काव्यनायक चन्द्रप्रभ अपनी राजसभामें एक वृद्ध व्यक्तिको देखकर विषण्ण हो जाते हैं। लौकान्तिक देवो द्वारा उनका वैराग्य प्रबुद्ध होता है और अन्तमें कर्मक्षय कर

निर्वाण प्राप्त करते हैं। अजितसेन चक्रवर्तीको उन्मत्त गजराज द्वारा एक असहाय और निरपराध नागरिकको अपनी सूँड़में लपेटकर मार डालनेका कारुणिक दृश्य देखकर विरक्ति हो जाती है और वह तपश्चरण कर अच्युत स्वर्गमें जन्म लेता है।

अलंकार-योजना

कवि वीरनन्दिने शब्दालंकार और अर्थालंकारोंकी योजना द्वारा भावोंको चमत्कारपूर्ण और रसोद्बोधक बनाया है। यहाँ कुछ अलंकारोंके विश्लेषण प्रस्तुत किये जाते हैं।

१. उपमा

अर्थालंकारोंमें उपमाका प्राधान्य है। कविने विभिन्न प्रकारके उपमानोंकी योजना द्वारा रसोत्कर्ष उत्पन्न किया है। महाराज अजितंजयको पुत्ररहित सभा जीर्ण जंगल के समान प्रतीत हुई। यथा—

इति तर्कयन्विकलमङ्गभुवा गणयन्नरण्यमिव जीर्णमसौ ॥५।५७

इस सन्दर्भमें कुमाररहित राजसभाके प्रति विकर्षण उत्पन्न करनेके लिए जीर्ण, जगल उपमान प्रस्तुत किया है। जीर्ण जंगलमें झाड़-झंखाड़ होते हैं, पर लावण्य नही होता। कविका उपमान कुमाररहित सभाकी शोकमुद्रा एवं उसकी सुषमा शून्यताको अभिव्यक्त करनेमें सक्षम है।

उपवनकी शोभाको सीमन्तिनीके समान आकर्षक बतलाते हुए लिखा है—

पश्य प्रिये परभृतध्वनितच्छलेन मामेष दर्शयितुमाह्वयतीव चैत्रः।
प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेषशोभां सीमन्तिनीमिव पुरोपवनस्य लक्ष्मीम् ॥८।५२

प्रिय! देखो, कोकिलाओंके शब्दके बहाने तिलकपत्रकी विचित्र शोभासे युक्त इस उपवनकी शोभा सौभाग्यवती नारीके समान है, इस शोभाको देखनेके लिए यह चैत्र बुला रहा है।

कविने 'सीमन्तिनी' उपमान द्वारा वसन्तकालीन उपवनकी सुषमाका सुन्दर चित्रण किया है।

२. उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा अलंकार कविको बहुत प्रिय है। इस अलंकारके द्वारा अनुपस्थित वस्तु की मानस प्रतिमा खडी करनेमें सफलता प्राप्त की है। कवि मंगलावत देशकी भूमिका चित्रण करता हुआ कहता है—

निरन्तरैर्यत्र शुकाङ्गकोमलैः समानसस्याङ्कुरसंचयैश्चिताः।
जनस्य चेतांसि हरन्ति भूमयो हरिन्मणिप्रातविनिर्मिता इव ॥१।१२

वहाँकी भूमि तोतोंके अंगके समान कोमल हरे-हरे अन्नके पौधोंके अंकुरोंसे ऐसी मालूम पड़ती है, मानो हरी मणियोंसे बना हुआ फर्श हो हो। अतएव उस भूमिके दर्शन मात्रसे मन मोहित होता है।

नेत्रोंके उज्ज्वल होनेपर कवि उत्प्रेक्षा करता है—

नीलोत्पलानि निजया विजितानि तावत्कान्त्या मया सहजया सह पुण्डरीकैः।
स्पर्धेऽधुना त्वहमितीव विचिन्त्य तस्या नेत्रद्वयं धवलतामगमत्कृशाङ्ग्याः ॥१।९७

रानीके दोनों नेत्र दिन-प्रतिदिन यह सोचकर उज्ज्वल होने लगे कि हमने अपनी सरस कान्तिसे ही नीलकमलोंको जीत लिया है, अतएव अब हमें श्वेत कमलोंसे स्पर्धा कर उन्हें पराजित करना चाहिए।

३. रूपक

कविने नरेशोंमें भ्रमरका आरोप और चरणोमे कमलका आरोप करते हुए कहा है—

निजभर्तृदुर्व्यसनदुःखचितं शरणोज्झितं प्रविलपन्तमिमम्।
सपदि प्रदर्शितपदाम्बुरुहः सुखिनं कुरुष्व नृपभृङ्गचयम् ॥५।६९

हे पुत्र! अपने स्वामीके दुस्सह कष्टसे दुःखित असहाय और विलाप करते हुए इन नरेशभ्रमरोंको शीघ्र अपने चरण-कमल दिखलाकर सुखी बनाओ।

'नगतुङ्गमतङ्गजोग्रनक्रे' (६।५३) में सेनामें समुद्रका और अजितसेनमें मन्दराचलका आरोप किया गया है।

४. अतिशयोक्ति

प्रस्तुतको बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन कर अतिशयोक्ति अलंकारकी योजना की है। श्रीषेणके तेजका वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

नागाः पदातिवृषभास्तुरगा रथाश्च शोभानिमित्तमभवन् खलु यस्य सर्वे।
आक्रम्य मण्डलपतीनखिलान्स यस्मात् सर्वाम्बुभोज वसुधां निजतेजसैव ॥१।७

राजा श्रीषेण अपने तेजसे ही मण्डलेश्वर राजाओंको अधीन करके समस्त पृथ्वीमण्डलका उपभोग करने लगा। हाथी, पैदल, घोड़े और रथ आदि चतुरंगिणी सेना तो उसके यहाँ केवल शोभाके लिए ही थी। वस्तुतः उसके तेजने ही सबको अधीन कर लिया था।

कविने शशिप्रभाके मुखचन्द्रका सर्वदा प्रकाशमान रहनेका वर्णन कर अतिशयोक्ति की योजना की है :—

शशलाञ्छनेऽस्तमितवत्यपि सत्यगमद्यदीयमुखचन्द्रमसा।
स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरद्युतिना जगतीतलं सरजनीकरताम् ॥५।२९

चन्द्रमाके अस्त होनेपर भी पृथ्वीतल चन्द्रमासे रहित नहीं होता था। यतः शशिप्रभा रानीका मुखचन्द्र मन्द मुसकानकी उज्ज्वल चाँदनी फैलाकर प्रकाशमान रहता था।

५. अर्थान्तरन्यास

विशेषसे सामान्यका या सामान्यसे विशेषका समर्थन कर अर्थान्तरन्यासकी योजना की गयी है। यथा—

निजधामविवृद्धिकारिणी न परं चन्द्रमसा विभावरी।
कुमुदिन्यपि भासिता सतां निरपेक्षा हि परोपकारिता ॥१०।४०

अपनी कान्तिको बढ़ानेवाली रातको ही चन्द्रमाने प्रकाशित नहीं किया, साथ ही कुमुदिनीको भी विकसित किया। सज्जन व्यक्ति निरपेक्ष होकर परोपकार करते हैं।

६. दृष्टान्त

उपमेय, उपमान और साधारण धर्मका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नियोजित कर दृष्टान्त अलंकारका प्रयोग किया गया है—

गुणवान्समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः।
दिवसापगमे मलीमसं कमलं पश्य समुज्झित श्रिया ॥१०।१४

गुणी पुरुषकी सब लोग सेवा करते हैं और गुणहीनसे सब दूर भागते हैं, दिनके चले जानेपर कमलको देखो मलिन हो रहा है, लक्ष्मी—शोभाने उसे छोड़ दिया है।

७. दीपक

प्रस्तुत और अप्रस्तुतके एक धर्मका कथन कर दीपक अलंकारकी योजना की जाती है। कवि अजितंजयकी कीर्तिका चित्रण करता हुआ कहता है—

दहनेन येन रिपुवंशततेः सुहृदाननाम्बुजविकासकृता।
न जितः परं दिनमणिर्महसा शशलाञ्छनोऽपि कमनीयतया ॥५।२८

शत्रुवंश समूहके लिए अग्नितुल्य और मित्रोंके मुखकमलके प्रफुल्लित करनेवाले उस राजाने अपने तेजसे केवल सूर्यको ही परास्त नहीं किया; बल्कि कान्तिकी कमनीयतासे चन्द्रमाको भी जीत लिया।

८. भ्रान्तिमान्

जहाँ भ्रमसे किसी अन्य वस्तुको अन्य वस्तु मान लें, वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है। रत्नसंचयपुरके भवनोंके शिखर बहुत ही ऊँचे हैं, अतः शिखरोंपर घूमनेवाले व्यक्तियोंको शिखर प्रदेशके नीचे विचरण करनेवाले बादलोंको देखकर यह भ्रम हो जाता है कि ये हाथी हैं। इसी प्रकार कविने बताया है कि मणिकूट पर्वतकी रत्नमयी भूमिमें आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। बिलाव इस प्रतिबिम्बको ही पक्षी समझकर पकड़नेके लिए झपटता है। यथा—

ज्योम्ना यातः पत्रिणोऽत्र प्रविष्टं रत्नक्षोण्यां वन्यमार्जारपोतः ।
बिम्बं क्रौञ्चे नानुबध्नन्न दृत्ते दिव्यस्त्रीणां मन्तुमन्यत्र दृष्टेः ॥१४।३२

९. अपह्नुति

प्रकृतका निषेध कर अप्रकृत—उपमानका आरोप कर अपह्नुति अलंकारकी योजना की जाती है । बैलके पागुर—घास चबानेका निषेध कर थकानको ही चबानेका विधान करता हुआ कवि कहता है । यथा—

छायासु यत्क्षितिरुहां तृणतोयतृप्तैरोमन्थतत्परमुखैर्वृषभैर्बभूवे ।
तन्नूनमध्वजपरिश्रम एव तेन व्याजेन तैरलसनेत्रयुगैश्चचर्वे ॥१४।६४

प्यास और पानीको प्राप्त कर तृप्त हुए बैल वृक्षोंकी छायामें बैठकर पागुर करने लगे । जान पड़ता है कि इस बहानेसे मार्गकी थकानको ही ये अलस नेत्रवाले बैल चबाने लगे ।

१०. संशय

चण्डरुचि द्वारा अजितसेनके अपहरण किये जानेपर कविने राजा अजितंजयकी विचारधाराका विश्लेषण करते हुए इस अलंकारकी योजना की है—

इदमिन्द्रजालमुत धातुगता विकृतिर्मनः किमुत विप्लवि मे ।
अवलोकयामि यदहं युवराड्विकलामिमां निजसभां परितः ॥५।५५

राजाने कहा—सभाभवनमें मुझे कुमार नही दीख पड़ता, यह क्या बात है ? इन्द्रजाल है या धातुविकार है, अथवा मुझे ही भ्रम हो रहा है ? या पूर्वजन्मके विरोधको स्मरण कर कोई कुपित निर्दयी मायावी राक्षस या असुर पुत्रको एकाएक हर ले गया है ।

११. आक्षेप

विवक्षित वस्तुकी विशेषता प्रतिपादित करनेके लिए आक्षेपालंकारकी योजना की जाती है । श्रीषेण नृपति त्यागकी महत्ता बतलाता हुआ अपनी आसक्तिके कारण त्यागका निषेध करता है—

समस्तमेवंविधमेव पुंसामशाश्वतं जीवितयौवनादि ।
तथापि जानाति न मन्दबुद्धिरस्मादृशः पुत्रकलत्रमूढः ॥४।१९

मनुष्योंका जीवन और युवावस्था अत्यन्त अस्थिर है; तथापि मेरे समान पुत्र और स्त्रीकी ममतामें मूढ मन्दमति मनुष्य उसे नही जानता ।

१२. विषम

बेमेल बातोंका वर्णन कर कविने विषमालंकारकी योजना की हैं । यथा—

तपो वपुर्भिः कठिनैः सुदुष्करं यदर्पितं साधुजनेन मादृशा ।
कथं सहेरन्सुकुमारमूर्तयो भवादृशाः कुङ्कुमलेपलालिताः ॥११।३९

राजन् ! कठिन शरीरवाले मुझ सरीखे साधुजन जिस दुष्कर तपकी आँच नहीं सह सकते, उसको तुम्हारे सरीखे कुंकुम लेपसे ललित सुकुमार लोग कैसे कर सकते हैं ? यहाँ सुकुमार शरीर और कठोर तपस्या इन दोनों बेमेल बातोंका चित्रण किया गया है।

१३. अनुमान

हेतु द्वारा साध्यका चमत्कार पूर्वक ज्ञान करानेके लिए उक्त अलंकारकी योजना की जाती है। यथा—

हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्ग्या हृदि तस्या विनिपत्य तत्क्षणेन।
क्वथता नयनाम्बुनान्तरङ्गः परितापः परिगम्यते गरीयान् ॥६।६३

उसके अंग पालेसे झुलसे हुए कमलके समान हो रहे हैं। उसके हृदयमें अपार मन्थन हो रहा है, अतः उसके गर्म आँसुओंसे ही उसके भीतरी सन्तापका पता लग जाता है।

१४. यथासंख्या

क्रमसे कहे हुए पदार्थोंका इसी क्रमसे अन्वय भी प्रदर्शित कर कविने यथासंख्य अलंकारकी योजना की है। यथा—

सम्पूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिवल्लीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः।
यः पोषणाद्विनयनाद्व्यसनापनोदात्स्वामी गुरुः सुहृदभूदखिलप्रजानाम् ॥३।४

शरद् ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर कीर्तिलताके विस्तारसे सम्पूर्ण पृथ्वी-मण्डलको व्याप्त कर महाराज श्रीषेण पालन करने, शिक्षा देने और कष्ट दूर करनेके कारण समस्त प्रजाके स्वामी, गुरु और सुहृद् भी थे।

१५. परिसंख्या

नगरका चित्रण करते हुए इस अलंकारकी योजना की गयी है—

मदेन योगो द्विरदेषु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता।
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुचेषु यस्मिन् करपीडनानि च ॥१।३२
द्विजिह्वता यत्र परं फणाभृतां कुकेषु चिन्तापरता च योगिषु।
नितम्बिनीनामुदरेषु केवलं दरिद्रतौष्ठेष्वधरत्वसंभवः ॥१।३३

उस नगरमें 'मद'का सम्बन्ध केवल हाथियोंसे ही है, अन्यत्र कहीं कोई मद—नशेका नाम भी नहीं जानता। उपसर्ग—प्र, परा, उप आदि व्याकरणके उपसर्ग केवल धातुओंमें ही होते हैं, अन्यत्र कहीं उपसर्ग—बाधाका नाम भी नहीं सुनाई पड़ता। निपातकी क्रिया केवल शब्दोंमें ही होती है, अन्यत्र कहीं निपात—अधःपतन या विनाश नहीं देख

पड़ता। द्विजिह्व—दो जीभवाले केवल सर्प ही देख पड़ते हैं, और कोई द्विजिह्व—चुगलखोर नही देखा जाता। योगी ही चिन्ता—विचार, ध्यान करते देखे जाते हैं और कोई चिन्ता करते नहीं देखा जाता। दरिद्रता—क्षीणता या कृशताने केवल कामिनियों-की कमरमें हो आश्रय पाया है, अन्यत्र कही दरिद्रताका नाम भी नही है। ओष्ठ ही अधर कहलाता है, और कहीं कोई अधर—दीन जातिका नही दीख पड़ता। यह अलंकार २।१३८-१४० में भी आया है।

१६. एकावली

वस्तुओंके ग्रहण और त्यागकी एक श्रेणी बनाकर वर्णन किये जानेपर एकावली अलंकार होता है। यथा—

तरुराजयः सकुसुमाः कुसुमं फलवत्फलं मधुरतानुगतम् ।
नहि तत्र किञ्चिदपि वस्तु न यज्जनतामुद प्रविदधात्यथवा ॥५।११

अलका नामक प्रदेशके वृक्षोंकी पक्तियाँ पुष्प परिपूर्ण हैं। सब पुष्प फलयुक्त हैं। सब फल मधुर है। वहाँ ऐसी कोई चोज नही है, जो जनसमूहको आनन्ददायक न हो।

१७. पर्यायोक्ति

अभिलषित अर्थका विशेष भंगी द्वारा कथन करनेके लिए पर्यायोक्ति अलंकारका नियोजन किया गया है। यथा—

प्रगमितमरविन्दलोचनायाः प्रणयवता श्रवणावतंसभावम् ।
स्वयमतिविहितादरेण शोकं व्यतरदशोकमपि प्रतीपपत्न्याः ॥९।२१

किसी कमलनयनीके प्रेमीने उसके कानोमें बडे आदरसे जो अशोक पुष्प पहनाया, वह अशोक होनेपर भी उसकी सपत्नीके लिए शोकका कारण बन गया।

इस सन्दर्भमें अशोक कर्णावतंसको पतिप्रेमका कारण होनेसे प्रकारान्तर द्वारा सौतकी ईर्ष्या अभिव्यक्त की गयी है।

१८. सहोक्ति

रूपचित्रण और वस्तुवर्णनमें रमणीयता उत्पन्न करनेके लिए कविने सहोक्ति अलंकारकी योजना की है—

भीमेनापि हतः शक्त्या क्रोधादरिरुरःस्थले ।
निपपात वमन्नस्त्रं सह स्वामिजयाशया ॥१५।७२

भीमने भी सँभलकर क्रोधसे शत्रुके वक्षस्थलको निशाना बनाकर शक्ति मारी। वह रुधिर उगलता हुआ स्वामीके जयकी आशाके साथ गिर पड़ा।

यहाँ 'सह' शब्द रुधिरवमन और जयकी आशाका सम्बन्ध जोड़ता है।

१९. स्वभावोक्ति

व्यक्ति और वस्तुओंके स्वाभाविक चित्रणमें स्वभावोक्ति अलंकारकी योजना की गयी है। कवि लक्ष्मीकी स्वाभाविक चंचलताका चित्रण करता हुआ कहता है कि यह रात्रिमें चन्द्रमाके पास और दिनमें कमलके पास पहुँच जाती है। राजकुमार श्रीवर्माका मुख चन्द्रमा और कमलके समान था, अतः लक्ष्मी—शोभाने चंचल होनेपर भी अपना आश्रय राजकुमार श्रीवर्माको बनाया।

तुषाररश्मिं भजते निशायां दिनागमे याति सरोजषण्डम्।
इति प्रकृत्या चपलापि लक्ष्मीरियेष मोक्तुं न तनुं तदीयाम् ॥ ४।६

श्लेषोपमा २।५, २।१४२, ३।१, १।६१, ५।५१, १३।४६, १३।५० में; श्लेषोपमातिशयोक्ति ५।२४ मे; यमक-अतिशयोक्ति १४।३३ मे और संकर ३।१० में पाया जाता है। शब्दालकारोमें अनुप्रास १।२१ में; यमक ८।१, ८।४ में और श्लेष ७।३२, १५।२६-२८ मे पाये जाते हैं।

छन्दोयोजना

भावोको सशक्त और भाषाको संगीतमय बनानेके लिए छन्दोयोजना आवश्यक है। चन्द्रप्रभ काव्यमें निम्नलिखित छन्दोंका व्यवहार किया गया है—

१. वंशस्थ १।१, २. ललिता १।६४, ३. मालिनी १।८०, ४. पृथ्वी १।८१, ५. पुष्पिताग्रा १।८२, ६. हरिणी १।८३, ७. प्रहर्षिणी १।८४, ८. वसन्ततिलका १।८५, ९. अनुष्टुप् २।१, वसन्ततिलका २।१४३, ३।१, प्रहर्षिणी ३।७५ हरिणी ३।७६, ‥१०. उपजाति ४।१, मालिनी ४।७६, वसन्ततिलका ४।७७, ११. शार्दूलविक्रीडित ४।७८, १२. प्रमिताक्षरा ५।१, पुष्पिताग्रा ५।९०, १३. शिखरिणी ५।९१, शार्दूलविक्रीडित ६।१११, १४. अपरान्तिका ७।१, वसन्ततिलका ७।८०, १५. मन्दाक्रान्ता ७।९१, पुष्पिताग्रा ७।९३, १६. शालिनी ७।९४ १७. स्वागता ८।१, वसन्ततिलका ८।५१, शार्दूलविक्रीडित ८।६२, पुष्पिताग्रा ९।१, मन्दाक्रान्ता ९।२९, ललिता १०।१; १८. कुटकम् १०।७८, शार्दूलविक्रीडित १०।७९, वंशस्थ ११।१, वसन्ततिलका ११।७२, प्रहर्षिणी ११।९०, मालिनी ११।९१, शार्दूलविक्रीडित ११।९२, ललिता १२।१, पुष्पिताग्रा १२।१११, १९. द्रुतबिलम्बित १३।१ प्रहर्षिणी १३।६५, उपजाति १४।१, पृथ्वी १४।२०, द्रुतविलम्बित १४।२१, प्रमिताक्षरा १४।२३, २०. अतिजगती १४।२४, प्रहर्षिणी १४।२६, वसन्ततिलका १४।२७, द्रुतविलम्बित १४।२९, मन्दाक्रान्ता १४।७०, मालिनी १४।७१, अनुष्टुप् १५।१, मालिनी १५।१६०, वसन्ततिलका १५।१६१, मन्दाक्रान्ता १५।१६२, प्रहर्षिणी १६।१, शिखरिणी १६।६७, उपजाति १६।६८, २१. स्रग्धरा १६।६९, मन्दाक्रान्ता १७।९०, वसन्ततिलका १७।९०, शार्दूलविक्रीडित १७।९१, अनुष्टुप् १८।१, वसन्ततिलका १८।१५२ शार्दूलविक्रीडित १८।१५३।

आचार्य कवि वीरनन्दि ने भावोंके उत्कर्ष और अपकर्षके अनुसार छन्दोंमें परिवर्तन किया है। दर्शन या आचार सम्बन्धी तथ्योंके निरूपणके लिए कविने अनुष्टुप् छन्दको अपनाया है। यतः तत्त्वचर्चाके लिए काव्यावरणकी अधिक आवश्यकता नहीं होती। वियोग और करुणाके चित्रणमें मन्दाक्रान्ता, मालिनी और उपजातिका व्यवहार किया गया है। वस्तु व्यापार वर्णनको जहाँ सशक्त बनाना पड़ा है, कविने वसन्ततिलका वृत्तको अपनाया है। नगर, ग्राम, देश सरोवर, उषा, सन्ध्याके चित्रणके लिए कवि ने पुष्पिताग्रा, वंशस्थ, प्रहर्षिणी और ललिता छन्दका प्रयोग किया है। निष्कर्ष यह है कि विषय निरूपणके अनुसार छन्दोंका व्यवहार किया गया है। छन्दवैविध्य काव्यचमत्कारका सूचक है।

भाषा और शैली

भाषा मनोभावों और विचारोंका वहन करती है और शैली उन मनोभावों और विचारोंमें संगति स्थापित करती है। अतः शैली उस अभिव्यक्ति प्रणालीका नाम है, जिसके द्वारा कोई रचना आकर्षक, मोहक, रमणीय और प्रभावोत्पादक बनायी जाय। अच्छी से अच्छी बात भी अनगढ़ शैलीमें रमणीय प्रतीत नहीं होती। अतएव शैलीका किसी भी कृति में अत्यधिक महत्त्व है।

शैलीके उपादान दो तत्त्व हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्यके अन्तर्गत ध्वनि, शब्द, वाक्य, अनुच्छेद, प्रकरण और चिह्न आते हैं। आभ्यन्तरमें सरलता, स्वच्छता, स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता परिगणित है।

चन्द्रप्रभ काव्यको सुभग और मनोरम वैदर्भी शैली है। वर्णन प्रणाली सरल और प्रासादिक है। अलंकार, गुण, शब्दशक्ति आदिका उचित समन्वय हुआ है। व्याकरण सम्मत भाषाकी मंजुलता, मधुरता और सरसता इस काव्यकी सर्वप्रमुख विशेषता है। जिसके कारण अन्तःकरण द्रुत हो जाय, आर्द्र या पिघल जाय वह आह्लाद विशेष माधुर्य कहलाता है[1]। यह शृंगार, करुण और शान्तिरसके निरूपण में पाया जाता है।[2] समासरहित अथवा अल्पसमासवाली मधुर रचना भी माधुर्य व्यंजक होती है। माधुर्य गुणयुक्त पद्य प्रचुर परिमाणमें है।

यथा—

ह्रीतो विहाय मम लोचनहारि नृत्तं गन्तुं शिखी सुमुखि तत्र यदि व्यवस्येत्।
कायंस्त्वया स्मरनिवासनितम्बचुम्बी चीनांशुकेन पिहितो निजकेशपाशः॥८।५४

वहाँ यदि लज्जित होकर मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले नृत्यको छोड़कर मयूर भागना चाहे तो हे सुमुखि! कामदेवके निवासस्थल नितम्बको चूमनेवाले केशपाशको रेशमी वस्त्रसे ढक लेना।

---

[1] चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।—सा० द० छात्र पुस्तकालय, निवेदिता लेन बागबाजार, कलकत्ता, १६२७ई०, ८ प०। ३ सू०

[2] सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।—वही ८ प०। ४ सू०

माधुर्यमिच्छुरतिशायि परिग्रहीतुं चूताङ्कुरप्रसनजातकषायकण्ठः ।
मूकीभवन्परभृतां निवहोऽपि नूनमाकर्णयिष्यति तवाननगाम्रि वाणीम् ॥८।५५

हे सुन्दरि ! आम्रमंजरी खानेसे कसैला हो गया है कण्ठ जिनका ऐसी कोकिलाओं का झुण्ड अत्यन्त मधुरता प्राप्त करनेकी इच्छासे चुप होकर तुम्हारी वाणीको सुनेगा ।

जो गुण चित्तमें शीघ्र व्याप्त हो जाय उसे 'प्रसाद' कहते है ।[1] यह गुण समस्त रसों एवं समस्त रचनाओंमें रह सकता है । सुनते ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसे सरल और सुबोध पद 'प्रसाद' के व्यंजक होते हैं । चन्द्रप्रभकाव्यमें इस गुणका प्रयोग पर्याप्त रूपमें हुआ है । यथा—

कृत्वा करावथ स संकुचदब्जकान्ती सप्रश्रयामिति जगाद गिरं क्षितीशः ।
दन्तावलीविशदरश्मिवितानकेन सिञ्चन्मुनीन्द्रचरणाविव चन्दनेन ॥३।४७

आशीर्वाद पानेके उपरान्त महाराज श्रीषेणने कमलके समान सुन्दर हाथोंको जोडकर अपने उज्ज्वल दाँतोंकी चमकसे मुनिवरके चरणोंमें चन्दन चढ़ाते हुए विनयपूर्वक कहने लगा ।

हस्तेन सुन्दरि मुहुर्विनिवारितोऽपि भृङ्गस्तवाधरदले नवविद्रुमाभे ।
धावन्नशोक-नवपल्लव-शङ्किचेताः स्मेरं करिष्यति न कस्य मुखं वनान्ते ॥८।५८

हे सुन्दरि ! बार-बार हाथसे हटाये जाने पर भी नव विद्रुम सदृश तुम्हारे अधरको अशोकका पल्लव समझकर दौड़नेवाला भ्रमर वाटिकाओंमे किसे हँसाये बिना रहेगा ।

चित्तकी दीप्ति—चित्तका विस्तार होता है, चित्त ज्वलित जैसा हो जाता है, ओज कहलाता है । ओज गुण वीररस, बीभत्सरस और रौद्ररसमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक पाया जाता है ।[2] वर्गोंके प्रथम अक्षरके साथ मिला हुआ उसी वर्गका दूसरा अक्षर और तीसरेके साथ मिला हुआ उसी वर्गका चौथा अक्षर तथा रेफ युक्त वर्ण ट, ठ, ड, ढ, श और ष ये सब ओज व्यंजक है । लम्बे-लम्बे समास भी ओजका सृजन करते हैं ।[3] प्रस्तुत काव्य में इस गुण के पर्याप्त उदाहरण पाये जाते है—

---

[1] चित्तं व्याप्नोति य. क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानल ।
स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥ वही, ८ प०, सू० ८ ।
तथा—
शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवद् सहसैव य ।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति' ॥—का० प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४३ ई०, ८ उ० सू० ४६ ।

[2] दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥—का० प्र० सा० स० प्रयाग, ८ उ० सू० ६२-३ ।
तथा—
ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीर-बीभत्स-रौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥—सा० द०, कलकत्ता, १९२७ ई०, ८ प० ६ सू० ।

[3] वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ । उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढै. सह ॥
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गता' । तथा समासबहुला घटनौद्धत्यशालिनी ॥
—वही, ८ प० ७ सू० ।

करणैर्विविधैरशेषबन्धैश्चरणाभ्याहतिभिर्भुजप्रहारैः ।
क्रमजातजयं प्रचण्डशक्त्योश्चिरमङ्गेन तयोर्बभूव युद्धम् ॥ ६।२५

पैंतरे, लपट और हाथ-पैरों की चोटोंसे प्रचण्ड शक्तिवाले दोनों योद्धा बहुत समय तक लड़ते रहे। कभी एकको और कभी दूसरेको जीत होती थी।

तुरगवारकठोरकरद्रुयीघृतकशागुणपीडितकन्धरैः ।
पथि भयापसरच्छिशुसंकुले स्खलितवेगमगामि तुरङ्गमैः ॥ १३।९

मार्गमें भयसे लड़के—शिशु इधर-उधर भाग रहे थे। इतना कसे हुए थे कि घोड़ोंके पुट्ठोंमें पीड़ा पहुँच रही थी।

तुरगियत्ननिरुद्धमहारयैर्हरिभिरुत्पतितैर्जलदोन्मुखे ।
गगननीरनिधिर्निखिलस्तदा समजनीव तरङ्गितविग्रहः ॥ १३।१०

सवार लोग यत्नसे घोडेके वेगको रोके हुए थे और घोड़े आकाशको ओर जैसे उड़नेके लिए उछल रहे थे। उनकी इस गतिसे आकाश-समुद्रमे मानो तरंगें उठने लगी।

चन्द्रप्रभ काव्यमें वैदर्भी रीतिका प्रयोग हुआ है। माधुर्य व्यंजक कोमल वर्णोंके प्रयोग और अल्पसमासवाले पद ही इस काव्यमें निबद्ध है। कालिदासके समान भाषा सरल और स्वच्छ है।

पूर्ववर्ती कवियोंका प्रभाव

महाकवि वीरनन्दिके समय तक संस्कृत भाषामें कई महाकाव्योंका प्रणयन हो चुका था। अतः कालिदास, अश्वघोष, माघ और भारविके ग्रन्थोका प्रभाव चन्द्रप्रभ पर स्पष्ट लक्षित होता है। कवि वीरनन्दिने शब्द या भाव साम्यको ग्रहण कर भी उसमें नवीनताकी योजना की है। जिस भावको उन्होने ग्रहण किया है उसमे अपनी कल्पनाका मिश्रण कर नया रूप ही प्रस्तुत कर दिया है। कवि वीरनन्दिके चन्द्रप्रभमें महाकवि कालिदासके रघुवंश, मेघदूत और कुमारसम्भवका प्रभाव दृष्टिगत होता है। यद्यपि चन्द्रप्रभ काव्यका कथानक उक्त काव्योके कथानकोसे भिन्न है, तो भी वस्तुवर्णनों, प्रकृतिचित्रणो एवं भावाभिव्यंजनाओमे प्रभाव आ गया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर प्रभावका विश्लेषण किया जायेगा।

रघुवशकाव्यके द्वितीय सर्गके आरम्भमे बताया है कि दूसरे दिन प्रातःकाल रानी सुदक्षिणाने पहले पुष्पमाला, चन्दन लेकर नन्दिनीकी पूजा की, पश्चात् बछड़ेको दूध पिलानेपर बाँध देनेके उपरान्त राजा दिलीपने उस ऋषि को गायको वनमें चरानेके लिए खोला। यथा—

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ २।१ रघुवंश

कवि वीरनन्दिने 'अथ प्रजानां' पदको लेकर तथा उक्त वर्णनका प्रभाव ग्रहण कर राजकुमार श्रीवर्माके विकासका वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि कहता है—

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः।
वृद्धिं स पद्माकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः॥ ४।१

शोभासम्पन्न सुन्दर वह राजकुमार प्रजा-समूहके नेत्रोंको आनन्द देता हुआ दिनानुसार क्रमशः सरोवरकी तरह वृद्धिगत होने लगा।

वीरनन्दिका उपर्युक्त पद्य कल्पना और पदलालित्यको दृष्टिसे रघुवंशके उक्त पद्यकी अपेक्षा निश्चयतः रमणीय है। कवि वीरनन्दिने प्रभाव ग्रहण कर भी उसे एक नवीन रूपमें ही उपस्थित किया है। चन्द्रप्रभ काव्यके चतुर्थ सर्गमें रघुवंशका प्रभाव अन्यत्र भी पाया जाता है। रघुवंशके उपर्युक्त श्लोकका प्रभाव निम्न लिखित पद्य पर भी है—

इति प्रजानामधिपः स्वचित्ते विचिन्तयन्संसृतिफल्गुभावम्।
जगाम वैराग्यमपेतरागो बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः॥ ४।२७॥

रघुवंशके 'अपाशुलानां धुरि कीर्तनीया' (२।२) का प्रभाव चन्द्रप्रभके निम्न पद्य पर है—

निरस्तषड्वर्गरिपुः कृतज्ञो गुणाधिकानां धुरि वर्तमानः।
स मत्सरेणेव समं गुणौघैर्न पस्पृशे दोषगणैः कुमारः॥ ४।१४ चन्द्रप्रभ०

उन कुमारने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन भीतरी छहों शत्रुओंको जीत लिया था। वे कृतज्ञ और स्वयं सब श्रेष्ठ गुणी लोगोंमें भी श्रेष्ठ थे। इस प्रकार उन कुमारमें समस्त गुणोका समवाय देखकर ईर्ष्याके कारण ही मानो सब दोष-समूह उन्हें छूते भी नहीं थे।

कुमार श्रीवर्माके जन्मके समय महाराज श्रीषेणने हर्षविभोर होकर पुत्रोत्पत्तिके समाचारको लानेवाले भृत्योको उसी प्रकार विपुल धनराशि प्रदान की जिस प्रकार महाराज दिलीपने रघुके जन्मके समय भृत्योंको की थी। यथा—

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम्।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे॥ ३।१६ रघुवंश

इसी भावको लेकर कवि वीरनन्दिने कल्पनाका मिश्रण कर लिखा है—

तुष्ट्या ददत्स्वसुतजन्म निवेदयद्भ्यो
देयं न देयमिदमित्यथवा क्षितीशः।
नाज्ञोगणत्प्रमदविह्वलचित्तवृत्ति-
र्विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम्॥ ३।७३ चन्द्र०

जिन्होंने आकर राजकुमारके जन्मका सुसमाचार सुनाया, उनको प्रसन्नताके मारे क्या देनेके योग्य है और क्या नहीं—इसका कुछ भी विचार न करके आनन्द-

विह्वल महाराज श्रीषेणने मुँहमाँगा पुरस्कार दिया। सच है, जब मन आपेमें नहीं रहता, तब वह विचार नहीं कर सकता।

पुत्रोत्पत्तिके समय होनेवाले आमोद-प्रमोदोंका वर्णन दोनों कवियोंने किया है। भावसाम्य होते हुए भी दोनोंकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यथा—

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथिव्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥३।१९ रघु०

इसी भावके आधारपर—

गायत्प्रनृत्यदमितो रमसेन वल्ग–
दुन्मत्ततामिव जगाम पुरं समस्तम्।
तन्नामवञ्च खलु कोऽपि स यस्य नान्त–
र्जज्ञे विकासि हृदयं सहसा द्विषोऽपि ॥ ३।७४

राजकुमारके जन्मकी प्रसन्नतामें चारों ओर इतना गाना-बजाना और नाच-कूद हो रहा था कि सारा नगर ही मानो आनन्दसे मस्त है। उस नगरमें ऐसा कोई शत्रु भी नहीं था, जिसका मन भीतरसे प्रसन्न न हो उठा हो।

महाकवि कालिदासने रघुके जन्मके समय दिशाओंका प्रसन्न—स्वच्छ होना एवं शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुका चलना लिखा है। इसी भावको लेकर कवि वीरनन्दिने चन्द्रप्रभके जन्म समयका विश्लेषण किया है। यथा—

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निमाददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥ ३।१४ रघुवंश

बालक उत्पन्न होनेके समय आकाश स्वच्छ हो गया था, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन चल रहा था और हवनकी अग्निकी लपटें दक्षिणकी ओर घूमकर हवनकी सामग्रीको ग्रहण कर रही थीं। सभी शकुन अच्छे हो रहे थे; यतः इस प्रकारके बालक संसारके कल्याणके लिए ही उत्पन्न होते हैं।

ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट निखिलममलं नभस्तलम्।
तस्य जननसमये पवनः सुरभिर्ववौ सुरमयन्दिगङ्गनाः ॥ १७।२॥ चन्द्रप्रभ

उस बालक—चन्द्रप्रभके जन्मके समय दिशाएँ और समस्त आकाश निर्मल हो गया। दिशारूपी अंगनाओंको सुवासित करती हुई हवा चलने लगी।

कल्पनाकी दृष्टिसे चन्द्रप्रभका यह सन्दर्भ रघुवंशकी अपेक्षा उत्तम है। कविने वायुको सीधे शीतल-मन्द-सुगन्ध न कहकर दिशारूपी अंगनाओंको सुवासित करनेवाली कहा है। अतः काव्यचमत्कार इस पद्यमें अधिक है।

चन्द्रप्रभ काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव 'किरातार्जुनीयम्' और 'माघ' का है। 'किरातार्जुनीयम्' से कविने भावसाम्य और शब्दसाम्य भी ग्रहण किया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। द्रौपदी शत्रुके अभ्युदयको सुनकर क्षुब्ध हो जाती है और वह युधिष्ठिरसे कहती है—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः ।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥१।३१ किरात०

आपके अतिरिक्त वसुधातलमें कौन ऐसा राजा है, जो अनुकूल सहायक सामग्रीके रहते हुए तथा जिसको क्षत्रिय होनेका गर्व है, सन्धि आदि तथा सौन्दर्य आदि राजोचित गुणोंमें अनुरक्त, वंश परम्परासे रक्षित राज्यश्रीको अपनी मनोरमा प्रियतमाकी भाँति अपहृत होने देगा।

कवि वीरनन्दिने उक्त पद्यके भावको कितने प्रकारान्तरसे निबद्ध किया है, यह निम्नांकित उदाहरणमें दर्शनीय है—

रतिप्रदानप्रवणेन कुर्वता विचित्रवर्णक्रमवृत्तिमुज्ज्वलाम् ।
गुणानुरागोपनता कृतार्थतिः प्रसाधिता येन वधूरिव प्रजा ॥१।५२ चन्द्रप्रभ

कनकप्रभने अपनी उन्नतिशील प्रजाको नववधूकी तरह सब प्रकारसे सन्तुष्ट किया। जिस तरह पति अपनी नववधूको रतिक्रीड़ासे प्रसन्न करता हैं, उसी तरह उन्होंने अपनी प्रजाको रति-प्रीतिसे प्रसन्न किया और जिस प्रकार पति भिन्न तरहके उज्ज्वल वर्णोंका रंगोंकी चित्ररचनासे वधूके शरीरको अलंकृत करता है, उसी तरह उन्होने प्रजाको ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंकी उज्ज्वल व्यवस्था से शोभित किया।

द्रौपदी युधिष्ठिरसे सम्मानकी रक्षाके लिए निवेदन करती हुई कहती है—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥२।२० किरात०

लोकभस्म—राखके ढेरको पदाक्रान्त करते हैं, पर जाज्वल्यमान अग्निको पदाक्रान्त नहीं करते। मानी मानहानिकी आशंकासे सुखपूर्वक प्राण विसर्जित कर देते हैं, पर अपनी मान-मर्यादा और तेजको धक्का नहीं लगने देते।

प्रस्तुत भावको ग्रहण कर कवि वीरनन्दिने लिखा है—

अभिमानधनो हि विक्रियां व्रजति प्रत्युत दण्डदर्शनैः ।
प्रशमं न तु याति जातुचित्परिनिर्वाति किमग्निरग्निना ॥१२।०८ चन्द्र०

शत्रुके ऊपर सहसा दण्डका प्रयोग नहीं करना चाहिए। वह राजा अभिमानी होनेके कारण केवल साम—प्रियवचनसे ही शान्त हो जायेगा। अभिमानी मनुष्य दण्डको धमकीसे बिगड जाता है, शान्त नहीं होता। आगको कहीं आग बुझाती है।

सुयोधन प्रजाके अभ्युदयके निमित्त यत्नशील रहता है। कृषकोंको बिना अधिक परिश्रम किये ही अन्नका ढेर सुलभ होता है, जिससे उस देशके निवासियोंको समृद्धिका पता लग जाता है। यथा—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति॥१।१७॥ किरात०

चिरकालसे प्रजाके अभ्युदयके हेतु वह यत्नशील रहता है। उसका राष्ट्र वृष्ट्यम्बुजीवी नहीं है, किन्तु उसने आवश्यकतानुसार स्थान-स्थानपर कूप, तालाब और

नहरोंका निर्माण कराया है। कृषकोंको बिना अधिक परिश्रम किये ही अन्नका ढेर सुलभ है, जिससे उस देशके निवासी खुशहाल हैं। तात्पर्य यह है कि उसके सुप्रबन्धसे उसकी प्रजा दुष्कालका अनुभव कभी नहीं करती।

इस भावकी अभिव्यंजना वीरनन्दिने निम्न प्रकार की है—

नीरन्ध्रैर्विपुलफलैरकृष्टपच्यैः सपन्नं सुरकुरुवत्समस्तसस्यैः ।
न स्प्रष्टुं यमलमवग्रहा ग्रहोत्था निर्दोषं नरमिव दुर्जनापवादाः ॥१६।५॥ चन्द्रप्रभ०

वह देश देवकुरु नामक उत्तम भूखण्डकी तरह निरन्तर फैले हुए और बिना जोते-बोये उत्पन्न होनेवाले समस्त अन्नोंसे सम्पन्न है। निर्दोष व्यक्तिको जिस प्रकार लोकापवाद नहीं छू सकता, उसी प्रकार नवग्रहके कारण होनेवाले दुर्भिक्ष आदि अवग्रह उसे नहीं छू सकते। उस देशमें सिंचाई आदिका बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध है, अतएव वर्षा नहीं होने पर भी वहाँ कृषि अच्छी उत्पन्न होती है। अल्प परिश्रमसे ही वहाँ कृषि बहुत अच्छी उत्पन्न होती है। वह देश फल-पुष्प और धान्यसे परिपूर्ण है।

'किरातार्जुनीयम्' का आरम्भ "श्रोः" शब्दसे हुआ है। 'चन्द्रप्रभचरितम्' का प्रारम्भ भी उसी "श्रो" शब्दसे होता है। दोनोंमें वंशस्थ छन्द है तथा प्रारम्भ करनेकी शैली एक है। यथा—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्तवेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥१।१ किरात०

कुरु देश निवासियोंके स्वामीकी राज्यश्रीकी रक्षा करनेमें समर्थ प्रजावर्गके साथ किये जानेवाले व्यवहारको समझनेके लिए जो किरात ब्रह्मचारीके स्वरूपमें भेजा गया था, वह सम्पूर्ण वृत्तान्तोंका यथावत् ज्ञान करके युधिष्ठिरके पास द्वैतवनमें लौट कर आया।

श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता ।
सभा बभौ रत्नमयी महोत्पलैः कृतोपहारेव स वोऽग्रजो जिनः ॥१।१ चन्द्र०

दर्शनके लिए आये हुए देवगणके नृत्यके समय, उनके चंचल नेत्रोंके प्रतिबिम्ब पड़नेसे, जिनकी रत्नमयी सभा, कमलोंके उपहारकी पुष्पांजलिको लिये खड़ी-सी जान पड़ी और शोभित हुई वे प्रथम जिन श्री ऋषभदेव शोभा और वैभवको दें।

'चन्द्रप्रभचरितम्' में "अधिरुह्य स तत्र विस्मितास्यैः" (६।१००) पद्य किरातके "अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः" (६।१७ किरात०) से; "अन्योन्यदर्शनसमुच्छलितेन भूयः" (१४।५२) पद्य किरातके "अन्योन्यरक्तमनसामथ" (९।७४); "गतैः समासत्तिमिवेतरेतरश्रियाम्" (१।२०) पद्य किरातके "गतैः सहावैः कलहंसविक्रमं" (८।२९) पद्यसे; "गुणसंपदा सकलमेव जगल्लङ्घयन्तम्" पद्य किरातके "गुणसंपदा समधिगम्य परं महिमानमत्र" पद्यसे; "जलदनादगभीरमथध्वनि" (१३।४८) पद्य किरातके "जलदजालघनैरसिताश्मनाम्" (५।४८) से; "बहुशः प्रणिपत्य बोधिता प्रियवाग्भिः प्रणयेन" पद्य किरातके "बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातुं प्रियमिच्छन्नथवा" (१३।१०)

एवं "विधाय मौलं बलमात्ममूले स नीतिमानाटविकं बहिःस्थम्" (४।४७) पद्य किरातार्जुनीयम् के "विधाय रक्षां परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः" (१।१४) से प्रभावित लक्षित होता है। कवि वीरनन्दिने प्रभाव ग्रहण कर भी भावसामग्रीकी अपूर्व योजना की है। जीवनकी अनुभूतियों, आदर्शों एवं तथ्योंके वर्णनमें कविकी दृष्टि भावपूर्ण और कल्पनापूर्ण होती गयी है। राज्यव्यवस्था एवं राज्यसंचालन सम्बन्धी सिद्धान्त कविने किरातसे अवश्य ग्रहण किये हैं, पर उन सिद्धान्तोंका समावेश एक भिन्न प्रकारकी भावभूमि पर ही प्रस्तुत किया है। अतएव इसे कवि मौलिकतामें ही परिगणित किया जायेगा।

'किरात' के समान ही 'चन्द्रप्रभकाव्य' पर 'शिशुपालवध' का भी प्रभाव है। अपूर्व प्रतिभा और विभिन्न शास्त्रोंके अगाध साहित्यके साथ माघकी उपस्थिति संस्कृत काव्यकी दिशामें एक नवीन चमत्कार है। माघके काव्य वैभवसे उत्तरकालमें आनेवाले कवि प्रभावित हुए बिना न रहे। यद्यपि 'चन्द्रप्रभ' का कथानक 'माघ' के कथानककी अपेक्षा बिलकुल भिन्न है, उद्देश्य और तथ्यनिरूपणकी दृष्टिसे भी दोनों काव्य नितान्त भिन्न है, तो भी वस्तुवर्णनों पर माघका प्रभाव परिलक्षित होता है।

कवि वीरनन्दिने मरुभूति मन्त्री और युवराज सुवर्णनाभके बीच हुए वार्तालापमें शिशुपालके वधके समर्थनके हेतु सम्पन्न हुए श्रीकृष्ण और बलदेवके वार्तालापसे प्रभाव ग्रहण किया प्रतीत होता है। मरुभूति मन्त्रीने नीतिका अवलम्बन लेकर राजसभा मे कहा कि पृथ्वीपाल राजाके साथ सामका व्यवहार होना चाहिए। युवराज सुवर्णनाभको मन्त्रीका यह कथन रुचिकर प्रतीत न हुआ और वह कहने लगा कि मदान्ध और अन्य व्यक्तिका अपमान करनेके लिए प्रस्तुत पुरुषके प्रति दण्डका प्रयोग करना ही बुद्धिमानीकी बात है। जब तक शत्रु पर आक्रमण नहीं करते, तब तक वह सुवर्णके समान भारी प्रतीत होता है, पर आक्रमण करते ही वह तृणके समान हलका हो जाता है। जो स्वाभिमानी व्यक्ति शत्रुओंके अत्याचार सहन करता रहता है, उसका जन्म निरर्थक है। प्राण देकर भी अपने स्वाभिमानकी रक्षा करनी चाहिए। कवि कहता है—

मृत एव विलीन एव वा वरमप्राप्तभवः पुरैव च।
न पुमान्परिभूतिजीवितः सहते कः खलु मानखण्डनम् ॥१२।९६ चन्द्रप्रभ०

चाहे जन्मके पहले ही मर जाय या विनष्ट हो जाय, किन्तु पराधीन होकर रहना अच्छा नही। मानके विनाशको कौन सह सकता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ माघके काव्यसे प्रभावित है। माघ काव्यके द्वितीय सर्गमें बताया गया है कि बलराम शिशुपालके अत्याचारों और अपराधोंका विवेचन करते हुए कहते हैं कि उसके साथ सन्धि नहीं की जा सकती है। जो व्यक्ति क्रोधयुक्त शत्रुके साथ विरोध कर उसमें उदासीन हो जाता है, उसकी उपेक्षा करता है, वह घासके ढेरमें जलती हुई आगको डालकर हवाके रुखके सामने सोता है। अतएव स्पष्ट है कि क्रुद्ध शत्रुके साथ विरोध कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो स्वाभिमानी दूसरोंके

द्वारा पहुँचाये गये अपमानको सहता है, उसके जीवित रहनेकी अपेक्षा मृत्यु श्रेयस्कर है।

कुमार अजितसेनका अपहरण होने पर महाराज अजितंजय विलाप करने लगे। पुत्रशोकसे राजाका हृदय आहत हो गया। क्षणभरके लिए उनको मूर्च्छा आ गयी। चन्दनमिश्रित जल छींटने एवं अन्य अनेक उपाय करने पर राजाकी मूर्च्छा दूर हुई। इसी समय तपोभूषण नामक चारणमुनि आकाश मार्गसे आये। चारणमुनिके आनेका और सभासदों द्वारा आश्चर्य और कुतूहलसे देखे जानेका चित्रण माघ काव्यके प्रथम सर्गमें वर्णित नारद आगमन तथा द्वारिकावासियों द्वारा आश्चर्य और कुतूहलपूर्ण देखे जानेके समान है। कवि वीरनन्दि इस सन्दर्भमें माघसे अवश्य प्रभावित हैं। यथा—

दधानमिन्दोः परिवेषभाजस्तुलामतुल्याङ्गरुचा परीतम् ।
तदा तमुद्ग्रीवमुदीक्षमाणा सर्वा सभा विस्मयमाजगाम ॥५।७३ चन्द्र०

पुरवासियोने अन्तरिक्षमें तपोभूषण नामक चारण मुनिको देखा। अपने शरीर की अनुपम कान्तिके मण्डलसे घिरे हुए मण्डल युक्त चन्द्रमाके समान शोभायमान उन मुनिराजको, सब सभासद् लोग विस्मयके साथ गर्दन उठाकर निहारने लगे।

उन्हे देखकर सब लोग अपने मनमें तर्क करने लगे कि ये सूर्यनारायण तो नही हमारे राजाको विलाप करते देख करुणासे कोमल भाव धारण कर समझानेके लिए आ रहे है? इतने ही में वे मुनिराज शीघ्र ही राजाके निकट आकर उपस्थित हो गये[1]।

मुनिराजके चरणोको प्रक्षालित करनेके उपरान्त राजा अजितंजयने उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। अनन्तर कुन्द-कुसुम-सदृश अपनी दन्तकिरणोकी कान्तिसे उनके चरणोमें पुष्पांजलि ही अर्पित की।

तस्मिन्नधीताशिषि साधुमुख्ये सप्रश्रयां वाचमुवाच भूपः ।
दन्तांशुभिः कुन्ददलैरिवासौ समर्चयन्पादयुगं तदीयम् ॥ ५।८० चन्द्रप्रभ०

वे साधुप्रवर जब आशीर्वाद दे चुके तब कुन्द-कुसुम-सदृश दन्तप्रभाकी किरणोंसे उनके चरणोंमें पुष्पाजलि-सी अर्पण करते हुए राजाने विनयपूर्वक कहा।[2]

चन्द्रप्रभचरितम्के "उदयाद्रिशिरःश्रितः शशी शशमन्तर्गतमाजिघांसुना" (१०।२०) पद्य पर माघके "उदयशिखरशृङ्गप्राणेष्वेष रिङ्गत्" (११।४७) का; और "इत्थं नारीः क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्नीतिदक्षः" (७।९१) पर माघके "इत्थं नारीर्घटयितुमलं कामिभिः काममासन्" (९।८७) का प्रभाव लक्षित होता है। चन्द्रप्रभमें वर्णित जलकेलिपर माघके अष्टम सर्गमें वर्णित जलक्रीड़ाका प्रभाव दिखलाई पड़ता है। वनक्रीड़ाकी अनेक कल्पनाएँ भी माघसे प्रभावित परिलक्षित होती हैं। कवि

---

१. माघ १।१९-२।
२. वही १।९६।

वीरनन्दिने किरात और माघकी शैली पर इस काव्यका प्रणयन कर भी मौलिकताओंका पूर्ण समावेश किया है। दर्शन और आचारके स्थल ही भिन्न नहीं हैं, अपितु वर्णनशैली, वस्तुगठन एवं जीवन सन्देश उक्त दोनों महाकाव्योंसे भिन्न हैं। शृंगारको शान्तरसमें परिवर्तित कर देनेकी कलामें कवि नितान्त पटु है। कामयोगसे युक्त चित्र अचानक एक छोटेसे निमित्तको प्राप्त कर किस प्रकार परिवर्तित हो जाते हैं, यह दर्शनीय है। एक साथ ही शृंगार और वैराग्यके झटके व्यक्तिको लगते हैं, उसकी अन्तरात्मा शान्तिका पाथेय प्राप्त कर तृप्त हो जाती है। रस निष्पत्तिकी प्रक्रियासे निष्पन्न भाव सार्वजनिक और सार्वकालिक है। वस्तु वर्णन हृदयकी रागात्मक शक्तिके उन्मेष और विकासमें उद्दीपक है।

प्रद्युम्नचरित[1]

इस चरित महाकाव्यमें चौदह सर्ग हैं। इसके रचयिता महाकवि महासेन है। परम्परा प्राप्त कथानकको कविने महाकाव्योचित गरिमा प्रदान की है।

रचयिताका परिचय

महासेन लाट-वर्गट या लाड़-बागड़ संघके आचार्य थे। प्रद्युम्नचरितकी कारंजा भण्डारकी प्रतिमें जो प्रशस्ति दी हुई है, उससे ज्ञात होता है कि लाट-वर्गट संघमें सिद्धान्तोंके पारगामी जयसेन मुनि हुए और उनके शिष्य गुणाकरसेन। इन गुणाकरसेनके शिष्य महासेन सूरि हुए, जो राजा मुंज द्वारा पूजित थे और सिन्धुराज या सिन्धुलके महामात्य पर्पटने उनके चरणकमलोंकी पूजा की थी। इन्हीं महासेनने प्रद्युम्नचरित काव्यकी रचना की और राजाके अनुचर विवेकवान् मघनने इसे लिखकर कोविदजनोंको दिया।[2]

प्रद्युम्नचरितके प्रत्येक सर्गके अन्तमें आनेवाली पुष्पिकामें 'श्रीसिन्धुराजसत्कमहामहत्तश्रीपप्पटगुरोः पण्डितश्रीमहासेनाचार्यस्य कृते' लिखा मिलता है; जिससे यह ध्वनित होता है कि सिन्धुलके महामात्य पर्पटकी प्रेरणासे ही प्रस्तुत काव्य निर्मित हुआ है।

लाट-वर्गटसंघ माथुरसंघके ही समान काष्ठासंघकी शाखा है। यह संघ गुजरात और राजपूतानेमें विशेषरूपसे निवास करता था। कवि-आचार्य महासेन पर्पटके गुरु थे।

स्थितिकाल

प्रद्युम्नचरितकी प्रशस्तिमें काव्यके रचनाकालका निर्देश नहीं किया गया है। पर मुंज और सिन्धुलका निर्देश रहनेसे अभिलेख और इतिहासके साक्ष्य द्वारा समय-

---

[1] माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७३ में प्रकाशित।

[2] श्रीलाट-वर्गटनभस्तलपूर्णचन्द्र...... ।—जै० सा० इ०, द्वितीय, पृ० ४११।

निर्णय करनेकी सुविधा प्राप्त है। इतिहासमें बताया गया है कि मुंज वि० सं० १०३१ (ई० ९७४) में 'परवारों' की गद्दीपर आसीन हुआ था। उदयपुरके अभिलेखसे विदित होता है कि उसने लाटों, कर्णाटकों, चोलों और करेलोंको अपने पराक्रमसे त्रस्त कर दिया था। मुंजके दो दानपत्र वि० सं० १०३१ (सन् ९७४ ई०) और वि० सं० १०३६ (सन् ९७९ ई०) के उपलब्ध हुए हैं। कहा जाता है कि ई० ९९३-९९८ के बीच किसी समय तैलपदेवने उनका वध किया था। इन्हीं मुंजके समयमें वि० सं० १०५० (९९३ ई०) में अमितगतिने सुभाषितरत्नसन्दोह समाप्त किया था।[1]

मुंज या वाक्पतिका उत्तराधिकारी उसका अनुज सिन्धुल हुआ; इसका दूसरा नाम नवसाहसांक या सिन्धुराज है। इसके यशस्वी कृत्योंका वर्णन पद्मगुप्तने नवसाहसांक चरितमें किया है। इसी सिन्धुलका पुत्र भोज था, जिसका मेरुतुंगकी प्रबन्ध-चिन्तामणिमे वर्णन पाया जाता है।[2] अतएव प्रद्युम्नचरितकी रचना ई० सन् ९७४ के आस-पास हुई है और महासेनका समय दसवी शतीका उत्तरार्द्ध है।

प्रद्युम्नचरितको कथावस्तु

द्वारावती नगरीमें यदुवंशी श्रीकृष्ण नामके राजा हुए। इनकी पटरानी सत्यभामा थीं। उस पृथुवंशके पुत्रने दृष्टिसे मृगोको, वाणीसे कोकिलाको, मुखसे चन्द्रमाको, गतिसे हंसिनीको और अपने कुन्तलसे चमरीको पराजित कर दिया था। वह विधाताकी अपूर्व सृष्टि थी। श्रीकृष्णके समक्ष शत्रु नतमस्तक होते थे।—प्रथम सर्ग

एक दिन नारदमुनि पृथ्वीका परिभ्रमण करते हुए द्वारकामें आये। श्रीकृष्णने उनका स्वागत किया। नारद सत्यभामाके भवनमें गये, पर शृंगार करनेमें संलग्न रहनेके कारण सत्यभामा मुनिको न देख सकी। फलतः सत्यभामासे रुष्ट हो नारद श्रीकृष्णके लिए सुन्दरी स्त्रीकी तलाश करते हुए कुण्डिनपुर पहुँचे। राजा भीष्मकी सभामें रुक्मिणी द्वारा प्रणाम किये जानेपर उन्होंने उसे श्रीकृष्ण प्राप्तिका वरदान दिया। कुण्डिनपुरसे चलकर नारद रुक्मिणीका चित्रपट लिये हुए पुनः द्वारावतीमें पधारे। चित्रपटको देखकर श्रीकृष्ण रुक्मिणीपर अनुरक्त हो गये। रुक्मिणीके भाईका नाम रुक्म था, यह रुक्मिणीका विवाह शिशुपालके साथ करना चाहता था। अतः शिशुपालने ससैन्य कुण्डिनपुरको घेर लिया, पर रुक्मिणी शिशुपालको नही चाहती थी। नारदने श्रीकृष्णको रुक्मिणी हरणकी सलाह दी।—द्वितीय सर्ग

श्रीकृष्ण और बलराम कुण्डिनपुरके बाहर उपवनमें छिपकर बैठ गये। नगरके चारों ओर शिशुपालकी सेना घेरा डाले थी। रुक्मिणी उस उपवनमें कामदेव अर्चनके

---

[1] देखें—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रा० भा० इ०, बनारस १९५६ ई०; पृ० २८३।

[2] अथ (संवत् १०७८ वर्षे) यदा मालवमण्डले श्रीभोजराजा राज्यं चकार…। प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघीसीरीज, १९३३ ई०, भोजभीमप्रबन्ध', पृ० २५।

पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि मासाः सप्तदिनत्रयम्।

भोक्तव्यं भोजराजेन सगौडं दक्षिणापथम्॥—वही, पृ० २२।

लिए गयी। श्रीकृष्णने उसका अपहरण किया। भीष्म, रुक्म और शिशुपाल द्वारा पीछा किये जानेपर श्रीकृष्णने शिशुपालका वध किया और सकुशल रुक्मिणीको लेकर आ गये। उपवनमें उसका पाणिग्रहण रुक्मिणीके साथ सम्पन्न हुआ। एक दिन श्रीकृष्णने रुक्मिणीको श्वेतवस्त्र पहनाकर उपवनमें एक शिलापर बैठा दिया और स्वयं लताकुंजमें छिप गये। जब सत्यभामा वहाँ आयी तो रुक्मिणीको सिद्धांगना या देवागना समझ उसकी पूजा करने लगी तथा उससे वरदान माँगा कि माधव रुक्मिणीका त्याग कर मेरे दास बनें। इसी समय श्रीकृष्ण कुंजसे निकल आये और हँसने लगे। रुक्मिणी और सत्यभामामें मित्रता हो गयी। दूसरे दिन मैत्रीका सन्देश लेकर दूत आया। श्रीकृष्णने वस्त्राभूषण देकर उसे वापस लौटा दिया।—तृतीय सर्ग

रुक्मिणी और सत्यभामाने बलरामके समक्ष प्रतिज्ञा की कि जिसके पहले पुत्र होगा, वह पीछे होनेवाले पुत्रकी माताके बालोंका अपने पुत्रके विवाहके समय मुण्डन करा देगी। रुक्मिणीको पुत्र उत्पन्न हुआ। जन्मके पाँचवें दिन धूमकेतु नामक दैत्यने उस शिशुका अपहरण किया। उसने उस शिशुको वातरक्षक गिरिकी कन्दरामें रख दिया और एक शिलासे उस कन्दराके द्वारको भी आवृत कर दिया। दैत्यके चले जानेके उपरान्त वहाँ कालसंवर राजा अपनी प्रेयसी कंचनमालाके साथ विहार करता हुआ आया। कालसंवरने कन्दरासे पुत्रको निकालकर कंचनमालाको सौंप दिया और नगरमें आकर यह घोषित किया कि कंचनमालाने पुत्रको जन्म दिया है। जन्मोत्सव सम्पन्न किया और बालकका नाम प्रद्युम्न रखा गया।—चतुर्थ सर्ग

पुत्रके अपहरणसे द्वारावतीमें तहलका मच गया। रुक्मिणी बिलख-बिलखकर रोने लगी। कृष्णने पुत्रको तलाश करनेका बहुत प्रयास किया, पर पता न चला। नारदने विदेहमें जाकर सीमन्धर स्वामीके समवशरणमें श्रीकृष्णके नवजात शिशुके अपहरणके सम्बन्धमें प्रश्न किया। उत्तर प्राप्त हुआ कि पूर्व जन्मकी शत्रुताके कारण धूमकेतु दैत्यने पुत्रको चुराया है। अब उसे कालसंवर प्राप्त कर चुका है। यह पुत्रवत् पालन करेगा और सोलह वर्षकी अवस्था होनेपर वह वापस आयेगा। केवलीने प्रद्युम्नके पूर्वजन्मका आख्यान भी कहा।—पंचम सर्ग

अयोध्या नगरीमें अरिंजय राजा रहता था। इसकी रानी प्रीतिकराके गर्भसे पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक दो पुत्र हुए। राजा मुनिका उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और पुत्रको राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। इसी समय दो वणिक्पुत्रोंने श्रावक-धर्म ग्रहण किया। एक मुनि द्वारा कुतिया और मातंगकी पूर्वभवावलि सुन वे दोनों दीक्षित हो गये और स्वर्ग प्राप्त किये।—षष्ठ सर्ग

कोशलनगरीमें हेमनाभ राजा रहता था। इसके मधु और कैटभ पुत्र थे। मधुको राज्य और कैटभको युवराज पद देकर वह भार्यासहित संन्यासी हो गया। मधु और कैटभ बड़े प्रतापी थे। समस्त राजा इनके चरणोंमें नतमस्तक होते थे। एक दिन भीमने उनके राज्यमें प्रवेश कर नगरको जलाया और जनताको कष्ट दिया। मधुने उसके राज्य-

पर आक्रमण किया। मार्गमें हेमरथने उसका स्वागत किया। वह हेमरथकी सुन्दरी भार्याको देखकर मोहित हो गया। मन्त्रियोंके परामर्शानुसार उसने प्रथम भीमका वध किया, अनन्तर हेमरथकी रानीको ले लिया। प्रियाके अभावमें हेमरथ उन्मत्त हो गया। एक दिन हेमरथकी रानी द्वारा सम्बोधन प्राप्त होनेपर वह अपने पुत्रको राज्य सौंपकर मुनि हो गया। कैटभने भी श्रमण दीक्षा धारण की। समाधिमरण धारण कर वे दोनों स्वर्गमें देव हुए। वहाँसे च्युत हो मधुका जीव प्रद्युम्न, कैटभका जाम्बवती पुत्र और हेमरथका जीव धूमकेतु हुआ है। इसी धूमकेतुने प्रद्युम्नका अपहरण किया है।—सप्तम सर्ग

कालसंवरके घर प्रद्युम्न वृद्धिगत होने लगा। युवक होनेपर प्रद्युम्नने कालसंवरके शत्रुओंको परास्त किया, जिससे उसने प्रसन्न हो अपनी पत्नीके समक्ष की गयी प्रतिज्ञाके अनुसार पाँचसौ पुत्रोंके रहनेपर भी प्रद्युम्नको युवराज बना दिया। उसके युवराज होनेपर कालसंवरके अन्य पुत्र उससे द्वेष करने लगे। वे उसे विजयार्द्धकी गुफाओंमें ले गये, जिनमें नाग, राक्षस आदि निवास करते थे। प्रद्युम्नने सभीको अपने अधीन किया। कालसंवर प्रद्युम्नकी इस वीरतासे बहुत प्रसन्न हुआ और वह पिताकी अनुमतिसे माता कंचनमालाके भवनमें गया। रानी कचनमाला उसके रूप-सौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो गयी। प्रद्युम्नने उसे समझाया, पर उसकी अनुरक्ति न घटी। प्रद्युम्नने कंचनमालासे दोनों विद्याएँ भी सीख लीं। अन्ततोगत्वा जब उसने देखा कि प्रद्युम्न वासनाको पूरा नहीं करता है, तो उसने उसके ऊपर बलात्कारका दोषारोपण किया। राजाने मृत्युदण्ड देनेके लिए सेना भेजी। स्वयं भी उसने प्रद्युम्नको पकड़ना चाहा, पर विद्याबलसे वह प्रद्युम्नका कुछ भी नहीं कर सका। नारदने आकर प्रद्युम्नके सम्बन्धमें समस्त बातें बतला दी, जिससे कालसंवर बहुत प्रसन्न हुआ।—अष्टम सर्ग

प्रद्युम्न नारदमुनिके साथ द्वारावतीको चला। सत्यभामाका पुत्र भानु दुर्योधनकी पुत्री उदधिसे विवाह करना चाहता था। प्रद्युम्नने वनेचरका वेष धारण कर उन सबोंको परास्त किया और उदधिको हर लाया। उदधि नारदमुनिके समक्ष रोने लगी, प्रद्युम्नने अपना वास्तविक रूप दिखलाया, जिससे वह अनुरक्त हो गयी। प्रद्युम्नने सत्यातनय भानुको परास्त किया और मरकटरूप धारण कर सत्याके उपवनको नष्ट कर दिया। उसने बाजार नष्ट किया। मेष द्वारा बलरामको मूर्छित किया। अनन्तर प्रद्युम्न अपनी माँ रुक्मिणीके भवनमें अत्यन्त कुरूप और विकृत वेशमें गया। श्रीकृष्णके निमित्त बने समस्त पक्वान्न उसे खिला दिये। प्रद्युम्नने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और माताके आदेशसे विद्याबल द्वारा बालक्रीड़ाएँ प्रस्तुत की। अनन्तर दुर्योधनकुमारी उदधिको माँके पास छोड़कर यादव और पाण्डवोंकी सेनाके साथ मायामयी युद्ध करने लगा। इस युद्धको देखनेके लिए देव और दैत्य दोनों आये।—नवम सर्ग

प्रलय-समुद्रके समान दोनों पक्षकी सेनाएँ अपना पराक्रम दिखलाने लगीं। कृष्ण प्रद्युम्नके पराक्रम और बाण-कौशलको देखकर आश्चर्यचकित थे। अतः उन्होंने बाहु-

युद्धका प्रस्ताव प्रद्युम्नके समक्ष रखा। दोनों बाहुयुद्धकी तैयारीमें थे कि नारद आ गये और उन्होंने श्रीकृष्णको प्रद्युम्नका परिचय कराया। श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और धूमधाम पूर्वक प्रद्युम्नका नगरमें प्रवेश कराया। उदधिके साथ प्रद्युम्नका विवाह सम्पन्न हुआ, जिसमें कालसंवर और कंचनमालाको भी आमन्त्रित किया गया।—दशम सर्ग

श्रीकृष्णकी जाम्बवती नामक पत्नीसे शम्ब नामक शूरवीर और दानी पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रीकृष्ण उसकी वीरतासे बहुत प्रसन्न थे, किन्तु एक दिन किसी कुलीन स्त्रीके शीलभंगके अपराधमें उसे नगरसे निर्वासित कर दिया। वसन्तमें प्रद्युम्न वन-विहारके लिए गया और वहाँ उसे शम्ब मिला। शम्बका विवाह सम्पन्न किया गया। प्रद्युम्नके भी कई विवाह हुए। उसे अनुरुद्ध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।—एकादश सर्ग

तीर्थंकर नेमिनाथ पल्लव देशसे विहार कर सौराष्ट्र आये। यादवोंने समवशरण में जाकर तीर्थंकरकी वन्दना की। बलदेवने द्वारका विनाश और श्रीकृष्णकी मृत्युके सम्बन्धमें प्रश्न किया। तीर्थंकरने मद्यपानके कारण द्वीपायन मुनिके निमित्तसे इस देवनगरीके विनाश और जरत्कुमारके बाणसे श्रीकृष्णकी मृत्युके सम्बन्धमें भविष्यवाणी की। जरत्कुमार वनमें चला गया और वहाँ आखेटकका जीवन-यापन करने लगा। यादव इस भविष्यवाणीको सुनकर बहुत चिन्तित रहने लगे। रात्रि व्यतीत होनेपर प्रातःकाल हुआ। —द्वादश सर्ग

श्रीकृष्ण रत्नजटित सिंहासन पर शोभित थे। सामन्त और सचिव उनकी सेवामें उपस्थित थे। विषयविरक्त और शान्तचित्त प्रद्युम्न अन्य राजकुमारोंके साथ हरिके समक्ष पहुँचा। उसने तीर्थंकरके पास दीक्षा ग्रहण करनेका विचार प्रकट किया। वह माता-पितासे अनुमति प्राप्त कर नेमिनाथके चरणोंमें दीक्षित हो गया। रुक्मिणी और सत्यभामाने भी दीक्षा धारण कर ली। —त्रयोदश सर्ग

प्रद्युम्नने घोर तपश्चरण किया। गुणस्थानका आरोहण कर कर्म प्रकृतियोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। शम्ब, अनिरुद्ध और काम आदि भी मुनि बन गये। प्रद्युम्नने अघातिया कर्मोंको नष्ट कर निर्वाण लाभ किया। —चतुर्दश सर्ग

कथानक स्रोत

इस काव्यकी कथावस्तुका आधार जिनसेन प्रथमका हरिवंश[1] पुराण है। इस पुराणमें प्रद्युम्नका जीवनचरित ४७वें सर्गके २०वें पद्यसे ४८वें सर्गके ३१वें पद्य तक पाया जाता है। गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण[2] के ७२वें पर्वमें भी प्रद्युम्नका चरित अंकित है। कवि महासेनने उक्त पुराण ग्रन्थोंसे ही कथावस्तुको ग्रहण किया है। हरिवंश पुराण की कथावस्तु और प्रस्तुत काव्यकी कथावस्तुमें बहुत कुछ समानता है। इस पुराणमें बताया गया है कि रुक्मिणी पत्र भेजकर श्रीकृष्णको अपने वरणके लिए बुलाती है जब

---

[1] भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९६२ ई० में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित।

[2] वही, सन् १९५४ ई०।

कि प्रस्तुत प्रद्युम्नचरितमें नारदके अनुरोध पर श्रीकृष्ण रुक्मिणीका अपहरण करने जाते हैं। हरिवंश पुराणमें आया है कि प्रद्युम्नने कालसंवरके शत्रु सिंहरथ नृपतिको वश किया था, जिससे प्रसन्न होकर उसने अपने पाँच सौ पुत्रोंके रहते हुए भी प्रद्युम्न को युवराज पद दिया। प्रद्युम्नचरितमें सामान्यतः समस्त शत्रुओंके वश करनेका निर्देश है। इस काव्यमें कालसंवरने प्रद्युम्नकी प्राप्तिके समय ही अपनी पत्नी कंचनमालाको उसे युवराजपद देनेका वचन दिया था। अतएव उसने प्रतिज्ञानुसार उसे युवराजपद दिया। हरिवंशपुराण और काव्य दोनों ही ग्रन्थोंमें कंचनमालासे गौरी और प्रज्ञप्ति नामक विद्याओंके प्राप्त किये जानेका निर्देश आया है। कालसंवरके पुत्रोंने प्रद्युम्नको विभिन्न स्थानोंमें परिभ्रमण कराया था, जहाँसे उसे विभिन्न प्रकारके अस्त्र-शस्त्र प्राप्त हुए थे। हरिवंश पुराणमें यह सन्दर्भ विस्तृत आया है। कपित्थ और वल्मीक वनके नाम भी इस पुराणमें आये हैं पर प्रस्तुत काव्यमें इन वनोंका नामोल्लेख नहीं आया है। अतः इस महाकाव्यके कथानकका बहु भाग हरिवंशपुराणसे ग्रहीत है।

उत्तरपुराणमें प्रद्युम्नचरित अत्यन्त संक्षेपमे आया है। इस पुराण और प्रद्युम्नचरित काव्यके कथानकोंमें निम्नलिखित समताएँ हैं—

१. धूमकेतुकी शत्रुता और प्रद्युम्नका अपहरण।
२. गुफासे प्रद्युम्नको प्राप्त करते समय रानी कंचनमालाके अनुरोधपर उसे युवराजपद देनेका वचन देना।
३. कालसंवरके पांच सौ पुत्रों द्वारा प्रद्युम्नका भीषण वनमें परिभ्रमण कराया जाना और वहाँपर नाग, दैत्यादिको वश करना।
४. द्वारकामें सम्पन्न हुई प्रद्युम्नकी क्रीड़ाएँ।

असमानताएँ

१. उत्तरपुराणमें आया है कि कालसंवरने प्रद्युम्नका नाम देवदत्त रखा था, जब कि, काव्यमें प्रद्युम्न या मदन नाम मिलता है।

२. कालसंवरने प्रद्युम्नको प्राप्त कर रानी कंचनमालाको युवराज पद देनेका केवल आश्वासन ही नहीं दिया, बल्कि रानीके कानमें पडे हुए सुवर्णपत्रसे उसका पट्टबन्ध कर दिया[1], पर काव्यमें पट्टबन्धकी बात नहीं आयी है।

३. उत्तरपुराणमें कंचनमाला द्वारा प्रद्युम्नको एक प्रज्ञप्ति विद्या ही प्राप्त हुई थी; पर काव्यमें हरिवंशपुराणके अनुसार गौरी और प्रज्ञप्ति दोनों ही विद्याओंकी प्राप्ति का निर्देश है।

४. उत्तरपुराणमें आया है कि कंचनमाला द्वारा प्रद्युम्न पर शीलभंग करनेका अपराध लगाया जाता है, जिससे कालसंवर अपने विद्युद्दंष्ट्र आदि पाँच सौ पुत्रोंको प्रद्युम्नको वनमें ले जाकर मार डालनेका आदेश देता है। वे उसे वनमें अग्निकुण्डमें

---

[1] तत्कर्णगतसौवर्णपत्रेणारचि पट्टकः —उत्त० ज्ञान० का० ७२।५६।

कूद जानेके लिए प्रेरित करते हैं। देवोंसे उसे रत्नमय कुण्डल प्राप्त होते हैं। एक अन्य देवोंसे उसे शंख और महाजाल ये वस्तुएँ भी मिलती हैं। अन्य स्थानोंके दैत्योंसे भी अनेक वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। उत्तरपुराणका यह सन्दर्भ प्रस्तुत काव्यके सन्दर्भसे कुछ भिन्न है।

५. काव्यमें द्वारावतीमें प्रद्युम्न द्वारा की गयी लीलाओंका वर्णन भी उत्तरपुराण की अपेक्षा कुछ भिन्न है।

प्रद्युम्नका पावन जीवन जैन साहित्यके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत[1] और विष्णुपुराण[2] आदि ग्रन्थोंमें भी वर्णित है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ५२वें अध्यायसे ५५वें अध्याय तक यह चरित आया है। बताया गया है कि विदर्भ देशके अधिपति भीष्मकके पाँच पुत्र और सुन्दरी कन्या थी। सबसे बड़े पुत्रका नाम रुक्म था, यह अपनी बहन रुक्मिणीका विवाह शिशुपालके साथ करना चाहता था। अतः उस कन्या ने एक विश्वासपात्र ब्राह्मणको श्रीकृष्णके यहाँ अपना सन्देश देकर भेजा। ब्राह्मणने श्रीकृष्णसे रुक्मिणीके प्रेमकी बात कह सुनायी और शीघ्र ही विदर्भ चलनेके लिए उनसे अनुरोध किया। ब्राह्मणने वापस लौटकर रुक्मिणीको श्रीकृष्णके पधारनेकी सूचना दी। भीष्मकने श्रीकृष्ण और बलरामका स्वागत किया। रुक्मिणी अपनी सखियोंके साथ देवीके मन्दिरमें गयी और भगवतीसे श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए प्रार्थना करने लगी। श्रीकृष्ण शत्रुओंकी सेनाको मोहित कर और रथमें रुक्मिणीको सवार कराके चल दिये। रुक्मने श्रीकृष्णका पीछा किया। कृष्णने उसके मूँछके बाल उखाड़ कर उसे विकृत कर दिया और रुक्मिणीकी प्रार्थनापर उसे प्राणदान दिया। द्वारकामें आनेपर विधिपूर्वक रुक्मिणीके साथ कृष्णका विवाह सम्पन्न हो गया।

समय पाकर रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्नका जन्म हुआ। अभी प्रद्युम्न दस दिन का भी नहीं हो पाया था कि शम्बासुरने वेष बदलकर सूतिकागृहसे अपहरण कर उसे समुद्रमें फेंक दिया। समुद्रमें बालक प्रद्युम्नको एक मच्छ निगल गया। मछुओं द्वारा वह मच्छ पकड़ा गया। उन्होंने उसे शम्बासुरको भेंट किया। मच्छके पेटसे निकले बालकको शम्बासुरने अपनी दासी मायावतीको समर्पित किया। यह मायावती कामदेवकी पत्नी रति ही थी। उसने कुमार प्रद्युम्नका लालन-पालन किया। जब प्रद्युम्न युवा हो गया तो मायावती उसके समक्ष कामके भाव प्रकट करने लगी। प्रद्युम्नने उससे कहा—"पालन करनेवाली तुम मेरी माँ हो। तुम इस प्रकारके विकृत विचार क्यों करती हो?" मायावतीने कहा—"प्रभो! आप स्वयं नारायणके पुत्र हैं। शम्बासुर आपको सूतिकागृहसे चुरा लाया था। आप मेरे पति कामदेव हैं। और मैं आपकी सदाकी धर्मपत्नी रति हूँ। शम्बासुरने आपको समुद्रमें डाल दिया था। वहाँ

---

[1] गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१८, चतुर्थ संस्करण, दो जिल्द।

[2] बम्बई १८८६ ई०, हिन्दी अनु० सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २००६।

एक मछली निगल गयी थी। मच्छके पेटसे मैंने आपको प्राप्त किया है। शम्बासुर माया जानता है, अतः मायात्मक विद्याओंके अभावमें उसका जीतना सम्भव नहीं। उसने महामाया नामकी विद्या प्रद्युम्नको सिखलायी। प्रद्युम्न युद्धमें शम्बासुरकी सेनाको परास्त किया। अनन्तर वह द्वारकामें मायावतीके साथ गया और वहाँ भी उसने मायाके कारण चमत्कार उत्पन्न किये। इस समय नारदजी वहाँ आये और उन्होंने प्रद्युम्नका परिचय कराया।

इसी प्रकार विष्णुपुराणके पंचम अंशके २६वें और २७वें अध्यायमें प्रद्युम्न-चरित उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणके चरितमें प्रायः समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि शम्बासुर प्रद्युम्नको विष्णुपुराणके अनुसार जन्म लेनेके छठे दिन ही समुद्रमें गिरा देता है। शेष कथानक दोनों ग्रन्थोंमें समान है।

'प्रद्युम्नचरितम्' महाकाव्यकी कथावस्तुकी उक्त दोनों ग्रन्थोंकी कथावस्तुके साथ तुलना करनेपर निम्नांकित साम्य और असाम्य उपलब्ध होते हैं—

साम्य

१. प्रद्युम्न श्रीकृष्ण और रुक्मिणीके पुत्र थे।
२. जन्मकी छठी रात्रि अथवा दस दिनके पूर्व ही असुर द्वारा अपहरण।
३. नारद ऋषि द्वारा रुक्मिणीको समस्त स्थितिकी जानकारी कराते हैं।
४. द्वारकामें प्रद्युम्नके लौटनेपर नारद ही श्रीकृष्णसे प्रद्युम्नका परिचय कराते हैं।

असाम्य

प्रद्युम्नका शम्बासुर द्वारा अपहरण, उसका समुद्रमे डाला जाना, समुद्रमें मत्स्य द्वारा निगला जाना और फिर शम्बासुरके घर जाकर मत्स्यके पेटसे जीवित निकलना, मायावतीका मोहित होना और बालक प्रद्युम्नका पालन करना और अन्तमे युवा होनेपर शम्बासुरको मारकर मायावतीसे विवाह करना।

यदि उपर्युक्त असमताओंपर विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि जैन लेखकोंने उक्त कथांशोंमें अपनी सुविधानुसार परिवर्तन कर उसे काव्योचित बनाया है। प्रद्युम्नको समुद्रमें न डलवाकर गुफामें अथवा शिलाके नीचे रखवाना अधिक बुद्धिसंगत है। मत्स्यके पेटसे जीवित निकलने की सम्भावना बहुत कम है, जब कि शिलातल या गुफामें जीवित रह जानेकी सम्भावनामें आशंका नहीं की जा सकती। शम्बासुरके स्थानपर धूमकेतु अपहरण करनेवाला कल्पित किया गया है तथा कालसंवर विद्याधर उसका पालन करनेवाला माना गया है। कालसंवरकी पत्नी कंचनमाला भी मायावतीके समान प्रद्युम्नपर मोहित हो जाती है। कालसंवर पत्नीके अपमानका बदला चुकानेके लिए प्रद्युम्नको मार डालना चाहता है। मायावती जिस प्रकार प्रद्युम्नको विद्या सिखलाती

है, उसी प्रकार कंचनमाला भी। जैन लेखकोंने जन्म-जन्मान्तरके आख्यान जोड़कर प्रत्येक घटनाको तर्कपूर्ण बनानेका प्रयास किया है। उन्होंने यह दिखलाया है कि वर्तमान जीवनकी प्रत्येक घटनाके पीछे पूर्व जन्मके संस्कार संचित रहते है। धूमकेतुने पूर्वजन्मकी शत्रुताके कारण ही प्रद्युम्नका अपहरण किया था और कंचनमाला भी पूर्वजन्मके प्रेमके कारण ही प्रद्युम्नपर आसक्त होती है। शाम्ब उसका पूर्वजन्मका भाई होनेसे ही प्रेम करता है।

कथानक गठन

प्रस्तुत महाकाव्यका कथानक शृंखलाबद्ध एवं सुगठित है। क्रमनियोजन पूर्णतया पाया जाता है। सभी कथानक शृंखलाको छोटी-छोटी कड़ियोंके समान परस्परमें सम्बद्ध हैं। प्रद्युम्नचरितमें कथानकका उद्घाटन सत्यभामा द्वारा नारदको असन्तुष्ट करने और ईर्ष्यावश नारदका सुन्दरीकी तलाशमें जाने एवं रुक्मिणीके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेसे होता है। कथावस्तुकी पँखुड़ियाँ सहजमें खुलती हुई अपना पराग और सौरभ विकीर्ण कर मुग्ध करती हैं। सत्यभामा और रुक्मिणीमें सपत्नी भावका उदय द्वन्द्व और शमन कई बार होता दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार कविने कथानकोंकी योजना शृंखलाबद्ध कर मनोरंजकताका समावेश किया है। काव्य प्रवाहको स्थिर एवं प्रभावोत्पादक बनाये रखनेके लिए अवान्तर कथाएँ भी गुम्फित हैं।

महाकाव्य

महाकाव्यके समस्त लक्षण प्रस्तुत काव्यमें विद्यमान हैं। कथावस्तु सर्गानुबन्धी है तथा चौदह सर्ग हैं। सर्गान्तमे छन्द-परिवर्तन पाया जाता है। कथावस्तु पुराण-प्रसिद्ध है। करुण, वीर और शृगार अंगरूपमें और शान्तरस अंगी है। वस्तुव्यापारोमें नगर, समुद्र, पर्वत, सन्ध्या, प्रातः, संग्राम, यात्रा एवं ऋतुओका वर्णन पाया जाता है। कथावस्तुकी दीर्घताके साथ महाकाव्योचित भावोकी बहुलता एवं गम्भीरता भी पायी जाती है। काव्यका नायक प्रद्युम्न है। इसकी गणना कामदेवोंमे की गयी है। इस महाकाव्यमें प्रतिनायकका अभाव है। यद्यपि नायकका संघर्ष कालसंवर और श्रीकृष्णके साथ होता है, पर वे खलनायक या प्रतिनायक नही हैं। खलनायक या प्रतिनायकका कार्य सदा ही नायकको परेशान करना होता है। पाठकोंको खलनायकके प्रति सहानुभूति नही रहती। कालसंवरके पुत्र युवराज होनेके पश्चात् उससे ईर्ष्या करते हैं, पर उनका कोई प्रबल विरोध दिखलाई नही पड़ता। सत्यभामा और उसके पुत्र भानुकुमारके साथ भी प्रद्युम्नका सीधा वैर-विरोध नही है। वह अपनी माता रुक्मिणीके विरोधके कारण सत्यभामाको तंग करता है तथा उसके पुत्र भानुका विवाह उदधि कुमारीसे नही होने देता।

वस्तुव्यापार वर्णन

कवि महासेन सौराष्ट्र देशका सजीव वर्णन करता हुआ कहता है—

तीर्थैरनेकैर्जिनपुङ्गवानां पुण्योऽस्ति तस्मिन् विषयः सुराष्ट्रः ।
स्वर्गैकदेशः पतितः पृथिव्यां यन्निराकम्बतया विभाति ॥ १।७

श्रेष्ठ जिनेन्द्रोंके अनेक तीर्थोंके द्वारा जहाँकी भूमि पवित्र हो गयी है, ऐसा सुराष्ट्र नामका देश इस भरतक्षेत्रमें है। यह देश पृथ्वीमें स्वर्गसे च्युत एक खण्डके समान निरालम्ब रूपसे सुशोभित होता है।

सहस्रसंख्यैः सितरक्तनीलैः सरांसि यस्मिन्जलजैर्विरेजुः ।
कुतूहलेनेव मदीय लक्ष्मीं द्रष्टुं समेतैः सुरराजनेत्रैः ॥ १।८

जिस सौराष्ट्र देशके सरोवरोंमें श्वेत, रक्त और नीलवर्णके सहस्रों कमल विकसित हो सुशोभित हो रहे थे। उन्हें देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो इन्द्रके सहस्र नेत्र कुतूहलके कारण इस देशकी लक्ष्मीको देखनेके लिए प्रस्तुत हों।

फलावनम्राः सरसाः कुलीनाः प्रसूनगन्धैः सुरभीकृताशाः ।
वनश्रियो यत्र मुदे जनानां पौराङ्गनाश्चाप्रमिता विभान्ति ॥ १।१०

जहाँके वनोंमें वृक्ष फलोंसे नम्रीभूत रहते हैं और पक्षी उनपर चहचहाते रहते हैं। सुगन्धित पुष्पोंकी गन्धसे दिशाएँ सुरभित रहती हैं। वनश्री पुरुषोंको आनन्दित करती रहती है तथा अगणित पौरांगनाएँ जहाँ सुशोभित होती रहती हैं।

यत्राचकाद्गोचरभूर्वनान्ते नवोलपा शाड्वलकान्तिकान्ता ।
गौमण्डलैर्मण्डितमध्यदेशा तारागणैर्द्यौरिव सौम्यभावा ॥ १।१४

जहाँ वनप्रान्तमें गोचरभूमि नवोलप—घासविशेष और शाड्वलकी कान्तिसे युक्त थी और गोमण्डलोंसे मण्डित भूमि तारागणोंसे युक्त आकाशके समान सुन्दर सुशोभित होती थी।

इस प्रकार कविने देशकी समृद्धि, वन-उपवन, गोमण्डल, नदीसरोवर एवं उसमें रहनेवाले जीव-जन्तुओंका वर्णन किया है। इस वर्णनमें उत्प्रेक्षाओं और कल्पनाओंका पूर्ण साम्राज्य है। कविने लगभग बीस पद्योंमें सौराष्ट्रकी सुषमाका उदात्त वर्णन प्रस्तुत किया है।

रमणियाँ अपने भवनोंकी छतपर बैठकर गीत गाती थी। उनके मनोहर गीतोंको सुनकर चन्द्रमाकी गोदमें रहनेवाला हरिण मधुर गानसे आकृष्ट होकर वहाँ चला आता था। अतएव चन्द्रमाको वहाँसे आगे चलना कठिन था। जिस स्थानपर चन्द्रमा स्वयं उपस्थित हो, उस स्थानके सौन्दर्यका चित्रण करनेके लिए उपमान नहीं मिल सकता है—

हर्म्याग्रस्थाङ्गनागीतिहृताङ्कहरिणो विधुः ।
तत्सुखस्योपमानत्वं यस्यामायाति पार्वणः ॥६।१०

प्रस्तुत काव्यमें वस्तुवर्णन दो रूपोंमें आये हैं—(१) कवि द्वारा प्रस्तुत वस्तुवर्णन और (२) पात्रों द्वारा भावव्यंजनाके रूपमें सम्पन्न वस्तुवर्णन। प्रथम प्रकारके वस्तुवर्णन द्वारा कविने इतिवृत्तांशको पर्याप्त सरस बनाया है। पात्रोंकी भावव्यंजनाके रूपमें वस्तुवर्णन प्रद्युम्नकी कौतुकमयी क्रीड़ाओंके रूपमें अंकित है। इन सन्दर्भोंमें स्थायीभावोंका उद्‌बोधन आलम्बन तथा उद्दीपन विभावरूप बाह्य वस्तुओंके साक्ष्य और सम्पर्कसे सम्पादित हुआ है।

चरित्रचित्रण

काव्यका नायक प्रद्युम्न पौराणिक है, जैन परम्पराके चौबीस कामदेवों[1] मेंसे इसे एक कामदेव माना गया है। पुण्यकर्मके उदयसे अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करनेवाला जितेन्द्रिय सत्पुरुष कामदेव पदका धारक होता है। प्रद्युम्नके चरित्रमें धीरोदात्त नायकके समस्त गुण विद्यमान हैं। प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर भी वह साहस नहीं छोड़ता है। वह विजयार्द्धके गोपुरमें फुफकारते हुए भयंकर सर्पसे भिड़ जाता है। उसकी पूँछ पकड़कर उसे पृथ्वीपर पटक देता है।[2] वह आम्र वृक्षपर रहनेवाले कपिरूपधारी धनदसे निर्भय हो युद्ध करने लगता है।[3] युद्धके प्रसंगोंमें उसकी गम्भीरता और क्षमाशीलताकी अभिव्यक्ति हुई है। कपित्थवनमें करिरूपधारी भयंकर सुरसे उसने बाहुयुद्ध किया। सूंड़, दाँत और पैर पकड़कर उसने उस हाथीको इस प्रकार घुमाया जिससे वह निर्मद हो गया।[4] वराहगिरिपर वराहके साथ उसने बड़ी वीरतासे युद्ध किया। इस प्रकार प्रद्युम्नके चरित्रमें वीरता और शूरता आदिसे अन्ततक व्याप्त है।

वह संयमी है और प्रलोभनोंपर विजय भी प्राप्त करता है। कंचनमाला उसे व्यभिचार करनेका प्रस्ताव रखती है, पर वह उसे ठुकरा देता है। जब उसके ऊपर व्यभिचारका अपराध आरोपित किया जाता है, तब भी वह अपनी धर्ममाताके मिथ्याचरणकी बात किसीसे नहीं कहता है। धर्मपिता कालसंवर द्वारा युद्ध करनेपर भी वह धर्ममाताके अपवादके भयसे सत्यका उद्‌घाटन नहीं करता है। माता रुक्मिणीके प्रति भी उसके मनमें अपूर्व निष्ठा है, माताकी प्रसन्नताके लिए ही सत्यभामाको तंग करता है। उसका स्वभाव कौतुकी है, वह कौतुकमयी लीलाओं द्वारा लोगोंको आश्चर्यचकित करता है। प्रद्युम्न द्वारका विनाशकी भविष्यवाणी सुनकर विरक्त हो जाता है और

---

[1] कालेसु जिणवराणं चउवीसाणं हवंति चउवीसा।
ते बाहुबलिप्पमुहा कंदप्पा णिरुवमायारा॥—ति० प०, सोलापुर ४।१४७२।
चौबीस तीर्थंकरोंके समयोंमें अनुपम आकृतिके धारक बाहुबलिप्रमुख चौबीस कामदेव होते हैं। जैन मान्यतामें कामदेव एक पद है, जो प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें किसी पुण्यात्माको प्राप्त होता है। तीर्थंकर नेमिनाथके समयमें प्रद्युम्नको यह पद प्राप्त था।

[2] प्रद्युम्नचरित ८।१५-१८।

[3] वही, ८।५६-६२।

[4] वही, ८।६४-६८।

[5] वही, ८।७१-७२।

दीक्षित हो कठोर तपश्चरण कर निर्वाण प्राप्त करता है। इस प्रकार कवि प्रद्युम्नके चरित्रका महनीय रूप उपस्थित किया है। अन्य पुरुषपात्रोंमें नारद, श्रीकृष्ण, बलराम और कालसंवर प्रमुख हैं। कालसंवरका चरित्र उदात्त है। उसका हृदय विशाल और दयालु है। गुफामें नवजात शिशुके दिव्यलावण्यको देखकर वह द्रवीभूत हो जाता है और वृहद् शिलाखण्डको हटाकर शिशुको अपनी पत्नीको सौंप देता है। पाँच सौ पुत्रोंके रहनेपर कंचनमाला उसे लेनेसे इनकार करती है तथा युवराज पद देनेकी शर्त स्वीकार कर लेनेपर ही उसे ग्रहण करनेकी बात कहती है। वह तत्काल उसकी शर्त स्वीकार कर लेता है। उसकी शिक्षा-दीक्षाका पूर्ण प्रबन्ध करता है। कालसंवर दयालु होनेके साथ वीर है। वह प्रद्युम्नके साथ बड़ी ही वीरतापूर्वक युद्ध करता है। अन्य पात्रोंका चरित्र पुराणोंके समान ही है।

नारी चरित्रोंमें रुक्मिणी और सत्यभामाके चरित्रमें सपत्नीद्वेष वर्तमान है। वे दोनों रूपलावण्यवती, ममतामयी माताएँ और एक दूसरीको नीचा दिखलानेके लिए निरन्तर प्रयास करती हैं। सत्यभामाकी अपेक्षा रुक्मिणी अधिक सुन्दरी और विवेकवती है। नारद द्वारा गुणश्रवण कर उसके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति अनुराग उद्बुद्ध होता है और वह मनसे श्रीकृष्णका वरण कर लेती है। फलतः श्रीकृष्ण उसका अपहरण करते हैं। माताकी ममता भी उसमें है। प्रद्युम्नके अपहरणके समयका उसका करुण विलाप पाषाण हृदयको भी द्रवित कर देता है।[1] पुत्रके वापस लौट आनेपर उसे अपार हर्ष होता है। पुत्रकी बाललीला देखनेके लिए वह लालायित है अतः प्रद्युम्नसे वह बालक्रीड़ाएँ करनेका निर्देश करती है। माताका हृदयकमल पुत्रकी बाललीलाओं-[2] को देखकर विकसित हो जाता है। कवि नारीसुलभ समस्त गुण धर्मोंका समवाय रुक्मिणीके चरित्रमें दिखलाया है।

रसभाव योजना

सहृदयोंकी चित्तवृत्तियोंमें अनन्तरूपसे परिव्याप्त रहनेवाले संस्कारोंको ही भावकी संज्ञा दी जाती है। अतएव मानवीय संस्कार ही अनुकूल परिस्थितियोंमें प्रबुद्ध हो रस अथवा आनन्दके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं। रसरूपमें परिणत अथवा पर्यवसित होनेवाले भावोंके उद्दीपक हेतुपरक मनोविकारोंको विभाव कहते हैं। ये आलम्वन और उद्दीपन दो विभागोंमें विभक्त हैं। आलम्बन विभाव स्थायी भावको अंकुरित और उद्दीपनसे पल्लवित करता है। जो अन्तस्थ भावोंका शारीरिक चेष्टाओं आदिके द्वारा अनुभव कराते हैं तथा रत्यादि स्थायी भावोंका अनुगमन करते हैं, वे अनुभाव हैं। इस प्रकार आलम्बन विभावसे उद्‌बुद्ध, उद्दीपनसे उद्दीप्त, व्यभिचारी भावोंसे

---

[1] प्रद्युम्नचरितम् ५।१४-१७।

[2] वही, ६।२८५-२९५।

परिपुष्ट तथा अनुभवों द्वारा व्यक्त हृदयका स्थायी भाव ही रसदशाको प्राप्त होता है।[1]

शृंगाररस

संयोग शृंगारका चित्रण इस काव्यमें रुक्मिणी और श्रीकृष्णकी केलि-क्रीड़ाके रूपमें आया है। श्रीकृष्ण रुक्मिणीके भवनमें शृंगारिक क्रीड़ाएँ करते हुए रहने लगे, तो सत्याको ईर्ष्या हुई। एक दिन उन्होंने पान, सुपाड़ी एवं लवंगादि सुगन्धित पदार्थोंके चर्वित अंशको अपनी चादरके कोनेमें बाँध लिया। जब वे सत्याके भवनमें पधारे तो उसने उस सुगन्धित चर्वितांशको खोलकर अंगलेप तैयार किया। श्रीकृष्ण सत्याकी इस अज्ञतापर हँस दिये, जिससे वह और अधिक रुष्ट हुई। कविने संयोग शृंगारकी इन क्रीड़ाओंका सरस चित्रण किया है—

नर्मंमर्मंपरिचालनागिरः सत्यया सह विधाय केशवः।
स्वाञ्चलस्थागितवक्त्रपङ्कजः स्वापकेलिमवलम्ब्य तस्थिवान् ॥३।४५

यहाँ रुक्मिणी आलम्बन और श्रीकृष्ण आश्रय हैं। रुक्मिणीके साथ भोगे हुए भोगोंको श्रीकृष्ण सत्याके यहाँ शृंगारोचित सापत्निक ईर्ष्याके रूपमें व्यक्त करते हैं। अतः रति स्थायी भावकी अभिव्यक्ति होती है—

मालती, चन्दन, शरत्कालीन चाँदनी, कमल, घनसार, उशीर आदि शीतलता प्रदान करनेवाली वस्तुएँ सन्तापको वृद्धिगत ही करती थी। विरहाग्निसे सन्तप्त उसे किसी भी प्रकार शान्ति प्राप्त नहीं हो रही थी।

इस सन्दर्भमें हेमरथकी पत्नी आलम्बन है। उद्दीपन वसन्त ऋतु है। अनुभाव हैं मधुकी शारीरिक चेष्टाएँ और संचारी हैं—हर्ष, चिन्ता, औत्सुक्य आदि।

करुणरस

प्रद्युम्नके अपहरणके समय रुक्मिणीका शोकोद्गार करुण रसके अन्तर्गत है। कवि उनकी अवस्थाका चित्रण करते हुए कहा है—

दैवेन सा प्रतिहतेव सुदारुणेन भूमौ पपात सहसा प्रविकीर्णकेशा।
बोधंगता परिजनेन कृतोपचारा वक्षो जघान च रुरोद च मुक्तकण्ठम् ॥५।५
हा बाल हा कुटिलकुन्तल हा सुनास हा पूर्णचन्द्रमुख हा शतपत्रनेत्र।
हा कामपाशसमबन्धुरकर्णपाश, हा हारिकम्बुगल हा दृढबाहुशीर्ष ॥५।६

इस प्रसंगमें आलम्बन विभाव—प्रद्युम्नका अपहरण—वियोग है। उद्दीपन विभाव प्रद्युम्नका सौन्दर्य, उसके कुटिलकेश, सुन्दर नाक, पूर्णचन्द्र-मुख, शतपत्र कमलके समान नेत्र, कामपाशके समान कर्णपाश, शंखके समान गर्दन और दृढ़ भुजाएँ हैं।

---

[1] कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥२८॥ —का० प्र०, प्रभाग ४ उ०, ४३ सूत्र।

अनुभाव—रुदन, उद्वास, छाती पीटना, मूर्च्छा, भूमिपतन, प्रलाप, केशोंका खुलना आदि हैं। संचारी भाव-ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उन्माद हैं। स्थायी भाव शोक है। रुक्मिणीके समान श्रीकृष्णके करुणविलापका भी चित्रण पाया जाता है।

वीररस

युद्ध सन्दर्भोमें वीररसकी व्यंजना हुई है। रुक्मिणी हरणके समय श्रीकृष्णने विदर्भनरेशकी सेनाके साथ भयंकर युद्ध किया। प्रद्युम्न और कालसंवर तथा प्रद्युम्न और श्रीकृष्णके युद्धप्रसंगमें भी वीररसका चित्रण आया है। इन समरोंके सन्दर्भोमें दोनो ओरके योद्धाओके गर्जन-तर्जन एवं दर्पोक्तियाँ सुनाई पड़ती हैं। हाथी हाथियोंके साथ, घोडे घोड़ोंके साथ, रथ रथोंके साथ एवं पैदल सैनिक पैदल सैनिकोंके साथ युद्ध करते है। वीरोकी चमकती तलवारें कायरोंके हृदयमें भी वीरताका संचार करती हैं। सेनाओंकी साजसज्जा, हुकार, गमन एवं प्रतिपक्षियोंके सम्बन्धमें व्यंग्यबाण वीरताका सजीव रूप प्रकट करते है—

शोरिणा निशितशास्त्रमोचिना नाशितं बलमितस्ततो गतम् ।
मुक्तचण्डतरवारिसंकुलं मेघवृन्दमिव वायुनोन्नतम् ॥३।२०
वीक्ष्य भग्नमथ रुक्मिणा बलं रोषरक्तवदनेन धावता।
रौहिणेयमभिसंदधे शरः कार्मुके क्वणितभीतकातरे ॥३।२१

तीक्ष्ण अस्त्रोंका प्रहार करनेवाले बलरामने शत्रुसेनाको अस्त-व्यस्त कर दिया। उन्होंने तलवारके प्रहारसे शत्रुसेनाको उस प्रकार विघटित किया, जिस प्रकार वायुके वेगसे मेघसमूह विघटित हो जाता है। रुक्म अपनी सेनाको दुर्गति देखकर बहुत क्रुद्ध हुआ और लाल मुँह किये हुए बलरामकी ओर दौड़ा। उन्होने टकारमात्रसे ही शत्रु सेनाको भयभीत करनेवाले धनुषपर बाण चढ़ाया। यहाँ शिशुपाल और रुक्म आलम्बन है। शत्रु सेनाका पराक्रम तथा रुक्मका स्वयं युद्धके लिए प्रस्तुत होना उद्दीपन विभाव है। रोमांच, गर्वीली वाणी, शत्रुओंकी ललकार अनुभाव है।

भयानक रस

रणस्थलीके वर्णनमें भयानक रस आया है—

शैलेन्द्राभैः पातितैः कुञ्जरौघैर्दुःसंचारैः स्यन्दनैश्चापि भग्नै. ।
मल्लूकानां फेत्कृतैरन्त्रभूषैर्वेतालैस्तद्भीममासीत्कटद्भिः ॥१०।१६

पर्वतके समान विशालकाय हाथियोंके गिरनेसे, टूटे हुए रथोंके कठिनाईपूर्वक चलनेसे, भालुओके फेकरनेसे एवं भीमकाय नाचते हुए वेतालों से वह रणस्थली भयानक प्रतीत हो रही थी।

यहाँ आलम्बन रणभूमि, उद्दीपन मृत हाथी और भालुओकी फेकारसे उत्पन्न भयंकरता, अनुभाव—रोमांच, स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य आदि; संचारी-शंका, ग्लानि, आवेग, मूर्छा आदि एवं भय स्थायी भाव है।

रौद्ररस

धूमकेतु दैत्य अपने पूर्वजन्मके शत्रु मधुराजाको प्रद्युम्नके रूपमें प्राप्त कर क्रोधसे आगबबूला हो जाता है। यथा—

शिशुममुं प्रविलोक्य स दानवः स्मृतपराभवकारणकोपतः।
हसति जल्पति दारुणमीक्षते किमिति ते विदधामि सुदुष्करम् ॥४।४०

प्रद्युम्नको देखकर धूमकेतु क्रोधाभिभूत हो हँसता है, कठोरतापूर्वक देखता है तथा कहता है कि बोल तुझे कौन-सा कठोर दण्ड दिया जाय।

यहाँ प्रद्युम्न आलम्बन और धूमकेतु आश्रय है। प्रद्युम्नका शैशवरूपमें दिखलाई पड़ना उद्दीपन विभाव है। पत्नीके अपहरणका स्मरण अनुभाव है। आमर्ष, उग्रता अनुभाव है।

अद्‌भुतरस

प्रद्युम्न बालक रूपमें सत्यभामाके भवनमे जाकर समस्त खाद्यका भक्षण कर गया, तो भी अतृप्त रहा। इस छोटेसे बालकको इतना अन्न खाते देखकर किस व्यक्तिको आश्चर्य नही होगा। यथा—

महामण्डकौघानपूपानसंख्यानुदश्विद्दधिक्षीरतैलोदनानि।
अदन्नेष विप्रः शिशुर्नैव तृप्तिं व्रजत्यल्पकायो निरीक्ष्यध्वमेनम् ॥ ९।२१५
महच्चित्रमेतच्छिशुस्तृप्यते नो गजाश्वोष्ट्रभृत्यक्षितीशार्थसिद्धम्।
समस्तं प्रभक्ष्याप्यसंतुष्टचित्तः कथं जीवतीत्थं स्वगेहे द्विजोऽयम् ॥९।२१६

घेवर, पुये, माठे—पक्वान्नविशेष, दही, दूध, तैल, भात, व्यंजन, शाक आदि समस्त पदार्थोंके भक्षण करनेपर भी वह बालक तृप्त न हुआ। आश्चर्य है कि यह हाथी घोड़े, ऊँट, सेवक आदि समस्त राजकीय पदार्थोंके भक्षण करनेपर भी सन्तुष्ट न होगा, यह अपने घरमें किस प्रकार जीवित रहता है।

इसी प्रकार रुक्मिणीके समक्ष की गयी बालक्रीड़ाएँ, द्वारकामें श्रीकृष्ण बलरामके रहते प्रद्युम्न द्वारा मायामयी ढंगसे रुक्मिणीका अपहरण कौतूहलका सृजन करता है।

शान्तरस

अंगीरस शान्त है। द्वारका-दहनकी भविष्यवाणी सुनकर प्रद्युम्न विरक्त होता है। संसारके विषयभोग उसे निस्सार प्रतीत होने लगते हैं। उसका निर्वेद वृद्धिगत होता है। तीर्थंकर नेमिनाथका उपदेश उसके अन्तरंगको विरक्तिसे भर देता है। वह सोचता है—

स्वप्नेन्द्रजालफेनेन्दुमृगतृष्णेन्द्रचापवत्।
सर्वेषां संपदत्यर्थं जीवितं च शरीरिणाम् ॥ १२।५९

मैत्री न शाश्वती भूम्यां संयोगः सविपर्ययः ।
इति ध्यात्वा जनैः कार्यं तपोवननिषेवणम् ॥ १२।६१

यहाँ संसारकी असारताका बोध आलम्बन विभाव, उपदेश, द्वारका विनाशकी भविष्यवाणी, अध्यात्म-प्रवचन आदि उद्दीपन हैं। शारीरिक रोग, पंचपरावर्तनरूप संसारके त्यागकी तत्परता आदि अनुभाव हैं। निर्वेद स्थायीभाव है। पौराणिक आख्यानोंका चिन्तन वैराग्य वृद्धि और तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक है। शान्तरसकी स्थितिमें विषयसुखका अभाव होनेसे आत्मसुखकी समृद्धि होती है।

अलंकार-योजना

भावोंके स्वाभाविक उद्रेक और विभावोंके प्रत्यक्षीकरणके हेतु प्रत्येक कवि अपने काव्यमें अलंकारोंकी योजना करता है। कवि महासेनने संगीत तत्त्वकी वृद्धिके लिए अनुप्रासकी योजना की है।

१. अनुप्रास

मुखपङ्कजं मुखसुगन्धि यया नहि पीयतेऽस्य सरसं सुदृशा। ८।११७

मुखपंकज और मुखसुगन्धिमें अनुप्रास है। इसी प्रकार 'त्वद्दुःखतः परमदुःखमुपैति नूनं' (५।३२) में दुःख शब्दकी आवृत्ति हुई है।

२. यमक

प्रद्युम्नचरितमें यमककी योजना कई स्थलोंमें हुई है। यथा—

नवयौवनं लवणिमानुगतं सकलाकला निरुपमो विभवः ।
विफलं भवेन्मम समस्तमिदं यदि सेव्यते नहि मिथः सुभगः ॥ ८।११६

प्रद्युम्नके सुन्दर लावण्ययुक्त वपुको देखकर कंचनमाला सोचने लगी—नवयौवन, लावण्यपूर्ण, समस्त कलाओंसे युक्त, अनुपम वैभव युक्त इस सुन्दरका यदि सेवन न किया तो मेरे लिए सभी निरर्थक है।

"इति वल्लभोक्तमवधार्य" (८।१७३) मे म और न की आवृत्ति, 'समस्तचिन्तयंस्तदपि चापचितं" (८।१७४) में च और त वर्णकी आवृत्ति हुई है।

३. पुनरुक्ति

भावको रुचिर बनानेके लिए एक ही बातको बार-बार कहनेपर पुनरुक्ति अलंकार आता है। यथा—

गिरिकन्दरेऽतिविषमे रिपुणा पिहितस्य नो मम तदा सविधे ।
जननी न चापि जनकः शरणं शरणं त्वमेव तनु नास्त्यपरः ॥ ८।१६७

अनुचित प्रस्ताव करनेपर प्रद्युम्न कांचनमालासे निवेदन करता है कि जब अत्यन्त विषम पर्वत गुफामें शत्रुने बन्द कर दिया था, तब माता-पिता कोई रक्षक नहीं हुए। आप ही शरण थी।

यहाँ शरणं शरणंमें पुनरुक्ति है।

४. वीप्सा

आदर, घृणा आदि किसी आकस्मिक भावको प्रभावित करनेके लिए जहाँ शब्दोंकी आवृत्ति होती है, वहाँ यह अलंकार आता है। यथा—

हा तात हा यदुकुलार्णवपूर्णचन्द्र, हा सुन्दरावयव हा कलहंसनाद।
हा वत्स बान्धवमनोऽम्बुजराजहंस यातः क्व पुत्र गुणमन्दिर मां विहाय ॥५।१३

पुत्र शोककी अभिव्यंजनाके लिए हंस, हंस शब्दकी आवृत्ति तथा र्ण, व और हा वर्णकी आवृत्ति यमकके साथ वीप्साकी योजना करती है। इस आवृत्तिने शोकोद्गारको मूर्तरूप दिया है।

५. श्लेष

अनेक अर्थोंका अभिधान करनेवाले शब्दोंकी योजनासे श्लेषालंकार होता है। महासेनने नदियोंके तटका श्लेषमें वर्णन करते हुए कहा कि उचित वस्त्र धारण किये कामको सम्पन्न करनेवाले विशाल पण्यांगनाओंके जघनके समान असंख्य भोगीगणोंसे भोगकर छोड़ दिये गये नदीनितम्ब सुशोभित हो रहे हैं। यहाँ नदीनितम्ब और भोगीगणमे श्लेष है—

चकाशिरे यत्र नदीनितम्बा भुक्तोज्झिता भोगिगणैरसंख्यैः।
स्वस्थाम्बराः कामकृतो विशालाः पण्याङ्गनानां जघनैः समानाः ॥ १।९

६. उपमा

अर्थालंकारोंमें उपमाका स्थान महत्त्वपूर्ण है। सादृश्यमूलक अलंकारोंका यह सर्वस्व है। महासेनने अनेक उपमानोंकी योजना कर भावोंमें उत्कर्ष उत्पन्न किया है। यथा—

ददर्श भीष्मं विजितारिमण्डलं तपोधनस्तत्र वशी विशांपतिम्।
ररञ्ज तं श्रीमतिसंज्ञिका वधू. समृद्धदानं करिणीव दन्तिनम् ॥२।२६

इस पद्यमें 'करिणीव' उपमान हथिनीके उन्माद और उसकी अनुरंजन-शक्ति रानी श्रीमतीके यौवन और अनुरंजन-सामर्थ्यका दृश्य उपस्थित करता है।

कुण्डिनपुरको शिशुपालने अपनी सेनासे उस प्रकार वेष्टित कर लिया था, जिस प्रकार नक्षत्रपंक्ति सुमेरुको।

पूर्वमेव शिशुपालभूपतिस्तत्परीत्य परितः पुरं तदा।
भूयसा निजबलेन तस्थिवान् मेरुश्रृङ्गमिव तारकागणः ॥ ३।३

कविने कतिपय पौराणिक उपमान प्रस्तुत कर पौराणिक सन्दर्भांशोंकी उपस्थितिसे प्रसंगोंको रसमय बनाया है। प्रद्युम्नके जन्मके समय द्वारकाकी शोभा उसी प्रकार हुई थी, जिस प्रकार शान्तिनाथ चक्रवर्तीके जन्मके समय हस्तिनापुरकी शोभा हुई थी। यथा—

क्षितिपतेः सुतजन्ममहोत्सवे पुरमवाप परां रमणीयताम् ।
गजपुरं परभागमगाधया जनककालमहे जिनचक्रिणाम् ॥ ४।२३

इसी प्रकार 'रोहिणीव शशाङ्कस्य' द्वारा अरिंजयके साथ प्रीतिकराके शोभित होनेका चित्रण किया गया है।

७. उत्प्रेक्षा

कवि उत्प्रेक्षाका धनी है। वह द्वारकाकी सुन्दरियोंके अपूर्व लावण्यका वर्णन करता हुआ कहता है—

लावण्यरूपादिगुणातिरेकं यत्सुन्दरीणामवलोक्य मन्ये ।
अद्यापि तद्विस्मयतः सुराणां चलापि दृग् निश्चलतामवाप ॥ १।२७

देव द्वारकाकी रमणियोके अनिन्द्य लावण्यको देखकर आश्चर्यचकित हो एकटक दृष्टिसे उन्हें निहारने लगे, इसी कारण उनकी चंचल दृष्टि निश्चलताको प्राप्त हो गयी है।

८. रूपक

समुद्रमें नायकका आरोप करता हुआ कहता है कि यह अपनी चंचलतरंग रूपी हाथोंसे द्वारकाके नितम्ब—तटका स्फालन—विस्तार करता हुआ द्वारकारूपी परस्त्रीके संगमके भयसे दूर चला जाता है। यथा—

कल्लोलहस्तैस्तरलैर्यदीयं नितम्बमास्फाल्य विकम्पमानः ।
पलायते दूरतरं पयोधि. पराङ्गनासंगमयेन नूनम् ॥ १।२३

इसी प्रकार ध्वजतोरणोमें हाथका आरोप कर भव्योंके बुलाये जानेका "पताकाकरपल्लवेन" (१।२८) द्वारा निर्देश किया है। कौशल देशकी नदियोमें नायिकाका आरोप (६।५) कर भावोंकी व्यंजना की है।

९. भ्रान्तिमान्

द्वारकाके सरोवरोको देखकर पयोधरोंको समुद्रका भ्रम हो जाता है, अतः वे उनमें प्रविष्ट हो जलपान करते हैं। यथा—

भ्रान्त्या पयोधेः सरसीं विगाह्य पाथः पयोदा परितः पिबन्तः ॥१।१३

१०. सन्देह

नारद भीष्मकन्या रुक्मिणीको देखकर सन्देहमें पड जाते हैं कि यह इन्द्राणी है या किन्नरांगना अथवा चन्द्रमाकी पत्नी रोहिणी? कहीं यह धृति, क्षमा, श्री, सरस्वती अथवा रति तो नहीं है? यथा—

सुरेन्द्ररामा किमु किन्नराङ्गना किमिन्दुकान्ता प्रमदाथ भूभृताम् ।
नभःसदां स्त्री उत यक्षकन्यका धृतिः क्षमा श्रीरथ भारती रतिः ॥२।५१
किमङ्ग कीर्तिः किमु नागनायका जितान्यकान्ताजनिकान्तिविभ्रती ।
वपुःकृता लेख्यपदं विकल्पिनो ममेति केयं वद तात सुन्दरी ॥२।५२

११. अपह्नुति

धारिणोके अनिन्द्य लावण्यको देखकर मधु कहता है कि यह रति नहीं है, रतिको अपने रूपसे पराजित करनेवाली यह तरलाक्षी चन्द्रमाकी चाँदनीकी रूढिको प्राप्त है। यहाँ रति रूपका अपह्नव कर धारिणोके सौन्दर्यकी प्रतिष्ठा की है—

रूपनिर्जितरतिं तरलाक्षीं चन्द्रभासमिति रूढिमुपेताम् ॥७।१५

१२. अतिशयोक्ति

कविने सौराष्ट्र देशको नारियोंके कपोलकी कान्तिका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण किया है। यथा—

सीमन्तिनीकान्तकपोलकान्तिलावण्यसद्वृत्तपराजयेन ।
अद्यापि धत्ते मलिनत्वमन्तश्चन्द्रः समद्भूतह्रियेव यत्र ॥१।१९

द्वारका नगरीमें रात्रिके समय तरुणी नारियोंकी कपोलरूपी चाँदनीके प्रकाशसे भवनोंके पदार्थ प्रकाशित रहते है। अतएव वहाँके निवासी केवल मंगलके लिए रात्रिमें दीपक प्रज्वलित करते हैं। यथा—

यत्र प्रदोषे तरुणी कपोलज्योत्स्नाप्रकाशेन कृतावभासे ।
ग्राह्ये पदार्थे भवनेषु दीपा लोकैः प्रबोध्या गृहमङ्गलार्थम् ॥१।३१

१३. निदर्शना

कवि भीष्मकन्या रुक्मिणीका तीन उपमान वाक्यों द्वारा वर्णन करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार हिमालयसे पार्वती, समुद्रसे लक्ष्मी और ब्रह्मासे सरस्वतीका जन्म हुआ, उसी प्रकार भीष्मसे रुक्मिणीका जन्म हुआ है। यहाँ प्रथम तीन वाक्य उपमान है और चौथा वाक्य उपमेयके रूपमें कहा है—

नगाधिराजादिव शम्भुवल्लभा यथोदधेः श्रीर्जनिता मनोरमा ।
हिरण्यगर्भाच्च यथा सरस्वती तथा च भीष्मादजनिष्ट रुक्मिणी ॥२।६५

१४. व्यतिरेक

जहाँ उपमानकी अपेक्षा उपमेयके गुणाधिक्य वर्णन द्वारा उत्कर्ष कथन किया जाय, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। सत्यभामाने अपनी दृष्टियोंसे हरिणियोंको, वाणीसे कोकिलाको, गतिसे हंसिनीको, सुकेशोंसे चमरीको और श्रेष्ठ उन्नत वंशमें उत्पन्न होनेसे सालवृक्षको जीत लिया है। यथा—

मृगाङ्गना सा च विलोकितेन गिरान्यपुष्टां शशिनं मुखेन ।
गतेन हंसीं चमरीं सुकेशैः सालं विजग्ये पृथुवंशजाता ॥१।४७

१५. अर्थान्तरन्यास

कविने अर्थान्तरन्यासकी योजना करते हुए लिखा है कि अन्धकारके बढ़नेपर ऊँच-नीच प्रदेशका भेदभाव समाप्त हो गया है । अज्ञानसे मलिन होनेपर गुणाधिकव्यक्ति भी गुण-गौरवको प्राप्त नहीं होता ।

सति तमोनिकरे प्रविजृम्भिते सममवत्समता स्थलनिम्नयोः ।
प्रभुतमे मलिने हि गुणाधिको न लभते गुणगोरवमद्भुतम् ॥४।१०

१६. परिसंख्या

एकत्र निषेध कर अन्यत्र प्रतिष्ठा की जानेपर परिसंख्या अलंकार आता है । यथा—

निसर्गलावण्यमये कपोले भानोः करा एव न पार्थिवानाम् ॥१।१७

१७. विभावना

कारणान्तरकी कल्पनासे विभावनाका सृजन होता है । यथा—

पश्चिमार्णवतरङ्गसहस्रैरूर्ध्वपातिभिरतीव विलोलैः ।
तत्क्षणात्त्वमसि पाटलरागात्क्षालितेव गलिता ननु संध्या ॥५।६२

१८. असंगति

कवि ने श्रीकृष्णके सौन्दर्यका अवलोकन करते समय द्वारकाकी नारियोंको अस्त-व्यस्त रूपमें चित्रित कर असंगतिकी योजना की है ।

काचिदायतविलोचनोत्सुका कज्जलेन तिलकं कपोलयोः ।
कुङ्कुमं नयनयोर्निधाय च प्रारुरोह भवनाग्रकुट्टिमम् ॥३।२०

१९. विरोधाभास

कवि विरोधाभासकी योजना करता हुआ कहता है—

मातङ्गसङ्गसक्तोऽपि भुञ्जानो मेदिनीमपि ।
श्रीमनोनेत्रचौरोऽपि स तथापि सतां मतः ॥६।१४

मातङ्ग—चण्डालके साथ रहनेपर भी सतां—सज्जनों द्वारा मान्य है, यह विरोधाभास है । यतः जो नीच दुराचारी चाण्डालके साथ रहेगा, वह सज्जनों द्वारा मान्य नही हो सकता । परिहार—हाथियोंके सहित होनेपर भी वह सज्जनों द्वारा मान्य था ।

२०. स्वभावोक्ति

रुक्मिणीकी गर्भावस्थाका स्वाभाविक चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

नयननिर्मलता तनुपाण्डिमा मलिनिमा कुचचूचकयोर्भृशम् ।
अलसता गमनेऽकृशतोदरे सममवत्सुतनोर्गुरुगर्भतः ॥४।१४

प्रद्युम्नकी बालचेष्टाओंका वर्णन करते हुए लिखा गया है—

लीलोपसर्पी प्रहसी स्वमातुः स्तनन्धयोऽनेकविकासदक्षः ।
तिष्ठन् स्वयं प्रोत्थितिरीषदीषत्प्रसर्पको जानुगतिः क्रमेण ॥९।२८९
उत्थाय भूयः पतनं स्थिरात्मा मातुः कराळम्बगतिः प्रधावन् ।
नाना मणिद्योतितकुट्टिमेषु भ्रमन् वदत्किञ्चिदनक्षरं सः ॥९।२९०

प्रकृति चित्रण

वसन्त, शरत्, सन्ध्या, रजनी, चन्द्र, सूर्य, उषाका चित्रण कर मनोरम प्रकृति-चित्र उपस्थित किये हैं। कवि वसन्तका उद्दीपन रूपमें चित्रण करता हुआ कहता है—

सर्वतो मुकुळयन् सहकारान् पुष्पयन्ननु वनं वनराजीम् ।
अन्तरेऽत्र समवापवसन्तः क्षारसेवनमिव क्षतमध्ये ॥७।३७

वसन्तमें रात्रिकी क्षीणताका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

यामिनी प्रियतमाप कृशत्वं खण्डितेव शशिना दयितेन ।
वायवो मळयजा वधुरस्य तापशान्तिकृतये कृपयेव ॥ ७।३८

छन्दो-योजना

मानवकी रागात्मक वृत्तियोंकी अभिव्यंजनाका सबसे अधिक प्राचीन, वरिष्ठ एवं व्यापक रंगमंच काव्य है। काव्य अपनी विशद एवं पूर्ण अभिव्यंजनाके लिए अथवा अपनी अभिव्यक्तिको दूसरे हृदयमें प्रतिष्ठित करनेके लिए जिन अनेक चित्र-संगीतमय इंगितायासोंका आश्रय ग्रहण किया जाता है, उनमें नाद सौन्दर्यकी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण छन्द है। प्रबोधचन्द्र सेनका इस सम्बन्धमें अभिमत है—"कविताका छन्द एक ध्वनि सम्बन्धी कला है, किन्तु इस ध्वनिका सम्बन्ध यन्त्रसे नहीं, मनुष्यके कण्ठसे है।.... जब हम कुछ कहते है या कुछ पढ़ते हैं तब हमारी कण्ठध्वनि अविराम प्रवाहके रूपमें बहती रहती है। बल्कि नाना विचित्र भंगियोंके बीच-बीचमे विरत होती रहती है। केवल बातचीत या गद्य पढ़ने ही के समय नही, कविताके छन्द पढ़ते समय भी ध्वनिकी गतिके समान ही यति भी अत्यन्त आवश्यक है। काव्यके छन्दोनिर्माणके समय ध्वनिकी इस यतिको नाना विचित्र कौशलोंसे लगाना पड़ता है। इसलिए हमारी उच्चरित ध्वनिकी कला, व्याप्तिप्रखर और यति तीनों ही बातें छन्दशास्त्रकी प्रथम और प्रधान बाते हैं।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्लने छन्दोयोजनाकी वैज्ञानिक मीमांसा करते हुए लिखा है—"छन्द वास्तवमें बँधी हुई लयके भिन्न-भिन्न ढाँचों (पैटर्न्स) का योग है, जो निर्दिष्ट लम्बाईका होता है। लय-स्वरके चढ़ाव-उतार स्वरके छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं, जो किसी छन्दके चरणके भीतर व्यस्त रहते हैं।"[2] मात्रा, वर्ण, रचना,

---

१. साहित्यसाधनाकी पृष्ठभूमि, बुद्धिनाथ झा कैरव, सन् १९५३, पृ० ५३।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काव्यमें रहस्यवाद, पृ० १३५, प्रथम संस्करण, संवत् १९८६।

विराम और यति सम्बन्धी नियम जिस वाक्य रचनामें पाये जायें, वह वाक्य रचना छन्द है। 'छन्दयति आह्लादयति असून्' अर्थात् जिससे हृदयका आह्लादन या प्रसादन हो, वही छन्द है। अतएव स्पष्ट है कि छन्दमें प्रासादिकता या उसकी अनुरंजनकारिणी स्फूर्ति वर्तमान रहती है। काव्यमें प्रसादगुणका संचार करानेवाला उपादान छन्द है।

छन्द शब्दका एक अर्थ बन्धन एवं छादन भी है। वह लयकी गति और उसके अविराम स्वर प्रवाहको समयकी सुनिश्चित इकाइयोंमें बाँधकर भावोंको अधिक प्रेषणीय बनाता है। अतः छन्द-बन्धन लयात्मक सुन्दरताकी रक्षाके हेतु स्वीकार किया गया है। 'प्रद्युम्नचरितम्' में उपजाति, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, वंशस्थ, रथोद्धता, प्रहर्षिणी, द्रुतविलम्बित, पृथ्वी, अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, हरिणी, स्वागता, प्रमिता, मालिनी, ललिता, मत्तमयूर, वंशोन्नत, शालिनी और स्रग्धराके प्रयोग पाये जाते हैं। काव्यमें प्रयुक्त छन्दोंका विश्लेषण निम्न प्रकार है—

१. उपजाति १।१, २. वसन्ततिलका १।५०, ३. शार्दूलविक्रीडित, १।५१, ४. वंशस्थ २।१, वसन्ततिलका २।७५, ५. रथोद्धता ३।१, शार्दूलविक्रीडित ३।७६, ६. प्रहर्षिणी ३।७७, ७. द्रुतविलम्बित ४।१, ८. पृथ्वी ४।६३, वसन्ततिलका ४।६५, वसन्ततिलका ५।१, शार्दूलविक्रीडित ५।१५०, ९. अनुष्टुप ६।१, १०. उपेन्द्रवज्रा, ६।९१, ११. हरिणी, ६।९२, १२. स्वागता ७।१, शार्दूलविक्रीडित ७।११२, १३. प्रमिता ८।१, शार्दूलविक्रीडित ८।१९५, स्वागता ८।१९६, १४. मालिनी ८।१९७, १५. ललिता ९।१, द्रुतविलम्बित ९।२३, मालिनी ९।२५, हरिणी ९।२६, १६. मत्तमयूर ९।२७, शार्दूलविक्रीडित ९।२८, १७. वंशोन्नत ९।२९, ललिता ९।३०-३५, वसन्ततिलका ९।३६-३७, ललिता ९।३८, शार्दूलविक्रीडित ९।४२, स्वागता ९।४३, वसन्ततिलका ९।८६, १८. मन्दाक्रान्ता ९।८९, शार्दूलविक्रीडित ९।९१, स्वागता ९।९२, शार्दूलविक्रीडित ९।२१७-२१९, उपजाति ९।२२०, शालिनी ९।३४९, शालिनी १०।१, वसन्ततिलका १०।३०, अनुष्टुप् १०।३१, शार्दूलविक्रीडित १०।८५-८६, द्रुतविलम्बित ११।१, अनुष्टुप् १२।१, १९. स्रग्धरा १२।६४, वसन्ततिलका १३।१, शार्दूलविक्रीडित १३।४४, २०. वंशस्थ १४।१, शार्दूलविक्रीडित १४।६४, स्रग्धरा १४।६५, शार्दूलविक्रीडित १४।६६।

इस प्रकार कवि महासेनने संगीत और माधुर्य उत्पन्न करनेके लिए विविध छन्दोंका व्यवहार किया है।

भाषा और शैली

प्रसादमधुरा वाणी द्वारा संस्कृत काव्यकी रससरिताको प्रवाहित करनेवाले कवि महासेनकी काव्यशैली वैदर्भी है। अल्पसमास या असमस्यन्त पदोंका व्यवहार पाया जाता है। सरलता, स्वाभाविकता और प्रसादमयता ये तीनों गुण इस काव्यमें समाहित हैं। क्लिष्ट एवं चित्रमय प्रयोग प्रायः नहीं है। शास्त्रीय पाण्डित्य, जिसके

व्यवहारसे काव्यमें विषयगत दुरूहता आती है, इस काव्यमें नहीं आने पायी है। बुद्धचरित और रघुवंशके समान शैलीगत सरलता और स्वच्छता वर्तमान है। पदलालित्यके लिए निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य है—

न दीनजाता न चलस्वभावा न निम्नगा वा न कलङ्कितापि।
अकाशया नैव च सत्यभामा भार्याभवत्तस्य पराजितश्रीः ॥ १।४६

रक्ताशोकहृदशोकपल्लवे (३।५८), कुटिलकुन्तलमण्डितमस्तकं (४।५४), एवं मोहान्धकारपटलैकनिशाकराय (५।५२) में पदलालित्य समाहित है।

चित्रणक्षमता भी महासेनमें पायी जाती है। उन्होंने अपनी अनुभूतिको सावधानीपूर्वक शब्द-रेखाओंमें अंकित करनेका प्रयास किया है। रुक्मिणीके चित्रांकित सौन्दर्यको देखकर श्रीकृष्ण स्वयं ही चित्र बन गये—

पटे समारोपितरूपसंपदं विलोक्य तन्वीं विषमाहिमर्दनः।
विमोहितो वा लिखितोऽथवाभवत् समाधिमापन्न इवोन्मना इव ॥ २।७४

समाधि टूटनेपर कृष्ण रुक्मिणीके उठते हुए सौन्दर्यका अवलोकन करते हैं—

विधुन्तुदः केशकलापमर्मणा मुखेन्दुमादातुमिवाप संनिधिम्।
अजायतास्याः सुपयाधरोन्नतिः समुन्मनीकर्तुमनङ्गकेकिनम् ॥ २।७६

शीतलवायुके चलनेसे संसार काँप रहा है और बादलोंसे मूसलाधार वर्षा हो रही है। कृषक लोग काँपते हुए समस्त हलोपकरणोंको खेतोंमें छोड़कर घर चले गये हैं।

सीत्कारवायुपरिकम्पितविश्वलोके वेगाद्विमुञ्चति जलं नववारिवाहे।
सर्वं हलोपकरणं स विहाय तस्मिन् कृच्छ्राज्जगाम भवनं प्रति वेपिताङ्गः ॥ ५।१०४

प्रसाद, माधुर्य और ओज इन तीनों गुणोंका समन्वय इस महाकाव्यमें पाया जाता है। माधुर्य गुण—

तन्वी स्वयं मुरजिता करपङ्कजाभ्यां उत्थापिता मलयजादिरसेन सिक्ता।
पूर्णं नभो विदधती करुणस्वनेन मूर्च्छां विहाय ह रणा सहसा रुरोद ॥ ५।१६

ओज गुण द्वारा भावोंको दीप्त किया है—

रेणुर्घण्टासैन्ययोर्वारणानां चक्रुः शब्दं काहलं काहलाश्च।
भेरीभम्भास्तूर्यभेदाश्च येऽन्ये चेरुर्विश्वे व्याप्तदिक्काः समन्तात् ॥ ९।३४६

इसी प्रकार खड्गाखड्गक्ष्मारुह (१०।४-८) में भी ओज है।

प्रसाद—

मित्रं समो हारि यशो विभूषा (१।२१), नियतितो जलधौ पतिते रवौ (४।२८) एवं निरूप्य चारुचकोरलोचनां (२।३०) में प्रसाद है।

शैलीको सशक्त बनानेके लिए कविने "प्राकृतो हि विनयो महात्मनाम्" (३।७३), "शाको हि नाम परमां नवतामुपेति" (५।१५), "भर्तृवाक्यवशगा हि योषितः" (३।५४), "मेघवृन्दमिव वायुनोन्नतम्" (३।२०), "प्रायो वैरं निर्निमित्तं हि लोके" (१०।२) एवं "क्षारसेवनमिव क्षतमध्ये" (७।३७) जैसे सूक्ति वाक्योंका प्रयोग किया गया है।

प्रद्युम्नचरितपर पूर्ववर्ती काव्योंका प्रभाव

'प्रद्युम्नचरितम्' सौन्दर्य और शृंगारका काव्य है। इसके प्रथम दो सर्ग बड़े ही रसपेशल और हृदयाकर्षक हैं। इस काव्यके प्रणयनमें कविने सौन्दरनन्द, बुद्धचरित, रघुवंश, मेघदूत, कुमारसंभव, किरात और माघके अध्ययनसे प्रेरणा ग्रहण की है। कतिपय भावस्थलों और पदोंके लिए कवि उक्त ग्रन्थोंका ऋणी है। यह सत्य है कि महाकवि किसी भावको ज्योंके त्यों रूपमें ग्रहण नहीं करता। वह अपनी प्रतिभासे ग्रहण किये गये भावोंमें स्फीति उत्पन्न करता है और उन्हें परिवर्तित कर एक नया रूप प्रदान करता है।

सौन्दरनन्द और प्रद्युम्नचरित

गौतमबुद्धकी प्रेरणासे जब नन्द दीक्षित हो जाता है, तो उसे पत्नीके अभावमें विश्व शून्य प्रतीत होता है। अपनी प्रियाका स्मरण कर वह फूट-फूट कर रोने लगता है। कवि महासेनने अश्वघोषके इस सन्दर्भसे भावसाम्य ग्रहण कर मधु द्वारा धारिणीका अपहरण करनेपर हेमरथका प्रियावियोगजन्य विलाप नन्दके विलापके समान ही अंकित किया है। अश्वघोष कहता है—

स तत्र भार्यारणिसम्भवेन वितर्कधूमेन तमःशिखेन।
कामाग्निनान्तर्हृदि दह्यमानो विहाय धैर्यं विललाप तत्तत् ॥ सौन्द० ७।१२

भार्यारूपी अरणिसे उत्पन्न हुई चिन्तारूपी धुआँवाली तथा शोकरूपी ज्वालावाली कामाग्निसे हृदयमें जलते हुए उसने धैर्य छोड़ कर बहुत विलाप किया।

इस सन्दर्भमें महाकवि अश्वघोषने कामकी अनिवार्यताके सम्बन्धमें पौराणिक आख्यानोंका स्मरण कराकर नन्दसे विलाप कराया है।

प्रद्युम्नचरितमें इस सन्दर्भका प्रभाव अष्टम सर्गमें वर्णित हेमरथके प्रलापमें पाया जाता है। मधु जब हेमरथकी पत्नीका अपहरण कर लेता है, तो वह उन्मत्त जैसा हो विलाप करता है। कविने इस भावका चित्रण निम्न प्रकार किया है—

शून्यमेव हसतिस्म स मोहं यात्यकारणमुपैति च गेहात्।
कण्ठपीठविलुठद्धनबाष्पं हा प्रियेति दयिते च रुरोद ॥ प्रद्यु० ७।७३
कामदुर्दमपिशाचवशेन भ्रष्टराज्यविभव. स धरित्र्याम्।
हा प्रियेति कृततारविरावं भ्राम्यतिस्म शिशुभिः परिवीतः ॥प्र० ७।७४

सौन्दरनन्दमें बताया गया है कि गौतमबुद्धने समस्त राज्योपभोगका त्याग कर संन्यास धारण किया। इस सन्दर्भमें गौतमबुद्धकी विरक्तिके अवसरपर संसारकी क्षणभंगुरताके सम्बन्धमें जिस प्रकारकी भावनाएँ वर्णित हैं, प्रद्युम्नचरितमें प्रद्युम्नके राज्योपभोगके त्यागके अवसरपर उसी प्रकारकी भावनाओंका चित्रण किया गया है। यह सत्य है कि सौन्दरनन्दमें इस सन्दर्भमें काव्यचमत्कारकी अपेक्षा दर्शनतत्त्व मुखर है, जबकि प्रद्युम्नचरितमें काव्यचमत्कार। यथा—

तपसे ततः कपिलवस्तुं हयगजरथौघसंकुलम्।
श्रीमदभयमनुरक्तजनं स विहाय निश्रितमना वनं ययौ ॥सौन्दरनन्द ३।१

प्रद्युम्नचरितमें वर्णित वैराग्य सौन्दरनन्दके तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें सर्गसे प्रभावित है। यद्यपि चन्द्रप्रभचरित, वरांगचरित और पद्मचरितसे उक्त सन्दर्भांश निश्चयतः प्रभावित है, तो भी सौन्दरनन्दका प्रभाव मानना असंगत नहीं है।

कालिदासकी रचनाएँ और प्रद्युम्नचरित

रघुवंश महाकाव्यकी वस्तुवर्णन प्रणालीका प्रभाव 'प्रद्युम्नचरितम्' पर पाया जाता है। रघुवंशके प्रारम्भमे कालिदासने सूर्यवंश—रघुवंशके प्रभावको वर्णन करनेकी अपनी असमर्थता दिखलाते हुए कहा है—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। रघुवंश १।२

प्रद्युम्नचरितमें उक्त वर्णन प्रणाली निम्न प्रकार प्राप्त होती है—

त्वं क्व विप्र कुरुराजसुता क्व,
दूरतस्तु हरणं शबरेण ॥प्र० ९।१५९

... ...

क्व नभसि गतिरस्य क्व प्रधानोरुकम्भः,
क्व च कुसुमधनुष्मान्स्याज्जगत्यां प्रसिद्धः ॥प्र० १०।६९

महाकवि कालिदासने कुमारसंभवमें बताया है कि गुणसमूहके रहनेपर एक दोष नगण्य रहता है। इसी भावको कवि महासेनने भी व्यक्त किया है। दोनों सन्दर्भोंकी तुलना करनेपर महासेनका भाव अधिक सुन्दर प्रतीत होता है। पदलालित्य भी कालिदासकी अपेक्षा अधिक रम्य है। यथा—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ कुमार० १।३

'प्रद्युम्नचरितम्' में द्वारावती नगरीका चित्रण करते हुए लिखा है—

यत्र प्रतोलीजनताप्रवेशनिष्कासंसंबाधनिपीडितोऽपि।
लोको न दोषं मनुते निमग्नो लीलानिधाने गुणवारिराशौ ॥प्र० १।३५

कुमारसंभवमें हिमालयकी स्थितिका चित्रण करते हुए लिखा है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ कुमार० १।१

कवि महासेनने अयोध्या नगरीका वर्णन भी इसी प्रकार किया है। कुमारसम्भवका प्रभाव महासेनपर स्पष्टतया वर्तमान है—

अस्त्यत्र भारते वर्षे कौशलाविषयो महान् ।
स्वच्छाप्सरःसमाकीर्णः स्वर्गलोक इवापरः ॥ प्र० ६।१

कुमारसम्भवमें बताया है कि हिमालयकी गुफाओंमें रातको प्रकाशित होनेवाली जड़ी-बूटियाँ बहुत होती हैं, अतः किरात लोगोंको अपनी-अपनी प्रियतमाओंके साथ उन गुफाओंमें बिहार करते समय वे चमकीली जड़ी-बूटियाँ कामक्रीड़ाके समय बिना तेलका दीपक बन जाती हैं।

प्रद्युम्नचरितमें लिखा है कि द्वारकाकी नारियोंके कपोल रात्रिमें चन्द्रमाके प्रकाशित होते ही दीपक बन जाते हैं। अतः वहाँके निवासी केवल मंगलार्थ ही दीपक प्रज्वलित करते हैं—

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ कुमार० १।२०

प्रद्युम्नचरितमें "अतैलपूराः सुरतप्रदीपाः" कल्पनाका विकास "तरुणीकपोलज्योत्स्नाप्रकाशेन कृतावभासे" द्वारा तरुणीकपोलको ही दीपककी उत्प्रेक्षा की है।

किरात और प्रद्युम्नचरित

'किरातार्जुनीयम्' के कई सन्दर्भ 'प्रद्युम्नचरित'में रूपान्तरित अवस्थामें प्राप्त होते है। अर्जुनका शंकरके साथ अनेक प्रकारका युद्ध होता है। शंकर अर्जुनकी वीरताको देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। अतएव अन्तमें उनका मिलन होता है। 'प्रद्युम्नचरितम्' में प्रद्युम्न और श्रीकृष्णका युद्ध भी शंकर और अर्जुनके युद्धके समान ही सम्पन्न होता है। नारद द्वारा प्रद्युम्नका परिचय प्राप्त कर श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और उन दोनोंका सम्मिलन हो जाता है। किरातमें बताया गया है—

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे ।
धनुरपास्य सबाणधि शङ्करः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः ॥ किरा० १८।१

तपस्वी अर्जुन संग्रामार्थ समागत उद्दण्ड हाथीके सदृश थे। भीषण भुजाएँ ही उनके शस्त्र थीं। अर्जुनके किये आघातके अनन्तर शंकर भगवान्ने भी निषंगके सहित धनुषको दूर प्रक्षिप्त कर लौहमुद्गरके सदृश मुष्टियोंसे अर्जुनको मारा।

कल्पान्ताब्धेस्तुल्ययोरप्रयोधे संघट्टोऽभूत्सैन्ययोरन्तराले ।
गर्जत्युच्चैः शत्रुपक्षेऽन्तिकस्थे माध्यस्थं कः शौर्यशाली दधीत ॥ प्रद्य १०।१

वनेचरने युधिष्ठिरसे कहा कि दुर्योधन अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओंको जीतकर न्यायनीतिपूर्वक प्रजाका पालन करता हुआ अपने पुरुषार्थको विस्तृत कर रहा है। किरातमें वर्णित दुर्योधनके सन्दर्भसे प्रभावित हो कवि महासेनने प्रद्युम्नचरितमें विदर्भ नरेश भीष्मकी शक्ति और शासनका निरूपण किया है।

> कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
> विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ किरात० १।९

....

> जितारिवर्गः प्रथमो धनुष्मतां परं यशो सिंहकिशोरविक्रमः।
> वशीकृताशेषमहीशमण्डलो नृपेन्द्र भीष्मोऽस्ति कुलाम्बरांशुमान् ॥ प्रद्यु१।५२

'किरातार्जुनीयम्' में बताया गया है कि सूर्यको अस्ताचलकी ओर जाते देखकर चक्रवाक् दम्पति बहुत व्यथित हुए। इस सन्दर्भसे प्रभावित हो कवि महासेनने अपने 'प्रद्युम्नचरितम्' में लिखा है कि सूर्यको अस्त होते देख चक्रवाक् मिथुन करुणक्रन्दन करने लगा। इस प्रसंगमें सन्ध्या-वर्णनका प्रभाव भी किरातसे ग्रहण किया गया प्रतीत होता है।

सन्ध्याका वर्णन करते हुए किरातमें बताया है कि जिस प्रकार आश्रित व्यक्ति अपने आश्रयका परित्याग कर देता है, उसका गौरवन्यून हो जाता है और वह खिन्न होकर किसी नीच स्थानमें पहुँचकर मलिन और उदास रहता है, उसी प्रकार सूर्य बिम्बके अर्द्धभागके अस्त हो जानेपर सूर्यका किरणपुंज सूर्यके आश्रयका परित्याग करनेके कारण लघु हो गया है और पूर्वदिशाका परित्याग कर चुका है। पश्चिम दिशामें निष्प्रभ हो रहा है। यथा—

इस प्रसंगमें चन्द्रोदय, कुमुदिनी विकास आदिका वर्णन भी किरातसे प्रभावित अवगत होता है। कमलसंकोच (किरात ९।१४ तथा प्रद्युम्न च० ७।६१) का निरूपण भी प्रायः समान है। वस्तुवर्णनोंमें देश और राज्य व्यवस्थाका वर्णन दोनों काव्योंमें समान है। किरातमें युधिष्ठिरके अरण्यवास (१।३९) का वर्णन किया गया है। इस सन्दर्भका प्रभाव प्रद्युम्नके संन्यासी होनेपर प्रतिपादित उसकी दयनीय दशामें पाया जाता है। यथा—

> पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
> अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥ किरा० १।८

प्रद्युम्नचरितमें—

> विचित्रपुष्पोत्करवस्त्रशोभिते कृतोपधाने शयने शयीत यः।
> स एव साधुस्तृणशर्करोपलस्थलीशिलास्वपांसहः प्रसिश्यते ॥ प्र० ।१४।२०

माघ और प्रद्युम्नचरित

'प्रद्युम्नचरितम्' पर माघ काव्यका भी प्रभाव है। इन दोनों काव्योंका आरम्भ श्रीशब्दसे हुआ है। 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं·····' (१।१ माघ) के समान ही प्रद्युम्नचरितमें 'श्रीमन्तमानम्य जिनेन्द्रनेमिं ···'(१।१ प्र०) से काव्यारम्भ होता है। श्रीकृष्णकी राजसभामें नारदके पधारनेकी प्रक्रिया और तत्सम्बन्धी कल्पनाएँ दोनों काव्योंमें प्रायः समान हैं। शिशुपालवधकी कल्पनाओंको परिवर्तित कर कवि महासेनने प्रद्युम्नचरितमें उनका विस्तार किया है। श्रीकृष्णने कमल-केसरके समान कान्तिवाली जटाओंको धारण करते हुए तथा स्वयं शरदृतुके चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ्रतम कान्तिवाले, अतएव पकनेसे पिंगल वर्णवाले, बर्फीली भूमिमें उत्पन्न लता-समूहको धारण करते हुए पर्वतराज हिमालयके समान स्थित नारदजीको देखा। यथा—

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥माघ १।५॥

'शिशुपालवधम्' श्रीकृष्णने चेदिराज शिशुपालका वध किया है, 'प्रद्युम्नचरितम्' में भी श्रीकृष्णने शिशुपालका वध किया है। यद्यपि दोनों काव्योंकी इस सन्दर्भकी वर्णनशैली भिन्न है, पर कथांशका प्रभाव माना जा सकता है। श्रीकृष्ण और शिशुपालके युद्धका प्रभाव श्रीकृष्ण और प्रद्युम्नके युद्धपर स्पष्ट लक्षित होता है। माघ कविने लिखा है कि शिशुपालने श्रीकृष्णपर अग्निबाण चलाया, जिससे अग्नि धधकने लगी। अनन्तर श्रीकृष्णने अग्निको शान्त करनेके लिए मेघबाण चलाया।

प्रद्युम्नचरितमें बताया है कि श्रीकृष्णने प्रद्युम्नपर अग्निबाण छोड़ा, जिससे उसकी सेना जलने लगी। अतएव रक्षाके हेतु प्रद्युम्नने वरुण अस्त्र चलाया, जिससे अग्निव्यथा दूर हो गयी। दोनों काव्योंके सन्दर्भ निम्न प्रकार हैं—

निखिलामिति कुर्वतश्चिराय द्रुतचामीकरचारुतामिव द्याम् ।
प्रतिघातसमर्थमस्त्रमग्नेरथ मेघंकरमस्मरन्मुरारिः ॥ माघ २०।६५
चतुरम्बुधिगर्भधीरकुक्षेर्वपुषः सन्धिषु लीनसर्वसिन्धोः ।
उदगुः सलिलात्मनस्त्रिधाम्नो जलवाहावलयः शिरोरुहेभ्य. ॥माघ २०।६६

प्रद्युम्नचरितमें बताया है—

दिव्यं स्यन्दनमारुह्य हरिर्वा यदुसत्तमः ।
क्रोधादाहूय सद्विद्यां मुमोच हुतभुक्शरम् ॥प्र० १०।२२
स गत्वाथ शरो दिव्यप्रलयानिलसंनिभः ।
ददाह मान्मथीं सेनां परिवेष्ट्य समन्ततः ॥१०।२३
सस्मरे वारुणं बाणं बाणासनपरिग्रहः ।
शरासनगतं वेगाद्विचिक्षेप च रिपुं प्रति ॥प्र० १०।२६
सोऽपि भूत्वा महामेघः शक्रचापविभूषितः ।
गर्ज्जत्सौदामिनीयुक्तो विमुञ्चन्नमितोऽशनीः ॥प्र० १०।२७

माघकी कल्पनाओंका प्रकारान्तर भी प्रद्युम्नचरितमें पाया जाता है। श्रीकृष्णकी युधिष्ठिरके यज्ञमें पूजा देखकर शिशुपाल अत्यन्त क्रोधित होता है।[1] प्रद्युम्नचरितमें इस सन्दर्भको प्रकारान्तरसे कवि महासेन ने उपस्थित किया है। बताया है कि जब दिगम्बर साधुकी कीर्ति समस्त नगरमें व्याप्त हो गयी, उनके त्याग, संयम और वीतरागताका आकर्षण सभीको अपनी ओर आकृष्ट करने लगा तो सोमदत्तको अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ। वह भी शिशुपालके समान ही मुनिको अपशब्द कहने लगा।[2]

माघ काव्यमें सूर्योदयके कारण किसीको शोक और किसीको आह्लाद उत्पन्न होता है, कविने प्रभातका बहुत ही सरस वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि महासेनने भास्करके स्थानपर निशानाथ चन्द्रोदयके कारण किसीके विनाश और किसीके विकासका वर्णन किया है।

प्रद्युम्नचरितका उत्तरवर्ती काव्योंपर प्रभाव

जिस प्रकार प्रद्युम्नचरित वस्तुवर्णन, सन्दर्भनियोजन और उत्प्रेक्षाओंके लिए अपने पूर्ववर्ती कवियोंसे प्रभावित है, उसी प्रकार इस काव्यसे नैषधचरितम् एवं भामिनीविलास प्रभृति काव्य भी प्रभावित हैं। नैषधचरितमें श्रीहर्षने देवांगनाओंके निर्निमेषका कारण नलका रूपाधिक्य बतलाया है और महासेनने द्वारावतीकी ललनाओंके ललाम रूपको ही निर्निमेषका हेतु कहता है। प्रद्युम्नचरितको इस कल्पनासे श्रीहर्ष प्रभावित दिखलाई पड़ते है। यथा—

लावण्यरूपादि गुणातिरेकं यत्सुन्दरीणामवलोक्य मन्ये।
अद्यापि तद्विस्मयत. सुराणां चलापि दृग् निश्चलतामवाप ॥प्रद्यु० १।२७

कवि श्रीहर्ष इसी भावको निम्न प्रकार व्यक्त करते हैं—

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यास्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥नैषध० १।२७

प्रद्युम्नचरितमें कविने बताया है कि उपेन्द्रके मुख लावण्यसे पराजित होकर चन्द्रमा मलिनताको धारण करता है। नैषधचरितमे इसी कल्पनाका विस्तार करते हुए श्रीहर्षने लिखा है कि दमयन्तीके मुखसौन्दर्यसे पराजित होकर ही चन्द्रमा मलिन शरीरको वहन करता है—

नैर्मल्यमावृत्तगुणान्मदीयां राजेति नाम्ना सहितां जहार।
इतीव कोपात्स मृगच्छलेन धत्ते मृगाङ्को मलिनं शरीरम् ॥प्रद्यु० १।४४

श्रीहर्षने उत्प्रेक्षाका प्रसारण करते हुए लिखा है—

दशाननेनापि जगन्ति जित्वा यो यं पुरा पारि न जातु जेतुम्।
म्कामिर्विधोर्मानिनि! सङ्क्तेयं तस्मात्त्वदेकाननिर्जितस्य ॥ नैषध० २२।१२९

---

[1] शिशुपालवध १५वाँ सर्ग।

[2] प्रद्युम्नचरित, पंचम सर्ग, पद्य ७०-८७।

दशानन भी लोकत्रयको जीतकर पहले जिस चन्द्रमाको नहीं जीत सका, हे मानिनि ! तुम्हारे चन्द्रमुखसे पराजित होनेके कारण उस चन्द्रमामें यह मालिन्य लग गया है।

महाराज उपेन्द्रकी दानशीलतासे कल्पद्रुम लज्जित होते थे। प्रद्युम्नचरितकी इस उत्प्रेक्षाका रूपान्तर नैषधचरितमें राजा नलकी दानशीलताके निरूपणके प्रसंगमें पाया जाता है। यथा—

मनोरथानामधिकं विलोक्य त्यागं यदीयं जगते हिताय।
कल्पद्रुमैर्व्रीडितया विलिल्ये तथा यथाद्यापि न जन्मलाभः ॥प्रद्यु० १।४१

नैषधचरितमें उक्त कल्पनाका विस्तार निम्न प्रकार हुआ है—

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥ नैषध० १।१५

राजा नल याचकोंकी अभिलाषासे भी अधिक दान देते थे, अतः उनके राज्यमें कोई भी दरिद्र नहीं था। उनकी दानवीरतासे याचकोंकी दरिद्रता ही दरिद्र हो गयी थी।

उपर्युक्त दोनों सन्दर्भोंकी तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रद्युम्नचरितके उक्त भावका रूपान्तर ही नैषधमें है।

प्रद्युम्नचरितमें महासेनने द्वारकाकी सुन्दरियोंके प्रत्येक नखको चन्द्रमा कहा है और बताया है कि उन चन्द्रमाओंके प्रकाशसे मार्ग प्रकाशित होता है। इस कल्पनाका प्रभाव नैषधमें दमयन्तीके कमनीय कलेवर वर्णनके प्रसंगमें चार चन्द्रोंके एक साथ वर्णन किये जाने पर पड़ा है। श्रीहर्षने नैषधमें लिखा है—

यशः पदाङ्गुष्ठनखौ मुखं च बिभर्ति पूर्णेन्दुचतुष्टयं या।
कला चतुःषष्टिरुपैतु वासं तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नास्याम् ॥ नैषध० ७।१०६

श्री हर्षकी उक्त कल्पनाको मूर्तरूप देनेमें महासेनकी निम्नलिखित उत्प्रेक्षा सहायक है—

यस्यां निशीथे पुरसुन्दरीणां कृष्णेऽपि पक्षे नखचन्द्ररोचिः।
मार्गे प्रकाशं विदधाति दूरं संप्रस्थितानां प्रियवासगेहम् ॥प्र० १।२२

उदाहृत पद्यमें द्वारकाकी सुन्दरियोंका प्रत्येक नख चन्द्रमा है और उसका प्रकाश अन्धकारको दूर करता है। कवि श्रीहर्षने बीस चन्द्रमाओंके स्थान पर चन्द्र चतुष्टयकी कल्पना की है।

महासेनने द्वारवतीपुरीके सरोवरोंकी उपमा समुद्रसे दी है और उसमें पयोधरोंकी भ्रान्ति होनेका भी वर्णन किया है। इस उत्प्रेक्षाका भावसाम्य नैषधमें नलके सरोवर वर्णनमें भी मिलता है।

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा बिभराम्बभूव यः।
दरीकृतेः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसंचयश्च यः ॥ नैषध० १।११२

श्रीहर्षने कई पद्योंमें नल और दमयन्तीके अंग-सौन्दर्यसे कोयल, चन्द्रमा, हंसी एवं चमरीको पराजित कराया है। महासेनने सत्यभामाके अंगोंसे एक ही पद्यमें बड़े रोचक ढंगसे कोयल, चन्द्रमा आदिको परास्त बतलाया है। नैषधचरितके उक्त सन्दर्भांशमें महासेनका भावसाम्य स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। महासेनके जिस सन्दर्भको एक पद्यमें निबद्ध किया है, उस सन्दर्भको श्रीहर्षने लगभग पचास-साठ पद्योंमें गुम्फित किया है। पर वह सब केवल कल्पनाका विस्तार ही है। मूल कल्पना महासेनकी ही है।

प्रद्युम्नचरितके "सायं सुधाधवलहर्म्यतलाधिरूढसीमन्तिनीवदनसंशयितेन्दुविम्बा" (९।८७) का प्रभाव पण्डितराज जगन्नाथके भामिनी विलासके "तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं विलसद्विकासम् " (भामिनीविलास २।२१)" पर तरुणी मुखमें कमल भ्रान्तिके रूपमें प्रतीत होता है।

वर्धमानचरितम्[1]

'वर्धमानचरितम्' के रचयिता महाकवि असग हैं। इस महाकाव्यमें अठारह सर्ग हैं और भगवान् महावीरका जीवनवृत्त अंकित है। मारीच, विश्वनन्दी, अश्वग्रीव, त्रिपृष्ठ, सिंह, कपिष्ठ, हरिषेण, सूर्यप्रभ आदिके इतिवृत्त पूर्व जन्मोंकी कथाके रूपमें वर्णित हैं।

रचयिताका परिचय

शान्तिनाथचरितकी प्रशस्ति[2] से ज्ञात होता है कि कविके पिताका नाम पट्टमति और माताका नाम वैरेति था। पिता धर्मात्मा मुनिभक्त थे, इन्हें शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त था। माता भी धर्मात्मा थी। इस दम्पतिके असग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। असगके मित्रका नाम जिनाप था। यह भी जैनधर्ममें अनुरक्त शूरवीर, परलोकभीरु एवं द्विजातिनाथ होने पर भी पक्षपातसे रहित था। उस पुण्यात्माकी व्याख्यानशीलता एवं पुराणकी श्रद्धाको देखकर कवित्व शक्तिसे हीन होने पर भी गुरुके आग्रहसे यह प्रबन्धकाव्य लिखा जा रहा है। प्रशस्तिमें कविने अपने गुरुका नाम नागनन्दि आचार्य लिखा है। ये व्याकरण, काव्य और जैनशास्त्रोंके ज्ञाता थे।

महाकवि असगने श्रीनाथके राज्यकालमें चोल राज्यकी विभिन्न नगरियोंमें आठ ग्रन्थोंकी रचना की है।[1] वर्धमान चरितकी प्रशस्तिके अनुसार इस काव्यका रचनाकाल शक संवत् ९१० (ई० सन् ९८८) है।[2] कविने अपने गुरुका नाम नागनन्दि

---

[1] सम्पादन और मराठी अनु० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, प्र० रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर, सन् १९३१ ई०।

[2] मुनिचरणरजोभिः सर्वदा भूतधात्र्यां प्रणतिसमयलग्नैः पावनीभूतमूर्धा।
उपशम इव मूर्तः शुद्धसम्यक्त्वयुक्तः पट्टमतिरिति नाम्ना विश्रुतः श्रावकोऽभूत् ॥१॥
—वर्धमानचरित, सोलापुर, उद्धृत शान्तिनाथचरित प्रशस्ति भूमिका, पृ० ८।

लिखा है। श्रवणबेलगोलके १०८वें संख्यक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि नागनन्दि नन्दिसंघके आचार्य थे। नन्दिसंघकी पट्टावलिसे भी नागनन्दिके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नही होता है। अतः वर्धमानचरितके आधार पर कविका समय ई० सन् दसवी सदी है।

कथावस्तु

श्वेतातपत्रा नामकी नगरीमें नन्दिवर्धन राजा अपनी वीरवती नामक प्रियाके साथ रहता था। इनके पुत्रका नाम नन्दन था। नन्दन सभी विद्याओमें प्रवीण और रूपगुणोंसे सम्पन्न था। एक दिन वह समवयस्क राजकुमारोंके साथ वनक्रीड़ा करनेके लिए गया। वहाँ मुनिराजके दर्शन कर वह कृतार्थ हुआ। राजाने उत्साहपूर्वक पुत्रको युवराज पद दिया और उसका विवाह प्रियंकरा नामक कन्यासे कर दिया।—प्रथम सर्ग

नन्दिवर्धनने एक जिनालयकी प्रतिष्ठा की। एक दिन आकाशमें विलीन होते हुए मेघखण्डको देखकर राजाको संसारसे विरक्ति हो गयी। अतः वह कुमार नन्दनको राज्यभार सौंपकर दीक्षित हो गया। नन्दनको नन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन वनपालने उपवनमे मुनिराजके पधारनेकी सूचना दी। राजा नन्दन सपरिवार मुनिराज के दर्शनके लिए गया। कुमार नन्द भी साथमे था। उसके अपूर्व लावण्यको देखकर नगरकी रमणियाँ अपना कार्य करना भूल गयी।—द्वितीय सर्ग

इन्द्रतुल्य वैभवशाली राजा नन्दनने मुनिराजकी वन्दना कर उनसे अपनी पूर्वभवावलि पूछी। मुनिराजने कहा—"इस भवसे पूर्ण नवम भवमें तू सिंह था। विश्राम हेतु जब तू पर्वत गुफामें सोया हुआ था कि आकाश मार्गसे एक मुनिराज आये और प्रज्ञप्तिका पाठ करने लगे। उनकी वाणी सुन तुम गुफाके बाहर आये। तुमको सम्बोधन करते हुए मुनिने कहा—तुमने राग-द्वेषके कारण अनेक भवोंमें भ्रमण किया है।" पुण्डरीक नामक गाँवके किसी धनी व्यापारीका कुछ माल लेकर कुछ व्यक्ति जा रहे थे कि मार्गमें डाकुओंने आक्रमण किया। एक मुनिराज भी उस उपद्रवमें फँस गये। उनको पुरुरवा नामक व्यक्तिने मार्ग बतला दिया, जिससे मुनिकी प्राणरक्षा हुई। इस पुण्यके प्रभावसे पुरुरवा मारीचके रूपमें जन्मा। मारीच अपने शुभ कृत्योंके अनुसार स्वर्गमे दस सागरकी आयुका देव हुआ और अनेक देवांगनाओंके साथ आमोद-प्रमोद करने लगा। —तृतीय सर्ग

मगधदेशकी राजगृह नगरीमें विश्वभूति नामक राजा शासन करता था। एक दिन राजसभामें वृद्ध द्वारपाल आया। वृद्धावस्थाने उसके शरीरमें महान् परिवर्तन कर दिया था। युवावस्थामें जिस शरीरसे लावण्य टपकता था, वृद्धावस्थामें वह शरीर विकृत हो गया था। द्वारपालकी इस परिवर्तित अवस्थाको देखकर राजाके मनमें वैराग्य उत्पन्न हो गया। फलतः वह अपने भाई विशाखभूतिको राज्य भार और अपने पुत्र विश्वनन्दीको युवराज-भार सौंपकर दीक्षित हो गया। विशाखभूतिने शत्रुओंको परास्त

कर अपने राज्यका विस्तार किया। युवराजने एक दर्शनीय उपवनका निर्माण कराया। यह उपवन नन्दन काननके समान था। विशाखभूतिका पुत्र विशाखनन्दी था, जिसने किसी प्रकार युवराजके उपवन पर अपना अधिकार कर लेनेका दुराग्रह किया। इसी समय कामरूप नृपतिके प्रतिरोधकी बात विशाखभूतिको अवगत हुई, अतः वह युवराजको राज्यभार सौंपकर शत्रुको दण्ड देनेके लिए चला, पर युवराजने कहा—"मेरे रहते आपको युद्धमें जानेकी आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं जाकर शत्रुको दण्ड दूँगा।" युवराजने शत्रुको जीत लिया और वह नगरमें आया तो उसे विशाखनन्दी उपवनपर अधिकार किये हुए मिला। अतः नीतिके अनुसार उससे युद्ध हुआ। युद्धमें विशाखनन्दीको परास्त करनेसे विश्वनन्दीको विरक्ति हो गयी। वह मुनि बन गया। एक दिन उसने चर्याके लिए मथुरामें प्रवेश किया, वहाँ उसे वेश्याके यहाँ विशाखनन्दी दिखलाई पड़ा। उसने मुनिकी निन्दाकी, फलतः विश्वनन्दीने निदान बाँध कर शरीरका त्याग किया और महाशुक्र स्वर्गमे देव हुआ। —चतुर्थ सर्ग

विशाखनन्दीका जीव नीच कृत्यके कारण अधिक कष्ट उठाते हुए अलकापुरीके नीलकण्ठकी रानी कनकमालाके गर्भसे हयंकर या अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ। अश्वग्रीवने समस्त विद्याओंको सिद्ध कर अनेक राजाओंको अपने आधीन किया। इधर सुरमा नामके देशके पोदनपुर नगरमें प्रजापति नामका राजा राज्य करता था। इसकी दो पत्नियाँ थी—जयावती और मृगावती। जयावतीके गर्भसे विशाखभूतिका जीव विजय नामका पुत्र हुआ और मृगावतीके गर्भसे विश्वनन्दीका जीव त्रिपृष्ठ नामका पुत्र हुआ। एक दिन महाराज दोनो पुत्रोके साथ सभामे बैठे हुए थे कि एक मन्त्री सन्देश लेकर आया और बोला कि आपके प्रतापसे प्रजा रक्षित है, तो भी एक सिंहने बड़ा उपद्रव मचाया है, जिससे प्रजामे आतंक उत्पन्न हो गया है। प्रजापति सिंहको दण्ड देनेके लिए तैयार हो रहा था, पर त्रिपृष्ठने बीचमें ही उसे रोक दिया और उसने स्वयं जाकर सिंहको पछाड़ दिया। इस पराक्रमसे त्रिपृष्ठका यश सर्वत्र व्याप्त हो गया। उसने कोटिशिलाको अपने हाथोसे उठाकर अपना नारायण होना प्रकट किया।

विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीके रथनूपुर नगरके विद्याधर राजा ज्वलनजटीकी पुत्री स्वयंप्रभा अप्रतिम सुन्दरी थी। उसका विवाह ज्वलनजटी त्रिपृष्ठसे करना चाहता था, पर अश्वग्रीवको यह पसन्द न था।—पंचम सर्ग

ज्वलनजटी अपनी कन्याको लेकर पोदनपुरके उद्यानमें पहुँचा। वहाँ स्वयंवरका आयोजन कर त्रिपृष्ठके साथ स्वयप्रभाका पाणिग्रहण सम्पन्न हो गया। अकालपुरीके अधिपति अश्वग्रीवको जब यह समाचार मिला कि विद्याधर कन्याका विवाह भूमिगोचरीके साथ हुआ है, तो उसे अपार क्रोध उत्पन्न हुआ। वह भूमिगोचरियोको दण्ड देनेके लिए चला।—षष्ठ सर्ग

अब प्रजापति अश्वग्रीवके आक्रमणका समाचार मिला तो उसने उसके समाधानके लिए मन्त्रियोंसे परामर्श किया। मन्त्रियोंने कहा—"क्रोधसे क्रोध शान्त नहो हो

सकता, इसके लिए क्षमा एवं शान्तिकी आवश्यकता है।" इन बातोंको सुनकर विजय बोला—"शान्ति एवं क्षमाका प्रभाव उसपर पड़ता है, जो किसी कारण क्रोध करता है। अकारण क्रोध करनेवालेपर क्षमाका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।" मन्त्रीके परामर्शानुसार दोनों भाइयोंने अनेक विद्याओंको सिद्ध और दोनों ही शत्रु अश्वग्रीवसे भिड़नेके लिए तैयार हो गये।—सप्तम सर्ग

एक दिन अश्वग्रीवका दूत सभामें आया और महाराजको नमस्कार कर बोला—"स्वयंप्रभाको अश्वग्रीवके यहाँ भेजकर सन्धि कर लीजिए। यदि आप उनसे पूछ कर पाणिग्रहण करते तो वे असन्तुष्ट नहीं होते।" दूतके उक्त वचनोंको सुनकर त्रिपृष्ठको बहुत क्रोध आया। उसने चुनौती देते हुए कहा कि अश्वग्रीवको अपनी शक्तिका पता नहीं, इसी कारण इस प्रकारकी बातें करता है। उससे कहो कि वह युद्ध के लिए तैयार हो जाये।—अष्टम सर्ग

त्रिपृष्ठका अश्वग्रीवके साथ युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ओरकी सेनाएँ अपना बल-पुरुषार्थ प्रदर्शित करने लगी। अश्वग्रीवने त्रिपृष्ठको मारनेके लिए अनेक प्रकारके बाणोंका प्रयोग किया, पर वे सब व्यर्थ गये। अन्तमे अश्वग्रीवने त्रिपृष्ठको मारनेके लिए शक्तिशाली वज्रका प्रयोग किया, पर वह वज्र त्रिपृष्ठकी परिक्रमा देकर उसीके पास स्थित हो गया। अन्तमे उसी वज्रने अश्वग्रीवको यमराजका अतिथि बनाया।—नवमसर्ग

विजय प्राप्तिके अनन्तर समस्त राजाओं और भाइयोंसे अभिषिक्त त्रिपृष्ठने जिनेन्द्र भगवान्की पूजा की। अनन्तर वह विजयके लिए चला। अपने बल और पुरुषार्थसे तीन खण्डोकी विजय कर वह अर्धचक्री नारायण बना। त्रिपृष्ठको दो पुत्र और ज्योतिप्रभा नामकी कन्या उत्पन्न हुई। इधर ज्वलनजटी भी विरक्त हो तपश्चरण करने चला गया। मन्त्रियोंकी सम्मतिसे पुत्रीके युवती होनेपर त्रिपृष्ठने स्वयंवरकी योजना की। ज्योतिप्रभाने अर्थकीर्तिके पुत्र अमिततेजके गलेमें वरमाला पहनायी। पुत्रीकी विदाईके पश्चात् त्रिपृष्ठका मन खिन्न रहने लगा, जिससे बलदेव—विजय और स्वयंप्रभाको मर्मान्तिक व्यथा हुई। त्रिपृष्ठने निदानके कारण रौद्रध्यानपूर्वक मरण किया, जिससे सप्तम नरकमें तेतीस सागरकी आयुका नारकी हुआ।—दशम सर्ग

अर्धचक्री त्रिपिष्टका जीव नरकसे निकल कर विपुल नामक पर्वतपर सिंहके रूपमें जन्मा। उसके अत्याचारसे वनके सभी जन्तु पीड़ित थे। एक दिन एक मुनिराजका समागम हुआ और उन्होंने उसे धर्मका उपदेश दिया। सिंहके परिणामोंमें परिवर्तन हुआ। उसने श्रावकके व्रत धारण किये। समाधिमरण द्वारा प्राण त्याग कर वह सौधर्म स्वर्गमे हरिध्वज नामका देव हुआ।—एकादश सर्ग

विद्याधरोंका निवासस्थान कच्छ नामका देश है, जहाँ विजयार्ध नामका पर्वत अपनी कान्ति एवं विशालतासे अन्य पर्वतोंको तिरस्कृत करता है। इसके दक्षिणमें हेमपुर नामका नगर है, जिसका रक्षक राजा कनकाभ है। इसकी पत्नी कनकमाला

अतिसुन्दरी थी। इस दम्पतिको कनकध्वज नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वयस्क होनेपर इस पुत्रका विवाह कनकप्रभा नामक विद्याधर कुमारीसे सम्पन्न हुआ। एक दिन कनकप्रभ कनकध्वजको राज्यभार सौंप दीक्षित हो गया। कनकध्वज पिता द्वारा प्राप्त राज्य का संचालन करने लगा। उसे हेमरथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार वह सुदर्शन नामक वनमें विहारके लिए गया और वहाँ सुव्रत मुनिराजके दर्शन कर उसका हृदय विरक्तिसे भर गया। दीक्षित होकर उसने घोर तपश्चरण किया, फलस्वरूप वह कपिष्ठ नामक आठवें स्वर्गमें देव हुआ।—द्वादश सर्ग

अवन्तिदेशमें उज्जयिनी नामकी नगरी है। यहाँ वज्रसेन राजा राज्य करता था। इसकी सुशीला नामकी महिषी थी। त्रिपृष्ठका जीव अनेक भवोंको धारण करता हुआ आठवें कापिष्ठ स्वर्गसे च्युत हो हरिषेण नामका पुत्र हुआ। यहाँ श्रावकाचारके अभ्यासके पश्चात् उसने मुनिधर्म धारण किया और तपश्चरण द्वारा महाशुक्रमें देव हुआ।—त्रयोदश सर्ग

पूर्वविदेहके कच्छदेशमें धनंजय नामका राजा अपनी प्रिया प्रभावतीके साथ राज्य करता था। दसवें महाशुक्र नामक स्वर्गसे चय कर वह इस राज-दम्पतिके यहाँ प्रियमित्र नामका पुत्र हुआ। धनंजयने क्षेमंकर मुनिके समक्ष जाकर दिगम्बर साधुके व्रत ग्रहण किये और राजलक्ष्मी प्रियमित्रको सुपुर्द की। प्रियमित्रकी आयुधशालामें चक्ररत्नकी उत्पत्ति हुई, जिसके प्रभावको देखकर सभी लोग आश्चर्यचकित थे। प्रियमित्रने चक्ररत्नकी उत्पत्ति जानकर जिनेन्द्र पूजाके अनन्तर चक्ररत्नकी पूजा की। उसे अष्टसिद्धियाँ और नवनिधियाँ प्राप्त हुईं। वह चक्रवर्तीके समस्त वैभव और सुखको प्राप्त हुआ। एक दिन चक्रवर्ती दर्पणमें अपनी कान्ति देख रहा था कि श्वेत केश देखकर उसे वृद्धावस्थाके कष्टोंका अनुभव होने लगा। अतः वह अपनी सेना सहित तीर्थंकरके समवशरणमे पहुँचा और भक्तिभावपूर्वक तीर्थंकरकी उसने वन्दना की।—चतुर्दश सर्ग

तीर्थंकरका उपदेश सुनकर चक्रवर्ती प्रियमित्रको संसारसे विरक्ति हो गयी। अतः वह अपने बड़े पुत्र अरिंजयको समस्त वैभव सौंपकर दीक्षित हो गया। उसने उग्र साधना की, जिसके बलसे संन्यासमरण प्राप्त किया। अन्तमें सहस्रार स्वर्गमे सूर्यप्रभ नामका देव हुआ।—पंचदश सर्ग

स्वर्गसे च्युत हो वह श्वेतातपत्रा नामक नगरीमें सौम्यनन्दन नामका राजपुत्र हुआ। बहुत समय तक राज्यका संचालन करनेके उपरान्त उसने तत्त्वज्ञानी मुनिराजसे सिंहजन्मसे लेकर अबतककी जन्मसन्ततिको सुना। उसका मन विरक्तिसे भर गया और अपने पुत्र वर्महरको राज्य भार देकर तपश्चरण करने लगा। उसने समाधिमरण द्वारा शरीरका त्याग किया, फलतः वह बीस सागरकी आयुका धारक पुष्पोत्तर विमानमें देव हुआ।—षोडश सर्ग

भरतक्षेत्रके पूर्व देशमें कुण्डपुर नामके नगरमें सिद्धार्थ नृपति अपनी प्रियकारिणी नामक पत्नीके साथ निवास करते थे। प्रियकारिणीने रात्रिके उत्तरार्धमें सोलह स्वप्न

देखे । प्रातःकाल इन स्वप्नोंका फल अपने पति सिद्धार्थसे पूछा । पुत्रोत्पत्तिका समाचार अवगत कर वह बहुत प्रसन्न हुई । स्वर्गसे देवांगनाएँ आकर उसकी सेवा करने लगी । कुबेर द्वारा रत्नोंकी वर्षा होने लगी । चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको प्रियकारिणीने पुत्रको जन्म दिया । देवोंने उनका जन्माभिषेक सम्पन्न किया और गर्भमें आनेके दिनसे ही देश-की समृद्धि होनेके कारण उनका नाम वर्धमान रखा । कुछ दिनों तक बालक्रीड़ाएँ करनेके उपरान्त चारणऋद्धि धारक संजय-विजय नामक मुनि वहाँ पधारे । उनके मन-में कुछ आशंकाएँ थी, कुमार वर्धमानका दर्शन करते ही उनको शंकाओंका स्वयमेव ही समाधान हो गया । अतः कुमारका एक नाम सन्मति रखा गया । युवक होनेपर विवाह-बन्धनमे बँध जानेके लिए अनुरोध किया गया, पर वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे । बचपनमें जब वे एक वटवृक्षपर अपने साथियोंके साथ खेल रहे थे, कि उनकी परीक्षा करनेके लिए एक देव सर्पका रूप धारण कर आया । उनके अन्य साथी भयभीत हो भाग गये, पर कुमार वर्धमान निर्भय होकर उससे क्रीडा करने लगे । अतएव उनका नाम महावीर पड़ गया । तीस वर्षकी अवस्थामें वे प्रव्रजित हो गये । वे अतिमुक्तक नामक श्मशानमे प्रतिमायोग धारण कर खडे हुए थे कि भव नामक रुद्रने नाना प्रकारके भय उत्पन्न कर उनकी परीक्षा ली । अडिग रहनेपर उसने उनके नाम वीर और अतिवीर रख दिये । विविध प्रकारके तप करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये । एक दिन ऋजुकूला नदीके किनारे जृम्भक गाँवमें साल वृक्षके नीचे वैशाख शुक्ला दशमीको उन्हे केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई ।—सप्तदश सर्ग

इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवशरणकी रचना की । गौतमको गणधर पद प्राप्त हुआ और उनका प्रथम धर्मोपदेश राजगृहके विपुलाचल पर्वतपर हुआ । अनन्तर उनकी समवशरण सभा विभिन्न स्थानोंपर संघटित हुई । सप्ततत्त्व, नव पदार्थ और षट् द्रव्य-का स्वरूप प्रतिपादित किया । बहत्तर वर्षकी आयुमें कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तमे, जब कि चन्द्रमा स्वाति नक्षत्रपर था, उन्होने निर्वाण प्राप्त किया ।—अष्टादश सर्ग ।

कथावस्तुका स्रोत और गठन

वर्धमानके जीवनसूत्र तिलोयपण्णत्तिमे आये हैं । बताया है—

> सिद्धत्थरायपियकारिणिहिं णयरम्मि कुंडले वीरो ।
> उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो ॥ति० ४।५४९

तीर्थंकर वर्धमान कुण्डलपुरमें पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणीसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें उत्पन्न हुए ।

> मग्गसिर बहुलदसमी अवरण्हे उत्तरासु णाधवणे ।
> तदियखवणम्मि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण ॥ ति० ४।६६७

वर्धमानने मार्गशीर्ष कृष्णा दशमीके दिन अपराह्णमें उत्तरा नक्षत्रके रहते नाथ-वनमें तृतीय भक्तके साथ महाव्रतोंको ग्रहण किया।

महाकवि असगने अपने वर्धमानचरितकी कथावस्तु उत्तरपुराणके ७४वें पर्वसे ग्रहण की है। इस पुराणमें मधुवनमें रहनेवाले पुरुरवा नामक भिल्लराजसे वर्धमानके पूर्व भवोंका आरम्भ किया गया है। कविने उत्तरपुराणकी कथावस्तुको महाकाव्योचित बनानेके लिए काट-छाँट भी की है। असगने पुरुरवा और मरीचिके आख्यानको छोड दिया है और श्वेतातपत्रा नगरीके राजा नन्दिवर्धनके आँगनमें पुत्रजन्मोत्सवसे कथानक-का आरम्भ किया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आरम्भ स्थल बहुत ही रमणीय है। उत्तरपुराणकी कथावस्तुके प्रारम्भिक अंशको घटित रूपमें न दिखलाकर पूर्व भवावलिके रूपमें मुनिराजके मुखसे कहलाया है। इस प्रकार उत्तरपुराणकी कथावस्तु अक्षुण्ण रह गयी है।

कथावस्तुके गठनमें कवि असगने इस बातकी पूर्ण चेष्टा की है कि पौराणिक कथानक काव्यके कथानक बन सकें। घटनाओंका पूर्वापर क्रम निर्धारण, उनमे परस्पर सम्बन्ध स्थापन एवं उपाख्यानोका यथास्थान संयोजन मौलिक रूपमें घटित हुआ है। प्रसंगोको व्यर्थ वर्णन विस्तार नही दिया गया है। मार्मिक प्रसंगोके नियोजनके हेतु विश्वनन्दी और नन्दनके जीवनमे लोकव्यापक नाना सम्बन्धोंके कल्याणकारी सौन्दर्यकी अभिव्यंजना की गयी है। पिता-पुत्रका स्नेह नन्दिवर्धन और नन्दनके जीवनमें; भाईका स्नेह विश्वभूति और विशाखभूतिके जीवनमें; पति-पत्नीका स्नेह त्रिपृष्ठ और स्वयप्रभाके जीवनमें, विविध भोगविलास हरिषेणके जीवनमें एवं वीरता और चमत्कारोंका वर्णन त्रिपृष्ठके जीवनमें अभिव्यक्त कर जीवनकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। कथानियोजनमें योग्यता, अवसर, सत्कार्यता और रूपाकृतिका पूरा ध्यान रखा गया है।

प्रबन्धको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिकी ओर मोडना योग्यताके अन्तर्गत है। अष्टम, नवम और दशम सर्गमें किया गया कथानक नियोजन योग्यता-तत्त्व है। रसपुष्टिके हेतु यथासमय प्रसंग या सन्दर्भका प्रस्तुतीकरण कथानक नियोजनमे अवसर-तत्त्व है। प्रस्तुत काव्यमें प्रजाके कष्ट निवारणके लिए त्रिपृष्ठ द्वारा सिंहका वध दिखलाना और सिंहोद्बोधनके लिए चारण ऋद्धिधारी मुनियोंका उपस्थित होना, इस प्रकारकी घट-नाएँ हैं, जिनकी उपयोगिता रसपुष्टिकी दृष्टिसे सर्वाधिक है।

सत्कार्यतासे तात्पर्य इस प्रकारके सन्दर्भोके संयोजनसे है, जो स्वतन्त्ररूपमे अपना अस्तित्व रखकर प्रसंग गर्भत्वको प्राप्त हो अथवा प्रत्येक प्रसंग पूर्व बीजारोपित हो और किसी कार्यविशेषकी अभिव्यंजना करता हो। वर्धमानचरितमें नन्दनका मुनिराजसे अपनी पूर्वभवावलि पूछना और मुनिराज द्वारा पुरुरवा भीलका आख्यान कहना इस प्रकारका सन्दर्भ है, जो एक प्रकारसे स्वतन्त्र है, पर सम्बन्ध निर्वाहके लिए उसकी योजना आवश्यक है। यह वर्धमानके कई जन्मोंकी परम्पराकी कड़ीको

जोड़ता है। अतः उक्त आख्यान स्वतन्त्र रहते हुए भी सापेक्ष रहनेसे सत्कार्यताके अन्तर्गत है।

कथावस्तुमें इतिवृत्तका वस्तुव्यापारोंके साथ उचित और सन्तुलित रूपमें नियोजन द्वारा रूपाकृति—प्रबन्धात्मकताकी शृंखलाको उपस्थित किया गया है। अवान्तर कथाओंका प्रक्षेपण पूर्वभवावलिके रूपमें किया है। वर्धमानका जीवन-विकास अनेक भवों—जन्मोंका लेखा-जोखा है। कर्मवादके भोक्ता नायक-नायिकाएँ मुनिराज द्वारा अपने विगत जन्मोके इतिवृत्तोंको सुनकर विरक्ति धारण करते है। जीवनकी अनेक विषमताएँ कथावस्तुमें विकसित होती हैं।

महाकाव्यत्व

प्रस्तुत काव्यमें शास्त्रीय महाकाव्यके समस्त लक्षण पाये जाते है। सानुबन्ध कथा अठारह सर्गोंमें विभक्त है। प्रत्येक सर्गके अन्तमें छन्दपरिवर्तन पाया जाता है। काव्यके नायक तीर्थंकर महावीर विजयी नायक हैं, जो वीर, अतिवीर ही नही, महावीर हैं। काव्यका महदुद्देश्य निश्रेयस् प्राप्ति है।

कविने रसानुरूप सन्दर्भ और अर्थानुरूप छन्दोकी योजना, जीवनके व्यापक अनुभवोंका विश्लेषण एवं वस्तुओंका अलंकृत चित्रण किया है। इस महाकाव्यका प्रतिनायक विशाखनन्दी है जिसके साथ कई जन्मों तक विरोध चलता है। कवि असगने संगठित कथानकके कलेवरमें जीवनके विविध पक्षोंका उद्घाटन कर महच्चरित्रकी प्रतिष्ठा की है। नायक-प्रतिनायकके संघर्ष द्वारा कथावस्तुका विकास जातीय गुणोंके उद्भावनाके हेतु हुआ है। गरिमामयी उदात्तशैली और गम्भीर रसव्यंजना इस काव्यमें समाविष्ट है।

वस्तुव्यापारवर्णन

सन्ध्या, प्रभात, मध्याह्न, रात्रि, वन, सूर्य, नदी, पर्वत, समुद्र, द्वीप आदि वस्तुवर्णन सांगोपांग है। जीवनके विभिन्न व्यापार और परिस्थितियोंमें प्रेम, विवाह, मिलन, स्वयंवर, सैनिक अभियान, युद्ध, दीक्षा, नगरावरोध, विजय, उपदेशसभा, राजसभा, दूत सम्प्रेषण एवं जन्मोत्सवका चित्रण समवेत है।

देशवर्णन

पूर्व देश असंख्य रत्नाकरों और रमणीय दन्तिवनो—कजली वनोंसे अलंकृत है और जोते तथा बिना वृष्टिजलके प्रबन्धके ही पकनेवाले धान्यको सदा धारण करनेवाले खेतोंसे व्याप्त रहा करते हैं और साठी चावलोंके खेत नगरके जलसे परिपूर्ण रहते है। जहाँ पानकी वल्ली और पके हुए सुपारीके वृक्षोंसे उद्यान रम्य है। गौ आदि पशु, धन-वैभव और अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त एवं हजारों कुम्भ धान्यसे समृद्ध गृहस्थ निवास करते है।

वन

कविने क्रीड़ावनका रम्य चित्रण किया है। इस वनका प्रान्तभाग कृत्रिम पर्वतासे शोभायमान है। अशोक, तिलक, तमाल, दाडिम, आम्र आदि विभिन्न प्रकारके वृक्ष और जातिकुसुम, मालती प्रभृति पुष्पोंकी लताओंसे यह वन सुगन्धित और सुशोभित हो रहा है।

झंकारितेऽलिविरुतैर्मलयानिलेन प्रेङ्खाकिते कुसुमसौरभवासितान्ते।
तस्मिन् वने सरसचारुफले विहृत्य संतृप्तमिन्द्रियगणेन च तस्य तेषाम्॥ १।५३

वसन्त

ऋतुराज वसन्तका चित्रण परम्पराभुक्त होनेपर भी अनेक नयी कल्पनाओंसे युक्त है। अशोक, तिलक आदि वृक्ष अपना-अपना दोहद प्राप्त कर फूलने लगे। ढाकके लाल पुष्प इस प्रकार शोभित हो रहे थे, मानो कामदेवरूपी उग्र राक्षसने विरह-पीड़ित व्यक्तियोंके मांसको नोंच-नोंचकर यहाँ खूब खाया है और जो खाते-खाते शेष बच गया है, उसको पुष्पोंके व्याजसे यहाँ सुखानेके लिए फैला दिया है। विलासिनियोंके मुखकमलका आसवपान कर केसर-पुन्नाग वृक्ष फूलने लगे और उनके पास आकर भ्रमर-समूह गुंजार करता हुआ मधुपान करने लगा। मलयानल नर्तक वन कामानुबन्धी नाटकको रचकर लतारूपी अंगनाओंको नचाने लगा। कन्नेर अपने उज्ज्वल और पीत वर्णसे निर्गन्ध होने पर भी आकर्षक बन गया। यथा—

स्वभुक्तशेषं विरहार्दितात्मनां निकृत्यमांसं मदनोग्ररक्षसा।
पलाशशाखिप्रसवच्छलेन वा निरन्तरं शोषयितुं न्यधारयत्॥२।५०
विलासिनीवक्त्रसरोरुहासवप्रपायिन केसरमेत्य पुष्पितम्।
तुतोष कूजन्मधुपायिनां कुलं प्रियाः समानव्यसना हि देहिनाम्॥२।५१
अनर्तयत्कोकिलपुष्करध्वनिः प्रयुक्तभृङ्गस्वनगीतशोभिते।
वनान्तरङ्गे स्मरबन्धिनाटकं लताङ्गता दक्षिणवातनर्तकः॥२।५२

सन्ध्या

कुंकुमकी द्युति धारण करनेवाला सूर्य-मण्डल सन्ध्या समय ऐसा मालूम पड़ता है, मानो उसने अपनी किरणोंका संकोचन कर, उनके द्वारा कमलिनियोका जो राग प्राप्त किया है, उसीको व्यक्त करनेके लिए वह इस आकृतिको प्राप्त हुआ है। वारुणी—पश्चिम दिशा, पक्षान्तरमें मदिरामें सूर्यको आसक्त देखकर दिन भी सन्ध्या समय उसके साथ चला गया है। वारुणीकी ओर जाते समय सूर्य अपने सन्तापको चक्रवाक युगलको सौंपकर चला गया है। अरुणिमाके व्याप्त होते ही पक्षिगण अपने कलरवसे वृक्षोको मुखरित कर रहे हैं। उनका यह कल-कल नाद ऐसा प्रतीत होता है, मानो अपने स्वामी सूर्यके वियोगमें अनुताप ही प्रकट कर रहे हैं। चक्रवाक युगलकी

दुरन्तविरहवेदनाको देखनेमें असमर्थ होनेके कारण ही कमलिनीने कमलरूप चक्षुको बिलकुल मीच लिया है। चबाये हुए कमलतन्तुके खण्डित टुकड़ोको छोड़ आक्रन्दन करता हुआ चक्रवाकयुगल विमुक्त हो गया है।

सौन्दर्य

महाकवि असगने नारी-लावण्यका सुन्दर चित्रण किया है। रानी कनकमालाके सौन्दर्यका चित्रण करते हुए कविने बताया है कि वह कमल रहित कमला अथवा मूर्तिमती रति है। प्रत्येक अंग लावण्य और सौन्दर्यका आगार है। श्रेष्ठ कदलीवृक्ष उसकी जंघाओंकी मृदुताके समक्ष लज्जित होकर ही निस्सारताको प्राप्त हो गया है। अत्यन्त कठोर बेल उसके पयोधरोसे जीते जानेके कारण ही वनमें निवास करने लगा है। यह सुन्दर नीलकमल उसके नेत्र कमलोके आकारको न पाकर ही लज्जित होकर मानरहित हो गया है, अतएव पश्चात्तापजन्य सन्तापको दूर करनेकी इच्छासे ही अगाध सरोवरमें रहने लगा है। पूर्णचन्द्र इसके मुखकी शोभाको न पानेसे कलंकित हो रहा है। ऐसा कौन पदार्थ है, जो मदोन्मत्त गजकी गतिको तिरस्कृत करनेवाली इस रमणीकी कान्तिसे अपमानको प्राप्त न हुआ हो[1]। यथा—

जङ्घामृदुत्वेन हृता नितान्तं विसारतां सत्कदली प्रयाता।
पयोधराभ्यां विजित च यस्या मालूरमास्ते कठिनं वनान्ते ॥५।१८
यद्वक्त्रसंस्थानमनाप्य शोभां शशी समग्रोऽपि कलङ्कितोऽभूत्।
प्रभिन्नमातङ्गगतेस्तु तस्याः केनोपमानं समुपैति कान्तिः ॥५।२०
अपास्तपद्मा कमलेव कान्तिगृहीतमूर्ति. स्वयमागतेव।
रतिः स्मरस्येव बभूव देवी मनोहराङ्गी कनकादिमाला ॥५।१७

इस प्रकार नारी सौन्दर्यके चित्रणमें कविने पूरा रस लिया है। उपमान युक्त होनेपर भी उक्तिवैचित्र्य समाविष्ट है।

चरित्र चित्रण

प्रस्तुत महाकाव्यमे नायक वर्धमानका चरित्र कई जन्मोमे विकसित हुआ है। कर्मफल और कर्तव्यानुसार कर्मसंस्कारोंके अर्जनपर कविने जोर दिया है। बताया गया है कि पुरुरवा भीलने तपस्वी मुनिकी रक्षा की, उसे मार्ग बतलाया और जंगलके विकट मार्गसे पार किया। इस शुभकृत्यके फलस्वरूप उसके शुभ संस्कार अर्जित हुए और वह आदि तीर्थंकर ऋषभदेवका पौत्र एवं भरत चक्रवर्तीका पुत्र हुआ। इस जन्ममें उसने दीक्षा ग्रहण की, पर तपश्चर्याके कष्टोंको वह सहन करनेमें समर्थ न हुआ। अतएव वह भ्रष्ट हो गया, उसने कपिल सिद्धान्तका प्रचार किया। मार्ग भ्रष्ट होनेसे उसे अनेक

---

[1] प्रद्युम्न० १३।४६, १३।५०, १३।५४, १३।५६।

योनियोंमे परिभ्रमण करना पड़ा। नन्दनकी पर्यायमें उसने सम्यक्त्वका संवर्धन किया। मुनिके उपदेशसे संसार, शरीर और भोगोंकी निस्सारताका अनुभव किया। फलतः उसका विकास यहाँसे आरम्भ हुआ। विश्वनन्दीके भवमें उसे अपार शक्ति और वैभव प्राप्त हुआ। यहाँ भी उसने विरक्ति ग्रहण की और मुनि होकर कठोर तप किया। इस जन्ममें एक नयी घटना यह घटित हुई कि विशाखनन्दीसे उसका विरोध उत्पन्न हुआ। उसने तपस्वी होकर भी निदान बाँधा कि मैं तुमसे—विशाखनन्दीसे अवश्य बदला चुकाऊगा। त्रिपृष्ठके भवमें विशाखनन्दीके जीव अश्वग्रीवका उसने वध किया और स्वयंप्रभाके विवाहका प्रसग उपस्थित हुआ। अर्धचक्री त्रिपृष्ठ अन्ततक संसारमें आसक्त रहा है, फलतः उसे पुनः नरक जाना पडा। नरकसे निकलकर सिंह पर्याय प्राप्त हुई। पुनः नरक गया तथा पुन. सिंह पर्याय मिली। अबकी बार संयमी मुनियोके उपदेशसे उसे पशुयोनिमे भी बोध प्राप्त हुआ। अपने पिछले कुत्योंपर उसे पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ, फलत. संल्लेखना द्वारा प्राणत्याग कर स्वर्गलाभ किया। वह चक्रवर्ती हुआ, वैभव और विलासके उपलब्ध होनेपर भी उसका विवेक लुप्त न हुआ। मुनि बन उसने तपश्चरण किया। स्वर्गलाभके अनन्तर उसे राज्यपद मिला। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया और स्वर्गप्राप्तिके पश्चात् वर्धमान तीर्थंकरका जन्म प्राप्त किया।

कविको वर्धमानके चरित्रको विलास-वैभवके द्वन्द्वके बीच विकसित दिखलाया है। माता-पिता नयी-नवेली बहू लाकर घरको उसके नूपुरोंसे मुखरित देखना चाहते है। उनका विश्वास है कि पुत्र घर-गृहस्थीके बन्धनमे बँधकर सबके लिए सुखदायक होगा। माता आँसू बहाकर पुत्रको बन्धनमें बांधना चाहती है, पिता वात्सल्यमय आदेश से। परन्तु वर्धमानपर उन बातोका प्रभाव नही पड़ता। वह तीस वर्षकी अवस्था तक अपनी तैयारी करता है और अन्तमे विरक्त हो दीक्षा धारण करता है। पूर्वज्ञान उन्हें प्राप्त होता है और वे तीर्थंकर केवली बन जाते है। उनके उपदेश सुनकर लक्ष-कोटि मानव प्रकाश प्राप्त करते है। उनकी साधना सफल हो जाती है और निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

महाकवि असगने काव्यके तथ्यों और कथांशोको पात्रोंके स्वभाव और प्रकृतिसे ही निष्पन्न किया है। वातावरण, वस्तुव्यापार वर्णन और देशकाल आदि भी चरित्रके विकासमें पूर्ण सहयोगी है। चरित्रका विकास शनैः-शनैः हुआ है। वर्धमानका जीव जिस प्रकारके सास्कृतिक वातावरण और सामाजिक या कौटुम्बिक परिस्थितियोंके बीच रहता है, उसके चरित्रपर प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न प्रभाव उसी प्रकारके पडते है। चरित्रोके आदर्श रूप उपस्थित किये गये हैं। फलतः सिंह, गज, सर्प जैसे भयंकर हिंसक प्राणियोंके स्वभाव गुणोंके विश्लेषणके साथ मनु-चरित्रोंमें समाविष्ट है। अतः सक्षेपमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि वर्धमानके चरित्रमें सूक्ष्म भंगिमाओका समावेश किया है।

रसभाव योजना

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंका संयुक्त रूपमें अनुभव करके पाठकके मनमें एक उत्कट आनन्दमयी भावनाका संचार होता है; यही रस या काव्यानन्द है। महाकवि असगने अपने प्रस्तुत काव्यमें रस और भावोंका सुन्दर संयोजन किया है। नाना भावोंकी रसमयी अभिव्यक्ति पाठकोंको आनन्दविभोर बना देती है। यहाँ उदाहरणार्थ अंगीरसके साथ शृंगार, वीर, बीभत्स आदि रसोंका विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

शृंगाररसको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संसारमें जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगारके भीतर समाविष्ट हो सकता है। शृंगारका मूल भाव रति अथवा काम समस्त विश्वमें व्याप्त है। यतः प्रजनन एवं स्ववंशरक्षणकी निसर्गज प्रवृत्ति प्राणीमात्रमें समाहित है। प्रस्तुत काव्यमें संयोग शृंगारके ही उदाहरण आये है, वियोग शृंगारके नही। संयोग शृंगार तो नन्दिवर्धन और उसकी प्रेयसी वीरमतीकी कामक्रीड़ाओंसे ही मिलने लगता है। अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठके वैर-विरोधका कारण भी स्वयंप्रभा नामकी रमणी ही है। उस अनिन्द्य सुन्दरीको प्राप्त करनेके लिए अश्वग्रीव लालायित है। स्वयंप्रभाका पिता ज्वलनजटी अपनी कन्याका विवाह त्रिपृष्ठके साथ सम्पन्न कर निश्चिन्त हो जाता है। स्वयंप्रभा और त्रिपृष्ठ की ललित क्रीड़ाएँ संयोग शृंगारके अन्तर्गत है। कविने बताया है कि ज्योति.प्रभा अमिततेजको देखते ही उसपर मुग्ध हो गयी। उन दोनोंके बीचमें हुए प्रेमाकर्षणका कविने रसमय वर्णन किया है। यथा—

स्वमातृसंकल्पवशीकृतेव सा निबद्धभावामिततेजसि ध्रुवम्।
अभूत्सुता चक्रधरस्य योषितां मनो विजानाति हि पूर्ववल्लभम् ॥१०।७७

चक्रवर्तीकी पुत्री अमिततेजपर आसक्त हो गयी। उसने अपना हृदय उसे समर्पित कर दिया। यह कार्य उसने अपनी माताके संकल्पके वश होकर ही किया। यतः मन नियमसे अपने पूर्व वल्लभको जान लेता है।

उदाहृत पद्यमें महाकवि कालिदासके "भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" (शाकुन्तल ५।२) का रूपान्तर प्राप्त होता है।" "मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्" (रघु० ७।१५) में भी कालिदासने जन्मान्तरके संस्कारका समर्थन किया है। अतएव महाकवि असगने भी "मनो विजानाति हि पूर्ववल्लभम्" संस्कारोंके सामर्थ्यकी अभिव्यंजना की है। संयोग शृंगारकी स्थिति इस सन्दर्भमें है।

प्रस्तुत पद्यकी रसगत सामग्री निम्न प्रकार है—

ज्योतिःप्रभा नायिका आश्रय है और अवलम्बन अमिततेज नायक है। अमिततेज का अपूर्व लावण्य उद्दीपन विभाव है। ज्योतिप्रभाकी हर्षसूचक शारीरिक चेष्टा अनुभाव है और आवेग, चपलता, भाव प्रभृति संचारी भाव है। स्थायी भाव रति है। इस सन्दर्भमें संयोग शृंगार है, यतः नायिकाको नायक अमिततेजके संयोगसे ही आनन्द प्राप्त हुआ है।

इस काव्यमें कोमल रसोंके स्थानमे वीर, भयानक, रौद्र और बीभत्स जैसे कठोर रसोंको अधिक महत्त्व दिया गया है। अतएव उक्त रसोंके उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। कवि असगने त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीवकी सेनाके बीचमें सम्पन्न हुए युद्धके अवसरपर वीररसका सुन्दर परिपाक किया है। कवि कहता है—

अन्योन्यमाहूय विनापि वैरं भटा भटाञ्जघ्नुरुदारसत्त्वाः ।
स्वामिप्रसादस्य विनिःक्रयाय प्राणव्ययं वाञ्छति को न धीरः ॥९।८

उदाहृत पद्य तथा आगेके सन्दर्भमें अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ परस्पर आलम्बन हैं। उद्दीपन विभावमें अश्वग्रीवकी गर्वोक्तियाँ परिगणित हैं। अनुभावमें रोमांच, गर्वीली वाणी, धनुषटंकार हैं। गर्व, धृति, स्मृति, असूया संचारीभाव है। उत्साह स्थायीभाव है। कविने शत्रुके कार्य, उसकी गर्वोक्तियाँ, युद्धकौशल, हर्ष आवेग, असूया, पारस्परिक भर्त्सना, अस्त्र-शस्त्रोंकी चमक और उनके विभिन्न प्रयोगोंका सजीव चित्रण किया है।

भयानक रसका चित्रण अनेक प्रसंगोंमें आया है। जब विश्वनन्दी विशाखनन्दीको पकड़ने जाता है, तो भयसे उसकी विचित्र स्थिति हो जाती है। महाकवि असगने उस स्थितिका सुन्दर विश्लेषण करते हुए लिखा है—

आयान्तमन्तकनिभं तमुदग्रसत्त्व-
माळोक्य वेपथुगृहीतसमस्तगात्रः ।
तस्थौ कपित्थतरुमेत्य विशाखनन्दी
मन्दीकृतद्युति वहन्वदनं भयेन ॥४।७७

उग्र पराक्रम धारक विश्वनन्दीको यमराजके समान आते हुए देखकर विशाखनन्दीका सारा शरीर काँपने लगा, भयसे शरीरकी द्युति—कान्ति मन्द पड़ गयी और झटसे कैथके वृक्षपर छिपकर बैठ गया।

उदाहृत सन्दर्भमें पराक्रमी विश्वनन्दी आलम्बन है। उसके भयोत्पादक व्यापार—दुर्ग और खाईंको लाँघना, सेनाको छिन्न-भिन्न करना, पाषाण स्तम्भको बल-पराक्रमसे उखाड़ना आदि भयको उद्दीप्त करते हैं। रोमांच, स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य आदि अनुभाव हैं। शंका, चिन्ता, ग्लानि, आवेग, लज्जा आदि संचारी हैं। भय स्थायी भाव है, जो उक्त सामग्रीसे पुष्ट होता है।

त्रिपृष्ठकी सेना भय और आतंक उत्पन्न करती हुई आगे बढ़ रही है। सेनाके भयसे चारों ओर भगदड़ मची हुई है। इस प्रसंगमें कविने आलम्बन और उद्दीपनोंका बहुत ही सजीव चित्रण किया है।

दळयन्महतोऽपि भूभृतः सरिदुत्तुङ्गतटानि पातयन् ।
विपिनानि परं प्रकाशयन्सरसां कर्दमयं जलश्रियम् ॥७।८७
रथचक्रचयस्य घोरकृतैर्व्यथयन्कर्णपुटानि देहिनाम् ।
ककुभां विवराणि पूरयन् रजसा छादितवायुवर्त्मना ॥७।८८॥

बड़े-बड़े पहाड़ोंको दलन करता हुआ, नदियोंके ऊँचे-ऊँचे तटोंको गिराता हुआ, विपथ—छोटे मार्गोंको या वनोंको प्रकाशित करता हुआ, सरोवरको जलश्रोको गन्दा करता हुआ, रथोंके पहियोंको चीत्कारसे व्यक्तियोंके कानोंको व्यथित करता हुआ, दिशाओंके विवरों—छिद्रोंको—वायुमार्गको ढक देनेवाली धूलिसे भरता हुआ त्रिपृष्ठ चला। सेना द्वारा भय और आतङ्ककी स्थितिका मूर्तरूप उपस्थित हुआ है।

रौद्ररसके सन्दर्भ भी युद्धके अवसरपर प्रस्तुत हुए हैं। कविने अश्वग्रीवके क्रोधका मूर्तरूप उपस्थित कर रौद्ररसका परिपाक चित्रित किया है। क्रोधके आवेगसे वह काँप रहा है, वह पृथ्वीपर पैर पटकता हुआ बडबडाता है। उसकी लाल-लाल आँखें, झनझनाते अस्त्र, काँपते हुए ओठ रौद्रताकी मूर्ति उपस्थित करनेमें समर्थ हैं। यथा—

> भूरिप्रतापपरिपूरितसर्वदिक्कः पद्माकरार्पितजगत्प्रणमाग्रपादः ।
> कोपाज्जनक्षयमिव प्रथयन्विवर्णस्तूर्णं दिवाकर इवैष दिवाकरोऽभूत् ॥६।३४॥

जिसने जल्दी-जल्दी निर्दय होकर अपने रमणीय और आस्फालित ओठोंको चबा डाला है, ऐसे शनिश्चरके समान पराक्रमके धारण करनेवाले क्रुद्ध बलीने झनझन शब्द करनेवाले आभूषणोंसे युक्त अपने दक्षिण हाथ से गम्भीर शब्द करते हुए पृथ्वीको निस्सत्त्व कर दिया।

क्रोधसे लाल हुई आँखोंसे सभाकी आरती करते हुए अभिमानी उद्धत धूमशिख बोला।

उपर्युक्त सन्दर्भोंमें विरोधीदल त्रिपृष्ठ और विद्याधर ज्वलनजटी आलम्बन है। स्वयंप्रभाका विवाह अश्वग्रीवकी इच्छाके विरुद्ध त्रिपृष्ठके साथ होना, अश्वग्रीवकी अवहेलना, अपमान आदि उद्दीपन हैं। भौहें चढ़ना, आँखें लाल करना, दाँत पीसना, ओठ चबाना, हथियार उठाना, विपक्षियोंको ललकारना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, अमर्ष, चंचलता, उद्वेग, मद, असूया, आवेग आदि संचारीभाव है। क्रोध स्थायीभाव है। वस्तुत: अश्वग्रीव तिरस्कृत और अनादृत होनेके कारण स्वयं क्रोध करता है तथा उसके सामन्तगण भी रौद्ररूप धारण करते हैं।

इस काव्यका अंगीरस शान्त है। नन्दिवर्धन, नन्दन, विश्वनन्दी आदि सभी पात्र संसारके अनित्य और अस्थिर सम्बन्धोंको देखकर विरक्त हो जाते हैं। निर्वेद उनके मनको शान्तिसे भर देता है। यह निर्वेद तत्त्वज्ञान मूलक होता है। समताभाव या आत्मानुभूतिसे जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और चित्तको आह्लादसे भर देती हैं, वे ही भावनाएँ शान्तिका कारण बनती हैं। तीर्थंकर वर्धमान संसारके स्वार्थों और संघर्षोंसे विरक्त होकर दीक्षित हो जाते हैं। उनका मन विरक्तिसे भर जाता है।

कवि विश्वभूतिकी विरक्तिका चित्रण करता हुआ कहता है कि उसके समक्ष एक दिन वृद्ध द्वारपाल आया। द्वारपालकी वृद्धावस्थाको देखकर वह सोचने लगा—

वपुरस्य पुरा विघूर्ण्य दृष्टं मुहुरुक्तेन मदङ्गना जनेन ।
बलिना पलितेन चाभिभूतं तदिदं सम्प्रति कस्य वा न शोच्यम् ॥८।१७॥
सकलेन्द्रियशक्तिसंपदायं जरसा विप्लुतया निराकृतोऽपि ।
न जहाति तथापि जीविताशां खलु वृद्धस्य विवर्धते हि मोहः ॥४।१८॥
अथवा किमिहास्ति देहभाजां कुशलं जन्मवने विनष्टमार्गे ।
भ्रमतां सततं स्वकर्मपाकादिति निर्वेदमुपागमन्महीशः ॥४।२०॥

जिस शरीरको पहले स्त्रियाँ घूम-घूमकर देखा करती थीं और उस विषयमें चर्चा किया करती थीं, परन्तु इस समय उसीका बली बुढ़ापेने अभिभव—तिरस्कार कर दिया है। इस विषयमें किसको शोक न होगा ?

वृद्धावस्थाने आकर समस्त इन्द्रियोंकी शक्तिरूपी सम्पत्तिसे इसको दूर कर दिया है, आश्चर्य है कि तो भी यह जीनेकी आशाका त्याग नहीं करता है। सत्य है कि जो वृद्ध होता है, उसका मोह नियमसे बढ़ ही जाता है।

जन्म-मरणरूपी वनका मार्ग विनष्ट है। उसमें अपने-अपने कर्म फलके अनुसार निरन्तर भ्रमण करनेवाले शरीरधारियोंका क्या कल्याण हो सकता है। इस प्रकार चिन्तन करनेसे राजाको वैराग्य प्राप्त हो गया।

इस सन्दर्भमें संसारकी असारताका बोध आलम्बन है। द्वारपालकी वृद्धावस्था का बीभत्सरूप उद्दीपन है। वृद्धावस्थाके कारण शरीरके सौन्दर्यके विलीन होनेसे उत्पन्न हुई विकृति, कर्मफलोंके विभिन्नरूप, संसारत्यागकी तत्परता आदि अनुभाव हैं। धृति, मति, हर्ष, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, निर्वेद, असूया आदि संचारीभाव है। निर्वेद या शम स्थायीभाव है। राग-द्वेष, मद-मात्सर्य आदिसे रहित शान्तरसकी स्थिति तत्त्वज्ञानके कारण उत्पन्न होती है। महाकवि असगने संसारके स्वरूप और असारताका सजीव चित्रण किया है। यथा—

जन्मव्याधिजरावियोगमरणव्यावृत्तिदुःखोदधा-
वामज्जन्नहमेक एव नितरां सीदामि मे नापरे ।
विद्यन्ते सुहृदो न चापि रिपवो न ज्ञातयः केवलं
धर्मो बन्धुरिहापरत्र च परामित्येकतां चिन्तयेद् ॥ १५।९५

इस प्रकार कविने आत्मतत्त्वकी नित्यता और शरीरकी अनित्यताका चित्रण कर शान्तरसकी स्थिति स्पष्ट की है।

अलंकार योजना

महाकवि असगने भावोंको सजाने, उन्हें रमणीयता प्रदान करने एवं भावोंकी अभिव्यक्तिको प्रांजल बनानेके लिए अलंकारोंकी योजना की है। कविको उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् अलंकार सर्वाधिक प्रिय हैं। इन दोनों अलंकारोंका सन्निवेश अनेक सन्दर्भोंमें हुआ है। इन दोनों अलंकारों द्वारा कविने भावोंमें सजीवता और प्रभविष्णुता तो

उत्पन्न की ही है, साथ ही काव्यचमत्कारको रसरूपमें उपस्थित किया है। वर्धमानचरितम्के अलंकारोंका विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

१. अनुप्रास

व्यंजनोंकी समता द्वारा कविने अनुप्रास योजना की है। भिन्न-भिन्न शब्दोके द्वारा चमत्कार उत्पन्न कर संगीतको पद्योंमें समाहित किया है। यथा—

विवर्धयन् ज्ञातिकुमुद्वतीमुदं प्रसारयन्नुज्ज्वलकान्तिचन्द्रिकाम् ।
कलाकलापाधिगमाय केवलं दिने-दिनेऽवर्धत बालचन्द्रमाः ॥ २।४५

नन्दन अपनी जातिरूपी कुमुदिनीकी प्रसन्नताको बढ़ाता हुआ और उज्ज्वल कान्तिरूपी चन्द्रिकाको मानो अपनी कलाओंका बोध करानेके ही लिए फैलाता हुआ बाल चन्द्रमाके समान दिन पर दिन बढ़ने लगा।

ऋतुराजने दक्षिणवायुको बहाकर वृक्षोंके पुराने पत्ते दूर कर दिये और वनको अंकुर एवं कलियोंसे अलंकृत तथा मत्त भ्रमरोंसे व्याप्त कर दिया।

उदाहृत पद्यमें 'कला-कला' एवं 'दिने-दिने' में अनुप्रास है।

'देवानन्दं, देवानन्दं' (१२।७१) में अनुप्रास है तथा 'चक्रे रागं, चक्रेरागं'में भी। प्रथम देवानन्द शब्दका अर्थ है—देवोंको आनन्दित करता हुआ और द्वितीय देवानन्दका अर्थ है—अपने इस अनुपम नामको सार्थक बनाता हुआ। प्रथम 'चक्रे रागं' का अर्थ है—दिव्य अंगनाओंको राग उत्पन्न करता था और दूसरे पदका अर्थ है वीतराग भावको धारण करता था।

२. यमक

कविने वर्ण और शब्दोंकी भिन्न अर्थ अथवा निरर्थक रूपमें आवृत्ति कर यमककी योजना की है। यथा—

इति स्थितं निष्क्रमणैकनिश्चये सुतं विनिश्चित्य विपश्चितां वरः ।
अवोचदेव द्विजमौक्तिकावली स्फुरत्प्रभाराजिविराजिताधरः ॥२।२७

पुत्रको दीक्षा धारण करनेके निश्चयपर दृढ आरूढ जानकर महाराज बोलनेका उपक्रम करने लगे। उस समय मोतियोंके समान उनकी दन्तपंक्तिसे प्रभा निकल रही थी, जिससे उनके ओष्ठ शोभित हो रहे थे।

उदाहृत पद्यमें 'राजि' और 'विराजि' के 'राजि' पद में यमक है। यतः विराजि पदमें 'वि' उपसर्गके निकाल देनेपर यह पद निरर्थक है।

३. श्लेष

महाकवि असगने अनेकार्थक शब्दोंकी योजना कर काव्य-चमत्कारका सृजन किया है। यथा—

नापेक्षतेऽर्थव्ययं न कष्टं न वृत्तभङ्गं भुवि नापशब्दम् ।
मूढीकृतः सन् रसिकत्वतृष्णया कविश्च वेश्यार्पितमानसश्च ॥ १।६

कवि और विट पुरुषोंका श्लेष द्वारा वर्णन करते हुए कहा है—जिस प्रकार विट पुरुष अर्थ—धनके अपव्ययकी अपेक्षा नहीं करते, उसी प्रकार कवि भी अर्थ—वाच्यार्थकी हानिकी अपेक्षा नहीं करते। जिस प्रकार विट पुरुष वृत्तभंग—ब्रह्मचर्य आदि चरित्रभंगकी अपेक्षा नहीं करते, उसी प्रकार कवि वृत्तभंग—छन्दोभंगकी अपेक्षा नही करते। जिस प्रकार विट पुरुष संसारमें अपशब्द—गाली या निन्दा सूचक शब्दोंकी अपेक्षा नही करते, उसी प्रकार कवि अपशब्द—भावसंयोजनके लिए व्याकरण असम्मत या अपभ्रंश शब्दोंके प्रयोगकी अपेक्षा नहीं करते।

उदाहृत पद्यमें अर्थ, वृत्तभंग और अपशब्दमें श्लेष है।

श्लेषके प्रयोग ५।३५, २।७, ५।८, ६।३४, ६।६८, ७।८, ७।४१, ७।८५, ८।२६, ८।६७, ८।७५, ९।७, ९।१०, ९।२९, ९।३५, ९।३९, १०।२२, १०।२३, १०।२४, १२।१०, १२।११, १२।१६, १३।३८, १३।४५, १३।६१, १३।७३, १४।८, १४।९, १७।१५, १७।२१, १८।६ पद्योंमें पाये जाते हैं। यह शब्दालंकार कविको बहुत प्रिय है।

४. उपमा

सादृश्यमूलक अलंकारोमें उपमा अलंकार प्रधान है। यह सर्वाधिक प्रचलित अलंकार है। कविने किसी वस्तुकी रूप-गुण सम्बन्धी विशेषताको स्पष्ट करने और तन्मूलक भावोंको चमत्कृत करनेके लिए इस अलंकारकी योजना की है। यथा—

निसर्गशत्रूनपि योऽभ्युपेतानार्द्रान्तरात्मा नृपतिर्बभार ।
और्वानलस्य प्रविजृम्भमाणान् ज्वालासमूहानिव वारिराशिः ॥ १।४०

स्वभावसे शत्रुता रखनेवाले शत्रु भी यदि उसकी शरणमें आते तो वह उनका पोषण करता, यतः उस राजाकी अन्तरात्मा कोमल थी। जिस प्रकार तृण, वृक्ष और वन आदिको भस्म करनेवाली अग्निकी ज्वालाओंके समूहको समुद्र धारण करता है, उसी प्रकार इस राजाने भी अपने शत्रुओंको धारण कर रखा था।

कवि वीरवतीके सौन्दर्य चित्रणमें अनेक उपमानों द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है। उपमान नवीन न होनेपर भी चमत्कारका सृजन करते हैं।

५. उत्प्रेक्षा

उपमेय या प्रस्तुतकी उत्कृष्ट उपमान या अप्रस्तुतके रूपमें संभावना कर चमत्कारका सृजन किया है। राजगृहके भवनोंके ऊपर नीलमणियाँ जटित हैं, उनकी कान्ति रात्रिमें चन्द्रमाकी किरणोंसे मिल जाती है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है, मानो चन्द्रमा अपने कलंकको किरणरूपी हाथोंसे सर्वत्र विकीर्ण कर रहा है। यथा—

सदनाग्रनिबद्धनीलभासां निवहैः संवलितैर्गभस्तिहस्तैः ।
विसृजन्निव सर्वतः कलङ्कं ददृशे यत्र शशी निजं निशासु ॥ ४।१०

ज्योत्स्नाके साथ मिलकर नीलमणियोंकी कान्तिके व्याप्त होनेपर कविने चन्द्र-कलंकके विकीर्णित करनेकी उत्प्रेक्षा की है।

पूर्वदेशके सरोवरोंमें विकसित कमल और शब्द करते हुए हंसोंका सान्निध्य देखकर कविने कल्पना की है—

सरोभिरुन्मीलितपद्मनेत्रैर्निरीक्ष्यमाणः कृपयाध्वखिन्नः ।
आहूयते पातुमिवाम्बु यस्मिन् हंसस्वनैः पान्थगणस्तृषार्तः ॥ १।१२

उस देशके सरोवरोंमें कमल खिले हुए हैं और उनके पास हंस शब्द कर रहे हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सरोवर अपने विकसित होते हुए कमलरूपी नेत्रोंसे कृपापूर्वक मार्गके खेदसे खिन्न और प्याससे पीड़ित पथिकोंको देख रहे हैं तथा हंसध्वनि उनको जल पीनेके लिए आमन्त्रित कर रही है।

६. रूपक

प्रस्तुत या उपमेयपर अप्रस्तुत या उपमानका आरोप कर महाकवि असगने रूपक अलंकारको योजना की है। मुनिमें सूर्यका और राजकुमारमे पद्माकरका आरोप किया है। यथा—

तस्माद्विनिर्गतमसौ मुनिनूतनार्काज्ज्योतिः परं सकलवस्तुगतावभासम् ।
मिथ्यान्धकारपरिभेदि समेत्य तत्त्वं पद्माकरः स्वसमये सहसा व्यबुद्ध ॥ १।५८

मुनिरूप सूर्यके निकलते हुए इस अपूर्व प्रकाशको पाकर राजकुमार रूप पद्माकर सहसा स्वसमयमे विबोध को प्राप्त हो गया। उसका मिथ्यात्व रूप अन्धकार नष्ट हो गया।

अन्धकारमें शबरका आरोप कर रात्रिका सुन्दर चित्रण किया है। यथा—

अन्धकारशबरेण गृहीतां भामिनीं समवलोक्य निजेष्टाम् ।
कोपपूरितधियेव नवोत्थो लोहितो हिमकरो भृशमासीत् ॥ १३।५८

नवीन उदित हुआ चन्द्र अपनी प्रिय रात्रिको अन्धकाररूप भीलके द्वारा पकड़े हुए देखकर क्रोधके कारण लाल हो गया है।

७. भ्रान्तिमान्

प्रस्तुतको देखनेसे सादृश्यके कारण अप्रस्तुतके भ्रम वर्णन द्वारा कविने भ्रान्तिमान् अलंकारकी योजना की है। यह अलंकार महाकवि असगको अधिक प्रिय है। कवि कहता है कि सन्ध्याके समय मणिनिर्मित भूमिपर झरोखों द्वारा पड़नेवाली निर्मल चाँदनीको दूध समझकर बिलाव चाटने लगे। यथा—

यस्यां गवाक्षान्तरसंप्रविष्टां ज्योत्स्नां सुधाफेनसितां प्रदोषे ।
दुग्धेच्छया स्वादयति प्रहृष्टो मार्जारपोतो मणिकुट्टिमेषु ॥ १।२५

सुरमा देशकी अरण्य नदियोंके तीरका जल कमलिनियोंके सरस पत्तोंसे ढक जाता है । अतएव तृषातुर हरिणियाँ उसका सहसा पान नहीं करती हैं; क्योंकि उनकी बुद्धि इस भ्रममें पड़ जाती है कि कहीं यह हरिन्मणियों—पन्नोंका बना हुआ स्थल तो नही है । यथा—

अटवीषु यत्र सरसां सरसैर्नलिनीदलैः पिहिततीरजलम् ।
सहसा पपौ न तृषितापि मृगो गरुडोपलस्थलविमूढमतिः ॥ ५।३४

८. अपह्नुति

प्रकृतका निषेध कर अप्रकृतका स्थापना द्वारा अपह्नुति अलंकारकी योजना की गयी है । कवि अलका नगरीके भवनोके ऊपर वायुसे आन्दोलित होनेवाले झण्डोंका निषेध कर उसमें नगरीके हाथोंका आरोप करता हुआ कहता है —

मन्दानिलोल्लासितसौधनद्धध्वजांशुकैर्नाकभुवः समन्तात् ।
ऊर्ध्वीकृतात्मीयकरैः स्वशोभामाहूय संदर्शयतीव नित्यम् ॥ ५।११॥

भवनोंपर लगी ध्वजाएँ मन्दमन्द वायु द्वारा चंचल होने लगती हैं । इन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये ध्वजाएँ नही है, बल्कि नगरीके हाथ हैं, जिनको ऊपर उठाकर यह नगरी स्वर्गीय दिव्य भूमिको बुलाकर अपनी शोभाको दिखलाना चाहती है ।

९. अतिशयोक्ति

कवि असगने महाराज नन्दिवर्धनके यशका वर्णन करते हुए कहा है कि उसके यशने समस्त बिम्बको श्वेत कर दिया है, पर शत्रुस्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्र मलिन हो गये हैं । यथा—

अलंकृताशेषमहीतलेन प्रोत्फुल्लकुन्दद्युतिनापि यस्य ।
तदद्भुतं शत्रुवधूमुखेन्दोर्मलीमसत्वं यशसा कृतं यत् ॥ १।४२

यशका वर्णन लोकसीमाका अतिक्रमण कर किया गया है । नगरी, रमणी और भवनोंके वर्णन प्रसंगमें भी अतिशयोक्तिकी योजना सम्पन्न हुई है ।

१०. दृष्टान्त

दो सामान्य या विशेष वाक्योंमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव द्वारा दृष्टान्त अलंकारकी योजना की गयी है । कवि कहता है—

प्रबुद्धपद्माकरसेव्यपादं जगत्प्रवीणं क्षितिपः स तस्याम् ।
उत्पादयामास सुतं यथार्थं प्राच्यां प्रतापानुगतं प्रभातः ॥ १।७६ ॥

जिस प्रकार प्रातःकाल पूर्वदिशामें प्रतापके पीछे-पीछे गमन करनेवाले सूर्यको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार उस राजाने भी रानीके गर्भसे प्रफुल्लित पद्माकरके समान सुन्दर चरणोंके धारक और जगत्को प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान पुत्रको उत्पन्न किया।

११. विभावना

बिना कारणके जहाँ कार्यकी उत्पत्तिका निर्देश किया जाय, वहाँ विभावना अलंकार आता है। महाकवि असगने इस अलंकारकी योजना अनेक स्थलोंपर की है। कवि धूलिधूसरित आकाशको धूमपटलसे आच्छादित बतलाता है। यहाँ अग्निके बिना ही धूमका वर्णन करनेसे विभावना अलंकार है। यथा—

गोखुरोत्थितरजोभिररोधि व्योम रासभतनूरुहधूम्रैः।
कोकदाहिमदनाग्निसमुत्थसान्द्रधूम्रपटलैरिव कृत्स्नम्॥ १३।४१

१२. अर्थान्तरन्यास

सामान्य या विशेष द्वारा किसी कथनका समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास अलंकार आता है। कवि कहता है—

यो वाञ्छितानेकफलप्रसूतिं भूत्यै प्रजानां नयकल्पवृक्षम्।
प्रज्ञाम्बुसेकेन निनाय वृद्धिं परोपकाराय सतां हि चेष्टा॥ १।४१

नन्दिवर्धनने प्रजाकी विभूतिको बढ़ानेके लिए बुद्धिरूप जलका सिंचन करके अनेक इच्छित फलोंको उत्पन्न करनेवाले नीतिरूप कल्पवृक्षको बड़ा कर दिया। यतः सज्जन पुरुषोंकी समस्त क्रियाएँ परोपकारके लिए ही हुआ करती हैं। यह अलंकार २।१, २।८, १३।४४ प्रभृति पद्योंमें भी पाया जाता है।

१३. सन्देह

साम्यके कारण किसी वस्तुमें अन्य किसी वस्तुकी आशंका उत्पन्न होनेसे सन्देह अलंकार होता है। कवि असगने चमत्कार उत्पन्न करनेके लिए इस अलंकारकी योजना अनेक स्थानोपर की है। कवि कहता है—

स्वयमेव किं हरिपदेन यमो जनतां हिनस्त्युत महानसुरः।
तव पूर्वशत्रुरथवा विबुधो न हि तादृशो मृगपतेर्विकृतिः॥ ५।७०॥

उसको—सिंहको देखकर ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि क्या सिंहके छलसे स्वयं यमराज पृथ्वीकी हिंसा कर रहा है? अथवा कोई महान् असुर है? अथवा आपके पूर्व जन्मका शत्रु कोई देव है? क्योंकि इस प्रकारका कार्य सिंहका नहीं हो सकता।

१४. व्यतिकर

महाकवि असगने उपमानकी अपेक्षा उपमेयमें अधिक गुणका आरोप कर इस अलंकारकी योजना की है। कविने कनकमालाके मुखको चन्द्रमासे अधिक सुन्दर और गतिको हाथियोंकी चालसे सुन्दर बतलाया है। यथा—

यद्वक्त्रसंस्थानमवाप्य शोभां शशी समग्रोऽपि कलङ्कितोऽभूत् ।
प्रभिन्नमात्यङ्गगतेष्वु तस्याः केनोपमानं समुपैति कान्तिः ॥५।२०

१५. विरोधाभास

दो अवास्तविक विरोधी तत्त्वोंकी स्थितिका निर्देश कर विरोध दिखलाया है, अनन्तर उनका परिहार भी कर दिया है। कवि भगवान्से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि आपने अकाम होकर मुझे सकाम कर दिया है। यहाँ जो स्वयं अकाम—इच्छा रहित है, वह दूसरेको सकाम—परिपूर्ण मनोरथ कैसे कर सकता है, अतः इसका परिहार यह होगा कि वीतरागी प्रभु अकाम—काम विकार रहित होनेपर भी पुण्यातिशयताके कारण दर्शनमात्रसे भक्तोंकी इच्छाओंको पूर्ण करता है। यथा—

अकामेनापि दृष्टयैव पूर्णकामः कथ कृतः ॥३।९

१६. परिसंख्या

महाकवि असगने अलकापुरीका वर्णन करते हुए इस अलंकारकी सुन्दर योजना की है। यथा—

यत्राकुलीनाः सततं हि तारा दोषाभिलाषाः पुनरेव घूकाः ।
सद्वृत्तभङ्गोऽपि न गद्यकाव्ये रोधः परेषां सुजनस्य चाक्षे ॥५।१३॥
दण्डो ध्वजे सन्मुरजेषु बन्धो वराङ्गनानां चिकुरेषु भङ्गः ।
सत्पञ्जरेष्वेव सदा विरोधो गतावहीनां कुटिलत्वयोगः ॥५।१४॥

इस अलका नगरीमें कोई अकुलीन नहो थे, कुलीन—पृथ्वीमें न लीन होना, इस प्रकारके तारागण थे। दोषाभिलाषी—दोषोंकी इच्छा करनेवाला वहाँ कोई नही था, दोषाभिलाषी—रात्रिकी इच्छा करनेवाले केवल उल्लू ही थे। कोई व्यक्ति वहाँ सद्वृत—श्रेष्ठ आचारका भंग नही करता था, सद्वृत्त—छन्दोभंग केवल गद्य रचनामें होता था। यहाँ रोध शत्रुओंको छोड़ अन्य व्यक्तियोका नही होता था।

दण्ड केवल ध्वजामें ही था, पुरुषोंमें नहीं। बन्ध केवल मृदंगमे ही था, अन्यत्र नही, भंग—कुटिलता सुन्दरियोंके केशोंमें, अन्यत्र नहीं। विरोध—विपक्षियोंका रोध—रुकावट पिंजड़ोंमें ही थी, अन्यत्र विरोध—कलह नहीं था। कुटिलता साँपोंकी गतिमें ही थी, अन्यत्र नहीं।

१७. एकावली

अवन्ती देशके वर्णन प्रसंगमें वस्तुओंका शृंखलाबद्ध वर्णन कर इस अलंकारकी योजना की है।

चारुताविरहिता न पुरन्ध्रिश्चारुतापि सुभगत्वविहीना ।
यत्र नास्ति सुभगत्वमशीलं शीलमप्यविदितं न चरित्रात् ॥१२।४॥

निर्जला न सरिदस्ति जलं च स्वादुहीनमहिमं न च यत्र ।
पीततोयमुदितैः पथिकानामस्तुतं न खलु तच्च समूहैः ॥१३।५॥
पुष्पकान्तिरहितोऽस्ति न वृक्षः पुष्पमप्यतुलसौरभहीनम् ।
यत्र सौरभमपि भ्रमरालीरक्षमं वशयितुं न नितान्तम् ॥१३।६॥

१८. स्वभावोक्ति

गर्भिणी स्त्रीकी गर्भावस्थाका स्वाभाविक चित्रण कर इस अलंकारकी योजना सम्पन्न हुई है । यथा—

उदरस्थितस्य यशसेव शुतं परिपाण्डुतामुपययौ वदनम् ।
असहद्विसोढुमिव तद्गुरुतां तनुतां तदीयमगमच्च वपुः ॥५।५४॥

१९. सहोक्ति

कार्यकारण रहित सहवाची शब्दों द्वारा जहाँपर अनेक व्यापारों या स्थानोंमें एक धर्मका वर्णन होता है, वहाँ सहोक्ति अलंकार आता है । कवि असगने इस अलंकारका व्यवहार अनेक स्थानोंमें किया है । यथा—

सममदरातिकमलालययास्तनयोर्युगं सह सुनीकमुखम् ।
ववृधे तदीयमुदरं च मुदा प्रतिवासरं सह समग्रभुवा ॥५।५५॥

शत्रुपक्षकी लक्ष्मीके साथ-साथ उसके स्तनयुगलका मुख भी काला पड़ गया और सम्पूर्ण पृथ्वीके साथ-साथ उसका उदर भी हर्षसे बढ़ने लगा ।

२०. विनोक्ति

उपमेय या प्रस्तुतको किसी वस्तुके बिना हीन अथवा रम्य वर्णित कर कविने इस अलंकारकी योजना की है । यथा—

कुपितस्य रिपोः प्रशान्तये प्रथमं साम विधीयते बुधैः ।
कतकेन विना प्रसन्नतां सलिलं कर्दमितं प्रयाति किम् ॥७।२१॥

यदि कोई राजा कुपित हो रहा हो तो उसको शान्त करनेके लिए विद्वान् लोग पहले साम—सान्त्वनाका ही उपयोग करते हैं । कीचड़ मिश्रित जल क्या निर्मलीके बिना प्रसन्न—स्वच्छ हो सकता है ?

मृदुना सहितं सनातनं भुवि तेजोऽपि भवत्यसंशयम् ।
दशयाथ विना सतैलया ननु निर्वाति न किं प्रदीपकः ॥७।२९

२१ विशेषोक्ति

कारणके पूर्ण होनेपर भी कार्य सम्पन्न न हो तो विशेषोक्ति अलंकार होता है । सौन्दर्य, यौवन, प्रभुता एवं राजलक्ष्मी प्रभृति मद उत्पन्न करनेवाले समस्त कारणोंके मिलनेपर भी राजकुमारमें मद उत्पन्न नहीं हुआ । यथा—

सौन्दर्ययौवनमदोद्धुरराजलक्ष्म्यः प्राप्यापि निसर्गमपि मदहेतवोऽपि ।
शेकुर्न तं मदयितुं क्षणमप्युदारं शुद्धात्मनां न तु विकारकरं हि किञ्चित् ॥ १।६४

इस प्रकार कविने समस्त प्रमुख अलंकारोंकी योजना कर अपनी इस कृतिको सरस और चमत्कारपूर्ण बनाया है ।

छन्दोयोजना

महाकवि असगने 'महावीरचरितम्' में विभिन्न छन्दोंका व्यवहार किया है और काव्यको सरस एवं चमत्कारपूर्ण बनाया है । कविकी छन्दोयोजनाका विश्लेषण निम्न प्रकार है—

१. उपजाति १।१, २. वसन्ततिलका १।५०, ३ शिखरिणी १।८८, ४. वंशस्थ २।१, ५. शार्दूलविक्रीडित २।७०, ६. अनुष्टुप् ३।१, ७. मालिनी ३।११३, ८. मालभारिणी ४।१, वसन्ततिलका ४।७७, ९. मन्दाक्रान्ता ४।९४, उपजाति ५।१, १०. स्रग्धरा ५।११५, वसन्ततिलका ६।१, ११. आख्यानकी ६।६५, १२. शालिनी ६।७०, १३. हरिणी ६।७१, १४. ललिता ७।१, शार्दूलविक्रीडित ७।१०३, १५. रथोद्धता ८।१, शार्दूलविक्रीडित ८।८७, उपजाति ९।१, शार्दूलविक्रीडित ९।९३, वंशस्थ १०।१, शिखरिणी १०।६९, मालिनी १०।७१, उपजाति १२।१, मन्दाक्रान्ता १२।७१, १६. स्वागता १३।१, वसन्ततिलका १३।८४, १७. प्रहर्षिणी १४।१, मालिनी १२।५३, शालिनी १५।१, शार्दूलविक्रीडित १५।४३, शिखरिणी १५।१०७, शार्दूलविक्रीडित १५।१२५, उपजाति १५।१२६, शार्दूलविक्रीडित १५।१३२, वसन्ततिलका १७।१, हरिणी १७।१३०, मालिनी १८।१, शार्दूलविक्रीडित १८।१५, अनुष्टुप् १८।१०३

शैली

प्रस्तुत महाकाव्यकी शैली प्रायः भारविके 'किरातार्जुनीयम्' से मिलती-जुलती है । पद्योंमें न तो अल्पसमास ही है और न विकट-समासान्त-पदावली ही । कविने श्लेष द्वारा कविताके सामान्य नियमोंका कथन करते हुए बताया है कि अर्थापपत्ति, लम्बे समाज, वृत्तभंग, अपशब्द एवं क्लिष्टता काव्यमें अपेक्षित नहीं हैं[1] । पदविन्यासकी गम्भीर गति उत्प्रेक्षाओंके साथ मिलकर अभिनव सौन्दर्यकी योजना करती है । कविने वर्ण्य विषयके अनुसार भाषा और समासान्त पदोंका प्रयोग किया है—

नृत्यन्मदालसवधूजनवक्त्रपद्मव्यासक्तकामुकविलोचनमत्तभृङ्गम् ।
रङ्गावलीविरचितोज्ज्वलपद्मरागप्रेङ्खत्प्रभापटलपल्लवितान्तरिक्षम् ॥ ६।१८

जिनके मुखकमलोंपर कामुक पुरुषोंके नेत्र मत्तभ्रमरकी तरह अत्यन्त आसक्त हो रहे थे, ऐसी मदसे अलस हुई वधुएं वहांपर नृत्य कर रही थीं । रंगवल्लीमें जो निर्मल पद्मराग मणियाँ लगायी गयी थी, उनमें से प्रभाके पटल निकल रहे थे । उनमें

---

[1] वर्द्धमानचरितम् १।६ ।

ऐसा मालूम होता था, मानो वहाँका आकाश पल्लवोंसे लाल-लाल नवीन पत्तोंसे व्याप्त हो रहा है।

निरीक्ष्य शूरं व्रणविह्वलाङ्गं तेजस्विनं हन्तुमपीह मानम्।
जघान कश्चित्कृपया न साधुर्न दुःखितं हन्ति महानुभावः ॥ ९।६२

संक्षेपमें इस महाकाव्यकी शैली मध्यम मार्गकी है। वैदर्भी और गौड़ीके मध्यका मार्ग अपनाया गया है। समासान्त पदोंमें भी लालित्य पाया जाता है—

आमूलल्लूनायतहस्तदेशात् श्च्योतत्कदुष्णास्रमहाप्रवाहः।
रेजे गतस्तुङ्ग इवाञ्जनाद्रिः सानोः पतद्गैरिकनिर्झराङ्कः ॥ ९।३०

वर्धमानचरितपर पूर्ववर्ती कवियोंका प्रभाव

यह सार्वजनीन सत्य है कि बुद्धि जनित परिश्रमसे बचनेके लिए कवि अपने पूर्वजों या गुरुजनोंकी कृतियोंका कई दृष्टियोंसे अनुकरण करता है। वाङ्मयकी परम्पराका निर्माण दो-चार लेखकों या कवियोंकी रचनाओंसे नहीं होता। इसके लिए कुछ दिनों तक अनेक लेखक और कवियोंको अनवरत श्रम कर परम्पराकी स्थापना करनी पड़ती है। वर्गकी अन्तःप्रवृत्ति, सहज स्वाभाविक चेष्टाएँ, सौन्दर्यमूलक भावनाएँ जब जाति-जीवनमें उल्लासके क्षणोंमें अभिव्यक्त होती हैं, तो काव्य-परम्परा आरम्भ हो जाती है। अन्तःसलिलाका यह अविच्छिन्न स्रोत सभ्यताके उषःकालसे ही प्रवाहित होता आ रहा है। प्रतिभाशाली कोई भी कवि अपनी पूर्व परम्परासे उपादान सामग्री अवश्य ग्रहण करता है। महाकवि असगके प्रस्तुत महाकाव्यमें रघुवंश, शिशुपालवध, किरात, चन्द्रप्रभचरित, धर्मशर्माभ्युदय, जीवन्धर-चम्पू प्रभृति काव्योंका यत्किंचित् सादृश्य परिलक्षित होता है।

रघुवंश और वर्द्धमानचरित

रघुवंश महाकाव्यमें मंगलाचरणके अनन्तर कविने लिखा है कि मैं रघुवंशका वर्णन तो करने बैठा हूँ, पर मैं देखता हूँ कि "कहाँ तो सूर्यसे उत्पन्न हुआ वह वंश, जिसमें रघु और राम जैसे पराक्रमी पुरुष उत्पन्न हुए हों और कहाँ मोटी बुद्धिवाला मैं। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि मैं रघुवंशका पार नहीं पा सकता, फिर भी मेरी मूर्खता तो देखिए कि तिनकोंसे बनी छोटी सी नाव लेकर अपार समुद्रको पार करनेकी बात सोच रहा हूँ।"[1]

रघुवंशके उपर्युक्त भावके समान ही वर्द्धमानचरितमें कवि असगने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि "कहाँ तो उत्कृष्ट ज्ञानके धारक गणधर देवोंका कहा हुआ वह पुराण और कहाँ जडबुद्धि मैं जिस समुद्रके पारको मदके समान वेगका धारक गरुड कर सकता है, क्या उस समुद्रको मयूर पार कर सकता है, कदापि नहीं।"[2]

---

[1] रघुवंश १।२।

[2] वर्द्धमान च० १।४।

रघुवंशके द्वितीय सर्गमें बताया गया है कि "कोमल हृदयवाले यशस्वी राजा दिलीपने आश्रमके द्वारपर खड़ी रानी सुदक्षिणाको लौटा दिया और अपनेआप उस नन्दिनीकी रक्षा करने लगे। यह नन्दिनी ऐसी प्रतीत होती थी मानो साक्षात् पृथ्वीने ही गौका रूप धारण कर लिया हो और जिसके चारों थन ही पृथ्वीके चार समुद्र हों।"

'वर्द्धमानचरितम्' में राजकुमार नन्दनका वर्णन करते हुए कहा गया है कि "मानो चारों समुद्र ही जिसके चार स्तन हैं, रक्षाकी विस्तृत रस्सीसे नाथ-बाँधकर जिसका नियमन कर दिया गया है और जो समीचीन न्यायरूपी बछड़ाके पोषणसे पसुरायी गयी है, ऐसी पृथ्वीरूपी गायसे दूधके समान अनेक रत्नोंको दुहा। यथा—

चतुःपयोराशिपयोधरश्रियं नियम्य रक्षायतरश्मिना घनम्।
उपस्नुतां सन्नयवत्सलालनेर्दुदोह गां रत्नपयांसि गोपकः ॥२।० वर्द्धमानच०

रघुवंशके 'अन्येद्युरात्मानुचरस्य' (१।२६ र०) का प्रभाव वर्द्धमानचरितके 'अन्येद्युरात्मसमवर्द्धितराजपुत्रैः' (१।५२ वर्द्ध०) पर तथा रघुवंशके 'पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः' (२।७४ रघु०) पद्यका वर्धमानचरितके 'नगरं ततः प्रतिनिवृत्य ययौ जयकेतनैर्मुकुलितार्ककरम्' (५।८९ वर्द्धमान च०) पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

कुमारसम्भव और वर्द्धमानचरित

कुमारसम्भवके कुछ सन्दर्भांगोंका प्रभाव भी वर्द्धमानचरित पर है। कुमारसंभवमें आया है कि शिवकी समाधिको भंग करनेके लिए जब कामदेव वसन्तके साथ पहुँचा तो अशोक, आम्र, तिलक, कर्णिकार आदि वृक्षोंमें पुष्प विकसित हो गये। कुमारसम्भवका यह वसन्तवर्णन वर्द्धमानचरितके वसन्तवर्णनसे मिलता-जुलता है। इस प्रसंगमें कनेरके फूलनेके चित्रणका प्रभाव वर्द्धमानचरितपर स्पष्ट प्रतीत होता है।

किरात और वर्द्धमानचरित

किरातार्जुनीयमें आया है कि द्रौपदीकी मनोनुकूल बातोंको सुनकर भीम युधिष्ठिरको दुर्योधनके प्रति उत्तेजित करते हुए कहते हैं कि शत्रुकी उपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित है। आप आलस छोड़कर पुरुषार्थ करेंगे तो शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना बहुत ही सरल है। भीमने इस सन्दर्भमें अपने भाइयोंके तेजका भी जिक्र किया। युधिष्ठिर भीमको समझाते हुए कहने लगे—"असमयमें क्रोध करना अत्यन्त अनुचित है, शान्तिके समान सुख देनेवाला अन्य कोई साधन नहीं है। शान्ति रखनेसे शत्रु स्वयमेव ही नष्ट हो जाते हैं।"[1]

इस सन्दर्भका प्रभाव नृपति प्रजापति और सुश्रुत मन्त्री तथा कुमार विजयके बीच सम्पन्न हुई सभागोष्ठीपर पाया जाता है[2]। भाव साम्यकी दृष्टिसे ये दोनों

---

[1] किरातार्जुनीयम्, द्वितीय सर्ग।
[2] वर्द्धमानचरितम्, सप्तम सर्ग।

Religious Book Distribution Fun
C/o बिशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन स
1325, चांदना चौक, देहली-11000

सन्दर्भोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। कथनकी ओजस्विता, स्वपक्ष समर्थन, राजनीतिक पुट, उत्तेजनापूर्ण वातावरण प्रायः साम्य है। उदाहरणार्थ दो-एक समताबोधक पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं।

> विषयोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः ।
> स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ किरात० २।३
>
> ....
>
> नयवर्त्मनि यः सुनिश्चितं यतते तस्य न विद्यते रिपुः ।
> ननु पथ्यभुजं किमामयः प्रभवत्यल्पमपि प्रबाधितुम् ॥ ७।२६ वर्द्धमान
>
> ....
>
> समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति निम्नताम् ।
> अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ किरात० २।३८
> मृदुनैव विभिद्यते क्रमात्परिपूर्णोऽपि रिपुः पुरःस्थितः ।
> प्रतिवत्सरमापगारयः सकलं किं न भिनत्ति भूधरम् ॥ वर्द्धमान ७।२८
> मृदुना सहितं सनातन भुवि तेजोऽपि भवत्यसंशयम् ।
> दशयाथ विना सतैलया ननु निर्वाति न किं प्रदीपकः ॥ वर्द्ध० ७।२९

शिशुपालवध और वर्द्धमानचरित

शिशुपालवधकी उत्प्रेक्षाओ और कल्पनाओका प्रभाव भी वर्द्धमानचरितपर है। वर्णन प्रसंगोमें कविने शिशुपालवधका अनुकरण किया है। शिशुपालवधमे द्वारिकाकी रमणियोंका चित्रण करते हुए कहा है—

> स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुता स्फाटिकसौधपङ्क्तीः ।
> आरुह्य नार्यः क्षणदासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन् ॥ ३।४३ शिशु०

जिस द्वारिकापुरीमें रात्रियोमे दीप्तिमान् चन्द्रकी किरणें स्फटिकमय अट्टालिकाओं-को इस प्रकारसे छिपाकर फैल जाती थी, मानो वे है ही नही अर्थात् चन्द्रमाकी श्वेत चाँदनीमें शुभ्र अट्टालिकाएँ छिप जाती थी। इसलिए रमणियाँ रात्रिमे उन अट्टालिकाओं-पर चढ़कर शून्यमें स्थित देवियोके समान शोभा पाती थीं।

इसी पद्यसे प्रभावित वर्द्धमान चरितमें निम्नलिखित पद्य प्रतीत होता है—

> यत्राम्बराच्छस्फटिकाश्मवेश्मप्रोत्तुङ्गशृङ्गास्थितचारुरामाः ।
> नभोगता ह्यप्सरसः किमेता इति क्षणं पश्यति पारलोकः ॥ १।२७ वर्ध०

जहाँके निर्मल स्फटिकके बने हुए गगनस्पर्शी भवनोंके ऊपरके भागपर बैठी हुई रमणीय रमणियोंको लोग इस तरह देखने लगते है कि क्या ये आकाश स्थित अप्सरा हैं।

द्वारिकाके भवनोंके अग्रभागमें जटित चन्द्रकान्त मणियोसे चन्द्रोदय होनेपर

जल प्रवाहित होने लगता था, जिससे मेघ सार्थक हो जाते थे। माघ कविने इसी दृश्यका चित्रण करते हुए कहा है—

कान्तेन्दुकान्तोत्पलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र।
उच्चैरधः पानिपयोमुचोऽपि समूहमुहुः पयसां प्रणाल्यः ॥ ३।४४ माघ

इसी भावके आधारपर ग्रथित वर्द्धमानचरितमें निम्न पद्य प्रतीत होता है—

चन्द्रोदये चन्द्रमणिः प्रणद्ध· सौधाग्रभूमिभ्रमनिर्गतानि।
आदाय तोयानि घनीकृताङ्गा यथार्थतां यत्र घनाः प्रयान्ति ॥ १।३३ वर्ध०

वहाँपर चन्द्रकान्तमणिके बने हुए भवनोंकी बाहरकी भूमिमें से चन्द्रमाका उदय होनेपर जो जल निकलता है, उसके ग्रहण करनेसे मेघोंका शरीर सघन हो जाता है, अतएव वे यथार्थताको प्राप्त हो जाते हैं।

माघ काव्यके सोलहवें सर्गमें कुछ राजनीति और नीतिकी बातें वर्णित हैं। वर्द्धमानचरितके आठवें सर्गमे भी उसी प्रकारकी राजनैतिक बातें कही गयी हैं। अतः उस सन्दर्भपर भी माधका प्रभाव है। माघमें कहा है कि बुद्धिशून्य नीच श्रेणीके लोग अपने हितकी बात नही सोच सकते, यह कोई आश्चर्यकी बात नही है, किन्तु आश्चर्य इस बातका है कि वे दूसरोंके द्वारा उपदेश देनेपर भी अपना हित नही जान पाते।

चन्द्रप्रभचरित और वर्द्धमानचरित

महाकवि असगने चन्द्रप्रभचरितसे भी उत्प्रेक्षाओंको ग्रहण किया है। चन्द्रप्रभकाव्यमें बताया है कि अग्नि इंधनके ढेर जलाकर और समुद्र सैकड़ों नदियोंका जल प्राप्त कर चाहे तृप्त हो जाय, किन्तु, पुरुष कामसुखके भोगसे तृप्त नही होता।

दहनस्तृणकाष्ठसञ्चयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतै·।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मण. ॥ २।७२ चन्द्र०

इसी पद्यका साम्य वर्द्धमानचरितमे निम्न प्रकार पाया जाता है—

नदीसहस्रैरिव यादसांपतिस्तनूनपादिन्धनसंचयैरिव।
चिराय सन्तुष्यति कामघस्मरो न कामभोगैः पुरुषो हि जातुचित् ॥वर्द्ध० १०।२६

चन्द्रप्रभचरितमें आया है कि जहाँका सुन्दरी स्त्रियोंके नेत्रकमलोंकी शोभाके समक्ष अपनी शोभा फीकी पड़ जानेसे सन्तापको प्राप्त नीले कमल, हवाकी हिलोरोंसे हिलते हुए तालाबोंके शीतल जलमें अपने जी को जलन मिटा रहे हैं। यथा—

विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पलैः सितेतराण्यम्बुरुहाणि योषिताम्।
मरुच्चलद्वीचि न यत्र शीतले लुठन्ति तापादिव दीर्घिकाजले ॥१।२६ चन्द्र०

इस प्रकारका भावसाम्य वर्द्धमानचरितमें निम्न प्रकार है—

नेत्रोत्पलाभ्यामनवाप्य यस्या नीलोत्पलं सत्परिभूयमानम्।
सरस्यगाधे पतितं प्रगल्भ्य निकारसंतापनिरीक्षयैव ॥५।१९

यह सुन्दर नीलकमल इसके नेत्रकमलोंके आकारको न पाकर ही मानो अपने मानको छोड़कर पराभवजनित सन्तापको दूर करनेकी इच्छासे अगाध सरोवरमें जाकर पड़ गया है।

चन्द्रप्रभचरितमें परिसांकालंकार द्वारा श्रीपुर नगरकी विशेषताओंका निरूपण किया गया है। वर्द्धमानचरितमें उक्त अलंकार द्वारा ही अलका नगरीका चित्रण किया है। दोनों वर्णनोंको देखनेसे अवगत होता है कि वर्द्धमानचरितमें चन्द्रप्रभका भावसाम्य ग्राह्य किया गया है। यथा—

> भङ्गः कचेषु नारीणां व्रतेषु न तपस्विनाम् ।
> विरसत्वं कुकाव्येषु मिथुनेषु न कामिनाम् ॥ चन्द्र० २।१३९
> विरोधः पञ्जरेष्वेव न मनःसु महात्मनाम् । चन्द्र० २।१४
> ....
>
> प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेनाव्यभिचारिणा ।
> वणिजस्तार्किकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिण्वते ॥च० २।१४२

साम्यता—

> दण्डो ध्वजे सन्मुरजेषु बन्धो वराङ्गनानां चिकुरेषु भङ्गः
> सत्पञ्जरेष्वेव सदा विरोधो गतावहीनां कुटिलत्वयोगः ॥ वर्द्धमान० ५।१४
> ....
>
> प्रसिद्धमानेन विरोधवर्जिना प्रमिण्वते यद्वणिजो निकामम् ।
> सत्तार्किका वा सदसद्विचाराद्वस्तुप्रयत्ना हि यतः स्ववाचा ॥वर्द्ध० ५।१२

कुमार श्रीवर्माकी दिग्विजयका चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि ' अनुकूल वायुकी झोंकमें फहराती हुईं उनकी सिंहादिके चिह्नोंसे युक्त सेनाकी ध्वजाओंसे केवल सूर्य ही नहीं छिप गया, किन्तु शत्रुओंका प्रभाव भी अस्त हो गया।" यथा—

> सैन्यध्वजैरप्रतिकूलवातव्याधूननप्रोल्लसितैस्त्वदीयैः ।
> नान्तर्दधे केवलमेव सूर्यः शत्रुप्रभावश्च महाप्रभावैः ॥ चन्द्र० ४।४९

इस उत्प्रेक्षाका रूपान्तर वर्द्धमानचरितमें निम्न प्रकार पाया जाता है—

> करिणां कदलीध्वजोत्कराः पिदधुः केवलमेव नाम्बरम् ।
> अतिदुःसहमन्यभूमिपैः सकलं धाम च चक्रवर्तिनः ॥७।६४ वर्द्ध०

रथोंके घोड़ोंकी टापोंके पड़नेसे पृथ्वीमें जो गधेके बालोंकी तरह धूलि उठी उससे केवल समस्त जगत् ही मलिन नहीं हुआ, किन्तु शत्रुका यश भी मलिन हो गया।

धर्मशर्माभ्युदय और वर्द्धमानचरित

वर्द्धमानचरितपर सर्वाधिक प्रभाव महाकवि हरिचन्द्रकी रचनाओंका है। इन्होंने धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू इन दोनोंसे प्रभाव ग्रहण किया है। यहाँ धर्मशर्माभ्यु-

दयकी समानताओंका निरूपण किया जाता है। धर्मशर्माभ्युदयके विन्ध्यगिरि वर्णनको समता वर्द्धमानचरितके विजयार्द्ध पर्वतके वर्णनमें पायी जाती है। यथा—

बिम्बं विलोक्य निजमुज्ज्वलरत्नभित्तौ
क्रोधात्प्रतिद्विप इतीह ददौ प्रहारम्।
तद्भग्नदीर्घदशनः पुनरेव तोषा-
ल्लीलालसं स्पृशति पश्य गजः प्रियेति ॥१०।१९ धर्म०

उज्ज्वल रत्नोंकी दीवालमें अपना प्रतिबिम्ब देख यह हाथी क्रोधपूर्वक यह समझकर बड़े जोरसे प्रहार कर रहा है कि यहाँ हमारा शत्रु दूसरा हाथी है और इस प्रहारसे जब उसके दाँत टूट जाते हैं, तब उसी प्रतिबिम्बको अपनी प्रिया समझ बड़े सन्तोषके साथ लीलापूर्वक उसका स्पर्श करने लगता है।

उपर्युक्त उत्प्रेक्षाका प्रभाव वर्द्धमानचरितमें निम्न प्रकार परिलक्षित होता है—

यत्सानुदेशं प्रतिबिम्बितं स्वं निरीक्ष्य वन्यद्विरदो मदान्धः।
संरुध्य वेगेन रदप्रहारैर्हिनस्ति को वा मदिनां विवेकः ॥५।५ वर्द्धमान०

वृद्ध व्यक्तिकी कमरके झुक जानेका हेतु यौवनको खोजना दोनों काव्योंमें समान कल्पनाके साथ वर्णित है। यथा—

असम्भृत मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत्।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥धर्म० ४।५९
अवनम्य पदे पदे शिरोधिं शिथिलं भ्रूयुगलं निरुध्य दृष्ट्या।
पतितं नवयौवनं धरण्यामयमन्वेष्टुमिवेक्षते प्रयत्नात् ॥वर्द्धमा० ४।१९

जीवन्धरचम्पू और वर्द्धमानचरित

विजयार्धका चित्रण दोनों काव्योंमें समानरूपसे पाया जाता है। जीवन्धरचम्पूमें बताया गया है कि विजयार्धके शिखरोंपर लगी हुई नीलमणियोंकी कान्तिकी परम्परासे सिंहके बच्चे बहुत बार छकाये गये थे, इसलिए वे वास्तविक गुफामें भी प्रवेश करनेके लिए शंका करते थे, हिचकिचाते थे। यही कारण था कि वे अपनी गर्जनाकी प्रतिध्वनिके द्वारा निश्चय करके ही गुफाओंमें प्रवेश करते थे। यथा—

यत्सानुनीलमणिदीप्तिपरम्पराभिः पञ्चाननस्य शिशवो बहु विप्रलब्धाः।
सत्येऽपि कन्दरमुखे परिशङ्कमाना निश्चित्य गर्जनकृतध्वनिभिर्विशन्ति ॥
—जीवन्धर च० ३।८

यही कल्पना वर्द्धमानचरितमें निम्न प्रकार पायी जाती है—

यत्पादनीलांशुमहाप्रभाभिर्मृगेन्द्रशावो बहु विप्रलब्धः।
गुहामुखं शङ्कितमानसश्चिरेण विवेश तस्यासु गुहासु नैव ॥ वर्द्ध० ७।३

महाराज सत्यन्धरकी पत्नी विजयाके चित्रणकी समता नन्दिवर्धनकी प्रिया वीरवतीके चित्रणमें पायी जाती है। यथा—

सौदामिनीव जलदं नवमञ्जरीव चूतद्रुमं कुसुमसंपदिवाद्यमासम्।
ज्योत्स्नेव चन्द्रमसमच्छविमेव सूर्यं तं भूमिपालकमभूषयदायताक्षी ॥
जीवन्धर० १।२७

विद्युल्लतेवाभिनवाम्बुवाहं चूतद्रुमं नूतनमञ्जरीव।
स्फुरत्प्रभेवामलपद्मरागं विभूषयामास तमायताक्षी ॥ वर्द्धमा० १।४४

जीवन्धरचम्पूमें 'नित्यालोका' नामक नगरीका चित्रण करते हुए कहा है कि इस नगरीके कोटोंकी पंक्ति स्त्रियोके वक्षःस्थलके समान सर्वदा ही देवोंके मनको हरण करती रहती है, क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियोंके वक्षःस्थलसे किरणोंके समूह स्फुरित होते रहते हैं, उसी प्रकार स्त्रियोका वक्षःस्थल पयोधरो—स्तनोंपर सुशोभित वस्त्रसे अलंकृत होता है, उसी प्रकार कोटोंकी पंक्ति भी पयोधरों—मेघोसे सुशोभित आकाशमें अलंकृत होती रहती है।[1]

इसी कल्पनाका साम्य वर्द्धमानचरितमें निम्न प्रकार पाया जाता है—

सालो विशालः स्फुरदंशुजालः परैरभेद्यो निरवद्यमूर्तिः।
सतीजनोरःस्थलसाम्यरूपपयोधरालीढसदम्बरश्रीः ॥ वर्द्ध० ५।९

अलकापुरी नगरीका विशाल परकोटा सती स्त्रीके वक्षःस्थलके समान प्रतीत होता है; क्योंकि दोनों ही किरणजालसे स्फुरायमान हैं, और परपुरुषके लिए अभेद्य हैं, दोनोकी मूर्ति भी निरवद्य है तथा दोनों ही की अम्बर—आकाशशोभा पक्षान्तरमें वस्त्रशोभाने पयोधरोका—मेघ पक्षान्तरमें स्तनोंका स्पर्श कर रखा है।

जीवन्धरचम्पूके युद्धवर्णनका प्रभाव भी वर्द्धमानचरितपर यथेष्ट है। यहाँ समता सूचक कुछ पद्य उदाहृत किये जाते है—

मल्लैः प्रतिद्विरदमल्लधनुर्विमुक्तैः कुम्भेषु मग्नशिखरैर्व्यलसत् गजेन्द्राः।
आरावहीनवदनैः शिखिनां समूहैरारूढतुङ्गशिखरा इव शैलवर्गाः ॥
जीवन्धर० १०।४७

कुम्भेषु मग्नैर्निजपर्हवर्ज्यैर्विरेजिरे शङ्कुचयैरिभेन्द्राः।
आरावहीनैः शिखिनां समूहैरारूढकूटा इव गण्डशैलाः ॥ वर्द्धमा० ९।१४

●

---

[1] यत्सालमाला स्फुरदंशुजाला पयोधरप्रोल्लसदम्बरश्रीः।
वक्षःस्थलीव प्रमदाजनानां मनो जरीहर्ति च निर्जराणाम् ॥ जीवन्धर० ३।१४

तृतीय परिवर्त

*

ई० सन् ११-१४ शतीतकके चरितनामान्त महाकाव्योंका परिशीलन

(क) पार्श्वनाथचरित, वरांगचरित और शान्तिनाथचरितके रचयिताओंका तिथि-निर्देशपूर्वक परिचय
(ख) कथावस्तु, कथानकस्रोत और कथावस्तुका गठन
(ग) महाकाव्यत्व और वस्तुव्यापार वर्णन
(घ) प्रकृतिसौन्दर्य और चरित्रचित्रण
(ङ) रसभाव, अलंकार और छन्दोयोजना
(च) भाषाशैली और महदुद्देश्य
(छ) पूर्ववर्ती काव्योंका प्रभाव
(ज) उत्तरवर्ती काव्योंपर प्रभाव

चरितनामान्त महाकाव्य (ई० शती ११-१४)

दसवी शतीके अनन्तर भी चरितनामान्त महाकाव्य लिखे जाते रहे हैं। यद्यपि यह सत्य है कि चन्द्रप्रभचरित और वर्द्धमानचरितके तुल्य उत्तम कोटिके चरित-नामान्त महाकाव्य दशम शतकके पश्चात् नही लिखे गये हैं, तो भी ह्रासोन्मुख युगकी प्रतिनिधि रचनाओका परिशीलन प्रस्तुत करना संस्कृत काव्यकी प्रवृत्ति विशेषको अवगत करनेके लिए आवश्यक है। इस सत्यसे कोई इनकार नहीं कर सकता कि काव्य-प्रतिभा किसी भी जाति या समाजकी एक सी नही रहती। आरम्भमे जो प्रतिभाएँ अपना चमत्कार दिखलाती है, कुछ शताब्दियोके बाद उनमें नूतनता नामकी वस्तु शेष नही रह जाती। संस्कृत-काव्यमें १३वी शतीके उपरान्त नवीनताका प्रवेश प्राय. अवरुद्ध हो गया। मुस्लिम युग साहित्य और संस्कृतिके विकासमें बहुत अधिक सहायक सिद्ध नही हुआ। हिन्दू-राजाओके राजाश्रयमें कविता-कामिनी, जो अपना लावण्य प्रदर्शित कर रही थी, १३-१४वी सदीमें उसका वह लावण्य एकाएक पंचवटीकी शूर्पणखाके समान दूसरे ही रूपमें परिवर्तित हो गया। जैन कवियों द्वारा निर्मित संस्कृत काव्य भी इस प्रभावसे अछूते न रहे और नयी उत्प्रेक्षाओं और सन्दर्भोके स्थानपर पुरानी उत्प्रेक्षाएँ और सन्दर्भ ही आवृत्त होने लगे। पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ चरित जैसे कुछ चरितनामान्त महाकाव्य दशम शतकके अनन्तर भी लिखे गये है, पर इस कोटिकी रचनाएँ बहुत ही कम हैं।

बारहवी सदीके पश्चात् काव्यका नेतृत्व भट्टारकोंके हाथमें पहुँचा, फलतः मौलिक प्रतिभा, गम्भीर अध्ययन एवं सतत अभ्यासके अभावमें उत्तम कोटिके काव्य प्रायः नही लिखे जा सके। वर्द्धमान और सकलकीर्ति जैसे अध्ययनशील एवं दृढ़ अध्यवसायी भट्टारक बहुत कम हुए, फलतः काव्य-प्रतिभाका उत्तरोत्तर विकास नहीं हुआ। बारहवी शतीसे ह्रासोन्मुख प्रतिभाके दर्शन होने लगते हैं। अतः वस्तुव्यापार, काव्यचमत्कार, अलंकृत वर्णन एवं रस-नियोजन उचित अनुपातमें नहीं आ पाये हैं। कथाके विकासमें कल्पना और अलंकृत वर्णनोंका समवाय भी घटित नही हुआ है। वर्णन विस्तारके स्थानमें सीधे और सरलक्रममें कथाका विकास परिलक्षित होता है। मार्मिक प्रसंगोंकी उद्भावनाएँ प्रायः अत्यल्प रूपमें हुई हैं। जिस सौन्दर्यानुभूतिकी व्यंजनासे चरितकाव्यमें महाकाव्यत्व परिस्फुटित होता है, वह १३-१४वीं शतीके उपरान्त लिखे गये चरितकाव्यों-में नहीं आ सकी।

अतएव इस परिवर्तमें ऐसे तीन महाकाव्योंका परिशीलन प्रस्तुत किया जायेगा,

जो अपने-अपने युग विशेषका प्रतिनिधित्व करते हैं। पार्श्वनाथ चरित ग्यारहवीं शतीका प्रतिनिधि चरितनामान्त महाकाव्य है, तो वर्द्धमान भट्टारकका वरांगचरित भट्टारक युग (१३-१४-१६वीं) का। शान्तिनाथचरित चौदहवीं शतीका ऐसा काव्य है, जो श्वेताम्बर यति-मुनियोंकी काव्यप्रतिभापर प्रकाश डालता है।

पार्श्वनाथचरितम्[1]

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथका जीवनवृत्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीके कवियोंके लिए विशेष आकर्षक रहा है। अतः उक्त सभी भाषाओंमें पार्श्वनाथके जीवनवृत्तको ग्रहण कर महाकाव्य लिखे जाते रहे हैं। वादिराज सूरिका पार्श्वनाथ चरित बारह सर्गोंका महाकाव्य है। यह भी प्रद्युम्नचरितके समान ही अपने रचनाविधानसे पाठकोंको आकृष्ट करता है।

रचयिताका परिचय

वादिराज तार्किक होनेके साथ भावप्रवण महाकाव्यके प्रणेता भी हैं। इनकी बुद्धिरूपी गायने जीवन पर्यन्त शुष्कतर्करूपी घास खाकर काव्यदुग्धसे सहृदय जनोंको तृप्त किया था। इनकी तुलना संस्कृतके प्रसिद्ध कवि नैषधकार श्रीहर्षसे की जा सकती है। वादिराज द्रमिल या द्राविड संघके आचार्य थे। इस संघमें भी एक नन्दिसंघ था, जिसकी असंगल शाखाके अन्तर्गत इनकी गणना की गयी है। अनुमान है कि असंगल किसी स्थान या ग्रामका नाम है, जहाँकी मुनि परम्परा असंगलान्वयके नामसे प्रसिद्ध हुई होगी।

वादिराजकी षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादि उपाधियाँ थीं[2]। एकीभाव स्तोत्रके अन्तमें निम्न पद्य आया है—

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः॥ एकीभाव २६ पद्य

समस्त वैयाकरण, तार्किक और भव्यसहायक वादिराजसे हीन हैं अर्थात् वादिराजकी समता नहीं कर सकते हैं।

मल्लिषेण प्रशस्तिमें वादी, विजेता और कविके रूपमें इनकी स्तुति की गयी है[3]। वादिराज श्रीपालदेवके प्रशिष्य, मतिसागरके शिष्य और रूपसिद्धिके कर्ता दयापाल मुनिके सतीर्थ या गुरु भाई थे[4]। वादिराज यह नाम उपाधि जैसा प्रतीत होता है। सम्भवतः अधिक प्रचलित होनेके कारण ही कवि इस नामसे ख्यात हो गया होगा।

---

[1] स० पं० मनोहरलाल शास्त्री, प्र० माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० स० १९७३।

[2] षट्तर्क षण्मुख स्याद्वादविद्यापतिगलु जगदेकमल्लवादिगलु एनिसिदश्रीवादिराजदेवरुम · ··· ·।
—श्री राइस द्वारा सम्पादित नगरताल्लुकाका अभिलेख नं० ३६।

[3] त्रैलोक्य-दीपिका· ·। जै० शि० स० प्रथम भाग, ५४ (६७) मल्लिषेण प्र०, ४ प०।

[4] वही, ३८ पद्य।

पार्श्वनाथ चरितकी प्रशस्तिमें वादिराजने अपने दादा गुरु श्रीपालदेवको 'सिंहपुरैकमुख्यः' कहा है और न्यायविनिश्चय[1] विवरणकी प्रशस्तिमें अपनेआपको 'सिंहपुरेश्वर' लिखा है। इन दोनों पदोंका आशय सिंहपुर नामक स्थानके स्वामीसे है। अतः श्रीप्रेमीजीका अनुमान है[2] कि सिंहपुर उन्हें जागीरमें मिला हुआ था और वहाँपर उनका मठ भी था।

श्रवणवेलगोलके शक संवत् १०४७ के अभिलेख[3] में वादिराजकी शिष्यपरम्पराके श्रीपाल त्रैविद्य देवको होयसल नरेश विष्णुवर्धन पोयूसल देव द्वारा जिनमन्दिरोके जीर्णोद्धार और ऋषियोके आहारदानके हेतु शल्य नामक गाँवको दानरूप देनेका वर्णन है। शक संवत् ११२२ मे उत्कीर्ण किये गये ४९५ संख्यक अभिलेखमें बताया गया है कि षड्दर्शनके अध्येता श्रीपालदेवके स्वर्गवासी होनेपर उनके शिष्य वादिराज (द्वितीय)-ने परिवादिमल्ल नामका जिनालय निर्मित कराया था और उसके पूजन एवं मुनियोके आहारदानके हेतु भूमिदान दिया था।

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि वादिराजकी गुरु परम्परा मठाधीशोकी थी, जिसमे दान लिया और दिया जाता था। ये स्वयं जिनमन्दिरोका निर्माण कराते, जीर्णोद्धार कराते एव अन्य मुनियोके लिए आहारदानकी व्यवस्था करते थे।

देवसेनसूरिके दर्शनसारके अनुसार द्रमिल या द्रविड संघके मुनि कच्छ, खेत, वसति (मन्दिर) और वाणिज्यरूपमे आजीविका करते थे तथा शीतलजलसे स्नान भी करते थे। इसी कारण द्रमिल संघको जैनाभास कहा गया है[4]। कर्णाटक और तमिलनाड इस संघकी कार्यभूमि थी।

वादिराज सूरिके विषयमे एक कथा प्रचलित है कि इन्हे कुष्ठ रोग हो गया था। एक बार राजाकी सभामें इसकी चर्चा हुई, तो इनके एक अनन्य भक्तने अपने गुरुके अपवादके भयसे झूठ ही कह दिया कि उन्हे कोई रोग नही है, इस पर वाद-विवाद हुआ और अन्तमें राजाने स्वय ही परीक्षा करनेका निश्चय किया। भक्त घबराया हुआ वादिराज सूरिके पास आया और समस्त घटना कह सुनायी। गुरुने भक्तको आश्वासन देते हुए कहा—"धर्मके प्रसादसे ठीक होगा, चिन्ता मत करो।" अनन्तर एकीभाव स्तोत्रकी रचना कर अपनी व्याधि दूर की।

एकीभाव स्तोत्रके संस्कृत टीकाकार चन्द्रकीर्ति भट्टारकने उक्त कथा पूर्णरूपसे तो उद्धृत नही की है, पर लिखा है—"मेरे अन्तःकरणमें जब आप प्रतिष्ठित हैं, तब

---

[1] सं० प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५४ ई०।

[2] प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, द्वितीय संस्करण, पृ० २६४।

[3] श्रवणवेलगोलशिलालेख, लेख सं० ४९३, पृ० ३९५।

[4] न्यायविनिश्चय विवरण, काशी, प्रस्तावना, पृ० ५९-६१।

मेरा यह कुष्ठरोगाक्रान्त शरीर यदि सुवर्ण हो जाय तो क्या आश्चर्य है[1]। कुष्ठव्याधि-वाली घटनाका समर्थन न तो मल्लिषेण प्रशस्तिमें होता है और न अन्य किसी शिलालेख से। ऐसा अन्तरंग कोई प्रमाण नहीं है, जिससे इस घटनाका समर्थन हो। एकीभाव स्तोत्रके चतुर्थ पद्यका आश्रय लेकर ही उक्त घटना कल्पित की गयी प्रतीत होती है।

स्थितिकाल

वादिराजने अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें रचनाकालका निर्देश किया है। ये प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रके समकालीन और अकलंक देवके ग्रन्थोके व्याख्याता हैं। कहा जाता है कि चौलुक्यनरेश जयसिंहकी राजसभामे इनका बड़ा सम्मान था और ये प्रख्यात वादी गिने जाते थे। जयसिंह (प्रथम) दक्षिण के सोलंकी वंशके प्रसिद्ध महाराज थे। इनके राज्यकालके तीससे अधिक दानपत्र और अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें सबसे पहला अभिलेख शक संवत् ९३८ (ई० सन् १०१६) का है और अन्तिम शक संवत् ९६४ (ई० सन् १०४२) का है। अतएव इनका राज्यकाल ई० सन् १०१६-१०४२ ई० तक है।

वादिराजने अपना पार्श्वनाथ चरित सिंहचक्रेश्वर या चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंह देवकी राजधानीमे निवास करते हुए शक संवत् ९४७ (सन् १०२५ ई०) कार्तिक शुक्ला तृतीयाको पूर्ण किया था[2]। यह राजधानी लक्ष्मीका निवास और सरस्वतीकी जन्मभूमि थी।

यशोधरचरित[3] के तृतीय सर्गके अन्तिम पद्य और चतुर्थ सर्गके उपान्त्य पद्यमे कविने कौशलपूर्वक महाराज जयसिंहदेवका उल्लेख किया है। अतः इससे भी स्पष्ट है कि यशोधरचरितकी रचना भी कविने जयसिंहके समयमें की है। पार्श्वनाथ चरितकी प्रशस्तिके आधारपर जयसिंहकी राजधानी कट्टगेरि नामक स्थान माना जाता है। यह स्थान मद्रास प्रान्तमें एक साधारण गाँव है, जो बादामीसे बारह मील उत्तरकी ओर है।

डॉ० कीथने 'History of Sanskrit Literature' नामक ग्रन्थमें बताया है—"दक्षिणदेश निवासी कनकसेन वादिराज द्वारा रचित ऐसा ही काव्य है, जिसमें

---

[1] हे जिन मम स्वान्तःगेहं ममान्तःकरणमन्दिरं त्वं प्रविष्ठ सन् इदं मदीय कुष्ठरोगाक्रान्त..........
एकीभाव, वृत्ति ४ श्लो०।

[2] शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने सवत्सरे क्रोधने मासे कार्त्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे याति जयादिके वसुमतीं जैनीकथेयं मया निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये॥
—पा० च०, प्र० ५ पद्य।

[3] यशोधरचरित, कर्णाटक विश्वविद्यालय, धारवार, १९६३ ई० —'जयसिंहता' (३।८३), 'रणमुख-जयसिंहो' (४।७३)।

चार सर्ग और २९६ पद्य हैं। उनके शिष्य श्रीविजयका समय लगभग ९५० ई० है"[1] इससे स्पष्ट है कि डॉ० कीथ वादिराजको सोमदेवसे पूर्ववर्ती मानते हैं और इनका समय दसवीं शतीका उत्तरार्ध सिद्ध करते हैं। हूल्त्स् (Hultzsch) ने लिखा है कि अजितसेन वादीभसिंह वादिराज द्वितीयके शिष्य थे और यादवराज ऐरेयंग तथा शान्तराज तैलगुके (सन् ११०३ ई०) गुरु थे।[2]

डॉ० कीथने भिन्न कनकसेन वादिराजका उल्लेख किया है, वे प्रस्तुत वादिराजसे भिन्न कोई वादिराज हैं। हूल्त्स् द्वारा निर्दिष्ट वादिराज भी पार्श्वनाथ चरितके रचयितासे भिन्न ही कोई अन्य व्यक्ति हैं। प्रस्तुत वादिराज जगदेकमल्ल द्वारा सम्मानित हुए थे, अतः इनका समय सन् १०१०-१०६५ ई० प्रतीत होता है। यतः जगदेकमल्लका समय अनुमानतः सन् १०१८-१०३२ के बीच होना चाहिए।

पार्श्वनाथ चरितके अतिरिक्त यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय रचनाएँ वादिराजकी हैं।

पार्श्वनाथचरितकी कथावस्तु

पोदनपुरमें अरविन्द नामका एक अत्यन्त प्रतापी एवं श्रीनिलय राजा रहता था। यह नगर भी समृद्ध और महिमा मण्डित था। राजा दानी, कृपालु और यशस्वी था। मन्त्री विश्वभूति विलक्षण गुण युक्त था। उसने एक दिन राजासे निवेदन किया कि अब संसारके विषय-भोगोंसे मुझे वितृष्णा हो गयी है, अतः अब मुझे आत्मकल्याण करनेकी अनुमति प्रदान कीजिए। विश्वभूतिके प्रव्रजित होनेपर राजाने उसके छोटे पुत्र मरुभूतिको मन्त्री बनाया। विश्वभूतिके छोटेसे बड़े पुत्रका नाम कमठ था।

एक समय व्रजवीर नामका प्रान्तिक शत्रु अरविन्दका विरोध करने लगा। उसे पराजित करनेके लिए अरविन्दको मरुभूतिके साथ जाना पड़ा और उसके बड़े भाई कमठको मन्त्रित्वपद देना पड़ा। जब अरविन्द अपनी चतुरंगिणी सेनाको लेकर चला तो व्रजवीरने भी सैनिक तैयारी की, पर उसकी सेना अरविन्दकी सेनाके समक्ष ठहर न सकी और विजयलक्ष्मी अरविन्दको प्राप्त हुई। वह विजयपताका फहराता हुआ अपने नगरमें लौट आया।—प्रथम सर्ग

मन्त्रिपद प्राप्त करनेके उपरान्त कमठने अपने छोटे भाई मरुभूतिकी पत्नी वसुन्धराको देखा। वह उसके रूप-सौन्दर्यसे अत्यधिक आकृष्ट हुआ, अतः उसके अभावमें उसके प्राण जलने लगे। मदनज्वरने उसे धर दबाया। कमठके मित्रोंको चिन्ता हुई और एक मित्रने वास्तविक तथ्यको जानकर वसुन्धराको कमठकी बीमारीका समाचार देकर बुलाया। वसुन्धरा कमठके देखते ही उसके विकारोंको जान गयी, उसने कमठको

---

[1] History of Sanskirt Literature (Oxford 1928) P. 142.

[2] Introduction of Yashodhar Charita (Dharwar 1963), P. 7.

व्यभिचारसे बचानेका पूरा प्रयास किया। पर अन्तमें उसे ही कमठकी बातें स्वीकार करनी पड़ी।

राजा अरविन्दको वापस लौटनेपर जब कमठके व्यभिचारका पता चला तो उसने उसे नगर निर्वासित कर दिया। कमठ तापसियोंके आश्रममें गया और वहाँ उसने तपस्वियोंके व्रत ग्रहण कर लिये। मरुभूति भाईको बहुत प्यार करता था, अतः वह उसको खोजने चला। राजा अरविन्दने मरुभूतिको कमठके पास जानेसे बहुत रोका, पर भ्रातृ-वात्सल्यके कारण वह रुक न सका। कमठ भूताचल पर्वतपर तपस्या कर रहा था। मरुभूतिको आया हुआ जानकर उसने पहाड़की एक चट्टान उसके ऊपर गिरा दी, जिससे मरुभूतिका प्रणान्त हो गया। इधर पोदनपुरमें स्वयंप्रभ नामके मुनिराज पधारे, राजा उनकी वन्दनाके लिए गया।—द्वितीय सर्ग

वन्दना करनेके उपरान्त अरविन्दने मुनिराजसे मरुभूतिके सम्बन्धमें पूछा। मुनिराजने कमठ द्वारा प्राणान्त किये जानेकी घटनाका निरूपण करते हुए कहा कि मरुभूतिका जीव सल्लकी वनमें वज्रघोष नामका हाथी हुआ है। जब आश्रमवासियोंको कमठकी उद्दण्डता और नृशंसताका पता चला तो उन्होंने उसे आश्रमसे निकाल दिया। अतएव वह दुःखी होकर किरातोंके साथ जीवन व्यतीत करने लगा। जीव-हिंसा करनेके कारण उसने भी सल्लकी वनमें कुक्कवाकु नामक सर्प पर्याय प्राप्त की। मरुभूतिकी माता पुत्र वियोगके दुःखसे मरण कर उसी वनमें वानरी हुई।

अरविन्द नृपति मुनिराजसे उक्त वृत्तान्त सुनकर विरक्त हो गया और उसने मुनिव्रत धारण किये। मुनिराज अरविन्द अपनी बारह वर्ष आयु अवशिष्ट जानकर तीर्थवन्दनाके लिए ससंघ चल दिये। मार्गमें उन्हें सल्लकी वन मिला। मनुष्योंके आवागमन एवं कोलाहलको देखकर वज्रघोष बिगड़ गया और लोगोंको कुचलता हुआ आगे आया। जब उसने अरविन्द मुनिराजको देखा तो उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया और उनके चरणोंमें स्थिर हो गया। अवधिज्ञानके बलसे मुनिराजने उसे मरुभूतिका जीव जानकर सम्बोधित किया। वज्रघोषको सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया और निरतिचार व्रत पालन करने लगा। संघ सम्मेदाचलकी ओर चला गया। तपश्चरणके कारण वज्रघोष हाथी कृश हो गया। एक दिन वह जल पीनेके लिए एक जलाशयमें गया और वहाँ अपनी शारीरिक दुर्बलताके कारण पंकमें फँस गया। कुक्कवाकुने जब हाथीको देखा तो पूर्व जन्मके वैरके स्मरण हो आनेसे उसे मस्तकमें डँस लिया, जिससे हाथीकी मृत्यु हो गयी। मृत्युके समय हाथीके परिणाम बहुत ही शुभ रहे, जिससे वह महाशुक्र स्वर्गके स्वयंप्रभ विमानमें देव हुआ। इधर वानरीने सर्पके उस कुकृत्यको देखकर पत्थरकी चट्टान गिराकर मार डाला, जिससे वह नरक गया। स्वर्गके वैभवको देखकर तथा अवधिज्ञानसे अपने उपकारीको जानकर उसने भूमिपर अरविन्द मुनिके चरणोंकी पूजा की; पश्चात् स्वर्गमें जाकर रहने लगा।—तृतीय सर्ग

विजयार्धपर त्रिलोकोत्तम नामका नगर है। इस नगरका स्वामी विद्युद्वेग नामका विद्याधर था। इसकी पत्नी विद्युन्माला नामकी थी। इस दम्पतिको मरुभूतिका जीव स्वर्गसे च्युत हो रश्मिवेग नामक पुत्र हुआ। वह अति तेजस्वी और सुन्दर था। एक दिन पूर्वजन्मका स्मरण हो जानेसे वह विरक्त हो गया और समाधिगुप्त नामक मुनिके पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली। एक दिन मुनिराज रश्मिवेग हिमालय पर्वतकी गुफामें कामोत्सर्ग कर रहे थे कि कमठके जीव अजगरने, जो कि नरकसे निकल कर अजगर पर्यायमें आया था, उनपर झपटा और उनके मस्तकमें काट लिया। मुनिराजने इस असह्य वेदनाको बहुत शान्तिपूर्वक सहन किया, जिससे उन्हें अच्युत स्वर्गकी प्राप्ति हुई। यहाँ वे विद्युत्प्रभ नामसे प्रसिद्ध हुए। वह अजगर भी मरकर तमप्रभा नामक छठी भूमि (नरक) में जन्मा।

पश्चिमविदेहके अश्वपुर नामक नगरमें वज्रवीर्य शासन करता था। इसकी पत्नी विजया नामकी थी। कालान्तरमें विद्युत्प्रभ स्वर्गसे च्युत हो विजयाके गर्भसे वज्रनाभ नामका पुत्र हुआ।—चतुर्थ सर्ग

वज्रनाभ धीरे-धीरे बढ़ने लगा और कुछ ही समयमे अस्त्र-शस्त्रमें पारंगत हो गया। बादमें वह युवराज पदपर प्रतिष्ठित हुआ। वसन्तादि षड्ऋतुओंका आनन्द लेता हुआ वज्रनाभ समय यापन करने लगा। एक दिन किसीने आकर आयुधशालामें चक्ररत्न उत्पन्न होनेकी सूचना दी।—पंचम सर्ग

वज्रनाभने चक्ररत्नकी पूजा की और याचकोको यथेष्ट दान देकर दिग्विजयके लिए तैयारियाँ करने लगा। उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया। चक्रवर्ती वज्रनाभका प्रथम स्कन्धावार शीतोदा नदीके तटपर अवस्थित हुआ। चक्रवर्ती, सेनापति, सामन्त तथा अन्य राजाओंने अपने-अपने योग्य निवास स्थानका चयन किया।—षष्ठ सर्ग

चक्रवर्तीकी सेनाने नदीको पार किया और बारह योजन जानेपर चक्रवर्तीका रथ रुक गया। आप्तभाषित वाणी सुनकर उसने मागध व्यन्तरके पास बाण छोड़ दिया। उसे देख व्यन्तर क्रोधाविष्ट हो गया और उसकी सेना युद्धके लिए सन्नद्ध हो गयी। एक वृद्ध पुरुषने मागधको समझाया कि बलशाली पुण्यात्माओंसे विग्रह करना उचित नहीं है। उनसे सन्धि करनेपर ही लाभ होता है। अत मागध देव बहुत-सी अमूल्य वस्तुएँ लेकर चक्रवर्तीकी सेवामें उपस्थित हुआ। वहाँसे चक्रवर्ती सिन्धु नदीकी घाटीमें प्रविष्ट हुआ तथा वरतनु देवको अपने अधीन किया। अनन्तर चक्रवर्त्तीकी सेना विजयार्धपर पहुँची। इस पर्वतका शासन करनेवाले विजयार्ध कुमारने नम्रीभूत हो चक्रवर्तीकी पूजा की और अनेक वस्तुएँ भेंट दी। कृतमाल देवने चौदह आभूषण दिये और गुहाका द्वार खोलनेकी विधि बतलायी। गुहाके भीतर प्रविष्ट होकर सेनापतिने म्लेच्छोंको जीत लिया। वहाँसे चलकर वह वृषभाचल पर आया। विद्याधरोंको पराजित कर विद्याधर कुमारियोंका पाणिग्रहण किया। इस प्रकार षट्खण्डकी विजय कर वह अश्वपुर नगरमें वापस आया।—सप्तम सर्ग

वज्रनाभको ९६ हजार रानियाँ, ८४ लाख हाथी, ८ करोड़ घोड़े और इतने ही सवार थे। एक दिन वह राजा वनमालीसे प्रार्थित हो वसन्तकी शोभा देखने गया। इस प्रसंगमें कविने वसन्तका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। जब चक्रवर्ती वनसे वापस लौटने लगा तो वसन्तश्री समाप्त हो चुकी थी। सर्वत्र प्रकृतिमें उदासी छायी हुई थी। इस परिवर्तनको देखकर राजाको वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने राज्यभार अपने पुत्रको सौंप दिया। क्षेमंकर मुनिके पास जाकर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। कमठका जीव उसी वनमें कुरंग नामका किरात हुआ, जिस वनमें वज्रनाभ तपस्या कर रहे थे। उस किरातने समाधिस्थ मुनिके ऊपर बाण चलाया, जिससे वे धराशायी हो गये। समाधिपूर्वक शरीर छोड़नेसे चक्रवर्ती मुनिराजने मध्य ग्रैवेयकमें अहमिन्द्रका शरीर प्राप्त किया। मुनिराजका अन्त करनेवाले उस भीलने सप्तम नरकमें जन्म ग्रहण किया। चक्रवर्तीका जीव मध्य ग्रैवेयकसे च्युत हो अयोध्या नगरीके वज्रबाहु राजाकी प्रभाकरी नामक रानीके गर्भमें आया। जन्म लेनेसे समस्त प्रजाको आनन्द हुआ, अतएव राजाने उसका नाम आनन्द रखा। युवा होनेपर राजाने आनन्दको राज्याधिकार दे दिया। आनन्दने राज्यलक्ष्मीको समृद्ध बनाया।—अष्टम सर्ग

आनन्दने समस्त मंगलोंका उत्पादक जिनयज्ञ आरम्भ किया। उसे देखनेके लिए सद्‌गुण सम्पन्न, दृढमूर्ति मुनि भी आये। राजा आनन्द जिनमहोत्सव करता हुआ निवास करने लगा। एक दिन अपने श्यामकेशोंमें एक श्वेत केशको देखकर उसे विरक्ति हो गयी और अपने पुत्र वज्रबाहुको राज्य देकर वनमें तपश्चरण करने चला गया। मुनि आनन्द तपस्यामें लीन था, कि कमठके जीव सिंहने देखा। पूर्वजन्मके वैरका स्मरण कर उसने मुनिपर आक्रमण किया। शान्ति और समाधिपूर्वक मरण करनेसे आनत स्वर्गमें अहमिन्द्र हुआ। छह मास आयुके शेष रहनेपर वाराणसी नगरीमें रत्नोंकी वर्षा होने लगी। महाराज विश्वसेनकी महिषी ब्रह्मदत्ताने सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पतिसे स्वप्नोंका निवेदन किया। पतिने उन स्वप्नोंका फल त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरका जन्म बतलाया।—नवम सर्ग

ब्रह्मदत्ताने जिनेन्द्रको जन्म दिया। चतुर्निकायके देव जन्मोत्सव सम्पन्न करने आये। इन्द्राणी प्रभूतिगृहमें गयी और मायामयी बालक माताके पास सुला कर जिनेन्द्रको ले आयी और उस बालकको इन्द्रको दे दिया। इन्द्रने सुमेरुपर्वतपर जन्माभिषेक सम्पन्न किया और पार्श्वनाथ नामकरण किया। पार्श्वनाथका बाल्यकाल बीतने लगा। जब वे युवा हुए तो एक दिन एक अनुचरने आकर निवेदन किया कि एक साधु-वनमें पंचाग्नि तप कर रहा है। पार्श्वनाथने अवधिज्ञानसे जाना कि वह कमठका ही जीव मनुष्य पर्याय प्राप्त कर कुतप कर रहा है। वे उस तपस्वीके पास पहुँचे और कहा कि तुम्हारी यह तपस्या व्यर्थ है। इस हिंसक तपसे कर्म निर्जरा नहीं हो सकती है। तुम जिस लकड़ीको जला रहे हो, उसमें नाग-नागिनी जल रहे हैं। अतः लकड़ीको फाड़कर नाग-नागिनी निकाले गये। पार्श्वनाथने उन्हें णमोकार मन्त्र सुनाया, जिससे

वे नाग-नागिनी धरणेन्द्र और पद्मावतीके रूपमें जन्म ग्रहण किया। धरणेन्द्र-पद्मावतीने आकर पार्श्वनाथको पूजा की।—दशम सर्ग

पार्श्वनाथकी सेवामें अनेक राजा कन्या-रत्न लेकर आये। महाराज विश्वसेनने उनसे निवेदन किया कि विवाह कर गृहस्थ जीवन व्यतीत कीजिए। पार्श्वनाथने विवाह करनेसे इनकार कर दिया और वे विरक्त हो गये। लौकान्तिक देवोंने आकर उनके वैराग्यकी उत्पत्तिपर पुष्प-वृष्टि की। पार्श्वनाथने पंचमुष्टि लौंच कर दीक्षा ग्रहण की। उन्हें दूसरे ही क्षण मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। उपवासके पश्चात् गुल्मभेद नगरके राजा धर्मोदयके यहाँ पार्श्वनाथने पायसान्नका आहार ग्रहण किया। वनमें आकर प्रतिमायोगमें अवस्थित हो गये। कमठका जीव भूतानन्द देव आकाश मार्गसे जा रहा था। तीर्थंकरके प्रभावसे विमान रुक गया। वह विमान रुकनेके कारणकी तलाश कर ही रहा था कि उसकी दृष्टि पार्श्वनाथ पर पड़ी। उसने पूर्वजन्मका स्मरण कर बाणवृष्टि की, पर वह पुष्पवृष्टि बन गयी। धरेणन्द्र-पद्मावतीको जब भूतानन्दके उपद्रवोंका पता लगा तो दोनों तत्क्षण वहाँ आये और प्रभुके उपसर्गका निवारण किया। भगवान्ने शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। देवोंके जय-जयनादको सुनकर भूतानन्द आश्चर्य चकित हो गया और वह तीर्थंकरकी स्तुति करने लगा।—एकादश सर्ग

इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवशरणकी रचना की। तिर्यंच-मनुष्यादि सभी भगवान्का उपदेश सुनने आये। मानव कल्याणका उपदेश सभीने सुना। रत्नत्रय और तत्त्वज्ञानके अमृतकी वर्षा हुई। पश्चात् एक महीनेका योग निरोध कर अघातिया कर्मोंका भी नाश किया और निर्वाणलक्ष्मीकी प्राप्ति की।

कथावस्तुका स्रोत और गठन

पार्श्वनाथकी परम्पराप्रसिद्ध कथावस्तु कविने अपनायी है। यह कथावस्तु उत्तरपुराणमें निबद्ध है[1]। संस्कृत भाषामें काव्यरूपमें पार्श्वनाथचरितको सर्वप्रथम गुम्फित करनेका श्रेय वादिराजको ही है। इनसे पूर्व जिनसेन (९वी शती) ने पार्श्वाभ्युदय[2] मे इस चरितको संक्षेपमें निबद्ध किया है; समग्र जीवनकी कथावस्तु वहाँ नही आ पायी है। अपभ्रंशमे पद्मकीर्तिके वि० सं० ९९२ (ई० ९३५) मे १८ सन्धियोमें पासणाहचरिउकी रचना अवश्य की है। कवि वादिराजने उक्त अपभ्रंश पासणाहचरिउका अध्ययन किया हो तो कोई आश्चर्यकी बात नही है। वि० सं० ११८९ (ई० ११३२) में श्रीधरने बारह सन्धियोंमें अपभ्रंशमें एक अन्य पासणाहचरिउकी रचना की है। संस्कृत भाषामें (सन् १२१९ ई०) में माणिक्यचन्द्र द्वारा और सन् १२५५ ई० में भावदेवसूरि द्वारा पार्श्वनाथ चरित नामक काव्य लिखे गये हैं। प्राकृत भाषामें पार्श्वनाथ चरितका गुम्फन सर्वप्रथम अभयदेवके प्रशिष्य देवभद्रसूरि द्वारा वि० सं० ११६८ (सन्

---

[1] उ० पु०, काशी, ७३ पर्व, पृ० ४२६-४४२।

[2] योगिराज संस्कृत टीका सहित निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०९ ई०।

१११९ ई०) में किया गया है। अतः काव्यरूपमें अपभ्रंशके पासणाहचरिउके पश्चात् संस्कृतमे वादिराजका ही चरितकाव्य उपलब्ध होता है। कथावस्तुका मूल स्रोत तिलोयपण्णत्ति, चउपन्नमहापुरिसचरिय (वि० सं० ९२५ ई०, सन् ८६८) एवं उत्तरपुराण (शक सं० ८२०, सन् ८९८ ई०) हैं। उत्तरपुराणमें[1] बताया गया है कि पार्श्वनाथ युवक होनेपर क्रीड़ा करने वनमें गये, वहाँ उन्हें महीपाल नामक तापस पंचाग्नि तप करते मिला, यह पार्श्वनाथका मातामह था। चउप्पन्नमहापुरिसचरियमें[2] यही कथानक इस प्रकार आया है कि एक दिन पार्श्वनाथ अपने भवनके ऊपरी भागपर बैठे हुए थे। उन्होंने देखा कि नगरके लोग नगरसे बाहर चले जा रहे हैं। पूछने पर पता चला कि कठ नामक साधु नगरीके बाहर आया है। वह महान् तपस्वी है, लोग उसीकी वन्दनाके लिए जा रहे है। पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें[3] उत्तरपुराणके अनुसार ही कथानक लिखा है। पर इस काव्यमे बताया गया है[4] कि एक सभामे एक पुरुषने आकर सूचना दी कि नगरके बाहर एक मुनि आया है, जो पचाग्नि तप कर रहा है। अनुचरके वचन सुनकर पार्श्वनाथने अपने अवधिज्ञानसे जाना कि कमठका जीव नरकसे निकलकर तप कर रहा है। वे वहाँ पहुँचे और उन्होंने हिंसक तप करनेसे उसे रोका और अधजले नाग-नागिनका णमोकार मन्त्र सुनाया।

उपर्युक्त कथानकको कविने उत्तरपुराणसे ज्योका त्यों नही लिया है, अपनी कल्पनाका भी उपयोग किया है। इसी प्रकार पार्श्वनाथपर उपसर्ग करनेवालेका नाम उत्तरपुराण और पुष्पदन्तके महापुराणमे शम्बर आया[5], जबकि इस महाकाव्यमें भूतानन्द[6] नाम बताया है। भगवान् पार्श्वनाथको आहार देने वाले राजाका नाम उत्तरपुराणमे धन्य[7] बताया है, जब कि इस काव्यमे धर्मोदय[8] नाम आता है। इस प्रकार कथावस्तुका चयन परम्परा प्राप्त ग्रन्थोसे किया गया है।

कथावस्तुका गठन सुन्दर हुआ है, शैथिल्य नही है। शृंगारिक वर्णन कथावस्तुको सरस बनानमे सहयोग देते है। पूर्वभवाकी योजना सरस रूपमें की है। कविका मन

---

[1] क्रीडार्थं स्वबलेनामा निर्यायाद्बहि पुरम्।
आश्रमादिवने मातुर्महीपालपुराधिपम्॥ —उत्त०, काशी, ७३।९६।

[2] अण्णया य पासायस्स उवरि भूमिभाए णिसण्णेण पासयंदेण वायायणंतरालेण पलोइयं णयरीए। सम्मुट्ठ जात्र दिट्ठो सयलो वि पुरो जणवओ पवरकुसुम-बलिपडलयविहत्थो बाहिं णिग्गच्छन्तो। तओ पुच्छियं भयवया जहा—किपुण कारणं एस जणवओ पत्थिओ। किं कोइ छणो? कठो णाम किल एत्थ महापुरीए बाहिं समागओ । दिट्ठो य पचग्गितवं तप्पमाणे।.. उज्झमाण णायकुलं...। च० प० म० च०, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, १९६१ ई०, म० पु० मा०, पृ० २६१।

[3] तिपसवरेहिं समउं कीसंतो।
एक्कस्सि दिवमे विहरंता॥ तृतीय खंड, १९४१ ई०, सं० १९ क।

[4] पार्श्वनाथचरितम् १०। ६४-६८।

[5] शम्बरोऽत्राम्बरे—उ० पु०, का० ७३।१३६।

[6] व्योम्नि भूतानन्दस्य गच्छत'—पा० च० मा० ११।५८।

[7] उ० पु० का० ७३।१३२-१३३।

[8] पा० च० मा० ११।४६-४७।

मरुभूतिके पश्चात् वज्रनाभ चक्रवर्तीके जन्मको घटनाओंके वर्णनमें अधिक रमा है। सभी घटनाएँ शृंखलाबद्ध हैं। कई जन्मोंके आख्यानोंको एक सूत्रमें आबद्ध करनेका सफल प्रयास किया गया है। यद्यपि अनेक जन्मोंके आख्यान वर्णनसे पाठकका मन ऊब जाता है और उसे अगले जन्मसे सम्बन्ध जोड़नेके लिए भवावलिको स्मरण रखना पड़ता है; तो भी कथामें प्रवाहकी कमी नहीं है। समस्त कथानक एक ही केन्द्रके चारों ओर चक्कर लगाता है। एक मनोवैज्ञानिक त्रुटि यह दिखलाई पड़ती है कि कमठ कई भवो तक एकान्तर वैर करता रहता है, जब कि मरुभूतिका जीव सदैव उसकी भलाई करता है, कभी भी वैर-विरोध नही करता। अन्तिम पार्श्वनाथके भवमें भी वह कष्ट देता है। पार्श्वनाथको केवलज्ञान होनेपर ही उसका विरोध शान्त होता है। अतः इस प्रकारका एकाकी विरोध अन्यत्र बहुत कम आता है। समराइच्चकहा में समरादित्यका वैर-विरोध भी अग्निशर्माके साथ नौ भवों तक चला है। हाँ अग्निशर्माको गुणसेनके भवमें समरादित्य अवश्य कष्ट देता है और उसको चिढ़ाता है, अतः रुष्ट होकर अग्निशर्मा निदान करता है और नौ भवों तक वैर-विरोध चलता रहता है। पार्श्वनाथ चरितमें भी इसी प्रकार वैर-विरोध पाया जाता है। मरुभूति कमठसे अपार स्नेह करता है, पर कमठ उसके निश्छल प्रेमको आशंकाकी दृष्टिसे देखता है। अन्विति गुण कथावस्तुमें निहित है।

महाकाव्यत्व

प्रस्तुत काव्यमें बारह सर्ग हैं। मंगलस्तवन पूर्वक काव्यका आरम्भ हुआ है। नगर, वन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, उषा, सन्ध्या, रजनी, चन्द्रोदय, प्रभात आदि प्राकृतिक दृश्योंके वर्णन; जन्म, विवाह, स्कन्धावार, सैनिक अभियान, युद्ध, सामाजिक उत्सव, शृंगार, करुण आदि रस, हाव, भाव, विलास एवं सम्पति-विपत्तिमें व्यक्तिके सुख-दुःखोके उतार-चढ़ावका कलात्मक वर्णन पाया जाता है। तीर्थंकरके चरित्रके अतिरिक्त राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, किरात-भील, चाण्डाल आदिके चरित्र-चित्रणके साथ पशु-पक्षियोंके चरित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं। व्यक्ति किस प्रकार अपने चरित्रका विकास या पतन अनेक जन्मोमें करता रहता है, इसका सुन्दर निरूपण किया गया है। इस महाकाव्यमें यथास्थान धार्मिक उपदेशका समावेश भी हो गया है।

विलोचनानीव सरांसि यस्मिन् विवृत्तपाठीनमनोहराणि।
नीलोत्पलश्रीरमणीयतारासारोदराण्यायतिमन्ति सन्ति ॥ २।७०
यदीयशालोच्छ्रितभित्तिमस्तकस्फुरन्मणिव्रातशिखाप्रचुम्बिताः।
वहन्त्यवर्षासमयेऽपि वारिदा विभक्तवर्णामरचापविभ्रमम् ॥ ४।५९

रसयोजना

काव्य सरस मार्मिक अनुभूतियोंकी रसात्मक अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण काव्यात्मक उपकरणोंसे विभूषित होनेपर यदि काव्य रसगर्भनिर्भर नहीं है, तो उस काव्यका

काव्यत्व सहृदयोको प्रभावित नहीं कर सकता है। रस और सुन्दर भाव-संवेगोंका अन्योन्य सम्बन्ध है। अतएव काव्यमें रसका होना अपरिहार्य है। रससे अभिषिक्त काव्य अपूर्वता, चारुता और उत्तरोत्तर नवोनताको प्राप्त करता है। समस्त श्रेष्ठ कवियोंने अपने काव्यको कलात्मक, कल्पना और भावप्रवण बनानेके लिए नवरसोका समाहार किया है। रस समवायसे काव्यमें भावभंगिमा तथा आस्वादनमें अपूर्वताका संचार हो जाता है।

प्रस्तुत काव्यका अंगीरस शान्त है और अगरूपमें शृंगार, करुण, वीर, भयानक, बीभत्स और रौद्र रसोंका नियोजन पाया जाता है। यहाँ रसोंका विश्लेषण प्रस्तुत करनेका आयास किया जायेगा।

शृंगाररस

शृंगार मनकी भावनात्मक और कोमलतम अभिव्यक्तिका प्रतीक हैं। इसमें प्रेमभावनाका पूरा विकास पाया जाता है। कवि शृंगारमे प्रेमी और प्रेमिकाके हृदयमे उद्वेलित भावानुभूतियोंका कलात्मक प्रदर्शन करता है। नायिका एवं नायकके मधुर मिलन, कटाक्ष विक्षेप, भावभंगिमा इत्यादिका भावात्मक और रसात्मक नियोजन करता है कि पाठक काव्यास्वादन करते समय उसमे अपने व्यक्तित्वका विलयन कर देता है। जिस प्रकार मधुकी सरसतामे मग्न भ्रमर उस प्रेमात्मक जगत्से निकल नही पाता, उसी प्रकार पाठक भी शृंगारके प्रेमिल संसारसे निकल नही पाता है। इस पार्श्वनाथ चरितमें शृंगारके दोनो पक्षोका सुन्दर उद्घाटन हुआ है। संयोगके संसारमे होनेवाली सुन्दर अनुभूतियो तथा भावविलासोंका रुचिर चित्र उपस्थित किया गया है। एक-दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है—

अवाग्विसर्गं जनसन्निधौ प्रियैर्नतभ्रुवां यत्र विविच्य केवलम्।
वदन्ति लीलावलितैर्विलोकितैः स्मरोपदिष्टं किमपि स्वहृद्गतम्॥ ४।६४

अर्थात्—उस नगरमें नम्र भौंहेवाली स्त्रियाँ अपने पतियोंसे लज्जाके कारण कुछ नहीं कहती। वे केवल अपने लीलापूर्वक फेंके गये कटाक्षोंसे ही कामोपदिष्ट मनोगत अभिप्रायको प्रकट कर देती हैं।

कविने इसमें नवोढ़ाके हृदयमें अंकुरित प्रेमकी भावनाओंका भव्य चित्र उपस्थित किया है।

स्त्रियोंकी संयोगकालीन सौन्दर्यकी रूपाकृतिका भी अपूर्व चित्रण किया है—

कुचौ कयाचिद्विनिवेशयन्त्या तदग्रयोश्चूतनवप्रवालान्।
न्यधायिषाताभिव मन्मथस्य सचित्तधामाग्रिमहेमकुम्भौ॥ ८।१९
तनूकृतैः केसरिदीर्घपल्लवैः भुजौ निजौ कश्चन योजयन्युवा।
प्रियां सपत्नीनखधर्मशङ्कया समत्सरां स्मेरमुखो निरैक्षत॥ ८।२०

उस समय किसी स्त्रीने अपने स्तनोंके अग्रभागपर नवीन आम्र पल्लव लगा लिये थे, अतएव उसके वे स्तन कामदेवके चित्तरूपी करके अग्रभागपर सुवर्ण कलशके समान जान पड़ते थे।

सूक्ष्म किये गये केसरके लम्बे-लम्बे पत्तोंसे किसी युवाने उस समय अपने बाहुओंको युक्त कर लिया था, अतएव सपत्नीके नखक्षतकी आशंकासे जब उसकी स्त्री क्रुद्ध हो गयी तो उसने मुसकरा कर उसकी ओर देखा।

सौन्दर्यांकनके समय कविकी भावना रंगीन कल्पनाओंकी ओर रहती है। उक्त पद्योंमें की गयी कल्पना सयोग शृंगारका अनाविल रूप उपस्थित करती है। संयोग शृंगारके उद्घाटनमें कविका मन अत्यधिक रमा है, फलतः कहीं-कही कवि अश्लील भी हो गया है। यथा—

पुष्पप्लुतागर्भगृहप्रविष्टाः स्त्रीपुंसरत्युत्सवकण्ठशब्दाः ।
अवापुरुच्चैर्न बहि प्रचारं परिभ्रमद्भृङ्गरवाभिरुद्धाः ॥ ८।३४
मितप्रहारेण नवप्रसूनै. केलीविलासप्रविवर्धितेन ।
मञ्जन्मनः किञ्चन दम्पतीनां यथार्थनामाजनि पुष्पबाणः ॥ ८।३९

संयोगकालीन अवस्थाओंके चित्रणमें कविने सुन्दर उत्प्रेक्षाओंसे काम लिया है। इस प्रकारके चित्रण हास्यगर्भित भी है।

रहःपरामृष्टतदङ्घ्रिपल्लवं प्रमोदयन्तं कुपितामिव प्रियाम् ।
लता जहासेव नवप्रसूनकैर्युवानमन्तर्गतभृङ्गनिस्वनैः ॥ ८।४०

अर्थात्—कुपित हुई प्रियाको प्रसन्न करनेके लिए ही मानो एकान्तमें उसके पादरूपी पल्लवोको छूनेवाले युवाओंको वनकी लताएँ, भीतरमें बैठे हुए भ्रमरोंके शब्दोसे युक्त पुष्पोंसे हँसती सरीखी जान पडी।

यहाँ कविने मानिनी नारियोका रूप स्पष्ट कर दिया है, जहाँ वे संयोगकालमें अपने प्रियतमसे रसरासमें रूठ जाती है।

पार्श्वनाथचरितमें संयोग शृंगारके चित्रोंकी भरमार है। वियोग शृंगारका चित्रण, कमठ और वसुन्धराके प्रेमाकर्षण प्रसंगमें प्राप्त होता है। कमठ जब वसुन्धराको देखता है, तो उसका विषयी चित्त उसके लावण्य-मधुमें फँस जाता है। उस सुन्दरीके अभावमे उसे ससारका वैभव फीका प्रतीत होने लगता है। यथा—

धृत्वा लताङ्गी करपल्लवे तामसक्तमाकृष्टु'मवानिवृत्तम् ।
निरुद्धपञ्चेन्द्रियवृत्तिचित्तं तं मृत्यवेऽयच्छदिव क्षणेन ॥ २।१२
पूर्वापरालोचनकर्मशून्या तथागतस्येव मतिस्तदीया ।
बृहत्समारोपतया कृशाङ्ग्याः कृशेऽवलग्ने सुतरामसाक्षीत् ॥ २।१३

जब दूतीने वसुन्धराको आकृष्ट करनेमें असमर्थ रहनेके कारण लौटनेमें विलम्ब किया तो कमठ समस्त इन्द्रिय व्यापारको रोक कर क्षणभरमें मृत्यु जैसी अवस्थाको

प्राप्त हुआ। पूर्वापर विचार करनेमें असमर्थ उसकी नीच बुद्धि उस कृशांगीके क्षीण कटि प्रदेशमें जा लगी और उसीके विचारमें तन्मय हो गयी।

वसुन्धराके वियोगको सहनेमें असमर्थ वह कमठ मदन-ज्वरसे पीड़ित हो रुग्ण हो गया। वह अशोक पल्लवोसे निर्मित पल्लवशय्यापर शयन करता था पर उसे एक क्षणको भी शान्ति प्राप्त नही होती थी। चन्दन मिश्रित जलसे उसका सिंचन किया जाता था, कदलीवृक्षके पल्लवोंसे पवन किया जा रहा था एवं कर्पूर, कुंकुमके जलसे तृप्ति और शान्ति प्रदान करनेका उपाय किया जा रहा था, पर उसे इन शीतलोपचारोसे और अधिक वेदना बढ़ती जा रही थी।

> स्थितोऽपि तस्यामशनैरशोकप्रवालशय्यां स विवृद्धताप: ।
> ज्वालामिषाबुद्ध दवानलस्य स्मरातुरस्यास्ति कुतो विवेक: ॥२।१६
> स चन्दनाम्भ:कणसेकशीतैरावीजित: सन्कदलीद्रुमाणाम् ।
> मुहूर्त्तमापाण्डुरगर्भपत्रैर्विषानलस्पृष्ट इवामुमूर्च्छे ॥२।१७

करुणरस

करुणा हृदयका अत्यन्त कोमल भाव है। कविने प्रस्तुत काव्यमें कमठके निर्वासित किये जानेपर मरुभूति द्वारा शोक किये जानेके प्रसंगमें इस रसकी अभिव्यक्ति की है। कवि शोकाभिभूत मरुभूतिका चित्रण करता हुआ कहता है—

> चित्ते गते ज्येष्ठवियोगदु:खमाराक्षमत्वादिव विप्रमोषम् ।
> चिराय तस्य प्रतिसुप्रबुद्धेन भोगवाञ्छां दधुरिन्द्रियार्था: ॥२।६२

अपने बड़े भाईके वियोगके असह्य दु:खको न सह सकनेके ही कारण मानो उस मरुभूतिका चित्त एकदम कुछ समयके लिए असक्त हिताहित विवेकशून्य हो गया, उसे किसी प्रकारकी भी सुधि-बुधि न रही। अतएव वह बहुत समय तक इन्द्रियोको क्रियाओसे शून्य और भोगवाञ्छासे रहित हो गया।

अतो वियोगं न सहे दुरन्तं कृतागमोऽपि स्वयमग्रजस्य ।२।८२

भयानकरस

मरुभूति जब वनमें गजरूपमे जन्मा तो उसे मुनिसंघको देखकर क्रोध आया और उसने भीडको कुचलना आरम्भ किया। गजके इस कृत्यसे चारों ओर भगदड़ मच गयी। गज क्षुब्ध समुद्रके समान मालूम पड़ता था। उसके आतंकसे खलबली मच गयी। दीर्घ चीत्कारसे लोग पृथ्वीको वहन करनेवाले दिग्गजोंके समान मालूम पड़ने लगे। वह क्रुद्ध-हाथी यमराजके समान मालूम पड़ता था। कविने इस रोमांचकारी दृश्यका सुन्दर चित्रण किया है।

> त्वरथा गिरिराजसन्निभ: स निवेश वणिजां समभ्रमत् ।
> क्षुभितार्णवतोयदु:स्थतां कृतभीतिर्जनसंहतिर्दधौ ॥३।६६

मयनुन्नतया समुच्चरन् ककुभन्तं जनताध्वनिर्ययौ।
वसुधोद्वहनाय दीक्षितान् स्वयमाक्रष्टुमिवाष्टदिग्गजान् ॥३।१७

रौद्ररस

कवि वादिराजने रौद्ररसकी योजना प्रायः युद्ध प्रसंगोंमें की है। मागध देव चक्रवर्तीके द्वारा चलाये गये बाणको देखकर क्रोधाविष्ट हो गया। उसके वदनसे रौद्रता टपकने लगी और वह हँसता हुआ कहने लगा—

तद्दृष्टसमयोद्‌गीर्णक्रोधघूर्णाद्विलोचनः।
प्रोद्यत्कहकहाध्वानं प्रहस्येदमचीकथत् ॥७।५४
ईदृशी तादृशस्यैव युज्यते साहसक्रिया।
यशसैवार्थितो नित्य न प्राणैः प्राणभृत्प्रियैः ॥७।५५

अर्थात्—बाणको देखते ही व्यन्तरप्रभु क्रोधाविष्ट हो गया। उसने अपनी लाल-लाल आँखोको चारों तरफ़ घुमाते हुए हँसकर कहा—"इस प्रकारका साहस उसी पुरुषका हो सकता है, जो सर्वदा कीर्ति ही चाहता है और अपने प्राणोकी कुछ भी परवाह नही करता।

इति क्रोधोपहासाभ्यां यथार्थामेव भारतीम्।
अभिजल्पन्तमाचख्युस्तमन्ये ख्यातपौरुषाः ॥७।५८
इयमत्युज्ज्वला लक्ष्मीर्भवतः प्रथितोन्नतेः।
सौदामनीव जीमूतात् कस्य शक्या पृथक्क्रिया ॥७।५९

इस प्रकार क्रोध और उपहाससे यथार्थ वाणी कहते हुए उस मागध देवको प्रसिद्ध पौरुषवाले योद्धा लोग कहने लगे—देव! जिस प्रकार मेघसे बिजलीको कोई पृथक् नही कर सकता है, उसी प्रकार विशाल और प्रसिद्ध आपको इस लक्ष्मोको कोई आपसे पृथक् नहीं कर सकता है।

वीररस

युद्ध-सन्दर्भोंमें वीररसके अनेक पद्य आये हैं। योद्धा, सेनापतियों एवं वीरोंके उत्साह भावकी सुन्दर व्यंजना हुई है। मागध व्यन्तरके योद्धा उत्साह भावकी अभिव्यंजना करते हुए कहते हैं कि यदि आपकी आज्ञा हो तो इस शीतोदा नदीके समस्त जलको सुखाकर केवल मगर, मच्छोंको ही रहने दिया जाये। खारे जलसे परिपूर्ण समुद्ररूपी गड्ढेके सब जलको सुखाकर आपके यशरूपी अमृतसे व्याप्त कर दिया जाये। अथवा आज्ञा मिलते ही सुमेरुपर्वतको उखाड कर फेंक दिया जाये और उसके स्थानपर आपकी कीर्तिलताका आश्रयभूत कल्पवृक्ष लगा दिया जाये। यदि आदेश हो तो अपार कान्तिके धारक सूरजकी किरणोंको बलपूर्वक छीनकर ले आया जाये। इस प्रकार वचनोंसे अपना पराक्रम प्रकट करते हुए मागध देवका सेनापति युद्धकी तैयारी करने लगा। योद्धाओंने धनुष, तलवार, गदा आदिको ग्रहण कर युद्ध करना आरम्भ किया। यथा—

शुष्काम्बुतलमात्रस्थश्राम्यत्तिमितिमिङ्गिलम् ।
करवाम यदीच्छा ते शीतोदाकुहरोदरम् ॥७।६५
निरस्य नीरसं वारिक्षारमर्णवगह्वरम् ।
संपादयेम संपूर्णं तव देव ! यशोऽमृतैः ॥७।६६
प्रकोपताम्रया दृष्ट्या खड्गकस्याभिपश्यतः ।
प्रागेवाजनि संग्रामात् स ध्रुवं क्लिष्टलोहितः॥७।७०

कवि वज्रनाभके सेनापतिकी वीरता और उत्साहका वर्णन करता हुआ कहता है—

सेनानीश्चक्रिसंदेशादारूढो हयमुत्तमम् ।
दण्डरत्नधरस्तूर्णमजिहीत गुहान्तिकम् ॥७।१२०

चक्रवर्ती वज्रनाभकी आज्ञासे सेनापति दण्डरत्न हाथमें ले श्रेष्ठ घोडेपर चढ़ा और शीघ्र ही गुहाके पास जा पहुँचा ।

स्वामिनाम त्रिरुच्चार्य दृढबन्धनबन्धुरम् ।
कपाटपुटसन्धानं दण्डाग्रेण जघान सः ॥७।१२१

सेनापतिने पहले अपने स्वामीका नाम तीन बार उच्चारण किया और फिर दृढतापूर्वक लगे हुए किवाडोंको दण्डरत्नके अग्रभाग से चोट मारी ।

शान्तरस

महाकवि वादिराजने शान्तिरसका नियोजन अनेक स्थलोंपर किया है । यहाँ एक-दो उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं । एक दिन महाराज अरविन्द आकाश-मण्डलकी ओर देख रहे थे । उन्हें एक सुन्दर मेघखण्ड दिखलाई पडा । उस मेघखण्डको सहसा विलीन होते देखकर उनके मन में विषय-भोगों से विरक्ति उत्पन्न हुई । मन निर्वेदसे भर गया । कविने इसीका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

तथाऽम्बुदस्य प्रकृतिं स पश्यंश्चेतीचकारेति विरक्तचेताः ।
अनेन शुद्धं विषयेन्द्रियाणामशाश्वतत्वं घटता घनेन ॥२।९४

इस प्रकारके कुतूहलको देखकर महाराजकी दृष्टि बदल गयी । वे मेघकी उस क्षणविनाशिताको देख इन्द्रियोंके समस्त विषयोंको ही क्षणभंगुर समझने लगे । उनके हृदयमें समस्त पदार्थोंके विनश्वर होनेकी अनुभूति होने लगी । और वह सोचने लगा—

वपुः स्वभावाशुचिभङ्गशीलं निदानमेकं खलु दुष्टसृष्टेः ।
तदर्थमात्मानवबोधमूढा अनात्मनीनं हठयन्ति यत्नम् ॥२।९५

यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है, क्षणभरमें नष्ट होनेवाला है, पाप क्रियाओंका बीजभूत है, पर अज्ञानके प्रबल अन्धकारसे आवृत्त संसारी जीव उसके असली तत्त्वको नहीं समझते । वे शरीर के निमित्तसे होनेवाले क्रिया-कलापोंको आत्माके क्रिया-कलाप

समझते हैं। यह शरीर क्षणविध्वंसी है, अतः आत्मोत्थानके लिए प्रयास करना ही श्रेयस्का कार्य है।

> स्रवन्नवद्वारमशौचपात्रं क्षेत्रं वपुर्व्याधिसरीसृपाणाम् ।
> मूर्खः परं तत्र निबद्धतृष्णो नाम्नापि तस्योद्विजते विवेकी ॥२।९७
>
> भोज्यं हि भुक्तोज्झितमेव सर्वं जीवेन पूर्वं भवबन्धभाजा ।
> तत्रैव तृष्यन्नविशेषदर्शी कथं न जिह्रेति जनोऽभिमानी ॥२।८८

चरित्र-चित्रण

महाकाव्यमें महच्चरित्रका रहना परम आवश्यक है। नायक पार्श्वनाथका चरित्र अनेक भवोंके बीच उन्नतशील होकर एक आदर्श उपस्थित करता है। प्रतिनायक कमठ ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा एवं अशुभ रागात्मक प्रवृत्तियोंके कारण अनेक जन्मोंमें नाना कष्ट भोगता है। नायक सदा प्रतिनायकके प्रति सहानुभूति रखता है। मरुभूतिके भवमें वह कमठको कितना प्यार करता है। कमठ उसकी पत्नी वसुन्धराके साथ दुराचार करता है, तो भी राजाके द्वारा निर्वासित किये जानेपर भी वह कमठके पास जानेके लिए बेचैन है। भ्रातृवात्सल्यका इतना उज्ज्वल उदाहरण सम्भवतः अन्यत्र नहीं मिल सकेगा। पार्श्वनाथने नौ भवोंमे तीर्थंकर पद पानेकी साधना की है। मरुभूति मन्त्रीके भवमे पार्श्वनाथका जीव कमठ द्वारा सताया जाता है, कमठ उसके ऊपर चट्टान गिरा देता है, पर मरुभूति समतापूर्वक कष्ट सहन करता है, तो भी अन्तमे परिणामोंके क्लिष्ट हो जानेसे वह हाथीकी पर्याय प्राप्त करता है। इस हाथीके जन्ममें वह नाना प्रकारके उपद्रव करता है। जब मुनि अरविन्दका धर्मसंघ उस वनमें पहुँचता है, तो वह गज कोलाहल सुनकर लोगोंको रौंदना-पछाड़ना आरम्भ कर देता है। यह हाथी लोगोंको उछालता और नष्ट करता हुआ मुनिराजके पास आता है। मुनिराज अवधिज्ञानसे उसके पूर्वजन्मको जानकर भवावलि बतलाते हैं, जिससे उसे विरक्ति हो जाती है। वह शान्त होकर साधना करता है। अहिंसक व्रतधारण कर अपने जीवनका शोधन करता है। मृत्यु प्राप्त होनेपर सहस्रार स्वर्गमें जन्म ग्रहण करता है। पश्चात् विद्याधर और अच्युत स्वर्गवासी देव होता है। स्वर्गसे च्युत होकर वज्रनाभि चक्रवर्तीका जन्म ग्रहण करता है। यहाँ काम, अर्थ पुरुषके साथ धर्मका सेवन करता है, पश्चात् मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए मुनि बन साधना करता है। इस भवकी साधनासे उसे मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र पद मिलता है। पश्चात् राजाकी पर्यायमें वह साधना करता है, उसका अकारण शत्रु कमठ उसे बराबर बाधा देता है। उसके प्राणोंका अन्त कर देता है; किन्तु वह अपनी सहनशीलता नहीं छोड़ता। इसी साधनाके फलसे आनत स्वर्गवासी देव होनेके अनन्तर पार्श्वनाथका जन्म धारण करता है और साधना द्वारा कर्मोंका विनाश कर निर्वाणलाभ करता है। इस प्रकार महच्चरित्रकी प्रतिष्ठा कविने की है।

पार्श्वनाथकी साधना, सहनशीलता, उदारता, अहिंसक प्रवृत्ति, जीवनोत्थानका संकल्प पाठकोंके लिए अनुकरणीय है।

उद्देश्य

काव्यका उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके सेवनके अनन्तर इनसे विरक्त कराकर निर्वाण पुरुषार्थका उपदेश देना है। ससारके सुन्दर और आकर्षक पदार्थ लुभावने होते हैं, इनकी आसक्ति विकारोंकी वृद्धि करती है। विषय सेवन और कषाय-प्रवृत्ति ही बन्धका कारण है। कविने उद्देश्यको स्पष्ट करते हुए स्वयं ही कहा है—

तस्यास्य संसृतिनिदाननिरुद्धवृत्ति रत्नत्रयाद्भवति मुक्तिरुदाग्युक्तिः।
दोषप्रकोपशमनक्षययोरसिद्धौ प्रध्वंसनं हि सुपरिस्फुटमामयानाम् ॥१२।२५

....

तन्नादरं कुरुत संसृतिपातभीतास्तस्मात्परं न परमं ननु पौरुषेयम्।
तद्रूपसिद्धनिजरूपमरूपगर्मा. कान्त नितान्तमगतान्तमतापशान्तम् ॥१२।३७

प्रकृति-चित्रण

महाकवि वादिराजने प्रकृतिके रमणीय रूपोका चित्रण कर भावाभिव्यक्तिको स्पष्ट बनानेका प्रयास किया है। षड्ऋतु चित्रण प्रसंग अनेक रम्य रूपोमे प्रस्फुटित हुए है। इस महाकाव्यका पंचम सर्ग काव्यकलाकी दृष्टिसे उत्तम है। कवि मधूक वृक्षमें मानवका आरोप करता हुआ कहता है कि उसने रात्रिमें अधिक हिमपान कर लिया था, अतः अजीर्ण हो जानेके कारण पुष्पके छलसे ही उसे उगल रहा है।

निशि निघ्नतया हिमं निपीय प्रचुरं प्रातरिदं वपुष्यजीर्णम्।
अवमन्निव वर्तुकस्थवांयं प्रसवच्छद्मतया मधूकवृक्षाः ॥५।३३

मानव जिस प्रकार अधिक मद्यका पान करनेपर वमन करता है, उसी प्रकार मधूक वृक्ष भी हिमपान कर पुष्प रूपमें वमन कर रहे हैं।

सरोवरोंके तटवर्ती वृक्षोंपर प्रातः पक्षी चहचहाते हैं, कवि इसका चित्रण कल्पनाके द्वारा प्रस्तुत करता है कि हिमपातके कारण कमलोंका विनाश हो गया है, अतएव सरोवर तीरवर्ती पक्षियोंकी चहचहाहटके बहाने रो रहा है।

सवयोविरुता स्वपत्रनेत्रैस्तुहिनांशुप्रमुखाश्च तीरवृक्षाः।
भृशमन्वरुदन्निवात्मनीन हिममग्नं कमलाकरं प्रभाते ॥५।३४

कविने दवाग्निके भयसे भागनेवाले हिरणोंके चित्रणमें कल्पनाकी कितनी ऊँची उड़ान ली है। वह कहता है कि इन हिरणोंने नगरकी रमणियोंके नेत्र-सौन्दर्यको चुरा लिया है, अतएव ये पकड़े जानेके भयसे नगरोंमें नहीं जाते। यहीं वनमें इधर-उधर भागते रहते हैं—

वनितानयनाभिरामलीलागुणचौर्यादिव दोषतो जनान्तः ।
अभिशङ्क्य न शिश्रिये कुरङ्गैः प्रविशुष्यापि वनं दवाग्निभीत्या ॥५।७०

कवि पनिहारोंके पैरोंसे ताड़ित धूलिका चित्रण करता हुआ कहता है कि सूर्यके तीव्र सन्तापसे पिपासाकुल हुई के समान मार्गकी धूलि पनिहारोके पैरसे ताड़ित होनेके कारण होशमें आकर ही मानो शिरपर रखे हुए जलके घड़ोंमें उड़-उड़कर पड़ने लगी । यथा—

तृषिता इव पूषरश्मितापात् पृथुगन्त्रीपथपांसवो जनस्य ।
अविशंश्चरणाभिघातबुद्धा इव चोत्प्लुत्य शिरस्थतोयकुम्भान् ॥५।७२

कवि भैंसेकी प्रकृतिका चित्रण करता हुआ कहता है—

शिशिरामभुनक्तमालवीथीहतमध्यन्दिनभानुभाप्रवेशाम् ।
वसुधामधिशिश्यिरे महिष्यः कृतरोमन्थनवक्त्रमुक्तफेनाः ॥५।७१

दोपहरके समय सूर्यकी उष्ण किरणोंके तापको न सह सकनेसे भैंसे ठण्डे तमाल वृक्षोंकी झाड़ीमें जाकर बैठ गये और रोमन्थ कर अपने मुंहसे फेन उगलने लगे ।

वर्षा ऋतुका वर्णन करता हुआ कवि निदाघमें चाण्डालका आरोप कर कहता है कि निदाघरूपी चाण्डालके संसर्गसे पृथ्वी अशुद्ध हो गयी थी, अतः वर्षाकी प्रथम बूंदें उसे शुद्ध करनेके लिए धड़ाधड़ बरस रही हैं ।

प्रथमोदितवारिवाहमुक्ताश्चिरमस्पृश्यनिदाघदूषितस्य ।
जगतः प्रविशोधनप्रवृत्ता इव शुम्भज्जलबिन्दवः प्रपेतुः ॥५।८२

नदियोंमें नायिकाओंका आरोप कर उनमें मानवी भावोंका आस्फालन किया गया है—

विरहासहनादिवाम्बुवाहे मुहुरावर्षति पर्वतावतीर्णाः ।
पतिमभ्ययुरापगाः प्रवेगाल्लहरीहस्तगृहीतपूगपात्राः ॥ ५।८८

वर्षाके प्रारम्भ होनेसे ही मानो पति स्वरूप समुद्रके वियोगको न सहन करनेवाली नदियां तरंगों रूपी हाथोंमें पान, सुपाड़ी लेकर वेगसे पति—समुद्रके पास आने लगीं ।

सन्ध्याकी लालिमाका चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि पर्वतरूपी स्थूल स्तनोंका आलिंगन करनेवाले सूरजरूपी विटसे संयुक्त सन्ध्या उस समय मदपान करनेवालेके समान लाल हो गयी ।

गिरिपृथुलकुचोपगूढभास्वद्विटवपुरुल्लविकासिनीव संध्या ।
कवलितपृथुवारुणीप्रभावादिव परिपाटलदर्शना बभूव ॥ ६।५८

सन्ध्याकालीन लालिमासे चक्रवाकोंके झुण्ड लाल हो गये, इससे ऐसा मालूम पड़ता था कि वे अपनी प्रेमिकाओंके वियोगको न सह सकनेके कारण शोकके वशीभूत हो जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर रहे हैं—

कृतसमयमसंगं प्रेयसीक्षवंसोढुं तदनुगहृदयत्वादक्षमाश्चक्रवाकाः ।
विविशुरिव विषादादुज्ज्वलज्वालं कृशानुं प्रसृतकपिशसंध्यारागसंपर्कपिङ्गाः॥६।५९

इस प्रकार कविने प्रकृतिके सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं ।

अलंकारविधान

काव्यमें औचित्यपूर्ण अलंकारकी नियोजना आवश्यक मानी गयी है । अलंकारसे काव्यकी प्रभविष्णुता बढ़ जाती है तथा उससे काव्यमें प्रेषणीयताका संचार होता है । वादिराज सूरिके प्रस्तुत महाकाव्यमें समुचित अलंकार विधान किया है । कविने शब्दालंकार और अर्थालंकारोंकी योजना द्वारा काव्यशोभामें उत्कर्ष उत्पन्न करनेका प्रयास किया है ।

१. उपमा

उपमा अलंकारके विश्लेषणके हेतु कवि द्वारा प्रयुक्त उपमानोंपर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

१. नयविक्रमाविव ४।९५—विजय रानीके दोनों स्तन कामदेवके नय और विक्रमके समान थे ।

२. पयोदलेखा इव ५।९७—मेघकी रेखाके समान श्यामवर्णकी नागिनियाँ ।

३. श्यामलतेव ।९९—नवीन दूर्वाके अंकुर तमालवृक्षोंके समान नीले हो गये, अतः पृथ्वीपर गिरा हुआ वर्षाका जल उस दूर्वापर श्यामलताके समान शोभित था ।

४. चतुःस्तनी कामदुघामिव प्रियः ८।५२—किसी नायिकाने अपने स्तनोंपर पद्मकुड्मल लगा लिये थे, अतः नायकको वह चार स्तनोंसे युक्त अभीष्ट पूर्ति करनेवाली कामधेनुके समान प्रतीत हुई ।

५. धेनव इव ९।२७—जिस प्रकार गायोंकी रक्षा दण्ड लेकर सावधानीपूर्वक की जाती है, उसी प्रकार वह राजा दण्ड—कर द्वारा प्रजाकी रक्षा करने लगा ।

६. कालसर्पदशनाङ्कुरैरिव ९।३४—वृद्धावस्थाको समयरूपी सर्पके दाँतोंसे काटे गयेके समान उसने देखा ।

७. परीवाह इव विद्युतावृतः ९।५९—देवाङ्गनाओंके साथ स्नान करते समय वह विद्युत् वेष्टित मेघके समान मालूम पड़ता था ।

८. तारकावृतमिवेन्दुमण्डलम् ९।८३—रानीका मुख ताराओंसे वेष्टित चन्द्रबिम्बके समान प्रतीत होता था ।

९. हुतभुजमरणीव १०।६—जिस प्रकार अरणिसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ब्रह्मदत्तासे पार्श्वनाथ उत्पन्न हुए ।

१०. लतासहस्रैरिव १०।११—देवांगनाएँ सहस्र लताओंके समान शोभित होती थीं ।
११. कालकूटमिव ११।११—विषय कालकूट—विषके समान भयंकर है ।
१२. स्थाणुरिव ११।५१—स्थाणुके समान प्रतिमायोगमें स्थिर हुए ।
१३. पातालक्ष्माधरा ११।७१—पिशाच पृथ्वीको भेद कर उस प्रकार प्रकट हुए, जिस प्रकार पाताल फोड़कर पर्वत ही निकले हों ।
१४. नलिनीव १२।२०—कमलिनीके समान सभा सुशोभित हुई ।
१५. धूर्जटेरिव १।३४—शिवके विषयुक्त गलेमें जिस प्रकार चन्द्रमाकी कलाएँ नहीं बढ़ती, उसी प्रकार दुर्जनके विष-दोषग्राही कण्ठमें कविकी कलाएँ कभी नहीं बढ़ पाती ।
१६. वधूरिव ४।४—वधूके समान तारकावली सुमेरुका स्पर्श करती थी ।
१७. सुकल्पवल्ल्येव ४।१८—कल्पलताके समान महिषी शोभित थी ।
१८. निधानगर्भामिव ४।१११—रत्नोंकी खानवाली पृथ्वीके समान सगर्भा रानीकी राजाने रक्षा की ।
१९. सौदामनीव जीमूतात् ७।५९—जिस प्रकार मेघसे बिजलीको पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आपसे (मागध देवसे) लक्ष्मी पृथक् नहीं हो सकती ।

२. उत्प्रेक्षा

कविकी कल्पनाशक्ति बहुत ही प्रबल है । उत्प्रेक्षा अलंकारकी योजना द्वारा कविने चमत्कार और रसोत्कर्ष उत्पन्न करनेका प्रयास किया है । यथा—

> यतिप्रभावोपनतेन चूता वसन्तलक्ष्मीनवसंगमेन ।
> सरोमहर्षा इव देव ! सर्वे शाखोल्लसत्कुड्मलकमारखिताः ॥ २।१०७

मुनिराजके प्रभावसे असमयमें ही वसन्त लक्ष्मीके नवीन संगमसे उस उद्यानके आम्रवृक्ष कलिकाओंसे व्याप्त हो गये है, और वे ऐसे मालूम पड़ते हैं, मानो हर्षसे उनमें रोमांच ही हो आया है ।

३. रूपक

कवि मनपर हाथीका, नितम्बपर पर्वतका एवं उपदेशपर अंकुशोंका आरोप कर कमठके विषयासक्त चित्तका निरूपण करता हुआ कहता है—

> विशृङ्खलो रागगजो [illegible] ।
> न शिक्षया ते विनिवर्तितोऽसौ [illegible] ॥ २।४१

कविने सन्ध्यावर्णनमें हंस, अनुरक्तके पद और आकाशमें मानससरोवरका आरोप करते हुए कहा है— [illegible]

कुरु कुञ्जर ! मानसे रतिं दृढसम्यक्त्वमरालराजिते ।
स्वमणुव्रतपद्मसद्मनि प्रियपुण्याम्बु निगाह्य पीयताम् ॥ ३।९०

हे गज श्रेष्ठ ! तुम दृढ़ सम्यग्दर्शनरूपी हंससे शोभित पंच अणुव्रत रूपी पद्मोंसे भरे हुए अपने मनरूपी मानस सरोवरमें प्रवेश करो और मिष्ट पुण्यरूपी जलका स्वाद ले तृप्त हो जाओ ।

४. अर्थान्तरन्यास

पार्श्वनाथकी प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि परम कान्तिके धारक आप इस कुलमें उत्पन्न हुए हैं, यह भी एक विचित्र बात है । यह ठीक भी है; क्योंकि देदीप्यमान मणि पाषाणसे ही उत्पन्न होती है ।

अतिसर्वस्वधाम्नस्ते किमेते पितरो वयम् ।
अथवा मणयः किं न पाषाणादुत्पतिष्णवः ॥ ११।५

५. अतिशयोक्ति

आनन्दकी युवावस्थाके चित्रणमें कविने अतिशयोक्ति अलंकारका प्रयोग किया है—

समानमानन्दननामबिभ्रतस्तदस्य सूनन्दनयौवनोत्सवे ।
सपत्ननिश्वाससमीरणैस्समं पृथू च दीर्घौ च बभूवतुर्भुजौ ॥ ८।९८

इस पुत्रका नाम गुणोके अनुसार आनन्द रखा गया और ज्यो-ज्यों इसकी युवावस्था समीप आती गयी, त्यों-त्यों वैरियोकी गरम-गरम श्वासोंके साथ इसकी दोनों बाहु भी मोटी और लम्बी होती चलती थी ।

६. उदाहरण

पार्श्वनाथके उत्कृष्ट ज्ञानका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

तापसैर्वर्धिता यस्मिन् नित्योद्बोधपरश्वधे ।
अछिद्यन्त वनेऽतुच्छाः स्वयं दुस्तर्कशाखिनः ॥ ९।०

जिस प्रकार कुल्हाड़ीसे वृक्ष काट कर निर्मूल नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार पार्श्वनाथने अपने ज्ञानसे तापसियो या अन्य एकान्तवादियोंके द्वारा उठाये कुतर्क नष्ट कर दिये ।

७. दृष्टान्त

जडाशयोत्पन्नमपि भव्यं तद्भुवनं भवेत् ।
यज्जिनाभिमुखं पद्ममभ्यर्कं न तु शोभते ॥ १।१३

जिस प्रकार जलाशयसे उत्पन्न हुआ भी कमल सूर्यके उदित हो जानेपर क्षणमात्रमें प्रफुल्लित हो उठता है और मनोहर दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार

अभिप्राय—मूर्ख द्वारा बोला गया भी वाक्य यदि वह भगवान्‌के लिए कहा जाता है तो अवश्य ही सुन्दर मालूम पड़ता है ।

८. विभावना

कारणान्तरकी कल्पना कर कविने विभावना अलंकारकी योजना की है । यथा—

दुर्जनस्य बहुच्छिद्रं तत्प्रवेष्टुमनीश्वराः ।
प्रविशन्ति गुणाश्चित्रं निश्छिद्रं धीमतां मनः ॥ १।२५

यद्यपि दुर्जनका मन बहुत छिद्रवाला होता है, तो भी उसमें गुण प्रवेश नही कर पाते और सज्जनका मन निश्छिद्र ही होता है, तो भी उसमें गुण प्रवेश कर जाते हैं ।

९. तुल्ययोगिता

जहाँ गुण अथवा क्रियादि द्वारा अनेक प्रस्तुत-अप्रस्तुतोंका एक ही धर्म कहा जाये, वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है । यथा—

पूर्णकुम्भस्तनीर्यस्याकीढमाल्या निशामुखे ।
वेश्या इव करैः रागी रथ्याः स्पृशति चन्द्रमा ॥१।५४

जिस प्रकार रात्रिके प्रारम्भमे रागी लोग पूर्णकुम्भके समान स्तनवाली सुगन्धित द्रव्योंसे विभूषित वेश्याओंको करों—हाथोंसे स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार पूर्ण कुम्भरूपी स्तनोंवाली मालाओंसे व्याप्त उस नगरीकी रथ्याओं—गलियोंको चन्द्रमा करों—किरणोंसे स्पर्श करता है ।

१०. असंगति

कमठके वासनाग्रस्त होनेपर कविने उसकी स्मरावस्थाके चित्रणमें असंगतिका प्रयोग किया है । यथा—

न्यधत्त चित्ते मुखचन्द्रबिम्बं तस्याः स कामानलतीव्रतापे ।
शमाय पापेन तथापि तस्य स्मराग्निरुद्दामविवृद्धिरासीत् ॥२।८

कामाग्निके तीव्र तापसे सन्तप्त अपने चित्तमें उसने यद्यपि वसुन्धराके मुखरूपी शीतल चन्द्रबिम्बको धारण कर रखा था, पर इस शीतल चन्द्रसे भी शान्तिके बदले उसका सन्ताप वृद्धिगत होने लगा ।

११. सन्देह

विलासके चित्रणमें कविने इस अलंकारका व्यवहार किया है । यथा—

अवेक्ष्य मूर्त्तिं मधुनि स्वकामिति व्यतर्कयत् काचन कर्कशस्तनी ।
अहं निपीतास्मि किमङ्ग हाळया मयैव रागात्प्रतिपासितव्यया ॥६।१०५

कोई-कोई युवती तो उस समय शराबसे भरे प्यालेमें अपनी छायाको देखकर यों शंका करने लगी कि मैंने शराब पी है या मुझे ही शराबने पी लिया है।

१२. भ्रान्तिमान्

वज्रघोष हाथीके द्वारा उपद्रव किये जानेपर भ्रान्तिमान् अलंकारकी योजना कर काव्यचमत्कारका सृजन किया गया है—

अभजन् गजदन्तकीलितास्तुरगाः शोणितशोणमूर्तयः ।
शशिकोटिविदारितोरसो नवसंध्याजलदस्य विभ्रमम् ॥३।७३

हाथीके दाँतोंकी नोकसे चीरे जानेके कारण रुधिरसे घोड़ोंके शरीर लाल हो गये, जिससे चन्द्रकिरणोंके तेज द्वारा विदारित नवीन सन्ध्याकालीन मेघमालाका भ्रम होने लगा।

१३. समासोक्ति

उद्यानमें मुनिराजके प्रभावका चित्रण करते हुए कविने समासोक्तिकी योजना की है। यथा—

तपोनियोगाद् यमिनो वनान्ते पूगद्रुमान् दर्शयतः फलानि ।
श्लिष्यन्ति वेश्या इव नागवल्लयो नखक्षतावर्जितपत्रभङ्गाः ॥२।११४

अर्थात्—नखक्षतसे वर्जित पत्रभङ्गवाली नागवल्लियाँ उन मुनिराजके तप प्रभावसे फलोंको दिखलाती हुई पूग वृक्षोंका वेश्याओंके समान आलिंगन करती हैं।

१४. काव्यलिंग

वनमें भ्रमरोंका स्वाभाविक प्रवेश होनेके प्रसंगमें कविने काव्यलिंगकी योजना की है।

यदनेकविधैरनोकहैर्निबिडं भूरिजरल्लतावृतैः ।
श्रुतिरम्यरवाश्शिलीमुखा निविशन्ते न परे गुणच्युताः ॥३।२४

बहुत-सी पुरानी-पुरानी लताओंसे आवृत नाना प्रकारके वृक्षोंसे निविड उस वनमें कर्णप्रिय शब्द बोलनेवाले भ्रमर ही प्रवेश कर सकते हैं, अन्य नहीं, यह ठीक ही है, गुणवान्का सर्वत्र प्रवेश होता है।

१५. विशेषोक्ति

पार्श्वनाथके गर्भमें रहनेपर भी माता ब्रह्मदत्ताके शरीरमें गर्भजन्य किसी भी प्रकारकी क्लान्तिका वर्णन न करना विशेषोक्ति अलंकारके रूपमें चित्रित किया गया है। यथा—

प्रतिवसदपि तद्वपुः पवित्रं परमभवत्सुरसे नहीनधाम्नि ।
भवति हि कमलं न पङ्कदिग्धं नियतिवशाद्यदि नाम पल्वलस्थम् ॥१०।५

जिस प्रकार सरोवरमें पंकसे उत्पन्न होनेपर भी कमलका पंकसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता है, वह कान्तिमान् निर्मल ही दीख पड़ता है, उसी प्रकार जिनेन्द्र पार्श्वनाथके गर्भमें रहनेपर भी महारानी ब्रह्मदत्ताके शरीरमें गर्भजन्य किसी भी प्रकारकी क्लान्ति नही, बल्कि गर्भके कारण उनका शरीर कान्तिमान् हो गया है।

१६. श्लेष

पदोंमें एकाधिक अर्थोंकी योजना द्वारा श्लेष अलंकारका प्रयोग किया है। यथा—

नवबाणयुताः कुजातयो विकटाक्षा विकलः पलाशिनः।
प्रतिबिभ्रति सत्पथोन्नतिं तरवो यत्र न वन्यमानवाः॥३।२६

उस वनमें नवबाणयुताः—नवीन बाणवृक्षोंसे सहित, कुजातयः—पृथ्वीमें उत्पन्न वृक्ष, विकटाक्ष—टेढ़े-मेढे स्कधवाले, विकलाः—पक्षियोंके शब्दोंसे व्याप्त, पलाशी—पत्तेवाले वृक्ष, सत्पथोन्नति—आकाशमें लम्बाई धारण करते हैं। दूसरे पक्षमें—नवीन-नवीन बाणोंसे युक्त, नीच जातिवाले, दुर्दर्शनीय शरीरके धारक, आकुलता सहित मांस भक्षण करनेवाले जंगली मनुष्य श्रेष्ठपथकी उन्नति नही करते, वे सर्वदा नीच कार्य ही किया करते हैं।

१७. अनुप्रास

'मनस्युपादत्त कटीरयी रयी' (४।५२) में अनुप्रासकी योजना की है।

१८. यमक

'सदा नता लता' तथा 'सदानतालता' (३।२७) मे यमक है। अनुप्रास और यमक तो अनेक स्थलोंमें आये हैं। 'नखरन्यासरवप्रहारिणा' (३।२८), 'तरलाङ्गतरङ्ग' (३। ३६) एवं 'अवघोदवघो' (३।५९) उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं।

भाषा और शैली

भाव एवं रसका निरूपण करनेवाली, प्रसाद गुण सम्पन्न, सरलभाषामें भावानुसार शब्दावलिका प्रयोग कर वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें सरस-शैलीका प्रयोग किया है। काव्यके सम्बन्धमें कविकी स्वयं ही मान्यता है—

अल्पसारापि मालेव स्फुरन्नायकसद्गुणाः।
कण्ठभूषणतां याति कवीनां काव्यपद्धतिः॥१।१५

अल्पसमास और श्रेष्ठ गुणपूर्ण नायक ही काव्यके उत्तम होनेका कारण होता है। वर्णयोजना, शब्द-गठन, अलंकार-प्रयोग, भावसम्पत्ति एवं उक्तिवैचित्र्य प्रभृति शैलीके समस्त तत्त्व माने जाते हैं। कविने शैलीको सरस और आकर्षक बनानेके लिए सूक्तिवाक्योंका भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ कुछ सूक्ति वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

'दानोत्तरा मानवतां हि तुष्टिः' (२।११८)—स्वाभिमानियोंको दान देनेसे सन्तोष होता है; 'गुणो हि मुख्यो विनयः प्रभूणाम्' (२।११७)—उत्तम मनुष्यमें विनय गुण मुख्य रूपसे पाया जाता है; 'नेत्राभिरम्यो रचनाविशेषः' (२।९२) सुन्दर वस्तु नेत्रोंको प्रिय लगती है; ' नहि वन्येषु गुणज्ञता गुणः' (३।३३) जंगली मनुष्योंमें गुणोके पहचाननेकी बुद्धि नही हो सकती; 'नपुंसकस्यास्ति न पुंगुणे रुचिः' नपुंसककी पुरुषोके गुणोंमें प्रीति नही होती; 'बलवत्ता न प्रधानसेवाम्' (५।६) प्रधानकी सेवा किये बिना बलवत्ता—शक्ति नहीं आती; 'ननु सख्यं सुकरं समानशीलैः' (५।५५) समान स्वभाववालोमें मित्रता शीघ्र होती है; 'क्षुद्रतया हि नोचितज्ञाः (५।७२) क्षुद्र व्यक्ति उचित-अनुचितको नहीं जानते; 'प्रयान्ति; 'मूर्च्छामतियौवनस्थाः' (८।१२)—यौवनके अतिभारसे दबे हुए मूछित हो जाते है।

कविने ऋतुवर्णन प्रसंगमें लम्बे समासोंका भी प्रयोग किया है। अतः पंचम, षष्ठ और अष्टम सर्गोको वैदर्भी और गौडीके मध्यकी पांचालीमें निबद्ध माना जा सकता है। सामान्यतः इस काव्यको वैदर्भी शैलीका काव्य ही माना जायेगा।

कविने प्रथम सर्गमें गृद्धपिच्छ (१।१६), समन्तभद्र (१।१७-१९), अकलंक (१।२०), वादिसिंह (१।२१), सन्मति (१।२२), जिनसेन (१।२३), अनन्तकीर्ति (१।२४), पाल्यकीर्ति (१।२५), धनंजय (१।२६), अनन्तवीर्य (१।२७), विद्यानन्द (१।२८), विशेषवादि (१।२९) और वीरनन्दि (१।३०) का स्मरण किया है।

वराङ्गचरितम्[1]

भट्टारक युगका प्रतिनिधि चरित महाकाव्य वर्धमानकवि द्वारा विरचित वरांगचरित है। इस महाकाव्यमे तेरह सर्ग है। सर्गोका नामकरण कथावस्तुके आधारपर किया गया है। वराग बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ और श्रीकृष्णके समकालीन धीरोदात्त नायक है। इनकी कथावस्तु कवियोको बहुत प्रिय रही है। यतः सातवी शतीसे ही उक्त नायकपर महाकाव्य लिखे जाते रहे हैं। संस्कृतके अतिरिक्त कन्नड़मे धरणि पण्डित[2] का वरागचरित एवं हिन्दी लालचन्द्र[3] और कमलनयन कृत वरागचरित भी उपलब्ध है। प्रस्तुत काव्यका परिमाण अनुष्टुप् छन्दोंमें १३८३ है।

---

[1] प्रस्तुत महाकाव्य मराठी अनुवाद सहित पं० जिनदास पार्श्वनाथ फड़कुले द्वारा सम्पादित होकर रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा सन् १९२७ में प्रकाशित है।

[2] There is one Varangacharita in Kannada written by Dharani Pandit, who flourished A. D. 1950—Introduction of Varangacharita, by Dr. A. N. Upadhva, M. granthamala, P. 55.

[3] Introduction of Varangacharita, by A. N. Upadhya, M D. Jain Grantha-mala, 1938, P, 55-56.

रचयिताका परिचय

वरांगचरितकी प्रशस्तिसे अवगत होता है कि वर्धमान भट्टारक मूलसंघ बलात्कारगण और भारती गच्छके हैं। परवादिपंचानन इनकी उपाधि थी। कहा जाता है कि बलात्कारगणमें सरस्वती गच्छ और उसके पर्याय भारती, वागेश्वरी, शारदा आदि नामोंका प्रयोग वि० सं० की चौदहवी शतीसे प्रारम्भ हुआ है। सरस्वती या भारती गच्छके सम्बन्धमें यह मान्यता प्रचलित है कि दिगम्बर संघके आचार्य पद्मनन्दि ने श्वेताम्बरोंसे विवाद कर पाषाणकी सरस्वती मूर्तिसे मन्त्रशक्ति द्वारा निर्णय कराया था। यह विवाद गिरनार पर्वत पर हुआ कहा जाता है। इसी कारण कुन्दकुन्दान्वय प्रचलित हुआ।[1]

बलात्कारगणका सबसे प्राचीन उल्लेख आचार्य श्रीचन्द्रने किया है। इनके दीक्षा गुरु आचार्य श्रीनन्दि और विद्यागुरु आचार्य सागरसेन थे। ये महाराज भोजके समयमें धारा नगरीमें निवास करते थे। इस गणमें दूसरे आचार्य केशवनन्दि हुए। अनन्तर यक्षोपवासी पद्मप्रभ हुए। इनकी शिष्य परम्परामें नयनन्दि, श्रीधर, चन्द्रकीर्ति, श्रीधर, वासुपूज्य, नेमिचन्द्र, पद्मप्रभ, कुमुदचन्द्र, देशनन्दी, श्रवणसेन, वनवासि वसन्तकीर्ति प्रभृति हुए। इस परम्पराकी २६वी पीढ़ीमें वर्धमान भट्टारकका उल्लेख मिलता है।[2] कविने काव्यकी प्रशस्तिमें लिखा है—

> स्वस्तिश्रीमूलसंघे भुवि विदितगणे श्रीबलात्कारसंज्ञे
> श्रीभारत्याख्यगच्छे सकलगुणनिधिर्वर्द्धमानाभिधानः।
> आसीद्भट्टारकोऽसौ सुचरितमकरोच्छ्रीवराङ्गस्य राज्ञो
> भव्यश्रेयांसि तन्वद् भुवि चरितमिदं वर्ततामार्कतारम् ॥ वरांग० १३।८७

स्थितिकाल

कवि वर्द्धमानने अपने गुरुका निर्देश नही किया है। जैन साहित्य परम्परामें एक नन्दिसंघके वर्द्धमान भट्टारक हैं, जिनका दशभक्त्यादि महाशास्त्र है और जो देवेन्द्रकीर्तिके पुत्र है। इनका समय ई० सन् १५४१ के लगभग है। बलात्कार गणमें दो वर्द्धमान प्रसिद्ध हैं—प्रथम वर्द्धमान वह हैं, जो न्यायदीपिकाके कर्ता धर्मभूषणके गुरु थे और द्वितीय हुमच्च शिलालेखके रचयिता हैं। विजयनगरके शिलालेखसे अवगत होता है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण हुए। इनके समयमें शक संवत् १३०७ (ई० सन् १३८५) की फाल्गुन कृष्ण द्वितीयाको राजा हरिहरके मन्त्री चैत्र दण्डनायकके पुत्र इरुगप्पने विजयनगरमें कुन्थुनाथका मन्दिर बनवाया था।[3]

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर, शोलापुर, १९५८ ई०, पृ० ४४-४५।

२. वही।

३, स्वस्ति शकवर्षे १३०७ प्रवर्तमाने क्रोधनवत्सरे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथौ शुक्रवासरे · । —जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ पृ० ९०।

न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठियाने न्यायदीपिकाकी प्रस्तावनामें लिखा है—"विजयनगर नरेश प्रथम देवराय ही राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित थे। इनका राज्य सम्भवतः १४१८ ई० तक रहा है और द्वितीय देवराय सन् १४१९-१४४६ ई० तक माने जाते हैं। अतः इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण तृतीय ;(ग्रन्थकार) ही देवराय प्रथमके द्वारा सम्मानित थे। प्रथम अथवा, द्वितीय धर्मभूषण नहीं; क्योंकि वे वर्द्धमानके शिष्य नहीं थे। प्रथम धर्मभूषण शुभकीर्तिके और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्तिके शिष्य थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनव धर्मभूषण देवराय प्रथमके समकालीन है ।[1]

इस सन्दर्भमें श्री कोठियाजीने धर्मभूषणको सायणका समकालीन सिद्ध कर उनके समयकी पूर्वसीमा शक संवत् १२८० (ई० १३५८) मानी है ।[2]

इस अध्ययनके प्रकाशमें वर्द्धमान भट्टारकका समय धर्मभूषणके गुरु होनेके कारण ईसवी सन्‌की चौदहवी शतीका उत्तरार्ध है।

विन्ध्यगिरिके एक शिलालेखसे वर्द्धमान भट्टारकका समय शक संवत् १२८५ (सन् १३६३ ई०) सिद्ध होता है ।[3] श्री डॉ० ए० एन० उपाध्यायने जटाचार्य द्वारा विरचित वरांगचरितकी अंग्रेजी प्रस्तावनामें वर्द्धमान भट्टारकका समय १३वी शतीके बादका ही अनुमानित किया है। अतएव वरांगचरित महाकाव्यके रचयिता वर्द्धमान भट्टारकका समय ई० सन्‌की चौदहवी सदी है ।[4]

कथावस्तु

विनीत देशमें रम्या नदीके तटपर उत्तमपुर नामका नगर है। इस नगरमें भोज वंशका राजा धर्मसेन राज्य करता था। इस राजाकी गुणवती नामकी पट्टरानी थी। यह बहुत ही सुन्दर और रूपवती थी। इसने अपनी गतिसे मराल पक्षीको, नेत्रों से हरिणीको और स्वरसे कोयलको जीत लिया था। समय पाकर इस दम्पतिको एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वरांग रखा गया। —प्रथम सर्ग

युवा होनेपर वरागका विवाह ललितपुरके नृपति देवसेनकी पुत्री सुनन्दा, विन्ध्यपुरके राजा महेन्द्रदत्तकी पुत्री वपुष्मती, सिंहपुरीके राजा द्विषन्तपकी पुत्री यशोमती, इष्टपुरीके राजा सनत्कुमारकी पुत्री वसुन्धरा, मलयदेशके अधिपति मकरध्वजकी पुत्री अनन्तसेना, चक्रपुरके अधिपति समुद्रदत्तकी पुत्री प्रियव्रता, गिरिव्रजनगरके राजा

---

[1] न्यायदीपिका, वीरसेवामन्दिर, सरसावा (वर्तमान दिल्ली), सन् १९४५ ई०, प्र० पृ० ९९ ।

[2] न्यायदीपिकाकारको "बालिशा" पद उन्हें सायणके समकालीन होनेकी ओर संकेत करता है—वही, पृ० ९९ ।

[3] ……वर्धमान—स्वामिना कारितो ह आचार्य्याणां—स्वस्ति शकवर्ष १२९५ परिधावि संवत्सर वैशाखशुद्ध ३ बुधवारे। —जैनशिलालेख संग्रह प्रथम भाग, मा० चं० दि० जैन ग्र० वि० सं० ११८४, लेखांक १११ (२७४) पृ० २२४ ।

[4] डॉ० ए० एन० उपाध्ये, वरांगचरित, मा० दि० जैन ग्र० मा० प्र० पृ० ५४ ।

बाह्लायुधकी पुत्री सुकेशी, श्रीकोशलापुरीसे अधिपति सुमित्रसिंहकी पुत्री विश्वसेना, वरागदेशाधिपति विनयन्धरकी पुत्री प्रियकारिणी एवं व्यापारी-पुत्री धनदत्ताके साथ सम्पन्न होता है। इन पत्नियोंके साथ वरांग सांसारिक सुखका उपयोग करते हुए निवास करता है। —द्वितीय सर्ग

एक दिन भगवान् अरिष्टनेमिके प्रधान शिष्य वरदत्त गणधर उत्तमपुरमें पधारे। धर्मसेन नृपति सपरिवार मुनि वन्दनाके लिए गया। राजा द्वारा प्रश्न किये जानेपर उन्होंने सप्ततत्त्व और आचारका उपदेश दिया। वरांग द्वारा पूछे जानेपर सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका विवेचन किया। उपदेशसे प्रभावित होकर कुमार वरांगने अणुव्रत धारण किये। उसने समस्त प्राणियोंके साथ मैत्री और प्रेमका आचरण आरम्भ किया। अहिंसा और सत्यकी भावनाओंका अभ्यास आरम्भ किया। अस्त्र-शस्त्र संचालन एवं समर परिचालन कलामें दक्षता प्राप्त की। —तृतीय सर्ग

वरांगके श्रेष्ठ गुणोंकी प्रशंसा सुनकर राजा धर्मसेन बहुत प्रभावित हुआ और उसने तीनसौ पुत्रोंके रहते हुए भी उसको युवराज पदपर अभिषेक कर दिया। वरांगके इस अभ्युदयसे उसकी सौतेली माता मृगसेना तथा सौतेले भाई सुषेणको ईर्ष्या हुई। सुबुद्धि मन्त्रीसे मिलकर इन्होंने षड्यन्त्र किया। मन्त्रीके द्वारा शिक्षित दुष्ट घोड़ा वरागको दिया जाता है।—चतुर्थ सर्ग

वरांग जैसे ही उस घोडेपर सवार होते हैं कि वह घोड़ा हवासे बातें करने लगता है। वह नदी, सरोवर, वन, अटवीको पार करता हुआ आगे बढ़ता है तथा एक कुँएमें वरांगको गिरा देता है। वरांग लताओंका जाल बनाकर किसी प्रकार कुँएसे निकलता है। भूख-प्याससे पीड़ित वह नाना प्रकारसे चिन्तातुर हो विचार मग्न हो जाता है। युवराज आगे बढता है कि उसे एक व्याघ्र मिलता है। हाथीकी सहायतासे वह अपने प्राणोंकी रक्षा करता है। एक यक्षिणी अजगरसे उसकी रक्षा करती है और कुमारके स्वदारसन्तोषव्रतकी परीक्षा लेकर वह सन्तुष्ट हो जाती है। वनमें भटकते हुए कुमारको बलिके लिए भील पकड़ ले जाते हैं किन्तु सर्प द्वारा दंशित भिल्लराजके पुत्रका विष उतार देनेके कारण उसे मुक्ति मिल जाती है। वह वृक्षपर रात्रि व्यतीत कर प्रातः सागरवृद्धिके बंजारेसे मिल जाता है।—पंचम सर्ग

सार्थपति सागरवृद्धिके साथ चलनेपर मार्गमें बारह हजार डाकू मिलते हैं। सार्थवाह योद्धाओंका डाकुओंसे युद्ध होने लगता है। जब सार्थवाह सेना रणभूमिसे भागने लगी तो सागरवृद्धिको बहुत दुःख हुआ। इस संकटके समय कुमार वरांगने सार्थवाहसे निवेदन किया कि आप चिन्ता मत कीजिए। मैं समस्त शबरडाकुओंको परास्त करता हूँ। कुमारने डाकुओंको परास्त किया। वह सागरवृद्धिका प्रिय होकर सार्थवाहोंका अधिपति बन ललितपुरमें निवास करने लगता है।—षष्ठ सर्ग

जब घोड़ेका पीछा करनेवाले हाथी, घोड़े लौट आये और कुमार वरांगका पता न चला तो राजा धर्मसेनको मर्मान्तिक व्यथा हुई। राजाने गुप्तचरोंको कुमारका पता

लगाने भेजा। वे कूपमें गिरे हुए मृत अश्वको देखकर तथा कुमारके वस्त्रोंको लेकर वापस लौटे। उन्हें कुमारका अन्वेषण करने पर भी पता न चल सका। अतः राजा धर्मसेन, गुणवती आदि विलाप करने लगे। अन्तःपुरमें करुणाका समुद्र उमड़ आया। —सप्तम सर्ग

मथुराधिपति इन्द्रसेनके पुत्रका नाम उपेन्द्रसेन था। इस राजाने एक दिन ललितपुर देवसेनके पास अपना दूत भेजा और अप्रतिमल्ल नामक हाथीकी माँग की। देवसेन द्वारा हाथी न दिये जानेसे मथुराधिपति बहुत रुष्ट हुआ और उसने ललितपुरपर आक्रमण कर दिया। इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन दोनोंकी सेनाने बड़ी वीरतासे युद्ध किया, जिसमें देवसेनकी सेना छिन्न-भिन्न होने लगी। इसी बीच कुमार वरांगने आकर उसकी सहायता की, जिससे इन्द्रसेन परास्त हो गया। —अष्टम सर्ग

ललितपुराधीश देवसेन कुमारके बलपराक्रमसे प्रसन्न होकर उसे अपनी कन्या सुनन्दा और आधा राज्य प्रदान करता है। एक दिन राजाकी मनोरमा नामकी पुत्री कुमारके रूप-सौन्दर्यको देखकर आसक्त हो जाती है। वह विरहसे गलने लगती है। मनोरमा कुमारके पास अपनी दूतीको भेजती है, पर दुराचारसे दूर रहनेवाला कुमार स्पष्ट इनकार कर देता है। मनोरमा विरहाग्निसे जलने लगती है।। —नवम सर्ग

वरांगके लुप्त हो जानेपर सुषेण उत्तमपुरके राज्यभारको संभालता है। पर अपनी अयोग्यताओंके कारण शासनमें असफल रहता है। उसकी इस दुर्बलता तथा धर्मसेनके बुढ़ापेका अनुचित लाभ उठाकर वकुलाधिपति उत्तमपुरपर आक्रमण करता है। धर्मसेन ललितपुराधिपसे सहायता माँगता है। वराग इस अवसरपर जाता है और वकुलाधिपतिके दाँत खट्टे कर देता है। उत्तमपुरकी जनता वरांगका स्वागत करती है। पिता-पुत्रका मिलन होता है। —दशम सर्ग

विरोधियोंको क्षमा कर वह राज्यशासन प्राप्त करता है। वह पिताको अनुमतिसे दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। वह अपने नये राज्यकी राजधानी सरस्वती नदीके तटपर आनर्तपुरको बसाता है। —एकादश सर्ग

वरांगने आनर्तपुरमें सिद्धायतन नामक चैत्यालयका निर्माण कराया और विधिपूर्वक बिम्ब प्रतिष्ठा करायी। —द्वादश सर्ग

एक दिन ब्राह्ममुहूर्तमें नृपति वरागने तैल समाप्त होते हुए दीपकको देखा। इससे उसके मनमें विरक्ति उत्पन्न हुई। उसने दीक्षा लेनेका निश्चय किया। उसके परिवारके व्यक्तियोंने उसे दीक्षा लेनेसे रोकनेका प्रयत्न किया, पर वह न माना और उसने वरदत्त केवलीके समक्ष दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर ली। वरांगने दुर्द्धर तपश्चरण किया और शुक्लध्यानके बलसे उसने सर्वार्थसिद्धि विमानको प्राप्त किया। —त्रयोदश सर्ग

कथावस्तुका स्रोत

सातवीं शतीके महाकवि जटिलके वरांगचरितकी कथावस्तुका आधार ग्रहण कर कवि वर्द्धमानने अपने इस महाकाव्यकी रचना की है। कविने स्वयं ही लिखा है—

नणेश्वरैर्या कथिता कथा वरा वराङ्गराजस्य सविस्तरं पुरा ।
मथापि संक्षिप्य च सैव वर्ण्यते सुकाव्यबन्धेन सुबुद्धिवर्द्धनी ॥१।११

कवि वर्द्धमानने जटिल मुनिके कथानकमेंसे वर्णन और धर्मोपदेशोंको कम कर दिया है। दार्शनिक और धार्मिक चर्चाएँ भी अत्यल्प रूपमें आयी हैं। कविने कथानकमें परिवर्तन भी किया है। जटिल मुनिने प्रातःकालमें मलिन होते नक्षत्रोंको देखकर वरांगके विरक्त होनेका वर्णन किया है। वर्द्धमान कविने वरांगकी विरक्तिका कारण दीपकके तेलके घट जानेसे उसकी मलिन होती हुई ज्योतिका देखना लिखा है। वरांग सोचता है कि जिस प्रकार दीपकके तेलके घट जानेसे दीपककी ज्योति बुझ जाती है, उसी प्रकार आयुके समाप्त हो जानेसे मनुष्यकी जीवन-ज्योति समाप्त हो जाती है। इस स्थलपर कविका यह परिवर्तन बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। कविकी काव्य प्रतिभाके समक्ष तत्त्वविवेचन जैसे नीरस विस्तारको प्राप्त नहीं हुए हैं। जटासिंहनन्दीने अपने वरागचरितमें काव्यात्मक वर्णनोंके साथ दार्शनिक विषयोंका पल्लवन प्रचुर परिमाणमे किया है; किन्तु वर्द्धमान कविने कथानकको महाकाव्योचित बनानेके लिए वर्णनोंका अनावश्यक विस्तार नहीं किया। यही कारण है कि इस महाकाव्यमें जटिल कवि द्वारा वर्णित रम्यातट, धर्मसेनके अन्तःपुर, योगभूमि वर्णन, युद्ध वर्णन, तपोवर्णन, कर्मोंकी मूल और उत्तर प्रकृतियों, जीव-कर्मका सम्बन्ध, कर्मोंके आस्रव और बन्ध, कर्मोंकी स्थिति, लोकसंस्थान, नरकोंमें नारकियोंकी आयु, सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी व्याख्या प्रभृति विषयोंको स्थान नहीं दिया है।

प्रबन्धकल्पना

ज्ञानेन्द्रियोके माध्यमसे बाह्यजगत्के जो प्रभाव चित्तपर पड़ते है, उनसे काव्यके द्रव्यका निर्माण होता है। कवि अपने मानसकी आन्तरिक प्रक्रिया द्वारा उसे उस रूपमें ढालता है। वस्तुतः वस्तुको रूपायित करना एक बौद्धिक व्यापार है। महाकाव्यका निर्माता पूर्वप्रचलित या इतिहास प्रथित कथावस्तुको अपने बुद्धिकौशल द्वारा इस रूपमें उपस्थित करता है, जिससे वह अपने युगकी ऐतिहासिकतामें पूरी सतर्कता रखता है। जटिल कविकी कथावस्तुके साथ तुलना करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जटिलके वरागचरितमें उपदेश और दर्शनतत्त्व मुखर है, प्रबन्ध नहीं। प्रबन्धकी धारा चट्टानके नीचे प्रवाहित होनेवाली जलधाराके समान उपलब्ध होती है। महाकवि वर्द्धमानने आधिकारिक कथाका आद्योपान्त निर्वाह किया है। चरित निरूपण ही लक्ष्य है, जिसकी पूर्ति कल्पना और अनुभूतिके द्वारा की गयी है।

प्रस्तुत काव्यमें कथाकी अन्विति, सर्ग विभाजन और छन्दोंमें अभिव्यंजन ये तीनों मिलकर प्रबन्धके बाह्यरूपका निर्माण करते हैं। विचार प्रधान होनेसे इस काव्यमें प्रकृति चित्रणकी अल्पता है, फिर भी भावात्मक चित्रोंकी कमी नहीं है। कथावस्तु भी शृंखलाबद्ध है, दर्शन या धर्मतत्त्व घटनाओंके क्रममें बाधक नहीं है। घटनाओं, प्रसंगों

और वर्णनोंको इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, जिससे मार्मिक स्थल स्वयं उपस्थित होते गये हैं। राजकुमार वरांग जन्म लेता है। उसका दस सुन्दरियोंके साथ विवाह हो जाता है और उसकी योग्यतासे प्रभावित होनेके कारण बड़े पुत्रके रहते हुए भी राजा धर्मसेन उसे युवराज बना देता है। विमाताको यह बात खटकती है, उसका सौतेला बड़ा भाई सुषेण भी राजकुमार वरांगसे ईर्ष्या करता है। विमाता और भाई दोनों मन्त्रीसे मिलकर षड्यन्त्र रचते हैं और एक दुष्ट घोड़े द्वारा कुमारका अपहरण करा देते हैं। घोड़ा एक अन्धकूपमें कुमारको लेकर कूद जाता है। उस अन्धकूपसे निकलनेमें असमर्थ रहनेसे उस दुष्ट घोड़ेकी मृत्यु हो जाती है और कुमार किसी प्रकार बचकर निकल आता है। इस घोर अरण्यमें उसे व्याघ्र, अजगर, भिल्ल आदिका सामना करना पड़ता है। वह किसी प्रकार इन संकटोंसे मुक्ति प्राप्त करता है। कविने इन घटनाओंको सप्राण बनानेके लिए नाटकीय तत्त्वोंकी योजना की है। फलतः आन्तरिक द्वन्द्व सहजरूपमें उपस्थित हुए हैं। किसी भी काव्यका प्रबन्ध तभी प्राणवन्त होता है, जब उसमें जीवनकी तरह विरोधी स्वरोंके द्वन्द्वोंसे मधुर लयकी निष्पत्ति हुई हो। रामायणमें निरूपित कैकेयी विमाता होनेसे रामको वन भेजती है, इस काव्यमें मृगसेना विमाता होनेसे कुमार वरांगको षड्यन्त्र द्वारा भयंकर वनमें प्रेषित करती है। कविने आत्मनिष्ठ अनुभूतिको वस्तु-परक बिम्बोंमें अंकित किया है। इसके आगे कथावस्तु अपनी गतिसे आगे बढ़ती है। नायक वरांग अपनी वीरता, दक्षता और कष्टसहिष्णुताके कारण लोकरंजक बन जाता है। कश्चित् भटके रूपमे प्रसिद्ध हो ललितपुराधीशकी भी युद्धमें सहायता करता है। उसके पराक्रमकी गन्ध चारों ओर व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न सन्दर्भोंमें घटित घटनाएँ घनीभूत होकर कलात्मक रूपमें उपस्थित होती हैं। कविने वरांगका पितासे मिलन भी नाटकीय शैलीमें प्रस्तुत किया है।

वनयात्रासे लेकर पिताके मिलन तककी घटनाओंमें वक्रता, गति, भंगिमा, अनुभाव और चित्रात्मकताका समावेश है। नये राज्य स्थापनके पश्चात् घटनाओंकी गति सरल रेखाके रूपमें सम्पन्न हुई है। अन्तिम सर्गमें वरांगकी विरक्तिमें अवश्य नाटकीयता है। अवशेष समस्त घटनाएँ रूढ़िबद्ध है। काव्य चमत्कार नगण्य हैं। दार्शनिक और नैतिक समस्याओंको सुलझानेके लिए नायकके जीवनकी विविध अवस्थाओंका चित्रण किया गया है। अतः प्रबन्धकल्पनामें पूरा उतार-चढ़ाव पाया जाता है। प्रारम्भ, प्रयत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागमकी स्थितियाँ क्रमशः घटित होती गयी हैं।

चरित्र चित्रण ही काव्यका प्रधान लक्ष्य होनेसे आदर्श चरित्रकी स्थापना की गयी है। संकटको घड़ियोंमें नायकके जीवनमें उत्पन्न हुई भावनाकी तरलता, द्रवणशीलता एवं उल्लासमय सहिष्णुता उसके चरित्रको मानवताकी भावभूमिपर प्रतिष्ठित करनेमें सक्षम हैं। जब वह दीपकके तैलक्षयको देखकर आयुके क्षयका अनुमान कर घरसे बाहर निकलता हुआ तपस्वी बननेके लिए आतुर दिखलाई पड़ता है उस

स्थितिमें भी हम उसे पलायनवादी नहीं कह सकते हैं। वह हमें कर्मठ और संसारके बीच जूझनेवाला दिखलाई पड़ता है। कविके प्रबन्ध नियोजनका यह क्रम उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और रूपकोंसे समवेत है। प्रतीक और बिम्बनियोजन भी प्रबन्धको रम्य और सुदृढ़ बनानेके साथ उत्कर्षयुक्त बनाते हैं।

महाकाव्यत्व

कथावस्तुके साथ महाकाव्योचित वर्णन भी निहित है। नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीड़ा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारजन्म, राज्याभिषेक, राजसभा-मन्त्रणा, दूतप्रेषण, अभियान, युद्ध, विजय, राज्य-संस्थापन, जिनालय-निर्माण, बिम्बप्रतिष्ठा प्रभृतिका काव्यात्मक वर्णन किया गया है। वर्णनोंमें दृश्ययोजना और बिम्बयोजना दोनों ही निहित हैं। शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार कथावस्तु सर्गोंमें विभक्त है तथा प्रत्येक सर्गके अन्तमें छन्द परिवर्तन पाया जाता है।

चरितनिरूपणकी शैली महाकाव्योचित है और वर्णनोंमें महाकाव्योचित गरिमा भी निहित है। सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा करता हुआ कवि कहता है—

> कृते कविस्वे कविभिर्मनोहरे न याति तोषं भुवि दुर्जनो जनः।
> अणुप्रमाणेऽपि गुणेऽपि सज्जनास्तथापि तुष्यन्ति ततः करोम्यहम्। १।१०

इस काव्यका नायक वराग धीरोदात्त, क्षत्रिय और शौर्य गुण प्रधान है। यह विनयशील, सुन्दर, त्यागी, कार्य-कुशल, प्रियंवद, लोकप्रिय, स्थिरचित्त, युवा, प्रतिभाशाली, साहसी, कलाप्रेमी, आत्माभिमानी, शास्त्रज्ञ एवं तेजस्वी है।

शृंगार और वीररसके साथ शान्तरसका अंगी रूपमें अस्तित्व है। सरलता और स्वाभाविकताके कारण सर्वत्र प्रसाद गुण है। मध्ययुगके महाकाव्यकी समस्त विशेषताएँ इस महाकाव्यमें विद्यमान हैं। वर्णन चातुर्य, भावगाम्भीर्य, कोमलपदन्यास और सजीव चित्रण इस काव्यमे आद्यन्त व्याप्त है।

रस-भाव-योजना

भावविवेचनकी दृष्टिसे रससिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्यमें कविका लक्ष्य सामान्यतः किसी एक प्रमुख भावकी व्यंजना करना होता है, यह प्रमुखभाव ही स्थायीभाव कहलाता है। वरांगचरितका प्रमुख रस शान्त है और स्थायीभाव शम अथवा निर्वेद है। अंगीरूपमे शृंगार, वीर, करुण और भयानक रसोंका भी सन्निवेश किया गया है।

शृंगाररस

इस रसका स्थायी भाव रति है। इस स्थायी भावके अन्तर्गत सर्व प्रथम सहज प्रवृत्ति (Instincts) या वासना है। हमारी प्रत्येक भावात्मक प्रवृत्ति मूलरूपमें या अव्यक्तरूपमें सहज प्रवृत्ति या वासना ही कहलाती है तथा यह वासना प्रत्येक प्राणीके

मानसमें सदा विद्यमान रहती है। आचार्य अभिनव गुप्तने 'अभिनव भारती' में स्थायी भावकी विवेचना करते हुए लिखा है—"स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति।" अर्थात् स्थायी इतने ही ही होते हैं, क्योंकि प्रत्येक प्राणी इतनी ही वासनाओंसे युक्त होता है। अतएव स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी भावनाओंके अनुरूप ही विषयके प्रति दृष्टिकोण अपनाता है और इस दृष्टिकोणके अनुरूप ही उसकी भावात्मक प्रक्रिया होती है। रतिकी भावना सबसे प्रमुख है, यह प्रायः प्रत्येक कार्यके मूलमें रहती है। वरागचरितके रचयिता कवि वर्द्धमानने शृंगाररसकी योजना करते हुए लिखा है—

तासां समालिङ्गनचुम्बनैश्च कटाक्षनिक्षेपनिरीक्षणैश्च।
कोपप्रसादैः प्रणयप्रहासैस्ताम्बूलवस्त्राभरणप्रदानैः॥ २।५५
अन्योन्यसंघट्टनताडनैश्च कचाग्रसकर्षणबन्धनैश्च।
करेण पीनस्तनमर्दनैश्च निरन्तरं भोगसुखं स लेभे॥ २।५६॥

इस सन्दर्भमे संयोग शृंगार है। वरांग आश्रय है और उसकी रानियाँ अवलम्बन हैं। रानियोका सुन्दर रूप, उन्मत्त यौवन, उद्दीपन विभाव है। चुम्बन, कचाकर्षण अनुभाव और आवेग, चपलता, मद आदि संचारीभाव है। रति स्थायी भाव है। पारस्परिक दर्शन, स्पर्शन, कचाकर्षण आदिके द्वारा संयोग शृंगाररस रूपमे परिणत हो गया है।

वीररस

षष्ठ सर्गमे वीररसका सजीव चित्रण हुआ है। सागरवृद्धि अपने साथियोंके साथ मार्गमें चला जा रहा है। काल और महाकाल नामक भीलोंके राजा अपने बारह हजार सैनिकों[1] सहित उन व्यापारियोसे युद्ध करने लगते हैं। दोनों ओरसे वीरतापूर्ण ललकारें सुनाई पड़ती हैं। तोमर, भाला, तलवार, त्रिशूल, मुद्गर, गदा, ढाल[2] आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी चमक दृष्टिगोचर होने लगती है। युद्धके वाद्य दोनों ओरके सैनिकोको वीरोचित प्रेरणा देते हैं[3]। जब किरातोकी प्रबल सेनाके द्वारा प्रताडित होकर सार्थवाह त्रस्त हो पलायन करने लगते है, तो कुमार वरांग सार्थवाहोंकी रक्षाके लिए कटिबद्ध हो जाता है। वह कहता है—

रे रे किराताधम! किं वणिग्भिर्योद्धुं प्रवृत्तोऽपि न लज्जसे किम्।
शूरोऽसि चेद्दर्शय मत्पुरस्तात्संग्रामभूमाविह कौशलं त्वम्॥ ६।२६
श्रुत्वा तदुक्तं वचनं स कालोऽप्यज्ञातसामर्थ्यगुणोऽस्य राज्ञः।
जघान भूप गदया च मूर्ध्नि तं वञ्चयामास नृपः प्रहारम्॥ ६।२७
....

---

[1] द्विषट्सहस्रैस्तु ६।३।
[2] तोमरकुन्तखड्गत्रिशूलहस्ता ६।५।
[3] कथं वराका वणिजां ६।२३-२६।

ब्रूते च कोपान्मम नन्दनं त्वं हत्वा क्व रे यासि नृशंसकेत्थम् ।
छित्त्वा शिरस्तेऽद्य नयामि शीघ्रं यमालयं किं बहुभाषितेन ॥ ६।२२
किरातमुक्तैर्निशितैः शरास्त्रैः सर्वाङ्गविद्धोऽपि वराङ्गराजः ।
अभ्येत्य खड्गेन निहत्य भूमौ तं पातयामास किरातनाथम् ॥ ६।२३

ललितपुर नरेशके ऊपर इन्द्रसेनने आक्रमण किया। इस सन्दर्भमें कुमार वरांगकी वीरताका बहुत ही सुन्दर चित्रण हुआ है। जब ललितपुर नरेशकी सेना पराजित होकर पलायन करने लगती है तो कुमार वरांग वीरतापूर्वक युद्ध करता है। इस प्रसंगमें दोनों ओरकी दर्पोक्तियाँ, अस्त्र-शस्त्रोंकी झनझनाहट, सैनिकोंके व्रणोंसे रक्तका निकलना, रक्तकी नदीका प्रवाहित होना और उसमें हाथियोंके छिन्न पैरोंका कच्छपके समान सुशोभित होना वर्णित है। वीररसका सहायक बीभत्स भी उपस्थित है। मासाहारी काक, गृध्र आदि पक्षी समरभूमिमे आनन्दपूर्वक विचरण करते है। यथा—

व्रणोत्थशोणितेनाभूत्पृथिव्यां शोणितार्णवः ॥ ८।११७
यत्रेभपादखण्डानि कच्छपोपमतां ययुः ।
मकराकरतामीयुश्छिन्नाश्च करिणां कराः ॥ ८।११८
पिशाचकाकगृध्राश्च कुक्कुराः पिशिताशिनः ।
विचेरुस्तत्र सानन्दाः पलास्वादनलम्पटाः ॥ ८।११९

यहाँ पराक्रम, आत्मरक्षा, निर्भयता, युद्ध और साहस आदिके व्यक्त होनेसे वीररसका मूर्तिमान् रूप प्रस्तुत हुआ है। स्थायीभाव उत्साह आलम्बन, उद्दीपन, अनुभव और संचारी भावो द्वारा पुष्ट होकर वीररस व्यंजित करता है।

करुणरस

वरांगके अपहरणसे माता-पिताको मार्मिक व्यथा होती है। माता मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर जाती है। जब चन्दन, कर्पूर आदि शीतल पदार्थोंका सिंचन किया जाता है, तो उसकी मूर्च्छा दूर होती है और वह विलाप करने लगती है—

हा पुत्र त्वां क्व पश्यामि हसितास्यमनोहरम् ।
केन संभाषणं कुर्वे त्वां विना वा विदांवर ॥ ७।२९

हा मत्कुक्षिसरोहंस ! हा मन्नेत्राब्जभास्कर ।
हा मत्प्रेमसमुद्रेन्दो ! हा मद्वाञ्छितपूरक ॥ ७।३०
मधुरं स्वादु सुस्निग्ध भोज्यमन्नं विषायते ।
जातं पेयमपेयं च त्वयि दूरं गते स्तुते ॥ ७।३२

पुत्रवियोगकी वेदनासे उद्वेलित माँके उद्गार सहज सहानुभूति उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं।

वरांगका वियोग आलम्बन, पुत्रका हास्ययुक्त मुख, मधुर सम्भाषण, और

क्रीड़ाएँ उद्दीपन विभाव, मूर्च्छा, रुदन, उच्छ्वास, प्रलाप, देवनिन्दा आदि अनुभाव एवं विषाद, उन्माद, मोह, चिन्ता, स्मृति, ग्लानि आदि संचारी हैं। स्थायीभाव शोक है।

शान्तरस

इस काव्यका पर्यवसान शान्तरसमे हुआ है। नायक वरांगको एक दिन ब्राह्म-मुहूर्तमें नींद टूट गयी और उसने तैलके समाप्त होते हुए मन्द ज्योतिवाले दीपकको देखा। वह विचारने लगा—"तैल क्षय होनेसे जिस प्रकार दीपक शान्त हो जाता है, उसी प्रकार आयुके क्षय होते ही प्राणीकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है।"[1] उसकी विचारधारा और आगे बढ़ती है—

> वियोगवन्तो भवभोगयोगा नायुः स्थिरं नो नवयौवनं च।
> राज्यं महाक्लेशसहस्रसाध्यं ततो न नित्यं भुवि किंचिदस्ति ॥१३।४
>
> लक्ष्मीरियं वारितरङ्गलोला, क्षणे क्षणे नाशमुपैति चायुः।
> तारुण्यमेतत्सरिदम्बुपूरोपमं नृणां कोऽत्र सुखाभिलाषः ॥१३।५

इस सन्दर्भमें कुमार वरांगको तत्त्वज्ञानके चिन्तन द्वारा विरक्ति हो रही है और यह विरक्ति ही मोक्षका कारण है। सांसारिक असारता एवं स्वार्थपरताके चिन्तनसे आत्मचिन्तनमें भी प्रौढ़ता आती है। तृष्णाका क्षय होनेसे सर्वोपरि सुखकी उपलब्धि होती है। यही कारण है कि कुमार वरांग आरम्भमें सांसारिक भोगोंको वियोग सहित, आयुको अस्थिर और यौवनको चंचल अनुभव करता है। उसे इस प्रकारके दीपकका दर्शन होता है, जिसका तैल समाप्त हो गया है और जो अब शनैः शनैः बुझनेवाला है। अतः यह दीपक ही उद्दीपन है। जलकी तरंगोंके समान लक्ष्मीकी चंचलता, आयुकी क्षीणता, यौवनकी अस्थिरता, अनुभाव है। संचारीभावोंमें धृति, मति, हर्ष, ग्लानि, उद्वेग, दैन्य, असूया आदि भावों की गणना की गयी है। शान्तरसका सन्निवेश इस महाकाव्यमें प्रमुखरूपसे किया गया है। संसारकी आसक्तिका बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है। शान्तरसकी सामग्री पूर्णतया निहित है।

अलंकार नियोजन

भावोंको सजाने और उन्हें रमणीय बनानेके लिए अलंकारोंका प्रयोग आवश्यक होता है। प्रत्येक कवि भावोंमें सजीवता और प्रभविष्णुता लानेके लिए अलंकारोंका नियोजन करता है। कवि वर्धमानने अपने इस चरितकाव्यमें प्रचलित सभी अलंकारोंका व्यवहार किया है। प्रसिद्ध और युक्त उपमान रहनेपर भी भावोत्कर्षमें पूर्णतया सहायक हैं। कवि आरम्भमें ही सत्कवियोंसे निवेदन करता हुआ कहता है कि वे ईर्ष्या

---

[1] प्रकाश्य देशं प्रभया स्वयोग्यं समूलमुन्मूल्य तमोरिपुं च।
तैलक्षये नाशमुपैति दीपस्तथायुषो हानिमवाप्य जीवः ॥१३।३।

द्वेषसे रहित होकर मेरी इस कृतिका संशोधन कर निर्मल बना देंगे। इस कथनकी पुष्टिके लिए कवि उपमाका संयोजन करता हुआ कहता है—

विशुद्धबुद्धया कवयो विमत्सरा विशोध्य सिद्धिं च नयन्तु मत्कृतिम् ।
हिरण्यरेता इव सर्वदूषणं विदूरमुत्सार्य जनेषु काञ्चनम् ॥१।९॥

हिरण्यरेता—अग्नि उपमान है। जिस प्रकार अग्नि सोनेके मैलको जलाकर नष्ट कर देती है और सोना निर्मल निकल आता है, उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धिवाले राग-द्वेषसे रहित होकर इस कृतिका संशोधन कर निर्मल बना देंगे। कविने युवराज वरांगकी तेजस्विता व्यक्त करनेके लिए "ग्रहानिव दिवाकरः"[1]—ग्रहोंमें सूर्यके समान कहा है। सूर्यमें जिस प्रकार प्रताप और प्रकाश होता है, उसी प्रकार युवराज वरांगमें भी प्रताप और प्रकाश है। वह अपने तेज और पराक्रमसे सभीको अभिभूत करता है।

कुमार वरांगके अपहरणका समाचार सुनकर गुणदेवी मूर्च्छित हो पृथ्वीपर उस प्रकार गिर गयी, जिस प्रकार विद्याके नष्ट होनेसे विद्याधरी पृथ्वीपर गिर जाती है। यहाँ "छिन्नविद्येव खेचरी"[2] उपमान द्वारा गुणदेवीके भूमिमें गिरने एवं व्यथित होनेका चित्रण किया है। आकाशमार्गसे विचरण करनेवाली विद्याधरीकी एकाएक विद्या नष्ट हो जाय, तो वह पृथ्वीपर गिर जाती है। गुणदेवी सुख और ऐश्वर्योंके बीच रहती हुई जीवन यापन कर रही है। अकस्मात् उसे पुत्रके अपहरणका समाचार प्राप्त होता है और उसके समस्त सुख दुःखमें परिणत हो जाते हैं। वह मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर जाती है। पौराणिक उपमानों द्वारा नायककी विशेषताओंपर प्रकाश डाला गया है। कुमार वरांग जब सागरवृद्धिके यहाँ कश्चित् भटके नामसे प्रसिद्ध हो जाता है, तो कवि उसके इस रूपकी अभिव्यंजनाके लिए वासुदेवका उपमान प्रयुक्त करता है।[3] कृष्ण जिस प्रकार यदुवंशमें जन्म लेनेपर भी गोपगृहमें वृद्धिगत होनेके कारण गोपाल कहलाये, उसी प्रकार वरांग राज-परिवारमें जन्म लेने पर भी सागरवृद्धिके यहाँ रहनेसे सागरवृद्धिका पुत्र कहलाया।

साहित्यिक उपमानोंकी भी कमी नहीं है। बाण लगनेसे व्रणसे रक्त निकलते हुए योद्धा हाथी पर आरूढ़ हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे जैसे पर्वतके शिखर पर पुष्पित पलाश सुशोभित होता है। आनर्तपुर नगरीकी स्थापना कर राजा वरांग अपनी पत्नियोंके साथ उसी प्रकार सुखसे रहने लगता है, जिस प्रकार इन्द्र देवांगनाओंके साथ विहार करता है। (१२।२)।

उत्प्रेक्षाको योजना १।१९-२१ में की है। यान्तपुरके चैत्यालयमें लगी

---

१. ४।३१ वरांगचरित।
२. ७।२५ वही
३. यो वासुदेवो यदुवंशजन्मा वृद्धिगतो…१।६
४. गजारूढ़ा भटा बाणविद्धा रक्तव्रणाङ्किताः।
विभान्ति गिरिकूटस्थपलाशा इव पुष्पिताः ॥ ८।११६

हुई श्वेत ध्वजाएं वायुके द्वारा आन्दोलित होकर धूपघटोंसे निकलने वाले धूमको प्रतिदिन दूर जानेसे रोकती हैं। स्फटिक मणियोसे निर्मित चैत्यालय स्वर्णदण्डमें लगी हुई ध्वजाओंसे रजतगिरिकी उपमाको धारण करते थे। रूपककी योजना (३।१८) में मुनीन्द्रको "वादिदन्तिदलनैकमृगेन्द्रः" वादिरूपी हाथियोंका दलन करनेके लिए मृगेन्द्र और संशयरूपी पर्वतको खण्डित करनेके लिए वज्रपाणि कहा है। ४।७३ में अर्थान्तरन्यास; ४।६ में वरांगको सोमचन्द्र, सूर्य-सागर और मेरुसे भी बडा सिद्ध करनेसे व्यतिरेक अलंकार एवं ४।४० मे दृष्टान्त अलंकार है। इस प्रकार कविने सभी प्रसिद्ध अलंकारका संयोजन कर अपने भावोंको उत्कृष्ट और प्रभविष्णु बनाया है।

छन्दोयोजना

प्रथम सर्ग १–४३ पर्यन्त वंशस्थ और ४३ से ४५ तक मालिनी छन्द है।
द्वितीय सर्ग १–६१ तक उपजाति और ६२–६३ मंदाक्रान्ता है।
तृतीय सर्ग १–४१ स्वागता और ४२–४३ मन्दाक्रान्ता।
चतुर्थ सर्ग १–९६ अनुष्टुप् और ९७–९८ भुजंगप्रयात।
पचम सर्ग १–१३७ अनुष्टुप् और १३८–१३९ मालिनी।
षष्ठ सर्ग १–६५ उपजाति और ६६–६७ मालिनी।
सप्तम सर्ग १–९८ अनुष्टुप् और ९९–१०० शार्दूलविक्रीडित।
अष्टम सर्ग १–२१२ तक अनुष्टुप् और २१३–२१४ मन्द्राक्रान्ता।
नवम सर्ग १–६२ तक उपजाति और ६३–६४ भुगंगप्रयात।
दशम सर्ग १–५९ तक वसन्ततिलका और ६०–६१ शार्दूलविक्रीडितम्।
एकादश सर्ग १–१०५ तक अनुष्टुप् और १०६–१०७ भुजंगप्रयात।
द्वादश सर्ग १ गीति, २–५४ तक आर्या और ५५–५६ भुजंगप्रयात।
त्रयोदश सर्ग १–५९ उपजाति, ६३–६५ मन्दाक्रान्ता, ६७–७६ तक द्रुतविलम्बित, ७७–८४ उपजाति, ८५–८६ शार्दूल०, ८७ स्रग्धरा और ८८ मे अनुष्टुप् है।

काव्यमें वर्णित जीवन-मूल्य

वरागचरितकी रचनाका उद्देश्य जीवनशोधन है। इस काव्यमें जिन मूल्योंका निरूपण किया गया है, उनमें पूर्णत्व या मोक्षकी प्राप्ति सबसे बड़ा जीवनमूल्य है। यतः मोक्षकी अनुभूतिमें मनुष्य अपनी सीमाओके बन्धनसे मुक्त हो दुःखके पूर्ण अभावकी अवस्थाको प्राप्त होता है। व्यक्ति आध्यात्मिक चेतनाको जाग्रत और पुष्ट कर संयमित जीवन यापन करता है। कवि जीवन-मूल्योंका विश्लेषण करता हुआ कहता है—

सम्यग्ज्ञानं सुचरणयुतं प्राप्तसम्यक्त्वमुच्चै.
पात्रे दानं जिनपतिविभो. पूजनं भावनं च।
धर्मध्यानं तपसि च मतिं साधुसङ्गं वितन्वन्
श्रेयोमार्गप्रकटनपरः श्रीवराङ्गो रराज ॥ ३।४२

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रपूर्वक पात्र—उत्तम अतिथिको दान देना, जिनेन्द्रकी पूजा-भक्ति करना, धर्म—शुभध्यान करना, तपश्चरण करना, साधु—सज्जन और सदाचारीका साथ करना एवं कल्याणकारी मार्गका अनुसरण करना जीवनलक्ष्य है।

कवि आध्यात्मिक जीवन-मूल्योंके साथ लोकजीवनको भी महत्त्व देता है। वह धर्मबुद्धि, गुरु-विनय, मित्र-बन्धु-स्नेह, दीन-अनाथ-करुणाभाव, शत्रुओंके मध्य प्रताप-प्रदर्शनको मानव जीवनके लिए आवश्यक मानता है[1]। जीवनका अन्तिम लक्ष्य भले ही मुक्तिलाभ है, पर संसारके मध्य रहते हुए कठोर श्रम द्वारा संयमित आचार-व्यवहारको जीवनमें उतारना ही जीवनकी उपलब्धि है। सौन्दर्य लालसाकी तृप्तिके लिए कलाओंका सेवन करना भी इष्ट है[2]। "सकलकलागमकुशलो" (१२।५४) द्वारा समस्त कला और शास्त्रोंकी जानकारी जीवनके लिए मंगलमय मानी गयी है। अश्वशिक्षा, आगम अभ्यास (५।८) भी जीवन-मूल्योंमें परिगणित है। विवाह और मैत्रीके उद्देश्योंका विवेचन करते हुए कविने सत्कीर्तिलाभ, कुल-वंशकी उन्नति, शत्रुविनाश, पृथ्वी विजय और राष्ट्रका कल्याण भी जीवन-मूल्योंमें परिगणित किया है[3]। जीवनके लिए मित्रताका मूल्यांकन करता हुआ कवि कहता है—'मित्रतासे लोक अनुकूल होता है, पृथ्वी साध्य होती है, शत्रु आधीन होते हैं, सभी बन्धु-बान्धव स्नेहाधीन होते है और बन्धु-बान्धवोंके बीच लक्ष्मी स्थिर होती है।[4] अतः संसार-संघर्षोंसे पलायन कर तपस्वी जीवन यापन करना ही जीवनका तथ्य नहीं है।

लौकिक दृष्टिसे वरांगकुमारके जीवनचित्रणके प्रसंगमें कविने उसकी प्रवृत्तियोंके माध्यमसे जीवनमूल्योंका निर्देश कर दिया है। वरांग कर्पूर, लवंग, कंकोल, सुपाड़ी, नागवल्ली—पान आदि पदार्थोंका सेवन करता हुआ अपनी पत्नियोके साथ नाना प्रकारके भोग भोगने लगा। अतः स्पष्ट है कि कविकी दृष्टिमे दो प्रकारके जीवन मूल्य हैं—लौकिक और आध्यात्मिक। लौकिक जीवनमूल्योमें निम्न लिखित प्रधान हैं—

कर्पूरकक्कोलवङ्गपूगताम्बूलवल्लीदलमुख्यमिष्टम्।
स्वाद्यं समासाद्य बहुप्रकार भुङ्क्ते स्म भोगान्निजकामिनीभिः॥ २।५७॥
प्रियप्रियालापरसानुविद्धा तद्वाक्सुधापानवियोगभीरुः।
गन्तुं प्रवृत्तस्य गृहं पराया जग्राह काचित्स्वकमध्यधन्या॥ २।५०॥
भोगानुदानान्सुलभान्यथेष्टान् रम्याननेकान्निजकामिनीभिः॥ २।६१॥

---

[1] ३।४३ वराङ्गचरितम्।

[2] कलाकलापसंपूर्णवपुषा वसुधातलम् (४।८)
अभिरामगुणारामैः पूरयन्वसुधातलम् (४।६)।

[3] सत्कीर्तिलाभाय कुलाभिवृद्धयै द्विषां विधाताय जयाय धाऽया (२।१८)

[4] लोकोऽनुकूलो धरणी सुसाध्या मैत्र्या च वश्या रिपवो भवन्ति।
सद्बान्धवाः स्नेहपरा नराणां लक्ष्मीः स्थिरा बन्धुजनेषु सत्सु॥ (२।१६)

इन भोगोंके मध्य कविने "न्यायोपात्तप्रकटविभवाः साधयन्ति त्रिवर्गं" (२।६८) द्वारा न्यायोपात्त धनको ही त्रिवर्गका साधन कहा है। जीवनकी विविध आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए धन आवश्यक है, पर इस धनका अर्जन न्यायानुकूल होना चाहिए। अन्यायोपार्जित वित्तका जीवनके लिए कोई भी महत्त्व नहीं है। अतएव जीवनमूल्योंमें न्यायोपात्तधन, सहिष्णुता, विनयशीलता, धैर्य एवं श्रम (२।६३) को भी स्थान दिया है। "धर्मकर्मरहितस्य च पुंसः संभवन्ति न समीहितकामाः" (३।२५) सिद्धान्त समस्त क्रियाकलापोंको धर्मसापेक्ष मानता है और समस्त मनोकामनाओंकी सिद्धिके लिए धर्मको महत्त्व देता है। विपत्तिमें धैर्य, समरभूमिमें साहस, दान देते समय उदारता और ध्यानमें विवेक रखना जीवनके लिए आवश्यक कर्तव्य है।[1] कर्मके अलंघ्य सिद्धान्तकी भी चर्चा की गयी है और बताया है कि सुख-दु:ख और इन दोनोंकी साधन सामग्री पूर्वोपार्जित कर्मोंके उदयसे ही प्राप्त होती है।[2]

जीवनस्तरको उन्नत बनानेके लिए भक्ष्याभक्ष्य विवेकका भी महत्त्व है। जीवन-मूल्योंमें इस विवेकको भी स्थान प्राप्त है। यत. आध्यात्मिक सौन्दर्यानुभूति इस आभ्यन्तरिक विवेकसे ही होती है। कवि वर्धमानने श्रावकाचारका निरूपण करते हुए अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके परिपालनको सच्चरित्र कहा है। रात्रिभोजनत्याग, शोधित अन्न-जलका ग्रहण करना, मौनसे रहना, नवनीत त्याग, कन्दभक्षण, काजी, पञ्चोदुम्बरफल, वेलफल, केतकी आदि पुष्पोंके भक्षणका त्याग करनेको लिखा है। भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी विचार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[3], उपासकाध्ययन[4], अमितगति श्रावकाचार[5], सागारधर्मामृत[6] और लाटीसंहिता[7] ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। कविने उपासकाध्ययनादि आर्ष ग्रन्थोंसे उक्त जीवन-मूल्यको ग्रहण किया है।

जीवन-मूल्योंमें भक्तिको भी स्थान दिया गया है। यतः वीतरागी या शुद्धात्माओं की उपासना अथवा भक्तिका आलम्बन पाकर मानवका चंचल चित्त क्षणभरके लिए स्थिर हो जाता है, आलम्बनके गुणोंका स्मरण कर अपने भीतर भी उन्हीं गुणोंको विकसित करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। शुद्धात्माके गुणोंसे अनुप्राणित आत्मा मिथ्या

---

[1] धैर्यं विपदि कर्तव्यं साहसं समराङ्गणे।
औदार्यं दानकाले च ध्याने सज्ज्ञानमुत्तमै ॥ ७।७८ ॥

[2] पूर्वोपार्जितकर्मैव कारण सुखदु.खयोः।
कोऽत्र हर्षो विषादो वा ह्यलङ्घ्या कर्मणो गतिः ॥ ७।७३

[3] मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन—६१ श्लो०; भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं १३१ श्लो०; नवनीतं त्याज्यं १६३ श्लो०।—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, रोहतक सस्करण १९३३ ई०।

[4] निशायां वर्जयेद्भुक्तिं—३२५— शिम्बय सकलास्त्याज्याः ३३०—उपासकाध्ययन, ज्ञानपीठ सं०।

[5] अनन्तकीर्ति जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि० सं० १९७९।

[6] अ० ३ श्लो० ११-१६ सागार जबलपुर संस्करण।

[7] आताम्बूलं फलं त्याज्यं—२।३७—७९ लाटी संहिता माणिकचंद्र ग्रन्थमाला।

परिणतिको दूर करने रूपमें पुरुषार्थमें रत हो जाती है। अतः कविने शील, शक्ति, ज्ञान और सुखके भाण्डार आराध्यकी अर्चना करना, उनका प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित कर पूजन-दर्शन करना तथा नवीन जिनमन्दिरका निर्माण कराकर आराधना करना: जीवनमूल्य माना है। यही कारण है कि काव्यका नायक वरांग नवीन चैत्यालयका निर्माण कराकर जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठा करता है और भक्तिभावना द्वारा अपनी अशुभ प्रवृत्तिका विरोध कर शुभ प्रवृत्तिको जागृत करता है। बताया है—

यः संस्नाप्य जिनेशं विधिवत्पञ्चामृतैर्जिनं यजते ।
जलगन्धाक्षतपुष्पैर्नैवेद्यैर्दीपधूपफलनिवहैः ॥ १२।१६ ॥
यो नित्यं जिनमर्चति स एव धन्यो निजेन हस्तेन ।
ध्यायति मनसा शुचिना स्तौति च जिह्वागतैः स्तोत्रैः ॥१२।१७॥

जीवोत्थानके लिए जिन तत्त्वोका उल्लेख किया गया है, उनका सम्बन्ध व्यक्तित्व के गुणात्मक नैतिक धरातलसे है। आरम्भमें कर्मयोगकी महत्ता बतलायी गयी है, पर अन्तमें संन्यासयोग ही प्रधान बन गया है। कवि कहता है कि सांसारिक विभूतियाँ जलकी धाराके समान चंचल हैं, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि वैभवों और तज्जन्य सांसारिक सुखोंके सेवनसे मनुष्यको तृप्ति नहीं प्राप्त होती है। जिस प्रकार नदियोंका जलप्रवाह समुद्रके भाण्डारको भरनेमें असमर्थ है, उसी प्रकार धन-ऐश्वर्यका वैभव भी मनुष्यको सन्तुष्ट करनेमें असमर्थ है (१३।८)। तीनों लोकोमें अत्यन्त शक्तिशाली महर्धि-धारक महान् बली राजा-महाराजा, चक्रवर्त्ती, देव आदि सभीको मृत्युने कवलित किया है। "असारसंसारसुखाभिलाषः[1]" द्वारा संसारका वास्तविक स्वरूप उपस्थित किया गया है। इस प्रकार अन्तिम जीवनमें संन्यासको महत्त्व प्रदान किया है। जीवनका सर्वोत्कृष्ट मूल्य संन्यासरूपमें ही स्वीकृत किया गया है।

उपसंहार

भट्टारक युगकी इस काव्यकृतिमें युगबोध सम्यक् प्रकार प्रतिफलित हैं। कविका हृदय युगसे प्रभावित होते हुए भी मानवमात्रको अपने साथ लेकर चला है। अतः रम्यकथाको सरल और सीधी भाषामें थोड़े-से वर्णनोंके साथ प्रस्तुत किया है। टिमटिमाते तारोंके स्थानपर धूमिल होती हुई दीपक ज्योति भी प्रेरणा और आत्मविकास करनेका संकेत करती है। कविकी दृष्टिमें दीपकका मूल्य भी तारोंके समान ही है। संवेदनाको जागृत करनेके लिए वह प्रकृतिका आवाहन करता है। जीवनमें कटु और मधु दोनों प्रकारके अनुभवोंको अर्जित करनेके लिए नायकको प्रकृतिके सम्पर्कमें आना आवश्यक है। परम्पराका निर्वाह करने पर भी कवि वर्धमानमें अपने युगकी विशेषताएँ वर्तमान हैं।

---

[1] वरांगचरित १२।१२।

१. ज्योतिष और शकुनों[१] के प्रति अधिक आस्था व्यक्त की गयी है। वरांगके जन्म और विवाहके समय केन्द्र और त्रिकोणकी शुद्धि एवं ग्रहोंके सबल होनेकी चर्चा की गयी है। विवाहमें लत्ता, पात, जामित्र (१।३५ तथा २।४२) आदि दोषोंके निराकरण द्वारा शुद्ध योगोंका कथन किया है।
२. विवाहके पश्चात् वरकी माता द्वारा वधुओंकी दूर्वा, जल, गन्ध, अक्षत, दीप आदि मांगलिक द्रव्यों द्वारा (२।४७) आरती उतारी गयी है। इस प्रकारकी आरतीकी चर्चा जटासिंहनन्दीने नहीं की।
३. उत्तम, मध्यम और जघन्य मनुष्योंकी व्याख्याएं तथा युगानुरूप मानव कर्त्तव्यका निरूपण (९।१२-१८)।
४. लोकधर्म—दान, तप, शील, पूजा, मन्त्र-पाठ, परोपकारके निरूपणके साथ कलिकालमें गृहिधर्मकी आवश्यकतापर प्रकाश (ततो भज त्वं गृहिधर्ममेव वपुर्न योग्यं तपसो न कालः (१३।२३-२५)।
५. वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, संगीत कलाओंका युगानुसारी निर्देश (११।५१-६३)। आक्रमणकारी बलवान् राजाके शमनका उपाय कन्याप्रदान (कन्याधनप्रदानेन शमं याति न चान्यथा (११।८४) बताया है।
६. काव्यचमत्कारके हेतु नीतिवाक्योंका नियोजन किया है—"भाग्यं सर्वार्थसाधकम्" (४।६९); "अलङ्घ्या कर्मणो गतिः" (७।७३); "कालेन के के कवलीकृता न" (१३।९) तथा "द्रष्टु करगतां रेखा ध्रियते किन्तु दर्पणः" (४।१८) आदि वाक्य काव्योत्कर्ष उत्पन्न करते हैं।

शान्तिनाथचरितम्[२]

मुनिभद्र द्वारा विरचित शान्तिनाथचरित महाकाव्य है। कविने कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्षके काव्योंमें दोषावलोकन कर इस महाकाव्यकी रचना की है। प्रशस्तिमें कहा है—

> ये दोषान् प्रतिपादयन्ति सुधियः श्रीकालिदासोक्तिषु
> श्रीमद्भारविमाघपण्डितमहाकाव्यद्वयेऽप्यन्वहम्।
> श्रीहर्षामृतसूक्तिनैषधमहाकाव्येऽपि ते केवलं
> यावद्वृत्तविवर्णनेन भगवच्छान्तेश्चरित्रे गुणान् ॥प्रश० १३ पद्य

सम्पूर्ण कथावस्तु १९ सर्गोंमें विभक्त है। काव्यके अधिकांश कथानक नायकके जन्म-जन्मान्तरोंके साथ सम्बद्ध हैं। तीर्थंकर शान्तिनाथका चरित १४वें सर्गसे १९वें सर्गतक—छः सर्गोंमें वर्णित है।

---

[१] शकुनैर्वार्यमाणोऽपि—८।२७ वरांगचरित।

[२] श्री पं० हरगोविन्ददास बेचरदास द्वारा संशोधित और यशोविजयग्रन्थमाला वाराणसी द्वारा वी० नि० सं० २४३७ में प्रकाशित।

रचयिता

मुनिभद्र सूरि बृहद्गच्छके विद्वान् हैं। इस गच्छके गच्छपति मुनिचन्द्र सूरि हुए। इनके पट्टपर कालक्रमानुसार देवसूरि, भद्रेश्वरसूरि, विजयेन्दुसूरि, मानभद्रसूरि एवं गुणभद्रसूरि हुए। गुणभद्रसूरि व्याकरण, छन्द, नाटक, तर्क, काव्य, अलंकार एवं न्याय आदि विषयोंके पारंगत विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता और कवित्व शक्तिका प्रभाव तत्कालीन समस्त प्रमुख व्यक्तियोंपर था। दिल्लीका बादशाह मुहम्मदशाह—मुहम्मद तुगलक इनका बहुत सम्मान करता था। इनकी विद्वत्तासे चमत्कृत होकर उसने इन्हें दस स्वर्णमुद्राएँ भेंट देनी चाहीं, पर इन्होंने भेंट लेनेसे इनकार कर दिया। इन्हीं गुणभद्र सूरिके शिष्य मुनिभद्र हुए। ये भी अपने गुरुके समान ही विद्वान् और कवि थे। तत्कालीन बादशाह फिरोजशाह तुगलक इनकी अत्यन्त प्रतिष्ठा करता था। प्रशस्तिमें बताया है—

> तस्य श्रीगुणभद्रसूरिसुगुरुः पट्टावतंसोऽभवद्,
> यः श्रीशाहिमुहम्मदस्य पुरतः क्ष्मापालचूडामणेः ॥' शा० प्रश० ७
>
> ....
>
> चातुर्यं गुणभद्रसूरिसुगुरोः शास्त्रेषु सर्वेष्वपि। शा० प्रश० ८
>
> ....
>
> तच्छिष्यो मुनिभद्रसूरिरजनि स्याद्वादिसंभावनः।
> श्रीपेरोजमहीमहेन्द्रसदसि प्राप्तप्रतिष्ठोदयः ॥ शा० प्रश० ९

स्थितिकाल

कवि मुनिभद्र सूरिने अपने शान्तिनाथ चरित महाकाव्यमें रचनाकालका निर्देश किया है। अतः इनके स्थितिकालके सम्बन्धमें विवाद नही है। प्रशस्तिमें लिखा है—

> अन्तरिक्षरजनीहृदीश्वरब्रह्मवक्त्रशशिसंख्यवत्सरे।
> वैक्रमे शुचित योजयातिथौ शान्तिनाथचरितं व्यरच्यत ॥ शा०प्र० १७ पद्य

अर्थात् इस महाकाव्यकी रचना वि० सं० १४१० (सन् १३५३ ई०) में हुई है। कवि फीरोजशाह तुगलकके द्वारा सम्मानित था। इतिहासमें बताया गया है कि मुहम्मद बिन तुगलक जब सिन्धके विद्रोहका दमन करनेके प्रयत्नमें सिन्धुनदके किनारे छावनी डाले पड़ा था, तो वह बीमार पड़ गया और वहीं सन् १३५१ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। वह निस्सन्तान था, अतः उसका चचेरा भाई फीरोजशाह तुगलक गद्दी पर आसीन हुआ। फीरोजशाह[१] का राज्यकाल सन् १३५१-१३८८ ई० है। कविको इसी बादशाहके द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। अतः काव्य रचनाके समय कविकी अवस्था ४० वर्षके लगभग अवश्य रही होगी। इस प्रकार कविका जन्म सन् १३१३ ई० आता है।

---

१. भारतीय इतिहास ' एक दृष्टि; भारतीय ज्ञानपीठ १९६१ ई०, पृ० ४१४-१५।

फीरोजशाह तुगलक सन् १३८८ ई० तक जीवित रहा है, पर कविका निधन इसके पूर्व ही हो चुका था। शान्तिनाथ काव्यका संशोधन राजशेखर सूरिने किया है। इन राजशेखर सूरिका प्रबन्धकोश[1] नामक प्रबन्ध ग्रन्थ उपलब्ध है। इसका रचनाकाल वि० सं० १४०५ (सन् १३४८ ई०) है।

कथावस्तु

रत्नपुर नरेश श्रीषेणकी अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता नामकी दो पत्नियाँ थीं। उनके इन्दुषेण और बिन्दुषेण नामके पुत्र थे। अचलग्रामवासी धरणिजट ब्राह्मणकी कपिला दासीके गर्भसे कपिल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। बड़ा होनेपर कपिल रत्नपुर जाता है और वहाँ सत्यकिकी पाठशालामें ठहरता है। उसकी असाधारण विद्वत्तासे प्रभावित होकर तथा उसे विप्र समझ सत्यकि अपनी पुत्री सत्यभामाका विवाह उसके साथ कर देता है। एक बार नगरके बाहर होनेवाले प्रेक्षणकको देखकर कपिल रात्रिमें घर लौटता है। मार्गमें ही वर्षा होने लगती है। वह अपने वस्त्र उतार कर बगलमें छिपा लेता है और नग्न होकर घर आता है। सत्यभामा उसे दूसरा वस्त्र देती है, किन्तु वह यह कहकर टाल देता है कि मेरे वस्त्र भीगे नहीं हैं। सत्यभामा उसके इस व्यवहारसे असन्तुष्ट होती है और उसे नीचकुलमें उत्पन्न जानकर दुःखी होती है।

धरणिजट ब्राह्मण अपने पुत्र कपिलके यहाँ आता है। सत्यभामाके अत्यन्त आग्रह करनेपर वह कपिलके दासीपुत्र होने रहस्यका उद्घाटन करता है। पतिको अकुलीन जानकर सत्यभामा राजा श्रीषेणकी सहायतासे पतिसे छुटकारा प्राप्त करती है और श्रीषेणके अन्त.पुरमे रहकर धर्माचरण करती है। इसी समय राजपुत्र इन्दुषेण और बिन्दुषेण अनन्तमती वारांगनाके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर युद्ध करने लगते हैं। राजा उन्हें समझानेकी बहुत चेष्टा करता है, पर उनके युद्धसे विरत न होनेके कारण निराश होकर अपनी पत्नियों सहित आत्महत्या कर लेता है। कपिलके भयसे सत्यभामा भी आत्महत्या कर लेती है द्वितीय भवमें श्रीषेण—अभिनन्दिता एवं शिखिनन्दिता—सत्यभामा परस्परमें युग्मी बनते है और मृत्युके अनन्तर तृतीय भवमें देव होते हैं।

एक विद्याधर आकाशसे उतरता है और अनन्तमती गणिकाको इन्दुषेण और बिन्दुषेणकी पूर्व भवकी बहन बतलाता है। इस रहस्यको सुनकर वे दोनों युद्धसे विरत हो प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं और तपश्चरण कर कैवल्य प्राप्त करते है।

स्वर्गसे च्युत होकर श्रीषेणका जीव चक्रवालपुराधीश अर्ककीर्तिका पुत्र अमिततेज सत्यभामाका जीव अर्ककीर्त्तिकी पुत्री सुतारा, अभिनन्दिताका जीव पोदनपुराधीश त्रिपृष्ठका पुत्र विजय और शिखिनन्दिताका जीव त्रिपृष्ठकी पुत्री ज्योतिप्रभा होते हैं। सुताराका विवाह विजयसे और ज्योतिःप्रभाका विवाह अमिततेजसे होता है। कपिलका

---

[1] सं० मुनि जिनविजयजी, अहमदाबाद व कलकत्ता, १९३५ ई०।

जीव विद्याधरेश अशनिघोष होता है। एक बार सुताराको लेकर विजय विहारके लिए ज्योतिर्वनमें आता है। वहाँ पूर्व जन्मके स्नेहके कारण अशनिघोष कंचनमृग बनकर विजयको धोखा देता है और सुताराका अपहरण कर लेता है। विजय अमिततेजकी सहायतासे अशनिघोषको पराजित कर सुताराको प्राप्त कर लेता है और राजभवनमें लौट आता है।

विजय और अमिततेज एक चारणमुनिसे अपनी छह दिनकी आयु शेष जानकर दीक्षा धारण कर लेते हैं और तपस्या करनेके कारण स्वर्गलाभ करते हैं। स्वर्गसे च्युत होकर अमिततेज और विजयके जीव क्रमशः शुभानगरीके राजा स्तिमितसागरके पुत्र अपराजित और अनन्तवीर्यके रूपमें उत्पन्न होते हैं। स्वयम्प्रभाचार्यकी देशनासे प्रभावित होकर स्तिमित सागर अपने पुत्र अनन्तवीर्यको राज्य देकर दीक्षा धारण कर लेता है।

अनन्तवीर्यकी सुन्दरी नर्तकी बर्बरी और किरातीके नृत्यगानकी प्रशंसा सुनकर विद्याधरेश दमितारि अनन्तवीर्यके यहाँ दूत भेजकर उनकी माँग करता है। अनन्तवीर्य उसकी माँग स्वीकार कर लेता है। स्वयं तथा अपराजित विद्याबलसे किराती और बर्बरीका रूप धारण कर दमितारिके यहाँ जाते हैं। दमितारि उन्हें अपनी पुत्री कनकश्रीकी नृत्य-संगीत-शिक्षाके लिए नियुक्त करता है। कनकश्री अनन्तवीर्यपर मुग्ध हो जाती है और अनन्तवीर्य उसका अपहरण करता है। फलस्वरूप दमितारि और अनन्तवीर्यमें युद्ध होता है, जिसमे दमितारि मारा जाता है। अनन्तवीर्य अर्धचक्री बनता है। विषयासक्त रहनेके कारण वह नरक जाता है। अनन्तवीर्यका जीव नरकसे निकल कर गगनवल्लभपुर नरेशके यहाँ मेघनाद होता है। मेघनाद प्रव्रजित होता है और तपस्याके प्रभावसे अच्युत स्वर्गमें देव होता है।

स्वर्गसे च्युत होकर अपराजिताका जीव रत्नसंचयपुरके राजा क्षेमंकरके पुत्र वज्रायुधके रूपमें तथा अनन्तवीर्यका जीव वज्रायुध पुत्र सहस्रायुधके रूपमें जन्मग्रहण करता है। क्षेमंकरके दीक्षा ग्रहण कर लेने पर वज्रायुध राजा बनता है। वज्रायुध दिग्विजय कर चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है। वज्रायुध अपने पुत्र सहस्रायुधको राज्य देकर प्रव्रज्या धारण कर लेता है। बहुत दिनों तक राज्यसुख भोगकर सहस्रायुध भी दीक्षा धारण करता है। मृत्युके अनन्तर दोनोंको देवजाति प्राप्त होती है। स्वर्गसे च्युत होकर वज्रायुध और सहस्रायुधके जीव पुण्डरीकिणीपुरीके नरेश धनरथके पुत्र मेघरथ और दृढरथ होते हैं। धनरथके दीक्षा ग्रहण कर लेनेपर मेघरथ राज्य प्राप्त करता है।

ईशानेन्द्रके मुखसे मेघरथकी प्रशंसा सुनकर एक देव उनकी परीक्षा लेने आता है। उसकी मायासे प्रेरित हो एक श्येनत्रस्त कपोत आकर मेघरथकी गोदमें गिरता है और मनुष्य-वाणीमें अभय माँगता है। मेघरथ कपोतको अभय प्रदान करता है और उसके भारके बराबर अपना मांस श्येनको देनेके लिए शरीरसे मांस काट-काटकर तुलापर रखता है। कपोतके भारी होनेपर वह स्वयं तुलापर बैठ जाता है और श्येनसे कपोतके बदलेमें अपनेको खानेकी प्रार्थना करता है। मेघरथकी दया और धर्मप्रेमको

देख देव प्रसन्न हो जाता है और प्रकट होकर क्षमा-याचना करता है। इस घटनासे मेघरथको विरक्ति हो जाती है। वह अष्टम तप धारण कर ध्यानस्थ हो जाता है। ईशानेन्द्रकी सुन्दरी पत्नियाँ अतिरूपा और सुरूपाकी काम-चेष्टाएँ भी उसको ध्यानसे विचलित करनेमें असमर्थ सिद्ध होती हैं। इसी समय उद्यानमें घनरथ मुनिका आगमन सुनकर मेघरथ उनकी वन्दनाके लिए आता है।

घनरथकी देशना सुनकर मेघरथ और दृढरथ प्रव्रजित हो जाते हैं और घोर तपश्चरण द्वारा कर्मोंकी निर्जरा कर सर्वार्थसिद्धि विमानमें जन्म धारण करते हैं। वहाँसे च्युत होकर मेघरथका जीव हस्तिनापुरके राजा विश्वसेनकी पत्नी अचिराके गर्भसे तीर्थंकर शान्तिनाथके रूपमें जन्म ग्रहण करते हैं। शान्तिनाथके युवक होनेपर विश्वसेन दीक्षा ग्रहण कर लेता है और शान्तिनाथ राजा बनते हैं। दृढरथका जीव शान्तिनाथके पुत्र चक्रायुधके रूपमें अवतीर्ण होता है। शान्तिनाथ दिग्विजय करते हैं। षट्खण्डके सभी राजा उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। छह खण्ड पृथ्वी उनके वश हो जाती है और वे चक्रवर्त्ती बन जाते हैं। लौकान्तिक देवों द्वारा वैराग्यके उद्दीप्त होनेपर शान्तिनाथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और चक्रायुधको राज्य प्राप्त होता है।

सुमित्र भूपतिके यहाँ शान्तिनाथकी प्रथम पारणा होती है। वे षष्ठ तप ग्रहण करते हैं। कर्मशृंखलाएँ टूटने लगती हैं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। उनकी समवशरण सभा देवों द्वारा निर्मित होती है और वे समस्त प्राणियोंके कल्याणार्थ अपनी देशना आरम्भ करते हैं। चक्रायुध तीर्थंकरकी देशनासे प्रभावित हो मोक्षमार्गको अपनाता है। तीर्थंकर शान्तिनाथ शत्रुंजय गिरिपर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।

कथावस्तुका स्रोत

इस महाकाव्यकी कथावस्तु मुनिदेव सूरिकृत शान्तिनाथचरितसे संग्रहीत है। कविने कथास्रोतके सम्बन्धमे स्वयं लिखा है—

पूज्यश्रीमुनिदेवसूरिरचितश्रीशान्तितीर्थेश्वर-
प्रख्याताद्भुतकाव्यदर्शनतया काव्यं मयेदं कृतम् ।
उत्सूत्रं यदि भावि किंचिदपि तद् नाऽऽदेयमेतत् सताम्
स्याद् नूनं न च निर्वृतिं रचयतीत्यालोच्य बुद्ध्याधिकम् ॥
—प्रशस्ति १० पद्य

स्पष्ट है कि इस काव्यकी समस्त अवान्तर कथाएँ मुनिदेव सूरिके शान्तिनाथ चरितसे ग्रहण की गयी हैं। दार्शनिक तत्त्व और धर्म सिद्धान्त भी उक्त काव्यसे लिये गये है।

कथावस्तुको मुनिदेव सूरिके शान्तिनाथचरितसे ग्रहण कर भी कविने प्रौढ अभिव्यंजना और सशक्त भाषा शैली द्वारा इस काव्यमें नया जीवन डाल दिया है। पुरानी घटनाओंको भी काव्यके रम्य वातावरणमें इस प्रकार उपस्थित किया गया है, जिससे वे नयी प्रतीत होती है। कथानककी विविधता और व्यापकता श्लाघ्य है।

कथावस्तुका गठन

इस काव्यके कथानकमें कार्यव्यापारकी एकता और स्वयं अपनेमें परिपूर्णता पायी जाती है। समयकी गति घटनावलीको खोलती गयी है। शान्तिनाथका जीव कितने जन्मोंकी साधनाके उपरान्त मेघरथ होता है। सर्वार्थसिद्धि विमानमें जन्म ग्रहण कर पुण्यातिशयका उपभोग करता है। वहाँसे च्युत हो तीर्थंकर शान्तिनाथ होता है। अतः स्पष्ट है कि मूल शान्तिनाथके कथानकके चारो ओर समस्त घटनाएँ बेलकी भाँति छायी हुई है। रत्नपुरनरेश श्रीषेणसे उपकथाके रूपमें जन्मान्तरकी कथाएँ आरम्भ होती हैं। श्रीषेणके कथानकको सरस बनानेके लिए कपिल और सत्यभामाकी अवान्तर कथा जोडी गयी है। श्रीषेण सत्यभामाको अपने यहाँ प्रश्रय देता है। कपिलका आख्यान तत्कालीन रूढिगत मान्यताओंपर प्रकाश डालता है।

प्रस्तुत काव्यका कथानक सरल रेखामे घटित नही हुआ है। घटनाओंमें उतार-चढाव है। बिन्दुषेण और इन्दुषेणका अनन्तमती वरागनाके अनिन्द्य लावण्यको देखकर युद्धमें रत हो जाना और पिता श्रीषेण द्वारा अनेक प्रकारसे समझाये जानेपर भी उनका अपनी हठको न छोड़ना घटनाक्रमको वक्र बना देता है। श्रीषेण जो आत्मसाधना करना चाहता है, आत्महत्या करनेके लिए बाध्य हो जाता है। फलतः साधनाकी सीधी रेखा वक्र हो जाती है। आत्महत्याके पापके कारण वह नरक जाता है और कथावस्तु वक्रगतिसे आगे बढ़ती है।

काव्यका प्रारम्भ कपिल और सत्यभामाके प्रणयमे होता है। कपिल अपनी प्रेयसी सत्यभामाको अगले भवमे भी प्राप्त करनेका यत्न करता है। श्रीषेण जो अपनी साधना द्वारा तीर्थंकर शान्तिनाथ बनता है, घटनाक्रमसे सासारिक प्रपंचमें फँस जाता है, फलत. कथावस्तुको विकसित होनेके लिए पर्याप्त धरातल प्राप्त होता है। जीवनके विविध व्यापारोका समावेश इस काव्यमे हुआ है। कविने जिस जीवन व्यापारको ग्रहण किया है, उसे पर्याप्त सरस बनाया है।

कविको मर्मस्थलोकी पहचान भी है। यो तो इस काव्यमे कई मर्मस्थल हैं, पर एक-दो मर्मस्थलका उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा। विजय सुताराको लेकर वनविहारके हेतु ज्योतिर्वनमे जाता है। वहाँ पूर्वजन्मके स्नेहके कारण अशनिघोष कंचनमृग बनकर विजयको धोखा देता है और सुताराका अपहरण कर लेता है। यह स्थल अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है। रागात्मक भावोंका उत्थान-पतन एवं मानसिक द्वन्द्वोका सहयोजन बड़ी ही कुशलताके साथ किया गया है। सुतारा पूर्वजन्मसे ही अशनिघोषसे घृणा करती आ रही है, वह कुलीन नारी है। अतएव उसका आचरण बलात्कारके समय भी परिवर्तित नही हो सकता है। इस सन्दर्भमें प्रस्तुत किये गये मानसिक तनाव और रागात्मक भावोके उदात्तरूप काव्य सम्पत्तिके उत्तम उपकरण हैं। विरोधी भावोंकी पारस्परिक टकराहटने काव्य-संवेदनको दुगुणित कर दिया है।

मेघरथकी धार्मिक परीक्षा स्वयं एक काव्य है। बाज और कपोतके पुरातन आख्यानको निबद्ध कर दया और मानवताका अपूर्व संगम उपस्थित किया है। मनोवेग बिजलीके झूलेके समान एक ही भवमें कई चक्कर लगा लेता है। अतः यह सन्दर्भ भी पर्याप्त सरस है। कथावस्तुमें पूर्वापर अन्विति-क्रम और प्रसंग विधान कौशल पूर्णतया पाया जाता है। कार्यव्यापारोंके चित्रणोंने घटनाओंका स्वरूप प्राप्त नहीं किया है। अन्तिम सर्गोंकी कथावस्तु अवरुद्ध-सी है। यतः शान्तिनाथके चक्रवर्तित्वके अनन्तर दीक्षित होना, उनका तपश्चर्या करना, केवलज्ञान प्राप्त करना तथा निर्वाण प्राप्त करना प्रभृति कृत्य नीरस और घटनाशून्य है। अतएव अन्तिम सर्गोंकी कथावस्तु शिथिल है। मेरुदण्डके समान कथावस्तुमें पूर्णतया दृढता नही है। आरम्भमे घटनाओंमें तीव्र घात-प्रतिघात है, पर अन्तमें धर्मचर्चा, विराग भाव और अलौकिक घटनाओंका रंग अधिक गाढा हो गया है। फलतः शिथिलता आ गयी है। समस्त कथावस्तुको एक साथ देखने-पर उसका विन्यास सुगठित प्रतीत होता है।

महाकाव्यत्व

शान्तिनाथचरितमे महाकाव्यके समस्त शास्त्रीय लक्षण वर्तमान है। कथा सर्गबद्ध है, उन्नीस सर्ग है। सर्गान्तमें छन्द-परिवर्तन पाया जाता है। सन्ध्या, सूर्य, रजनी, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, ऋतु, पर्वत, वन, समुद्र, युद्ध, प्रयाण, संयोग, वियोग, जन्मोत्सव आदिका वर्णन पाया जाता है। आरम्भमे मंगल नमस्कार किया गया है। सज्जनोंका गुण कथन और खलोकी निन्दा भी वर्तमान है। समग्र जीवनकी कथावस्तु-को निबद्ध किया है। नाट्य सन्धियोंका सद्भाव एवं जीवनके विविध-पक्षो और घटनाओंका अंकन भी इस काव्यमे निहित है।

धर्मप्रचार और चरितविकास इस काव्यका उद्देश्य होनेपर भी वस्तु-वर्णनोमे कविने काव्य चमत्कार उत्पन्न करनेका पूर्ण प्रयास किया है। यहाँ कुछ काव्य-चमत्कारोका वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। कवि हेमन्तका चित्रण करता हुआ कहता है—

मम प्रकाशेन निरर्थकेन किं जिनस्य यस्मिन् न जनिर्भविष्यति।
इतीदृशं दुःखमरं क्षयं दिनं दिने दिने यत्र दधार तुच्छताम्॥ १३। ७१

हेमन्तमें जिनेश्वरका जन्म न होनेसे हेमन्तके दिन अपने प्रकाशकी निरर्थकता समझते हैं। इसी कारण वे दिनानुदिन क्षीण होते जाते हैं।

कवि वर्षामें वधूका आरोप करता हुआ कहता है—

शिखण्डकान् धारयतोऽपि पक्षिणः प्रनर्तयन्ती घनगर्जिनादनात्।
प्रसह्य हंसानपि या विदेशगान् स्वरूपसन्दर्शनतः प्रकुर्वती ॥१।१२०
समुन्नमत्पीनपयोधरा रसं प्रपुष्णती केतकपत्ररोचना।
प्रवर्त्तयन्ती सुमनोविकाशनं वधूरिव प्रावृडुपागमत्तदा ॥१।१२१

प्रावृट्को वधूके रूप प्रस्तुत कर प्रकृतिमें मानवीयता द्वारा चमत्कारका सृजन किया है।

उद्दीपनके रूपमें वसन्तका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

प्रोल्लासयन् कामिमनांसि कामं मानं निरस्यन्नपि मानिनीनाम्।
उन्मादयन् भृङ्गकुलानि पुष्पैरन्येद्युरागात् स ऋतुर्वसन्तः ॥१०।४२

कामी व्यक्तियोंके मनको उल्लसित करता हुआ और मानिनियोंके मानका खण्डन करता हुआ वसन्त आया। वसन्तके आनेसे पुष्पोंके द्वारा भ्रमर उन्मादको प्राप्त होने लगे। वसन्तने प्रकृतिमें सर्वत्र उल्लास व्याप्त कर दिया, अतः जड़-चेतनका भेद-भाव लुप्त होनेसे सभीमें काम-सम्बन्धी तनाव उत्पन्न हो गया है।

कवि शान्तिनाथके नख-शिखका वर्णन करता हुआ कहता है—

आस्यं पीयूषसिन्धुः सुवचनममृतं मौक्तिकानि द्विजाली
बिम्बामौष्ठप्रवालव्रततिकिशलयौ श्मश्रु तालीवनानि।
शुण्डादण्डानुकारा शमसलिलगजस्यैव नासा विराज-
च्चक्षुर्वीचीप्रपञ्चौ जयति जिनपतेर्हास्यडिण्डीरपिण्डः ॥१४।१९१॥

शान्तिनाथका मुख अमृतसमुद्र, वचन अमृत, दन्तपंक्ति मोतियोंके समान, ओष्ठ प्रवाल या किशलयके समान, भुजदण्ड हाथीके शुण्ड-दण्डके समान, गैंडाहाथीके समान नाक, आँखें लहरोंके समान और उनका हास्य फेनके समान उज्ज्वल है।

कविने इस काव्यमें वर्णनात्मक चमत्कारोंकी अपेक्षा कथावस्तुकी भूल-भुलैयापर विशेष ध्यान दिया है। अतः कथानककी विविधता और व्यापकतामें पाठकका मन रम जाता है।

रस-भाव नियोजन

भौतिक सृष्टिमें मन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका इन्द्रजाल है, पर कवि उनमें कुछ विशिष्ट क्षणोंकी मनःस्थिति, वातावरण, भावना, कल्पना और सुख-दुःख लेकर काव्यका सृजन करता है। अतएव उसे अपनी चित्तवृत्तिको व्यक्त करनेके हेतु अनेक विषयों, प्रसंगों, व्यक्तियों और वातावरणोंका उपयोग करना पड़ता है। इन विशिष्ट प्रसंगों और वातावरणोंसे ही विभिन्न प्रकारकी भावनाएँ पाठकोंके मनमें उत्पन्न होती हैं। वस्तुतः भावों और विचारोंको सजीव बनानेका कार्य काव्य द्वारा ही होता है। बाह्य जगत्के साथ भीतरके मानस जगत्का चित्रण भी इसमें रहता है। अतः अन्तस्के भावोंका विश्लेषण काव्यमें पाया जाता है।

काव्यमें भावतत्त्व सबसे अधिक प्रभाव उत्पन्न करनेवाला है। भाव ही कविकी कल्पनाका प्रेरक है, छन्दके स्वरूपका विधायक है एवं शब्दप्रवाहके उत्सका खोलनेवाला है। भावकी तीव्रता अभिव्यक्तिकी उद्दीपक है। भाव मनोवेगोंको संस्कार रूपमें प्रतिष्ठित, स्मृत और पुनः अनुभूत स्वरूप प्रदान करता है। भाव संक्रामक होते हैं। पर

इनको साकार रूप देनेवाले शब्द, अर्थ और कल्पनातत्त्व है। बिना किसी बुद्धि-चमत्कार या बौद्धिक प्रयत्नके भी भावतत्त्वका गहरा प्रभाव काव्यमें रहता है।

कवि मुनिभद्र सूरिने नवरसात्मक इस काव्यमें भावोंका सुन्दर विवेचन किया है। भय, अनुराग, करुणा, क्रोध, आश्चर्य, उत्साह, शम, हास और घृणा इन नौ भावों-की सुन्दर अभिव्यक्ति पायी जाती है। वासनात्मक स्थित भाव किसी निमित्त विशेषके मिलते ही उद्‌बुद्ध हो जाते हैं।

इस काव्यका मुख्य या अंगी रस शान्त है और गौण या अंग रूपमें सभी रसों-का परिपाक पाया जाता है।

शृंगार रस

कवि मुनिभद्रने इस काव्यमें अंगरूपमें शृंगारका विवेचन किया है। कामविचार-की अतिशयताका निरूपण सरस रूपमें प्रस्तुत किया है।[1] प्रेमियोंके मनमें संस्कार-रूप-से वर्तमान रति या प्रेमको रसावस्था तक पहुँचा कर आस्वाद्य योग्य बनाया है। कविने कनकश्री और अनन्तवीर्यके मिलनमें संयोग शृंगारका सुन्दर चित्रण किया है। यथा—

समं स तामी रमते स्म भूपभूः शशीव ताराभिरुदित्वरद्युतिः।
रसैरनेकैः परिवीतविग्रहस्तरङ्गिणीभिर्निधिरम्भसामिव ॥ ९।१८१
नितान्तमन्तःपुरमध्यवर्तिनो विनिर्मिमाणस्य मिथ. प्रहेलिकाः।
समं वधूभिर्नृपतेस्तनूभुवः कदाचिदासीच्छरदागमस्ततः ॥ ९।१८२

इस सन्दर्भमें अनन्तवीर्य आलम्बन है। राजभवनका एकान्त वातावरण और अनन्तवीर्यकी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव, कनकश्रीका कटाक्षपात, नेत्रोंका चमकाना आदि अनुभाव एवं हर्ष, व्रीडा आदि संचारी हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी भावोके संयोगसे कनकश्रीकी हृदयस्थ रति संयोग शृंगारके रूपमे परिणत होती है।

करुणरस

सर्प दंशन द्वारा सुताराकी मृत्यु देखकर विजय नाना प्रकारसे विलाप करता है। कविने इस मार्मिक प्रसंगमे करुण रसकी सुन्दर योजना की है। यथा—

हंसेन मुक्तां नलिनीमिवासौ तां प्रेयसीं प्रेक्ष्य पपात भूमौ।
आस्वादितोन्मत्तकवन्मुमूर्छ पद्मोपलम्भे प्रथमं निदानम् ॥ ५।९७
पद्माकरास्फालननित्यशैत्यगन्धोद्धुरारामसमीरणेन।
स प्राप्तचैतन्यभरो धरेन्द्रश्चक्रे विलापानिति मुक्तधैर्यः ॥ ५।९८

इस सन्दर्भमे प्रियावियोग आलम्बन है। निर्जीव शरीरका पृथ्वी पर पड़ा देखना, उसके प्रेमका स्मरण करना, उसके अनिन्द्य लावण्यका रह-रह कर स्मरण आना

---

[1] शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥—ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत ८ का० ज्ञानमण्डल संस्करण सन् १९६२।

उद्दीपन विभाव है। मूच्छित होना, अधीर होकर विलाप करना, अपने वैभवकी निन्दा करना आदि अनुभाव हैं। ग्लानि, उद्वेग, विषाद, उन्माद आदि संचारी है। स्थायी भाव शोक है। विभाव, अनुभाव, संचारी आदिके द्वारा स्थायीभाव शोक पुष्ट होकर करुणरसकी अभिव्यक्ति करता है।

रौद्ररस

सुताराका अपहरण सुनकर अमिततेज क्रोधान्ध हो जाता है। उसे हिताहितका विचार नही रहता। उसके मनमें प्रतिशोधकी भावना जागृत हो जाती है। इस सन्दर्भमें रौद्ररसकी अभिव्यंजना हुई है। यथा—

> कुर्वंल्ललाटे भ्रुकुटिं प्रकोपात्ताम्रीकृतापाङ्गविलोचनास्यः।
> ऊचेऽर्ककीर्तिप्रभवक्षितीशः संरम्भवान् श्रीविजयं प्रतीदम् ॥ ५।११६
> आदाय कस्तक्षकमौलिरत्नं कोटीरकोटेः कुरुतां विभूषाम्।
> सौपर्णपक्षान् परिगृह्य तूर्णं बाणान् सपक्षांश्च जिर्जाविपुः कः ? ॥ ५।११७

प्रस्तुत प्रसंगमें सुताराका अपहरण आलम्बन है। अशनिघोष द्वारा छला जाना उद्दीपन है। अमिततेजके मुखमण्डलपर लाली दौड़ आना, उसकी भौंहोंका चढना, आँखें तरेरना, दाँत पीसना, विपक्षियोको ललकारना आदि अनुभाव है। उग्रता, अमर्प, चंचलता, उद्वेग, आवेग आदि संचारी भाव है। इस प्रकार आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सचारियोसे पुष्ट क्रोध स्थायीभाव रौद्ररसको अभिव्यंजित करता है।

वीररस

विजय और अशनिघोषके युद्ध प्रसंगमे वीररसकी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। यथा—

> आदेशतः श्रीविजयस्य राज्ञस्तूर्याण्यवाद्यन्त रणोन्मुखानि।
> यन्नादमाकर्ण्य भटा. समग्राः सन्नह्य सन्नह्य समागमंश्च ॥ ५।१४६
> संग्रामतूर्येषु नदत्सु हर्षाद्वीरा दधु कण्टकपेटकानि।
> तैरेव तत्कङ्कटबन्धनानि त्रुट्यन्ति भूयस्समयोजयंश्च ॥ ५।१४७

यहाँ अशनिघोप आलम्बन है। सुताराका अपहरण, रणप्रयाणकी आज्ञा एवं संग्रामतूर्यका बजना उद्दीपन है। शूरवीरोका एकत्र होना, कवचधारण करना आदि अनुभाव हैं और गर्व, आवेग, औत्सुक्य, हर्ष संचारीभाव है। उत्साह स्थायी भाव है।

भयानकरस

भयंकर परिस्थितिके कारण भय उत्पन्न होता है। इसके मूलमें संरक्षणकी प्रवृत्ति पायी जाती है। भय सहचर भावना है और उसकी सहज प्रवृत्ति पलायन या

विवर्जन है। विकरालता या प्रबलता भयके कारण हैं। प्रस्तुत महाकाव्यमें भयंकराकृति पुरुषके चित्रणमें इस रसका परिपाक हुआ है। यथा—

अथो शिवासंहतिवासितानि घोराण्यभूवन् परितोऽशिवानि ।
वेतालमालाः कलिताट्टहासं शब्दान् निचक्रुर्भयबीजभूतान् ॥ १६।११७
एकस्तदन्तर्निरगात् करालाकारान्धकारावजयी जयेनः ।
कृशोदरोऽप्युद्धुषितोर्ध्वकेशः कठोरबाहुद्वयदीर्घजङ्घः ॥ ।६।११९

भयानक पुरुष आलम्बन विभाव है। भयानक पुरुषके विकराल शरीरकी विलक्षण आकृति, भयोत्पादक व्यवहार उद्दीपन है। रोमांच, स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य आदि अनुभाव हैं। शंका, चिन्ता, ग्लानि, आवेग प्रभृति संचारी हैं। भय स्थायी भाव है।

शान्तरस

इस काव्यका अंगी रस शान्त है। पात्रोंका निर्वेद भाव छोटेसे निमित्तके मिलते ही उद्बुद्ध हो जाता है। उपदेश श्रवणसे तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होती है और संसारका यथार्थ स्वरूप नेत्रोंके समक्ष उपस्थित हो जाता है। फलतः आत्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्तिका साधन बनता है। अमिततेजको जब अपनी २६ दिनकी आयुका पता चलता है, तो वह संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हो जाता है। इस सन्दर्भमें शान्तरसके स्थायीभाव निर्वेदकी पूर्ण पुष्टि हुई है[1]। यथा—

दुर्लभं मनुजजन्म हारितं हा ! प्रमादमदसंगमेन नौ ।
ईदृशं कथमहो ! निरर्थकं सर्वशस्यपुरुषार्थसाधनम् ॥ ७।११३
अन्तरेण परमायुरर्जना, श्रेयसो वितनुते न योग्यताम् ।
वेश्मनि ज्वलति जातवेदसा कस्य हास्यमपि नान्धुनिर्मिति. ॥ ७।११४
घस्रमात्रमपि सेवितं व्रतं भावतो भवति निर्वृतिप्रदम् ।
दीपिका विरचितापि किं गृहे नान्धकारनिकर निरस्यति ॥ ७।११६

मुनि द्वारा आयुके सम्बन्ध में कथन—आलम्बन भाव है। गत जीवनके प्रमादको नष्ट करनेका विचार, मुनिसान्निध्य उद्दीपन विभाव है। पश्चात्ताप करना, राज्य त्याग कर व्रत ग्रहण करना अनुभाव हैं। उद्वेग, विषाद आदि संचारी है। निर्वेद, जिसकी उत्पत्ति तत्त्वज्ञानसे हुई है, स्थायीभाव है।

शान्तिनाथको विरक्ति तथा साधनाप्रकार भी शान्तरसमें शामिल है। प्रस्तुत काव्यकी रसगतविशेषता यह है कि शृंगार, रौद्र, वीर आदिका पर्यवसान शान्तरस में ही होता है। कोई भी पात्र एक छोटेसे निमित्तके मिलते ही तात्त्विक चिन्तन आरम्भ कर देता है। वह किसी मुनिके समक्ष जाकर व्रत ग्रहण कर आत्मसाधना करता है। सासारिक स्थितिमें कामसुख, यश, बल, धनार्जन करता हुआ अभ्युदयको

---

[1] विशेष जाननेके लिए देखें—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० २३१, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, सन् १९६२ ।

ओर बढ़ता है। पात्रके मनमें यह विश्वास है कि एक दिनकी व्रतसाधना भी जन्म-मरणके दुःखोंसे छुडा सकती है। अतः कवि पात्रके भावों, विचारों और क्रियाओंका ऐसा रसमय विश्लेषण उपस्थित करता है, जिससे तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेदकी अनुभूति होने लगती है।

निर्मल चित्तवृत्तिकी विशेषता बतलाते हुए कविने लिखा है कि निर्मल भावना द्वारा ही संसारके बन्धक कारणोका उच्छेद होता है, यही—निर्मलभावना संसारसमुद्रसे प्राणियोंको पार करती है तथा यही परमानन्दका संचार करती है।

अलंकार-संयोजन

शान्तिनाथ चरितमें सभी प्रसिद्ध अलंकारोंका प्रयोग कविने किया है। उपमा-के प्रसंगमें अनेक मौलिक उपमान प्रस्तुत किये गये हैं। इन उपमानों द्वारा जैन सस्कृतिकी झाँकी सहजमे प्राप्त हो जाती है। यहाँ कतिपय उपमानोंका विश्लेषण किया जाता है।

कवि रत्नपुर नगरके सरोवरोंका चित्रण करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार लौकायतिकोंके यहाँ शरीरसे अतिरिक्त अन्य आत्मा नही है, उसी प्रकार वहाँके सरोवर ही हंसोंके रहनेके योग्य है, अन्य मानसरोवर नहीं (१।४०)। इस सन्दर्भमें कविने चार्वाक दर्शनको उपस्थित कर व्यंग्य द्वारा पंचभूत भिन्न आत्माका अस्तित्व प्रदर्शित किया है। 'महर्षयो यत्र मतङ्गजा इव' (१।४५)—अनेकप्रियवचनकथनेऽपि निरीह-तया'शनादिभक्तं मुनयो नेच्छन्ति अथवा स्वयमेव प्रियवचनान्मुक्त्वा पिण्डं नेच्छन्ति। गजा अपि हि पुरा ग्रासग्रहणे अङ्कुशाघातानुभवात् भीताः हस्तिपकेन प्रियंवचनकथनेऽपि स्वेच्छया ग्रासं न गृह्णन्ति। अर्थात् 'मतंगज' उपमान जैन साधुओंकी भोजनके प्रति उदासीनता एवं उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्तिका संकेत प्रस्तुत करता है। कपिल द्वादश तिलक लगाकर श्रावकके द्वादशव्रतोसे युक्त होनेके समान रत्नपुर नगरमें सुशोभित होने लगा। इस प्रसंगमें 'व्रतैरिवोपासक एव कश्चन' (१।१०७) उपमान द्वारा श्रावकके द्वादश व्रतोंका महत्त्व प्रकट किया गया है। यह उपमान जैन-संस्कृतिके आधारभूत श्रावक कर्मकी रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यतः द्वादश व्रतोके धारण किये बिना कोई भी श्रावक नही हो सकता है। विषयोंके वास्तविक रूपका स्मरण करानेके लिए कविने 'किंपाक-पाकिमफलानुकृतं' (३।९)—विषवृक्षके स्वयं पके हुए फलके समान कहा है। 'पिंपाकपाकिफलं' उपमान विषयोंकी आसक्तिका वास्तविक रूप उपस्थित करनेमे पूर्ण समर्थ है। 'वल्गत्कषायकरिसंहृतिसिंहजायां भावनां' (३।४१) में गर्जते हुए कषाय-रूपी हाथियोंके लिए प्रशम भावनाको सिंहभार्या—सिंहिनीका रूपक देकर आत्मचिन्तनमें सहायक प्रशम भावनाका मूर्तिमान रूप उपस्थित किया है। मगलकुम्भको देखकर त्रैलोक्य सुन्दरीको जो परमानन्द प्राप्त हुआ, उसकी अभिव्यंजनाके लिए कविने 'योगीव' (४।१६७)—योगी उपमानका व्यवहार किया है। आत्मसाक्षात्कार करनेवाला

वीतरागी योगी जिस परमानन्दको प्राप्त करता है, वही परमानन्द त्रैलोक्यसुन्दरीको मंगलकुम्भके प्रयोगके दर्शनसे प्राप्त हुआ।

साहित्यिक उपमानोंका प्रयोग भी प्रस्तुत काव्यमें प्रचुर परिमाणमें हुआ है। अभिनन्दिता रानीके गर्भकी सुषमा, मृदुता एवं आह्लादकताका वर्णन करते हुए 'पीयूषमिव' (१।७५)—अमृतके समान कहा गया है। इन्दुषेण और बिन्दुषेणको प्राप्त होनेवाली विद्याओं, कलाओं और विनय आदिका चित्रण "तुषाररश्मेरिव चारुचन्द्रिकाः" (१।८८)—चन्द्रमाको प्राप्त होनेवाली मनोहर ज्योत्स्नाके समान कहा है। इन्दुषेण और बिन्दुषेणको शस्त्र और कलाके ग्रहण करनेमें जो सन्देह उत्पन्न हुआ, उसका निराकरण अध्यापकों द्वारा उस प्रकार किया गया, जिस प्रकार नदीका प्रवाह तटवर्ती वृक्षोंका (नदीप्रवाहवत् प्रबद्धमूलानपि मेदिनीरुहान् १।११६) उन्मूलन कर देता है। कपिल सत्यभामाके साथ पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयसुखको भोगते हुए अपने समयका यापन 'तुषारकालोदितवासरानिव' (१।१२६) हेमन्त ऋतुके छोटे दिनोंके समान करने लगा। 'तुषारकालोदितवासरानिव' उपमान विषयासक्तिमे व्यतीत होता हुआ समय बहुत ही अल्प प्रतीत होने लगता है, को अभिव्यंजना करता है। वर्षा ऋतुके आगमनको—'वधूरिव प्रावृडुपागमत्तदा' (१।१३१)—नववधूके समान कहा है। नववधू उपमान एक साथ अनेक भावोकी अभिव्यजना करता है। पूर्वकृत कर्मोंकी कठोरताको 'दारुण एव' (२।५६) कहकर अभिव्यक्त किया है। सत्यभामा जब आश्रय प्राप्त करनेके लिए राजा श्रीषेणके यहाँ गयी तो उस राजाने 'सुतेव' (२।६९) पुत्रीके समान अपने यहाँ आश्रय दिया। सुतेव उपमान पवित्र और भव्य भावोको प्रस्तुत करता है। वैताढ्य पर्वतको 'स्फटिकभूधरवद्' (३।१५) कहकर उसको रजतमयरूप व्यक्त किया है। त्रैलोक्यसुन्दरीके रूप-लावण्यका चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि वह युवकोके नेत्रोको विस्फारित करनेके लिए रात्रिमे विकसित होनेवाले नीलोत्पलोके हेतु ज्योत्स्नाके समान थी। राजा सुन्दरकी दोनो भुजारूपी स्तम्भको प्राप्त कर वह शालभंजोपुत्तलिकाके समान सुशोभित होती थी (४।११)। शालभंजो और ज्योत्स्ना ये दोनो ही उपमान इस सन्दर्भमे त्रैलोक्यसुन्दरीके अनिन्द्य सौन्दयके साथ उसकी लोकप्रियताकी अभिव्यंजना करते हैं। अनन्तवीर्यके प्रताप और प्रभावका वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्रको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार उस तेजस्वी राजाकी शरणमें सभी सामन्त, महासामन्त और राजा पहुँचते थे (सुदुर्निवाराः किल निम्नगा इव ९।५५)। इस राजाके शासनको अन्य राजा मस्तकपर धारण की जानेवाली (माल्यमिव ९।६०) के समान कहा है। इसी प्रकार राजा श्रीषेणके यश और प्रतापको—पीयूषकरप्रभाकरौ १।७० चन्द्र और सूर्य कहकर व्यापकता, लोकप्रियता एवं तेजस्विताकी अभिव्यंजना को गयी है।

पौराणिक उपमानोमे पौराणिक सन्दर्भोंको तो प्रस्तुत किया ही गया है, पर साथ ही काव्यचमत्कार भी व्यक्त हुआ है। श्रीषेणकी देवी अभिनन्दिताने इन्दुषेण और

बिन्दुषेणको उस प्रकार प्रसूत किया, जिस प्रकार सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्नको एक साथ जन्म दिया (यथा सुमित्रा सुषुवे तथा यमौ (१।७८)। श्रीषेण राजा इन दोनों यमल पुत्रोंको प्राप्त कर उस प्रकार सुशोभित हुआ, जिस प्रकार कुश और लवको प्राप्त कर सीतापति राम; बुध और शुक्रको प्राप्त कर सूर्य एवं दन्तद्वयको प्राप्त कर गन्धगज सुशोभित होता है[१]। इस प्रसंगमें एक साथ कई पौराणिक उपाख्यान प्रस्तुत किये गये हैं। धनद सेठके साथ उसका पुत्र मंगलकुम्भ इस प्रकार शोभित होता था, जिस प्रकार शिवजीके साथ कार्तिकेय, इन्द्रके साथ जयन्त और कृष्णके साथ कामदेव सुशोभित होता है (साक्षात् षडानन इवैष महेश्वरेण ३।१३४) इस प्रसंगमें उपन्यस्त उपमानों द्वारा मंगलकुम्भकी विशेषताओंके साथ जो पौराणिक सन्दर्भ स्मृत किये गये है, उनसे पौराणिक संस्कृतिकी स्पष्ट झांकी मिल जाती है। इस प्रकार कविने पौराणिक सन्दर्भों द्वारा पिता-पुत्रोंके सौन्दर्य, दम्पतियोंकी केलिक्रीड़ाएँ, ऋतुओंके मनोरम चित्रण एव मानवोचित व्यवहारका स्पष्टीकरण किया है।

उपमा अलंकारके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा (१०।५३) मे कोकिलोंका स्वागतके लिए कूजना; चन्द्रमा चकोरके लिए प्रिय होता है और चक्रवालके लिए अप्रिय इस विशेष कथन द्वारा संसारमे कोई भी व्यक्ति सबका प्रिय नही हो सकता, इस सामान्य कथनकी सिद्धि होनेसे अर्थान्तरन्यास (१।३२), वृक्ष, पुष्प, फल, रस और माक्षिकोंका पूर्व-पूर्व विशेषणरूपमें वर्णित होनेसे एकावली (१।४२); रत्नपुर नगरके उपवनोंका नन्दनवनकी अपेक्षा उत्कृष्ट वर्णन होनेसे व्यतिरेक (१।४१); भूतगणाधिनायक होनेपर भी भीमरूप न होना विरोधाभास (१।४३); लक्ष्मीके अस्थिर होनेके हेतुका वर्णन होनेसे हेतु अलंकार (२।५); इन्दुभूषण और बिन्दुभूषण द्वारा अनन्तमतीके देखनेपर उसका अनेक उत्प्रेक्षाओमें आशंकित किया जाना सन्देह अलंकार (२।९३-९६); बेमेल वस्तुओंका एक साथ वर्णन होनेसे विषम (४।२५) अलंकार; सूर्यके पतनके कारण गुरुत्वके विद्यमान होनेपर उसका पतन रूप कार्य न होनेसे विशेषोक्ति अलंकार (४।८४); लक्ष्मीकी अस्थिरता सिद्ध करनेके लिए पद्यके तीन चरणोका हेतुरूपमें उपन्यस्त होनेसे काव्यलिंग अलंकार (२।३); "एक हाथसे ताली नहीं बजती" इस कथन द्वारा "प्रेम भी एक ओर से नही होता" मे दृष्टान्तालंकार (२।६७); जिनेन्द्रमें चन्द्रका आरोप करनेसे रूपक अलंकार तथा अम्बुधिवृद्धि और शास्त्रवृद्धिमें अभेदाध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति और दोनोंका एकाश्रय अनुप्रवेश होनेसे संकर अलंकार (१।१२); चूर्णादि हेतुके बिना रागादिकार्योंकी उत्पत्तिका वर्णन होनेसे विभावना (१।९४); 'नास्तिकभाव' इस सामान्य विशेषणके उपादानसे बृहस्पतिमें मृतात्म-व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति (१।९५); विद्वान्के समान धनवान् और धनवान्के समान विद्वान् कपिल है, इस कथनमें अन्योन्यालंकार (१।१२९); रहस्यका कथन करनेके

---

[१] कुशीलवाभ्यामिव मैथिलीपतिर्बुधोशनोभ्यामिव वासरेश्वर'।
अयं रदाभ्यामिव गन्धसिन्धुरो वृत' सुताभ्या परमागमाप सः ॥ १।८१ शान्ति०

लिए द्वयर्थक पदोंका प्रयोग होने और दोनों अर्थोंके तात्पर्य अवधारणमें विशेष्यके भी श्लिष्ट होनेसे श्लेषालंकार (२।३९) एवं उज्जयिनी नगरीके वर्णन करनेसे परिसंख्या (४।१४०) अलंकार नियोजित है।

छन्दोयोजना

कवि मुनिभद्रने छन्दोंकी सुन्दर योजना कर संगीत धर्मके साथ रसोत्कर्ष उत्पन्न किया है।

प्रथम सर्ग—१–१५७ तक वंशस्थ, १५८ पृथिवी, १५९ स्रग्धरा और १६० शार्दूल०।

द्वितीय सर्ग—१–१४० तक उपजाति, १४१ मन्दाक्रान्ता, १४२–१४६ तक शार्दूल०, १४७–१४८ स्रग्धरा और १४९ शार्दूलविक्रीडित।

तृतीय सर्ग—१-१४८ वसन्ततिलका, १४९–१५० शार्दूलविक्रीडित।

चतुर्थ सर्ग—१–२२४ तक उपजाति, २२५–२२६ वसन्त०, २२७–२२८ शार्दूलवि०, २३० मालिनी, २३१ हरिणी, २३२–२३३ शार्दूलवि०।

पंचम सर्ग—१–२१० तक उपजाति, २११ वसन्त०, २१२ शार्दूल०, २१३ वसन्त, २१४ मन्दाक्रान्ता, २१५–२२० शार्दूल०।

षष्ठ सर्ग—१–२२० स्वागता, २२१ मालिनी, २२२–२२३ शार्दूल०, २२४ स्रग्धरा और २२५ शार्दूल०।

सप्तम सर्ग—१–१५६ रथोद्धता, १५७ हरिणी, १५८ शार्दूल०, १५९ पृथिवी, १६०–१६२ शार्दूल०।

अष्टम सर्ग—१–२२४ द्रुतविलम्बित, २२५ शार्दूल०, २२६ इन्द्रवंशा, २२७-२२८ शालिनी, २२९ शिखरिणी, २३० स्रग्धरा, २३१–२४२ शार्दूल०, २४३–२४४ स्रग्धरा, २४५–२४६ शार्दूल०, २४७-२४८ स्रग्धरा, २४९ शार्दूल०, २५० स्रग्धरा, २५१–५२ शार्दूल०, २५३ स्रग्धरा, २५४–२५८ शार्दूल०, २५९ मन्दाक्रान्ता, २६० स्रग्धरा, २६१ पृथिवी, २६२ स्रग्धरा और २६३–२६४ शार्दूल०।

नवम सर्ग—१–२८८ वंशस्थ, २८९-३१२ शार्दूल०, ३१३ शिखरिणी, ३१४ मन्दाक्रान्ता, ३१५–३१९ शार्दूल०, ३२०–३२१ मन्दाक्रान्ता, ३२२ शार्दूल०।

दशम सर्ग—१–३३२ तक उपजाति, ३३३ स्रग्धरा, ३३४ शिखरिणी, ३३५ शार्दूल०, ३३६–३७ स्रग्धरा, ३३८–४० शार्दूल०, ३४२–४४ शार्दूल०, ३४७ मन्दाक्रान्ता; ३४८ स्रग्धरा, ३४९ शिखरिणी, ३५० स्रग्धरा, ३५१–३५४ शार्दूल०।

एकादश सर्ग— १–२७५ तक उपजाति, २७६ शार्दूल०, २७७-२९८ शार्दूल०, २९९–

३१० शार्दूल०, ३११ वसन्त०, ३१२–१३ शार्दूल०, ३१४ हरिणी, ३१५ शार्दूल० ।

द्वादश सर्ग—१–७९ द्रुतविलम्बित, ७७ वंशस्थ, ७८–७९ स्रग्धरा, ८० शार्दूल० ।

त्रयोदश सर्ग—१–४३० उपजाति, ४३१ वसन्त०, ४३२ रथोद्धता, ४३३ शार्दूल०, ४३४–३५ वसन्ततिलका, ४३६–३७ शार्दूल०, ४३८ मन्दाक्रान्ता, ४३९ स्रग्धरा, ४४० मन्दाक्रान्ता, ४४२–४३ शार्दूल०, ४४४–४५ मन्दाक्रान्ता, ४४६ पृथिवी, ४४७ शार्दूल०, ४४८–४९ स्रग्धरा, ४५० शार्दूल० ।

चतुर्दश सर्ग—१–४ वंशस्थ, ५–७ शार्दूल०, ८–११ वंशस्थ, १२–१३ शार्दूल०, १४–१६ वंशस्थ, १८–२० शार्दूल०, २१ मन्दाक्रान्ता, २२–२३ वंशस्थ, २४ मन्दाक्रान्ता, २५ स्रग्धरा, २६–२७ वंशस्थ, २८–२९ शार्दूल०, ३०–४३ हरिणी, ४४ वसन्त०, ४५ इन्द्रवंशा, ४६ वंशस्थ, ४७ स्रग्धरा, ४८–५० पृथिवी, ५१ हरिणी, ५२–५३ वंशस्थ, ५४ हरिणी, ५५–५७ शार्दूल०, ५८ वंशस्थ, ५९–६० शार्दूल०, ६१–६९ वंशस्थ, ७० मन्दाक्रान्ता, ७१–७२ वंशस्थ, ७३–७६ शार्दूल०, ७८ मन्दाक्रान्ता, ७९ शार्दूल०, ८०–८३ वंशस्थ, ८४–८५ शार्दूल०, ८६–८९ वंशस्थ, ९०–९१ शार्दूल०, ९२–९३ स्रग्धरा, ९४ शिखरिणी, ९५–९९ शार्दूल०, १०० शिखरिणी, १०१ शार्दूल०, १०४ वंशस्थ, १०५ शार्दूल०, १०६ पृथिवी, १०८ वंशस्थ, १०९ शार्दूल०, ११०–१२ वंशस्थ, ११३–१४ शार्दूल०, ११५–१६ वंशस्थ, ११८ शार्दूल०, ११९ वंशस्य, १२२–२४ शार्दूल०, १२५–२७ वंशस्थ, १२८ शार्दूल०, १२५–२७ वंशस्थ, अन्त तक शार्दूल०, वंशस्थ और मन्दाक्रान्ता ।

पंचदश सर्ग—१–१२०, १२१ हरिणी, १२२ उपजाति, १२३ इन्द्रवंशा, १२४–३४ शार्दूल० ।

षोडश सर्ग—१–२७६ उपजाति, २७७–२८० शार्दूल०, २८१–२८६ वसन्त०, २८७ स्रग्धरा, २८८–२९१ शार्दूल०, २९२ वसन्त०, २९३ पृथिवी, २९४–९७ शार्दूल०, २९८ शिखरिणी, २९९–३०२ शार्दूल० ।

सप्तदश सर्ग—१–२०२ तक अनुष्टुप्, २०३–२०८ वसन्त०, २०९–२१४ शार्दूल०, २१५–१६ स्रग्धरा, २१७ शार्दूल० ।

अष्टादश सर्ग—१–१२५ उपजाति, १२६–२७ शार्दूल०, १२८–२९ स्रग्धरा, १३६ वसन्त०, १३८–१४० शार्दूल०, १४१ मन्दाक्रान्ता, १४२–१४३ शार्दूल० ।

शीलस्थापत्य

संस्कृत जैन कवियोंकी यह प्रमुख विशेषता है कि वे काव्यके मर्मस्थलोंपर पहुँच कर शृंगारकी सुराको शीलकी सुधामें परिवर्तित कर देते हैं। कवियों द्वारा गृहीत

तीर्थंकरोंका चरित आजन्म शुद्ध और पवित्र है। अतएव उनकी भवावलिके चित्रणमें शैशवकालमें विद्यार्जन, यौवनमें विषयसुखभोग और वार्धक्यके प्रारम्भ होते ही अथवा यौवनके अन्तिम भागमें ही वे किसी निमित्तको प्राप्त कर विरक्त हो तपश्चरण करते हैं। इस प्रकार समस्त पात्रोंका जीवन शृंगारकी बरसाती नदियोसे आरम्भ होकर शान्तिके महासागरमें पहुँच जाता है। कविने सत्यभामा, अभिनन्दिता, अनन्तमती, वरांगना, कनकश्री, सुतारा आदि नारीपात्रोके चरित्र भी उदात्त भावभूमिपर प्रतिष्ठित किये है। जाति और कुलसे नीच पात्र भी अपने पवित्र और उच्च आचरणके प्रभावसे स्वर्ग और निर्वाण प्राप्त करते हुए दृष्टिगत होते है। पात्रोंके जीवनका आदर्श धर्मसाधन है। कहा है—

धर्मं समाश्रित्य गुणाः समस्ता महार्घतामाप्य जगत्त्रयेऽपि ।
महत्समानां श्रवणातिथित्वं जीवाभिधानप्रथिता लभन्ते ॥ ।११॥

जीवनमें दान, शील, तप और भावनाका विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत काव्यके पात्र उक्त चारों प्रकारके धर्म तत्त्वोंको जीवनमें अपनाते हुए परिलक्षित होते हैं। बताया गया है—

दानं सुपात्रविषये प्रतिपादनीयं, शीलं विशिष्य विशदं परिपालनीयम् ।
तप्यं तपश्च शुचिभावनया समेतं, धर्मं चतुर्विधमुदाहृतवाञ्जिनेशः ॥३।३६॥

अनन्तवीर्यका चरित्र उदयनके चरित्रसे मिलता-जुलता है। जिस प्रकार उदयन वासवदत्ताका वीणाशिक्षक बनकर उसका अपहरण करता है, उसी प्रकार अनन्तवीर्य अपराजित विद्या बलसे किरातीका वेश धारण कर दमितारिकी पुत्री कनकश्रीका नृत्य-संगीत शिक्षक बनता है और उसका अपहरण कर लेता है। उदयन पद्मावतीके साथ विवाह कर चक्रवर्ती बनता है[1] पर अनन्तवीर्य दमितारिसे युद्धमें विजयी बननेके अनन्तर अर्धचक्री बनता है। चरित्रके विकासक्रममे अनन्तवीर्यकी दर्पोक्तियाँ, विशेष महत्त्व रखती हैं। उसके चरित्रका वास्तविक रूप नेत्रगोचर हो जाता है।

इससे उसकी स्पष्टवादिता, वीरता एवं अहंभावनाकी सम्यक् अभिव्यंजना होती है। पूर्वभवके संस्कारोंकी अभिव्यंजना करनेके लिए कविने सुताराका अपहरण अशनिघोष विद्याधर द्वारा कराया है। सुतारा उसकी पूर्वभवकी पत्नी सत्यभामाका जीव है। अतः उसके दर्शनमात्रसे उसके हृदयमें संवेदनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। पात्र अपने जीवनमे पूर्वभवोके संस्कारोंको ढोते चलते है। उनके जीवनका सचालन अर्जित-कर्म परम्पराके अनुसार होता है। प्रत्येक पात्रको कर्म संस्कारका पूर्ण विश्वास है—

पुराकृतैः सम्पदवाप्यते शुभैः कृतानि नो तानि मया भवान्तरे ।
ततोऽबभूव च दरिद्रतासुखं यदस्ति वा हेतुकमत्र हेतुमत् ॥ ९।१५०

---

[1] स्वप्नवासदत्ता, चोखम्बा सस्करण, तृतीय-चतुर्थ अंक।

मेघरथके चरित्रपर महाभारतमें प्रतिपादित शिवि देशके प्रतापी राजा उशीनर[1]-के चरित्रका प्रभाव अंकित है। दोनो ही कथानक समान हैं। प्रस्तुत काव्यमें इतना वैशिष्टय है कि मेघरथ[2] इस घटनासे विरक्त हो जाता है। वह उग्र तपस्वी बन ध्यानस्थ हो जाता है। अतिरूपा और सूरूपा नामकी देवांगनाएँ भी उसे विचलित नही कर पाती हैं। इस प्रकार दया और परोपकारका आदर्श प्रस्तुत कर तीर्थंकर पद प्राप्त करनेके लिए योग्यताका निर्देश किया है। दानी, प्रतापी, तपस्वी मेघरथ तपस्याके प्रभावसे शान्तिनाथ तीर्थंकरका जन्म ग्रहण करता है। तीर्थंकर जैसा महत्त्वपूर्णपद एक जन्मकी साधनासे प्राप्त नही होता। इसके लिए कई जन्मोंमें साधना करनी पड़ती है। इस प्रकार कवि मुनिभद्रने आदर्श और यथार्थ दोनो ही प्रकारके चरित्र निबद्ध किये हैं। धरणिजट, कपिल, अनन्तमनो आदि पात्रोंके चरित्र यथार्थरूपमें अंकित किये गये हैं।

शान्तिनाथ चरितपर अन्य काव्योंका प्रभाव

प्रस्तुत काव्य कालिदास, भारवि, माघ, अश्वघोष, वीरनन्दि, हरिचन्द्र आदि कवियोंकी रचनाओंसे प्रभावित है। कवि मुनिभद्रने महाभारतसे आख्यान तो ग्रहण किये ही हैं, साथ ही शैली एवं विषय प्रतिपादनमें भी महाभारतका आश्रय ग्रहण किया है।

●

---

[1] उत्कृत्य स स्वयं मांसं राजा परमधर्मवित्।
तालयामास कौन्तेय कपोतेन सम विभो॥ महाभारत वनपर्व १३१ अ०, श्लो० २६-३४। लगभग इसी प्रकारका आख्यान महाभारत वनपर्वके १९७वें अध्यायमें उशीनरके पुत्र शिबिका भी मिलता है।

[2] देखें—शान्ति० १२।२२।

चतुर्थ परिवर्त

*

इतरनामान्त संस्कृत जैन महाकाव्योंका परिशीलन

(क) धर्मशर्माभ्युदय, नेमिनिर्वाण, जयन्तविजय, पद्मानन्द और नरनारायणानन्द महाकाव्योंके रचयिताओंका जीवनवृत्त

(ख) कथावस्तु, कथानकस्रोत और कथावयवोंका गठन

(ग) महाकाव्यत्व और रसभाव योजना

(घ) उपमानोंका वर्गीकरण और विश्लेषण

(ङ) अन्य अर्थालंकार और छन्दोयोजना

(च) आदान-प्रदान—उक्त काव्योंपर अन्य काव्योंका प्रभाव और अन्य काव्योंपर उक्त काव्योंका प्रभाव

(छ) उपर्युक्त काव्योंका वशिष्टय

इतरनामान्त महाकाव्य

इतरनामान्त महाकाव्योंसे तात्पर्य उन काव्योंसे है, जिनके अन्तमें चरित शब्द नही आया है। चरितनामान्त और इतरनामान्त महाकाव्योंमे बहुत अधिक अन्तर नही है। दोनो वर्गके महाकाव्योंमें चरित एवं महाकाव्यके तत्त्व समाविष्ट हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि इतरनामान्त महाकाव्योंमें महाकाव्यके समस्त शास्त्रीय लक्षण पाये जाते हैं। जहाँ चरितनामान्त महाकाव्योंका मुख्य उद्देश्य चरित प्रतिपादित कर चारित्रिक अभ्युत्थान प्रदर्शित करना है, वहाँ इतरनामान्त महाकाव्योका लक्ष्य अलंकृत शैलीके महाकाव्य गुणोंका प्रस्तुतीकरण करता है। महाकाव्योंके तत्त्व और गुण दोनों ही प्रकारके काव्योमे पाये जाते है, पर प्रथम वर्गके काव्योंमें प्रमुखता चरित की है और द्वितीय वर्गके काव्योमे मुख्यता काव्यगुणों की है। इतरनामान्त महाकाव्योका दूसरा नाम शास्त्रीय महाकाव्य भी रखा जा सकता है।

प्रस्तुत परिवर्तमें प्रतिनिधि महाकाव्योका परिशीलन उपस्थित कर यह दिखलाया जायेगा कि सस्कृत काव्योको केवल सख्यावृद्धि ही जैन कवियो द्वारा नही की गयी है, अपितु उत्तम कोटिके काव्योंका प्रणयन कर संस्कृत काव्यको गुणवृद्धिमें भी योगदान दिया है। काव्योके अन्तमें आये हुए कतिपय तात्त्विक उपदेशोके हटा देनेपर ये जैन-काव्य प्रेम और सौन्दर्यके विवेचनमे शिशुपालवध और नैषधसे किसो भी अर्थमें कम नही हैं। काव्यकलाका चमत्कार स्थान-स्थानपर दर्शनीय है। कतिपय कल्पनाएँ बिलकुल नवीन हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य धर्मशर्माभ्युदय काव्यका उद्धृत कर उक्त कथनको पुष्टि की जाती है। कवि सुव्रताके ओष्ठका वर्णन करता है—

प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादयः समा बभूवु प्रभयैव केवलम् ।
रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चितं जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम् ॥ ।५१

—धर्म०, बा० १९१३ ई०

किसलय, बिम्बीफल और प्रवाल आदि केवल वर्णको अपेक्षा हो उसके ओष्ठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय है कि अमृत भी उसका शिष्य हो चुका था।

इस सन्दर्भमे अमृतके शिष्यत्वकी कल्पना नदो है। इसी प्रकार नाकके लिए तराजूकी उपमा (२।५३ धर्म) और भृकुटीके लिए ॐकारकी उपमा (२।५५ धर्म०) भी संस्कृत काव्यमें अभुक्त है।

युगक्रमानुसार उक्त विधा सम्बन्धी प्रतिनिधि काव्योका अनुशीलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

धर्मशर्माभ्युदयम्[1]

इस महाकाव्यमें पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथका चरित वर्णित है। इसकी कथावस्तु २१ सर्गोंमें विभाजित है। धर्म-शर्म—धर्म और शान्तिके अभ्युदय वर्णनका लक्ष्य होनेसे कविने प्रस्तुत महाकाव्यका यह नामकरण किया है। इस महाकाव्यके रचयिता कवि हरिचन्द्र हैं।

महाकवि हरिचन्द्रका जन्म एक सम्पन्न परिवारमें हुआ था। इनके पिताका नाम आर्द्रदेव और माताका नाम रथ्यादेवी था। इनकी जाति कायस्थ थी, पर ये जैन-धर्मावलम्बी थे। कविने स्वयं अपनेको अरहन्त भगवान्‌के चरण-कमलोंका भ्रमर लिखा है। इनके छोटे भाईका नाम लक्ष्मण था, जो इनका अत्यन्त आज्ञाकारी एवं भक्त था। कविने धर्मशर्माभ्युदयकी प्रशस्ति[2] में लिखा है—

मुक्ताफलस्थितिरलंकृतिषु प्रसिद्ध-
स्तत्रार्द्रदेव इति निर्मलमूर्तिरासीत्।
कायस्थ एव निरवद्यगुणग्रहः स-
न्नेकोऽपि यः कुलमशेषमलंचकार ॥२॥
लावण्याम्बुनिधिः कलाकुलगृहं सौभाग्यसद्भाग्ययोः
क्रीडावेश्म विलासवासवलभीभूषास्पदं संपदाम्।
शौचाचारविवेकविस्मयमही प्राणप्रिया शूलिनः
शर्वाणीव पतिव्रता प्रणयिनी रथ्येति तस्याभवत् ॥३॥
अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयोः सुतः श्रीहरिचन्द्र आसीत्।
गुरुप्रसादादमला बभूवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः ॥४॥
भक्तेन शक्तेन च लक्ष्मणेन निर्व्याकुलो राम इवानुजेन।
यः पारमासादितबुद्धिसेतुः शास्त्राम्बुराशेः परमाससाद ॥५॥

प्रसिद्ध नोमक वंशमें निर्मलमूर्तिके धारक आर्द्रदेव हुए, जो अलंकारोंमें मुक्ताफलके समान सुशोभित होते थे। वह कायस्थ थे, निर्दोष गुणग्राही थे और एक होकर भी समस्त कुलको अलंकृत करते थे। शिवके लिए पार्वतीके समान रथ्या नामक उनकी प्राणप्रिया थी, जो सौन्दर्यका समुद्र, कलाओंका कुलभवन, सौभाग्य और उत्तमभाग्यका क्रीडाभवन, विलासके रहनेकी अट्टालिका एवं सम्पदाओंके आभूषणका स्थान थी। पवित्र आचार, विवेक एवं आश्चर्यकी भूमि थी। उन दोनोंके अर्हन्त भगवान्‌के चरणकमलोंका भ्रमर हरिचन्द्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके वचन गुरुओंके प्रसादसे सरस्वतीके प्रवादको समृद्ध बनानेवाले थे। उस हरिचन्द्रके एक लक्ष्मण नामका भाई था, जो उन्हें उतना ही प्रिय था, जितना रामको लक्ष्मण।

---

[1] निर्णय सागर प्रेस बम्बईसे सन् १९३३ में काव्यमालाके आठवें ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित।

[2] ग्रन्थकर्त्तु प्रशस्ति—धर्म० श० निर्णयसागर, बम्बई, १९३३ ई०, पृ० १७६।

कविका अध्ययन विशाल था। रघुवंश, कुमारसम्भव, किरात, शिशुपालवध, चन्द्रप्रभचरित प्रभृति काव्यग्रन्थोंके साथ तत्त्वार्थसूत्र, उत्तरपुराण, रत्नकरण्डश्रावकाचार, उवासगदसा, सर्वार्थसिद्धि प्रभृति ग्रन्थोंका भी अध्ययन किया था। दर्शन और काव्यके जो सिद्धान्त इनके द्वारा प्रतिपादित हैं, उनसे कविकी प्रतिभा और विद्वत्ताका अनुमान सहजमें ही किया जा सकता है। रसध्वनिको कविने सिद्धान्तरूपमें स्वीकार किया है।

स्थितिकाल

महाकवि हरिचन्द्रके स्थितिकालके सम्बन्धमें कई विचारधाराएँ उपलब्ध हैं। यतः हरिचन्द्र नामके कई कवि हुए हैं। प्रथम हरिचन्द्र नामके कवि चरकसंहिताके टीकाकारके रूपमें उपलब्ध होते हैं। इनका समय अनुमानतः ईसवी प्रथम शती है। माधवनिदानकी मधुकोशी व्याख्यामें हरिचन्द्र और भट्टारक हरिचन्द्रके नाम आये हैं[1]। बाणभट्टने [2]हर्षचरितके प्रारम्भमें भट्टारक हरिचन्द्रका उल्लेख किया है। राजशेखरकी काव्यमीमांसा[3] और [4]कर्पूरमंजरीमें भी हरिचन्द्रका नामोल्लेख मिलता है। [5]गउडवहोमें भास, कालिदास और सुबन्धुके साथ हरिचन्द्रका भी नाम-निर्देश प्राप्त है।

स्व० श्री पं० नाथूराम प्रेमीने धर्मशर्माभ्युदयकी पाटनकी एक पाण्डुलिपिका उल्लेख किया है, जिसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १२८७ (ई० सन् १२३०) है। प्रतिके अन्तमें लिखा है—

"१२८७ वर्षे हरिचन्द्रकविविरचितधर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकर-सूरिआदेशेन कीर्त्तिचन्द्रगणिना लिखितमिति भद्रम्"।[6]

अतः इतना स्पष्ट है कि ईसवी सन् १२३० के पहले ही महाकवि हरिचन्द्रका धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य लिखा जा चुका था।

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने अपने "महाकवि हरिचन्द्रका समय"[7] शीर्षक निबन्धमें धर्मशर्माभ्युदयके ऊपर वीरनन्दीके चन्द्रप्रभचरितम् और हेमचन्द्रके योगशास्त्र

---

[1] अत्र केचित् हरिचन्द्रादिभिर्व्याख्यातं पाठान्तरं पठन्ति—मधुकोशी व्या० माधवनिदान, पृ० १७, पंक्ति १०।

[2] पदबन्धोज्ज्वलोहारी रम्यवर्णपदस्थिति।
भट्टारकहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥—हर्षचरित १।१२, पृ० १०।

[3] हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।—का० मी०, अ० १०, पृ० १३५ (बिहारराष्ट्रभाषा संस्करण, १९५४ ई०)।

[4] विदूषक:—(सक्रोधम्)—उज्जुअं ता किं ण भणइ अम्हाणं चेडिआ हरिअद—णदिअद—कोट्टिसहा-लप्पहुदीणं वि पुरदो सुकइ त्ति ?
—कर्पूरमंजरी, चौखम्बा संस्करण १९५५ प्रथम जवनिकान्तर पृ० २९।

[5] भासम्मि जलणमित्ते कत्तीदेवे अजस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बंधम्मि हरिचंदे अ आणंदो॥८००—गउडवहो, भाण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट पूना, १९२७ ई०।

[6] पाटणके संघवीपाडाके पुस्तकभण्डारकी सूची गायकवाड सीरिजसे प्रकाशित, बड़ौदा, १९३७ ई०।

[7] अनेकान्त वर्ष ८ किरण १०-११, पृ० ३७९-३८२।

का प्रभाव बतलाया है। आपने लिखा है कि धर्मशर्माभ्युदयमें भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचारोंमें १५ खरकर्मोंका निर्देश किया है तथा अनर्थदण्डव्रतके स्वरूपमे खरकर्मोंके त्यागको स्थान दिया है। अतः हरिचन्द्रका समय वि० सं० १२०० के लगभग होना चाहिए। उक्त पण्डितजीके कथनका समर्थन मित्रवर प्रो० अमृतलालजी शास्त्रीने 'महाकवि हरिचन्द्र'[1] शीर्षक निबन्धमें किया है। आपने श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके प्रमाणोंको दुहराते हुए कुछ नवीन तथ्य भी प्रस्तुत किये हैं। पर मूल तर्क दोनों महानुभावोके समान है। इस सम्बन्धमें विचारणीय यह है कि खरकर्मोंका त्याग हेमचन्द्रके पूर्ववर्ती साहित्यमें सम्यक् प्रकारसे मिलता है। उवासगदसा[2] और समराइच्चकहा[3] प्रभृति ग्रन्थोमे खरकर्मोंके त्यागका विस्तृत विवेचन है। अतः कवि हरिचन्द्रने खरकर्मोंके त्यागकी परम्परा हेमचन्द्रसे क्यो अपनायी होगी? अतएव आचार और योग सम्बन्धी मान्यताओंके आधारपर महाकवि हरिचन्द्रके समयका निर्णय नही किया जा सकता।

श्री के० के० हिण्डीकीने हरिचन्द्रको वादीभसिंहके पश्चात् (ई० १०७५–११७५ ई०) का कवि माना है[4]। पर महाकवि वादीभसिंहके समयके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है। स्व० श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी[5] वादीभसिंहका काल विक्रम संवत्की १२वी शती; श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री[6] अकलंकदेवके समकालीन (ई० ६२०–६८० ई०) और प्रो० दरबारीलाल कोठिया[7] नवम शती मानते है। अत. श्री हिण्डीकी द्वारा निर्णीत समय भी निर्विवाद नही है।

धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धर चम्पूके आन्तरिक परीक्षण करनेपर कुछ तथ्य इस प्रकारके उपलब्ध होते है, जिनके आधारपर महाकवि हरिचन्द्रके समयका संभवतः निर्णय हो सकता है। धर्मशर्माभ्युदयमे (२।४) आसेचनक शब्दका प्रयोग आया है। इस शब्दका प्रयोग बाणभट्टने हर्षचरितके प्रथम उच्छ्वास[8] मे भी किया है। नैषधचरितमें हंस दमयन्तीसे कहता है—"सुन्दरि, अकेला चन्द्रमा तुम्हारे नयनोको किसी प्रकार तृप्ति नही दे सकता। अतः नलके मुखचन्द्रके साथ वह तुम्हारे लोचनोका आसेचनक बने"[9]। स्पष्ट है कि आसेचनक शब्द हर्षचरितसे विकसित होकर धर्मशर्माभ्युदयमें

---

[1] जनसन्देश— शोधांक ७, भा० दि० जैन संघ मथुरा, १९६० ई०, पृ० २५०-५४।

[2] इगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे…
—उवासगदसा, गोरे द्वारा सम्पादित संस्करण, पूना १९५३ ई०, प्रथम आनन्द अध्ययन, पृ० ८।

[3] इगालकम्म वा वणकम्म वा, सागडिकम्म वा भाडियकम्म वा 'समराइच्चकहा', प० भगवानदास सस्करण, अहमदाबाद, १९३८-४२ ई०, पृ० ६३।

[4] (पूर्व पृ०)—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित जीवन्धर चम्पूका अंग्रेजी प्राक्कथन (Foreword), पृ० २३।

[5] (पूर्व पृ०)—जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय सस्करण, पृ० ३२१।

[6] न्यायकुमुदचन्द्रोदय प्रथम भाग, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, १९३८ ई०, पृ० १११।

[7] स्याद्वादसिद्धि, माणिकचन्द ग्रन्थमाला, १९५० ई०, प्रस्तावना, पृ० २५–२७।

[8] आसेचनक-दर्शन·· नप्तारम्—हर्षचरित, चौखम्बा सस्करण, प्रथम उ०।

[9] नैषध महाकाव्य, चौखम्बा संस्करण ३।११।

आया और वहाँसे नैषधमें गया। नैषध महाकाव्यपर धर्मशर्माभ्युदयका और भी कई तरहका प्रभाव है।[1]

धर्मशर्माभ्युदयका नाम सम्भवतः पार्श्वाभ्युदयके अनुकरणपर रखा गया होगा। संस्कृतकाव्योंमें अभ्युदय नामान्तवाले काव्योमें सम्भवतः जिनसेनका पार्श्वाभ्युदय सबसे प्राचीन है। नवी शतीके महाकवि शिवस्वामीका कप्फिणाभ्युदय महाकाव्य[2] है, जिसका कथानक बौद्धोंके अवदानोंसे ग्रहण किया गया है। १३वो शतीमे दाक्षिणात्य कवि वेंकटनाथ वेदान्तदेशिकने २४ सर्ग प्रमाण 'यादवाभ्युदय'[3] नामक महाकाव्य लिखा है, जिसपर अप्पयदीक्षितने (ई० १६००) एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। महाकवि आशाधरके भरतेश्वराभ्युदय[4] नामक काव्यका निर्देश भी उपलब्ध होता है। ई० सन् १४ ३० में राजनाथने विजयनगरके वीर सेनापति साल्व नरसिंहके चरित को 'सालवाभ्युदय'[5] नामक महाकाव्यमें निबद्ध किया है। इस महाकाव्यमें १३ सर्ग है। अतः यह निष्कर्ष निकालना दूरको कौडी बैठाना नही है कि पार्श्वाभ्युदयके अनुकरणपर महाकवि हरिचन्द्रने अपने इस महाकाव्यका नामकरण किया हो।[6]

कवि हरिचन्द्रने जीवन्धरचम्पूका प्रणयन किया है, इसकी कथावस्तु क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके आधारपर ग्रथित है। कवि वादीभसिंहने इन दोनो ग्रन्थोकी कथावस्तु कवि परमेष्ठीके वागर्थसंग्रह[7] नामक पुराणसे ग्रहण की हो तो वादीभसिंहका समय ८वी शती निश्चित है। यदि इस अनुमानको सही न माना जाय और वादीभसिंहके ग्रन्थोकी कथावस्तुका आधार गुणभद्रके उत्तरपुराणका ही माना जाय, और जीवन्धर चम्पूकी कथावस्तुका आधार क्षत्रचूडामणिको माना जाय तो भी हरिचन्द्रका समय ई० सन् १०वी शताब्दीके पश्चात् नही हो सकता है। जीवन्धरचरितका जो रूप जीवकचिन्तामणिमें मिलता है, वह क्षत्रचूडामणिसे प्रभावित है। श्री कुप्पुस्वामीने स्वयं इस विषयमें आशका प्रस्तुत[8] की है।

महाकवि असग द्वारा विरचित वर्धमानचरितम्के अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता हैं कि कविने कई सन्दर्भ और उत्प्रेक्षाएँ जीवन्धरचम्पू, धर्मशर्माभ्युदय और चन्द्रप्रभ

---

[1] नैषध परिशीलन—डॉ० चण्डीप्रसाद शुक्ल द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९६० ई०।

[2] पंजाब विश्वविद्यालय सीरिज सख्या २६, ई० १९३७ में लाहौरमें प्रकाशित।

[3] सस्कृत साहित्यका इतिहास—ले० वाचस्पति गैरोला, प्र० चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६० ई०, पृ० ८९८।

[4] सस्कृत साहित्य का इतिहास, वही, पृ० ३४७।

[5] वही, पृ० ८९९।

[6] ८वीं शती के पश्चात अभ्युदय नामान्त काव्योंकी समृद्ध परम्परा दृष्टिगत होती है। यशोवर्माका रामाभ्युदय, वामनभट्ट बाणका नलाभ्दुय (१४०३-१४२०ई), राजनाथ तृतीय का अच्युतरायाभ्युदय (१५३०-१५४२ई०) और रघुनाथकी विदुषी पत्नी रामभद्राम्बाका रघुनाथाभ्युदय (९१वीं) भी प्रसिद्ध है।

[7] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १३, किरण २।

[8] जनहितैषी भाग १०, अंक २, पृ० ७२।

चरितसे ग्रहण की हैं। उक्त काव्यग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह सहजमे ही स्पष्ट हो जाता है कि हरिचन्द्रने असगका अनुसरण नहीं किया, बल्कि महाकवि असगने ही हरिचन्द्रका अनुसरण किया है। यथा—

प्रथिता विभाति नगरी गरीयसो धुरि यत्र रम्यसुदतीमुखाम्बुजम्।
कुरुविन्दकुण्डलविभाविभावितं प्रविलोक्य कोपमिव मन्यते जनः॥
—जीवन्धर०, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, ६।२५

यत्रोल्लसत्कुण्डलपद्मरागच्छायावतंसारुणिताननेन्दुः।
प्रसाद्यते किं कुपितेऽपि कान्ता प्रियेण कामाकुलितो हि मूढः॥
—वर्धमानचरितम्, सोलापुर, ई० १९३१, १।२६

सोदामिनीव जलदं नवमञ्जरीव चूतद्रुमं कुसुमसंपदिवाद्यमासम्।
ज्योत्स्नेव चन्द्रमसमच्छविभेव सूर्यं त भूमिपालकमभूषयदायताक्षी॥
—जीवन्धरचम्पू १।२७

विद्युल्लतेवाभिनवाम्बुवाहं चूतद्रुमं नूतनमञ्जरीव।
स्फुरत्प्रभेवामलपद्मरागं विभूषयामास तमायताक्षी॥
—वर्धमानचरितम् १।४४

हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयके दशम सर्गमें विन्ध्यगिरिकी प्राकृतिक सुषुमाका वर्णन किया है। महाकवि असगने इस सन्दर्भके समान ही उत्प्रेक्षाओ द्वारा विजयार्धका चित्रण किया है। यथा—

बिम्बं विलोक्य निजमुज्ज्वलरत्नभित्तौ क्रोधात्प्रतिद्विप इतोह ददौ प्रहारम्।
तद्भग्नदीर्घदशनः पुनरेव तोषाल्लीलालसं स्पृशति पश्य गजः प्रियेति॥
—धर्मशर्माभ्युदय, निर्णयसागर, १०।१९

यस्सानुदेशप्रतिबिम्बितं स्वं निरीक्ष्य वन्यद्विरदो मदान्धः।
समेत्य वेगेन रदप्रहारैर्हिनस्ति को वा मदिनां विवेकः॥
—वर्धमानचरितम् ५।५

वर्धमानचरितके रचयिता कवि असगने[1] इस काव्यका रचनाकाल ई० सन् ९८८ बताया है। अतएव इस काव्यके पूर्व हरिचन्द्रका समय मानना प्रायः उचित है। चन्द्रप्रभचरितसे धर्मशर्माभ्युदय प्रभावित है और धर्मशर्माभ्युदयसे वर्धमानचरित, नैषधचरित एवं धर्मशर्माभ्युदय प्रभावित हैं। अतः हरिचन्द्रका समय ई० सन् १०वी शती है।

रचनाएँ

महाकवि हरिचन्द्रकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू। कुछ विद्वान् जीवन्धरचम्पूको धर्मशर्माभ्युदयके कर्त्ता हरिचन्द्रकी रचना नहीं

---

[1] "संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते"—वर्द्धमानचरित प्रशस्ति श्लो० १८।१०४।

मानते, पर यह ठीक नहीं है। यतः इन दोनों रचनाओंमें भावों, कल्पनाओं और शब्दोंकी दृष्टिसे बहुत साम्य है।[1]

जीवन्धर चम्पूमें पुण्यपुरुष जीवन्धरका चरित वर्णित है। कथावस्तु ११ लम्भोंमें विभक्त है तथा कथावस्तुका आधार वादीभसिंहको गद्यचिन्तामणि एवं क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ हैं। यों तो इस काव्यपर उत्तरपुराणका भी प्रभाव है, पर कथावस्तुका मूलस्रोत उक्त काव्यग्रन्थ ही हैं। गद्य-पद्यमयी यह रचना काव्यगुणोंकी दृष्टिसे सुन्दर है। द्राक्षारसके समान मधुर काव्यरस प्रत्येक सहृदयको तृप्ति प्रदान करता है।

धर्मशर्माभ्युदयकी कथावस्तु

मंगलस्तवन, सज्जनप्रशंसा, दुर्जननिन्दा एवं आत्मनिवेदनके अनन्तर जम्बूद्वीपके अन्तर्गत भरतक्षेत्रका चित्रण किया है। इस क्षेत्रमें समस्त ऋद्धि-सिद्धियोंसे सम्पन्न रत्नपुर नामका सुन्दर नगर है।—प्रथम सर्ग

इस नगरमें महाप्रतापी महासेन नामका राजा शासन करता था। इसकी रूपवती और गुणवती सुव्रता नामकी पत्नी थी। इस राजदम्पतीको सन्तानके अभावमें समस्त सुख-वैभव नीरस प्रतीत होते थे। एक दिन उस नगरीके बाहरी उद्यानमें प्रचेता नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिराज पधारे। उद्यानपाल षट्ऋतुओंके फल-पुष्प लेकर महाराज महासेनके समक्ष उपस्थित हुआ और हाथ जोड़कर मुनिराजके आगमनकी सूचना दी।—द्वितीय सर्ग

राजा महासेनने नगरके उद्यानमें मुनिराजके पधारनेकी घोषणा करा दी। राजा, सामन्त वर्ग और प्रजा सहित मुनिराजके दर्शन करनेके लिए गया। नमस्कारके पश्चात् भूमिपर बैठकर उन मुनिराजसे पुत्र न होनेका कारण पूछा। मुनिराजने बताया कि पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथका जन्म होगा। राजाने धर्मनाथके पूर्व भव जाननेकी इच्छा व्यक्त की।—तृतीय सर्ग

मुनिराजने कहा—"वत्स! धातकीखण्ड द्वीपमें पूर्वविदेहकी सीता नदीके तटपर वत्स नामका देश है। इसमें समृद्धिसे युक्त सुसीमा नामकी नगरी है। इस नगरीमें दशरथ नामका राजा राज्य करता था। एक दिन पूर्णिमाकी रात्रिमें चन्द्रग्रहणको देखकर उसे संसारकी असारताका अनुभव हुआ और उसे संसारसे विरक्ति हो गयी। एक दिन उसने अपने विचार मन्त्रिमण्डलके समक्ष उपस्थित किये। राजाका सुमन्त्र नामका मन्त्री चार्वाक मतानुयायी था। अतः उसने आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें शंका व्यक्त की। राजाने सुमन्त्रकी शंकाओंका खण्डन कर आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया। दशरथ अपने पुत्र अतिरथको राज्यभार सौंपकर विमलवाहन मुनिराजसे दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर ली। तपश्चरण द्वारा उसने सर्वार्थसिद्धि नामक विमानमें "तेंतीससागरको

---

[1] श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा लिखित और भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा १९५८ ई० में प्रकाशित जीवन्धर चम्पूकी प्रस्तावना, पृ० ३७-४०।

आयु प्राप्त कर अहमिन्द्र जातिका देव हुआ। यही जीव स्वर्गसे च्युत होकर आजसे छह महीनेके अनन्तर तुम्हारी रानी सुव्रताके गर्भमें आयेगा और पन्द्रहवाँ धर्मनाथ नामका तीर्थंकर होगा"—चतुर्थ सर्ग

कुछ समयके पश्चात् स्वर्गके देवियाँ महारानी सुव्रताकी सेवाके लिए उपस्थित हुईं। राजा महासेन अंग, बंग, आन्ध्र, नैषध, कीर, केरल, कलिंग और कुन्तल देशके राजाओंसे कर प्राप्त करता था तथा धर्म-न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करता था। एक दिन रात्रिके उत्तरार्धमें रानी सुव्रताने सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होनेपर रानीने स्वप्नोंका फल राजासे पूछा और तीर्थंकर पुत्रकी उत्पत्तिकी सूचना समझ कर वह बहुत प्रसन्न हुई।—पंचम सर्ग

पुष्यनक्षत्र युक्त माघशुक्ला त्रयोदशीको शुभवेलामें सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। चतुर्निकाय देवो सहित इन्द्र भगवान्‌का जन्माभिषेक सम्पन्न करनेके लिए उपस्थित हुआ।—षष्ठ सर्ग

इन्द्रने शचीको अन्तःपुरमे भेजा। उसने मायानिर्मित शिशुको महिषीकी गोदमें समर्पित कर तीर्थंकर धर्मनाथको ले लिया। इन्द्र धर्मनाथको ऐरावतपर सवार कर सुमेरु पर्वतपर ले गया और वहाँ क्षीरोदकसे उनका अभिषेक सम्पन्न करनेका उपक्रम किया।—सप्तम सर्ग

शक्रने बालक धर्मनाथको सुमेरु पर्वतको पाण्डुक शिलापर स्थित मणिमय सिंहासनपर बैठाकर एक हजार आठ कलशोंके जलसे उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने उस शिशुको दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये। देवांगनाओंने नृत्यगान किया और सभी देवोंने उनकी स्तुति की। अभिषेकके अनन्तर इन्द्राणीने शिशु धर्मनाथको माताके पास सुलाकर मायामयी शिशुको दूर किया। इस प्रकार जन्मोत्सव सम्पन्न कर देवगण स्वर्गलोकको चले गये।—अष्टम सर्ग

बालक धर्मनाथ समयानुसार वृद्धिगत होने लगे। शैशव पार कर उन्होंने किशोरावस्थामें पदार्पण किया। इस अवस्थामें उनका तेज इस प्रकार बढने लगा, जैसे मध्याह्नसे सूर्यका और भारी साकल्यसे महायज्ञकी अग्निका तेज बढता है। उनके अंग-प्रत्यंग अप्रतिम सुन्दर थे। युवा होनेपर उनके सौन्दर्य और पराक्रम पराकाष्ठाको प्राप्त हुए। महाराज महासेनने सर्वगुणसम्पन्न समझकर कुमारको युवराजपदपर प्रतिष्ठित किया। एक दिन विदर्भके प्रतापराजके दूत उनकी पुत्री शृंगारवतीके स्वयंवरका सन्देश लेकर आये। पिताकी आज्ञासे कुमार धर्मनाथ भी इस स्वयंवरमें सम्मिलित होने चला।—नवम सर्ग

भागीरथीको पार कर कुमार विन्ध्यगिरिके निकट पहुँचा। युवराजके घनिष्ठ मित्र प्रभाकरने विन्ध्यगिरिको सुषमाका वर्णन नाना तरहसे किया।—दशम सर्ग

सुन्दर सुरम्य विन्ध्यगिरिपर युवराजने सैन्य शिविर डाला। उन्होंने स्नान कर वस्त्राभूषण बदले। इस समय षड् ऋतुएँ उनकी सेवाके लिए उपस्थित हुईं। कविने

यहाँ उद्दीपन रूपमें ऋतुओंका वर्णन किया है। विशेषतः कामचित्रोंके द्वारा परिस्थितियोंका चित्रण सम्पन्न हुआ है। ऋतुराज वसन्तसे आरम्भ होकर यह ऋतुवर्णन उत्तरोत्तर गम्भीर होता गया है। —एकादश सर्ग

अनन्तर किन्नरेन्द्र युवराज धर्मनाथसे वनक्रीड़ाका अनुरोध करता है। प्रसंगवश पुष्पावचयका कामचित्रोंके माध्यम द्वारा सुन्दर वर्णन किया गया है। —द्वादश सर्ग

तदनन्तर धूपकी मर्मवेधी पीड़ा होनेपर सैनिकोंने सुन्दरियों सहित नर्मदाके जलमें विहार किया। जलक्रीड़ाके समय कोई रमणी नदीके समीप मोती और मणिमय आभूषणोंसे युक्त पतिके वक्षःस्थलकी तरह किनारेपर पड़कर रागसे बार-बार नेत्र चलाने लगी। दूसरी ओर पुरुष समूह भोली-भाली नवेलियोंका जलसे सिंचन कर रहा था। —त्रयोदश सर्ग

जलविहारके अनन्तर स्त्रियोंने शृंगार किया, नवीन वस्त्राभूषण धारण किये। इसके पश्चात् सन्ध्या, अन्धकार और चन्द्रोदयका वर्णन किया गया है। नायिकाओंके प्रसाधन और दूतीप्रेषण आदि भी वर्णित हैं। —चतुर्दश सर्ग

युवा दूतीके वचन सुन रसिक युवक सुरापान करने लगे। कविने इस सर्गमें समागम सुखका भी काव्यमय वर्णन किया है। —पंचदश सर्ग

उषाकाल प्राप्त होनेपर देवोंके विशाल समूहने धर्मनाथकी निद्रा भंग करनेके लिए विविध प्रकारसे स्तुति-पाठ किया। स्तुति-पाठ सुनकर धर्मनाथ जागे और लक्ष्य-सिद्धिके हेतु विदर्भ देशकी ओर प्रस्थान किया। धन-धान्यसे समृद्ध विदर्भ देशमें पहुँचनेपर कुण्डनपुरके राजा प्रतापराजने उनका स्वागत किया। —षोडश सर्ग

दूसरे दिन धर्मनाथ स्वयंवर मण्डपमें पधारे। सुभद्रा नामक प्रतिहारीने स्वयंवरमें सम्मिलित हुए राजकुमारोंका परिचय दिया। शृंगारवती धर्मनाथके गुणश्रवण कर मुग्ध हो गयी और वरमाला उनके गलेमें पहना दी। धर्मनाथ अपनी समस्त सेनाको सुषेण सेनापतिके अधीन कर विमान द्वारा वधूसहित अपने नगरमें आये। —सप्तदश सर्ग

राजकुमारके राजधानीमें पहुँचनेपर आनन्दोत्सव सम्पन्न किया गया। महासेनने कुमारको राजनीति और धर्मनीतिका उपदेश देकर राज्यसिंहासनपर आरूढ किया और स्वयं विरक्त हो वनका रास्ता लिया। —अष्टादश सर्ग

सेनापति सुषेणके दूतने कहना आरम्भ किया—स्वामिन्! आपके चले आनेके बाद कुटिल राजाओंके समूहने सेनापति सुषेणको युद्धके लिए ललकारा। दोनों ओरकी सेनाओंमें घमासान युद्ध हुआ। सुषेणने सभी राजाओंको परास्त कर विपुल धनराशि प्राप्त की है। धर्मनाथने उस धनको राज-कोशमें जमा न कर प्रजामें वितरित कर दिया। —एकोनविंश सर्ग

धर्मनाथने पाँच लाख वर्ष पर्यन्त आसमुद्र पृथ्वीका पालन किया। टूटती

उल्काओंको देखनेसे उन्हें विरक्ति हो गयी। लौकान्तिक देवोंने उनके वैराग्यकी वृद्धि की और वे अपने पुत्रोंको राज्यभार सौंपकर माघशुक्ला त्रयोदशीके दिन दीक्षित हो गये। मुनि अवस्थामें सर्वप्रथम आहार पाटलिपुत्रके राजा धन्यसेनके यहाँ हुआ। कठोर तप करनेपर माघी पूर्णिमाको केवलज्ञानकी उपलब्धि हुई। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवशरणसभाकी रचना की। तीर्थंकर धर्मनाथ उपदेश देने लगे। —विंश सर्ग

धर्मनाथने सात तत्त्वोंका विशद विवेचन किया। इनकी सभामें ४२ गणधर थे। पार्श्वनाथ पहाड़पर चैत्र शुक्ला चतुर्थीको रात्रिमें आठ सौ मुनियोंके साथ इन्होंने निर्वाणलाभ किया। —एकविंश सर्ग

कथावस्तुका स्रोत और गठन

धर्मनाथके जीवन सूत्र तिलोयपण्णत्तिमें पाये जाते हैं। माता-पिताका नाम[1], जन्म-नगर, जन्म समय, केवलज्ञानतिथि[2] एवं निर्वाणतिथि[3]का संकेत भी इस ग्रन्थमें है। कवि हरिचन्द्रने अपने इस काव्यकी कथावस्तु उत्तरपुराणसे ग्रहण की है। उत्तर पुराणके ६१वें पर्व में धर्मनाथ चरित आया है। बताया गया है कि सुसीमा महानगरमें दशरथ नामका राजा राज्य करता था। एक बार वैशाखी पूर्णिमाको लगे चन्द्रग्रहणको देख कर उसे विरक्ति हो गयी और वह अपने पुत्र महारथको राज्य देकर दीक्षित हो गया। तपश्चरणके प्रभावसे उसने सर्वार्थसिद्धि नामक विमानमें जन्म ग्रहण किया। वहाँसे च्युत हो वह रत्नपुर नरेश भानुकी महादेवी सुप्रभाके गर्भमें अवतीर्ण हुआ। माघ शुक्ला त्रयोदशीको उसने जन्म ग्रहण किया। इसका जन्मोत्सव देवोंने सम्पन्न किया और धर्मनाथ नाम रखा गया। इन्होंने पाँच लाख वर्ष प्रमाण राज्य किया और उल्कापात देखने से इन्हें विरक्ति हुई। मुनिदीक्षा ग्रहण करनेपर पाटलिपुत्रके राजा धन्यषेणके यहाँ प्रथम आहार ग्रहण किया। केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश दिया और सम्मेदाचलसे निर्वाणलाभ किया।

उपर्युक्त पौराणिक कथावस्तुको ग्रहण कर कविने प्रस्तुत काव्यको निबद्ध किया है। कथावस्तुमें नामोंके परिवर्तनके साथ महाकाव्योचित धर्म उत्पन्न करनेके लिए स्वयंवर वर्णन, विन्ध्याचल, षड्ऋतु पुष्पावचय, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय एवं रतिक्रीडाके वर्णन भी प्रस्तुत किये हैं। उत्तरपुराणमें धर्मनाथके पिताका नाम भानु बताया है, पर धर्मशर्माभ्युदयमें महासेन। माताका नाम भी सुप्रभाके स्थानपर सुव्रता आया है। कविने

---

[1] रयणपुरे धम्मजिणो भाणुणरिंदेण सुव्वदाए य।
माघसिदतेरसीए जादो पुस्सम्मि णक्खत्ते॥ —तिलो०, सोलापुर, १९५१ ई०, चतुर्थ अधिकार गा० ५४०।

[2] पुस्सस्स पुण्णिमाए पुस्से रिक्खे सहेदुगम्मि वणे।
अवरण्हे सजादं धम्मजिणिंदस्स केवलं णाणं॥ —वही, चतुर्थ अ०, गा० ६९२।

[3] जेट्ठस्स किण्हचोद्दसिपच्चूसे जम्मभम्मि सम्मेदे।
सिद्धो धम्मजिणिंदो रूवाहिय अडसएहि जुदो॥ —वही, चतुर्थ० गा० ११९६।

कथावस्तुको पूर्वभवावलीके निरूपणसे आरम्भ न कर वर्तमान जीवनसे आरम्भ किया है। रघुवंशके दिलोपके समान महासेन भी पुत्र-चिन्तासे आक्रान्त हैं। उन्हें जिस प्रकार सूर्यके बिना नभ, नीति-बिना पराक्रम, सिंह-बिना वन, चन्द्रमा-बिना रात्रि, लावण्यहीन शरीर आभाहीन प्रतीत होते है, उसी प्रकार प्रताप, लक्ष्मी और बल-पौरुष सन्तानके अभाव में शोभारहित मालूम पड़े हैं। वे सोचते हैं कि जिसने जीवनमे पुत्र-स्पर्शका अलौकिक आनन्द प्राप्त नहीं किया, उसका जन्म धारण करना व्यर्थ है। अतः महासेन नगरके बाहरी उद्यानमे पधारे हुए ऋद्धिधारी प्रचेता नामक मुनिके निकट पहुँचते हैं। वे उनके समक्ष पुत्रचिन्ता व्यक्त करते है। प्रसंगवश मुनिराज धर्मनाथकी पूर्वभवावली बतलाते हैं और छह महीनेके उपरान्त तीर्थंकर पुत्र प्राप्तिकी भविष्यवाणी करते हैं।

इस सन्दर्भमे पुनर्जन्म और कर्मफलकी सिद्धिके लिए राजा दशरथ और चार्वाक-मतानुयायी सुमन्त्र मन्त्रीका आत्मविषयक वार्तालाप भी निबद्ध है। मन्त्रीने आत्मतत्त्वका खण्डन करते हुए कहा—''इस शरीरके अतिरिक्त कोई भी आत्मा भिन्न अवयवोंमे न तो जन्मके पहले प्रवेश करती दिखलाई देती है और न मरनेके बाद ही निकलते दिखलाई पडती है। जिस प्रकार गुड, अन्न, पानी और आँवलोंके सयोगसे एक उन्माद उत्पन्न करनेवाली शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, अग्नि, जल और वायुके संयोगसे इस शरीररूपी यन्त्रका संचालन उत्पन्न हो जाता है। अत. आत्मा और परलोक आकाशकुसुमके समान नही है''।[1]

मन्त्रीके उपर्युक्त कथनका खण्डन करते हुए राजाने कहा—''जीव अपने शरीरमें सुखादिकी तरह स्वसंवेदनसे जाना जाता है। पूर्वभवके संस्कारके कारण तत्काल उत्पन्न बालक माताका स्तनपान करता है। बिजातीय भूतोसे चेतन आत्माकी उत्पत्ति नही हो सकती है। अमूर्तिक होनेसे आत्मा दृष्टिगोचर नही होती। वस्तुतः यह आत्मा अमूर्तिक, निर्बाध, कर्ता, भोक्ता, चेतन और ज्ञानदर्शन युक्त है। स्वानुभव द्वारा इसका अस्तित्व सिद्ध है। अतएव पुनर्जन्म और कर्मफलकी सिद्धि होती है[2]।''

कविने कथावस्तुके लघु कलेवरको पूर्णतया सुगठित बनानेका प्रयास किया है।

---

[1] न जन्मन प्राङ् न च पञ्चताया परो विभिन्नेऽवयवे न चान्त ।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा ॥धर्म० ४।६४
किं त्वत्र भूवह्निजलानिलाना संयोगत कश्चन यन्त्रवाह ।
गुडान्नपिष्टोदकधातकीनामुन्मादिनी शक्तिरिवाभ्युदेति ॥४।६५ धर्म०

[2] जीव स्वसवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात् ।
कार्ये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टे स्व इवानुमेय ॥४।६८ धर्म०
तत्कालजातस्य शिशोरपास्य प्राग्जन्मसंस्कारमुरोजपाने ।
नान्योऽस्ति शास्ता तदपूर्वजन्मा जीवोऽयमित्यात्मविदा न वाच्यम् ॥४।६९ धर्म०
सयोगतो भूतचतुष्टयस्य यज्जायते चेतन इत्यवादि ।
मरुज्ज्वलत्पावकतापिताम्भ स्थाल्यामनेकान्त इहास्तु तस्य ॥४।७१ धर्म०
तस्मादमूर्तश्च निरत्ययश्च कर्ता च भोक्ता च सचेतनश्च । ४।७३ धर्म०

महासेनकी पुत्राभावजन्य चिन्ता और उस चिन्ताको चारण मुनिके सम्मुख अभिव्यक्तीकरण नाटकीय है। इसे मुखसन्धि कहा जा सकता है। रानी सुव्रताका स्वप्न दर्शन, धर्मनाथका जन्म एवं जन्मोत्सव प्रतिमुख सन्धिस्थल है। धर्मनाथ पुण्यके प्रभावसे अपने जीवनमें सभी प्रकारकी उपलब्धियोंको प्राप्त करते हैं। विघ्न-बाधाओंका अभाव है। अतः कथावस्तुमें नाटकीय द्वन्द्व नहीं है। फलतः गर्भ और विमर्श सन्धिकी योजना नहीं हो पायी है। यद्यपि सुषेण सेनापतिके साथ अनेक राजाओंने युद्ध किया है, और विजय-लक्ष्मी सुषेणको ही प्राप्त हुई है, पर नायक धर्मनाथको पहले ही युद्धभूमिसे रत्नपुर भेजकर कविने पौराणिकताकी रक्षा की है। मतः पौराणिक परम्पराके अनुसार तीर्थंकर चक्रवर्तित्व पदको छोड़ अन्य स्थितियोंमें युद्ध नहीं करते। अतः संघर्ष और द्वन्द्व नायकके जीवनमें नहीं आ पाये हैं।

कविने नायकको पौराणिकताके आवरणमें पूर्णतया आवेष्टित रखा है। वनमें तीर्थंकर धर्मनाथके पहुँचते ही षड्ऋतुओंके फल-पुष्प एक साथ विकसित हो जाते हैं[1]। धर्मनाथके निवासके लिए कुबेरने सुन्दर नगरका निर्माण किया।[2] जन्मके दस अतिशयोंको काव्यका रूप देनेका प्रयास किया है और नायकमें अपूर्व सामर्थ्यका चित्रण करते हुए कहा है कि मार्ग चलनेके कारण क्लान्त न भी होनेपर रूढिवश उन्होंने स्नान किया और मार्गका वेष बदला।[3] इस प्रकार कविने नायकको पौराणिकतासे ऊपर उठानेकी चेष्टा की है, किन्तु तीर्थंकरत्वकी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके कारण पूर्णतया उस सीमाका अतिक्रमण नहीं हो सका है।

महाकाव्यत्व

धर्मशर्माभ्युदयमे शास्त्रीय महाकाव्यके समस्त लक्षण पाये जाते है। चरित्रकी महनीयताके साथ वर्णन चमत्कारोका भी पूर्णतया समावेश हुआ है। मंगलस्तवनके अनन्तर सज्जन-दुर्जन[४], जम्बूद्वीप[५], सुमेरु[६], भारतवर्ष[७], आर्यावर्त[८], रत्नपुरनगर[९],

---

[१] नभसि दिक्षु वनेषु च संचरन्नृतुगणोऽथ गुणाढ्यमियाय तम्।
समुपभोक्तुमिवे तदुपासनारसमय समयं स्वमवन्निव ॥ धर्म० ११।६।

[२] देवा यावदचिन्तयन्निधिभृता तावत्क्षणान्निर्मितम्
शालामन्दिरमन्दुरावलभीप्राकारसार पुरम् ॥ वही १०।५७।

[३] न घनघर्मपय'पृषतोदया न च तनुत्वमजायत यत्प्रभो ।
तदभिनत्पटुतां न जगज्जनोरसवपुषो वपुषोऽध्वपरिश्रम ॥ वही ११।४
तदपि रूढिवशात्कृतमज्जनो विहितयात्रिकवेषविपर्यय'।
अयमुवाह रुचि नयनप्रिया न च न काचन काञ्चनदीधिति ॥ वही ११।५॥

[४] धर्म० १।२८-३१।

[५] वही १।३२।

[६] वही १।३८।

[७] वही १।४१।

[८-९] वही १।४३-८६।

राजा[1], मुनिवर्णन[2], उपदेशश्रवण[3], दाम्पत्य-सुख[4], पुत्रप्राप्ति[5], बाल्य-यौवन[6], युवराजावस्था[7], विन्ध्याचल[8], षड्ऋतु[9], पुष्पावचय[10], जलक्रीड़ा[11], सन्ध्या[12], अन्धकार[13], चन्द्रोदय[14], नायिका-प्रसाधन[15], पानगोष्ठी[16], रात्रिक्रीड़ा[17], प्रभात[18], स्वयंवर[19], विवाह[20], युद्ध[21] एवं वैराग्य[22] प्रभृतिका विभिन्न उत्प्रेक्षाओं और उपमानों द्वारा वर्णन किया है। धर्मनाथके जीवनकी महती घटनाके साथ महत्प्रेरणा और महदुद्देश्य भी निहित हैं।

महाकवि हरिचन्द्रने अपने धर्मशर्माभ्युदयमें प्रसंगवश काव्यका स्वरूप भी निबद्ध किया है। इस स्वरूपके अवलोकनसे निम्न सिद्धान्त प्रस्फुटित होते हैं।

१. अभिनवपद योजना[23]
२. अर्थगर्भत्व[24]
३. उत्कृष्ट अर्थपूर्णता[25]
४ शृंगारादि रसयुक्त[26]
५. उपमादि अलंकारोंकी स्निग्धता[27]
६ माधुर्य प्रसादादिगुण समन्विति[28]
७. वर्णनचमत्कार[29]
८ महच्चरित्रकी स्थापना[30]

---

१ वही २।१-३४।
२. वही ३।४२-४३।
३. वही चतुर्थ सर्ग।
४. वही पंचम सर्ग।
५ वही षष्ठ सर्ग।
६-७. वही नवम सर्ग।
८. वही दशम सर्ग।
९. वही एकादश सर्ग।
१०. वही द्वादश सर्ग।
११. वही त्रयोदश सर्ग।
१२-१५. वही चतुर्दश सर्ग।
१६-१७. वही पंचदश सर्ग।
१८. वही षोडश सर्ग।
१९-२०. वही सप्तदश सर्ग।
२१. वही एकोनविंश सर्ग।
२२. वही विंश सर्ग।
२३-२४. हृद्यार्थबन्ध्या पदबन्धुरापि वाणी बुधानां न मनो धिनोति।
न रोचते लोचनवल्लभापि स्नुहीक्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्य ॥ धर्म० १।१५।
२५-२६. पदे पदे यत्र परार्थनिष्ठा रसस्थितिं कामपि नाटयन्त्य ॥ १।७५।
२७-२८. सर्वतोऽपि सुमनारमार्पितालकृतिगुणविशेषशालिनी। वही ५।५७।
२९. चेतश्चमत्कारिणमत्युदारं नवं रसैरर्थमिवातिरम्यम्। वही १७।५५।
३०. वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र। वही १।११ तथा "चरित्र महतामवेति" १७।४५।

९. उदात्त[1] और विशद[2] शैली

१०. प्रबन्ध ग्रन्थन[3] की पटुता

११. शब्दार्थसन्दर्भ[4] विशेषगर्भत्व

कविने अपने काव्यके अन्तमें प्रशस्ति अंकन करते हुए लिखा है—

> स कर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः ।
> श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त ॥ प्रशस्ति ७ पद्य

जो रस, रूप और ध्वनिके मार्गका मुख्य सार्थवाह था, ऐसे महाकविने कानोंके लिए अमृतरसके प्रवाहके समान यह धर्मशर्माभ्युदय नामका महाकाव्य रचा है। पदार्थ वर्णनकी विचित्रता रूप शक्ति कविको सहज रूपमे प्राप्त है। प्रस्तुत सन्दर्भमें वस्तु-वर्णनके कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते है।

गंगाका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

> तापापनोदाय सदैव मूत्रयीविहारखेदादिव पाण्डुरद्युतिम् ।
> कीर्तेर्वयस्यामिव भर्तुरग्रतो विलोक्य गङ्गा बहु मेनिरे नरा. ॥०।१८

धर्मनाथके साथी गंगाको देखकर बहुत प्रसन्न हुए, जो कि सन्ताप दूर करनेके खेदसे ही मानो श्वेत वर्णकी हो रही है और स्वामी धर्मनाथकी कीर्तिकी सहेली-सी जान पड़ती है।

> काञ्चीव रत्नोच्चयगुम्फिता क्षितेर्दिवश्च्युतेवामलमौक्तिकावलिः ।
> कृष्टा सशब्दं पुरुहूतदन्तिनो विराजते राजतश्रृङ्खलेव या ॥९।७२

यह गंगानदी ऐसी सुशोभित होती है, मानो रत्नोके समूहसे खचित पृथिवी की करधनी ही हो, अथवा आकाशसे गिरी मोतियोंकी माला ही हो अथवा शब्दसहित खीची हुई ऐरावत हाथीकी चाँदीकी सांकल ही हो।

सूर्यास्तका वर्णन बहुत ही मार्मिक है। आकाशमे विधवा स्त्रीका आरोप कर कवि कहता है—

> अस्तं गते भास्वति जीवितेशे विकीर्णकेशेव तमःसमूहैः ।
> ताराश्रुबिन्दुप्रकरैर्वियोगदुःखादिव द्यौ रुदती रराज ॥१४।२४

सूर्यके अस्त होनेपर ऐसा मालूम पड़ता था कि आकाशरूपी स्त्री सूर्यरूप पतिके नष्ट हो जानेपर विधवा हो गयी है, अत. वह अन्धकार समूहके बहाने केश बिखेरकर तारारूप अश्रुबिन्दुओंके समूहसे मानो रो ही रही हो।

अन्धकारका चित्रण करते हुए कवि कहता है—

---

१. चेतोमुदं। वही १।७५।

२ अत्युदारम्, वही १७।५५।

३. गुम्फविचक्षण, वही १।१४।

४. शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा, वही १।१६।

अस्ताचलात्कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे ।
उड्डीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नभस्तमोभिः ॥१४।२२

जब कालरूपी वानरने मधुके छत्तेके समान सूर्य बिम्बको अस्ताचलसे उखाड़कर फेंक दिया, तब उड़नेवाली मधु-मक्खियोकी तरह अन्धकारसे यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया।

प्रकृतिका चित्रण कविने विभिन्न रूपोंमे किया है। प्रकृति द्वारा मानव हृदयके अव्यक्त उल्लासकी अभिव्यंजना करता हुआ कवि कहता है कि महाराज महासेनको प्रकृति अपना मंगलस्तवन करती हुई प्रतीत होती है।

तन्वाना चन्दनोद्दामतिलकं वदने किल ।
करोत्यक्षतदूर्वाभिर्मंगलं मे वनस्थली ॥३।३३

अपने अग्रभागमे चन्दन वृक्षसे उत्कट तिलक वृक्षको धारण करनेवाली यह वनकी वसुधा अखण्ड दूर्वाके द्वारा हमलोगोका ठीक उस तरह मंगलास्तवन कर रही है, जिस तरह कि मुखपर चन्दनका बडा सा तिलक लगानेवाली सौभाग्यवती स्त्री अक्षत और दूर्वाके द्वारा किसी अभ्यागतका मंगल करती है।

व्यक्तिविशेषके आगमनसे प्रकृतिमे परिवर्तन देखा जाता है। धर्मनाथके वनमें पहुँचते ही षड्ऋतुएँ फलने-फूलने लगती है। "दिवसैव पुण्यजननी विषयः स धन्य." (१०।५३) मे किन्नरोक्तिसे उक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है। प्रकृतिका मानवीकरण करते हुए कविने सूर्यपर धीवरका आरोप कर चित्रण किया है।

अस्ताद्रिमारुह्य रविः पयोधौ कैवर्तवत्क्षिप्तकराग्रजालः ।
आकृष्य चिक्षेप नभस्तटेऽसौ क्रमात्कुलीरं मकरं च मीनम् ॥१४।८

सूर्य धीवरकी तरह अस्ताचलपर आरूढ हो समुद्रमे अपने किरणरूपी जालको डाले हुए था; ज्यो ही कर्क—केंकडा, मकर—मगर और मीन—मत्स्य (पक्षमें राशियाँ) उसके जालमे फँसे त्यों ही उसने खीचकर उन्हें क्रम-क्रमसे आकाशमें उछाल दिया।

इसी प्रकार सूर्यमें गोताखोर (१४।१७), सूर्यमें सैनिक (१४।१०), चन्द्रमामें उपपति (१४।३२) और उदयाचलमें धानुष्क (१४।३४) का आरोप किया है। जिस प्रकार कविने प्रकृतिपर मानवीय व्यापारोका आरोप किया है, उसी प्रकार मानवीय भावनाओंका भी। यथा—

तन्नूनं प्रियविरहार्तचक्रवाक्या. कारुण्यान्निशि रुदितं घनं नलिन्या ।
यत्प्रातर्जललवलाञ्छितारुणानि प्रेक्ष्यन्ते कमलविलोचनानि तस्याः ॥१६।१०

पतिके विरहसे दुःखी चकवीपर दया आनेसे कमलिनी मानो रात भर खूब रोती रही है, इसीलिए तो उसके कमलरूपी नेत्र प्रात कालके समय जलकणोंसे चिह्नित एवं लाल-लाल दिखाई दे रहे है।

कवि सन्ध्याको कपालीके रूपमें चित्रित करता हुआ कहता है—

भस्मास्थिप्रकरकपालकश्मलोऽग्रे यः सन्ध्यावसरकपालिनावकीर्णः ।
तं भास्वत्युदयति चन्द्रिकोडुचन्द्रव्याजेनावकरमपाकरोति कालः ॥१६।२२

सन्ध्याकाल रूपी कपालीने जो आगे भस्म, हड्डियोंका समूह और कपालरूपी मलिन वस्तुओंका समूह फैला रखा था, उसे प्रातःकाल सूर्यके उदित होनेपर चाँदनी, नक्षत्र, और चन्द्रमाके बहाने कचडाकी तरह दूर कर दिया।

मानवप्रकृतिके साथ कविने पशुप्रकृतिका भी चित्रण किया है। गजप्रकृति (१६।४५-४८) में, अश्वप्रकृति (१६।४९-५४) में और ऊँट प्रकृति (१६।५५) में वर्णित है।

सौन्दर्य प्रसाधनका चित्रण विभिन्न प्रकारसे किया गया है। रानी सुव्रताका देवियों द्वारा विभिन्न प्रकारसे शृंगार प्रसाधन किया जा रहा है। किसी देवीने रानीके मस्तकपर पुष्पोंसे सुशोभित चूडाबन्धन किया था, जो त्रिभुवन विजयके लिए कामदेवके तूणीरके समान मालूम होता था[1]। किसीने उनके शरीरमें अंगराग लगाया था, जो सन्ध्याकी लालिमाके समान था[2]। किसीने मस्तकपर केश-पंक्ति सजायी थी, जो मुख-कमलके समीप सुगन्धके लोभमे एकत्र हुई भ्रमरपंक्तिके समान शोभित होती थी।[3] किसी देवीने कस्तूरीरससे मकरीका चिह्न बनाया था, जो ऐसा जान पडता था मानो उसके सौन्दर्यसागरकी गहराई ही कह रहा है।[4] कवि रानी सुव्रताके ओष्ठका वर्णन करता हुआ कहता है—

प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादय. समा बभूवुः प्रभयैव केवलम् ।
रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चितं जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम् ॥२।५१

किसलय, बिम्बीफल और मूँगा आदि केवल वर्णकी अपेक्षा ही उसके ओठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय ही अमृत भी उसका शिष्य हो चुका था। कविने नासिका, कर्ण, मुख, पयोधर, कटि, भ्रू, ललाट प्रभृतिका सुन्दर निरूपण किया है। सुव्रताकी भौंहोंका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः ।
लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मङ्गलाक्षरम् ॥२।५५

इस निरवद्य सुन्दरीको बनाकर विधाता मानो सृष्टिके ऊपर कलश रखना चाहता था, इसीलिए तो उसने तिलकसे चिह्नित भौंहोंके बहाने उसके मुखपर 'ॐ' यह मंगलाक्षर लिखा था।

कवि अपने प्रत्येक उत्प्रेक्षाको तर्कसंगत तथ्यके रूपमें प्रस्तुत करना चाहता है। वह मिथ्या बातको भी उत्प्रेक्षाके आँचलमें बाँधकर इस प्रकार प्रस्तुत करता है जिससे

---

[1] धर्म० ६।४८।
[2] वही ६।४६।
[3] वही ६।५०।
[4] वही ६।५१।

मिथ्या भी सत्य प्रतीत होने लगता है। चन्द्रग्रहणके सन्दर्भमें कवि कहता है कि चन्द्रमा पतिहीन नारियोंको सन्ताप उत्पन्न करता है, अतः इसी पापके कारण वह राहुके द्वारा ग्रसित होता है—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भक्षणक्षपायां क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रैक्ष्यत गृह्यमाणम् ॥४।४१

तदनन्तर दशरथने एक दिन पूर्णिमाकी रात्रिको जब कि आकाश मेघरहित होनेसे अत्यन्त स्वच्छ था, पतिहीन स्त्रियोंको कष्ट पहुँचानेके पापसे ही मानों राहुके द्वारा ग्रसे जानेवाले चन्द्रमाको देखा।

चन्द्रग्रहणके सम्बन्धमें राजा वितर्क करता है कि क्या यह मदिरासे भरा हुआ रात्रिका स्फटिक मणि निर्मित कटोरा है? या चंचल भौरोंके समूहसे चुम्बित आकाश-गंगाका विकसित श्वेत कमल है? अथवा ऐरावत हाथीके हाथसे किसी तरह छूटकर गिरा हुआ पंकयुक्त मृणालकन्द है? या नील मणिमय दर्पणकी आभासे युक्त आकाशमें मूँछ सहित मेरा मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है?

किं सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिदं रजन्याः परिपूर्यमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गास्फुटकैरवं वा ॥४।४२॥
ऐरावणस्याथ करात्कथंचिच्च्युतः सपङ्को विसकन्द एषः ।
किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्रं प्रतिबिम्बितं मे ॥४।४३॥

कविकी प्रतिभा अनूठी है। वह मेघ, चन्द्रमा और चन्दन आदि उपकारी और सुखदायक पदार्थोंका निर्माण सज्जन पुरुषोंकी रचना करते समय विधाताके हाथसे गिरे हुए परमाणुओं द्वारा मानता है। यथा—

साधोर्विनिर्माणविधौ विधातुश्च्युताः कथंचित्परमाणवो ये ।
मन्ये कृतास्तैरुपकारिणोऽन्ये पाथोदचन्द्रद्रुमचन्दनाद्याः ॥१।१९

खलकी उपयोगिताका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

अहो खलस्यापि महोपयोगः स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितपात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षतमेव गावः ॥१।२६

बडे आश्चर्यकी बात है कि स्नेहहीन खल—दुर्जनका भी बड़ा उपयोग होता है, क्योंकि उसके संसर्गसे रचनाएँ बिना किसी त्रुटिके पूर्ण आनन्द प्रदान करती हैं। (अप्रकृत अर्थ)—कैसा आश्चर्य है कि तेल रहित खलीका भी बड़ा उपयोग होता है, क्योंकि उसके सेवनसे गायें बिना किसी आघातके बरतन भर-भरकर दूध देती हैं।

रसभावयोजना

धर्मशर्माभ्युदयमें शृंगार और शान्तरसका अपूर्व चित्रण हुआ है। कविने भाव सौन्दर्यकी व्यापक परिधिमें कल्पना, अनुभूति, संवेग, भावना, स्थायी और संचारी भावोंका समावेश किया है। हृदयको रंजित या द्रवित करनेवाली अनुभूतियोंका समावेश

प्रस्तुत काव्यमें वर्तमान है। भावोंकी उमड़-घुमड़ है, पर सीमाका अतिक्रमण नहीं है। शृंगारवती हस्तिनीपर सवार हो स्वयंवर भूमिमें राजाओंका निरीक्षण कर रही है, वह क्रमशः एक-एक कर राजाओंको छोड़ती जाती है, पर जब धर्मनाथके निकटमें पहुँचनेपर सुभद्रा हस्तिनीको आगे बढ़ाने लगती है, तो उसके मनमे अपूर्व द्वन्द्व होता है। वह धर्मनाथके आगेसे जाना नही चाहती। सुभद्रा हथिनीको खींचकर आगे ले जाना चाहती है, तो शृंगारवती उसके वस्त्रका अंचल खींचकर रोक देती है। यथा—

भावं विदित्वापि तथा करेणुं सख्याः सहासं पुरतः क्षिपन्त्याः।
चेलाञ्चलं सा चलपाणिपद्मा प्रोत्सृज्य लज्जां द्रुतमाचकर्ष ॥ १७।७९

महाराज महासेन अनिन्द्य सुन्दरी सुव्रताको एकटक दृष्टिसे देखने लगे। उनकी विचारधारा नदीके आवर्त-विवर्तोंके समान चक्कर लगाने लगी और वह सोचने लगे—"जिस विधाताने नेत्र रूप चकोरोंके लिए चाँदनी तुल्य इस सुव्रताको बनाया है, वह अन्य ही है अन्यथा वेदनभावान्वित—वेदज्ञानसे सहित; (पक्षमें वेदनासे सहित) प्रकृति ब्रह्मासे ऐसा अमन्द कान्ति सम्पन्नरूप कैसे बन सकता है ? ऐसा प्रतीत होता है कि विधाताके कनेरसे सुगन्धि, इक्षुसे फल और कस्तूरीसे मनोहररूप लेकर ही इसका सृजन किया है।

चकार यो नेत्रचकोरचन्द्रिकामिमामनिन्द्यां विधिरन्य एव सः।
कुतोऽन्यथा वेदनया न्वितास्ततोऽप्यभूदमन्दद्युतिरूपमीदृशम् ॥ २।६४
द्रुमोत्पलात्सौरभमिक्षुकाण्डतः फलं मनोज्ञां मृगनाभितः प्रभाम्।
विधातुमस्या इव सुन्दरं वपु कुतो न सारं गुणमाददे विधिः ॥ २।६५

कवि अर्धनारीश्वरकी कल्पनाका औचित्य दिखलाता हुआ शिवजीकी भावनाका विश्लेषण करता है। शिव जब यह देखते हैं कि लक्ष्मी सुन्दर नेत्रवाले विष्णुको छोड़कर राजा दशरथके पास चली गयी, तो उन्हें यह चिन्ता उत्पन्न होती है कि कही पार्वती उन्हें छोड़कर अन्यत्र न चली जायें। अतएव वे पार्वतीको अपने शरीरार्धमें ही बद्ध कर लेते हैं। यथा—

यत्पुण्डरीकाक्षमपि व्यपास्य स्मराकृतेस्तस्य वशं गता श्रीः।
सेर्ष्यं विरूपाक्ष इतो व्यधात्सो देहार्धनद्धां किल शैलपुत्रीम् ॥ ४।२१

राजा दशरथ अत्यन्त सौभाग्यशाली है। पृथ्वी, कीर्त्ति और रतिने एक साथ उसका आलिंगन किया था।

सरागमुर्व्या मृगनाभिदम्भादपारकर्पूरपदेन कीर्त्या।
रत्यापि दन्तच्छदरुक्छलेन स एकहेलं सुभगोऽवगूढः ॥ ४।३६

कस्तूरीके बहाने पृथ्वीने, कपूरके बहाने कीर्त्तिने और ओठोंकी लाल-लाल कान्तिके बहाने रतिने एक साथ उसका आलिंगन किया था—वस्तुतः वह राजा बड़ा सौभाग्यशाली था।

शिष्ट हास्यका चित्रण करता हुआ कवि जन्म समयके अवसरपर देवोंके पधारनेके समय ऐरावत सूर्यको रक्तकमल समझकर अपनी सूँड़से खींचता है, पर जब सूर्य उसे गर्म लगता है तो वह झेंप जाता है और सूँड़को फड़फड़ाने लगता है। उसकी उस स्थितिको देखकर आकाशमें सभीको हँसी आ जाती है।

रक्तोत्पलं हरितपत्रविलम्बि तीरे त्रिस्रोतसः स्फुटमिति त्रिदशद्विपेन्द्रः ।
बिम्बं विकृष्य सहसा तपनस्य मुञ्चन्धुन्वन्करं दिवि चकार न कस्य हास्यम् ॥ ८।४४

पुत्र वात्सल्यका मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। महाराज महासेन पुत्रके शरीरका समागम प्राप्त कर आनन्दसे अपने नेत्र बन्द कर लेते थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो गाढ़ आलिंगन करनेसे इसका शरीर हमारे भीतर कितना प्रविष्ट हुआ। यही देखना चाहते हों। धर्मनाथको गोदमें रख आलिंगन करते हुए राजा हर्षातिरेकसे जब लोचन बन्द कर लेते थे तब ऐसे प्रतीत होते थे, मानो स्पर्शजन्य सुखको शरीर रूप घरके भीतर रख दोनों किवाड़ ही बन्द कर रहे हो।

उत्सङ्गमारोप्य तमङ्गजं नृपः परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ ।
अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम् ॥ ९।११

वीररसका प्रसंग सुषेणके युद्धके अवसरपर आया है। धर्मनाथ-विरोधी नृपति युद्ध करनेके लिए सन्नद्ध है। इस समय सुषेणकी सेनामें युद्ध वाद्य बजने लगते हैं, मदोन्मत्त हाथी विजय प्राप्त करनेके लिए गर्जना करते हैं। हर्षके कारण शूरवीरोंके शरीरोंपर बहुत भारी रोमांच निकल कर कवचके समान प्रतीत हो रहे थे, अतः उनपर जब वे वास्तविक कवच पहनते थे, तो तंग हो जानेके कारण अच्छे नहीं लगते थे। जिस प्रकार आँधी मेघ समूहका सामना करती है, उसी प्रकार सुषेणकी सेनाने ऊँचे हाथीपर बैठकर आते हुए अंगदेशके राजाका सामना किया। उस समय शत्रुसेनाओंके सुवर्णमय कवचोंपर तलवारके आघातसे जो अग्नि निकल रही थी, उससे सुषेणने शत्रु-सेनाओंको ऐसा देखा, मानो उत्सुक होकर चिताकी अग्निने ही उन्हें व्याप्त कर लिया हो। उस समय युद्धभूमि बाणोंसे व्याप्त थी और दर्पोक्तियाँ सुनाई पड़ रही थी। यथा—

युद्धानकाः स्म तन्नीमाः सदानघ नदन्ति नः ।
बबृंहिरे जयायोच्चैः सदानघनदन्ति नः ॥ १९।४७
निस्त्रिंशदारितारातिहृद्याचलनिर्गता ।
न करिस्कन्धदघ्नासृङ्नदी दीनैरतीर्यत ॥ १९।५८
अम्भोधिरिव कल्पान्ते खड्गकल्लोलभीषणः ।
स्खलितो न स भूपालैस्तत्र वेलाचलैरिव ॥१९।८१

इसी प्रसंगमें रौद्ररस भी आया है। दर्पोक्तियाँ एवं क्रोधकी अभिव्यंजना इस रसका संचार करती है (१९।४१-४२)

शान्तरस इस काव्यका अंगीरस है। दशरथ और धर्मनाथकी विरक्तिके अवसरपर इस रसकी निष्पत्ति पूर्णरूपेण हुई है। दशरथ सोचता है—"जिस प्रकार समुद्रके बीच चलनेवाले जहाजसे बिछुड़े हुए पक्षियोंको कोई भी शरण नही है, उसी प्रकार विपत्तियोंके आनेपर इस जीवको कोई शरण नही हैं। यह लक्ष्मी चिरकाल तक जलमें रही, फिर भी कभी मैंने इसका हृदय आर्द्र नही देखा। अतः विद्वानोंके प्रति इसका स्नेह स्थिर नही रहता तो कुछ भी अनुचित नही है। साँपके शरीरकी तरह प्रारम्भमें ही मनोहर दिखनेवाले इन भोगोमें अब मै किसी प्रकारका विश्वास नही करता, यतः मृगतृष्णाको जल समझनेवाला प्यासा मृग ही प्रताड़ित होता है, बुद्धिमान् मनुष्य नही। मनुष्यके शरीरमे कुटिल केशरूपी लहरो से युक्त जो यह सौन्दर्यरूपी सरोवर लबालब भरा है, उसे बुढ़ापा त्वचाकी सिकुड़नोके बहाने मानो लहरें खोलकर ही बहा देता है। यौवनरूपी रत्न कही गिर गया है, अतः उसे खोजनेके लिए ही मानो वृद्ध मनुष्य अपना पूर्वभाग झुका कर नीचे-नीचे देखता हुआ पृथ्वी पर इधर-उधर चलता है। अतः मृत्यु प्राप्त होनेके पूर्व ही परमार्थसिद्धिका प्रयत्न करना आवश्यक है। यथा—

उपागमे तद्विपदामवश्यं पश्यामि किञ्चिच्छरणं न जन्तोः।
अपारपाथोनिधिमध्यपातिपोताच्च्युतस्येव विहङ्गमस्य ॥४।५१॥
अहेरिवापातमनोरमेषु भोगेषु नो विश्वसिमः कथंचित्।
मृगः सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान् ॥४।५४॥

उल्कापात देखकर धर्मनाथका चिन्तन वैराग्यका कारण हुआ। वह भी सोचने लगे कि यह जीवन वायुसे हिलती हुई कमलिनीके दलपर स्थित जलको बूँदकी छायाके समान नश्वर है, तब समुद्रकी तरगके समान तरल संसारके असार सुखके लिए यह जीव क्यों दुःखी होता है। स्त्रियाँ, जो कि भोगका साधन हैं, उनका यौवन अस्थिर है। लक्ष्मी भी कमलपत्रपर स्थित ओसबिन्दुके समान विनाशीक है। अतएव शाश्वत सुख प्राप्तिके लिए यत्न करना आवश्यक है।

सारङ्गाक्षीचञ्चलापाङ्गनेत्रश्रेणीलीलालोकसंक्रामितं नु।
व्यालोलत्वं तत्क्षणादृष्टनष्टा धत्ते नृणां हन्त तारुण्यलक्ष्मीः ॥२०।१५
यत्संसक्तं प्राणिनां क्षीरनीरन्यायेनोच्चैरङ्गमप्यन्तरङ्गम्।
आयुश्छेदैर्याति चेत्तत्तदास्था का बाह्येषु स्त्रीतनूजादिकेषु ॥२०।१२

अलंकार योजना

काव्यमें रूपाकृतिका वर्णन प्रायः तीन प्रकारसे किया जाता है। प्रस्तुत मुख आदि अंगोंका अनलंकृत या सरल स्वाभाविक वर्णन। दूसरा, प्रस्तुतका अप्रस्तुत प्राकृतिक उपमानो द्वारा अलंकृत या चमत्कृत वर्णन। इस प्रकारके वर्णनमें उपमेय और उपमानके बीच रूप या धर्मका सादृश्य दिखाया जाता है। तीसरा है उस रूप सौन्दर्यसे प्रभावित

वातावरणको उपस्थित करना। महाकवि हरिचन्द्रने रूप, व्यापार या भावको मूर्तरूपमें प्रस्तुत करनेके लिए सहजानुभूति अथवा कल्पनाका प्रयोग किया है। अलंकार योजनाका मूल उपमानों में है, अतः धर्मशर्माभ्युदयमे प्रयुक्त अलंकार विश्लेषणके पूर्व उपमानोंका विवेचन आवश्यक है। भुक्त और परम्परा प्राप्त अलंकारोका नियोजन रहनेपर भी कवि हरिचन्द्रने काव्यचमत्कार और काव्यगाम्भीर्य उत्पन्न करनेका पूरा प्रयास किया है। धर्मशर्माभ्युदय में प्रयुक्त उपमानोंको मूलस्रोतोंकी दृष्टिसे निम्नलिखित वर्गोंमे विभक्त किया जा सकता है—

(१) अग्नि

तेज, चमत्कार, प्रभाव एवं सर्वस्व विध्वंस करनेकी शक्तिका निरूपण करनेके लिए अग्नि, दीप या प्रकाश उपमानको प्रस्तुत किया गया है। इस श्रेणीके उपमान धर्मशर्माभ्युदय में निम्नांकित है—

१. अनलपुञ्जलीलाम् ७।२२—अग्निके समान सुवर्णमय सुमेरु पर्वत।

२. कृष्णवर्त्मेव कृतान्तः २०।१०—अग्निके समान सर्वभक्षी।

३. तनूनपादिव अविनीत १८।३४—अग्निके समान अविनीत या उद्दण्ड राजा।

४. दीप इव १।३९, १२।१६—सुमेरु पर्वतके ऊपर आकाश ऐसा मालूम पडता है, जैसे शिखरके अग्रभागपर लगे हुए मेघरूपी अजनको ग्रहण करनेकी इच्छासे किसी स्त्रीने दीपकके ऊपर बरतन औंधा कर दिया है।

५. दीपस्त्वम् ८।५४—काम शलभको जलानेके लिए तुम दीपकके समान हो।

६ भस्मसंचय इव वियोगभाजाम् १२।२९—वियोगियोंकी भस्मके समान केतकीकी पराग-धूलि।

७. वर्तिदीपस्येव ज्वलन्ती २१।४—दीपककी जलती हुई बत्तीके समान उल्का।

८. वह्निवत् प्लुष्टकर्मगहनम् ५।८५—अग्निके समान कर्मरूप वनको जलाने-वाला।

९. स्नेहपूर इव क्षीणे प्रदीपा महीभुजः १९।५९—तेलके क्षीण होनेपर बुझते हुए दीपकके समान।

(२) अन्धकार-प्रकाश

जीवनमें उत्साह, प्रेरणा और प्रगतिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि उक्त तथ्यो-की अभिव्यंजनाके लिए प्रकाश और इनके विरोधी भावकी अभिव्यक्तिके लिए अन्धकार-उपमानकी योजना करता है।

१०. तमसेव मदः ७।४२—अन्धकारके समान काला मद।

११. नीराजनेव या २०।८—आरतीके समान उल्का।

(३) अस्त्र-शस्त्र

कठोरता, तीक्ष्णता, कृशता, उज्ज्वलता, तेजस्विता एवं प्रभावाधिकताकी अभिव्यंजना करनेके लिए कविने अस्त्र-शस्त्र समूहसे उपमान संचित किये हैं।

१२. असिरिव नर्मदाप्रवाहः १२।६३—तलवारके समान उज्ज्वल नर्मदाका प्रवाह।

१३. कनकभल्लिरिव ११।१२—कामदेवरूप धानुष्कके सुवर्णमय भालेके समान।

१४. कृपाणपुत्रीमिव षट्पदावलिम् १२।३५—छुरीके समान भ्रमरपंक्ति।

१५. निषङ्गानिव तरून् १२।२३—तरकसोंके समान वृक्ष।

१६. पाशधरेण पाशैरिव मयूखैः १४।२—वरुणके पाशोंके समान नीचेको लटकती सूर्य किरणों से।

१७. पाशाविव २।५७—पाशोंके समान कान कपोलोंके सौन्दर्यरूपी स्वल्प जलाशयमें आबद्ध।

१८. पुष्पधन्वनः तूणमिव ५।४८—कामदेवके तूणीरके समान चूडाबन्धन।

१९. बद्धसन्धान इवोदयाद्रिः १४।३४—धनुषपर चढ़े हुए बाणके समान उदयाचल।

२०. वज्रसारैरिव ९।२८—पराक्रममें धर्मनाथ वज्रसारके समान दृढ़।

२१. शस्त्रीमिव संध्याम् १४।१९—रक्तरंजित छुरीके समान सन्ध्या।

२२ स्वर्णसायकततीरिव ५।४—सुवर्णमय बाणोकी पंक्तिके समान—बिजलीके समान कान्तिवाली देवियाँ सुवर्ण बाणोंके समूहके समान प्रतीत होती थी।

(४) आकाश

स्वच्छता, निर्मलता, व्यापकता और विशालताकी अभिव्यक्तिके हेतु आकाश उपमानका प्रयोग हुआ है।

२३. अन्तरिक्षखण्डं अम्बु १०।२९—आकाशके खण्डके समान नर्मदाका स्वच्छ जल।

२४. आकाशदेशा इव ४।५—ताराओंसे सुशोभित आकाश प्रदेशके समान धान्ययुक्त खेत।

२५. शारदाभ्रमिव वृषभ ५।६०—शरदकालीन आकाशके समान श्वेत वृषभ।

(५) आभूषण और शृङ्गारप्रसाधन सामग्री

धर्मशर्माभ्युदयमें उपमानोंका चयन आभूषण और शृंगार प्रसाधन सम्बन्धी सामग्रीसे भी किया गया है। इस क्षेत्रसे ग्रहीत उपमान सौन्दर्यकी अभिव्यंजनाको चमत्कारपूर्ण बनानेमें पूर्ण क्षम हैं।

२६. कज्जलकोमला १२।३०—कज्जलके समान काली भ्रमरपंक्ति ।

२७. काञ्चीव ९।७२—रत्नोंसे खचित पृथ्वीकी करधनीके समान गंगा नदी ।

२८. दिवश्च्युतेवामलमौक्तिकावलिः ९।७२—आकाशसे गिरी हुई निर्मल मोतियोंकी मालाके समान गंगा नदी ।

२९. रत्नकण्ठिकेव १३।३६—मूंगाओंकी मालाके समान नखक्षतोंकी पंक्ति ।

३०: स्रगिव १६।७९—मालाके समान आज्ञा ।

(६) अङ्गोपाङ्ग

सुन्दरता, सुकुमारता एवं उग्रताकी व्यंजना करने और विषयको प्रभावोत्पादक बनानेके लिए शरीरावयवोंको उपमानके रूपमें ग्रहण किया है ।

३१. जघनस्थलीव ७।५६—स्त्रीकी जघनस्थलीके समान तटाग्रभूमि ।

३२. दन्तसमद्युतः नवकुन्दलता ११।५९—दाँतोंके समान कान्तिवाली कुन्दकी खिली हुई नवलता ।

३३.दशनैरिव ११।८—दाँतोंकी तरह कुरवक कलियाँ ।

३४. दशनप्रभेव कीर्ति. १७।७६—दाँतोंकी प्रभाके समान उज्ज्वल कीर्ति ।

३५. धूर्जटिजटाजूटाग्रपिङ्गत्विषि ७।६७—शिवके जटाजूटके समान पीतवर्ण सुवर्णाचलका शिखर ।

३६. नखक्षतानीव दलानि ७।५९—कमलिनीके लाल पत्ते सम्भोग कालमें किये गये नखक्षतके समान ।

३७. नयनमिव महोत्पलम् १३।१२—नेत्रके समान नीलकमल ।

३८. नखस्येव १४।३६—पूर्वदिशारूपी स्त्रीके स्तनपर किये गये नखक्षतके समान ।

३९. लोचनवच्चरित्रम् १७।७६—लोचनके समान निर्मल चरित्र ।

४०. श्रीनयनयोरिव ५।६८—लक्ष्मीके नयनयुगलके समान मत्स्य युगल ।

४१. सितैकवेणीमिव ७।१७—श्वेतवेणीके समान आकाशगंगा ।

४२. हृदयस्थलीव बुद्धिः १७।७६—वक्षःस्थलके समान विशाल बुद्धि ।

(७) कीट-पतंग

भ्रमर, शलभ आदि कीट-पतंग मानवके प्राचीनकालसे सहचर रहे हैं । इस श्रेणीके उपमानों द्वारा कवि सौन्दर्यकी एवं प्रेमकी अभिव्यंजनाको सशक्त बनाता है ।

४३. उड्डीयमानैः चञ्चरीकैरिव तमोभिः १४।२२—उड़ते हुए भ्रमरोंके समान अन्धकार ।

४४. मधुव्रता इव ९।२७—मुखकमलपर मड़रानेवाले भ्रमरोंके समान अलकावलि ।

४५. मधुच्छत्र इव १४।२२—मधुछत्तेके समान सूर्य बिम्ब ।

(८) खनिज और धातु

मणि-माणिक्य रमणीय और मूल्यवान् होनेके कारण सामान्य व्यक्तियोंके साथ कवियोंके लिए भी आकर्षणके केन्द्र हैं। इस क्षेत्रसे ग्रहण किये गये उपमानों द्वारा विभिन्न प्रकारके भावोंको अभिव्यंजनामें अतिशयता उत्पन्न होती है।

४६. आयसपिण्डयोरिव १२।१९—सन्तप्त लौहपिण्डोंके समान मेल ।

४७. कनकरुचिकपोले ८।३५—स्वर्णकी कान्तिके तुल्य कपोल ।

४८. त्रपुणीव सन्मणि १८।२०—रांगामें उत्तम मणिके समान ही सारहीन है—अयोग्य कार्यमें योग्य व्यक्तिको नियोजित करना ।

४९. रत्नराशिवत् ५।८५—रत्न राशिके समान सद्गुणोंसे युक्त ।

५०. सुवर्णोज्ज्वलभानुगोलम् १४।११—सुवर्णके समान उज्ज्वल और प्रकाशमान सूर्यपिण्ड ।

५१. स्फटिक इव १३।५०—स्फटिकके समान उज्ज्वल नेत्र ।

५२. हेमकान्ति पाण्डय. १७।५८—स्वर्णकी कान्तिके समान पाण्ड्य नृपति ।

(९) गृहसेवक

५३. दूत इव १३-२३—दूतके समान हंस ।

५४. वृत्तान्तसाक्षीव ४।१—वृत्तान्तको साक्षात् देखनेवालेके समान, गवाहोकी तरह ।

५५. वेत्रीव ३।३२—प्रतिहारीके समान पवन ।

५६. सौविदल्लैरिव १०।३५—श्वेत केशवाले कंचुकियोके समान चन्दन वृक्ष ।

(१०) गृहोपकरण

गृहोपकरणसे ग्रहीत उपमान वर्णन चमत्कारके साथ चंचलता, दृढता, पृथुलता एवं सौन्दर्यकी अभिव्यंजना करते है ।

५७. कपाटमिव ६।४७—काले मेघोके समूह चन्द्रलोककी प्रतोलीमें लगाये गये लौह-कपाटके समान ।

५८. कुम्भयुग्ममिव ५।८४—कुम्भ युगलके समान मंगलमय ।

५९. घटेव कुच. १३।३३—घटके समान स्तन ।

६०. जलयन्त्रघटीगुणोपमानं १३।६८—घटीयन्त्रकी रस्सियोंके समान नारियोंके गलेकी मुक्तामाला ।

६१. तीर्थपद्धतिमिव ५।५८—सीढियोके समूहके समान स्वप्नसन्तति ।

६२. तृणकुटीरनिभे ११।४४—तृणकी कुटीके समान स्त्रियोंके हृदयमें ।

६३. निगलवलयतुल्या ८।१०—कैदीको टूटती हुई बेड़ियोंके समान भ्रमर-पंक्ति।

६४. नीराजनापात्रमिव १।६५—आरतीके पात्रके समान रात्रि चन्द्रमाको घुमाती है।

६५. पताका इव ३।२६—पताकाके समान भ्रमरपंक्ति।

६६. पात्रमिव १।३९—दीपकपर ओंधे रखे पात्रके समान आकाश।

६७. पुत्रिकेव ६।२२—स्फटिकमणिको पुतली—गुड़ियाके समान सुव्रता।

६८. रजतशृङ्खलेव ९।७२—ऐरावत हाथीकी चाँदीकी साँकलके समान।

६९. वज्रार्गलवत् १४।२६—वज्रकी अर्गलाके समान मृणाल दण्ड।

७०. शृङ्खलेव १।५२—भ्रमरपंक्ति पथिकोंके चंचल नेत्रोंको बाँधनेके लिए लौहशृंखलाके समान।

७१. तुलेव २।५३—तराजूके समान नाक, रानीको नाक तराजूके समान थी। यह उपमान बिलकुल नवीन है।

७२. सिंहपीठमिव ५।८४—सिंहासनके समान उन्नतिको दिखलानेवाला।

७३. स्तम्भ इव ४।३—स्तम्भके समान मेरु।

७४. स्तम्भनिभं २।४१—सुवर्णनिर्मित स्तम्भके समान उरु युगल।

(११) ग्रह-नक्षत्र

प्राकृतिक वस्तुओंमें मानवीय व्यापारोंको अभिव्यक्त करनेकी पूर्ण क्षमता है। सूर्य, चन्द्रादि ग्रह, नक्षत्र एवं प्रकोर्णक आदि उपमान सौन्दर्य, शील, शीतलता, माधुर्य, तेज, ओज, ज्ञानगुरुता प्रभृति भावोंके अभिव्यंजक हैं।

७५. अनूरोरिव १९।६—सूर्यके समान प्रभुशक्ति।

७६ उडुप्रकरा इव मौक्तिकाः १०।३७—नक्षत्रोंके समान गजमुक्ता।

७७. चन्द्रमण्डलमिव २।३७—जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंको चन्द्रमण्डलमें प्रविष्ट कराता है, उसी प्रकार राजाने देवियोंको अन्तःपुरमें भेजा।

७८. चन्द्रमाश्चान्द्रिकमेव १८।२—चन्द्रिका सहित चन्द्रमाके समान कान्ता सहित धर्मनाथ।

७९. चन्द्रवन्नयनवल्लभम् ५।८३—चन्द्रमाके समान नेत्रोंको प्रिय लगनेवाला पुत्र।

८०. चान्द्रमसीकलेव ६।१४—जिस प्रकार शिवजीके मस्तकपर चन्द्रमाकी कला शोभित होती है उसी प्रकार शय्यापर बालककी कान्तिसे माता सुशोभित हुई।

८१. ज्योतिर्ग्रहाणामिव ९।४—ग्रह मण्डलके समान।

८२. तरुणेन्दुः ६।११—पूर्णचन्द्रमाके समान गौरवर्णवाली।

८३. नवोदितमिन्दुमिव ७।१—नवीन उदित चन्द्रमाके समान बालक।

८४. तारका इव ५।२३—तारागणोंके समान देवियाँ।

८५. नवोदितश्चन्द्र इव ७।७—उदयाचलके शिखरपर नवोदित चन्द्रमाके समान प्रभामण्डलके बीच भगवान् जिनेन्द्र।

८६. पीयूषधाम्नीव १७।९—चन्द्रमाके समान धर्मनाथ।

८७. पूषेव १७।११०—सूर्यके समान तेजस्वी धर्मनाथ।

८८. भानुस्तमांसीव ४।६७—जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है, उसी प्रकार वचनोंको नष्ट करता हुआ।

८९. भानुवद्भुवनकोविदम् ५।८३—सूर्यके समान जगानेमें निपुण पुत्रको।

९०. भानुमानिव २१।१६७—सूर्यके समान भास्वर तीर्थंकर।

९१. यामिनीपतिर्यथा ९।२—चन्द्रमाके समान आनन्दरूपी जिन।

९२. विधोः कलामिव पाण्डुशिलां ७।६७—चन्द्रमाकी कलाके समान पाण्डुशिलाको।

९३. विवस्वानिव २१।१६६—जिस प्रकार सूर्य कमलिनीको आनन्दित करता है, उसी प्रकार धर्मनाथने सभाको आह्लादित किया।

९४. शशीव १७।८—चन्द्रमाके समान कुमार।

९५. शशीव घनं वनं विवेश १२।२६—जिस प्रकार चन्द्रमा घनमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार धर्मनाथने वनमें प्रवेश किया।

९६. सवितेव ९।७ सूर्यके समान बालक।

९७. सुरगुरुभृगुपुत्राभ्यामिव ९।३६—गुरु और शुक्रके समान कुण्डल।

९८ सूर्यांशुराशेरिव १७।४४—सूर्य किरणके समान अंगराज।

९९ सैंहिकेयनिकुरम्बकैरिव ५।६—मुखचन्द्रको ग्रसनेके लिए राहुके समान भ्रमरावलि।

१००. संचूर्णितोडुनिचया इव ६।४२—चूर्णित नक्षत्र समूहके समान हार।

(१२) जल एवं जलचर

जल उपमान भावोंकी तरलताके साथ सौन्दर्यका अभिव्यंजक है। यह तत्त्व चरम सत्यकी उपलब्धिमें भी सहायक है। जलचर पक्षी हार्दिक भावोंके प्रतिपादनमें सहायक है। साधारणतम जल सात्त्विक भावका प्रतीक है।

१०१ पयसामिव १७।४१—दूध या जलके समान उज्ज्वल यश।

१०२. प्रस्वेदाम्बु द्रव इव १२।६३—विन्ध्याचलके शरीरसे निःसृत स्वेद जलके समान नर्मदाका प्रभाव।

१०३. मीनयुग्मवत् ५।८३—मीनयुगलके समान आनन्ददायक।

१०४ राजहंसौ इव ६।८—कीचड़युक्त मृणाल उखाड़े हुए राजहंसोंके समान।

१०५. शफरीव १७।९८—मछलीके समान चंचल दृष्टिवाली रसवत् नारियाँ।

(१३) जंगली पशु

सिंह, व्याघ्र, हरिण आदि जंगली पशुओंसे भी कवि समुदाय उपमानोंका चयन करता है। इस प्रकारके उपमान भीषणता, प्रेम, शूरता आदि भावोंकी अभिव्यक्तिको सहज बनाते हैं।

१०६. कण्ठीरव इवारामः ३।२५—सिंहके समान भयंकर वन।

१०७. केसरीशमिव ५।८२—सिंहके तुल्य पराक्रमी पुत्र।

१०८. शरभमिव जिनपतिं ८।१—अष्टापदके समान जिनपति।

(१४) दिग्वाची

दिग्वाची उपमान भी काव्यके लिए महत्त्वपूर्ण हैं। कवि इन उपमानोंका प्रयोग सौन्दर्य बोधको सशक्त बनानेके लिए करता है।

१०९. दिग्भिरिव स्त्रीभिः ३।७०—क्षुद्रतेजको उत्पन्न करनेवाली दिशाओंके समान अन्य स्त्रियाँ।

११०. पौरन्दरी दिगिव ६।१—मेरु पर्वतसे छिपे हुए चन्द्रमाको धारण करनेवाली प्राची दिशाके समान।

१११. प्राचीव ३।७०—पूर्व दिशाके समान धन्या नारी।

११२. प्राची भानुमिव ६।१३—पूर्व दिशा जिस प्रकार सूर्यको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार सुव्रताने पुत्र उत्पन्न किया।

(१५) दिव्य पुरुष और दिव्य पदार्थ

स्वर्गीय देवी-देवता एवं दिव्य पदार्थ अमृत आदि उपमान कोमल भावनाओंकी अभिव्यंजनामें अत्यन्त सहायक हैं। कवि हरिचन्द्रने इस श्रेणीके उपमानोंका व्यवहार प्रचुर रूपमें किया है।

११३. अमृतप्रपां गिरम् १२।३९—अमृतकी प्याऊके समान वचन।

११४. इन्दोरुदारपरिवेष इव १।८६—पूर्ण चन्द्रके परिवेषके समान विशाल प्राकार।

११५. कल्पद्रुमा इव ६।४१—कल्पवृक्षके समान देव।

११६. कामारामा इवारामं ३।१७—कामोपवनके समान नारियाँ।

११७. कामधेनुरिव १९।९३—कामधेनुके समान अभीष्टफलदायक भक्ति।

११८. कृतान्तदूता इव पिकाः १९।३८—यमराजके दूतके समान कोयलें।

११९. जिष्णु इव पौरजनः ४।२३—इन्द्रके समान नागरिक।

१२०. तडिल्लतेव १।६६—विद्युत्के समान सुवर्ण कलशोंकी प्रभा।

१२१. पिशाच्येव १८।१६—पिशाचीके समान लक्ष्मी।

१२२. पीयूषधारागृहं प्रतिबिम्बम् ९।३४—अमृतके धारागृहके समान प्रतिबिम्ब।

१२३ पीयूषनिधानकुम्भयोः कुचयोः १२।२७—अमृतकोष-कलशके समान स्त्रियोंके स्तन ।

१२४. पीयूषधाराभिः वाग्भिः १७।१०३—अमृतधाराके समान वचनोंसे ।

१२५. भवनामरा इव चमूचराः ९।५३—भवनवासी देवोंके समान सैनिक ।

१२६. मन्मथद्रुमप्रसूनैरिव लाजैः ९।५४—पारिजात पुष्पोके समान लाजा ।

१२७. वेतालवत् अन्धकारः १४।२१—वेतालके समान भयंकर अन्धकार ।

१२८. श्रिय इव स्त्रियः १२।६२—लक्ष्मीके समान स्त्रियाँ ।

१२९. श्रीस्वरूपमिव ५।८२—लक्ष्मीके सौन्दर्यके समान सुव्रता ।

१३०. सहस्राक्ष इव ३।१४—इन्द्रके समान राजा ।

१३१. सुधर्मेव २०।२—देवसभाके समान गोष्ठी ।

१३२. सुधामिव ५।२७—अमृतके समान वचन ।

१३३. सुधाधारा इव ३।६१—अमृतधारा के समान दन्तकिरण ।

१३४. सुधा इव २।३६—अमृतके समान सुकुमार तारुण्य ।

(१६) धार्मिक व्यक्ति और वस्तुएँ

पवित्रता, त्याग, संयम और शीलकी अभिव्यंजनाके लिए कवि धार्मिक व्यक्ति एवं वस्तुओका उपमानके रूपमे प्रयोग करता है ।

१३५. अम्बरमुनीनिव सप्तदीपान् ६।२०—सप्त ऋषियोके समान मंगलदीप ।

१३६. काकुत्स्थ इव स ९।५१—रामचन्द्रके समान धर्मनाथ ।

१३७ पुण्यविपणिः इव ६।१५—पुण्यकी दुकानके समान बालक ।

१३८. पुण्यपुञ्जमिव ३।३९—पुण्यसमूहके समान मुनि ।

१३९. सीतामिव काननस्थली १०।५६—सीताके समान वनस्थली ।

(१७) नदी एवं उसके उपकरण

१४०. अम्बरनिम्नगेव ६।४७—आकाशगंगाके समान देवोके विमानोकी ध्वजाएँ ।

१४१. कन्दिलकन्याम्बुतरङ्गभङ्गुराः कुन्तलाः ९।२७—यमुनाजलकी तरंगोके समान टेढ़े मेढ़े सचिक्कण केश ।

१४२. जाह्नवीघमिव ५।४७—आकाशगंगाके प्रवाहके समान छत्र ।

१४३ तारीमिव नीतिः १८।२३—नौकाके समान नीति ।

१४४. द्विधा जाह्नवीघमिव ५।६४—दो भागोंमें विभक्त आकाशगंगाके समान दो मालाएँ ।

१४५. तटीः नितम्बिनीः ७।२८—तटोके समान स्त्रियाँ ।

१४६. नवास्रधोरणिः इव १०।२३—गैरिक नदी रुधिर नदीके समान ।

१४७. प्रौढनदीव सा १७।६५—प्रौढनदीके समान वह ।

१४८. मण्डद्वीपवतीव १।३१—गंगाके समान सज्जनोंका पवित्र और निर्मल व्यवहार ।

१४९. वैवस्वतसोदरीव १।३१—यमुनाके समान कृष्ण—कपटमय दुर्जनोंका व्यवहार ।

१५०. सरित इव तरुण्यः १३।९—नदियोंके समान स्त्रियाँ।

१५१. सरितमिव प्रवाहान् देवेन्द्रान् १६।३९—नदियोंके प्रवाहके समान देवेन्द्रोंको ।

१५२. सिन्धुप्रियायाः ८।२५—नदीरूपी प्रिया ।

१५३. स्फुटफेनपुञ्ज इव ७।१४—निर्मल तरंगोके समान श्वेतपताकाएँ ।

(१८) नर-नारी

इस चराचर सृष्टिमें नर-नारीका प्रमुख स्थान है । कवि समस्त दृश्य-जगत्से उपमानोंका चयन कर काव्यका सृजन करता है । वह नारीके उपमान द्वारा कोमल भावोंकी ओर पुरुषके द्वारा कठोर भावोकी अभिव्यंजना करता है । शिशुवर्ग भी इन्हीं दोनोंके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है ।

१५४. अपरा शृङ्गारवतीव १८।६—दूसरी शृंगारवतीके समान पृथ्वीको ।

१५५. अभीका इव ७।५०—कामुकके समान वायु ।

१५६. कुलस्त्रियः यथा महापगाः ११।४८—कुलस्त्रियोके समान बड़ी-बड़ी नदियाँ ।

१५७. कैवर्तवत् रविः १४।८—धीवरके समान सूर्य ।

१५८. खल इव ११।३२—दुर्जनके समान वर्षाकाल ।

१५९. ग्रहिल इव सागरः ८।१८—पागलोके समान समुद्र ।

१६०. घटवोढ्येव १८।२४—घटधारिणी—पनिहारिनके समान लक्ष्मी ।

१६१. तनूजमिव ३।२०—पुत्रके समान शाखानगर ।

१६२. प्रगल्भवेश्यामिव ७।३३—प्रौढवेश्याके समान चन्दनपंक्ति ।

१६३. युवतिदृष्टिरिवासवपाटला ११।२८—लाल-लाल दिखनेवाली युवतियोंकी दृष्टि के समान गुलाब पुष्प ।

१६४. रजस्वला स्रवन्ती ७।५३—रजस्वला स्त्रियोंके समान गन्दे पानीवाली नदियाँ।

१६५. वधूमिव २।३४—वधूके समान पृथ्वीका उपभोग ।

१६६. वधूमिव क्षितिम् १८।५७—वधूके समान पृथ्वी ।

१६७. विट इव १३।४८—विटकी तरह जलसमूह ।

१६८. शिशुरिव मधु ११।८—बालकके समान वसन्त ।

१६९. शैलूषसभ्या इव ९।५०—नटोंकी तरह दृष्टि ।
१७०. सखीव प्रत्यूषानिललहरी १६।१३—सखीके समान प्रातःकालकी वायु ।
१७१. सखीमिव जन्मभूमिम् १७।६१—सखीके समान जन्मभूमि को ।
१७२. ह्रीता वधूवत् नगरी ४।१४—लज्जालु स्त्रीके समान सुसीमा नगरी ।
१७३. एकगोत्रमिव भूत्रितयं ६।२५—एक परिवारके समान तीनों लोक ।

(१९) नृपामात्य

कविको राजाश्रय प्राप्त हो अथवा नहीं, पर वह कतिपय उपमानोंका प्रयोग राजामात्य वर्गसे अवश्य करता है । महाकवि हरिचन्द्रने अपने धर्मशर्माभ्युदय काव्यमें इस श्रेणीके कुछ ही उपमान प्रयुक्त किये हैं ।

१७४. विजिगीषुं नृपतिमिव पयोधिम् ७।१३—विजयाभिलाषी राजाके समान समुद्र ।

१७५. क्षितीश इव अद्रिः १०।१६—राजाके समान विन्ध्य पर्वत ।

(२०) पयोद

कवि पयोद, मेघ आदि उपमानोका व्यवहार भी यथेष्ट रूपमें करता है । धर्मशर्माभ्युदयमे इस श्रेणीके उपमान बहुत कम है ।

१७६. कादम्बिन्या इव ३।४—मेघमालाके समान ध्वनि ।

१७७. कादम्बिनी लीनतडिल्लतेव सा १७।११—बिजलीसे युक्त मेघमालाके समान श्रृंगारवती ।

(२१) पर्वत

धर्मशर्माभ्युदयमें पर्वत सम्बन्धी उपमानोका व्यवहार भी पाया जाता है ।
१७८. अद्रिराज इव ७।१५—पर्वतराज सुमेरुके समान सुवर्ण कान्ति ।
१७९. कनकगिरिरिव ८।३९—सुमेरुके समान जिनेन्द्र ।
१८०. कुलपर्वता इव २।१४—कुलाचलोंके समान मदोन्मत्त हाथी ।
१८१. कूटा इव करिण· १०।२०—पर्वतके शिखरके समान हाथी ।
१८२. पूर्वशैलमिव तुङ्गकुचाग्र १५।५३—पूर्वाचलके समान उत्तुग कुचाग्र ।
१८३. राजताद्रिमिव गन्धसिन्धुरम् ५।५९—विजयार्धके समान हाथी ।
१८४. विश्रामशैला इव १।४८—विश्राम पर्वतके समान धान्यके ढेर ।

(२२) पक्षी

पक्षि-जगत्से कवि हरिचन्द्रने निम्न उपमानोंका चयन किया है—
१८५. चकोरीव चक्षुः १७।५६—चकोरीके समान दृष्टि ।

१८६. पोताच्च्युतस्येव विहंगमस्य ४।५१—जहाजसे बिछुडे हुए पक्षीके समान।

१८७. मेघखण्डं सहेमकुम्भस्य मयूरातपत्रं ७।१८—सुवर्णकलशसे युक्त मयूर पिच्छके छत्र समान सूर्यकान्तिसे युक्त मेघखण्ड।

१८८. राजहंसीव सा १७।६—राजहंसिनीके समान वह।

१८९. शिखण्डिनीनामिव चेष्टितानि १७।८५—मयूरियोंकी चेष्टाके समान स्त्रियोंकी चेष्टाएँ।

१९०. शुकचञ्चुरक्तमिव १४।३६—तोतेकी चोंचके समान अर्धोदित चन्द्रमा।

(२३) पालतू पशु

पशु-जगत्‌से भी कवि उपमानोंका चयन कर मृदुल और कठोर भावनाओंकी अभिव्यक्ति करता है।

१९१. मत्त इव ११।३८—कामदेवके मदोन्मत्त हाथीके समान भ्रमरसमूहसे युक्त केतकीका वृक्ष।

१९२. महिषीभिरेव ४।३८—जिस प्रकार भैंसा निराश हो भैंसोंके साथ वनको चला जाता है, उसी प्रकार शत्रु निराश हो अपनी रानियोंके साथ वनमें चले गये।

१९३. वारणेन्द्रमिव दानबन्धुरं ५।८२—हाथीके समान दान-जलसे युक्त।

१९४. वाजिनाम् फेनलेशा इव ३।२८—सूर्यके घोड़ोंके फेनके समान वृक्षोंके पुष्प।

१९५. सौरभेयमिव धर्मधूर्धरम् ५।८२—वृषभके समान धर्मकी धुराको धारण करनेवाला।

(२४) पुष्प-पल्लव

पुष्पोंके सौन्दर्य और सौरभ कवियोंको ही नही प्राणीमात्रको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। कवि विभिन्न भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए इस क्षेत्रसे उपमानोंका चयन करते हैं। महाकवि हरिचन्द्रने अपने धर्मशर्माभ्युदय काव्यमें पुष्पोसे अनेक उपमान ग्रहण किये है।

१९६. अब्जसारैरिव ९।२८—कमलके सारके समान सौकुमार्य।

१९७. इन्दीवरमालिकेव १।५६—नीलकमलके समान सूर्याश्वोंकी पंक्ति।

१९८ कुमुद्वतीमिव एनां १७।४४—कुमुदिनीके समान शृंगारवतीको।

१९९. कुमुद्वतीनामिव १८।२—कुमुदके समान नेत्र।

२००. कुमुदवत् स्त्रीमुखं १५।२—कुमुदके समान स्त्रीमुख।

२०१. नवपल्लवचञ्चलाः शुनां रसना ११।३१ —नवीन पत्तोके समान चंचल कुत्तोंकी जिह्वा।

२०२. पद्म इव १।३३—कमलके समान।

२०३. पद्मिनीम् २१।१६६—कमलिनीके समान सभा ।

२०४. द्रुमप्रसूनैरिव ९।५४—पुष्पोंके समान ।

२०५. मालती इव २।३६—मालतीके समान सुकुमार ।

२०६. सरोजसारैरिव २।३६—कमलके समान मृदुल और सुन्दर ।

२०७. सरसिजमास्यनिभं १३।१२—कमलके समान मुख ।

(२५) रोग और ओषधि

२०८. औषधचूर्णवत् ११।२४—औषधके चूर्णके समान पुष्पोंका पराग ।

२०९. वश्योषधिमिव चूतमञ्जरी १२।४६—वश्योषधिके समान आम्रमंजरी ।

(२६) रोमांचादि

हास्य, रोमांच आदि विषयक उपमान भी धर्मशर्माभ्युदयमे प्रयुक्त हैं—

२१०. अट्टहासा इव रेजुराशाः १७।३४—अट्टहासके समान दिशाएँ ।

२११. पुलकैव विदलितशैवलराजिमञ्जरीभिः १३।१४ रोमाचके समान चंचल तरंगें ।

२१२. विहगरवैरिवालपन्ती १३।१५—पक्षियोंकी अव्यक्त मधुर ध्वनिके समान ।

२१३. स्मितमिव नवफेनं १३।१५—हास्यके समान नवफेनसे युक्त ।

(२७) लता

लताएँ अपनी सुकुमारता और नयनाभिरामताके लिए प्रसिद्ध हैं। महाकवि हरिचन्द्र ने लताओंसे अनेक उपमान ग्रहण किये हैं ।

२१४. गुणलतेव भ्रमरावली ११।७१—प्रत्यंचारूपी लताके समान भ्रमरावली ।

२१५. लतेव १२।८—लताके समान कोई स्त्री ।

२१६. पारिजाततरुमञ्जरीमिव ५।२८—कल्पवृक्षकी मंजरीके समान सुव्रता ।

२१७. शैवालदलान्तरीयम् ७।५६—शैवाल रूपी वस्त्रको ।

२१८. पुण्यवल्लीप्ररोह इव ८।३२—पुण्यलताके नवीन अंकुरके समान हस्तपल्लव ।

२१९. शैवालवल्लीविलासं ९।६५—शैवाललताकी शोभाके समान छत्रसमूह ।

(२८) वृक्ष-वीरुधादि

२२०. कल्पद्रुमा इव ६।४१—कल्पवृक्षके समान देव ।

२२१. चान्दनैरिव १४।८४—चन्दनवृक्षके रसके समान चन्द्रतेज ।

२२२. तरुरिव ८।५१—सघन छायादार वृक्षके समान आनन्ददायक जिन ।

२२३. द्रुम इव व्योमाग्रे १६।२१—वृक्षके समान आकाशाग्र ।

२२४. नवबीजराजि उप्ते १७।२—सौभाग्य एवं भाग्योदय रूप वृक्षोंकी नूतन बोयो गयी पंक्तिके समान रंगभूमि ।

२२५. यशस्तरोर्बीजकणा इव मौक्तिकौघा. ४।२९—महाराज महासेनके यश-रूप वृक्षके बीजकणोके समान स्त्रियोके त्रुटित हारोके मौक्तिक ।

२२६. रम्भेव रम्भा ६।४९—कदलोके वृक्षके समान रम्भा-अप्सरा ।

२२७. वनमिव १३।४—वृक्षसमूह वनके समान मयूरपत्रके छत्रोका समूह ।

(२९) समय-दिवसादि

प्रकाश, अन्धकारको आशा और निराशाका प्रतीक माना गया है। दिन, रात्रि और समयके अन्य विभागोंका अन्य कवियोके समान ही महाकवि हरिचन्द्र ने भी प्रयोग किया है।

२२८. मूर्तिमन्त इवर्तव ३।११—मूर्तिमान् ऋतुओंके समान सेवक ।

२२९. रजनीविरामवद्राज्यं १८।४९—रात्रिके अवसानके समान अन्त होनेवाला राज्य ।

२३०. शारदी रजनीव ५।६२—शरद् ऋतुकी रात्रिके समान सुवदना रानी ।

२३१. सान्ध्यसम्पदिव अङ्गरागम् ५।४९—सन्ध्याकी शोभाके समान अंगराग।

२३२. सायमिवावसानम् १।२४—जिस प्रकार रात्रिका प्रारम्भ सन्ध्याको नष्ट करता है, उसी प्रकार दुर्जनका दोष दुर्जनको नष्ट करता है।

(३०) समुद्र और सरोवर

नदी-नदके समान समुद्र और सरोवर भी उपमान चयनके स्रोत हैं। संस्कृत काव्योंमे इस श्रेणीके मुक्त उपमान प्रचुर परिमाणमे पाये जाते है। महाकवि हरिचन्द्र ने भी इस कोटिके उपमानोंका व्यवहार किया है।

२३३. अब्धिवीची २०।१४—समुद्रकी तरंगके समान तरल ।

२३४. अम्भोधिरिव १९।८१—जिस प्रकार प्रलयकालमें लहरोंसे भयंकर दिखनेवाला समुद्र तटवर्ती वृक्षो द्वारा नही रोका जा सकता, उसी प्रकार तलवारोंसे भयंकर दिखनेवाला सुषेण अन्य राजाओं द्वारा नही रोका जा सका ।

२३५. उदन्वन्त इव तडागाः ४।८—समुद्रके समान तालाब ।

२३६. गूढमणिमण्डलमम्बुराशे. वेलेव ६।१—गुप्त मणियोके समूहको धारण करनेवाली समुद्रकी वेलाके समान ।

२३७. तोयराशिमिव पालितस्थितिम् ५।८४—समुद्रके समान मर्यादापालक ।

२३८. निर्मलसर इव क्लमच्छिदम् ५।८४—निर्मल सरोवरके समान सन्तापको दूर करनेवाला ।

२३९. पयोधिवेला वोचीव सा १७।८१—सौभाग्यरूपी समुद्रकी वेलातरंगके समान शोभित वरमाला।

२४०. दुग्धाब्धिरिव ७।१४—क्षीरसागरके समान देवसमूह।

२४१. व्योममहाम्बुराशौ ७।१६—आकाशरूपो महासागरके समान।

२४२. सर इव ८।५१—मरुस्थलमें प्याससे पीड़ित मनुष्यके लिए सरोवरके समान सुखदायक जिन।

(३१) सरीसृप

कवियोंके उपमान क्षेत्रमें उरगादि सरीसृप भी सम्मिलित हैं।

२४३. अशेषभुजङ्गलोकम् ७।१३—समस्त नागलोकके समान चन्दनके धूमसे व्याप्त आकाश।

२४४. अहिगर्भेव २१।७४—मध्यमें मिले सर्पोंके समान तरंग।

२४५. सरिदुरगीव १०।२८—सर्पिणीके समान नर्मदा नदी।

(३२) साहित्य क्षेत्र

अमूर्त उपमानोमें वाणी और अर्थका सम्बन्ध तथा इनसे सम्बन्धी अन्य उपमान प्राचीनकालसे ही व्यवहृत होते आ रहे हैं। धर्मशर्माभ्युदयमे इस श्रेणीके उपमानोका व्यवहार हुआ है।

२४६. अर्थमिव तम् ९।४८—अर्थके समान धर्मनाथको।

२४७. ओंकारवत् ९।४७—ओंकारके समान शंखध्वनि।

२४८ ओमिति २।५५—भृकुटिको ओम्के समान कहा है। यह उपमान भी नया है।

२४९. चतुरातिगभीरमर्थं भारतीव ६।१—चतुर एवं गम्भीर अर्थको धारण करनेवाली वाणीके समान गर्भवती सुव्रता।

२५०. भाष्यमिव ५।३०—भाष्यके समान विस्तार।

२५१ मन्त्राक्षरनिकरैरिव सीकरै. १३।३८—मन्त्राक्षरोंके समान जलकणोंसे मूर्च्छित।

२५२ रसं भावा इव ३।९—जिस प्रकार भाव रसोंका अनुगमन करते हैं, उसी प्रकार पुरवासियोने राजाका।

२५३ वैदर्म्या रीत्येव १९।१०—जिस प्रकार वैदर्भीरोति गौडोरीतिसे रचित काव्यके प्रति ईर्ष्या रखती है, उसी प्रकार राजसमूह श्रृंगारवतोके प्रति ईर्ष्या रखता है।

२५४. साधुशब्दा इव क्षितीश्वराः ९।४८—निर्दोष शब्दोंके समान राजसमूह।

२५५. सुकवेः भारतीव नृपप्रिया ५।५७—उत्तम कविकी वाणीके समान नृपपत्नी ।

२५६. सूत्रवत् ५।३०—सूत्र के समान संक्षिप्त वचन ।

२५७. वागर्थाविव ३।७४—वचन और अर्थके समान उन दम्पतियोंको ।

(३३) विविध विषयक मूर्त, अमूर्त उपमान

धर्मशर्माभ्युदयमें कतिपय ऐसे उपमान हैं, जिन्हें किसी विशेष श्रेणीमें स्थान नही दिया जा सकता है। अतएव इस प्रकारके उपमानोंको विविध विषयक कहा गया है ।

२५८. इष्टसिद्धेरिव द्वारं ३।१८—इष्टसिद्धिके द्वारके समान नगर-द्वार ।

२५९. औद्धत्यमिव ३।३५—उद्दण्डताके समान रथ ।

२६०. कीर्तिरिव १।५४—कीर्तिके समान गोपंक्ति ।

२६१. कूर्म इव शशी १४।३८—कच्छपके समान चन्द्रमा ।

२६२. कन्दर्पदर्पण इव ६।६—कामदेवके दर्पणके समान सुव्रताके कपोल ।

२६३. गर्व इव दूतः १९।४—अहंकारके समान दूत ।

२६४. गृहानिव ३।१०—गृहोंके समान राजाओंको ।

२६५. गोमयेन तमसा १४।२५—गोबरके समान अन्धकार ।

२६६. द्विषद्यशांसीव फेनिलाननाः ९।६३—शत्रुओके यशके समान फेनिल मुख ।

२६७. जवनिकामिव लज्जाम् १५।२७—परदाके समान लज्जाको ।

२६८. निधिरिव ८।५१—दरिद्रके लिए निधिके समान ।

२६९. निर्मुच्यमानः त्रुटद्भिः पापलवै. इव ६।३५—टूटते हुए पापाशोके समान भ्रमर ।

२७०. फेनलवा मुक्ताप्रकारा इव ७।६३—फेनलव हारके टूटे हुए मोतियोके समान ।

२७१. मुकुरवत् ११।३—दर्पणकी तरह धर्मनाथ ।

२७२ मूर्तिमान् विनय इव ३।३६—मूर्तिमान् विनयकी तरह राजा ।

२७३. रथस्याक्ष इव १।४०—रथकी धुरीके समान सुमेरु ।

२७४. वसनमिव शैवलं ११।२७—वस्त्रके समान शैवाल ।

२७५. वात्येव जरा १८।११—आंधीके समान बुढ़ापा ।

२७६. श्रेयसो आस्थानीक २०।८३—कल्याणकी भूमिके समान स्वर्णमयी वेदी ।

२७७. सितचामरालीकटाक्षविक्षेपपरम्परेव ७।१२—चमरपंक्ति लक्ष्मीकी कटाक्ष-परम्पराके समान ।

२७८. ज्वलनस्फुलिङ्गाः रत्नसंघाः ७।४७—घोड़ोंके खुर प्रहारसे अग्निस्फुलिंग रत्नसमूहके समान ।

२७९. मज्जनाय कृतप्रयत्ना इव १।४९—स्नान करनेके लिए प्रयत्न किये गये के समान ।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा अलंकारकी योजना अनेक स्थलोंपर है । यहाँ केवल एक ही उदाहरण दिया जाता है। कवि धन-धान्यसे समृद्ध उत्तरकोशलका वर्णन करता हुआ कहता है—

यन्त्रप्रणालीचषकैरजस्रमापीय पुण्ड्रेक्षुरसासवौघम् ।
मन्दानिलान्दोलितशालिपूर्णा विघूर्णते यत्र मदादिवोर्वी ॥१।४५

मन्द-मन्द वायुसे हिलते हुए धान्यसे परिपूर्ण वहाँकी पृथ्वी ऐसी जान पडती है, मानो यन्त्रोके पनालेरूप प्यालोके द्वारा पौंडा और इक्षुओके रसरूपी मदिराको पीकर नशासे ही झूम रही हो ।

अर्थान्तरन्यास

धर्मशर्माभ्युदयमे अर्थान्तरन्यासकी योजना कई स्थलोपर विद्यमान है । काव दुर्जनोका वर्णन करता हुआ कहता है कि दुर्जन किसी बडे पदको प्राप्त कर लेनेपर भी सज्जनोके मनमे किसी प्रकारका चमत्कार उत्पन्न नही करते ।

उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति ।
स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव ॥ ।२०

नीच मनुष्य उच्च स्थान पर स्थित होकर भी सज्जन मनुष्योके चित्तमे कुछ भी चमत्कार नही करता । यह ठीक ही है, यत. कौआ सुमेरु पर्वतके शिखरके अग्रभाग पर भी क्यो न बैठ जाये, पर आखिर नीच कौआ कौआ ही रहता है ।

असंगति

असंगत बातोंका नियोजन कर कविने अपने वर्णनोको चमत्कृत बनाया है । यथा—

करेऽन्दुकं कङ्कणमङ्घ्रिभागे मुखे च लाक्षारसमायताक्षी ।
समुत्सुका वीक्षितुमीक्षणे च संचारयामास कुरङ्गनाभिम् ॥१७।८७

धर्मनाथको देखनेकी उत्सुकताके कारण किसी विशालाक्षीने हाथमे नूपुर, चरणमें कंकण, मुखमें लाक्षारण और नेत्रोमें कस्तूरी धारण की थी ।

उल्लेख

एक ही वर्णनीय विषयका निमित्त भेदसे अनेक प्रकारका उल्लेख कर इस अलंकारकी योजना की गयी है ।

प्रक्षिप्य पूर्वेण मही महीभृत्करेण यान्नवीकुरुतेऽपरेण ।
अन्तरयाप्तुं ग्रहकन्दुकांस्तान् हस्ता जिनागारमिषादुदस्ताः ॥४।२०

पृथ्वी जिन ग्रहरूपी गेंदोंको पूर्वाचल रूप हाथसे उछाल कर अस्ताचल रूप दूसरे हाथमें झेल लिया करती है, उन्हें बीचमें ही लेनेके लिए इस नगरीके जिनमन्दिरोंके बहाने मानो बहुतसे हाथ उठा रखे हैं।

तद्गुण

जहाँ कवि अपना गुण छोड़कर संगीके गुण-ग्रहण कर वर्णन करता है, वहाँ तद्गुण अलंकार पाया जाता है—

मुहुर्मुहुः स्फाटिकहर्म्यभित्तौ निरीक्ष्य रागापनिनीषयास्ये ।
स्वच्छामपि क्रान्तरदच्छदानां दन्तच्छविं यत्र वधूः प्रमार्ष्टि ॥४।२२

वहाँ किसी स्त्रीके दाँतोंकी कान्ति बहुत ही स्वच्छ है, परन्तु ओठकी लाल-लाल प्रभासे उसमे कुछ-कुछ लाली आ गयी है, परन्तु वह स्त्री अपने मुँहमें लाली रहने ही देना नहीं चाहती, अतएव स्फटिक मणिसे बने हुए मकान की दीवालमें देख-देख कर दाँतोंको बार-बार स्वच्छ करती है।

भ्रान्तिमान्

भ्रमसे किसी अन्य वस्तुको अन्य वस्तु मान लेनेसे भ्रान्तिमान् अलंकारका सृजन होता है। महाकवि हरिचन्द्रने इस अलंकारका नियोजन करते हुए कहा है—

बिम्बं विलोक्य निजमुज्ज्वलरत्नभित्तौ क्रोधात्प्रतिद्विप इतीह ददौ प्रहारम् ।
तद्भग्नदीर्घदशनः पुनरेव तां च लीलालसं स्पृशति पश्य गजः प्रियेति ॥१०।१९

इधर देखिए, उज्ज्वल रत्नोंकी दीवालमें अपना प्रतिबिम्ब देख, यह हाथी क्रोधपूर्वक यह समझकर बड़े जोरसे प्रहार कर रहा है कि यहाँ हमारा शत्रु दूसरा हाथी है। और इस प्रहारसे जब उसके दाँत टूट जाते है, तब उसी प्रतिबिम्बको अपनी प्रिया समझ बड़े सन्तोषके साथ लीलापूर्वक उसका स्पर्श करने लगता है।

व्यतिरेक

उपमानकी अपेक्षा उपमेयके उत्कर्ष वर्णन द्वारा व्यतिरेक अलंकारकी योजना की गयी है। यथा—

तदाननेन्दोरधिरोहिता तुलां मृगाङ्क चिरेऽपि न लज्जितं त्वया ।
यतोऽसि कस्तत्र पयोधरोन्नतौ स मूढ यत्राभ्यधिकं व्यराजत ॥२।६०

रे चन्द्र, उस सुव्रताके मुख-चन्द्रकी तुलनाको प्राप्त होते हुए तुझे चित्तमें लज्जा भी न आयी? जिन पयोधरोंकी उन्नतिके समय उसका मुख अधिक शोभित होता है, उन पयोधरोंकी उन्नतिके समय तेरा पता भी नहीं चलता। यहाँ उपमेय मुखमें उपमान चन्द्रकी अपेक्षा उत्कर्ष वर्णित है।

विरोधाभास

यथार्थतः विरोध न होनेपर विरोध जैसा आभास होनेसे विरोधाभास अलंकार होता है। यथा—

अङ्गोऽप्यनङ्गो हरिणेक्षणानां राजाप्यसौ चण्डरुचिः परेषाम्।
भोगैरहीनोऽपि हतद्विजिह्वः को वा चरित्रं महतामवैति ॥१७।४५

यह राजा यद्यपि अंग है—तथापि मृगनयनी स्त्रियोंके लिए अनंग है—काम है। स्वयं राजा चन्द्र है, फिर भी शत्रुओंके लिए चण्डरुचि—सूर्य (प्रतापी) है और स्वयं भोगोसे अहीन—शेषनाग है, फिर भी द्विजिह्वों—सर्पोंको नष्ट करनेवाला है अथवा यह सत्य है कि महापुरुषोंके चरित्रको कौन जानता है।

परिसंख्या

किसी वस्तुका एक स्थानमें निषेध कर किसी दूसरे स्थानमे स्थापन करनेसे परिसंख्या अलंकार होता है। यथा—

निशासु नूनं मलिनाम्बरस्थिति. प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षति.।
यदि क्विपः सर्वविनाशसंस्तव. प्रमाणशास्त्रे परमोहसंभव: ॥२।१०

महासेनके राज्यमें रात्रिमें ही मलिन आकाशका सद्भाव था, अन्यत्र मलिन वस्त्रका सद्भाव नही था। द्विजक्षति—दन्ताघात केवल प्रौढ स्त्रीके संभोगमें ही था, अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णों अथवा पक्षियोंका आघात नही था। सर्वविनाशसंस्तव—सर्वापहारिलोप क्विप् प्रत्ययका ही था, अन्य किसीका समूल नाश नही था। परमोह-सम्भव—उत्कृष्ट तर्कका सद्भाव न्याय-शास्त्रमे ही था, अन्यत्र अतिशय मोहका सद्भाव नही था।

अनुप्रास, यमक और श्लेषकी दृष्टिसे ग्यारहवाँ और उन्नीसवाँ सर्ग प्रसिद्ध है। हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयके उन्नीसवें सर्गमे एकाक्षर और द्वयक्षर चित्रकी योजना की है। सर्वतोभद्र (१९।८५-८६), मुरजबन्ध (१९,९३-९४), गोमूत्रिका बन्ध (१९।७८), अर्धभ्रम (१९।८४), षोडशदल पद्मबन्ध (१९।९८-९९) एवं चक्रबन्ध (१९।१०१-२) विशेष प्रसिद्ध है।

धर्मशर्माभ्युदयमें उदात्त भाषा शैली, उत्कृष्ट कवित्व, उच्चकल्पना एवं गम्भीर रसयोजना वर्तमान है। दीर्घसमास और ससन्धि प्रयोग भी पाये जाते है। यथा—

सुधासुधारश्मिमृणालमालतीसरोजसारैरिव वेधसा कृतम्।
शनै शनैर्मौग्ध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमा मध्यममध्यम वयः ॥२।३६

सुन्दर कमरवाली उस सुव्रताने धीरे-धीरे मौग्ध्य अवस्थाको व्यतीत कर ब्रह्मा द्वारा अमृत, चन्द्रमा, मृणाल, मालती और कमलके स्वत्वसे निर्मितकी तरह सुकुमार ताख्य अवस्थाको धारण किया।

धर्मशर्माभ्युदयके अन्तिम सर्गमें जैनाचार और जैनदर्शनका विवेचन किया है। आरम्भके १२३ पद्योंमें सात तत्त्वोंका विस्तारपूर्वक वर्णन है और १२४ वें पद्यसे सर्गान्त पर्यन्त श्रावकाचार एवं मुन्याचारका निरूपण है। गृहस्थके द्वादशव्रत, सल्लेखना सम्यक्त्व, आर्त-रौद्र ध्यानका त्याग एवं त्रिकाल [1] भगवद्-वन्दनाका विधान किया है। अनागार चारित्रका विवेचन करते हुए कहा है—

अनागारं व्रतं द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
षोढा बाह्यं जिनैः प्रोक्तं तावत्संख्यानमान्तरम् ॥२१।१५५
यास्तिस्रो गुप्तयः पञ्च ख्याताः समितयोऽपि ताः।
जननात्पालनात्पोषादष्टौ तन्मातरः स्मृताः ॥२१।१५८॥

ज्ञान, दर्शन और चरित्रकी परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—

तत्त्वस्यावगतिर्ज्ञानं श्रद्धानन्तस्य दर्शनम्।
पापारम्भनिवृत्तिस्तु चारित्रं वर्ण्यते जिनैः ॥२१।१६२

तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ मुनिव्रतकी जनक, पालक और पोषक होनेसे अष्टमातृकाएँ कहलाती है। तत्त्वोका अवगम ज्ञान, श्रद्धान होना दर्शन और पापारम्भसे निवृत्त होना चारित्र है।

Religious Book Distribution Fund

छन्दोयोजना

प्रथम सर्ग.—१-८४ उपजातिः, ८५ मालिनी, ८६ वसन्ततिलकम्।

द्वितीय सर्ग.—१-७४ वंशस्थ, ७५ शार्दूलविक्रीडितम् ७६ द्रुतविलम्बित, ७७ शार्दूलविक्रीडितम्, ७८ शालिनी, ७९ शार्दूलविक्रीडितम्।

तृतीय सर्ग.—१-७३ अनुष्टुप्, ७४ शार्दूलविक्रीडितम्, ७५ द्रुतविलम्बित, ७६ शार्दूलविक्रीडितम्, ७७ शिखरिणी।

चतुर्थ सर्ग.—१ उपेन्द्रवज्रा, २-९१, उपजातिः, ९२, द्रुतविलम्बित, ९३ पृथ्वी।

पंचम सर्ग.—१-५१ वसन्ततिलका, ५२ शार्दूलविक्रीडितम्, ५३ मालिनी।

षष्ठ सर्गः—१-८६ रथोद्धता, ८७ वसन्ततिलका, ८८-८९ शार्दूलविक्रीडितम्, ९० मालिनी।

सप्तम सर्ग.—१-६६ उपेन्द्रवज्रा, ६७-६८ शार्दूलविक्रीडितम्।

अष्टम सर्ग—१-५५ मालिनी, ५६ हरिणी, ५७ मन्दाक्रान्ता।

नवम सर्गः—१-७८ इन्द्रवशा, ७९ हरिणी, ८० शार्दूलविक्रीडितम्।

दशम सर्गः—१-९ उपजातिः, १० मन्दाक्रान्ता, ११ मालिनी, १२ उपजातिः, १३ वसन्ततिलका, १४-.६ उपजाति, १७ पृथ्वी, १८ वंशस्थ, १९ वसन्ततिलका, २० उपजातिः, २१ भुजंगप्रयातम्, २२ द्रुतविलम्बित, २३

---

[1] आर्तरौद्रे परित्याज्य त्रिकालं जिनवन्दनात्। २१।१४६

वंशस्थ, २४ दोधक, २५ वसन्ततिलका, २६-३० वंशस्थ, ३१ वसन्ततिलका, ३२ उपजाति, ३३ इन्द्रवंशा, ३४ मन्द्राक्रान्ता, ३५ पृथ्वी, ३६ उपजातिः, ३७ द्रुतविलम्बित, ३८ मालिनी, ३९ वंशस्थ, ४० वसन्ततिलका, ४१ वंशस्थ, ४२ प्रमिताक्षरा, ४३ वसन्ततिलका, ४४ उपजातिः, ४५ ललिता, ४६ वसन्ततिलका, ४७ वंशस्थ, ४८ विपरीतपूर्वा, ४९ वसन्ततिलका, ५० उपजाति., ५१ भुजंगप्रयातम्, ५२-५३ वसन्ततिलका, ५४-५५ उपजाति , ५६ वंशस्थ, ५७ शार्दूलविक्रीडितम् ।

एकादश सर्गः—१-७१ द्रुतविलम्बित, ७२ मालिनी ।

द्वादश सर्ग.—१-६० वंशस्थ, ६१ शार्दूलविक्रीडितम्, ६२ पृथ्वी, ६३ मन्दाक्रान्ता ।

त्रयोदश सर्ग.—१-६९ पुष्पिताग्रा, ७० मालिनी, ७१ शार्दूलविक्रीडितम् ।

चतुर्दश सर्गः—१-८२ उपजाति., ८३ मन्दाक्रान्ता, ८४ शार्दूलविक्रीडितम् ।

पंचदश सर्गः—१-६९ स्वागता, ७० वसन्ततिलका ।

षोडश सर्गः—१-८३ प्रहर्षिणी, ८४ शिखरिणी, ८५-८७ शार्दूलविक्रीडितम्, ८८ वसन्ततिलका ।

सप्तदश सर्गः—१-१०८ उपजाति., १०९ वसन्ततिलका, ११० शार्दूलविक्रीडितम् ।

अष्टादश सर्ग.—१-६५ वंशस्थ, ६६ शार्दूलविक्रीडितम्, ६७ हरिणी ।

एकोनविंश सर्गः—१-९५ अनुष्टुप्, ९६ तोटकवृत्त, ९७-९९ वसन्ततिलका, १०० ललिता, १०१ शार्दूलविक्रीडितम्, १०२ स्रग्विणी, १०३ मालिनी, १०४ शार्दूलविक्रीडितम् ।

विंश सर्गः—१-१०० शालिनी १०१ मालिनी ।

एकोविंश सर्गः—१-१८२ अनुष्टुप् १८३-'८४ शार्दूलविक्रीडितम्, १८५ मालिनी ।

प्रशस्ति—१-२ वसन्ततिलका, ३ शार्दूलविक्रीडितम्, ४-७ उपजाति , ८ वसन्ततिलका, ९-१० शार्दूलविक्रीडितम् ।

आदान-प्रदान

महाकवि हरिचन्द्रने अपने पूर्ववर्ती कवियोंके काव्योंसे प्रेरणाएँ, उत्प्रेक्षाएँ एवं उपमान साम्यता ग्रहण की है तो अपने उत्तरवर्ती कवियों पर प्रभाव भी डाला है। रघुवंशके छठे सर्गमें महाकवि कालिदासने विदर्भराज भोजकी बहन इन्दुमतीके स्वयंवर का वर्णन किया है। हरिचन्द्रने इस इन्दुमती स्वयंवरसे प्रेरणा ग्रहण कर धर्मशर्माभ्युदय के सत्रहवें सर्गमें कुण्डिनपुराधीश प्रतापराजकी पुत्री शृंगारवतीके स्वयंवरका चित्रण किया है। दोनों वर्णनोंमें अनेक समता और विषमताएँ उपलब्ध हैं। महाकवि कालिदासने लिखा है कि स्वयंवर भूमिमें अजको देखकर अन्य राजा इन्दुमतीके विषयमें निराश हो गये। यथा—

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ रघुवंश ६।२

कामके भस्म होनेके उपरान्त रतिके मर्मभेदी विलाप और उसकी प्रार्थनाको सुनकर ही मानो भगवान् शंकरसे पुनः अपने शरीरको प्राप्त किये हुए कामदेवके समान अति सुन्दर राजकुमार अजको देखते हुए राजाओंका मन इन्दुमतीके विषयमें निराश हो गया ।

महाकवि हरिचन्द्रने बताया है कि धर्मनाथके लोकोत्तर रूपातिशयको देखकर स्वयंवरमें पधारे हुए राजाओंके मुँहपर निराश होनेके कारण कालिमा छा गयी ।

निःसीमरूपातिशयो ददर्श प्रदह्यमानागुरुधूपवर्त्या ।
मुखं न केषामिह पार्थिवानां लज्जामषीकूर्चिकयेव कृष्णम् ॥
धर्मशर्माभ्युदय १७।५

अयं स कामो नियतं भ्रमेण कमप्यधाक्षीद् गिरिशस्तदानीम् ।
इत्यद्भुतं रूपमवेक्ष्य जैनं जनाधिनाथाः प्रतिपेदिरे ते ॥ धर्म० १७।६

धर्मनाथके लोकोत्तर रूपातिशयको देख जलती हुई अगुरुधूप बत्तियोंसे किस राजाका मुख लज्जारूपी स्याहीकी कूचीसे मानो काला नहीं हुआ था । राजाओंने उनके आश्चर्यकारी रूपको देखकर यह समझा था कि यह कामदेव हैं, शिवजी ने भ्रमवश किसी अन्यदेवको ही भस्म किया है ।

उपर्युक्त दोनों सन्दर्भोंमें व्यंजनावृत्ति द्वारा नायकोंके सौन्दर्याधिक्यका चित्रण किया है । पर निःसीमरूपातिशयको देखकर अन्य राजाओंके मुखपर कालिमाका छा जाना—विशेष भावोंकी अभिव्यंजना करता है ।

स्वयंवरमें सम्मिलित हुए राजाओंका विलास-वैभव भी दोनों कवियों द्वारा प्रायः समान रूपमें वर्णित है । यथा—

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान् सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ रघुवंश ६।१

रत्नजटित सिंहासनपर बैठे हुए राजा विमानोंमें बैठकर बिहार करनेवाले देवोंके समान मालूम होते थे ।

महाकवि हरिचन्द्रने लिखा है—

शृङ्गारसारङ्गविहारलीलाशैलेषु तेषु स्थितभूपतीनाम् ।
वैमानिकानां च मुदागतानां देवोऽन्तरं किंचन नापलेभे ॥ धर्म० १७।४

शृंगाररूपी हरिणके बिहारके लिए क्रीडा पर्वतोंके समान उन मंचोंपर बैठे हुए राजाओं और स्वयंवर विधिको देखनेके लिए आये हुए देवोंमें कुछ भी अन्तर नहीं था ।

राजकुमार अजके मंचपर आरूढ होनेका वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ रघुवंश ६।३

जिस प्रकार कोई सिंह-शावक सीढ़ीकी तरह बने हुए पत्थरोंके ढोकों द्वारा सुखपूर्वक पहाड़की चोटीपर चढ़ता है, उसी तरह राजकुमार भी सुन्दर सजी हुई सीढ़ियोंसे राजा भोजके बनाये हुए मंचपर चढ़ा ।

इसी कल्पनाको एक नया रूप देते कवि हरिचन्द्रने लिखा है—

अथोऽङ्गिनां नेत्रसहस्रपात्रं निर्दिष्टमिष्टेन स मञ्चमुच्चैः ।
सोपानमार्गेण समारुरोह हैमं मरुत्वानिव वैजयन्तम् ॥धर्म० १७।७

तदनन्तर मनुष्योंके हजारों नेत्रोंके पात्र भगवान् धर्मनाथ किसी इष्टजनके द्वारा दिखलाये हुए सुवर्णमय उन्नत सिंहासनपर श्रेणीमार्गसे उस प्रकार आरूढ़ हुए जिस प्रकार इन्द्र वैजयन्त नामक अपने भवनमें आरूढ होता है ।

दोनों कवियोंकी उपमाओंमें निजी विशेषता है ।

इन्दुमती-स्वयंवरमें सुनन्दा और शृंगारवती-स्वयंवरमें सुभद्रा स्वयंवरमें सम्मिलित राजकुमारोंका परिचय देती है । दोनोंकी परिचय शैली समान है । यथा—

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक् सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ रघुवंश ६।२०

धर्मशर्माभ्युदयमें सुभद्रा राजकुमारोंका परिचय देती है—

अथ प्रतीहारपदे प्रयुक्ता श्रुताखिलक्ष्मापतिवृत्तवंशा ।
प्रगल्भवागित्यनुमालवेन्द्रं नीत्वा सुभद्रामिदधे कुमारीम् ॥ धर्म० १७।३२

स्वयंवरमें निराश हुए राजाओं द्वारा युद्ध, विवाहके अनन्तर दोनों ही नायकोंके पिताओंका गृहस्थाश्रमसे विरक्त होना और नायकोंका राज्यभार ग्रहण करना प्रायः समानरूपमें वर्णित है । यद्यपि दोनों काव्योंमें सन्दर्भ निरूपणकी पद्धति समान है, पर दोनों कवियोंकी उत्प्रेक्षाएँ, कल्पनाएँ और विषय उपस्थापन शैली भिन्न-भिन्न है ।

कुमारसम्भवमें पार्वतीके यौवनारम्भका मार्मिक चित्रण पाया जाता है । उसका बचपन व्यतीत होता है और यौवन फूट पड़ता है । महाकवि कालिदासने लिखा है—

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥

कुमारसम्भव १।३१

पार्वतीका बचपन बीत गया और उनके शरीरमें वह यौवन फूट पड़ा, जो शरीरकी लताका स्वाभाविक शृंगार है, जो मदिराके बिना ही मनको मतवाला बना देता है और जो कामदेवका बिना पुष्पोंका बाण है ।

उपर्युक्त पद्यके प्रथम पादको ग्रहण कर हरिचन्द्रने वृद्धावस्थाका अत्यन्त सजीव वर्णन किया है । यथा—

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥ धर्म० ४।५९

जो बिना पहने ही शरीरको अलंकृत करनेवाला आभूषण था, वह मेरा यौवन रूपी रत्न कहाँ गिर गया ? मानो उसे खोजनेके लिए ही वृद्ध मनुष्य अपना पूर्वभाग झुकाकर नीचे-नीचे देखता हुआ पृथिवीपर इधर-उधर चलता है ।

महाकवि हरिचन्द्रने कुमारसम्भवकी यौवनवाली कल्पनाको किस प्रकार वृद्धावस्थाके मार्मिक चित्रणमें परिवर्तित कर दिया है, यह कम प्रशंस्य नहीं है ।

शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदय

शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदयमें वर्ण्य वस्तुओंकी अपेक्षा बहुत समता है । धर्मशर्माभ्युदयकी ९–१६ सर्ग वर्ण्य वस्तु शिशुपालवधके ३-१३ सर्गकी वर्ण्य वस्तुसे प्रायः मिलती है । पर्वत, नदी, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, पुष्पावचय, जल-क्रीडा, प्रभात, यात्रा, अन्धकार, ऋतुवर्णन एवं नायिका प्रसाधन दोनों महाकाव्योंमें समान रूपमें वर्णित हैं । महाकवि हरिचन्द्रने शिशुपालवधसे पूर्णतया प्रेरणा प्राप्त की है । माघके रैवतक वर्णनका अनुकरण हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयके विन्ध्याचल वर्णनमें किया है । यहाँ समतासूचक कुछ पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥ शिशु० ४।१७

रैवतकको पहले भी श्रीकृष्णने कई बार देखा था, परन्तु इस बार वह नये आश्चर्यको उत्पन्न कर रहा था । रमणीयताका स्वरूप ही वह है, जो क्षण-क्षणमें नवीनता धारण करे ।

उपर्युक्त पद्यसे प्रभावित होकर हरिचन्द्रने लिखा है—

स दृष्टमात्रोऽपि गिरिर्गरीयांस्तस्य प्रमोदाय विभोर्बभूव ।
गुणान्तरापेक्ष्यमभीष्टसिद्धयै नहि स्वरूपं रमणीयतायाः ॥ धर्म० १०।१४

वह विशाल पर्वत दिखलाई पड़ते ही भगवान् धर्मनाथके लिए आनन्ददायी हो गया, सो ठीक ही है, क्योंकि अभीष्ट सिद्धिके लिए सुन्दरताका स्वरूप किसी दूसरे गुणकी अपेक्षा नहीं रखता ।

शिशुपालवधमें रैवतक पर्वतकी शोभाका वर्णन दारुक सारथी करता है और धर्मशर्माभ्युदयमें प्रभाकर मित्र । यह प्रसंग भी दोनों काव्योंका समान है । अतएव माघ कविसे हरिचन्द्रने प्रेरणा तो ग्रहण की ही है, साथ ही रैवतक चित्रणका अनुकरण भी किया है । यथा—

उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चारणत्पक्षिगणास्तटीस्तम् ।
उत्कन्धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कन्धरं दारुक इत्युवाच ॥ शिशु० ४।१८

उस पर्वतके ऊँचे प्रदेशोंमे पक्षी शब्द कर रहे थे। उसे देखनेकी इच्छासे श्रीकृष्णने उत्सुकता पूर्वक गरदन उठायी। उनको उत्सुक देखकर उक्तिकुशल दारुक उनसे इस प्रकार कहने लगा—

सुहृत्तम. सोऽथ सभासु हृत्तमः प्रभाकरश्छेत्तुमिति प्रभाकरः ॥१०।१५ धर्म०

तदनन्तर वह मित्र प्रभाकर जो कि सभाओंमें हृदयगत अन्धकारको नष्ट करनेके लिए साक्षात् प्रभाकर— सूर्य था, जगच्चन्द्र भगवान् धर्मनाथको पर्वतकी शोभामे व्यापृत नेत्र देख बडे उल्लासके साथ इस प्रकार बोला।

शिशुपालवधके सप्तम सर्गमें वनविहारका वर्णन है। यादवांगनाओंने पुष्पावचय किया है। माघ कविने इस सन्दर्भमें जलक्रीडा, नाना प्रकारके विलास और विहारोका सजीव चित्रण किया है। कवि हरिचन्द्र इस वर्णनसे बहुत प्रभावित है, उन्होंने धर्मशर्माभ्युदयके बारहवें सर्गमें पुष्पावचय और तेरहवे सर्गमें जलक्रीड़ाका निरूपण किया है। विषयकी स्थापना एवं काव्यात्मक चमत्कारके लिए हरिचन्द्र माघके ऋणी है। यद्यपि हरिचन्द्रकी वर्णनशैली माघसे भिन्न है, तो भी स्पष्टतः वह माघका अनुकरण करते हो दृष्टिगोचर होते है। माघके सप्तम सर्गके आरम्भमे बताया गया है—

अनुगिरमृतुभिर्वितायमानामथ स विलोकयितुं वनान्तलक्ष्मीम्।
निरगमदभिराद्धुमादृतानां भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः ॥ शिशु० ७।१

इस प्रकार ऋतुओंके प्रादुर्भावके बाद, श्रीकृष्ण रैवतक पर्वतके प्रत्येक शिखरपर बिखरी हुई वनकी शोभाको देखनेके लिए शिविरसे बाहर निकले, और यह ठीक भी है कि श्रेष्ठ व्यक्तियोकी सेवामें तत्पर रहनेवालोका प्रयत्न व्यर्थ नही जाता।

उपर्युक्त सन्दर्भसे प्रभावित हो हरिचन्द्रने लिखा है कि उनके नायक धर्मनाथ भी श्रीकृष्णके समान वन शोभाको देखनेके लिए शिविरसे बाहर निकलते हैं। यहाँ पर्याप्तरूपमे भावसाम्य पाया जाता है। यथा—

दिदृक्षया काननसंपदां पुरादथायमिक्ष्वाकुपतिर्विनिर्ययौ।
विधीयतेऽन्योऽप्यनुयायिनां गुणैः समाहितः किं न तथाविधः प्रभुः ॥
धर्म० १२।१

तदनन्तर इक्ष्वाकु वशके अधिपति भगवान् धर्मनाथ वन-वैभव देखनेकी इच्छासे नगरके बाहर निकले, सो ठीक ही है, यत. जब साधारण मनुष्य भी अनुयायियोके अनुकूल प्रवृत्ति करने लगते है, तब गुणशाली उन प्रभुका कहना ही क्या ?

माघ काव्यमे आया है कि यदुवंशियोने स्त्रियो सहित विहार किया। कवि हरिचन्द्रने भी माघके ही समान इक्ष्वाकु वंशियोको स्त्रियों सहित ही विहार कराया है। स्त्रियोको साथ ले जानेका हेतु दोनो काव्योमे समान ही वर्णित है। यथा—

दधति सुमनसो वनानि बह्वीर्युवतियुता यादवः प्रयातुमीपुः
मनसिशयमहास्त्रमन्यथामी न कुसुमपञ्चकमप्यलं विसोढुम् ॥शिशु० ७।२

मनुष्यियोंने स्त्रियोंके सहित ही अनेक प्रकारके पुष्पोसे परिपूर्ण वनमें विचरनेकी इच्छा की। स्त्रियोंके सहित जानेका कारण यह है कि अमोघास्त्र स्वरूप पाँच फूलोके बाणोंको भी सह नही सकते थे।

इसी आशयको कवि हरिचन्द्रने निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

विकासिपुष्पद्रुणि कानने जनाः प्रयातुमीषुः सह कामिनीगणैः।
स्मरस्य पञ्चापि न पुष्पमार्गणा भवन्ति सह्याः किमसंख्यतां गताः॥
धर्मं० १२।३

विकसित हुए पुष्पवृक्षोंसे युक्त वनमें मनुष्योने स्त्री-समूहके साथ ही जाना अच्छा समझा; क्योकि जब कामके पाँच ही बाण सह्य नही होते, तब असंख्यात बाण कैसे सह्य हो सकेंगे?

शिशुपालवधके अष्टम सर्गमे आया है कि वन विहारसे थकी हुई यादवांगनाएँ अर्धनिमीलितनेत्रा होकर जलाशयकी ओर बढ़ी। कवि माघने इस जलक्रीड़ाके प्रसंगको उपमा और उत्प्रेक्षाओ द्वारा पर्याप्त सरस बनाया है। कवि हरिचन्द्र भी जलक्रीड़ाके सन्दर्भमे माघसे प्रभावित हैं तथा अनेक स्थलोपर उन्होने माघका अनुसरण किया है। यथा—

आयासादलघुतरस्तनैः स्वनद्भिः श्रान्तानामविकचलोचनारविन्दैः।
अभ्यम्भः कथमपि योषितां समूहैस्तैरुर्वीनिहितचलत्पदं प्रचेले॥ शिशु० ८।१

वनविहारके परिश्रमसे थकी हुई उन्नत-विशाल उरोजवाली युवतियाँ अविकसित कमल-नयनोसे किसी प्रकार देख-भाल करती हुई जलाशयकी ओर चली। उक्त आशयको ग्रहण कर हरिचन्द्रने लिखा है—

द्विगुणितमिव यात्राया वनानां स्तनजघनोद्वहनश्रमं वहन्त्यः।
जलविहरणवाञ्छया सकान्ता ययुरथ मेकलकन्यकां तरुण्यः॥धर्मं० १३।१

तदनन्तर वनविहारसे जो मानो दूना हो गया था, ऐसा स्तन तथा जघन धारण करनेका खेद वहन करनेवाली तरुण स्त्रियाँ जलक्रीड़ाकी इच्छासे अपने-अपने पतियोके साथ नर्मदा नदीकी ओर चली।

इस सन्दर्भमे स्त्रियोके चलनेके समयका निरूपण माघ काव्यकी अपेक्षा धर्मशर्माभ्युदयमें अधिक चमत्कारपूर्ण है। माघमे बताया गया है कि काली भौंहवाली रमणियाँ कन्धोंसे कन्धा न मिलाकर श्रेणीबद्ध हो चल रही थी तथा उनके पृथुल नितम्ब आपसमें धक्का-धुक्की कर रहे थे। अतः वह रास्ता विस्तृत होनेपर भी एकदम तंग हो गया[1]। घने वृक्षोंकी छायासे शीतल मार्ग द्वारा रमणियाँ तालाबकी ओर जा रही थी। वायु द्वारा वृक्षोकी शाखाएँ हिल रही थी। सूर्य उत्सुकतावश उन्ही रिक्त स्थानोंसे करों द्वारा स्पर्श कर रहा था[2]। किसी कमलमुखी रमणीको शोभासे हार मानकर सूर्य-

---

[1] यान्तीनां सममसितभ्रुवां—शिशुपाल ८।२।

[2]. नीरन्ध्रद्रुमशिशिरां भुवं व्रजन्ती —वही ८।३।

की किरणोंसे क्लान्त हुई उस रमणीकी सेवा करनेके लिए चन्द्रमा श्वेतछत्र लेकर आया और मानो प्रीतिकर कार्य करने लगा[1]। कोई पुरुष, अनुरागके कारण अपनी प्रियतमाके ऊपर अपना दुपट्टा तान छाया कर रहा था। इससे अन्य छतरीवाली रमणियोंकी अपेक्षा उस रमणीकी छाया अधिकतर हो गयी थी[2]।

इसी सन्दर्भको धर्मशर्माभ्युदयमें अंकित करते हुए लिखा है कि जिनका चित्त जलसमूहके आलिंगनमें लग रहा है, ऐसी वे स्त्रियाँ स्वेद समूहके छलसे ऐसी जान पड़ती थी, मानो जलने अनुरागके साथ शीघ्र ही सामने आकर पहले ही उनका आलिंगन कर लिया हो।[3] पृथिवीतलपर रखनेसे जिसके नखरूपी मणियोंकी लाल-लाल किरणें फैल रही है, ऐसा उन सुन्दर भौंहो वाली स्त्रियोका चरण-युगल इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो खेद समूहके कारण उनकी जिह्वाओंका समूह ही बाहर निकल रहा हो[4]। उन स्त्रियोके पीछे पतियोंके हाथमें स्थित नवीन मयूर पत्रके छत्रोंका जो समूह था, वह ऐसा जान पड़ता था, मानो कोमल हाथोंके स्पर्शसे सुख प्राप्त कर वन ही प्रेमवश उन स्त्रियोंके पीछे लग गया था[5]। किसी मृगनयनी स्त्रीके मुखकी ओर गन्धलोभी भ्रमरोका जो समूह वृक्षके अग्रभागसे शीघ्र ही नीचे आ रहा था, वह पृथिवीपर स्थित चन्द्रमाकी भ्रान्तिसे आकाशसे उतरते हुए राहुकी शोभाका हरण कर रहा था[6]।

उपर्युक्त सन्दर्भोंकी तुलना करनेसे हरिचन्द्रमें कल्पनाकी उड़ान अधिक दूर तक दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदयके ५वें सर्गमें और माघके प्रथम सर्गमें नारद और देवागनाओके नभोवतरणमें कुछ साम्य सा प्रतीत होता है।

दशकुमारचरित और धर्मशर्माभ्युदय

महाकवि हरिचन्द्रका अध्ययन बहुत ही विशाल और व्यापक है। उन्होने अपने समय तक निर्मित समस्त साहित्यका अध्ययन किया था। दण्डीके दशकुमारचरितकी एकाध कल्पना ज्यो की त्यों पायी जाती है। धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यके द्वितीय सर्गमे महारानी सुव्रताके नख-शिख सौन्दर्यका सुन्दर चित्रण किया गया है। कवि कहता है कि ऐसा लगता है मानो समस्त सौन्दर्यसे द्वेष रखनेवाले ब्रह्माजी द्वारा इस सुव्रताकी रचना घुणाक्षर न्यायसे हो गयी हो। इनकी चतुराईको तो तब जानें, जब ये ऐसी हो किसी अन्य सुन्दरीको बना दें। यथा—

---

[1] एकस्यास्तपनकरै —वही ८।४।
[2] स्व रागादुपरि—वही ८।५।
[3] जलभरपरिरम्भदत्तचित्ता —धर्मशर्माभ्युदय १३।२।
[4] क्षितितलविनिवेशनात्—वही १३।३।
[5] प्रियकरचलितं विलासिनीनां—वही १३।४।
[6]. इह मृगनयनासु—धर्मशर्माभ्युदय १३।५।

समग्रसौन्दर्यविधिद्विषो विधेर्घुणाक्षरन्यायवशादसावभूत् ।
तदास्य जाने निपुणत्वमीदृशीमनन्यरूपां कुरुते यदापराम् ॥ धर्म० २।६१

यही उत्प्रेक्षा महाकवि दण्डीके दशकुमारचरितमें निम्न प्रकार पायी जाती है। "ललनाजनं सृजता विधात्रा नूनमेषा घुणाक्षरन्यायेन निर्मिता। नो चेदब्जभूरेवंविधो निर्माणनिपुणो यदि स्यात्तर्हि तत्समानलावण्यमन्यां तरुणी किं न करोति" ? इति सविस्मयानुरागं विलोकयतस्तस्य समक्षं स्थातुं लज्जिता सती··· ।[1]

अवन्तीसुन्दरीकी लावण्यमयी प्रतिभा देखकर ऐसा ज्ञात हुआ कि जब ब्रह्मदेव सृष्टिमें स्त्रियोंकी रचना करने लगे तब घुणाक्षरन्यायसे यह सुन्दरी बन गयी, अन्यथा इसके समान और स्त्रियाँ उन्होंने क्यों नही रची ? यदि वे ऐसी रचना कर सकनेमें प्रवीण होते, तब न करते। यह तो धोखे से बन गयी, ब्रह्माजीने जानकर नही रची। नही तो और तरुणियाँ वे अवश्य बनाते।

इस सन्दर्भमें अवन्तिसुन्दरीका जो लावण्य वर्णित है[2], महाकवि हरिचन्द्रने भी वैसा ही सौन्दर्य चित्रित किया है

हरिचन्द्रका प्रभाव

महाकवि हरिचन्द्रके धर्मशर्माभ्युदयका प्रभाव श्रीहर्षकृत नैषधचरितपर लक्षित होता है। डॉ० श्री चण्डिकाप्रसाद शुक्लने अपने 'नैषध-परिशीलन' नामक शोध-प्रबन्धमें लिखा है—"श्रीहर्ष धर्मशर्माभ्युदय काव्यसे पूर्ण परिचित समझ पड़ते हैं। नैषधमें एक स्थानपर तो उन्होने श्लेषके सहारे इसका नामोल्लेख भी कर दिया है वरुण स्वयंवरके अन्तमें नलको वरदान देते हुए कहते हैं—" आपके अंगका संयोग पाकर पुष्पोंमें म्लानि (मुरझाहट) न होगी, और उनमें दिव्य सुगन्ध आ जायेगी। मुझे पुष्पके अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु नही दिखाई पडती जो धर्म तथा श्रेय (धर्मशर्म) दोनोंका साधक हो।"[3] यद्यपि धर्मशर्मको एक साथ देखकर उससे धर्मशर्माभ्युदयका संकेत समझना द्राविड-प्राणायाम है, किन्तु अनेक स्थलोंमें भावसाम्य तथा वर्णनशैली-साम्य देखकर यह अनुमान करना सुसम्भव है।"[4]

महाकवि हरिचन्द्रने महासेनकी महिषी सुव्रताके अनिन्द्य लावण्यका चित्रण करते हुए कहा है कि विधाताने संसारकी समस्त सुन्दर वस्तुओका सार लेकर इस महिषीके मुखका सृजन किया है। यथा—

---

[1] "दशकुमारचरितम्" श्री ताराचरण भट्टाचार्य कृत बालविबोधिनी संस्कृत टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी द्वारा प्रकाशित, ई० सन् १९५८, पूर्व पीठिका, पंचम उच्छ्वास, पृ० ८७।

[2] वही, पृ० ८४-८५ तथा धर्मशर्माभ्युदय २।४३-४४।

[3] नैषधचरितम् १४।८५।

[4] नैषध परिशीलन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९६०, पृ० १४२।

द्रुमोत्पलात्सौरभमिक्षुकाण्डत. फलं मनोज्ञं मृगनाभित. प्रभाम् ॥
विधातुमस्या इव सुन्दरं वपु. कुतो न सारं गुणमाददे विधिः ॥ धर्म० २।६१

ऐसा लगता है कि विधाताने इसका सुन्दर शरीर बनानेके लिए कमलसे सुगन्ध, ईखसे फल और कस्तूरीसे मनोज्ञ प्रभा ली है।

नैषधमे दमयन्तीके मुख सौन्दर्यके निर्माणके हेतु चन्द्र, उत्पल और मृगनयन आदि सार लिये जानेकी कल्पना की गयी है। यथा—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिमाम् ॥ नैषध २।२५

दमयन्तीके मुखकी रचनाके लिए विधाताने मानो चन्द्रमण्डलका श्रेष्ठ अंश ले लिया था, जिससे चन्द्रमाके मध्यमें गर्त बन गया और वह गर्त इतना गहरा हुआ कि उस पारके आकाशकी नीलिमा दिखलाई पड़ने लगी।

दमयन्तीके नेत्रोकी रचनाके लिए बड़े प्रयत्नके साथ इसके पलकरूपी यन्त्र द्वारा चकोरनेत्रोंसे, मृगनयनोसे तथा कमलोसे अमृत-प्रवाह पूर्ण यह श्रेष्ठ भाग निकाला है। यथा—

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्टः ।
सारः सुधोद्गारमय· प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातु ॥ नैषध ७।३

धर्मशर्माभ्युदयमे सुव्रताके नेत्रोका वर्णन करते हुए लिखा है—

चकार यो नेत्रचकोरचन्द्रिकामिमामनिद्यां विधिरन्य एव सः ।
कुतोऽन्यथा वेदनयान्वितात्ततोऽप्यभूदमन्दद्युतिरूपमीदृशम् ॥ धर्म० २।१४

स्पष्ट है कि नैषधकारने अपनी कल्पनाको उक्त धर्मशर्माभ्युदयकी कल्पनासे पल्लवित करनेमे प्रेरणा प्राप्त की होगी।

धर्मशर्माभ्युदयमे विदर्भाधिपति प्रतापराजकी दुहिता शृंगारवतीके सौन्दर्यवर्णन प्रसंगमे कविने कहा है—

एतां धनुर्यष्टिमिवैष मुष्टिग्राह्यैकमध्यां समवाप्य तन्वीम् ।
नृपानशेषानपि लाघवेन तुल्यं मनोभूरिपुभिर्जघान ॥ धर्म० १७।१४

मुट्ठीमें पकड़े जाने योग्य कटिवाली इस सुन्दरीको अपनी धनुर्लता बनाकर कामदेवने सारे राजाओंको एक साथ अपने बाणोंका लक्ष्य बनाया।

नैषधमें आया है कि नलको अन्त पुरमे दमयन्ती क्षीणकटिप्रदेशवाली कुसुमधनुलता-सी प्रतीत होती है। कवि श्रीहर्षने सम्भवतः धर्मशर्माभ्युदयके उक्त पद्यने प्रेरणा प्राप्त की होगी।

सेयं मृदुः कौसुमचापयष्टि. स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या ।
तनोति न. श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ॥ नैषध० ७।२८

मुट्ठीमें ग्रहणयोग्य कटि प्रदेशवाली यह सुन्दरी मदनकी कुसुम-धनुलता ही है, जो हमें मोहित करनेके लिए अपने श्रीमान् अपांगोंसे कटाक्ष-बाणोंकी वृष्टि करती है।

शृंगारवतीके स्वयंवरका प्रभाव भी दमयन्ती स्वयंवरपर प्रतीत होता है। स्वयंवरमें पधारे राजकुमार विदर्भराजदुहिता शृंगारवतीको देखते है। कवि हरिचन्द्रने उनकी इस दृष्टिका निरूपण करते हुए कहा है—

यद्यत्र चक्षु. पतितं तदङ्गे तत्रैव तत्कान्तिजले निमग्नम्।
शेषाङ्गमालोकयितुं सहस्रनेत्राय भूपाः स्पृहयांबभूवुः॥ धर्म० १७।१५

शृङ्गारवतीके जिस अंगमें चक्षु पड़ते थे, वही-वही कान्तिरूपी जलमें डूब जाते थे। अतः अवशिष्ट अंग देखनेके लिए राजा लोग सहस्र नेत्र होनेकी इच्छा करते थे।

दमयन्तीके रूपमाधुर्यका पान करते समय नलके नेत्रोंकी भी लगभग ऐसी ही स्थिति हुई है। दमयन्तीकी दृष्टि भी नलके रूपको देखनेमें डूब गयी है।

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत्।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारां विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेषः॥ नैषध ८।९

दमयन्तीकी दृष्टि नलके जिस अंग पर पड़ी, उसीमे डूब कर रह गयी, दूसरे अंगको प्राप्त नही हुई। पर बहुत देर तक रुक-रुक कर पलक गिरनेसे उसकी बुद्धिका विच्छेद होनेके कारण वह अन्य अंगोंको देख पायी।

धर्मशर्माभ्युदयमे बताया गया है कि दिव्यागनाएँ प्रथम महासेनको सूत्ररूपमे अपने आगमनका प्रयोजन कहती है, पश्चात् भाष्य कर विस्तृत रूपमें समझाती है।

उक्तमागमनिमित्तमात्मन. सूत्रवत्किमपि यत्समासत।
तस्य भाष्यमिव विस्तरान्मया वर्ण्यमानमवनीपते शृणु॥ धर्म० ५।३०

इस उत्प्रेक्षाका प्रभाव नैषधके उस सन्दर्भपर है, जिसमें दमयन्ती देवोंको प्रत्युत्तर देते समय दूतरूपमें प्रच्छन्न नलसे प्रार्थना करती है।

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न तु सम्यग्विवरीतुमुत्तरम्।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते॥ नैषध ९।३७

मेरी सूत्ररूपमें कही हुई बातके प्रति हे दूत, तुम भाष्यकार बनना दूषणकार नही, क्योकि मैं अबला उन विद्वानोको उत्तर ही क्या दे सकती हूँ।

इस प्रकार नैषधमें कई उत्प्रेक्षाएँ धर्मशर्माभ्युदयसे प्रभावित प्रतीत होती है।

धर्मशर्माभ्युदय और पुरुदेवचम्पू

हरिचन्द्रका प्रभाव पुरुदेवचम्पूपर भी यथेष्ट है। धर्मशर्माभ्युदयके अष्टम सर्गका वस्तुवर्णन पुरुदेवचम्पूके पंचम स्कन्धमें प्रतिबिम्बित है।

नेमिनिर्वाणकाव्यम्[1]

इस महाकाव्यमें काव्यचमत्कारके साथ हृदयकी मार्मिकता पद पदपर लक्षित होती है। पन्द्रह सर्गोमे तीर्थंकर नेमिनाथका जीवनवृत्त अंकित किया गया है। इसके रचयिता महाकवि वाग्भट प्रथम हैं।

कवि-परिचय

वाग्भट नामके कई विद्वान् हुए है। 'अष्टांगहृदय' नामक आयुर्वेद ग्रन्थके रचयिता एक वाग्भट हो चुके है, पर इनका कोई काव्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत काव्यकी जैनसिद्धान्त भवन आराकी हस्तलिखित प्रतिमें, जिसका लेखनकाल वि० सं० १७२७ पौष कृष्णा अष्टमी शुक्रवार है, निम्नलिखित प्रशस्ति श्लोक उपलब्ध होता है।

> अहिच्छत्रपुरोत्पन्न-प्राग्वाटकुलशालिनः ।
> छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबन्धं वाग्भटः कविः ॥८७॥

यह प्रशस्ति पद्य श्रवणबेल्गोलके स्व० पं० दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके पुस्तकालयवाली नेमिनिर्वाणकाव्यकी प्रतिमें भी प्राप्य है[2]।

प्रशस्तिपद्यसे अवगत होता है कि वाग्भट प्रथम प्राग्वाट—पोरवाड कुलके थे और इनके पिताका नाम छाहड था। इनका जन्म अहिच्छत्रपुरमें हुआ था। म० म० ओझाजीके अनुसार नागौरका पुराना नाम नागपुर या अहिच्छत्रपुर है[3]। महाभारतमें जिस अहिच्छत्रका उल्लेख है[4], वह तो वर्तमान रामनगर (जिला बरेली, उत्तरप्रदेश) माना जाता है। नायाधम्मकहामे भी अहिच्छत्रका निर्देश आया है[5], पर यह अहिच्छत्र चम्पाके उत्तरपूर्व अवस्थित था। विविधतीर्थकल्पमे अहिच्छत्रका दूसरा नाम शखवर्ती नगरी आया है। इस प्रकार अहिच्छत्रके विभिन्न निर्देशोंके आधारपर यह निर्णय करना कठिन है कि वाग्भट प्रथमने अपने जन्मसे किस अहिच्छत्रको सुशोभित किया था। डॉ० जगदीशचन्द्र जैनने अहिच्छत्रकी अवस्थिति रामनगरमें ही मानी है[6], किन्तु हमें इस सम्बन्धमें ओझाजीका मत ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है और कवि वाग्भट प्रथमका जन्म स्थान नागौर ही जँचता है। कवि दिगम्बर सम्प्रदायका अनुयायी है, यत. मल्लिनाथको कुमाररूपमे नमस्कार किया है।[7]

---

[1] नेमिनिर्वाणम् सं० शिवदत्तशर्मा और काशीनाथ शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३६ ई०।
[2] जैन हितैषी भाग ११, अंक ७-८, पृ० ४८२।
[3] नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २, पृ० ३२६।
[4] महाभारत, गीता प्रेस, ५।१९१।८०।
[5] नायाधम्मकहाओ १५।१५८।
[6] Life in Ancient India as depicted in the Jain Canons by Dr. J C Jain, Bombay, 1947, PP. 264-65
[7] तप कुठारक्षतकर्मवल्लिर्मल्लिर्जिनो वः नेमि० १।१९।

स्थितिकाल

वाग्भट प्रथमने अपने काव्यमें समयके सम्बन्धमें कुछ भी निर्देश नही किया है। अत: अन्तरंग प्रमाणोंके अभावमें केवल बाह्य प्रमाणोंका साक्ष्य ही शेष रह जाता है। वाग्भटालंकारके रचयिता वाग्भट द्वितीयने अपने लक्षण ग्रन्थमें नेमिनिर्माणके छठे सर्गके "कान्तारभूमो" (६।४६), "जुडुर्वसन्ते" (६।४७) और "नेमिर्विशालनयनयो:" (६।५१) पद्य ४।३५, ४।३९ और ४।३२ मे उद्धृत किये हैं। नेमिनिर्वाणके सातवें सर्गका "वरणा प्रसूननिकरा" २६वाँ पद्य भी .वाग्भटालंकारके चतुर्थ परिच्छेदके ४०वें पद्यके रूपमें आया है। अत: नेमिनिर्वाण काव्यकी रचना वाग्भटलंकारके पूर्व हुई है। वाग्भटालंकारके रचयिता वाग्भट द्वितीयका समय जयसिंह देवका राज्यकाल माना जाता है। प्रो० वूह्लरने अनहिलवाड़के चालुक्य राजवंशकी जो वंशावली अकित की है, उसके अनुसार जयसिंह देवका राज्यकाल ई० १०९३-११४३ ई० सिद्ध होता है[1]। आचार्य हेमचन्द्रके द्वयाश्रय[2] काव्यसे सिद्ध होता है कि वाग्भट चालुक्यवंशीय कर्णदेवके पुत्र जयसिंहके अमात्य थे। अतएव नेमिनिर्वाणकी रचना वि० स० ११७९ के पूर्व होनी चाहिए।

चन्द्रप्रभचरित, धर्मशर्माभ्युदय और नेमिनिर्वाण इन तीनो काव्योंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि चन्द्रप्रभचरितका प्रभाव धर्मशर्माभ्युदयपर है और नेमिनिर्वाण इन दोनो काव्योसे प्रभावित है। धर्मशर्माभ्युदयपर नेमिनिर्वाणका प्रभाव बिलकुल भी प्रतीत नही होता है।

धर्मशर्माभ्युदयके "श्रीनाभिसूनोश्चिरमङ्घ्रि युग्मनखेन्दव:" (धर्म० १।१) का नेमिनिर्वाणके "श्रीनाभिसूनो. पदपद्मयुग्मनखा." (नेमि १।१) पर स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार "चन्द्रप्रभं नौमि यदीयमाला नूनं" (धर्म० १।२) से "चन्द्रप्रभाय प्रभवे त्रिसन्ध्य तस्मै" (नेमि० १।८) पद्य भी प्रभावित है। अतएव नेमिनिर्वाणका रचना काल ई० सन् १०७५-११२५ होना चाहिए।

नेमिनिर्वाणकी कथावस्तु

चोबीस तीर्थंकरोंके नमस्कारके अनन्तर मूलकथा आरम्भ होती है। सौराष्ट्र नामका देश धन समृद्धिसे परिपूर्ण था। इस देशमे द्वारावती नामकी नगरी थी, जिसमे यदुवंशतिलक समुद्रविजय नामका राजा शासन करता था। राज्यकी सुव्यवस्थाके लिए महाराजने अपने अनुज 'वसुदेव' के पुत्र श्रीकृष्णको युवराज पदपर प्रतिष्ठित किया।

---

[1] His first patron was the Calukya King Jaya Sinha, designated Siddharaja, who had ascended the throne in the year 1150 of the Vikrama era and who ruled over Gujarat and the adjoining provinces of the Western India untill the Vikrama year 1199—The Life of Hemacandracharya, Singhi Jaina, Jnanapitha Santiniketan. 1936 A. D. P. 12.

[2] द्वयाश्रयकाव्य, बम्बई; १९१५-२१ ई० २०/९१-९२।

महाराज समुद्रविजय पुत्रके अभावमें अत्यधिक चिन्तित रहते थे। अतः पुत्र प्राप्तिके हेतु उन्होंने अनेक व्रतोंका सम्पादन किया।—प्रथम सर्ग

एक दिन महाराज समुद्रविजयने आकाशमार्गसे पृथ्वीपर उतरती हुई देवांगनाओंको देखा। उन्होंने राजासे निवेदन किया कि वे महारानी शिवादेवीकी सेवाके लिए आयी हैं। महारानी शिवाके गर्भमें तीर्थंकरका जीव आनेवाला है, अत. वे तीर्थंकरकी माताकी सभी प्रकारसे सेवा करेंगी। देवागनाएँ रानीकी प्रसन्नताके लिए संगीत एवं अभिनय प्रस्तुत करने लगी। रानीने रात्रिके अन्तिम प्रहरमें सोलह स्वप्न देखे। —द्वितीय सर्ग

किसी देवागनाने प्रभातकी सूचना देते हुए कहा—"देवि! विशेष राग पानेके कारण तारागणरूपी पुष्पमालाके मन्द हो जानेसे यह रात्रि आकाशशय्या छोड रही है। चकोरकी वाणीसे नि सृत अमृत नष्ट हो गया है। चन्द्र अस्त हो रहा है। उड़ते हुए भ्रमर कमलके तोरणके समान प्रतीत हो रहे हैं। महारानी शिवादेवी शय्यात्याग दन्तकान्तिके बहाने हर्ष प्रकट करती हुई स्वप्नोंका फल महाराजसे पूछने लगी। महाराजने कहा—देवि! तुम्हें जगन्मान्य पुत्ररत्न प्राप्त होगा। राजाने क्रमश' समस्त स्वप्नोंका फलादेश बताया। — तृतीय सर्ग

तीर्थंकर के गर्भमें आनेसे शिवारानीका सौन्दर्य और अधिक वृद्धिंगत हो गया। क्रमशः गर्भलक्षण प्रकट होने लगे। श्रावण शुक्ला षष्ठीके दिन पुत्रका जन्म हुआ। कल्पवासियोंके यहाँ घण्टाध्वनि, ज्योतिषियोंके यहाँ सिंहनाद, भवनवासियोंके यहाँ शंखध्वनि और व्यन्तरोंके यहाँ दुन्दुभिध्वनिके होनेसे तीर्थंकर जन्मकी सूचना प्राप्त हुई। चतुर्निकायके देव द्वारावतीमें पहुँच गये। —चतुर्थ सर्ग

इन्द्राणी प्रसूतिका गृहमें गयी और माताके पास मायामयी बालक सुलाकर त्रिलोकीनाथको नमस्कारपूर्वक ले आयी और इन्द्रको सौंप दिया। इन्द्र उसे लेकर ऐरावतपर सवार हो सुमेरु पर्वतकी ओर चला। इन्द्रके आगे देव दुन्दुभि वाद्य बजा रहे थे, जिससे वह वाद्यध्वनि पर्वतसे प्रतिध्वनित होनेके कारण सुमेरुका अट्टहास प्रतीत हो रहा था। पुष्पपरागसे पीत हुई नदियाँ दावानलकी गरमीसे छिपे हुए स्वर्णप्रवाहके समान मालूम पड रही थी। देवोंने पाण्डुक शिलापर भगवान्का अभिषेक किया। इन्द्रने धर्मरथको धारण कर यह नेमि पृथ्वीके विषम अनिष्टको नष्ट करेंगे, अतः 'अरिष्टनेमि' यह नाम रखा। देव जन्माभिषेकोत्सव सम्पन्न कर अमरपुरीको चले गये।—पंचम सर्ग

बालक अरिष्टनेमि' नवोदित चन्द्रमाके समान वृद्धिंगत होते हुए परिजन और पुरजनको आनन्दित कर रहे थे। जन्मसे ही वे तीन ज्ञानके धारक थे। इन्द्रिय विकार उत्पन्न करनेवाले यौवनके रहनेपर भी वे रस-मोह एवं विषय-वासनासे पृथक् थे। नेमिके रूप-सौन्दर्यका अवलोकन करनेके लिए वसन्त ऋतु प्रकट हुई। लम्पट भ्रमर पुष्परसका आस्वादन करनेके लिए भ्रमण करने लगे। मलयानिल नवीन प्राणका

संचार करने लगा। तिलक वृक्ष विकसित पुष्पोंके बहाने रोमांचित होने लगे। पिककी मधुर ध्वनिसे प्रियके आगमनकी सूचना प्राप्त कर रमणियोंने न काकके लिए बलि—उपहार प्रदान किया। यादव 'रैवतिक' पर्वतपर वसन्तका अवलोकन करने गये। अरिष्टनेमिसे सारथिने रैवतकपर चलनेका निवेदन किया।—षष्ठ सर्ग।

रैवतकपर मन्दोन्मत्त मधुकरोंसे युक्त हस्तियुगल क्रीड़ा कर रहा था। जलपूर्ण सरोवरोंमें हंस क्रीड़ा कर रहे थे। चम्पा और सहकारकी छटा इस पर्वत भूमिको स्वर्णमय बना रही थी। कुरवक, अशोक, तिलक आदि वृक्ष अपनी शोभासे नन्दनवनको भी तिरस्कृत कर रहे थे। सम-विषम और निम्न-उन्नत भूमिमें प्रवाहित होनेवाला नदियोंका प्रवाह वायुके कारण सर्पकी उपमा धारण करता था। हे देव! जिस प्रकार आप अपने गुणोंसे अद्भुत प्रतापवाले इस वंशको भूषित करते हैं, उसी तरह सत्य वैभववाला यह पर्वत देवोंको भी आश्रय देनेके कारण पृथ्वीको सुशोभित करता है। सारथिके वचनसे पर्वतराजकी शोभा देखनेवाले नेमिनाथने सघन छायामें निर्मित पटमन्दिरमें निवास किया। —सप्तम सर्ग

विभिन्न प्रकारके वृक्षोंसे युक्त उस पर्वतपर क्रीड़ा करनेके लिए 'माधव' पहुँचे। यदुवंशी नारियोंने अपने प्रियोंके साथ विभिन्न प्रकारकी विलास-क्रीडाएँ सम्पन्न कीं। वनविहारके अनन्तर यादवोंने जलविहार किया। स्नान करनेसे स्त्रियोंके नखक्षत स्पष्ट दिखलाई पड़ रहे थे, जिससे वे मूर्तिधारी कामदेवकी वर्णपंक्तिके समान प्रतीत होते थे। रमणियोंके केशसे गिरे हुए भ्रमरसे युक्त केतकी पुष्प तैरती हुई क्षुद्र नौकाओंके समान प्रतीत होते थे। इस प्रकार यादवोंने अपनी सुन्दरियोंके साथ विभिन्न प्रकारसे जलक्रीड़ा सम्पन्न की।—अष्टम सर्ग

अस्ताचलने सूर्यको अतिथि समझ, उसका स्वागत किया। निर्मल जलमें प्रतिम्बित सूर्यका बिम्ब रत्न धारण किये हुए अर्घपात्रके समान प्रतीत हो रहा था। सूर्यदीपकके समय-पवन द्वारा बुझ जानेपर मनुष्योंके रूपको चुरानेवाले अन्धकार रूपी चोरने संसार-मन्दिरमें प्रवेश किया। रात्रिके घने अन्धकारको छिन्न करनेके लिए ओषधिपति चन्द्रमाका उदय हुआ। कैरवोंने विकसित हो कमलकी शोभा प्राप्त की। चन्द्रोदयके होते ही समुद्र हर्षित हो उछलने लगा। अमृतोपम अधर, रम्यशब्द, पेलवशरीर, सुन्दर आकृति, सुगन्धित श्वास एवं लज्जित नेत्रवाली नायिकाएँ नायकोंके लिए इन्द्रियोंके तृप्त्यर्थ सुखनिधि थी। युवक-युवतियाँ नाना प्रकारके संयोग सुखोंका अनुभव करने लगीं। —नवम सर्ग

नवयुवक और युवतियाँ मधुपानमें आसक्त थीं। मधुका मादक नशा आनन्द विभोर बना रहा था। मधु पीनेसे प्रफुल्लित स्त्रियोंके मुख चन्द्र-बिम्ब सदृश प्रतीत हो रहे थे। यह मधु मृगनयनियोंके मानको नष्ट करनेवाला था। यादव लोग मधुपानसे उन्मत्त हो नाना प्रकारकी सुरत क्रीड़ाओंमें आसक्त हो गये। —दशम सर्ग

उग्रसेन महाराजकी पुत्री राजीमती वसन्तमें जलक्रीड़ाके लिए अपनी माताओं-के साथ आयी। अरिष्टनेमिको देखते ही वह कामबाणोंसे विद्ध हो गयी। शरीर-दाह शान्त करनेके हेतु शीतलचन्दनादि पदार्थोंका सेवन किया गया, पर इन पदार्थोंसे उसका सन्ताप और अधिक बढ गया। सखियाँ राजीमतीको सब प्रकारसे शान्त करनेका प्रयास करने लगी, पर नेमिके स्मरणमात्रसे उसकी आँखोंसे अश्रु वर्षा हो रही थी। इधर यादवेश समुद्रविजयने नेमिके लिए राजीमतीकी याचनाके लिए श्रीकृष्णको भेजा। उग्रसेनने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की और अरिष्टनेमिके विवाहका शुभ मुहूर्त निश्चय किया गया। विवाहोत्सवकी तैयारियाँ होने लगी। —एकादश सर्ग

नेमिकी वरयात्रा सजने लगी। कुशल श्रृंगारवेत्ताओंने उनका श्रृंगार किया। शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए नेमिका शरीर अजनगिरिपर विश्राम करनेके लिए आये हुए शरत्कालीन मेघके समान प्रतीत होता था। महान् वैभव और सम्पत्तिसे युक्त नेमि सहस्र नेत्रोंकी प्राप्तिके लिए इन्द्रके समान प्रतीत होते थे। स्वर्णनिर्मित तोरणयुक्त राजमार्गसे नेमि शनैः शनैः जा रहे थे। उधर राजीमतीका भी सुन्दर श्रृंगार किया गया था। वरके सौन्दर्यका अवलोकन करनेके लिए नारियाँ गवाक्षोंमे स्थित हो गयी थी। सभी लोग राजीमतीके भाग्यकी प्रशंसा कर रहे थे। अरिष्टनेमि सम्बन्धियोंके साथ दरवाजे पर लाये गये। दूर्वा, अक्षत, मलयज, कुंकुम और दधिसे पूर्ण स्वर्णपात्रको लिये हुए राजीमती वरके स्वागतार्थ प्रस्तुत हुई। —द्वादश सर्ग

रथसे उतरनेके लिए प्रस्तुत अरिष्टनेमिने करुण पशु क्रन्दन सुना। नमिने सारथीसे पूछा कि पशुओंकी यह आर्तध्वनि क्यों सुनाई पड रही है। सारथीने उत्तर दिया "आपके इस विवाहमें सम्मिलित होनेवाले अतिथियोंको इन पशुओंका मांस खिलाया जायेगा"। सारथीके इस उत्तरको सुनकर नेमिको अपार वेदना हुई और उन्हें अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो आया। वे रथसे उतर पडे और समस्त वैवाहिक चिह्नोंको शरीरसे अलग कर दिया। उग्रसेन आदिको जब यह समाचार मिला तो वे सभी अरिष्टनेमिको समझाने लगे। उन्होंने उत्तर दिया—"मैं विवाह नही करूँगा, परमार्थ सिद्धिके लिए तथा जगत्मे हिंसाको दूर करनेके लिए तप करूँगा"। इस सन्दर्भ-में उन्होंने अपने शिकारी जीवनसे लेकर जयन्त विमानमे उत्पन्न होने तककी पूर्वभवा-वलि भी सुनायी। नेमिने समस्त परिजन और पुरजनोंको समझाकर वनका मार्ग ग्रहण किया। —त्रयोदश सर्ग

मुनि अरिष्टनेमिने घोर तपश्चरण आरम्भ किया। वर्षा, ग्रीष्म और शरत् ऋतुके खुले वातावरणमें कायोत्सर्ग लगाकर तपस्या करने लगे। शुक्लध्यान द्वारा कर्म कालिमाको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। —चतुर्दश सर्ग

केवलज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति होते ही देवोंने तीर्थंकरकी स्तुति की। समवशरणकी रचना की गयी। उन्होंने सप्ततत्त्व, कर्मबन्ध, द्रव्य प्रभृति विषयोंका उपदेश दिया। नेमि प्रभुने विभिन्न देशोंमें विहार किया। समस्त ऋतुएँ एक साथ केवलीकी सेवा कर रही

थी। सूक्ष्म ध्यान द्वारा अघातिया कर्मोंको भी नष्ट कर मुक्तिको प्राप्त किया।
—पञ्चदश सर्ग

कथावस्तुका स्रोत और गठन

कविने जिनसेन प्रथमके हरिवंशपुराणसे कथावस्तुको ग्रहण किया है। इस काव्यमें अरिष्टनेमिकी जन्मतिथि श्रावण शुक्ला षष्ठी बतायी गयी है। इसका हरिवंश पुराणसे मेल नही बैठता है[1]। उत्तरपुराणमे उक्त तिथि प्राप्त होती है[2], पर जीवनवृत्त हरिवंश पुराणके समान है[3]। कविने हरिवंश और उत्तर पुराणके साथ तिलोयपण्णत्ति जैसे आर्ष ग्रन्थोका अध्ययन भी किया है।

कथावस्तुके गठनमें आयाम कम है। कविने नेमिनाथके गर्भ, जन्म, विवाह, तपस्या, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोंका निरूपण सीधे और सरल रूपमें किया है। अतः कथानकमे आयतनमात्र है, विस्तार और गाम्भीर्य कम है। प्रासंगिक कथाओंका नियोजन पूर्वभवावलिके रूपमे त्रयोदश सर्गमें किया गया है। यद्यपि कथानकके पल्लवन और प्रवाह उत्पन्न करनेमें जिस प्रकारकी प्रासंगिक कथाएँ अपेक्षित थी उस प्रकारकी इस काव्यमे नहीं आने पायी हैं। नेमिनाथके जीवनकी दो ही मर्मस्पर्शी घटनाएँ इस काव्यमें है।

एक घटना राजुल और नेमिका रैवतकपर पारस्परिक दर्शन और दर्शनके फलस्वरूप दोनोके हृदयमे प्रेमाकर्षणकी उत्पत्तिके रूपमें है और दूसरी घटना पशुओंका करुणक्रन्दन सुन विलखती राजुल तथा आर्द्रनेत्र हाथ जोडे उग्रसेनको छोड मानवताकी प्रतिष्ठाके लिए वनमें तपश्चरणके लिए जाना है। इन दोनों घटनाओंने कथावस्तुको पर्याप्त सरस और मार्मिक बनाया है। कविने वसन्त वर्णन रैवतक वर्णन, जलक्रीडा, सूर्योदय, चन्द्रोदय, सुरत, मदिरापान प्रभृति काव्य विषयोंका समावेश कथाको सरस बनानेके लिए किया है। कथावस्तुके गठनमें एकान्वितिका सफल निर्वाह नही हुआ है। पूर्वभवावलिके कथानकको हटा देनेपर भी कथावस्तुमें छिन्न-भिन्नता नही आती है। कार्यव्यापारको कथानककी धुरी बनना चाहिए। जो कार्यव्यापार कथानककी धुरीपर अवस्थित न रह कर अस्त-व्यस्त हो जाये, उसे एकान्वितिका बाधक माना जाता है। अरस्तूने कथानक गठनमें अन्विति[4] पर पर्याप्त बल दिया है और प्रत्येक घटनाको मुख्य कार्यका अभिन्न और अनिवार्य अंग कहा है। सहज विकास भी कथानकका गुण

---

[1] शुद्धवैशाखजत्रयोदशतिथौ हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२ ई०।

[2] श्रावणे सिते षष्ठ्या—उत्त० पु०, भा० ज्ञा० काशी, १९५४ ई०, ७१।१६९—७०।

[3] सउरीपुरम्मि जादो सिवदेवीए समुद्दविजएण।
वइसाहतेरसीए सिदाए चित्तासु णेमिजिणो॥
—ति० प० सोलापुर, १९५६ ई०, ४।५४७।

[4] अरस्तूका काव्यशास्त्र—अनु० डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली, वि० सं० १९१४, पृ० २४।

है। घटनाएँ जब एक दूसरेका सहज परिणाम होती हैं[1] तभी पाठकका मन अनायास उन्हें ग्रहण कर पाता है। प्रत्येक सफल कथानकमें घटनाएं परस्परमें सम्बद्ध रहती हैं। उनकी अवतारणा यान्त्रिक नहीं होती।

कथानक गठनकी दृष्टिसे नेमिनिर्वाण काव्यमें कुछ शैथिल्य है। यद्यपि अलंकृत काव्य शैलीका अनुकरण करनेसे कविने जीवनव्यापी कथावस्तुमेंसे मर्मस्पर्शी कुछ अंशोको ही विस्तार देनेका प्रयास किया है तो भी कथावस्तुको कवि सुडौल नहीं बना सका है। हाँ, वर्णन चमत्कारोकी योजनाने कथानक गठनमें पूर्ण सहायता प्रदान की है।

महाकाव्यत्व

नेमिनिर्वाणमें जातीय गुणों, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों और परम्परागत अनुभवोंका पुंजीभूत रसात्मक रूप पाया जाता है। इसमें युद्ध और भयकर यात्रा जैसे साहसिक कार्य भले ही न हो, पर जीवनके विविध क्षेत्र और विभिन्न मानसिक दशाओंका चित्रण किया गया है। घटनाप्रवाहके क्षीण होनेपर भी अलंकृत वर्णनोंकी प्रधानता है। सन्ध्या, प्रभात, नगर, देश, रात्रि, वन, नदी, पर्वत, समुद्र, द्वीप आदि प्राकृतिक वस्तुओका सांगोपाग और अलंकृत वर्णन निहित है। जीवनके विभिन्न व्यापारो और परिस्थितियोके चित्रणमें पुत्रचिन्ता, प्रेम, विवाह, कुमारोदय, मधुपान गोष्ठी, वनविहार, जलक्रीडा आदिका निरूपण किया गया है। कविने युगजीवनका चित्रण वस्तु-व्यापारों और परिस्थितियोके द्वारा प्रस्तुत किया है।

महाकाव्यके समस्त शास्त्रीय लक्षणोके साथ अलौकिक और अतिप्राकृतिक तत्त्व भी निहित हैं। मानवमात्रके हृदयमें प्रतिष्ठित धार्मिक वृत्तियों, पौराणिक और निजन्धरी विश्वासोका कविने इस काव्यमे ग्रथन किया है। द्वितीय सर्गमे स्वर्गमे देवियोका आगमन और उनका माताकी सेवा करना, स्वप्न दर्शन, भविष्यनिरूपण एवं चतुर्थ सर्गमें अरिष्टनेमिका जन्मोत्सव सम्पन्न करनेके लिए इन्द्रादि देवोंका आना और सुमेरु पर्वतपर ले जाकर अभिषेक क्रिया सम्पन्न करना, वास्तविक शिशुके बदलेमे मायामयी शिशुको माताके पास सुला देना, ऐरावत हाथीके दाँतपर स्थिर सरोवरों, उन सरोवरोमे विकसित कमलो और कमलोपर नृत्य करनेवाली देवागनाओका निरूपण पौराणिक और अति प्राकृतिक तत्त्वोमे सम्मिलित है। पन्द्रहवें सर्गमे नेमिको केवलज्ञान प्राप्तिके अनन्तर देवोका आना और समवशरणकी रचना करना आदि भी पौराणिक अंश है। कविने इस महाकाव्यका नाम चरितनायककी फलोपलब्धिके आधारपर रखा है। नेमिनाथने पशु-पक्षियोपर होनेवाले अत्याचारोसे द्रवीभूत हो साधना आरम्भ की और केवलज्ञान प्राप्त कर अहिंसाका उपदेश दिया। मानवकी प्रतिष्ठा कर विश्वप्रेमकी स्थापना की। अन्तमें कर्मनिर्जरा कर निर्वाण प्राप्त किया।

---

[1] वही. भूमिका, पृ० ७४।

कविने वर्णनचमत्कारके सृजनके लिए वस्तुओंका चित्रण सुन्दर रूपमें किया है। सुराष्ट्र देशकी उर्वरा पृथ्वीका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

विराजमानामृषभाभिरामैर्ग्रामैर्गरीयो गुणसंनिवेशाम् ।
सरस्वतीसंनिधिमाजमुर्वी ये सर्वतो घोषवतीं वहन्ति ॥ १।३३

सुराष्ट्र देश बैलो द्वारा सुन्दर ग्रामोसे शोभायमान, गुरुतर गुणोंकी सन्निवेश रचना—पंक्तिबद्ध गृहोंसे युक्त, सरस्वती—नदियोके सामीप्यको प्राप्त और गोपवसतिकाओसे युक्त पृथ्वीको सब ओरसे धारण करते हैं।

श्लेषके कारण उक्त पद्यका अप्रकृत अर्थ भी है, जिसमें कविने संगीतके सिद्धान्तोका निरूपण किया है तथा सुराष्ट्र देशवासियोको संगीत प्रेमी सिद्ध किया है।

जो सुराष्ट्रदेश ऋषभ नामक स्वर विशेषसे सुन्दर, ग्राम-स्वरोके समुदायसे विराजित, गुरुतर—श्रेष्ठ अथवा बडी-बडी तन्त्रियोके सन्निवेशसे युक्त तथा सरस्वती देवीके समीपमे स्थित—उसके हाथमें विलसित मनोहर भाग्ययुक्त, विशाल, घोषवती वीणाको धारण करते है अर्थात् जिस देशके मनुष्य हर एकको चिन्तासे रहित हो हाथमे वीणा धारण कर संगीत सुधाका पान करते है।

द्वारावतीका चित्रण

समुद्रकी परिखासे युक्त, सुन्दर भवनोंवाली द्वारावती सुशोभित थी। बाण चलानेमें प्रवीण कामदेवने उस नगरीके समस्त जनसमूहको चंचल बना दिया था। स्वच्छ जलसे युक्त समुद्रमें द्वारावतीका प्रतिबिम्ब पड रहा था, जिससे ऐसा मालूम होता था, कि वरुणने अपनी राजधानी ही बनायी है। वहाँपर मणिमय कर्णाभरणो एवं प्रदीप्त हारोको धारण किये हुए युवतियाँ बाणके समान अपनी भ्रुवोंसे कामकी अस्त्रशालाके समान शोभा दे रही थी। वहाँ सुन्दरियोके गानमे लीन हुए मृगयुगल स्वेच्छानुसार किये गये विहारके अनन्तर अनायास प्राप्त हुए वियोगके दुखको नही समझ रहे थे। उस नगरीमे नव रागवती प्राची दिशाको छोडकर महान् कान्तिवाला चन्द्र उन्नत स्तनोवाली रत्नोको पहने हुए पृथ्वी नायिकाका रात्रिभर आलिगन करता था। वहाँपर युवकोपर क्रोधित होनेसे कम्पित अधरोवाली नायिकाओके मुखसे नि.सृत सुगन्धको पवनदेव चुरा लेता था। उन्नत शिखरोवाले हर्म्योंपर स्थित सिंहोंसे "मेरा यह मृग भयभीत हो गया है" ऐसा विचार कर ही चन्द्रदेव स्फटिक शिलाकी किरणोंसे स्थिर रह गया। हँसती हुई वधुओंके मुखसे निकली हुई सुगन्ध पुष्प-परागोकी सुगन्धिमें सम्मिश्रित हो अपना एक नया रूप प्रदर्शित कर रही थी। देखनेमें चचल और हाथोंके सकेतसे अभिनय क्रिया करते हुए के समान कबूतरियाँ राजभवनोपर फहराती हुई पताकारूपी हाथोके साथ नाच रही थी। समुद्रको पार्श्ववर्ती दीवालें शरत्कालीन मेघोके समान शुभ्र होनेसे बडी-बड़ी तरंगोसे निष्पन्न फेनके समान प्रतीत हो रही थी। धन-जनसे परिपूर्ण वह नगरी साक्षात् अमरावतीके समान आभासित हो रही थी।

कवि वाग्भटने द्वारावतीका बहुत ही सजीव और सुन्दर चित्रण किया है। उदाहरणार्थ एकाध पद्य उद्धृत किया जाता है।

परिस्फुरन्मण्डलपुण्डरीकच्छायापनीतातपसंप्रयोगैः।
या राजहंसैरुपसेव्यमाना राजीविनीवाम्बुनिधौ रराज ॥ नेमि० १।१७

जो नगरी समुद्रके मध्यमें कमलिनीके समान शोभायमान होती है। जिस प्रकार कमलिनी विकसित पुण्डरीको—कमलोंकी छायासे जिनकी आतप व्यथा शान्त हो गयी है, ऐसे राजहंसों—हस विशेषोसे सेवित होती है, उसी प्रकार वह नगरी भी तने हुए विस्तृत—पुण्डरीक-छत्रोंकी छायासे, जिनकी आतप व्यवस्थासे सब दुःख दूर हो गये हैं, ऐसे राजहंसों—बडे-बडे श्रेष्ठ राजाओसे सेवित थी—उसमें अनेक राजा-महाराजा निवास करते थे।

एवंविधां तां निजराजधानीं निर्मापयामीति कुतूहलेन।
छायाछलादच्छजले पयोधौ प्रचेतसा या लिखितेव रेजे ॥ वही १।१८

स्वच्छ जलसे युक्त समुद्रमें द्वारावतीका जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उससे ऐसा मालूम होता था, कि जलदेवता वरुणने—"मैं भी अपनी राजधानीको इसके समान सुन्दर बनाऊँगा" इस कुतूहलसे मानो एक चित्र खीचा हो।

स्त्री-पुरुषोंका चित्रण

चक्रायमाणैर्मणिकर्णपूरैः पाशप्रकाशैरतिहारहारैः।
भ्रूभिश्च चापाकृतिभिर्विरेजु: कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः ॥ वही १।३२

स्त्रियाँ कामदेवकी अस्त्रशाला—आयुधागारके समान शोभित होती थी। यतः स्त्रियाँ अपने कानोंमें मणिनिर्मित कर्णफूल पहने हुई थी, वे चक्रनामक आयुधके समान मालूम होते थे, उनके हार कामदेवके पाशबन्धनके समान और प्रणयकोपसे बक्र भौंहें धनुषके समान प्रतीत होती थी।

सुगन्धिन. संनिहिता मुखस्य स्मितद्युता विच्छुरिता वधूनाम्।
भृङ्गा बभुर्यत्र भृशं प्रसूनसंक्रान्तरेणूत्करकर्बुरा वा ॥ वही, १।४५

स्त्रियोके मुखोकी सुगन्धिके कारण भ्रमर उनके पास पहुँच जाते थे, वे भौंरे उन स्त्रियोकी मुसकानकी श्वेतकान्तिसे व्याप्त होनेपर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो पुष्पोके परागके समूहसे चित्र-विचित्र हो गये हो।

सभ्रूयुगं चञ्चलनेत्रवाहं यस्यां स्फुरत्कुण्डलचारुचक्रम्।
आरुह्य जातास्त्रजगद्विजेता मधूमुखस्यन्दनमङ्गजन्मा ॥ वही, १।५२

जो उत्तम भौंहरूप युग—जुवारी सहित हैं (पक्षमें उत्तम भौंहोंके युगलसे सहित है), चचल नेत्ररूप वाहों—घोड़ोंसे युक्त हैं (पक्षमें चंचल नेत्रोंको प्राप्त हैं) और जो कुण्डलरूपी सुन्दर चक्र—आयुध-विशेषसे शोभित हैं (पक्षमे चमकते हुए कुण्डलोंकी चारु परिधिसे सहित है)—ऐसे स्त्रियोंके मुखरूपी रथपर आरूढ होकर कामदेव जिस

द्वारावती नगरीमे तीनों लोकोंको जीतनेवाला बन गया था। तद्‌गुण और उत्प्रेक्षाका संकर दर्शनीय है।

यमैकवृत्तेर्घनवाहनस्य प्रचेतसो यत्र धनेश्वरस्य।
व्याजेन जाने जयिनो जनस्य वास्तव्यतां नित्यमगुर्दिगीशाः॥ वही, १।५७

उस द्वारावतीमें रहनेवाले पुरुष यमैकवृत्ति थे—अहिंसा आदि यमव्रतोंको धारण करनेवाले (पक्षमें यमराजकी मुख्यवृत्तिको धारण करनेवाले थे), घनवाहन—अधिक सवारियोंसे युक्त थे (पक्षमें इन्द्र थे), प्रचेतस्—उत्कृष्ट हृदयको धारण करनेवाले थे (पक्षमें वरुण थे)। एवं धनेश्वर—अत्यधिक धनिक थे (पक्षमें कुबेर थे) इस प्रकार पुरुषोंके छलसे चारों दिशाओंके दिग्पालोंने उस नगरीको अपना निवास स्थान बनाया था।

देवमन्दिर

स्फटिक मणिमय अथवा सुधालिप्त देवालय चन्द्रमाके प्रकाशमे लीन हो जाते थे।

यत्रेन्दुपादैः सुरमन्दिरेषु लुप्तेषु शुद्धस्फटिकेषु नक्तम्।
चक्रे स्फुटं हाटककुम्भकोटिर्नभस्तलाम्भोरुहकोशशङ्काम्॥ १।५५

द्वारावती नगरीमे रात्रिके समय निर्मल स्फटिक मणियोके बने हुए देवमन्दिर चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्ना द्वारा लुप्त कर लिये जाते थे—श्वेत मन्दिर शुभ्र ज्योत्स्नामें छिप जाते थे, केवल उनके सुवर्ण निर्मित पीले-पीले कलश ही परिलक्षित होते थे; उनसे ऐसा प्रतीत होता था कि मानो आकाशमे सुवर्ण कमल विकसित हुए हैं।

प्रभातवर्णन

कविने प्रभातका वर्णन बहुत सुन्दर किया है। कमलोमे बन्द हुए भ्रमर बाहर निकल रहे थे। चन्द्र किरणोंसे स्फटिकमणि-निर्मित-सा प्रासाद जो कि रात्रिमें सुधाधवल प्रतीत होता था, अब सूर्यकिरणोके सम्पर्कसे कुंकुमस्नात-सा मालूम पड़ रहा था। नदी और सरोवरोंका जल अरुण प्रतीत हो रहा था। कविने अनेक उत्प्रेक्षाओंद्वारा प्रभातका चित्रण किया है। कवि कहता है—

नक्षत्रनाथकरपानविधानलौल्यान्निःशेषरात्रिकृतजागरणाश्चकोराः।
निद्रावशान्मुकुलयन्ति विलोचनानि त्वन्नेत्रनिर्जितरुचीनि ह्रिया ह्वियेव॥३।११

चन्द्रकिरणके पानसे चंचल, रात्रि जागरण करनेवाले चकोर पक्षीके नेत्र तुम्हारे नेत्रोंकी कान्तिसे निर्जित, दिनमें लज्जित होनेके समान ही निद्रावश बन्द हो रहे है। कवि सम्प्रदायमे प्रसिद्धि है कि चकोर पक्षी रात्रिमे चन्द्रमाकी ओर एकटक दृष्टिसे देखता रहता है। कवि कहता है कि स्वर्गसे आनेवाली देवांगनाएँ रानी शिवादेवीकी स्तुति करती हुई कहती हैं कि प्रात.काल होनेपर जब चकोर पक्षीने शिवादेवीके नेत्रोंको

देखा तो उसे अपने नेत्र शिवारानीके नेत्रोंकी अपेक्षा हीन प्रतीत हुए, अतः वह लज्जा-वश निद्रित होने लगा। सन्ध्याके समय दिशाएँ अन्धकारद्रवसे लिप्त हो गयी थी और रात्रिमें ज्योत्स्नाने उसे चन्दनद्रवसे चर्चित कर दिया, पर अब नवीन सूर्यकिरणोंसे ससार कुंकुम द्वारा लीपा जा रहा है। यथा—

संध्यागमे तततमोमृगनाभिपङ्कैर्नक्तं च चन्द्ररुचिचन्दनसंचयेन।
यच्चर्चितं तदधुना भुवन नवानभास्वत्करौघघृसृणैरुपलिप्यते स्म ॥ ३।१५

सूर्यके सार्थक नामका चित्रण करते हुए कहा है—

मग्नां तमःप्रसरपङ्कनिकायमध्याद् गामुद्धरन्सपदि पर्वततुङ्गशृङ्गम्।
प्राप्योदयं नयति सार्थकतां स्वकीयमह्नां पतिः करसहस्रमसावखिन्न. ॥ ३।१६

अन्धकाररूपी कोचडमें फँसी हुई पृथ्वीका पर्वतरूपी उन्नत शृंगोमे उद्धार करते हुए उदयको प्राप्त सूर्यदेवने हजारो किरणोंको फैलाकर सार्थक नाम प्राप्त किया हैं।

प्रात॰कालमे दधिमन्थन करनेवाली गोपबालाओंका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

अङ्गेन तुङ्गकुचकुम्भभृता विलोलवेणी करेण निनदद्वलयान्दुकेन।
गोप्यो वहन्त्य इव कामगजावतारं मथ्नन्ति गोरसमसोमगभीरघोषम् ॥३ १८

उन्नत स्तनोवाली गोपबालिकाएँ, जिनकी चंचल वेणी दधि मन्थन करनेके कारण हिल रही है और चंचल हाथोसे वे ग्वालाओको धारण कर रही है तथा कामगजका अवतार ग्रहण कर दधिमन्थन द्वारा गम्भीर शब्द करती हुई गोरस तैयार कर रही हैं।

प्रात.कालका बालारुण काल सर्पमणिके समान प्रतीत हो रहा है। कवि कहता है—

एतत्प्रवालदलकोमलकान्तिजालमार्तण्डमण्डलमदोषतयाभिरामम्।
लोकान्धकारगरलनिद्दुरप्रभावमाभाति रत्नमिव कालमहोरगस्य ॥ ३।२२

निर्दोष होनेसे सुन्दर, पल्लवोके समान कान्तिवाला सूर्यमण्डल लोकान्धकारको नष्ट करनेसे महान् प्रभाववाले कालसर्पराजके रत्न समान मालूम पड़ता है। कविने 'प्रवालदलकोमलकान्तिः' पद द्वारा प्रभातकालीन सूर्यकी सुषमाका सागोपाग चित्र प्रस्तुत किया है। 'कालमहोरग रत्न' पदसे उसकी अन्धकार अपहरण शक्तिका परिचय दिया हैं।

प्रात.कालीन शीतल, मन्द और सुगन्ध समीरका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

स्वैरं विहृत्य सरसीषु सरोरुहाणामाकम्पनेन परितश्छुरितो रजोभिः।
भृङ्गावली मुखरशृङ्खलसूच्यमानो मन्दं मरुच्चरति चित्तभुवः करीव ॥३।२२

स्वच्छन्दता छोड़कर तालाबोंमें कमलोके कांपनेसे चारों ओरसे गिरे हुए परागसे आच्छादित भ्रमरावली की वाचालतासे अवगत होनेवाला पवन मदोन्मत्त हाथीके समान धीरे-धीरे प्रवाहित हो रहा था। इस प्रकार कविने प्रभातकालके समान कारणों और कार्योंका प्रतिपादन किया हैं।

पर्वतवर्णन

पर्वतोंमें सुमेरु और रैवतकका वर्णन आता है। स्वर्णमयी भूमिवाला रैवतक पर्वत उन्नत शिखरोसे गिरते हुए झरनोंके ऊपर उछलती हुई जलबिन्दुओसे देवांगनाओंका शरीर शीतल करता था। एक ओर स्वर्णमयी और दूसरी ओर रजतमयी दीवालसे यह पर्वत अद्भुत शोभा प्राप्त कर रहा था। कविने रैवतकका वर्णन ५५ पद्योमें किया और इनमे ४४ प्रकारके छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कविने जिस छन्दका प्रयोग किया है, उस छन्दका नाम अंकित कर दिया है। संस्कृत महाकाव्योंमें इस दृष्टिसे सम्भवतः यह अपने ढंगका अकेला ही काव्य है। यथा—

मुनिगण-सेव्या गुरुणा युक्तार्या जयति सामुत्र।
चरणगतमखिलमेव स्फुरतितरां लक्षणं यस्याः ॥७।२

उस पर्वतपर वह आर्या-गणिनी-तपस्विनी विराजमान है, जो कि मुनिसमूहसे सेवनीय हैं, गुरुओसे सहित हैं और जिसका समस्त लक्षण चारित्राश्रित होकर प्रकाशमान है।

उपर्युक्त पद्यमे कविने आर्याका लक्षण भी बतलाया है। जिसमें मुनिगण सप्तगण और गुरुवर्ण हो वह आर्या छन्द है।

यदूनामुत्तंसत्रिदशपरिचर्योक्तमहिम-
न्नदैवास्मिन्दावज्वलनमतिदूरत्रसदिभम्।
लसद्विद्युद्दामा प्रशमयति संतापितनुगं
पयाधारासारैर्नवजलदमाला शिखरिणी ॥७।६

देवो द्वारा की गयी परिचर्यासे जिनकी महिमा अत्यन्त स्पष्ट है ऐसे हे यदुवशके अलंकार—नेमिनाथ जिनेन्द्र! इस पर्वतपर विद्युद्दामसे शोभायमान और अनेक शिखरोंसे सहित नवीन मेघोकी माला, जल धाराको अविरल वर्षाके द्वारा उस दावानलको प्रशमित कर रही है, जिससे हाथी दूरसे डरते है और जो अत्यन्त सन्तापरूप शरीरको प्राप्त है।

इह कुसुमसमृद्धे मालिनीभूय सानौ, विपुलसकलधातुच्छेदनेपथ्यरम्यम्।
वपुरपि रचयित्वा कुञ्जगर्भेषु भूयो, विदधति रतिमिष्टैः प्रार्थिताः सिद्धवध्वः ॥७।१२

पुष्पोसे सम्पन्न इस शिखरपर सिद्ध वधुएँ—देवागनाएँ लतागृहोंमें अनेक पुष्पमालाओंको धारण कर तथा शरीरको अनेक धातुखण्डोमे सुरम्य बनाकर पतियों द्वारा प्रार्थना किये जानेपर रतिक्रिया करती है।

प्रकृति चित्रण

सौन्दर्यकी अभिव्यंजनाके लिए प्रकृतिका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। मानवको प्रकृतिके प्रत्यक्षबोधमें सुख-दुःखकी संवेदना प्राप्त होती है। अतः कलात्मक भावोंकी अभिव्यंजना एवं यौनसम्बन्धी रागात्मक भावोके रूप-रंगके लिए प्रकृतिका आश्रय कविको ग्रहण करना पड़ता है। कवि वाग्भटने प्रकृतिके अनेक रम्यरूप उपस्थित किये हैं। कवि प्रकृतिमें मानवताका आरोप करता हुआ कहता है—

प्रलयं गते दिनपतौ विधेर्वशात्परिरभ्य गाढमितरेतरं दिशः।
समदुःखिता इव पतत्त्रिणां रवे रुरुदुस्तमःसिचयसंवृताननाः ॥९।९
अतिमात्रपीतवसुधारसं क्रमात्परिमन्दतां गतमहःपतेर्मह।
अधिगन्तुमात्मपटुतां पुनर्दिने ध्रुवमौषधीरभजत प्रतिक्षपम् ॥९।१०

सूर्यके चले जानेसे भाग्योदयसे अन्य दिशाका सेवन करनेवाला तथा अन्धकार समूहसे आवृत्त मुँहवाला पक्षी-समूह समान दु.खसे दुःखी हो रो रहा था। रोना धर्म मनुष्यका है, कविने इसे पक्षियोमें आरोपित कर मानवरूपका चित्रण किया है।

पृथ्वीरसका अत्यधिक पान करनेसे सूर्यदेवकी किरणें पीली हो गयी थी—मन्द पड़ गयी थी, अतः पुनः पटुता प्राप्त करनेके हेतु रात्रिमे औषधियोंका सेवन कर रही हैं। यहाँ सूर्यकिरणोंमें मानवीय भावनाका आरोप किया है। कोई भी मनुष्य क्षीण शरीर हो जानेपर पुनः शक्ति प्राप्तिके लिए औषधियोका सेवन करता है, इसी प्रकार सूर्यकिरणें भी औशधियों का सेवन कर रही हैं।

कुमुदिनीकी सहानुभूतिका चित्रण करता हुआ कवि उसमे मानवीय भावनाओका आरोप करते हुए कहता है—

करुणस्वरं विलपतोरनेकश. पुरतो निशाविरहिणोर्विहङ्गयो.।
विपदं विलोकयितुमक्षमा ध्रुवं नलिनी सरोजनयनं न्यमीलयत् ॥९।११

रात्रिमें विहार करनेवाले और सूर्यके वियोगसे विलाप करते हुए पक्षियों की करुण-क्रन्दनरूपी विपत्तिको देखनेमें असमर्थ कुमुदिनी ने अपने कमलके समान नेत्र बन्द कर लिये। यहाँ कुमुदिनीमे मानवभावनाओका आरोप किया गया है।

उद्दीपन रूपमें प्रकृति चित्रण करते हुए द्रुतविलम्बित छन्दमें यमक योजना की है। कवि मलयानिलका वर्णन करते हुए कहता है—

पथिकमानसकाननपावकस्मरमिव प्रतिबोधयितुं दधे।
यमदिशा शिशिरात्ययनः स्फुरत्कमलयामलया मलयानिलः ॥६।१८

मलयानिल पथिकोंके मनरूपी काननमें कामदेवके समान अग्नि प्रदीप्त करनेके लिए शिशिर ऋतुके बीतनेसे कमलपूर्ण दक्षिण दिशाको प्राप्त हुआ।

कविने इसी सर्गमें आलम्बनके रूपमें भी प्रकृतिका चित्रण किया है। "किशलयैः कुसुमैश्च निरन्तरैः" (६।३१) मे स्वाभाविक रूपमें भावोद्दीपनके लिए प्रकृति आलम्बन है।

रसभाव योजना

भावके बिना रस नही रहता और न रसके बिना भाव ही। दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इतना होनेपर भी रसके मूलमें भावोंकी स्थिति मानी जाती है। भाव चित्तमें रस-स्वरूप आनन्दका संचार करते हैं। यही कारण है कि वेदना तभी तक वेदना रहती है, जबतक रसकी उच्च भूमिको प्राप्त नही होती। महाकवि वाग्भटने रुचिर मनोवेगोंका सुन्दर विश्लेषण कर रसमय स्थलोका अंकन किया है।

प्रस्तुत महाकाव्यमे अंगी रस शान्त है और शृगार, वीर, करुण रसोका अंगरूपमें समावेश हुआ है।

शृंगाररस

कविने प्रेमियोके मनमें संस्काररूपसे वर्तमान रति या प्रेमको आस्वादनयोग्य बनाकर शृंगाररसका नियोजन किया है। रात्रिमें सुरत विहारके अवसरपर यादवोंके द्वारा सम्पन्न की गयी विलास क्रीडाओके अवसरपर संयोग शृंगारकी सुन्दर योजना की गयी है। प्रकृतिके रम्य वातावरणमें यदुवंशी नायिकाएँ नायकोंके लिए सुखनिधिके समान थी। प्रेमी-प्रेमिकाओकी विविध क्रीड़ाएँ संयोग शृंगारके अन्तर्गत है। यथा—

अमृतोपमाधरदलाः कलस्वराः सुकुमारविग्रहभृतः सुदर्शनाः।
अथ धूपनात्सुरभयो नतभ्रुव. सकलेन्द्रियार्थनिधयोऽभवन्नृणाम् ॥ ९।४६
तुहिनांशुना मदनबालबन्धुना हृतमत्सरान्धतमसाः सुमध्यमा.।
व्यसृजन्निजेशमनसां प्रसादनप्रतिपत्तिमात्रमथ दूतिकाजनम् ॥ ९।४७

अमृतोपम अधर, रम्य शब्द, कोमल शरीर, सुन्दर आकार, सुगन्धित श्वास एव लज्जित नेत्रवाली नायिकाएँ नायकोके लिए इन्द्रियोंके सुखार्थ निधिके समान थी। कामके बन्धु चन्द्रने मत्सररूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली, सुन्दरकटिवाली नायिकाओके मनानेके लिए तत्कार्यमें दक्ष दूतिकाओको नियुक्त किया। "हे प्रियतमे ! तुम्हें छोड़कर कमलदल, हारयष्टि, चन्द्रकिरण, जलार्द्र वस्त्र अथवा उत्तम औषधियोंका लेपन शरीर ताप शान्तिके लिए क्षम नही हैं"। शरीर तापको शान्त करनेके लिए तुम्हारा अंग स्पर्श ही एकमात्र उपादेय है। हे दीर्घनयने, तुम्हारे प्रति जो प्रेम है, उसे मैं चाटुकारतासे तुमसे नही कह रहा हूँ, किन्तु रतिभवनकी भित्तिपर तुम्हारी जो आकृति अंकित है, वही कह देगी, कि मेरे कथनमें कितना तथ्यांश है"। यथा—

नलिनीदलानि न न हारयष्टयस्तुहिनांशवो न न जलार्द्रमंशुकम्।
स्वदते तदङ्गपरितापशान्तये विपदोऽथवा स्वजनसङ्गभेषजाः ॥ ९।४९

दुर्वह नितम्बमण्डलवाली नायिका विनयान्वित होनेपर भी नायकको पासमे आया हुआ जानकर भी अपना आसन न छोड सकी। शयनकक्षमें पतिके आनेपर उसके मुखसे अनायास ही दूसरी नायिकाका नाम सुन लेनेसे शरीर दाहके साथ कमलिनियोसे निर्मित शय्याको नायिकाने छोड़ दिया। "प्रिय संग न होनेपर उसके हृदयपर

दृढ़तापूर्वक अपने मुखकमलको रख देना, पहले सोची हुई बातोको कह डालना" इस प्रकार सखियो द्वारा कहे जानेपर नववधुओंने कृत्रिम क्रोध प्रकट किया। यथा—

> दृढमासजेहरसि वक्त्रमर्पयेर्भणितं च पूर्वगुणितं प्रकाशयेः।
> प्रियसङ्गमेष्विति सखीभिरीरिता कृतकं प्रकोपमकरोन्नवा वधूः ॥ ९।५४

इस प्रकार सयोगश्रृगारका सागोपाग चित्रण किया है।

वियोग श्रृंगारका चित्रण एकादश सर्गमे आया है। राजीमति अरिष्टनेमिको रैवतकपर देखती है और उनके लावण्यपूर्ण शरीरको देखते ही अपने तनवदनकी सुध भूल जाती है। कविने राजीमतिके विरहका अच्छा चित्रण किया है। विरहके कारण उसके शरीरमे दाह उत्पन्न हो जाता है। इसके शान्त करनेके लिए चन्दनादि शीतल पदार्थोंका उपयोग किया जाता है, पर ताप और अधिक बढ़ जाता है। उसकी गर्म-गर्म साँसें चल रही हैं, जिससे मौक्तिक माला काँप रही है। रात्रिमे उसे निद्रा नही आती है। सखियो द्वारा प्रेमपूर्वक समझानेपर भी वह सुनयना मात्र हुंकारमें ही उत्तर देती है[1]।

रौद्ररस

राजा समुद्रविजयके पराक्रमके कारण शत्रु राजा क्रोधसे उद्दीप्त हो जाते हैं, उनकी भौंहें चढ जाती है, वे आँखें तरेरने लगते है, गर्जन-तर्जन करते हैं, पर उनका वश नही चलता। वे समुद्रविजयके पराक्रमके समक्ष झुक जाते है। कविने विरोधी राजाओंके रौद्ररूपके साथ समुद्रविजयकी वीरताका भी चित्रण किया है।

> यदर्धचन्द्रापचितोत्तमाङ्गैरुद्दण्डदोस्ताण्डवमादधानैः।
> विद्वेषिभिर्दत्तशिवाप्रमोदैः कैः कैर्न दध्रे युधि रुद्रभावः ॥ १।६१

राजा समुद्रदत्तके बाणोसे जिनका मस्तक कट गया है, जो रक्षाके लिए अपनी उद्दण्ड भुजाओको फड़फडा रहे है तथा भक्ष्य सामग्री प्राप्त होनेपर जिन्होने शिवा—श्रृगालियोके लिए हर्ष प्रदान किया है—ऐसे कौन-कौन शत्रुओने युद्धमे रुद्रभावको नही धारण किया था अर्थात् सभीने किया था।

इस पद्यमें एक दूसरा भी अर्थ है—जिनके मस्तक अर्धचन्द्रसे पूजित हैं, जो अपनी भुजाओंसे उद्दण्ड ताण्डव नृत्य करते हैं तथा जिन्होने पति होनेके कारण शिवा—पार्वतीको हर्ष प्रदान किया है—ऐसे कौन-कौनसे शत्रुओंने युद्धमें रुद्रभाव—महादेवपनेका धारण नही किया था? अर्थात् सभीने किया था।

वीररस

उत्साहका संचार रहनेसे समुद्रविजयके चरित्रमे वीरता व्याप्त है। राजाको वीरताके समक्ष शत्रुनरेशोंकी तीन ही स्थितियाँ थी—चरणसेवा, रणमे मृत्यु और वनवास। कविने समुद्रविजयकी प्रशसा करते हुए कहा है—

---

[1] नेमि० ११।३,४६।

यस्मिन्भुवो भर्तरि सत्यसन्धे त्रयी गतिर्भूमिभृतां बभूव ।
तत्पादसेवा मरणं रणे वा क्वचिन्निवासो विपुले वने वा ॥ ११६२

शान्तरस

संसारसे निर्वेद प्राप्तिके प्रसंगमें शान्तरसकी योजना हुई है। कविने तीर्थंकर नेमिनाथकी विरक्तिके सन्दर्भमें इस रसकी योजना की है। पशुओंके चीत्कारने उनके हृदयको द्रवित कर दिया है और वे विवाहके वस्त्राभूषणोंको छोड तपश्चरणके लिए वनको चले जाते हैं। इस सन्दर्भको कविने बहुत ही मार्मिक बनाया है। नेमिनाथ सोचते हैं—

परिग्रहं नाहमिमं करिष्ये सत्यं यतिष्ये परमार्थसिद्धयै ।
विभोगलीलामृगतृष्णिकासु प्रवर्तते कः खलु सद्विवेकः ॥१३।८
विभोगसारङ्गहृतो हि जन्तुः परां भुवं कामपि गाहमानः ।
हिंसानृतस्तेयमहावनान्तर्बम्भ्राम्यते रेचितसाधुमार्ग. ॥ १३।९

मैं विवाह नही करूँगा, परमार्थ सिद्धिके लिए प्रयत्न करूँगा। कौन सद्विवेकी भोगरूपी मृगतृष्णामें प्रवेश करेगा। भोगरूपी सारंगपक्षीसे हृत प्राणी हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, परिग्रहको करता हुआ अपने साधु कर्मको छोड़ देता है। यह आत्मा प्रकृतिसे उत्तम है, पर क्रोधोत्पादक हिंसाका सेवन करता हुआ धिक्कारका भागी बनता है और स्वर्ग, निर्वाण आदिको प्राप्त नही करता है। जो दान और तपरूपी धर्मवृक्षपर श्रद्धा न करते हुए दूर तक नही बढ़ाते है, वे मूर्ख है और हिंसा, कुशीलादिका सेवन कर धर्मवृक्षकी जड़को खोद डालते है। जो व्यक्ति द्रव्य या भाव हिंसा करता है, उसे दुर्गतिमें जाना पड़ता है। अतएव विवेकीको जागरूक बनकर धर्मका सेवन करना चाहिए। यथा—

दानं तपो वा वृषवृक्षमूलं श्रद्धानतो ये न विवर्ध्य दूरम् ।
खनन्ति मूढाः स्वयमेव हिंसाकुशीलतास्वीकरणेन सद्यः ॥ १३।११

अलंकार योजना

अलंकार भावाभिव्यक्तिके विशेष साधन हैं। प्रत्येक कवि रचनाको चमत्कृत करनेके लिए अपने काव्यमें जाने या अनजाने अलंकारोंका संयोजन करता है। शब्दालंकार काव्यमें संगीत धर्म उत्पन्न करते है और अर्थालंकार चमत्कारका सृजन। महाकवि वाग्भटने सौन्दर्यविधानके लिए अलंकारोंकी सुन्दर योजना का है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है—

अनुप्रास

माधुर्य और संगीत ध्वनिके हेतु अलंकारकी योजना अनेक सन्दर्भोंमें हुई है। राजा समुद्रविजय शिवादेवीके स्वप्नोंका फल बतलाते हुए समुद्र और सिंहासन देखनेका फलादेश बतलाता है—

कल्लोलिनीपतिरिवातिगभीरवृत्तिः सिंहासनं यदुकुलीयमलंकरिष्णुः ।
वैमानिकैः सततसंभृतभूरिभक्तिर्नागालये शशिमुखीमुखगीतकीर्तिः ॥ ३।४१

यहाँ ल, ति, त और ख मे अनुप्रास है। इसी प्रकार "उत्तुङ्गपीवरपयोधरबन्धुरश्रीः" (३।३३) और "लावण्यनिर्भरमनोहरहारतार" (३।३५) आदिमें अनुप्रास योजना है। तृतीय सर्गके प्रायः सभी पद्योंमें अनुप्रास है।

यमक

भिन्नार्थक वर्णोंकी आवृत्ति कर कविने यमककी योजना की है। इस काव्यके छठे सर्गमें वसन्त ऋतुका वर्णन करते हुए द्रुतविलम्बित छन्दमें यमककी योजना की गयी है। प्रथम सर्गमें भी कई पद्योंमें चमत्कारपूर्ण यमक दृष्टिगत होता है। कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

भूरिप्रभानिर्जितपुष्पदन्तः करायतिन्यक्कृतपुष्पदन्तः ।
त्रिकालदेवागतपुष्पदन्तः श्रेयांसि नो यच्छतु पुष्पदन्तः ॥ १।९

अन्त्य यमककी योजना करते हुए पुष्पदन्तका स्तवन किया है। जिनके दाँतोंने अपनी विशाल प्रभासे पुष्पोंको जीत लिया है, जिनके हाथोंकी लम्बाईने पुष्पदन्त (दिग्गज) को—उसके शुण्डादण्डको तिरस्कृत कर दिया है और जिनकी सेवामे पुष्पदन्त—सूर्यचन्द्रमा त्रिकाल उपस्थित होते हैं, वे पुष्पदन्त भगवान् हम सबको कल्याण प्रदान करें।

श्लेष

दो या अधिक अर्थ जहाँ श्लिष्ट—निबद्ध रहते हैं, वहाँ श्लेष अलंकारका चमत्कार दिखलाई पडता है। यथा—

सुवर्णवर्णद्युतिरस्तु भूत्यै श्रेयान्विभुर्वो विनताप्रसूतः ।
उच्चैस्तरां यः सुगतिं ददानो विष्णोः सदानन्दयतिस्म चेतः ॥ १।११

जिनके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान उज्ज्वल थी, जो भक्त पुरुषोको स्वर्ग, अपवर्ग आदि उत्तम गतिको देनेवाले थे, तथा जो स्वसमानकालिक नारायणके चित्तको सर्वदा प्रसन्न किया करते थे—हितका उपदेश देकर आनन्दित किया करते थे—वे विनतामाताके पुत्र श्रेयांसनाथ तुम सबको विभूति प्रदान करें। इस पद्यका द्वितीय अर्थ—

जिसके शरीरकी आभा सुवर्णके समान पीतवर्ण है, जो विभु है, श्रेयान्—कल्याणरूप हैं, ऊँचे आकाशमें सुन्दर गमनको देता हुआ श्रीकृष्णके चित्तको हमेशा आनन्दित करता है, वह विनतासुत—वैनतेय गरुड तुम सबको विभूति देनेवाला हो।

उपमा

उपमा अलंकार सबसे प्रधान है। भावों द्वारा कल्पनाको जितनी अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है, उपमान-योजना उतनी ही सार्थक सिद्ध होती है। कवि वाग्भटने

उपमानोंका चयन प्रकृति, दृश्यजगत्, पुराण और इतिहाससे किया है। यह प्रमुख उपमानोंका निर्देश कर उपमा अलंकारका विश्लेषण किया जा रहा है।

दन्तीव ३।४०—भावी पुत्र गजके समान भूरितरदानसे युक्त होगा। जिस प्रकार हाथीके मदसे दानवारि निकलता है, निरन्तर दानजल—मदजल झरता रहता है, उसी प्रकार पुत्र दानी होगा।

केसरीव ३।४०—सिंहके समान तेजस्वी होगा। सिंह जिस प्रकार पराक्रमशाली होता है, उसी प्रकारके पराक्रमसे युक्त पुत्र होगा।

पीयूषरश्मिरिव ३।४१—अमृत किरणके समान लोगोंके नेत्रोंको आनन्दित करनेवाला होगा। अमृत किरण अत्यन्त सुन्दर दिव्य पदार्थ है, अद्वितीय है, इसके समान अनुपम सुन्दर दर्शनीय होगा।

शीतेतरांशुरिव ३।४१—सूर्य-समान प्रतापशाली पुत्र होगा।

सिन्धुशुक्तिरिव ४।१—सीपके भीतर मोती रहता है, उसके प्रभावसे सीप सुशोभित होती है। महारानी शिवादेवी बालकको गर्भमें धारण किये हुए थी, अतः उस पुत्रके तेजके कारण वह सीपके समान सुशोभित थी। इस उपमान द्वारा कविने महारानीके तेजकी अभिव्यंजना की है। गर्भभारके कारण साधारणतः नारियोंको शिथिलता प्राप्त हो जाती है, उनका शरीर पीला पड़ जाता है, पर शिवादेवीका सौन्दर्य बढ़ ही गया था।

सत्क्रियेव ४।१३—पुण्यकृत्यके समान समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला पुत्र उत्पन्न हुआ। सत्क्रियेव कहनेसे पुत्रके सौन्दर्य और सौभाग्यकी अभिव्यंजना होती है।

अट्टहासा इव ५।१४—हास्यके ढेरके समान पर्वत सुशोभित हुआ।

सकज्जलोल्लासमिव प्रदीपकम् ४।१६—सुमेरुके शृंगपर बादल घिरे हुए थे, जिससे वह ऐसा मालूम पड़ता था, जैसे दीपकके ऊपर काजल ही सुशोभित हो रहा हो। कविने जलते प्रकाशमान दीपक द्वारा सुमेरुकी अभिव्यंजना और कज्जल द्वारा नारियोंकी अभिव्यंजना की है।

काव्यमिवोज्ज्वलं ५।६१—महाकवि जिस प्रकार अपने काव्यमें उचितरूपसे अलंकारोंकी योजना करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अलंकार धारण किये। पौराणिक उपमानोंमें पार्श्वनाथमिव ४।५१ उपमान द्वारा पार्श्वनाथ और कमठके सम्बन्धका स्मरण दिलाते हुए उनकी आकृतिके साथ द्वारिकावतीकी समता प्रस्तुत की है। राघव इव २।१३ जिस प्रकार रामचन्द्रने रावण द्वारा उत्पन्न देवोंका भय दूर किया था, उसी प्रकार राजा समुद्रविजय भी देवोंके भयका अपहरण करनेवाला था। इस प्रकार कवि ने उपमानोंका प्रयोग कर उपमा अलंकारकी योजना की है।

उत्प्रेक्षा

गर्भावस्थाके कारण माताका शरीर पीत वर्णका हो रहा है। कवि इस पीतताका कारण उत्प्रेक्षा द्वारा बतलाते हुए कहता है कि गर्भमें तीर्थंकर नेमिनाथ हैं, अभीसे

उनका यश विस्तार प्राप्त कर रहा है। अतएव उनके यशके कारण मानो माताका शरीर पीत हो गया है।

श्रीजिनस्य यशसा जगद्बहि:सर्पतेव वपुरन्तरस्थितेः ।
वासरैः कतिपयैर्नृपप्रिया प्राप पक्वशरपाण्डुरं वपुः ॥ ४।५

रूपक

"अपारसंसारसमुद्रनावं" १।५ और "तप·कुठारक्षतकर्मवल्लि:" १।१९ में रूपक योजना है। कविने ससारमें समुद्रका आरोप और दयामें नावका आरोप किया है। इसी प्रकार कर्ममें वल्लिका और तपमें कुठारका आरोप किया गया है।

विरोधाभास

"य: सुमित्रातनयोऽपि भूत्वा रामानुरक्तो न बभूव चित्रम्" (१।१८) अर्थात् सुमित्रापुत्र होनेपर भी जो राममें अनुरक्त न हुआ—लक्ष्मण होनेपर भी राममे आसक्त नही हुआ, यह विरोध है; क्योंकि लक्ष्मण तो रामके भक्त थे। अतः इस विरोध-का परिहार करनेके लिए सुमित्रातनय—अर्हतीर्थंकर होनेपर भी जो रामा—स्त्रियोमे आसक्त नही हुए, यह अर्थ श्लेषके आधारपर निकलता है।

उदाहरण

यादव नायिकाओके स्वच्छ मधुमें प्रतिबिम्बित मुखपात्रोंमे गिरे हुए पानरसिको-के समान मालूम पड़ रहे थे। यथा कविने यथा शब्द द्वारा उदाहरणालंकारकी योजना की है।

यदुयोषितां विशदमद्यपय. प्रतिबिम्बितानि वदनानि पुरः ।
रभसेन पानरसिकानि बभुश्चषकोदरेषु पतितानि यथा ॥ १०।१०

सहोक्ति

'सह' शब्दके नियोजन द्वारा कविने एक ही शब्दको दो अर्थोंका बोधक कहा है। यथा—

अथ सलिलविलासं यादवानामुदारै· सह जिननिजदारैस्तत्र वीक्ष्येव रम्यम् ।
दिनपतिरपि खिन्नः खं व्यतीत्यातिमात्रं करकलितदिनश्रीः सागरान्तं जगाम ॥ ८।८०

इस प्रकार उदारचेता यादवो द्वारा अपनी-अपनी नायिकाओंके साथ की गयी मनोरम जलक्रीड़ाको देखकर दु खी सूर्यदेव भी अति विस्तृत आकाशका अतिक्रमण कर और किरणों द्वारा दिनकी शोभा बढ़ाकर सागर पर्यन्त चला गया।

परिसंख्या

इस द्वारावती नगरीमे कोई चोर नही था, चोर यदि कोई था, तो वह वायु ही था, जो नित्य सुन्दरियोके मुखसे सुगन्धिको चुरा लेता था।

कर्पूरकालेयकसौरभाणां प्रभञ्जनः पौरगृहेषु चौर. ॥ ३।४२

समासोक्ति

समान विशेषणोंसे प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थोंकी योजना कर कविने इस अलंकारका व्यवहार किया है। यथा—

प्राचीं परित्यज्य नवानुरागामुपेयिवानिन्दुरुदारकान्तिः।
उच्चैस्तनीं रत्ननिवासभूमिं कान्तां समाश्लिष्यति यत्र नक्तम् ॥१।४१

जहाँ रात्रिके समय उत्कृष्ट कान्तिवाला चन्द्रमा नूतन अनुराग लालिमामें अलंकृत पूर्व दिशाको छोड़कर अत्यन्त उन्नत और मनोहर रत्ननिर्मित महलोकी भूमिका आश्लेषण करता है।

समासोक्ति द्वारा अप्रस्तुत अर्थ यह है—जैसे कोई उत्कट इच्छावाला नायक नवीन अनुराग—प्रेमसे उन्मत्त स्त्रीको छोड़कर उन्नत स्तनवाली किसी अन्य कान्ताका आश्लेषण करता है, इसी प्रकार चन्द्रमा प्राचीको छोड द्वारावतीको उच्च भूमिका आलिंगन करता था।

समासोक्तिके साथ सम्भोग शृंगार नामक रसध्वनि भी है।

छन्दोयोजना

प्रथम सर्ग—१-८१ उपजाति, ८२ वसन्ततिलका, ८३ मालिनी।
द्वितीय सर्ग—१-५९ रुचिरा, ६० हरिणी।
तृतीय सर्ग—१-४० वसन्ततिलका, ४४ पुष्पिताग्रा, ४५ स्रग्धरा, ४६ शार्दूलविक्रीडित, ४७ पृथ्वी।
चतुर्थ सर्ग—१-६० रथोद्धता, ६१ अनुष्टुप्, ६२ मालिनी।
पंचम सर्ग—१-७१ वंशस्थ, ७२ मालिनी।
षष्ठ सर्ग—१-४७ द्रुतविलम्बित, ४८ अनुष्टुप्, ४९ द्रुतविलम्बित, ५०-५१ वसन्ततिलका।
सप्तम सर्ग—१-२ आर्या, ३ शशिवदना, ४ बन्धूक, ५ विद्युन्माला, ६ शिखरिणी, ७ प्रमाणिका, ८ माद्यद्भृग, ९ हंसरुत, १० रुक्मवती, ११ मत्ता, १२ मालिनी, १३ मणिरंग, १४ रथोद्धता, १५-१६ हरिणी, १७ इन्द्रवज्रा, १८ पृथ्वी, १९ भुजंगप्रयात, २० स्रग्धरा, २१ रुचिरा, २२ मन्दाक्रान्ता, २३ वंशस्थ, २४-२६ प्रमिताक्षरा, २७ कुसुमविचित्रा, २८ प्रियंवदा, २९ शालिनी, ३० मौक्तिकदाम, ३१-३२ तामरस, ३३ तोटक, ३४ चन्द्रिका, ३५ मंजुभाषिणी, ३६ मत्तमयूर, ३७ नन्दिनी, ३८ अशोकमालिनी, ३९ स्रग्विणी, ४० शरमाला, ४१ अच्युत, ४२-४३ शशिकला, ४४ सोमराजी, ४५ शार्दूलविक्रीडित, ४६ चण्डवृष्टि, ४७ द्रुतविलम्बित, ४८ प्रहरणकलिका, ४९ नित्यभ्रमरविलसिता, ५०-५५ वसन्ततिलका।
अष्टम सर्ग—१-७९ अनुष्टुप्, ८० मालिनी।
नवम सर्ग—१-५६ नन्दिनी, ५७ शार्दूलविक्रीडित।

दशम सर्ग—१-४४ प्रमिताक्षरा, ४५ वसन्ततिलका, ४६ शार्दूलविक्रीडित ।
एकादश सर्ग—१-५३ शालिनी, ५४-५५ वसन्ततिलका, ५६ उपजाति, ५७ अनुष्टुप्, ५८ पृथ्वी ।
द्वादश सर्ग—१-६९ अनुष्टुप्, ७० वसन्ततिलका ।
त्रयोदश सर्ग—१-८३ उपजाति, ८४ शिखरिणी ।
चतुर्दश सर्ग—१-४६ ललिता, ४७ वसन्ततिलका, ४८ पृथ्वी ।
पंचदश सर्ग—१-८४ अनुष्टुप्, ८५ वसन्ततिलका ।

शैली

नेमिनिर्वाण काव्यकी शैली किरातार्जुनीयम्से प्रायः मिलती है । चित्रमत्ता भी कुछ उदाहरणोंमें पायी जाती है ।

रम्मारामा कुरबककमलारम्मारामा कुरबककमला ।
रम्मा रामाकुरवककमलारम्भारामाकुरवककमला ॥ ७।५०

हे रक्षक ! कदलीवनकी वह भूमि अत्यन्त रमणीक है; क्योंकि उसमें कमलोंका समूह है, सुन्दर कुरवक वृक्षोंका कुंज है, महोहारिणी सुन्दरियाँ है, बकपंक्तिसे रहित निर्मल एवं रमणीक जलराशि है और है मनोहर शब्द करनेवाला हरिणयूथ भी ।

प्रसाद गुणकी अधिकता होनेसे कविता सहज बोधगम्य है । यथा—

विलोकयन्यत्र कुतूहलेन लीलावतीनां मुखपङ्कजानि ।
जज्ञे स्मर. मेर्ष्यरतिप्रयुक्तकर्णोत्पलाघातसुखं चिरेण ॥ १।४४

सुन्दरियोंके मुखकमलको कुतूहलपूर्वक देखते हुए युवक ईर्ष्यापूर्वक कर्णोंमें प्रयुक्त कमलोंकी मारके सुखको बहुत समय तक अनुभव करते रहे ।

माधुर्य गुण

यद्यामिनीलतिकया ललितावलोकमेकं प्रसूनमुररीकृतलक्ष्मभृङ्गम् ।
तच्चन्द्रबिम्बकुसुमं स्फुरितप्रभातवाताहतं पतति पश्चिमशैलमौलेः ॥ ३।३

रात्रिलताके दर्शन द्वारा सुन्दर तथा बढ़ती हुई प्रभातकी वायुसे भगाया गया विस्तृत मृगचिह्न युक्त चन्द्रपुष्प अस्ताचलके शिखरपर गिर रहा है ।

भारविके समान इस काव्यमें नालिकेरपाक नहीं है, बल्कि प्रसाद गुण रहनेसे यह काव्य सहज बोधगम्य है । कवि वाग्भटने भारविके समान ही प्रकृति वर्णन, जल-क्रीड़ा, मद्यपान आदि सन्दर्भोंमें अलकार और अप्रस्तुतविधानको महत्त्व दिया है । नेमिनिर्वाणका छठा सर्ग कालिदासकी शैलीसे प्रभावित है । कवि वाग्भटने द्रुतविलम्बित-में यमकमय विन्यास द्वारा वर्णन किया है । किरातार्जुनीयम् जैसे राजनैतिक वर्णन इस काव्यमें भले ही न हो, पर अन्य सन्दर्भ किरातकी अपेक्षा सरस है । यदुवंशियोंके विलासी जीवनका रमणीय चित्रण किया है । कविने संयोगशृंगारका बड़ा ही विस्तृत

चित्रण किया है। जीवनके किसी भी मनोरम पक्षको छोड़ा नही है। किरात और माघके समान काव्य रूढ़ियाँ भी वर्तमान है। वर्णन सन्दर्भोंको सजोनेमें कविने माघसे प्रेरणा ग्रहण की है, पर अपनी मौलिकताकी रक्षाके लिए कविने प्रत्येक रूढ़िको अपने अनुरूप बनानेका प्रयास किया है। भाषा सरस, प्राजल और असमस्यन्त या क्लिष्ट समासरहित पदावलीसे युक्त है।

जयन्तविजयम्[1]

माघ काव्यके समान यह श्री शब्दाक काव्य है। इस महाकाव्यमें उन्नीस सर्ग और २२०० पद्य हैं।[2] रुचिर वर्ण और पदोंसे युक्त इसकी काव्य शैली तरुणी नायिकाके समान सहृदयोंके हृदयको आकृष्ट करती है। अलंकृत शैलीमे उदात्त भावोंकी अभिव्यजना की गयी है। काव्यका नामकरण नायक—जयन्तविजयके नामपर किया गया है। इस काव्यकी रचना संस्कृत भाषाके प्रकाण्ड कवि अभयदेव सूरिने की है।

रचयिता

श्वेताश्वर संघमे चन्द्रगच्छ नामका एक प्रसिद्ध गच्छ हुआ है। इस गच्छमें वर्धमान सूरि हुए।[3] इनके दो शिष्य थे—जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि। जिनेश्वर सूरिके शिष्य नवागवृत्तिकार अभयदेव सूरि हुए। अभयदेव सूरिके जिनवल्लभ सूरि शिष्य हुए और उनके शिष्य राजशेखर। जिनशेखरके शिष्य पद्मेन्दु ही अभयदेवके गुरु थे। महाकवि अभयदेवने अपने जन्म और तपश्चरणसे किस स्थानको गौरवान्वित किया था, इसकी जानकारी प्राप्त नही होती है, और न बालजीवन एवं माता-पिता आदिके सम्बन्धमें ही तथ्य अवगत है।

स्थितिकाल

महाकवि अभयदेवने अपने काव्यके अन्तमें जो प्रशस्ति अंकित की है, उसमें जयन्तविजयका रचनाकाल निर्दिष्ट है। अत. कविके समयके सम्बन्धमें विवाद नहीं है। प्रशस्तिमें बताया है—

---

[1] पण्डित भवदत्तशास्त्री द्वारा संशोधित होकर निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित, १६०२ ई०, काव्यामाला ७५ ग्रन्थांक।

[2] द्वाविंशतिशतमानं शास्त्रमिदं निर्मितं जयतु—जयन्तविजयम्। प्रशस्ति अन्तिम पद्य।

[3] आसीच्चन्द्रकुलाम्बराम्बरमणि श्रीवर्धमानप्रभो
पादाम्भोरुहचञ्चरीकचरितश्चारित्रणामग्रणी'।
स श्रीसूरिजिनेश्वरस्त्रिपथगापाथ प्रवाहैरिव
स्वैरं यस्य यशोभरैस्त्रिजगत पावित्र्यमासूत्रितम्॥ ज० प्र० १
अजनि वशीकृतविषयग्रामः पद्मेन्दुमुनिराज॥ वही ७
विश्वत्रयप्रथितकीर्तिलतस्य तस्य शिष्य. प्रशस्यमहिमाभयदेवसूरि'।
काव्यं जयन्तविजयं रचयांचकार सारस्वतप्रसृमरप्रतिभाविलास.॥ ज० प्र० ६

दिक्करिकुलगिरिदिनकरपरिमितविक्रमनरेश्वरसमायाम् ।[1]

विक्रम संवत् १२७८ (१२२१ ई०) में जयन्तविजय काव्य रचा गया। अतएव कविका समय तेरहवी शती है।

रचना और काव्य प्रतिभा

कविका एक जयन्तविजय नामक महाकाव्य ही उपलब्ध है। इस काव्यसे उनकी कल्पनाशक्ति, सौन्दर्यबोधकी क्षमता एवं सहज अनुभवोंकी सम्प्रेषणीयता प्रकट होती है। कविने वनस्थलियोंके लता-प्रतान, मुकुलित कलिकाएँ, हरित-श्यामायित सागरतट, अनन्त वनकान्तार, धानकी पोतमंजरियोंसे सुशोभित खेत, कृषक बालाओंका खेतोंके प्रति स्नेह-आदर एवं प्रणयके मनमोहक चित्र प्रस्तुत करनेमें अपनी प्रतिभाका पूरा परिचय प्रस्तुत किया है। दृश्याकन और भावबोधनमें कविको माघ कविके समान ही सफलता प्राप्त हुई है।

महाकाव्यकी कथावस्तु

ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान तीर्थंकरकी स्तुतिके अनन्तर मगध देशका वर्णन किया है। इस समृद्धशाली देशमें जयन्ती नामकी नगरी है, जो अपनी समृद्धि और वैभवके कारण अमरपुरीके समान सुशोभित थी। इस नगरीमें महाप्रतापी विक्रमसिंह नामका राजा अपनी पत्नी प्रीतिमतीके साथ निवास करता था। इस राजाका बृहस्पतिके समान सुबुद्धि नामका मन्त्री था।—प्रथम सर्ग

एक दिन शिशुगज—कलभ सहित करिणीको सरोवरमें क्रीड़ा करते देखकर प्रीतिमतीको अपनी अपत्यहीनताकी स्मृति हो जाती है। फलस्वरूप वह खिन्न हो उदास रहने लगती है। उसकी उदासीनताका कारण जानकर राजा प्राणोंकी बाजी लगाकर भी रानीकी इच्छाको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा करता है।—द्वितीय सर्ग

राजसभामें आकर राजा अपनी प्रतिज्ञा की चर्चा मन्त्री सुबुद्धिसे करता है। मन्त्री राजाकी इच्छापूर्तिका साधन पंचनमस्कार मन्त्रकी आराधनाको ही बतलाता है तथा इसकी महत्ता प्रकट करनेके लिए धनावह श्रेष्ठीका उपाख्यान भी कहता है। राजा नमस्कार मन्त्रको ग्रहण कर लेता है।—तृतीय सर्ग

एक दिन रात्रिमें राजा वेश परिवर्तित कर नगरमें परिभ्रमण करता है। वह एक नारीका चीत्कार सुनकर उसी ओर चल देता है। एक श्मशानवासी सुर उसका मार्ग रोकता है। नमस्कार मन्त्रके प्रभावसे राजा उसे परास्त करता है और सुर-द्वारा दीनभावसे प्राणोंकी भिक्षा माँगनेपर राजा उसे छोड़ देता है। इसपर प्रसन्न होकर सुर उस राजा को एक ऐसा मुक्ताहार प्रदान करता है, जिसके धारण करनेसे बन्ध्या स्त्रीको भी पुत्र उत्पन्न होता है। आगे चलनेपर राजाको एक योगी देवताके समक्ष एक नारी-

---

[1] जं० प्र० १० पद्य।

का बलिदान करनेके लिए तैयार मिलता है। नारी भयविह्वल हो चीत्कार कर रही है। राजा उस योगीको परास्त करता है। विजयी राजापर वह कन्या मुग्ध हो जाती है। राजा विक्रमसिंह संयमकी सीमाका निर्वाह करता है।—चतुर्थ सर्ग

सुर आकर राजाको बतलाता है कि यह कन्या आपकी पत्नी श्रीमतीकी बहन है। इसका अनुराग आपमें है और यह आपकी पत्नी बनेगी। सुर योगीके वास्तविक स्वरूपपर भी प्रकाश डालता है और बताता है कि राज्य प्राप्तिके लिए अघोरघंट योगीसे दीक्षा लेकर इसने कन्याबलिका उपक्रम किया है। यह सुर विक्रमसिंहको उसके पूर्वजन्मका विवरण भी बतलाता है।—पंचम सर्ग

अनन्तर राजा विक्रमसिंह उस कन्याको लेकर उसके पिता जितारिके पास जाता है। जितारि सारा समाचार अवगत कर कन्याका विवाह विक्रमसिंहसे कर देता है। नवपरिणीता पत्नीको साथ लेकर राजा जयन्ती नगरीको लौटता है और सुर द्वारा प्रदत्त मुक्ताहार रानी प्रीतिमतीको देता है। हारके प्रभावसे रानी गर्भवती होती है। समय पाकर वह पुत्रको जन्म देती है, जिसका नाम जयन्त रखा जाता है। जयन्त बालोचित क्रीडाएँ करता है और युवा होनेपर उसे युवराज बना दिया जाता है।—षष्ठ सर्ग

वसन्त ऋतुके पदार्पण करते ही चारों ओर हर्षोल्लास व्याप्त हो गया है। नव-मल्लिकाके पुष्पोंने वनकी शोभाको कई गुना बढा दिया है। नये पल्लव ताम्रवर्णकी आभा लिये युवकोंके हृदयमें शृंगाररसकी भावनाको उत्कट कर रहे हैं। उपवनकी शोभा युवक-युवतियोंको मदोन्मत्त बना रही है।—सप्तम सर्ग

उपवनमें दोला डाला जाता है। इस अवसरपर रमणियोंके अनेक प्रकारके कामजन्य विलास दृष्टिगत होते हैं। वनविहारके प्रसंगमें पुष्पावचयकी क्रीडा सम्पन्न की जाती है। अनन्तर जलविहार होता है। यहाँ हंससमूह कमलश्रेणियोंमें छिपकर दिन व्यतीत करते है। पक्षियोंके कलरव स्वागत करते हुए दिखलाई पडते हैं।—अष्टम सर्ग

एक दिन सिंहल भूपति हरिराजका हाथी भाग जाता है और वह मगधकी जयन्त नगरीमें चला आता है। विक्रमसिंहको यह भविष्यवाणी सुनायी जाती है कि इस हाथीके प्रभावसे युवराज जयन्त खचरेश्वर होगा, अतः वह उस हाथीको पकडनेका आदेश देता है और हाथी पकड लिया जाता है। सिंहल भूपति हाथीको वापस प्राप्त करनेके लिए विक्रमसिंहकी सभामें दूत भेजता है, पर विक्रमसिंह उस दैव प्रदत्त गजको वापस करनेसे इनकार कर देता है।—नवम सर्ग

विक्रमसिंहके व्यवहारसे असन्तुष्ट हो सिंहलभूप हरिराज जयन्ती नगरीपर आक्रमण करता है, जिसके प्रतिरोधके लिए युवराज जयन्त ससैन्य जाता है। दोनों ओरकी सेनामें घोर संग्राम होता है। सिंहल भूप युद्धमें मारा जाता है और विजय-लक्ष्मी जयन्तको प्राप्त होती है।—दशम सर्ग

अनन्तर युवराज दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। वह चतुरंग सेना सहित प्रथम पूर्व दिशाकी ओर जाता है। इस दिशाके राजाओंसे कर वसूल कर उन्हें अपने अधीन बनाता है तथा पार्वतीय एवं गौड़ोंको अपने बल-पराक्रमसे पराजित करता है। पश्चात् कलिंगको पराजित कर, उनके पुत्रको शासनका अधिकारी नियत करता है। दक्षिण दिशाके राजा उसका स्वागत करते हैं और बहुमूल्य पदार्थ उपहारमें देते हैं। तदनन्तर केरल, पाण्ड्य, कांचीनरेश, कर्णाटकनरेश प्रभृतिको अधीन करता है। उत्तर दिशाकी ओर गमन कर धाराधीशसे सम्मानित होकर हूण राजाओंको पराजित करता है। कामराजसे सम्मानित होता हुआ अपनी नगरीको लौटता है।—एकादश सर्ग

एक दिन सेनाके मध्यसे जयन्त अदृश्य हो जाता है, जिससे महाराज विक्रमसिंह बहुत विकल होते हैं। विद्याधर नरेश महेन्द्र अपने पुत्रके लिए गगनविलासपुरके राजा पवनगतिसे उसकी पुत्री कनकवतीकी याचना करता है, पर पवनगति उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर देता है। कनकवती अनुरूप वरकी प्राप्तिके लिए शासनदेवताकी आराधना करती है। प्रसन्न होकर शासनदेवता उसके लिए जयन्तका अपहरण करके जिनमन्दिरपर ले जाती है। यहाँ जयन्त जिनबिम्बके दर्शन कर धर्मसूरिकी देशना सुनता है और श्रावकधर्म स्वीकार करता है।—द्वादश सर्ग

उपवन में जयन्त और कनकवती एक दूसरेको देखकर मुग्ध हो जाते है। पवनगति भी कनकवतीका विवाह जयन्तके साथ कर देता है।—त्रयोदश सर्ग

जब महेन्द्र चक्रवर्तीको यह ज्ञात होता है कि पवनगतिने उसके पुत्रकी उपेक्षा करके अपनी पुत्रीका विवाह जयन्तसे कर दिया है, तो वह पवनगतिपर आक्रमण कर देता है। युद्धमे जयन्तकी तलवारसे महेन्द्रकी मृत्यु होती है। जयन्त महेन्द्रपुत्रको करद बनाकर पवनगतिके साथ अपने नगरको लौट आता है।—चतुर्दश सर्ग

एक दिन जयन्ती नगरीके उद्यानमे सुस्थिताचार्य पधारते हैं और राजा विक्रमसिंह उनकी वन्दनाके लिए जाता है। राजा आचार्यकी देशना सुनकर बहुत प्रभावित होता है। उसका मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इस सभामें एक विद्वान्का आचार्यके साथ सर्वज्ञ विषयपर विवाद होता है। वह विद्वान् आचार्योंके साथ शास्त्रार्थमें पराजित हो जाता है। इस समय जयन्त आता है और पिताको प्रणाम करता है। समस्त वातावरण हर्षमें परिवर्तित हो जाता है।—पंचदश सर्ग

कुछ दिनोंके उपरान्त कुमार जयन्त हस्तिनापुरके राजा वैरिसिंहकी पुत्री रतिसुन्दरीके स्वयंवरमें जाता है, वहाँ रतिसुन्दरी जयन्तके गलेमें वरमाला पहनाती है। विवाह के पश्चात् जयन्त अपनी पत्नीके साथ राजधानी जयन्तनगरीमें लौट आता है।—षोडश सर्ग

विद्यादेवी जयन्त और रतिसुन्दरीके पूर्वभवोंका वर्णन करती हुई बताती है कि वे पूर्वभवमें भिक्षा माँग कर निर्वाह करते थे। एक बार इन्होंने भिक्षामें प्राप्त अन्नमें-से मासोपवास करनेवाले मुनिको पारणा करायी। इसी कारण तुम्हें इस जन्ममें राज्यपद प्राप्त हुआ है।—सप्तदश सर्ग

कवि ने परम्परागत ग्रीष्म, वर्षा और शरद् ऋतुका विस्तृत वर्णन किया है। ग्रीष्ममें आतपका सन्ताप जितना कष्ट दे रहा था, वर्षाके आते ही वह समाप्त हो गया। शरत्‌में सभी व्यक्तियोंको आनन्द प्राप्त होता है।—अष्टादश सर्ग

वैरिसिंह अपने जामाता जयन्तको हस्तिनापुरका राज्यभार सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर लेता है। वह हस्तिनापुरसे जयन्ती नगरीको ओर प्रस्थान करता है। विक्रमसिंह भी जयन्तको राज्यभार सौंपकर स्वयं प्रव्रजित हो जाता है। जयन्त न्याय-नीतिपूर्वक प्रजाका पालन करता है। वह जिनेन्द्र भगवान्‌का बड़ा भक्त है। उसकी भक्तिसे प्रभावित होकर सौधर्मेन्द्र भी वहाँ आते है। काव्यके अन्तमें सत्पात्र दानका महत्त्व वर्णित है।—एकोनविंश सर्ग

कथावस्तुका स्रोत और गठन

काव्यकी कथावस्तु न तो पौराणिक हो है और न ऐतिहासिक। कविने अपने समयकी लोककथाको ही महाकाव्यका रूप दिया है। कथावस्तुमें जोडे गये अनेक कथानक भी लोक प्रचलित है, पर कविने उन्हे पौराणिक रूप प्रदान करनेका प्रयास किया है। समकालीन परम्पराओं और मान्यताओंको भी ग्रहण किया गया है। अघोरघट योगीसे दीक्षा लेकर एक नृपतिका राज्य प्राप्तिके लिए मान्त्रिक अनुष्ठान करना और उसमें नारीका बलिदान करनेकी तैयारी करना, ईसवी सन्‌की ११–१२वीं शतीकी तान्त्रिक परम्पराका प्रतिफल है। कापालिक और वाममार्गी श्रीपर्वतसे जालन्धर तक विचरण किया करते थे। इन्हें तन्त्र, मन्त्र, यक्षिणी, योगिनी, राक्षसी और पिशाची आदि देवियाँ सिद्ध थी। ई० सन् १०८२ में गुणचन्द्र गणि द्वारा विरचित 'महावीरचरियं' के चतुर्थ प्रस्तावमें आया है कि घोरशिव तपस्वी वशीकरण आदि विद्याओंमें निष्णात था। राजा नरसिंहने उसे अपने मन्त्रबलसे कोई कौतुक दिखानेकी प्रार्थना की। घोरशिवने कृष्णचतुर्दशीकी रात्रिके समय श्मशानमें जाकर अग्नितर्पण करनेके लिए राजासे कहा। श्मशानमें पहुँचकर घोरशिवने वेदिका रची, मण्डल बनाया। यह राजाका वध करना चाहता था, पर राजाने किसी प्रकार इसके जालसे मुक्ति प्राप्त की।[1]

---

[1] घोरसिवेणावि आलिहियं मडल, निसन्नो तहि, निबद्धं तहिं पउमासणं, कयं सकलीकरणं, निवेसिआ नासावंसग्गे दिट्ठी, कओ पाणायामो, नायविंदुलवोववेयं आढत्तं मंतसुमरणं, समारूढो झाणपगरिसम्मि। इओ य चिंतियं राइणा जं थोभकरणविहिणा मरण मह वछ्इई काउं ....। महावीरचरियके चतुर्थ प्रस्तावके रूपमें पृथक् मुद्रित—नरविक्रमचरित्रम्, नेमिविज्ञान ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, वि० सं० २००८, पृ० १९-२०।

पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्ति उत्पन्न करनेवाले मुक्ताहारकी प्राप्ति पौराणिक मान्यता है। इस प्रकारकी मान्यताएँ समराइच्चकहामे पायी जाती हैं। बताया गया है कि सनत्कुमारको मनोरथदत्तसे 'नयनमोहन'[1] नामका एक चमत्कारपूर्ण वस्त्र प्राप्त होता है। इस व्रतकी यह विशेषता है कि वस्त्रसे आच्छादित व्यक्तिको कोई आँखोसे नही देख सकता है। वस्त्रका प्रयोग करते ही व्यक्ति अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार ओषधि एवं मन्त्रोंके चमत्कार भी इस ग्रन्थमें अंकित है। कवि अभयदेवने सुर-द्वारा हार प्राप्त किया है, यह भी उक्त वस्तुओका संस्करण मात्र ही है। आधुनिक मन्त्र या ताबीज उक्त हारका ही संक्षिप्त रूप है।

प्रीतिमतीका नायिकाकी बहन होना और आगे चलकर नायकके साथ उसका विवाह हो जाना नाटिका[2] एवं सट्टकको[3] कथावस्तुसे ग्रहीत है। सिहल भूपतिके हाथीको विक्रमसिंहके द्वारा रोका जाना और हाथीमे दैवी चमत्कारोंका समारोप करना भासके नाटकों[4] एव प्राचीन प्रचलित अन्धविश्वासपूर्ण चमत्कारोका ही प्रभाव है। जयन्तका अदृश्य होना और पवनगतिकी पुत्री कनकवतीसे उसका विवाह होना कुवलयमाला[5] वरागचरितसे[6] ग्रहीत है। जयन्तका दिग्विजयके लिए प्रस्थान करना एवं रतिसुन्दरीके स्वयंवरमें हस्तिनापुर जाना, जिनसेनके महापुराण[7] और कालिदासक रघुवंशसे[8] कथाश ग्रहीत है। इस प्रकार इस काव्यकी कथावस्तुका स्रोत पुराण और लोककथाएं हैं।

कथावस्तुके निर्वाहमे कविको सफलता प्राप्त हुई है। पन्द्रहवे सर्गमे दार्शनिक सिद्धान्त और सत्रहवें सर्गमे जयन्त और रतिसुन्दरीके पूर्वभवका वर्णन कथा प्रवाहको अवरुद्ध नही करते है। पौराणिक तत्त्वोंके आ जानेसे कथाप्रवाहमें यत्र-तत्र शैथिल्य अवश्य आ गया है, पर क्रम भंग नही हुआ है। नवे, दसवें और चौदहवें सर्गमें पात्रोके वार्तालाप नाटकीय सजीवताको लिये हुए है। कथावस्तु व्यापक है, यत. इसका सम्बन्ध अनेक पात्रोके साथ है। अघोर घण्ट योगीन्द्र और मत्सरी ब्राह्मणका समावेश कथानकमें गतिधर्म उत्पन्न करनेके लिए किया गया है।

महाकाव्यत्व

जयन्तविजयमें महाकाव्यके समस्त लक्षण वर्तमान है। सर्गबद्धता, महच्चरित्र, ग्राम्य शब्दोस रहित, अर्थसौष्ठव सम्पन्नता, अलंकारयुक्तता, युद्ध मन्त्रणादिके वर्णन,

---

१. प० भगवानदास द्वारा सम्पादित समराइच्चकहा, अहमदाबाद, पृ० ४०० ।

२. रत्नावली नाटिकामें रत्नावली भी वासवदत्ताकी बहन है, तथा कर्पूरमंजरी सट्टकमें कर्पूरमंजरी चन्द्रपालकी रानी विभ्रमलेखाकी बहन है।

३ वही।

४. Sanskrit Drama, by A B. Keith, Oxford 1924, P. 102

५. कुवलय० सिंघी० १९५९, पृ० २९-३० ।

६. वरांगचरित १२।४५-४७ ।

७. महापुराण, ज्ञानपीठ० १९५१, पर्व २८-३७ ।

८. रघुवंश०, रघुदिग्विजय चतुर्थ सर्ग एवं इन्दुमती स्वयंवर षष्ठ सर्ग ।

नाटकीय पंचसन्धि समन्वित, ऋद्धिपूर्ण, चतुर्वर्ग फल समन्वित, लोकस्वभावसे समन्वित, असंकीर्ण रूपमें रसोंका सद्भाव एवं महदुद्देश्य प्रभृति गुण पाये जाते हैं।[1] कविने अपने इस महाकाव्यमें काव्य सिद्धान्तका निरूपण करते हुए लिखा है—काव्य वही श्रेष्ठ है, जिसके आलोकसे अन्य कवि भी कविताका प्रणयन करनेमें समर्थ हो सकें। जिस प्रकार एक चन्दन वृक्षकी गन्धके सम्पर्कसे समस्त वनके वृक्ष चन्दन बन जाते हैं, उसी प्रकार सफल काव्य वही है, जिसकी सुधामयी उक्तियाँ अन्य कवियोंको कवि बनानेमें समर्थ हों।

जयन्ति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपि स्युः कविताप्रवीणाः।
श्रीखण्डवासेन कृताधिवासा. श्रीखण्डतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः॥ १।७

कान्तप्रबन्ध और रसको महत्त्व देता हुआ कवि कहता है—

देव्या गिरा लास्यकलाविलासे रसानुगा. कान्तपदप्रबन्धाः।
भवन्ति चक्रेषु महाकवीनां चित्रं नु सर्वत्र कृतप्रचारा.॥ १।१६

स्पष्ट है कि कविकी दृष्टिमे रमणीय कलाविलासके लिए रमणीय पद और रस-का सन्निवेश अत्यावश्यक है। कोई भी प्रबन्ध तभी सुन्दर और सरस होता है, जब उसमें कान्तपद एवं उचित परिमाणमे रस विद्यमान हो।

वस्तुवर्णनकी अपूर्व क्षमता कविमे है। वह एकावली अलंकारकी योजना कर मगधदेशके सरोवरोंका जीवन्त वर्णन करता हुआ कहता है—

सरोवरैर्यत्र भुवो विभान्ति सरोवराणि स्मितपद्मखण्डैः।
तै. पद्मखण्डानि च राजहंसै. स्वैं राजहंसाः सुगतिप्रचारै.॥ १।२०

सरोवरोंसे भूमि सुशोभित है और सरोवर कमलोसे, कमल राजहंसोंसे और राजहंस अपनी गतिसे सुशोभित हैं।

मगधदेशके धान्यसे लहलहाते खेतोंको गोपांगनाएँ रखवाली कर रही है। उनके कोकिल कण्ठसे निःसृत मधुर ध्वनि पथिकोंको रोक लेती है, जिससे वे बड़ी कठिनाईसे रास्ता तय कर पाते हैं। यथा—

यत्राभिरामाणि विशालशालिक्षेत्राणि संरक्षितुमीयुषीणाम्।
गोपाङ्गनानां मधुरोपगीतैः कृच्छ्राद्ध्रुवान पथि यान्ति पान्थाः॥ १।२८

कवि उत्प्रेक्षा द्वारा जयन्ती नगरीके शाल—परकोटाका वर्णन करता हुआ कहता है कि यहाँ कैलास पर्वत ही इस परकोटाके बहाने आ गया है। यतः यहाँके पुरवासी शिव है, नारियाँ पार्वती हैं और बच्चे कुमार कार्तिकेय है। अतएव अनुरागवश कैलास यहाँ प्रस्तुत हो गया है—

पौरा महेशाः प्रचुरा. कुमारा गौर्यः स्त्रियोऽप्यत्र विनायकाश्च।
इतीव कैलासनगोऽनुरागादावृत्य यां शालमिषेण तस्थौ॥ १।४३

---

[1] काव्यालंकार—भामह, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १।१६ २१।

जयन्ती नगरीके चारों ओर परिखा सुशोभित है। इस परिखामें अमृत तुल्य निर्मल जल भरा हुआ है। कवि कल्पना करता है कि यह परिखा परिखा नहीं है, अपितु क्षीरसागर है; क्योंकि इस नगरीमें लक्ष्मीपुत्र निवास करते हैं। वे लक्ष्मीपुत्र इस क्षीरसागरके दौहित्र हैं, अतः स्नेहवश उन दौहित्रोंका अवलोकन करनेके लिए ही क्षीरसागर उपस्थित हुआ है—

लक्ष्म्याः स्वपुत्र्याः सततं वसन्त्याः क्षीरार्णवो यत्र दिदृक्षयेव।
स्नेहातिरेकात्समुपेत्य तस्थौ सुधानिभाम्भः परिखामिषेण ॥ १।४७

कविने जीवनमें पुत्रकी आवश्यकताका निरूपण बडे ही मार्मिक रूपमें प्रस्तुत किया है। कविकी दृष्टिमें कुलका आधार पुत्र है। उसका अभिमत है कि जिस प्रकार वृक्षके कोटरेमे अग्निके रहनेसे वृक्षकी वृद्धि नही होती और उसका विनाश एक दिन अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार पुत्र रहित कुलका। पुत्र के बिना परिवारमें सभी वस्तुएँ दुःखदायक हैं। समस्त सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, यतः स्थिर आधारके बिना किसी भी वस्तुकी स्थिति स्थिर नही रह सकती है। यथा—

विना विनीतेन सुतेन गेहिनां कुलं गृहं शून्यमनूनदुःखदम्।
क्रमेण नश्यन्ति च सर्वसंपदः स्थिर निरालम्बमहो न किञ्चन ॥ २।२१
अनन्यसाधारणवैभवोद्भवैः सुखैः सदा दुर्ललितोऽपि मानवः।
अपुत्रजन्मप्रभवाभिबाधितो न कोटराग्निर्विटपीव नन्दति ॥ २।२२

कवि यहाँ तक राजा विक्रमसिंहके मुँह कहलाता है कि "वरं दरिद्रोऽपि सनन्दनो" (२।२३) दरिद्री रहना उत्तम है, पर पुत्रहीन रहना अच्छा नही। अपुत्री व्यक्तिको सदा क्लेश होता रहता है।

प्रकृतिचित्रण

इस महाकाव्यमे प्रकृतिका व्यापक चित्रण किया गया है। देशके समान कालका वर्णन भी कथाके अनुरूप हुआ है। अष्टम सर्गमे रात्रिका वर्णन करते हुए अन्धकारका मूर्तिमान् रूप प्रस्तुत किया है।

कलितमिव तमालैः कुन्तलीकुन्तकाली-
रुचिभिरिव ततामिश्चुम्बितं विश्वविश्वम्।
स्थगितमिव समन्तादञ्जनै. राजपट्टै-
र्घटितमिव चकाशे व्याप्तमिद्धैस्तमोभिः ॥ ८।५१

अन्धकारसे व्याप्त नभोमण्डल इस प्रकार सुशोभित हो रहा है, मानो तमालसे मण्डित हो अथवा कुन्तल वर्णकी भ्रमरराशिने समस्त संसारका चुम्बन किया हो अथवा चारों ओर अंजनसे राजपट्ट ही घटित कर दिया हो।

वातावरणके अनुरूप प्रकृतिका प्रतिपादन करते हुए कविने लिखा है कि दोलारोहणकी क्रिया हो रही है। कोई सुन्दरी झूलेपर बैठी आकाशमें ऊपरको बढ़

जाती है, उसके साथ ही युवकोंके नेत्र भी चले जाते हैं। दीर्घाकार क्षेत्रमें पेंग लगानेपर झूला तिर्यक्‌रूपमें आगे बढ़ता है, जिससे भुजग-भुजाओंको पकड़े हुए सी सुशोभित होती हैं। प्रकृतिका यह वातावरण दोलाक्रीड़ाको बहुत ही सरस बना रहा है।

व्रजति वियति काचिल्लोलदोलाधिरूढा
सह युवजननेत्रैः पद्मपत्त्रायताक्षी।
चलति तदनु धन्यमन्यर्दाघंप्रसर्प-
द्भुजगभुजधृतासौ किं चितैरेव सार्धम् ॥ ८।६

पुष्पावचय करनेवाली कोई रूपसी वृक्षपर किस प्रकार चढ़ती है, कविने साकार चित्रण किया है। वह पैरको वृक्षके पादमूलमें रखकर दोनो कोमल भुजाओंको स्कन्ध प्रदेशमें लगा देती है। अतएव वह सरससुरत केलिमार्ग द्वारा प्रियके समान ही वृक्षपर चढ़ जाती है। यथा—

चरणकमलमेकं पादमूले सहेलं
मृदुभुजयुगलं च स्कन्धदेशे निवेश्य।
सरससुरतकेलिप्रोक्तमार्गेण काचित्
प्रियमिव तरुमुच्चैरारुरोहायताक्षी ॥ ८।१६

उद्दीपनके रूपमें प्रकृति चित्रणके अनेक सुन्दर उदाहरण इस महाकाव्यमें विद्यमान है। प्रकृतिका रम्यरूप भावनाओंको उद्दीप्त करनेमे अत्यन्त सहायक है। सन्ध्याकालीन मेघोंकी अरुणिमा और पक्षियोंका कलकूजन सहृदयोंके मनको आन्दोलित कर देता है। यथा—

दधति दश दिशोऽथ स्निग्धसंध्याभ्रशोणा
विविधविहगराजीकूजितो जागरूकाः।
मसृणघुसृणमासां भूपते. सुन्दरीणां
प्रतिकृतिमिह सिञ्जनमञ्जुमञ्जीरकाणाम् ॥ ८।४७

कविने प्रकृतिका मानवीकरण भी किया है। मल्लिका पुष्पोंसे निकलनेवाली मकरन्द ऐसा प्रतीत होता है, मानो पथिकोंकी प्रियाओंकी करुणापूर्ण दुरवस्थाको देखकर वह आँसुओं द्वारा अपने हृदयकी व्यथाको प्रकट कर रहा है। कोई व्यक्ति विशेष किसीकी दुरवस्थाको देखकर करुणासे द्रवित हो जाता है आँखोसे आँसुओंकी धारा फूट पड़ती है। यहाँ मल्लिकापुष्पका रोना, उसका मानवरूप है।

अध्वगप्रणयिनीषु दुर्दशां वीक्ष्यते करुणयेह मल्लिका।
रोदितीव विपुलाश्रुमिर्भृशं स्यन्दमानमकरन्दबिन्दुभिः ॥ ७।२०

कवि चन्द्रमामें राजाका आरोप करता हुआ कहता है—

तिमिररिपुमयस्य प्रौढिमुल्लास्य दूरं
कुवलयरमणीयां चन्द्रिकासंपदं च

अपरदिशि चचाल क्षोणिपालायमानः
कृतसकलविधेयो यामिनीकामिनीशः ॥ ८।६२

चन्द्रमारूपी राजाने तिमिररूपी शत्रुको परास्त कर कुमुदिनीरूपी रमणियोंको ज्योत्स्ना द्वारा विकसित किया है। वह पृथ्वीका पालन करता हुआ अन्य दिशाकी ओर चला। रात्रिरूपी कामिनीके पति चन्द्रमाने समस्त राजकीय कृत्योंको सम्पन्न किया।

कविने प्रकृतिमें मानवीय भावनाओंका आरोप कर अनेक प्रकारके मानसिक विकार एवं भावोका विश्लेषण किया है। कवि भ्रमर और सूर्यमें प्रेम, द्वेष, प्रतिशोध आदिकी भावनाओंका आरोप करते हुए कहता है—

मद्वल्लभां कैरविणीमुपेत्य चुम्बन्त्यमी रागवतेति राज्ञा।
आमोचयत्पङ्कजगुप्तिबद्धान्मित्र प्रभाते वसुभिर्द्विरेफान् ॥ ८।७१

मेरो प्रिया कमलिनीका ये चुम्बन करते है, अतः सूर्य अनुरागी राजा चन्द्रमाको वसु देकर इन भ्रमरोंको मुक्ति कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ सूर्य और चन्द्रमामें मानवीय भावनाओका आरोप किया गया है।

पात्रोंका शील स्थापत्य

काव्यका नायक जयन्त और प्रतिनायक महेन्द्र विद्याधर है। विक्रमसिंह, सुबुद्धि, सिंहलभूपति, पवनगति, सुस्थिताचार्य, वैरिसिंह, हरिराज, अघोरघण्ट योगी एवं मत्सरी ब्राह्मण पुरुषपात्र और प्रीतिमती, कनकवती एवं रतिसुन्दरी नारी पात्र है। प्रासंगिक कथामें आया हुआ धनावह श्रेष्ठका चरित्र भी स्फूर्ति और प्रेरणाप्रद है।

काव्यका नायक जयन्त धीरोदात्त है। यह सुशील, सच्चरित्र और सर्वगुण-सम्पन्न है। जयन्तका चरित्र युद्धभूमिमें विकसित हुआ है। वह सर्वप्रथम सिंहलभूपतिसे युद्ध करनेके लिए जाता है। अपने प्रबल पराक्रम द्वारा वह सिंहलभूपतिको पराजित कर देता है। अपनी शक्तिका परिज्ञान प्राप्त होनेपर वह दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। वह चारो दिशाओके प्रमुख राजाओंको परास्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है।

उसके हृदयमें धर्मपिपासा है। जया नामक शासनदेवताके द्वारा अपहरण किये जानेपर जब वह विलासपुर पहुँचता है तो वहाँ धर्मसूरि मुनिको देशना सुन सम्यक्त्वी बनता है। बडी श्रद्धा और भक्तिके साथ जिन बिम्बोके दर्शन करता है। यह भगवान्का बडा भारी भक्त है। जिनेन्द्र भक्तिका प्रचार करता है। उसकी भक्तिसे प्रसन्न होकर सौधर्मेन्द्र वहाँ आता है और पूजामहोत्सव सम्पन्न करता है। सौधर्मेन्द्र प्रसन्न होकर कहता है—

धन्योऽसि राजन् सफल तवैव राज्यं धनं जन्म च जीवितं च।
दुःखार्दितेऽपीह मनुष्यभावे यस्यातिभक्तिर्जिनपुङ्गवेषु ॥ १९।७७

इस प्रकार नायकमें सत्पात्रदान, देवभक्ति, गुरुविनय एवं प्रजाका कल्याण करनेकी भावना वर्तमान है। राजनीतिमें भी जयन्त पटु है। वह सिंहलभूपतिके हाथीके प्राप्त हो जाने पर उसे छोड़ना राजनीतिके विपरीत समझता है। वह कहता है—"द्विषो न पोष्याः प्रणिपातमन्तरा निजैः पदार्थैरिति भूभृतां नयः" ९।३३—जब तक शत्रु अधीनता स्वीकार न कर ले, तबतक अपनी वस्तुओंसे उसका पोषण करना चाहिए।

इस प्रकार जयन्त वीर, पराक्रमी, नीतिवान्, यशस्वी, रमणियोंके लिए आराध्य, सम्यग्दृष्टि एवं जिनेन्द्र भक्त है। श्रद्धा और भक्ति उसके जीवनके आवश्यक अंग हैं। नवीन चैत्यालय बनवाना और पुराने चैत्यालयोंका पुनः निर्माण कराना भी उसके जीवनोद्देश्यमें गर्भित है।

प्रतिनायक महेन्द्र वीर और अहंकारी है। पवनगतिसे वह कनकवतीकी याचना करता है, पर जब पवनगति उसकी याचना स्वीकार नही करता तो उसका क्रोध उद्दीप्त हो जाता है और वह पवनगतिपर ससैन्य आक्रमण कर देता है। कविने महेन्द्रके रौद्ररूपका विश्लेषण करते हुए लिखा है—

अथेति दूतादवगम्य सम्यग्विद्याधराणामधिपः प्रवृत्तिम्।
करालकोपस्फुरदोष्ठपृष्ठः क्षणादभूद्भ्रुकुटि भीषणास्यः ॥ १०।१

स्पष्ट है कि वीरताके कारण अधीनस्थ राजाके आदेश न मानने पर महेन्द्रका क्रोध प्रज्वलित हुआ है। उसके होंठ फड़कने लगते है और भ्रुकुटि तन जाती है। वस्तुतः महेन्द्र वीर, पराक्रमी और प्रतिभाशाली नृपति है।

विक्रमसिंहका चरित्र सभी दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। वह अपनी पत्नी प्रीतिमतीको अपार स्नेह करता है। जब रानीको निस्सन्तान रहनेको मार्मिक व्यथा कष्ट देने लगती है, तो राजा धैर्य देनेके लिए जाता है। वह अपनी प्रियाको प्रसन्न करनेके लिए प्रतिज्ञा करता है[1] कि यदि सन्तान उत्पन्न नही होगी, तो वह अग्निमे प्रविष्ट हो अपना अन्त कर देगा। उसकी यह प्रतिज्ञा उसे प्रेमी और वीर सिद्ध करती है। वह स्वयं धर्मात्मा और श्रद्धालु है। प्रजाके कष्टका निरीक्षण करनेके लिए वह रात्रिमें वेष परिवर्तित कर भ्रमण करता है। आततायी और दुष्टोंको दण्ड देता है। योगीके चंगुलमें फँसी जितारि नरेशको पुत्रीकी रक्षा करता है।

नारी चरित्रोमें प्रीतिमती, कनकवती और रतिसुन्दरीके चरित्र प्रस्तुत होते है। प्रीतिमती पतिव्रता पत्नी होनेके साथ श्रेष्ठ माता है। वह पुत्र प्राप्तिके लिए बेचैन है। उसकी दृष्टिमे—'न सूनुहीना वनिता प्रशास्तये" २।२ सिद्धान्त सर्वोपरि है। वन्ध्यात्व नारी जीवनके लिए अभिशाप है। अतः वह सन्तान प्राप्तिके लिए प्रयास करती है। अपने अन्तस्के दुःखको पतिके समक्ष उड़ेल देतो है। पुत्र प्राप्त होनेपर उसे अपार हर्ष होता है।

---

[1] देखें, जय० २।३१।

पुत्रसे भी अधिक महत्त्व वह पतिको देती है। विक्रमसिंह जब अग्निप्रवेशकी प्रतिज्ञा करता है, तो उसका हृदय दहल जाता है। कविने उसकी इस स्थितिका सुन्दर चित्रण किया है—

> इति प्रतिज्ञावचनादमुष्य सा मुमूर्च्छं वज्राभिहतेव तत्क्षणम् ।
> पपात चच्छिन्नलतेव भूतले किमद्भुतं प्रेमवतामिदं हि वा ॥ २।३२

रसभाव नियोजन

कविने विविध रसोंका समावेश किया है। इस काव्यमे वीररस प्रधान है। सहायक रूपमें रौद्र और भयंकर रसका भी परिपाक हुआ है। अंगरूपमे वात्सल्य, शृगार, और शान्तरस भी वर्तमान है। दशम सर्गमें युद्धके लिए प्रस्थान करते समय सैनिक प्रयाण वर्णनमें वीररसका सुन्दर समावेश हुआ है। यथा—

> आसन्नसंग्रामसमुत्सहिष्णोर्वीरव्रजस्यानशिरे मनांसि ।
> हर्षप्रकर्षैः समुदञ्चदुच्चरोमाञ्चकैश्च चिरं वपूंषि ॥ १०।२७
> रणोत्सवोत्साहसमुद्भविष्णु रोमाञ्चचञ्चत्कवचान्तरस्य ।
> एकस्य कस्यापि महाभटस्य भाति स्म कृच्छ्रेण तनौ तनुत्रम् ॥ १०। ९

उपर्युक्त पद्योमें उत्साह स्थायीभावका पूर्ण संचार पाया जाता है। संग्रामको पास आया हुआ जानकर योद्धाओंके हृदय उल्लाससे भर गये हैं और उनका समस्त शरीर रोमांचित हो गया है। यहाँ आलम्बन शत्रु है, उद्दीपन विभाव शत्रुका पराक्रम है, अनुभाव रोमाच, गर्वीली वाणी, कवचादिका धारण और संचारीभाव आवेग, गर्व आदि है। वस्तुत. इस स्थलमें हरिरिपुका सीमान्तपर आना तथा जयन्तद्वारा युद्धकी आज्ञाका प्रचारित करना उद्दीपन विभाव है। वीरोका रणभूमिके लिए तैयार होना, कवच धारण करना, निर्भय होकर युद्धके लिए प्रस्थान करना, रोमांचित होना अनुभाव है। इसी प्रकार ग्यारहवें सर्गमें दिग्विजयका वर्णन भी वीररससे परिपूर्ण है।

श्मशानभूमिमें साधना करनेवाले योगीके चित्रणके अवसर पर कविने शव, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदिका घृणोत्पादक चित्रण किया है। इस सन्दर्भमें जुगुप्सा विभावानुभावादिसे पुष्ट होकर रसकी निष्पत्ति कर रहा है। वर्णन भी जीवन्त है, श्मशानका दृश्य मूर्तिमान हो जाता है। यथा—

> मृतककोटिकरालकलेवरप्रचुरदु.सहगन्धभरावहे ।
> अभिमुखागतगन्धवहैर्मुहुर्यदतिदूरविवस्यं।प सूच्यते ॥ ४।९
> मिलदसंख्यशिवाकृतफेत्कृतैर्यदसुकम्पकृदुद्धितमूर्धजम् ।
> अधिकघूकघनार्तिदघूत्कृतै स्खलितकातरजन्तुगतागति ॥ ४।१०

करोड़ो मृतकोंकी दुस्सह गन्ध भरी रहनेसे दूरसे ही श्मशान भूमिकी सूचना मिल जाती थी। असंख्य शृगाल, भूत-पिशाच, डाकिनी आदि मांस, चर्बी, रक्त आदि

का भक्षण कर आनन्दानुभूति कर रहे हैं। राक्षस और पिशाचोंकी हुंकृति सुनाई पड़ रही है।—"विपुलमांसवसामदिरोन्मदैः" ४।१२—मास, वसा और मदिरासे उन्मत्त होकर डाकिनी कुल ताण्डव नृत्य कर रहा है। समस्त दृश्य घृणित प्रतीत हो रहा है। अतएव श्मशान और शवोंका पाया जाना आलम्बन है। शृंगालों द्वारा मांस नोचना, मासभक्षी पिशाच, राक्षस, डाकिनी आदिका परस्परमें मांसकी छीना-झपटी करना उद्दीपनविभाव है। आवेग, निर्वेद, ग्लानि संचारीभाव है।

इसी प्रकार नवम सर्गमें हाथी न लौटानेसे दूतका क्रुद्ध होना रौद्ररस है। उन्नीसवें सर्गमें राजा विक्रमसिंहका दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरणके लिए जाना और संसार संवेग स्थितिका चिन्तन करना शान्तरस है। रतिसुन्दरीके साथ जयन्तकी क्रीडाएँ शृंगाररसमें सम्मिलित है।

अलंकार योजना

कवि अभयदेव उपमा अलंकारके बड़े विद्वान् प्रतीत होते हैं। इनके काव्यमें उपमानोंके प्रयोग अनेक रूपोंमें उपलब्ध है। यहाँ कुछ उपमानोंका विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

(१) अंगवाचक

१. उत्कुचैरिव १३।४—वनकी रम्यताका चित्र प्रस्तुत करनेके लिए कविने फल, पुष्प आदिकी उपमा नारीके अंगोंके उपमानों द्वारा प्रस्तुत की है। फलोंके बृहदाकारको व्यक्त करता हुआ उन्हें उन्नत कुचोंके समान कहा गया है।

२. कण्ठेश्वास इव ३।४५—पंचपरमेष्ठी वाचक मन्त्रके अहर्निश जापको कण्ठमें सर्वदा रहनेवाले श्वासके समान कहा है।

३. करतलैरिव १३।४—पल्लवोंको हथेलीके समान लाल बताया है।

४. लोचनैरिव १३।४—नेत्रोंके समान विकसित पुष्प।

५ विलूनवेणीव १४।१६—छिन्न वेणीके समान विमानपंक्ति लक्षित होती है।

६. हस्तैरिवोच्चैस्तरवः १।३१—हाथके समान उन्नत वृक्ष पथिकोंको स्त्रियोंको स्वबन्धु बुद्धिसे बुलाते थे।

(२) अग्नि, अन्नकणादि

७. कणा इव २।४८—कणोंके समान तारिकाएँ व्योममें व्याप्त हैं।

८. दाव इव २।२०—दावाग्निके समान राजाको कष्टदायक।

९. वह्नौ घृताहुतिक्षेप इव ६।२—सुन्दररूप, दिव्य वस्त्राभूषण और धनप्राप्तिके साथ असाधु संगतिको कविने अग्निमें घृताहुति देनेके समान अहंकारकी वृद्धि करनेवाला उपादान कहा है।

१०. वह्निरिव क्रुधा ९।४५—क्रोधकी भयंकरता प्रदर्शित करनेके लिए अग्नि उपमानका प्रयोग किया है।

(३) आभूषण, निधि आदि

११. अम्भोरुहमालिकेव १४।४—कमलकी मालाके समान।

१२. गुंजारुण नेत्रकान्ति १४।५—घुंघचीके समान अरुण नेत्रोंकी कान्ति।

१३. निधिमिव १२।५९—अक्षीण निधिके समान अभ्युदयकी प्राप्ति।

१४. मौलिरत्नमिव ७।२—मुकुट-जटित रत्नके समान उन्नत और प्रकाशमान प्राणेश्वरको प्राप्त किया।

१५. विमलमौक्तिकहारलता इव ४।२६—निर्मल मौक्तिक हारलताके समान कण्ठमें पड़नेवाली वह थी।

१६. हारमिव नायको मणि: ७।२२—हारमें लगी मध्यवर्ती मणिके समान वह श्रेष्ठ है।

(४) गृहोपकरण-गृहादि

१७. कुम्भमिव १३।१—भक्तिरसके कुम्भके समान पुष्पाजलिको मुनिके चरणोमें समर्पित किया।

१८. केतुमिवोल्लसन्तम् ५।१६—ध्वजाके समान उल्लसित रहनेवाला गंगाधर हुआ।

१९. विश्रामधामेव १।६९—विश्रामगृहके समान पतिके लिए सुखदायक थी।

(५) ग्रह-नक्षत्र

२०. अर्क इव ६।४५—सूर्यके समान तेजस्वी।

२१. इन्दुरिव ३।६८—चन्द्रमाके समान आह्लादजनक वह दिखलाई पड़ा।

२२. कुमुद्वतीनां पतिरिव १२।३९—चन्द्रमाके समान सुन्दर और प्रसन्नता प्रदान करनेवाला।

२३. गुरुरिव २।५१—गुरु—बृहस्पतिके समान राजा विक्रमसिंहका मन्त्री था।

२४. चन्द्रैरिव १।४९—चन्द्रमाके समान शीतलता प्रदान करनेवाले स्तन थे।

२५. चन्द्रिकयेव २।२६—जिस प्रकार चन्द्रमाकी चाँदनीके द्वारा कुमुदिनीको आश्वासन····।

२६. चन्द्र इव १०।६८—नक्षत्रोंके बीच शोभित होनेवाले चन्द्रमाके समान सेनाके मध्य सिंहलभूप सुशोभित हुआ।

२७. जीव इव १।७१—बृहस्पतिके समान विद्वान् और विचारशील मुबुद्धि नामक मन्त्री था।

२८. तरणेरिव चन्द्रमाः ४।६३—जिस प्रकार दिनमे सूर्यकी किरणोंसे चन्द्रमा अस्त हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारी शक्तिसे वह दुर्दशाको प्राप्त हुआ है।

२९. नव्यशशीव ५।७२—जिस प्रकार मेघोंके बीच द्वितीयाका चन्द्र सुशोभित होता है, उसी प्रकार वह अपने कुलमें सुशोभित हुआ।

३०. नीरधिरिवेन्दुना ७।१३—चन्द्रमासे जिस प्रकार समुद्रमें हर्ष—ज्वारभाटा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार राजपुत्रसे कुलमें प्रसन्नता हुई।

३१. प्रदोषमिव चन्द्रमाः ३।९—जिस प्रकार चन्द्रमा प्रदोषकालको प्राप्त होता है, उसी प्रकार धनदेव कारागृहको प्राप्त हुआ।

३२. भृगुमिव ४।६—शुक्रके समान—शुक्र जिस प्रकार राशिका अतिक्रमण करता है, उसी प्रकार उसने परकोटेका उल्लंघन किया।

३३. रवेरिव प्रभा २।३५—देवता आपके अमंगलको उसी प्रकार दूर करें, जिस प्रकार सूर्यकी कान्ति अन्धकारको दूर करती है।

३४. रोहिणीव १६।८६—जिस प्रकार रोहिणी चन्द्रमाको प्यार करती है, उसी प्रकार रतिसुन्दरीने जयन्तको प्रेम किया।

३५. सिंहिकासुत इव १६।८०—राहुके समान सिंहलनृपतिका मुख भीषण था। राहु जिस प्रकार चन्द्रका ग्रास ग्रहण करनेके लिए अपना मुँह फैलाये रहता है, उसी प्रकार सिंहलभूपति शत्रुओंका सहार करनेके लिए भयंकर मुख किये थे।

३६. सूर्यप्रभाचुम्बितचन्द्रिकेव १।४२—जयन्ती नगरीके भवनोंके समक्ष स्वर्गविमानोंकी शोभा सूर्यकान्तिसे चुम्बित चन्द्रिकाके समान प्रतीत होती थी।

(६) दिव्य—अमृत, कल्पवृक्षादि पदार्थ

३७. अदृश्यपटेनेव ३।१९—अन्धकारकी सघनता प्रतिपादित करनेके लिए उसे अदृश्यपटके समान कहा गया है।

३८. इन्द्र इव २।४३—इन्द्र जिस प्रकार देवों द्वारा सेवित रहता है, उसी प्रकार राजा विक्रमसिंह सामन्तो द्वारा सेवित था।

३९. कल्पशाखीव ८।१७—कल्पवृक्षके समान वनभूमि सुशोभित है।

४०. कल्पतरोरिव ८।७२—कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल देनेवाली सेवा।

४१. कल्पान्तवातैरिव शस्त्रैः १०।६२—प्रलयकालीन वायुके समान भयंकर शस्त्र।

४२. दरिद्रस्येव ३:२०—दरिद्रके समान बहुत समय तक घूमता रहा।

४३. द्युतिमानिव ४।५९—प्रकाशमान–सूर्यके समान—शत्रुओंका उन्मूलन किया।

४४. द्युतिमद्विना नभस्थलीव २।२—सूर्यरहित आकाशके समान शोभाहीन।

४५. पुण्यतरोः फलैरिव ९।२—पुण्यवृक्षके फलोंके समान विभूतियोंसे युक्त।

४६. प्रयाणशङ्खा इव १०।६—प्रयाणकालीन शंखध्वनिके समान।

४७. प्रेमरसैरिव २।३३—प्रेमरसके समान आँसुओंसे सिंचन किया।

४८. बीजवर्जितां विद्यामिव २।३०—बीज रहित अमृतविद्याके समान राजाने उसकी अर्चनाको कहा।

४९. भावोचितानामिव कर्मणा श्रीः १।२२—उचित भावोंकी कर्मश्रीके समान वह धर्म है।

५०. भाग्यसंपदिव १६।७—कामदेवको भाग्य-सम्पत्तिके समान रतिसुन्दरी थी।

५१. मूर्तं पुण्यमिव ३।२२—मूर्तिमान पुण्यके समान मुनिका दर्शन किया।

५२. यमस्य जिह्वेव १।६१—यमकी जिह्वाके समान हाथियोंकी दन्तपंक्ति थी।

५३. रिपुवत् ५।५६—शत्रुके समान देखा।

५४. रम्भेव १।४८—लक्ष्मीके समान सुन्दर मूर्ति।

५५. लावण्यपूरैरमृतैरिवोच्चैः १।४९—अमृतके समान लावण्यसे युक्त।

५६. वज्राभिहतेव २।३२—वज्राहतके समान वचनोंसे घायल होकर।

५७. विद्याधरा इव—५।४९—विद्याधरोंके समान शक्तिशाली हैं।

५८. वैद्युत्पुञ्जमिव ४।२६—विद्युत्पुंजके समान मणि-सुवर्णके आभूषणोंसे युक्त किया।

५९ व्योमवीथीव ८।१९—वृक्षपर पुष्पावचयके लिए आसीन नारीके मरकत-मणिके आभूषणोंमें पुष्पोंके प्रतिबिम्ब रात्रिमें आकाशगंगामें पड़नेवाले ताराओंके प्रतिबिम्बके समान थे।

६०. व्योमलक्ष्मीरिव ८।२—आकाश लक्ष्मीके समान कोई नायिका, जिसके कानोंके दोनों कुण्डल चन्द्र और सूर्यके समान थे।

६१. शचीव १।६६—इन्द्राणीके समान प्रीतिमती सुशोभित थी।

६२. श्रीनन्दनस्येव रतिश्च १।६६—कामदेवके लिए रतिके समान प्रीतिमती।

६३. श्रीपताविव ५।११—जिस प्रकार लक्ष्मी विष्णुमें रक्त है, उसी प्रकार पृथ्वी तुममें अनुरक्त है।

६४. संजीवनी औषधिरङ्गजस्य—१।६९—कामदेवकी संजीवनी औषधिके समान।

६५. सुधामिव २।१—अमृतके समान पुत्रका स्पर्श होता है।

६६. सुधारसानामिव दुग्धसिन्धु १।२२—अमृतके क्षीर समुद्रके समान।

६७. स्नपनैरिव १२।६—स्नपनके समान श्वेत वर्णके रजतगिरि भर आया।

६८. स्मरमिव ८।७—कामदेवके समान जयन्तको देखा।

६९. स्वर्भूमिरिव १।५९—स्वर्गभूमिके समान मगध देशकी भूमि थी।

७०. स्वर्गपुरीव ६।३८—स्वर्गपुरीके समान नगरी।

७१. स्वर्गमिव क्षपा ९।१—स्वर्गपुरीके समान पृथ्वीका शासन किया।

(७) पर्वत-पृथ्वी आदि

७२ धरेव ६।७४—पृथ्वीके ऊपर धान्य अंकुरके समान संस्कार शोभित थे।

७३. शैलैरिव १।२८—उत्तुग पर्वतके समान धान्यढेर प्रतीत होते थे।

७४. शैलैरिव १०।३—पर्वतके समान सेनाके गज प्रतीत होते थे।

७५ सुमेरोरिव तटी २।५—सुमेरुकी तटीके समान थी।

(८) पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि

७६. अलिकुन्तैरिव कुन्तलैः १३।३५—उसके केश भ्रमरोंके समान काले थे।

७७. उलूकपक्षीव १।१३—उलूक पक्षीके समान दोषदर्शी दुर्जन होते है।

७८. कामधेनुरिव १३।५२—कामधेनुके समान अभिलाषाओकी पूर्ति करनेवाला दान।

७९ केसरीव १२।३९—मिथ्यात्वरूपी हाथियोके लिए सिंहके समान।

८० पशुरिव ४।२३—पशुके समान मदान्ध होकर दुराचार किया।

८१. भ्रमरा‍व १।१—आदिदेवके चरणोमे संलग्न त्रिलोकीजन भ्रमरकी तरह प्रतीत होता है।

८२ भृङ्ग इवाम्बुजे ३।७८—जिस प्रकार भ्रमर कमलमे आसक्त रहता है, उसो प्रकार वह नमस्कार मन्त्रमें आसक्त था।

८३ मधुकरैरिव लोचनैः ७।६३—भ्रमरोके समान नेत्रोसे अनुरागपूर्वक देखा।

८४. महाविभूतेरिव कामधेनु. १।२१—महाविभूतिके लिए कामधेनुके समान।

८५. पथविच्युतमृगीव १३।८—समूहमे पृथक् हुई हरिणीके समान।

८६ सिंहास्यादिव गौ. ३।६५—सिंहके मुखसे गायके समान यह मन्त्र रक्षा करता है।

८७ सिंहो द्विपम्येव १०।१७—सिंह जिस प्रकार हाथियोके वनमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार जयन्तने शत्रुशिविरमे प्रवेश किया।

(९) पौराणिक व्यक्ति एवं पदार्थ

८८. कौशिकैरिव १६।५५—विश्वामित्रके समान तेजस्वी है।

८९. चन्द्रमौलिरिव शक्तिपाणिना ७।१३—जिस प्रकार कार्तिकेय पुत्रको प्राप्त कर शंकर सुशोभित हुए उसी प्रकार जयन्तको प्राप्त कर विक्रमसिंह सुशोभित हुआ।

९० धनावह इव ३।५—धनावह सेठके समान नमस्कार मन्त्रकी आराधना की।

९१. पद्मजन्मन. सृष्टिसारमिव १६।७—ब्रह्माकी सृष्टिके सारके समान।

९२. महेश्वरस्य गौरीव १।६९—जिस प्रकार शिवको पार्वती प्रिय है, उसी प्रकार विक्रमसिंहको प्रीतिमती प्रिय थी।

९३. लङ्केव ११।५३—लंका नगरीके समान सुन्दर नगरी थी ।

९४. लक्ष्मीरिव माधवस्य १।६६—विष्णुके लिए लक्ष्मीके समान विक्रमसिंहको प्रीतिमती थी ।

(१०) मानसिक विकार, भावादि

९५ कटाक्ष इव ११।७६—जयश्रीके कटाक्षके समान बाण थे ।

९६. कीर्तिरिव १०।४९—कीर्तिके समान ध्वजा—अमूर्त उपमान द्वारा मूर्तकी व्यंजना ।

९७. कृतास्पदानीव १।५६—शेषनाग द्वारा स्यात् बनाये हुएके समान भित्तियों-में अंकित ध्वजाओके प्रतिबिम्ब थे ।

९८. दिदृक्षयेव १।४७—परिखाके बहाने क्षीरसागर ही स्वपुत्री लक्ष्मीके पुत्रों—श्रीमन्तोंको देखने के समान ही उपस्थित हुआ है ।

९९ दृष्टिमिव १।५१—देखनेके समान ही—जिनचैत्योंपर जटित स्वर्णकलशों-पर सूर्यके प्रतिबिम्ब पड रहे थे, जिससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो सूर्य अपना प्रतिबिम्ब देखनेके लिए ही आया है ।

१०० नयमिव धर्मं ३।८९—नीतिके समान धर्मको समझा ।

१०१. प्रतापैरिव १।६३—मूर्तिमान् प्रतापके समान ।

१०२. शक्तित्रयमिव ३।९८—शक्तित्रयके समान रत्नत्रयको ।

१०३. सन्तोषलीलेव १।२२—मानसिक सुखके लिए सन्तोषलीलाके समान ।

१०४. सुखनिर्मिता इव २।३—सुखके द्वारा निर्मित हुएके समान ही उत्सव था ।

(११) वृक्ष-लता-पुष्पादि

१०५. अङ्कुरमालिकेव १।६२—अकुरमालिकाके समान गजपंक्ति ।

१०६. कल्पद्रुमाणामिव नन्दनोर्वी १।२१—कल्पवृक्षयुक्त नन्दनभूमिके समान जैनधर्म ।

१०७. कमल इवातिशयसौरभाभिरामैः १२।१३—कमलके सौरभके समान प्रसरणशील हैं ।

१०८. कल्पतरोर्लतेव ३।९७—कल्पतरुकी लताके समान राजलक्ष्मी ।

१०९. कीर्तिलता इव १।३—कीर्तिलताके समान स्तुति ।

११०. कुवलयदलनेत्राम् ८।४५—कमलदलके समान नेत्रवालीको ।

१११. केसरैरिव १३।३५—परागके समान स्वच्छ दन्तपंक्ति ।

११२. छिन्नलतेव २।३२—कटी हुई लताके समान गिर गयी ।

११३. दलोपमानि १०।५१—किसलयके समान अंगोपांग—सुन्दर और कोमल।

११४. द्रुणा फलानीव १०।५१—वृक्षोंके फलोंके समान शत्रुओंके सिरोंको ।

११५. पुष्पोद्गम इव ३।१०—पुष्पोद्गमके समान ।

११६. प्रशाखा इव १०।५१—प्रशाखाके समान भुजदण्डोंको ।

११७. लावण्यवल्लेर्नवकन्दलीव १।६९—लावण्यलताको नवकन्दलीके समान ।

११८. वनस्पतीनामिव वारिदाम्भः १।२१—वनस्पतिके लिए वर्षाके जलके समान ।

११९. वल्लीव भक्तिः ३।४४—लताके समान भक्ति ।

१२०. विटपीव २।२२—वृक्षके समान वंश ।

१२१. विवेककल्पद्रुममञ्जरीव ६।१८—विवेकरूपी कल्पवृक्षकी मंजरीके समान।

१२२. सरोजपत्रैः व्यनक्तीव १।५ – जिनके चरणोंकी नखावली देवांगनाओंके नेत्रोके प्रतिबिम्ब पड़नेसे कमलपत्रकी कान्तिके समान प्रतीत होती थी ।

१२३. सरोजैरिव १।४९—कमलके समान नेत्र सुशोभित थे ।

(१२) समय-ऋतु आदि

१२४. उत्पातकाल इव ५।५२—उत्पात समयके समान दुःखदायक है ।

१२५. शरदीव ६।८०—शरद् ऋतुमे होनेवाली दिशाओके समान स्वच्छ ।

१२६. सूर्यास्तसंध्येव १४।५—सूर्यास्त सन्ध्याके समान कृपाणलेखा शोभित थी ।

(१३) सम्बन्धी-पेशा-आदि

१२७. कौतुकीव ८।४८—कौतुकोके समान सूर्य ।

१२८. जननीव ५।४५—माताके समान राजलक्ष्मी ।

१२९. दूतीव १।२७—दूतीके समान ।

१३०. पितेव १।६०—पिताके समान प्रजाका पालन करनेवाला राजा ।

१३१. प्रियामिव १।७२—प्रियाके समान ।

१३२. वन्दिवृन्दैरिव ८।२७—बन्दीजनोके गानके समान नाना पक्षियोंके गीत थे ।

१३३. भिषग्वरस्येव २।१५—वैद्यके समक्ष रोगी जिस प्रकार अपनी बातें कह देता है, उसी प्रकार रानोने राजाके समक्ष सभी बातें कह दी ।

१३४. मृत्योर्द्वारमिवात्मनः ११।६४—आत्माके मृत्यु द्वारके समान सैन्यधूलिसे आच्छादित आकाशमण्डलको देखा है ।

(१४) सागर-जलचर आदि

१३५. अम्भःकणैरिव ५।५—जलकणोंके समान वचनोंसे ।

१३६. अम्भोद इव ३।११—बादलोंके समान चंचल गति ।

१३७. कूलङ्कषेव ५।५४—किनारेको तोड़नेवाली नदीके समान वेगसे शत्रुओंका घात करनेवाला ।

१३८. क्षीरार्णवस्येव पयः १।६—क्षीरसागरके जलके समान भक्तिजल ।

१३९. क्षीरसागरमिव ७।४९—क्षीरसागरके समान ऋतुराज वसन्तका सौन्दर्य ।

१४०. गङ्गे व ६।७०—गंगाकी पवित्रता और लावण्यके समान देवीके शरीरकी त्रिवली ।

१४१. घनसमय इव १२।३९—बादलोंकी वर्षाके समान उपदेश ।

१४२. तटीव ५।५—तटके समान ।

१४३. तृषार्त इव ३।२८—पिपासाकुलित व्यक्ति जिस प्रकार अमृतका पान करता है, उसी प्रकार धनदेवने नमस्कारमन्त्रका आराधन किया ।

१४४. लावण्यनद्या इव यौवनाद्रिः १।२१—सौन्दर्यरूपी नदीको यौवनरूपी पर्वतके समान ।

१४५. वर्षाम्बुवाहैरिव १०।३९—वर्षाकालमें होनेवाली मेघोंकी जलवर्षाके समान शस्त्रोंकी वर्षा ।

१४६. वारीव शीतलम् १५।७०—जलके समान शीतल ।

१४७. वेलाम्बुधेरिव सुधारसकालकूटे ५।१६—पिताने गंगाधर और पृथ्वीधर नामक पुत्र इस प्रकार उत्पन्न किये, जिस प्रकार समुद्र अमृत और विषको उत्पन्न करता है ।

१४८. सरसीव मीनकं २।९—सूखे तालाबकी मछलीके समान रानी बेचैन थी ।

रूपक

सिप्रा नदीको नारीका रूपक देकर बहुत ही सुन्दर दृश्य उपस्थित किया है । नदीमें रहनेवाली मछलियाँ उसके नेत्र हैं, चक्रवाक युग्म स्तन हैं, राजहंस उसकी गति है और कमल उसके हाथ हैं । इस प्रकार सांगरूपक प्रस्तुत किया गया है । यथा—

विस्फुरत्तरलमीननेत्रया चक्रयुग्मकुचकुम्भशोभया ।
राजहंसगतयाऽब्जहस्तया सख्यमस्तु तव देवि सिप्रया ॥ १६।६१

उल्लेख

राजा विक्रमसिंहका वर्णन निमित्तभेदसे अनेक प्रकारका करके कविने उल्लेख अलंकारका नियोजन किया है । यथा—

यः कामिनीनां प्रतिभाति कामः पितेव च प्रीतिपदं प्रजानाम् ।
कालः करालो रिपुभूपतीनां कल्पद्रुमश्च प्रणयिव्रजानाम् ॥ १।६०

अनुज्ञा

रणभेरीने अमर, मनुष्य, तिर्यंच आदिको बधिर बना दिया है । सर्पोंके कर्ण नहीं होनेसे उन्हें यह भेरीनाद सुनाई नहीं पड़ता है । अतः उनका उक्त दुर्गुण भी प्रशंसाका विषय बन गया है ।

गभीरभेरीरणितैरमर्त्यैर्मर्त्येषु दूरं बधिरीकृतेषु ।
तदात्मनः सपंकुलं श्रुतीनामभावमुच्चैर्बहु मन्यते स्म ॥ १४।३५

सर्पोंके दोषकी श्लाघा करना ही अनुज्ञा है ।

अर्थावृत्ति

एक ही अर्थमें ह्रेषा, गर्जित, नाद एवं निस्वन शब्दोंका प्रयोग कर अर्थावृत्तिकी योजना की है । यथा—

वराश्च ह्रेषा गजराजगर्जितं सतूर्यनादं शुभशङ्खनिस्वनम् ।
अदक्षिणाक्षिस्फुरणं प्रियोदितं तदाश्रृणोच्छाकुनिकाग्रणीरसौ ॥ २।४१ ॥

अन्योन्य

विक्रमभूप कनकवतीकी रक्षा नारीका बलिदान करनेवाले योगीसे करता है और कनकवती राजाकी रक्षा स्मरतापसे करती है । इस प्रकार परस्परमें रक्षा करनेसे अन्योन्य अलंकार है । यथा—

संरक्षणाय रिपुतोऽहमभूवमस्याः
संग्रामकेलिभिरियं स्मरतापतो मे ।
स्वैर्दर्शनामृतरसैस्तु समोपकार-
कन्येति तामथ मुहुर्नृपतिर्ददर्श ॥ ५।१

विशेषक

प्रस्तुत और अप्रस्तुतमें गुण-सामान्य होनेपर भी किसी प्रकार भेद लक्षित करा देना विशेषक अलंकार है । यथा—

सुरेशवेषाभरणाङ्गरागवरेण लावण्यतरङ्गिताङ्गः ।
निमेषमात्रेण परं सुरेभ्यो विभिद्यते यत्र जनः समस्तः ॥ १।५४

उपर्युक्त पद्यमें मगध देशवासियोंकी विशेषता वर्णित है ।

सहोक्ति

'सह' अर्थबोधक शब्दोंके बलसे एक ही शब्दको दो अर्थोंका बोधक सिद्ध कर इस अलंकारका प्रयोग किया है । यथा—

मुहुः प्रियायाः क्षितिपाश्चलानिलैर्जगाम मूर्च्छा नृपतेः सहार्तिभिः ।
सचेतना जातवती सती ततो जगाद साश्रुर्निजजीवितेश्वरम् ॥ २।३४

परिसंख्या

जडाशयत्व, प्रिय विप्रयोग और राजकरोपमर्दका एक स्थान—मगधके निवासियोंमे निषेध कर मगधके उद्यान-वापी, पक्षी और सरोवरमें उक्त बातोंका अस्तित्व बताया है । यथा—

उद्यानवापीषु जलाशयत्वं द्विजाश्रयेषु प्रियविप्रयोगः ।
विलोक्यते राजकरोपमर्दः पद्माकरेष्वेव न यत्र लोके ॥ १।५०

तिरस्कार

कोई स्त्री रतिसुन्दरीके सौन्दर्यको देखनेके लिए दौड़ी, पर अपने स्थूल स्तन और स्थूल नितम्बोंके भारके कारण वह तेजीसे दौड़ न सकी। अतएव कविने उस स्त्री द्वारा स्तन और नितम्बका तिरस्कार—निन्दा कराके तिरस्कार अलंकारकी योजना की है। यथा—

> नृपात्मजालोकनकौतुकाय समुत्सुका काचन कैरवाक्षी।
> नितम्बबिम्बं स्तनमण्डलं च निनिन्द मन्दां गतिमादधानम् ॥ १०।२४

इस प्रकार जयन्तविजय वर्णन प्रसंगमें "देहं विनाप्याश्रितविग्रहोग्रास्तमःस्वरूपा अपि तज्जितार्का." १४।९९ में विरोधाभास, गर्भवती प्रीतिमतीके स्तनोकी श्यामतामें उत्प्रेक्षा (६।६७) एवं "सरोवरैर्यत्र भुवो विभान्ति" (१।३०) में एकावली अलंकारका सुन्दर नियोजन किया है।

छन्दोयोजना

प्रथम सर्गः—१-७१ उपजातिः, ७२ शार्दूलविक्रीडितम्।
द्वितीय सर्ग·—१-४९ वंशस्थ, ५० शार्दूलविक्रीडितम्, ५१ हरिणी, ५२ शार्दूलविक्रीडितम्।
तृतीय सर्गः—१-९६ अनुष्टुप्, ९७-९८ उपजातिः, ९९ मन्दाक्रान्ता, १०० प्रमाणिका, १०१ उपेन्द्रवज्रा, १०२ वसन्ततिलका।
चतुर्थ सर्गः—१-६६ द्रुतविलम्बित, ६७ शार्दूलविक्रीडितम्, ६८ उपजाति·।
पचम सर्गः—१-७२ वसन्ततिलका, ७३ शार्दूलविक्रीडितम्।
षष्ठ सर्ग·—१-९८ उपजाति, ९९ शिखरिणो, १०० मन्दाक्रान्ता, १०१ उपजाति·, १०२ पृथ्वी।
सप्तम सर्गः—१-७३ रथोद्धता, ७४ शार्दूलविक्रीडितम्, ७५ स्रग्धरा, ७६ शार्दूलविक्रीडितम्, ७७ स्रग्धरा, ७८ पुष्पिताग्रा।
अष्टम सर्ग—१-६६ मालिनी, ६७-६८ शार्दूलविक्रीडितम्, ६९ स्रग्धरा, ७० शार्दूलविक्रीडितम्, ७१ इन्द्रवज्रा, ७२ शार्दूलविक्रीडितम्, ७३ मालिनी, ७४ पृथ्वी, ७५ उपजातिः।
नवम सर्गः—१-६९ वंशस्थ, ७० मालिनी, ७१ शार्दूलविक्रीडितम्, ७२ शिखरिणी।
दशम सर्गः—१-६८ उपजाति., ६९ शार्दूलविक्रीडितम्, ७०-७१ स्रग्धरा, ७२ शिखरिणी, ७३ शार्दूलविक्रीडितम्, ७४ अनुष्टुप्, ७५ वंशस्थ।
एकादश सर्ग.—१-८८ अनुष्टुप्, ८९ पुष्पिताग्रा, ९० वंशस्थ, ९१ वसन्ततिलका, ९२ मन्दाक्रान्ता।
द्वादश सर्गः—१-५७ पुष्पिताग्रा, ५८ शार्दूलविक्रीडितम्, ५९ मन्दाक्रान्ता।

त्रयोदश सर्गः—१–१०१ स्वागता, १०२–१०३ स्रग्धरा, १०४–१०५ मालिनी, १०६ इन्द्रवज्रा, १०७–११० उपजातिः, १११–११२ शार्दूलविक्रीडितम्, ११३ इन्द्रवज्रा।

चतुर्दश सर्गः—१–१०६ उपजातिः, १०७ मालिनी, १०८–१०९ पुष्पिताग्रा, ११० अनुष्टुप्, १११ वसन्ततिलका।

पंचदश सर्गः—१–७५ अनुष्टुप्, ७६ शिखरिणी, ७७ शार्दूलविक्रीडितम्।

षोडश सर्गः—१–१८६ रथोद्धता, ८७ वसन्ततिलका, ८८ स्वागता, ८९ शार्दूलविक्रीडितम्, ९० वंशस्थ, ९१ वसन्ततिलका, ९२ द्रुतविलम्बित, ९३ अनुष्टुप्, ९४ मन्दाक्रान्ता, ९५ पृथ्वी, ९६ द्रुतविलम्बित।

भाषा-शैली

इस काव्यकी भाषा सरल है। कविने समस्यन्त पदोका प्रयोग किया है, पर अधिक लम्बे समास नही है। काव्यमे प्रायः वैदर्भी शैली है। हाँ, कुछ सर्गोमें किरातके समान वैदर्भी और गौड़ीके मध्यकी प्रवृत्ति पायी जाती है। भाषाको प्रभावोत्पादक बनानेके लिए कविने सूक्तियोका प्रयोग पर्याप्तमात्रामें किया है। "न सूनुहीना वनिता प्रशस्यते" (२।२), "जीवन्नरो भद्राणि पश्यति" (३।१८); "पूजापात्रं भवति हि मुहुः सद्गुणोत्कर्षवत्ता" (४।६९); "काव्यः कदापि च न मुञ्चति कालिमानम्" (५।२३); "प्रायः कुकर्मविषयो हि तमःसहायाः" (५।२४); "सर्व विधौ हि विमुखे विमुखं जनस्य" (५।५६) एवं "फलति सहृदयेषु क्षिप्रमेवोपकार." (८।२४) प्रभृति सूक्तियाँ सरस हैं। "किं सुगन्धीकर्तुं हि शक्यं लशुनं कदापि" (१।१४) जैसे वाक्यांश अर्थके स्पष्टीकरणमे अत्यन्त सहायक है। भाषा व्याकरण सम्मत है, व्याकरण विरुद्ध एक भी प्रयोग नही है।

जयन्तविजयम् पर अन्य संस्कृत काव्योंका प्रभाव

महाकवि अभयदेवने अपने पूर्ववर्ती कवियोकी रचनाओका सम्यक् अध्ययन किया है। यही कारण है कि रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, किरात, माघ प्रभृति काव्योके सन्दर्भोंका प्रभाव जयन्तविजयपर पड़ा है। संक्षेपमें इस प्रभावका विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

महाकवि कालिदासके काव्य और जयन्तविजय

रघुवंश महाकाव्यके कई सन्दर्भोंका प्रभाव जयन्तविजयपर है। रघुजन्मके समय दिशाओंका प्रसन्न होना, शीतल मन्द-सुगन्ध वायुका बहना एवं समस्त शुभ शकुनोंका सम्पन्न होना वर्णित है।[1] इस पद्यका प्रभाव जयन्तविजयके निम्नलिखित पद्यपर है—

---

[1] रघुवंशम्—कालिदास ग्रन्थावली, अ० भा० विक्रम-परिषद्, काशी, वि० सं० २००७।

दिश: प्रसन्ना: शरदीव नद्यो वातास्तरामोदभृतो जनाश्च।
बभूवुरभ्रे सुरदुन्दुभीनां पयोदनादप्रतिमा निनादाः॥ जयन्त० ६।८०

रघुवंशके चतुर्थ सर्गमें रघुके दिग्विजयका वर्णन है। जयन्तविजयमें यही वर्णन एकादश सर्गमें आया है। रघुकी दिग्विजय पूर्वदिशासे प्रारम्भ होती है, जयन्त भी अपने दिग्विजयका आरम्भ पूर्वसे ही करता है।

रघु पूर्वसे विजय करता हुआ कलिंगकी ओर बढ़ता है। यहाँ पहुँचनेके लिए कपिशा नदीपर हाथियोका पुल बनाकर उसे पार करना पडता है।[१] कलिंगमें वह महेन्द्र पर्वतपर अपना शिविर स्थापित करता है।[२] कलिंग नरेश हाथियोंकी सेना लेकर रघुका सामना करता है। पूर्वको जीतकर विजयी रघु समुद्रके तटपर होते हुए दक्षिणदिशाको जाता है। यहाँ सुपारियोके वृक्ष लगे हुए थे।[3] काबेरीमें स्नान कर रघुकी सेना मलयाचलकी ओर बढ़ी।[४] लौंग और चन्दनके वनको पार कर पाण्ड्यनरेशसे उसने युद्ध किया।[५] पाण्डय नरेशसे मोतियोंको भेंट स्वीकार की।[६] कम्बोजके राजाको परास्त कर हूणोंको अपने अधीन किया।[७]

दिग्विजयका यही क्रम 'जयन्तविजय' काव्यमे भी वर्णित है।[८]

दोनो कवियोने अनुष्टुप् छन्दमे ही दिग्विजयका वर्णन किया है तथा दोनो कवियोंके वर्णनमे बहुत कुछ साम्य है।

कालिदासने रघुवंश काव्यके षष्ठ सर्गमे इन्दुमती स्वयंवरका चित्रण किया है। इन्दुमती विभिन्न देशोसे पधारे हुए राजाओंको छोड़कर कुमार अजका ही वरण करती है। इस प्रकार जयन्तविजयके षोडश सर्गमें हस्तिनापुर नरेश वैरिसिंहकी पुत्री रतिसुन्दरीके स्वयंवरका वर्णन है। रतिसुन्दरी भी विभिन्न राजाओंको छोडकर कुमार-जयन्तका वरण करती है। मंचपर अज और जयन्तका आसीन होना समान रूपसे वर्णित है।

मेघदूतके अनेक पद्योका प्रभाव जयन्तविजय काव्यपर है। मेघदूतके आरम्भमें आया है कि कामपीड़ित व्यक्तिका विवेक समाप्त हो जाता है, अतः उसे जड़-चेतनका भेद प्रतीत नही होता। यही तथ्य जयन्तविजयमे भी वर्णित है। यथा—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। मे० पूर्वमेघ, ५ श्लोक

---

[१] रघुवशम्—कालिदास ग्रन्थावली, अ० भा० विक्रम-परिषद्, काशी, वि० सं० २००७, ४।३८।
[२] वही ४।३६।
[३] वही ४।४४।
[४] वही ४।४६।
[५] वही ४।४६।
[६] वही ४।५०।
[७] वही ४।६८।
[८] जयन्त० ११।१७-१८।

जयन्तविजयमें —

कामान्धास्त्यक्तमर्यादाः कि किं पापं न कुर्वते ॥ ज० ३।५१

मेघदूतमें बताया गया है कि व्यर्थका काम करनेवाला व्यक्ति सर्वदा पराभवको प्राप्त होता है। यथा—

के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ पूर्वमेघ श्लो० ५८

जयन्तविजयमें इसी भावकी प्रतिष्ठा की गयी है—

परपरिभवकारी कः किल प्रीतिमेति ॥ ज० ८।१८

मेघदूतमें कवि कालिदासने लिखा है कि यदि सच्चे मनसे बड़ोंपर उपकार किया जाये तो वे अपने ऊपर भलाई करनेवालेका आदर करनेमें विलम्ब नहीं करते। यही भाव जयन्तविजयमें भी निबद्ध है। यथा—

सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपचारो महत्सु ॥ पूर्वमेघ १९ श्लो०

जयन्तविजयमें—

फलति सहृदयेषु क्षिप्रमेवोपकारः ॥ जय० ८।२४

जयन्तविजयका अष्टम सर्ग मेघदूतसे पूर्णतया प्रभावित है।

किरातार्जुनीय और जयन्तविजय

किरातार्जुनीयमें राजनीतिका वर्णन किया गया है। बताया है कि ऐश्वर्यकी कामना करनेवाले व्यक्तिको शत्रुकी शक्तिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यथा—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्तरतः सुमर्षणः।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसंपत्प्रवणः परिक्षयः॥

किरा० चौखम्बा, सं० १९६१ ई०, २।८

ऐश्वर्यकी कामना करनेवाले मेधावी पुरुष शत्रुके महान् अभ्युदयको जो क्रमशः अवनतिको प्राप्त करनेवाला है, उपेक्षा कर देते हैं, किन्तु यदि वह महान् अभ्युदयकी ओर अग्रसर होता है, वर्तमान परिस्थितिमे वह चाहे भले ही अवनतिमें पड़ा हो, कभी भी उपेक्ष्य नहीं है।

उपर्युक्त भावको जयन्तविजयमें निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया है—

द्विषो न पोष्याः प्रणिपातमन्तरा निजैः पदार्थैरिति भूभृतां नयः।
न जातु तेषां तमपश्यतां भवेज्जनाद्विशेषः फणिदुग्धपायिनः ॥ ज० ९।३३

इसी प्रकार "कथाप्रसगेनजनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः", (कि० १।४) का प्रभाव "प्रमोदयामास कथाप्रबन्धैर्विशेषतः" (ज० ६।८१) पर है।

शिशुपालवध और जयन्तविजयम्

शिशुपालवधका प्रभाव भी जयन्तविजयपर परिलक्षित होता है। ऋतुवर्णन, जलक्रीड़ा, वनविहार आदि स्थल शिशुपालवधके अनुकरणपर रचे गये हैं। सरल

प्रकृतिवाली रमणियाँ नशेके कारण हास्यको विलास मनोहर, वचनोको चातुर्यपूर्ण और कटाक्षादिको रसपूर्ण बना रही है। यथा—

हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥ शि० १०।१३

जयन्तविजयमें—

हावभावसविलासविभ्रमैस्तत्र तत्र विहिताप्सरोभ्रमैः।
विश्वविस्मयरमं स यौवनैर्गीतनृत्यकलयान्वभाव्यत ॥ ज० ७।६९

शिशुपालवधमें श्रीकृष्णकी महत्ता बतलाते हुए नारदजी कहते हैं—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयातिदुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥ शि० १।३२

इस पद्यका प्रभाव निम्नांकित पद्यपर है—

उदीर्णरागां स्मितनेत्रपत्रामम्भोजिनीं सायमिव द्विरेफः।
अथैकदासौ रतिविह्वलाङ्ग. पराङ्गना प्राप च बन्धनं च ॥ ज० ६।४

कवि अभयदेवने माघके समान पदावली ग्रहण कर एक नये भावका ही नियोजन किया है। भावाभिव्यंजनकी दृष्टिसे अभयदेवका पद्य माघकी अपेक्षा अधिक सरस है।

नैषधचरितम् और जयन्तविजयम्

नैषधचरितका अध्ययन भी कविने किया है। नैषधमे राजाकी कीर्तिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार बन्ध्यासे पुत्र उत्पन्न होना, कच्छपीके दूधका होना, मूकोंका गान करना एव जन्मान्धका देखना असम्भव है, उसी प्रकार इस राजा की अकीर्तिका होना सम्भव नही। यथा—

अस्य क्षोणिपतेः परार्द्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमङ्कलयता जातेन बन्ध्योदरात्
मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधेः रोधसि ॥ नै० १२।१०६

जयन्तविजयमें विक्रमसिंहकी कीर्तिका चित्रण भी इसी प्रकार किया गया है—

यस्य क्षोणिपतेः प्रतापदहनज्वालावलीकेलिभिः
सप्ताप्यम्बुधयोऽम्बुबिन्दव इवाशोष्यन्त तेऽपि द्रुतम्।
पूर्यन्ते स्म हतारिराजकवधूनेत्राम्बुपूरैः पुनः
स श्रीप्रीतिमतीं प्रियामिव महाभोगामभुङ्क्त क्षमाम् ॥
—जय० १।७२

इस प्रकार जयन्तविजयमें भावों, पदावलियों एवं सन्दर्भोंके नियोजनसे कविका गम्भीर अध्ययन प्रकट होता है।

तिमिरसीधुरसप्रसरारुणे त्वयि मुधाजनि रागमतिभ्रमः ।
शठ मया परिरम्भपरोऽपि यद्वितनुषे रजनीमुखचुम्बनम् ॥ ।२९
इति सुरेन्द्रदिशेव रुषाहतः सितरुचिः पतितो वियदङ्गणे ।
अथ विकस्वरकोमलकौमुदीपरिमलैरवशेषदिशोऽहसन् ॥५।३०

पूर्वदिशारूपी नायिका चन्द्रमारूपी प्रियका अन्धकाररूपी वारुणीका पान करनेसे रागमतिभ्रम होनेके कारण रजनीरूपी अन्य प्रियामे आसक्त देखकर क्रुद्ध हो गयी है और उसने अपने इस प्रियतम को अन्यासक्त जानकर धक्का दे दिया है। अतएव चन्द्रमा रूपी प्रियकी इस दुर्गतिको देखकर प्रस्फुटित कौमुदी पुष्पोंकी धूलिसे ही मानो अन्य सभी दिशाएँ हँस रही हैं।

कविको पशु प्रकृतिका भी पूर्ण परिज्ञान है। उसने ऊँटकी प्रकृतिका चित्रण करते हुए लिखा है—

मुक्तद्राक्षास्तम्बजम्बूरसालो बब्बूलादिग्रामकोलाधरोष्ठः ।
उष्ट्रव्यूहोऽहासि रूपानुरूपे सत्याहारे पक्षिरावैर्वनीभिः ॥८।१०

ऊँटकी प्रकृति काँटेदार वृक्षो या कटुफलवाले वृक्षोंके खानेकी होती है। उसे अंगूरलता, जामुन और आम्र आदि मधुर फलवाले वृक्ष रुचिकर प्रतीत नही होते। अतिभारके कारण बल-बल भी ऊँट करता है, कविने ऊँटके बलबलानेका भी अनुभूत चित्रण किया है।

चरित्रचित्रण

महनीय चरित्रका रहना महाकाव्यके लिए एक आवश्यक तत्त्व है। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें चारित्र्यकी परिभाषामें बताया है—"चारित्र्य उसे कहते हैं जो किसी व्यक्तिकी रुचि-विरुचिका प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजनको व्यक्त करे।[1]" वस्तुतः व्यक्तिके सम्पूर्ण जीवनको परिचालित करनेवाला एक गत्यात्मक शक्तिस्रोत चरित्र ही है। चरित्र प्रवृत्ति और मनोरागसे अनुशासित होता है।

प्रस्तुत महाकाव्यमें अर्जुन, श्रीकृष्ण, सुभद्रा, बलराम, सात्यकि और दूत—वनपाल पात्र है। इन पात्रोंमें अर्जुन और श्रीकृष्णके चरित्रका विकास ही परिलक्षित होता है। अर्जुन नायक है और बलरामको प्रतिनायक कहा जा सकता है। अर्जुनके चरित्रमें सौन्दर्य, शील और शक्तिका समन्वय है। वे सुन्दर, प्रकृतिप्रेमी, सहृदय और पराक्रमी है। सुभद्राके सौन्दर्यको देखकर अर्जुन विह्वल हो जाते हैं। उसके बिना उन्हें जीवन नीरस प्रतीत होने लगता है। अपने मित्र श्रीकृष्णके परामर्शसे वे सुभद्राका अपहरण करते है। सात्यकिको सेनाके साथ वे पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हैं। कविने अर्जुनको सच्चा प्रेमी और सहयोगी चित्रित किया है। श्रीकृष्ण बलरामसे अर्जुनके गुणोंका चित्रण करते हुए कहते है—

---

१. अरस्तूका काव्यशास्त्र (हिन्दी अनुवाद)—हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली वि० सं० २०१४, पृ० २२।

हरः पर इवैश्वर्यें शास्त्रे गुरुरिवापरः ।
स्मरोऽन्य इव सौन्दर्यें शौर्यें किं तु स एव सः ॥१२।७९

अर्जुन ऐश्वर्यमें विष्णु, ज्ञानमें गुरु, सौन्दर्यमे कामदेव और शौर्यमें वह अपने समान अकेला हा है। "हीनः केन गुणेन सः" १३।७८ में अर्जुनके चारित्रिक गुणोंकी सुन्दर अभिव्यंजना है। बलरामकी "शौर्यधैर्यवधौ पार्थे" (१३।६९) में भी अर्जुनके धैर्य और शौर्यका पूर्ण संकेत मिलता है।

श्रीकृष्णके चरित्रमें देवत्वकी अपेक्षा मनुष्यकी प्रधानता है। अर्जुनके प्रति उनका अगाध प्रेम है। मित्रको सुखी बनानेके लिए वे लोकापवादकी भी चिन्ता नही करते। ज्येष्ठ भ्राता बलरामके व्यंग्यबाणोंका उनपर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। अर्जुनके साथ सुभद्राका विवाह करानेके लिए वे सभी सम्भव प्रयत्नोंको सम्पन्न करते हैं। उनकी उक्तियोसे बलरामका क्रोध भी शान्त हो जाता है। "कन्या कस्यापि देयैव" (१३।७८) बड़ी ही मार्मिक उक्ति है।

सुभद्राके प्रेमी रूपका भी विकास पाया जाता है। उसकी दूती विरहव्यथाका चित्रण करती हुई सुभद्राके हृदय विदीर्ण होनेकी बात कहती है। उसके प्रेमपत्रका परिचय निम्न प्रकार दिया गया है—

दृग्वारिबिन्दुभिरुरोजतटे लुठद्भिर्भिन्नाञ्जनैः करजलेखनिकागृहीतैः ।
एन कथंचन वियोगभयातुरेयं लेख्यं विलिख्य ननु मां भवतेऽन्ययुङ्क्त ॥११२६

कवि वस्तुपालने महनीय चरित्रोका उद्घाटन किया है। यद्यपि कथावस्तु अत्यल्प है, तो भी चरित्रोका विकसित रूप उपलब्ध होता है।

शैली और भाषा

महाकाव्यकी शैली उदात्त होती है। इस काव्यमें अलंकृत शैलीका प्रयोग पाया जाता है। पर यह सत्य है कि अलंकार स्वाभाविक रूपमे ही प्रयुक्त हैं। समस्यन्त पदावलियोंके कारण इसे गौडी शैलीका काव्य माना जा सकता है। प्रसंगके अनुकूल भाषामें रूपपरिवर्तनकी क्षमता पायी जाती है। भाव और परिस्थितिके अनुसार भाषा कही कोमल, कहीं मधुर और कही ओजस्विनी दिखलाई पड़ती है। नाद सौन्दर्यके साथ चित्रात्मकता भी है। भावोके अनुसार ध्वनियोंके नियोजनमें कविको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। युद्ध वर्णनमें ओजगुणपूर्ण कठोर व्यंजनोंका व्यवहार किया गया है, पर विरहकी अभिव्यंजना कवि करने लगता है तो भाषा कोमल और मधुर पदावलीसे युक्त हो जाती है। यथा—

परिशोषितदीर्घिकाजले सहसा मर्मरिताब्जसंस्तरे ।
हृदि तापिनि तस्य दिद्युते कुसुमेषोः कुसुमेषुभिः परम् ॥११।१
शरदिन्दुमुखि प्रसीद मे निगदन्तीदृशमाकुलो मुहुः ।
अधिरोपयतिस्म नीरजं दयितापाददधिया स मूर्द्धनि ॥११।३

संयोग शृंगारकी पदावलीमें कोमलता, लालित्य, सुषमा और यौवनको उद्दाम तरंगोंकी तरह विलसित होनेकी क्षमता है।

चतुर्दश सर्गमें कविने चित्रालंकारका व्यवहार किया है। इसमें एकाक्षर, द्व्यक्षर, चतुरक्षर, षडक्षर, अन्तस्थ, दन्त्य, तालव्य, ओष्ठ्य, मूर्धन्य वर्णोंका प्रयोग कर भाषा और शैलीको कलापूर्ण बनाया गया है। सशरशरासन बन्ध (१४।२), गोमूत्रिका (१४।९), मुरज (१४।११), षोडशदलकमल बन्ध (१४।१६), सर्वतोभद्र (१४।२७), कविताभांगशक्तिबन्ध (१४।३४), एवं खड्गबन्धो (१४।३७) की रचना कर कविने पूर्ण कलाबाजी प्रदर्शित की है। एकाक्षरमें मात्र लकारका प्रयोग कर अभिनव अर्थकी सृष्टि की गयी है—

लोलालोलं लुलोलेली लालो कालल्लोलल्लः।
लोललोलं लुलल्लोलोल्लोलल्लोलालल्लो लल: ॥ १४।२३

द्व्यक्षरमें ल और क (१४।१३) के, चतुरक्षर में न क त र के, षडक्षरमें श र व भ स ल (१४।२९) के, अन्तस्थमें य र ल व (१४।३३) के, अदन्त्यमे दन्त्यहीन वर्णोंके (१४।२५), तालव्यमें—इ ई, चवर्ग श और य (१४।९) के संयोगसे पद्य संघटित किये गये है। कविने संयुक्ताक्षरोका बहिष्कार कर कतिपय पद्योंमे माधुर्यका सृजन किया है।

यथा—

धीरोऽसि विश्वजयिनोऽपि मनोभवस्य नो चेद्बिभेषि ललनाकलितायुधस्य।
तत्किं कुलीन तव भीतिकृते न माति स्त्रीघातपातकमपि स्ववियोगदत्तम् ॥११।४२

उपर्युक्त पद्यमे "भीत्रार्थानां भयहेतुः" (१।४।२५) सूत्र द्वारा भय और रक्षार्थक धातुओ और शब्दोके साथ भयके कारणमें पंचमी विभक्ति होनी चाहिए थी, पर यहाँ "कर्मादीनामपि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव" (२।३।५० की वृत्ति सिद्धान्त कौमुदो) अपवाद द्वारा षष्ठी की गयी है। कविका यह व्याकरण सम्बन्धी शैथिल्य है।

रसभाव योजना

काव्यका मूलगुण है रमणीयता, उसकी चरमसिद्धि है सहृदयका मन प्रसादन और उद्दिष्ट परिणाम है चेतनाका परिष्कार। ये सब भावोके व्यापार है—भावतत्त्वके कारण ही काव्यमे रमणीयता आती है, भावतत्त्व ही सहृदयके भावोंको उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कृष्ट आनन्दमयी चेतनामें परिणत करता है और उसीके द्वारा भावोंका परिष्कार सम्भव है। जो कवि अपने हृदयकी गाँठको खोलकर संस्काररूपमें स्थित मनोवेगो और संवेदनाओको प्रकट करनेमे जितनी सफलता प्राप्त करता है, भावसम्पत्तिका विश्लेषण उतना ही सशक्त होता है। यों तो जीवनके विविध दृश्योंको सामने प्रस्तुत करनेका कार्य कल्पना ही करती है। निराकार वस्तुओं और भावोंको साकाररूप भी

कल्पनासे प्राप्त होता है। अतः भाव-सम्पत्तिका चयन करनेमें कविको तभी सफलता प्राप्त होती है, जब वह विभाव, अनुभाव और संचारियोंका यथार्थ चित्रण करता है। नरनारायणानन्द महाकाव्यमे शृंगार अंगी रस है और अंगरूपमे वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स रस आये है।

संयोग शृंगार

रूपासक्ति और शरीर आकर्षणका परिणाम है संयोग सुख। इसमें परम्परानुसार हावादिजन्य चेष्टाएँ, सुरत, विहार, सुरापान आदिका वर्णन होता है। कवि वस्तुपालने संयोगमें बहिरिन्द्रियोके सन्निकर्षको अनिवार्य रूपमें चित्रित किया है। यतः रसचेष्टा, सुरत आदिका मुख्याधार बहिरिन्द्रियसन्निकर्ष ही तो है। शृंगारकी भित्ति दर्शन, श्रवण, स्पर्श, संलाप आदिकी नीवपर खड़ी की जाती है। दर्शन, स्पर्श आदिकी प्रतिक्रियाएँ मूलतः दो रूपोमें व्यक्त हुई हैं—हावके रूपमें और अनुभावके रूपमे। हाव सचेष्ट व्यापार है और इसका सम्बन्ध क्रीड़ासे है। अनुभाव सहजानुभूतिका बहिर्विकार है और यह व्रीडापरक होता है। नरनारायणानन्दमे पार्थ सुभद्राके अंग-प्रत्यंगोंके सौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो जाता है। आर्द्रवस्त्रोके बीचसे उसका कुसुमवत् लोभनीय लावण्य उनके हृदयमे सम्भोगेच्छा उत्पन्न कर देता है। कवि कहता है—

> नीराद्रचीरान्तरदृश्यमानसर्वांगलावण्यविशेषरम्याम् ।
> पश्यन्निमां मन्मथमथ्यानमचेताश्चिरं चिन्तयतिस्म पार्थ. ॥ १०।१२

अर्जुन ताजे फूलोके समान सुभद्राके लावण्यको देखकर मदनातुर हो जाते है—

> लावण्यपूरा तपरीतदेहनिस्यन्दवत्तोयकणान्किरन्ती ।
> पार्थेन सद्यो मदनातुरेण विष्णुस्वसादौ ददृशे सुभद्रा ॥ ०।५२ ॥

षष्ठ सर्गमें संयोग शृंगारके रम्य रूप अंकित है। द्वारावतीके नवदम्पति सुरापान करते है और विभिन्न प्रकारकी सम्भोग शृंगार सम्बन्धी क्रीडाओंमे संलग्न हो जाते हैं।

वियोग शृंगार

अर्जुन और सुभद्राकी वियोगावस्थाका चित्रण कविने ग्यारहवें सर्गमे किया है। इस मार्मिक प्रसंगमें प्रेमियोंकी अनेक मानसिक अवस्थाओंका चित्रण भी हुआ है। सुभद्राका चन्द्रवत् मुख, महावररंजित कमल चरण, मादकध्वनि, अंचलमें उभार लेनेवाले उन्नत स्तन, संकोचके भारसे थोडी-सी लची हुई सोनेकी देह, बडी बड़ी आँखें, सोंधी गन्धने अर्जुनके मनको अशान्त कर रखा है। उसे चन्दन, कर्पूर, उशीर आदि शीतलता प्रदान करनेवाले पदार्थ उष्ण प्रतीत होते है। अर्जुन और सुभद्रा दोनो ही विरह पीड़ित है। कवि कहता है—

किमु चन्दनचर्चनं वृथा विहितं वक्षसि तापशान्तये ।
अमुना दयितास्मितप्रभास्मृतिबीजेन हहा हतोऽस्म्यहम् ॥ ११।११

यहाँ सुभद्रा आलम्बन है, चन्दनचर्चन, उशीर आदिका लेप उद्दीपन है। छाती या शय्यामें मुँह छिपाना अनुभाव है। स्मृति, हर्ष, लज्जा, विबोध आदि संचारी विभाव हैं। इन भावोंसे परिपुष्ट रति स्थायीभाव विप्रलम्भ शृंगारको ध्वनित करता है।

वीररस

सुभद्राहरणसे क्षुब्ध हो बलराम उत्तेजित हो जाते हैं। वे सात्यकिसे कहते हैं—

सेनामेनां समादाय गच्छ सत्त्वर-सत्त्वरम् ।
तथा कुरु यथा नार्यं जीवन् याति मलिम्लुचः ॥ १२।४१

इस सन्दर्भमें अर्जुन आलम्बन है, सुभद्राहरण उद्दीपन है, युद्धके लिए उभारना अनुभाव है, आवेग आदि संचारी है। अतः उत्साह स्थायीभाव पुष्ट होकर वीररसको ध्वनित कर रहा है।

रौद्ररस

अर्जुनके द्वारा सुभद्राहरणका समाचार अवगत कर बलरामके हृदयमें प्रतिशोध-की भावना उत्पन्न हो जाती है। अर्जुनका यह निन्द्य कार्य उन्हें अपमानजनक प्रतीत होता है। उनका समस्त शरीर क्रोधसे जलने लगता है। कवि वस्तुपालने रौद्ररसका चित्रण करते हुए लिखा है—

इत. पुरः स्फुरत्क्रूरज्यल्लोचनरोचिषा ।
दहन्निव दिवं मूर्तकोपपावककीलया ॥ १२।४६
मुखामधत्ततन्मित्रोपालम्भैरिव मारितम् ।
वेपमानं दहन्नोष्ठं ययौ सीरी हरिं प्रति ॥ १२।४८

क्रोधाभिभूत होनेसे बलरामके नेत्रोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगी। इससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो मूर्तिमान् क्रोधाग्निकी लपटोंने आकाशको जला दिया हो।

उनके पैर काँप रहे थे, क्रोधके कारण वाणी लड़खड़ा रही थी। अतएव श्रीकृष्णको उलाहना देनेके लिए चले। इस अवसरपर क्रोधके कारण उनके होंठ काँप रहे थे।

यह अर्जुन आलम्बन है, उसके द्वारा किया गया सुभद्राका अपहरण उद्दीपन है और मुखमण्डलपर लाली दौड़ना, भौंहें चढ़ाना, आँखें तरेरना, दाँत पीसना, होंठ फड़कना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, अमर्ष, उद्वेग, असूया, श्रम, आवेग आदि संचारी-भाव है। क्रोध स्थायीभाव पुष्ट होकर रौद्ररसकी व्यंजना कर रहा है।

बीभत्स

शव, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि वस्तुओंके वर्णन करनेमें कविको घृणा हो या न हो, पर पाठकोको इनके स्मरण या कल्पनासे घृणा होती है। इन पदार्थोंसे मानसिक जुगुप्सा तो होती है, पर एक विशेष प्रकारके रसका भी संचार होता है। नरनारायणानन्द महाकाव्यमें युद्ध वर्णनके प्रसंगमें इस रसकी व्यंजना हुई है। वीरोंकी लाशें युद्धभूमिमें पड़ी हैं; भूत, प्रेत, पिशाच आदि उन लाशोंसे क्रीडा कर रहे हैं। पिशाचोने रक्त लेपन कर लिया है और आँतोका हार बनाकर गलेमें पहन लिया है। शवोंके मास, चर्बी आदिका आहार कर रहे हैं। शृगाल भी रणभूमिमें मांस, रक्त, चर्बी आदिका भक्षण कर आनन्दपूर्वक विचरण कर रहे हैं।

> नवरक्तविलेपिनोऽन्त्रमालाकृतहाराश्च कुटुम्बिनः पिशाचाः।
> वशया पिशितं कपालमात्रैर्घसन्प्रेतपतेर्महोत्सवेऽस्मिन् ॥ १३।६१।
> बहुमांसमकीकसं मृतानां मृदुलाहा कृतेऽङ्गक यदापुः।
> तदपि ध्रुवमाहरन् शृगाल्यो व्यथितास्या घनमग्रभल्लशल्यम् ॥ १३।६२

इस प्रकार रस-भाव-सामग्रीका संयोजन इस काव्यमें हुआ है। रसके मूल भाव है और भाव मनके विकार होते है। राग, द्वेष, सुख, दुःखरूप भावोके साथ भय, क्रोध, विस्मय, रतिरूप मनोवेगोंका भी समावेश हुआ है।

अलंकार योजना

जिस प्रकार सजीव, स्वस्थ और सुन्दर शरीरपर ही आभूषणोका प्रयोग उचित मालूम होता है, उसी प्रकार सरस काव्यमें ही अलंकार अपना महत्त्व उपस्थित करते हैं। मम्मटने अपने काव्यप्रकाशमें लिखा है—"यत्र तु नास्ति रसः तत्र उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायित."[१]—नीरस काव्यमें अलंकार प्रयोगका दूसरा नाम उक्तिवैचित्र्यमात्र है। काव्यसौन्दर्य शरीर सौन्दर्यकी अपेक्षा अधिक संवेदनशील है। यतः 'रकार' का अनुप्रास विप्रलम्भ शृंगारके लिए उपकारक है, तो 'टकार' का अनुप्रास अनुपकारक। वस्तुत काव्यके सौन्दर्यविधायक तत्त्वोमें अलंकारका स्थान महत्त्वपूर्ण है। अलंकार काव्यमें कल्पनाको उद्दीप्त करते हैं। कवि व्यापार कल्पना और भावनाके क्षेत्रमें विभक्त है।

उपमा

अलंकारोमें उपमाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अप्पयदीक्षितने चित्रमीमांसामें लिखा है—

---

[१] काव्यप्रकाश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥
—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ० ५ ।

वस्तुतः किसी वस्तुकी रूप-गुण सम्बन्धी विशेषता स्पष्ट करनेके लिए किसी परिचित उपमानका प्रयोग किया जाता है। कवि वस्तुपालने परम्पराभुक्त उपमानोंके साथ कतिपय नवीन उपमानोंका व्यवहार भी किया है।

(१) अग्नि-द्वीप-कज्जलादि

१. अंगदग्धानीव १२।२०—तीव्र तपसे जले हुए अंगोंके समान।

२ कज्जलेनेव नील· ८।१३—काजलके समान नीला अन्धकार। अन्धकार अरूपी पदार्थ है अथवा सूक्ष्म रूपवान्। इसका मूर्तिमान् रूप काजलके उपमान द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

३. कज्जलमञ्जरीव १०।४५—सुभद्राकी रोमावलीका चित्रण करते हुए बताया है कि वह काचनके मणिदीपसे निकली हुई कज्जलमजरीके समान थी।

४. कृशानुनेत्रम् ७।३६—नेत्रोंके प्रकाशको अभिव्यक्त करनेके लिए उन्हें अग्निके समान तेजस्वी कहा गया है। किसी आवेशके आनेपर नेत्रोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगती है। यह उपमान उक्त स्थितिको व्यजना करता है।

५. तिमिरायतैः मधुपैः ४।८—भ्रमरोकी सघनता और कालिमाकी व्यंजना अन्धकारके समान कहकर की गयी है।

(२) अस्त्र-शस्त्र

६. चापयष्टिमिव ९।१४—मणिमय झूलेके चित्रण प्रसंगमें बताया गया है कि झूलेके हिलनेके कारण मणि-रश्मियाँ धनुषकी यष्टिके समान प्रतीत होती हैं।

७. धनुषीव स्त्रीजने ९।२—पुष्पावचयके अवसरपर स्त्रीजन धनुषके समान प्रतीत होती थी। अर्द्धवृत्ताकार होकर नारियाँ पुष्प चयन कर रही थीं, अतएव वे धनुषीके समान दिखलाई पड रही थी।

८. पिकवचः कवचः ४।६—ऋतुवर्णन करते हुए कहा गया है कि कोयल की कूक कवचके समान थी।

९. भल्लैरिव रक्तचन्द्रैः ७।३२—चन्द्रमाकी रक्त किरणोंको भालेके समान कहा गया है।

(३) आकृति-सौन्दर्य

१०. मूर्त इव रौद्रो रसो १।३६—मूर्तरूप धारण किये हुए रौद्र रसके समान राजा प्रतीत होता था।

११. लावण्यमिवावभाति १०।४८—चूते हुए लावण्यके समान सुभद्राका जंघा-युगल था।

१२. विश्वजेतुर्यश इव ३।३८—विश्वविजेताके यशके समान भ्रमरोंका गान प्रतीत होता था।

(४) आभूषण

१३. हारस्रगिवाट्टपङ्क्ति १।१०—द्वारकाके बाजार मुक्तामालाके समान एक श्रेणीमें सुशोभित होते थे।

१४ हिरण्यताडङ्कपत्रमिव ७।२२—सूर्य पूर्वदिशा रूपी नायिकाके स्वर्णमय कर्णफूलके समान प्रतीत होता था।

(५) गृह, उपकरण एवं दुर्गादि

१५. घट इव १५।२१—नायिकाके स्तनोका वर्णन करते हुए उन्हें घटके समान कहा गया है।

१६. दुर्गभूमीव १।१—द्वारका नगरी सूर्यके लिए दुर्गभूमिके समान थी।

१७. नौरिव ९।१७—झूलेका चित्रण करते हुए कहा गया है कि वह प्रेम और विलासरूपी समुद्रको पार करनेके लिए नौकाके समान है।

१८. पुष्पप्रवालप्रथितेव शय्या १०।८६—सुभद्राके अधरोंकी शोभा प्रवाल-पुष्प-से निर्मित शय्याके समान थी।

१९. शिखरिदुर्गरुचौ कुचौ ४।२२—दुर्गके शिखरकी कान्तिके समान स्तन।

(६) ग्रह-नक्षत्र

२०. इन्दो. कलङ्कमिव १।४—द्वारकाके उत्तुग चैत्योपर लगो हुई पताकाएँ आकाशगगाका स्पर्श करती थी, जिससे ऐसा आभासित होता था कि वे पताकाएँ चन्द्रमाके कलंकका ही परिमार्जन कर रही है।

२१. ऐणाङ्कसमानमाननम् ११।२७—सुभद्राका कज्जलयुक्त मुख सकलंक चन्द्रमा-के समान था।

२२. धर्मधामघटिते इव २।१२—सूर्यके समान सभा शोभित थी।

२३. राजीवजीवनरवि· १६।४—कमलरूपी प्रजाको विकसित—उन्नत करने-के लिए सूर्यके समान मन्त्री प्रतीत होता था।

२४ शरदिन्दुमुखी ११।३—शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मुखवाली सुभद्रा।

२५. सुधाकिरणकल्पिते इव २।१२—चन्द्रमाके समान वह निर्मल।

(७) दिव्यपदार्थ कामदेव, अमृतादि

२६. कर्णसुधोर्मिसेकं ११।४३—कानोंके लिए अमृतलहरोंके समान सुखदायक वचन।

तिमिरसीधुरसप्रसरारुणे त्वयि मुधाऽजनि रागिमतिभ्रमः ।
शठ मया परिरम्भपरोऽपि यद्वितनुषे रजनीमुखचुम्बनम् ॥ ।२९
इति सुरेन्द्रदिशेव रुषाहतः सितरुचिः पतितो वियदङ्गणे ।
अथ विकस्वरकोमलकौमुदीपरिमलैरवशेषदिशोऽहसन् ॥५।३०

पूर्वदिशारूपी नायिका चन्द्रमारूपी प्रियको अन्धकाररूपी वारुणीका पान करनेसे रागमतिभ्रम होनेके कारण रजनीरूपी अन्य प्रियामें आसक्त देखकर क्रुद्ध हो गयी है और उसने अपने इस प्रियतम को अन्यासक्त जानकर धक्का दे दिया है। अतएव चन्द्रमा रूपी प्रियकी इस दुर्गतिको देखकर प्रस्फुटित कौमुदी पुष्पोंकी धूलिसे ही मानो अन्य सभी दिशाएँ हँस रही है।

कविको पशु प्रकृतिका भी पूर्ण परिज्ञान है। उसने ऊँटकी प्रकृतिका चित्रण करते हुए लिखा है—

मुक्तद्राक्षास्तब्धजम्बूरसालो बब्बूलादिग्रासकोकाधरोष्ठः ।
उष्ट्रव्यूहोऽहासि रूपानुरूपे सत्याहारे पक्षिरावैर्वनीभिः ॥८।१०

ऊँटकी प्रकृति काँटेदार वृक्षो या कटुफलवाले वृक्षोंके खानेकी होती है। उसे अगूरलता, जामुन और आम्र आदि मधुर फलवाले वृक्ष रुचिकर प्रतीत नही होते। अतिभारके कारण बल-बल भी ऊँट करता है, कविने ऊँटके बलबलानेका भी अनुभूत चित्रण किया है।

चरित्रचित्रण

महनीय चरित्रका रहना महाकाव्यके लिए एक आवश्यक तत्त्व है। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें चारित्र्यकी परिभाषामें बताया है—"चारित्र्य उसे कहते हैं जो किसी व्यक्तिकी रुचि-विरुचिका प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजनको व्यक्त करे।"[1] वस्तुत. व्यक्तिके सम्पूर्ण जीवनको परिचालित करनेवाला एक गत्यात्मक शक्तिस्रोत चरित्र ही है। चरित्र प्रवृत्ति और मनोरागसे अनुशासित होता है।

प्रस्तुत महाकाव्यमें अर्जुन, श्रीकृष्ण, सुभद्रा, बलराम, सात्यकि और दूत—वनपाल पात्र है। इन पात्रोंमें अर्जुन और श्रीकृष्णके चरित्रका विकास ही परिलक्षित होता है। अर्जुन नायक हैं और बलरामको प्रतिनायक कहा जा सकता है। अर्जुनके चरित्रमें सौन्दर्य, शील और शक्तिका समन्वय है। वे सुन्दर, प्रकृतिप्रेमी, सहृदय और पराक्रमी है। सुभद्राके सौन्दर्यको देखकर अर्जुन विह्वल हो जाते हैं। उसके बिना उन्हें जीवन नीरस प्रतीत होने लगता है। अपने मित्र श्रीकृष्णके परामर्शसे वे सुभद्राका अपहरण करते हैं। सात्यकिकी सेनाके साथ वे पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हैं। कविने अर्जुनको सच्चा प्रेमी और सहयोगी चित्रित किया है। श्रीकृष्ण बलरामसे अर्जुनके गुणोंका चित्रण करते हुए कहते हैं—

---

१. अरस्तूका काव्यशास्त्र (हिन्दी अनुवाद)—हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली वि० सं० २०१४, पृ० २२।

हरः पर इवैश्वर्ये शास्त्रे गुरुरिवापरः ।
स्मरोऽन्य इव सौन्दर्ये शौर्ये किं तु स एव सः ॥१२।७९

अर्जुन ऐश्वर्यमें विष्णु, ज्ञानमे गुरु, सौन्दर्यमे कामदेव और शौर्यमें वह अपने समान अकेला हा है। "होनः केन गुणेन स·" १३।७८ में अर्जुनके चारित्रिक गुणोंकी सुन्दर अभिव्यंजना है। बलरामकी "शौर्यधैर्यवधो पार्थे" (१३।६९) में भी अर्जुनके धैर्य और शौर्यका पूर्ण संकेत मिलता है।

श्रीकृष्णके चरित्रमें देवत्वकी अपेक्षा मनुष्यकी प्रधानता है। अर्जुनके प्रति उनका अगाध प्रेम है। मित्रको सुखी बनानेके लिए वे लोकापवादकी भी चिन्ता नही करते। ज्येष्ठ भ्राता बलरामके व्यंग्यबाणोंका उनपर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। अर्जुनके साथ सुभद्राका विवाह करानेके लिए वे सभी सम्भव प्रयत्नोको सम्पन्न करते हैं। उनकी उक्तियोसे बलरामका क्रोध भी शान्त हो जाता है। "कन्या कस्यापि देयैव" (१३।७८) बडी ही मार्मिक उक्ति है।

सुभद्राके प्रेमी रूपका भी विकास पाया जाता है। उसकी दूती विरहव्यथाका चित्रण करती हुई सुभद्राके हृदय विदीर्ण होनेकी बात कहती है। उसके प्रेमपत्रका परिचय निम्न प्रकार दिया गया है—

दृग्वारिबिन्दुभिरुरोजतटे लुठद्भिर्भिन्नाञ्जनैः करजलेखनिकागृहीतैः ।
एन कथंचन वियोगभयातुरेयं लेख्यं विलिख्य ननु मां भवतेऽन्ययुङ्क्त ॥१।३६

कवि वस्तुपालने महनीय चरित्रोका उद्घाटन किया है। यद्यपि कथावस्तु अत्यल्प है, तो भी चरित्रोंका विकसित रूप उपलब्ध होता है।

शैली और भाषा

महाकाव्यकी शैली उदात्त होती है। इस काव्यमें अलंकृत शैलीका प्रयोग पाया जाता है। पर यह सत्य है कि अलंकार स्वाभाविक रूपमें ही प्रयुक्त हैं। समस्यन्त पदावलियोके कारण इसे गौडी शैलीका काव्य माना जा सकता है। प्रसंगके अनुकूल भाषामे रूपपरिवर्तनकी क्षमता पायी जाती है। भाव और परिस्थितिके अनुसार भाषा कही कोमल, कही मधुर और कही ओजस्विनी दिखलाई पडती है। नाद सौन्दर्यके साथ चित्रात्मकता भी है। भावोके अनुसार ध्वनियोंके नियोजनमे कविको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। युद्ध वर्णनमें ओजगुणपूर्ण कठोर व्यंजनोंका व्यवहार किया गया है, पर विरहकी अभिव्यंजना कवि करने लगता है तो भाषा कोमल और मधुर पदावलीसे युक्त हो जाती है। यथा—

परिशोषितदीर्घिकाजले सहसा मर्मरिताब्जसंस्तरे ।
हृदि तापिनि तस्य दिद्युते कुसुमेषोः कुसुमेषुभिः परम् ॥११।२
शरदिन्दुमुखि प्रसीद मे निगदन्तीदृशमाकुलो मुहुः ।
अधिरोपयतिस्म नीरजं दयितापादधिया स मूर्द्धनि ॥११।३

संयोग शृंगारकी पदावलीमे कोमलता, लालित्य, सुषमा और यौवनको उद्दाम तरंगोंकी तरह विलसित होनेकी क्षमता है।

चतुर्दश सर्गमें कविने चित्रालंकारका व्यवहार किया है। इसमें एकाक्षर, द्व्यक्षर, चतुरक्षर, षडक्षर, अन्तस्थ, दन्त्य, तालव्य, ओष्ठ्य, मूर्धन्य वर्णोंका प्रयोग कर भाषा और शैलीको कलापूर्ण बनाया गया है। सशरशरासन बन्ध (१४।२), गोमूत्रिका (१४।९), मुरज (१४।११), षोडशदलकमल बन्ध (१४।१६), सर्वतोभद्र (१४।२७), कविताभागशक्तिबन्ध (१४।३४), एवं खड्गबन्धों (१४।३७) की रचना कर कविने पूर्ण कलाबाजी प्रदर्शित की हैं। एकाक्षरमे मात्र लकारका प्रयोग कर अभिनव अर्थकी सृष्टि की गयी है—

लोलालोल लुलोलेलो लाली कालल्ललोल्ललः ।
लोलल्लालं लुलल्लोलोलोल्लालल्लोलाललो ललः ॥ १४।२३

द्व्यक्षरमे ल और क (१४।१३) के, चतुरक्षर में न क त र के, षडक्षरमें श र व भ स ल (१४।२९) के, अन्तस्थमे य र ल व (१४।३३) के, अदन्त्यमे दन्त्यहीन वर्णोंके (१४।२५), तालव्यमें—इ ई, चवर्ग श और य (१४।९) के संयोगसे पद्य संघटित किये गये है। कविने संयुक्ताक्षरोका बहिष्कार कर कतिपय पद्योमे माधुर्यका सृजन किया है।

यथा—

धीरोऽसि विश्वजयिनोऽपि मनोभवस्य नो चेद्बिभेषि ललनाकलितायुधस्य।
तत्किं कुलीन तव भीतिकृते न भाति स्त्रीघातपातकमपि स्ववियोगदत्तम् ॥११।४२

उपर्युक्त पद्यमे "भीत्रार्थाना भयहेतुः" (१।४।२५) सूत्र द्वारा भय और रक्षार्थक धातुओ और शब्दोके साथ भयके कारणमे पंचमी विभक्ति होनी चाहिए थी, पर यहाँ "कर्मादीनामपि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव" (२।३।५० की वृत्ति सिद्धान्त कौमुदी) अपवाद द्वारा षष्ठी की गयी है। कविका यह व्याकरण सम्बन्धी शैथिल्य है।

रसभाव योजना

काव्यका मूलगुण है रमणीयता, उसकी चरमसिद्धि है सहृदयका मन:प्रसादन और उद्दिष्ट परिणाम है चेतनाका परिष्कार। ये सब भावोके व्यापार हैं—भावतत्त्वके कारण ही काव्यमें रमणीयता आती है, भावतत्त्व ही सहृदयके भावोको उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कृष्ट आनन्दमयी चेतनामें परिणत करता है और उसीके द्वारा भावोका परिष्कार सम्भव है। जो कवि अपने हृदयकी गाँठको खोलकर संस्काररूपमे स्थित मनोवेगो और संवेदनाओको प्रकट करनेमें जितनी सफलता प्राप्त करता है, भावसम्पत्तिका विश्लेषण उतना ही सशक्त होता है। यों तो जीवनके विविध दृश्योंको सामने प्रस्तुत करनेका कार्य कल्पना ही करती है। निराकार वस्तुओं और भावोंको साकाररूप भी

कल्पनासे प्राप्त होता है। अतः भाव-सम्पत्तिका चयन करनेमें कविको तभी सफलता प्राप्त होती है, जब वह विभाव, अनुभाव और संचारियोंका यथार्थ चित्रण करता है। नरनारायणानन्द महाकाव्यमे शृंगार अंगी रस है और अंगरूपमें वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स रस आये है।

संयोग शृंगार

रूपासक्ति और शरीर आकर्षणका परिणाम है संयोग सुख। इसमें परम्परानुसार हावादिजन्य चेष्टाएँ, सुरत, विहार, सुरापान आदिका वर्णन होता है। कवि वस्तुपालने संयोगमें बहिरिन्द्रियोके सन्निकर्षको अनिवार्य रूपमें चित्रित किया है। यतः रसचेष्टा, सुरत आदिका मुख्याधार बहिरिन्द्रियसन्निकर्ष ही तो है। शृंगारकी भित्ति दर्शन, श्रवण, स्पर्श, संलाप आदिकी नीवपर खड़ी की जाती है। दर्शन, स्पर्श आदिकी प्रतिक्रियाएँ मूलतः दो रूपोमें व्यक्त हुई हैं—हावके रूपमें और अनुभावके रूपमें। हाव सचेष्ट व्यापार है और इसका सम्बन्ध क्रीड़ासे है। अनुभाव सहजानुभूतिका बहिर्विकार है और यह व्रीडापरक होता है। नरनारायणानन्दमें पार्थ सुभद्राके अंग-प्रत्यगोंक सौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो जाता है। आर्द्रवस्त्रोके बीचसे उसका कुसुमवत् लोभनीय लावण्य उनके हृदयमें सम्भोगेच्छा उत्पन्न कर देता है। कवि कहता है—

नीरार्द्रचीरान्तरदृश्यमानसर्वांगलावण्यविशेषरम्याम् ।
पश्यन्निमां मन्मथमथ्यानमचेताश्चिरं चिन्तयतिस्म पार्थः ॥ १०।१५

अर्जुन ताजे फूलोके समान सुभद्राके लावण्यको देखकर मदनातुर हो जाते है—

लावण्यपूरातपरीतदेहनिस्यन्दवत्तोयकणान्किरन्ती ।
पार्थेन सद्यो मदनातुरेण विष्णुस्वसादौ ददृशे सुभद्रा ॥ ०।५२ ॥

षष्ठ सर्गमें संयोग शृंगारके रम्य रूप अंकित है। द्वारावतीके नवदम्पति सुरापान करते है और विभिन्न प्रकारकी सम्भोग शृंगार सम्बन्धी क्रीड़ाओमे संलग्न हो जाते हैं।

वियोग शृंगार

अर्जुन और सुभद्राकी वियोगावस्थाका चित्रण कविने ग्यारहवें सर्गमे किया है। इस मार्मिक प्रसंगमें प्रेमियोकी अनेक मानसिक अवस्थाओंका चित्रण भी हुआ है। सुभद्राका चन्द्रवत् मुख, महावररंजित कमल चरण, मादकध्वनि, अंचलमें उभार लेनेवाले उन्नत स्तन, संकोचके भारसे थोड़ी-सी लची हुई सोनेकी देह, बड़ी बड़ी आँखें, सोंधी गन्धने अर्जुनके मनको अशान्त कर रखा है। उसे चन्दन, कर्पूर, उशीर आदि शीतलता प्रदान करनेवाले पदार्थ उष्ण प्रतीत होते है। अर्जुन और सुभद्रा दोनो ही विरह पीड़ित है। कवि कहता है—

किमु चन्दनचर्पनं वृथा विहितं वक्षसि तापशान्तये ।
अमुना दयितास्मितप्रभास्मृतिबीजेन हहा हतोऽस्म्यहम् ॥ ११।११

यहाँ सुभद्रा आलम्बन है, चन्दनचर्चन, उशीर आदिका लेप उद्दीपन है। छाती या शय्यामें मुँह छिपाना अनुभाव है। स्मृति, हर्ष, लज्जा, विबोध आदि संचारी विभाव है। इन भावोंसे परिपुष्ट रति स्थायीभाव विप्रलम्भ शृंगारको ध्वनित करता है।

वीररस

सुभद्राहरणसे क्षुब्ध हो बलराम उत्तेजित हो जाते हैं। वे सात्यकिसे कहते हैं—

सेनामेनां समादाय गच्छ सत्वरत्व-सत्वरम् ।
तथा कुरु यथा नायं जीवन् याति मलिम्लुचः ॥ १२।४१

इस सन्दर्भमें अर्जुन आलम्बन है, सुभद्राहरण उद्दीपन है, युद्धके लिए उभारना अनुभाव है, आवेग आदि संचारी है। अत. उत्साह स्थायीभाव पुष्ट होकर वीररसको ध्वनित कर रहा है।

रौद्ररस

अर्जुनके द्वारा सुभद्राहरणका समाचार अवगत कर बलरामके हृदयमें प्रतिशोधकी भावना उत्पन्न हो जाती है। अर्जुनका यह निन्द्य कार्य उन्हें अपमानजनक प्रतीत होता है। उनका समस्त शरीर क्रोधसे जलने लगता है। कवि वस्तुपालने रौद्ररसका चित्रण करते हुए लिखा है—

हृतः पुरः स्फुरत्क्रूररज्यल्लोचनरोचिषा ।
दहन्निव दिवं मूर्तकोपपावककोलया ॥ १२।४६
मुखाग्रधृततन्मित्रोपालम्भैरिव मारितम् ।
वेपमान दहन्नोष्ठं ययौ सीरी हरिं प्रति ॥ १२।४८

क्रोधाभिभूत होनेसे बलरामके नेत्रोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगी। इससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो मूर्तिमान् क्रोधाग्निकी लपटोंने आकाशको जला दिया हो।

उनके पैर काँप रहे थे, क्रोधके कारण वाणी लड़खड़ा रही थी। अतएव श्रीकृष्णको उलाहना देनेके लिए चले। इस अवसरपर क्रोधके कारण उनके होंठ काँप रहे थे।

यह अर्जुन आलम्बन है; उसके द्वारा किया गया सुभद्राका अपहरण उद्दीपन है और मुखमण्डलपर लाली दौड़ना, भौंहें चढाना, आँखें तरेरना, दाँत पीसना, होंठ फड़कना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, अमर्ष, उद्वेग, असूया, श्रम, आवेग आदि संचारीभाव हैं। क्रोध स्थायीभाव पुष्ट होकर रौद्ररसकी व्यंजना कर रहा है।

बीभत्स

शव, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि वस्तुओंके वर्णन करनेमें कविको घृणा हो या न हो, पर पाठकोंको इनके स्मरण या कल्पनासे घृणा होती है। इन पदार्थोंसे मानसिक जुगुप्सा तो होती है, पर एक विशेष प्रकारके रसका भी संचार होता है। नरनारायणानन्द महाकाव्यमें युद्ध वर्णनके प्रसंगमें इस रसकी व्यंजना हुई है। वीरोंकी लाशें युद्धभूमिमें पडी हैं; भूत, प्रेत, पिशाच आदि उन लाशोंसे क्रीड़ा कर रहे है। पिशाचोने रक्त लेपन कर लिया है और आँतोका हार बनाकर गलेमें पहन लिया है। शवोंके मांस, चर्बी आदिका आहार कर रहे है। शृगाल भी रणभूमिमें मांस, रक्त, चर्बी आदिका भक्षण कर आनन्दपूर्वक विचरण कर रहे हैं।

नवरक्तविलेपिनोऽन्त्रमालाकृतहाराश्च कुटुम्बिनः पिशाचाः।
वशया पिशितं कपालमात्रैरघसन्प्रेतपतेर्महोत्सवेऽस्मिन् ॥ १३।६१
बहुमांसमकीकसं मृतानां मृदुलाहा कृतेऽङ्कक यदापुः।
तदपि ध्रुवमाहरन् शृगाल्यो व्यथितास्या घनमग्नभल्लशल्यम् ॥ १३।६२

इस प्रकार रस-भाव-सामग्रीका संयोजन इस काव्यमें हुआ है। रसके मूल भाव है और भाव मनके विकार होते है। राग, द्वेष, सुख, दु खरूप भावोंके साथ भय, क्रोध, विस्मय, रतिरूप मनोवेगोका भी समावेश हुआ है।

अलंकार योजना

जिस प्रकार सजीव, स्वस्थ और सुन्दर शरीरपर ही आभूषणोका प्रयोग उचित मालूम होता है, उसी प्रकार सरस काव्यमें ही अलंकार अपना महत्त्व उपस्थित करते हैं। मम्मटने अपने काव्यप्रकाशमें लिखा है—"यत्र तु नास्ति रसः तत्र उक्तिवैचित्र्यमात्र-पर्यवसायिन."[1]—नीरस काव्यमे अलकार प्रयोगका दूसरा नाम उक्तिवैचित्र्यमात्र है। काव्यसौन्दर्य शरीर सौन्दर्यकी अपेक्षा अधिक संवेदनशील है। यत. 'रकार' का अनुप्रास विप्रलम्भ शृंगारके लिए उपकारक है, तो 'टकार' का अनुप्रास अनुपकारक। वस्तुत काव्यके सौन्दर्यविधायक तत्त्वोमें अलंकारका स्थान महत्त्वपूर्ण है। अलंकार काव्यमे कल्पनाको उद्दीप्त करते हैं। कवि व्यापार कल्पना और भावनाके क्षेत्रमें विभक्त है।

उपमा

अलंकारोमे उपमाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अप्पयदीक्षितने चित्रमीमांसामे लिखा है—

---

[1] काव्यप्रकाश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ० ५ ।

वस्तुतः किसी वस्तुकी रूप-गुण सम्बन्धी विशेषता स्पष्ट करनेके लिए किसी परिचित उपमानका प्रयोग किया जाता है। कवि वस्तुपालने परम्पराभुक्त उपमानोंके साथ कतिपय नवीन उपमानोंका व्यवहार भी किया है।

(१) अग्नि-द्वीप-कज्जलादि

१. अंगदग्धानीव १२।२०—तीव्र तपसे जले हुए अंगोंके समान।

२. कज्जलेनेव नील' ८।१३—काजलके समान नीला अन्धकार। अन्धकार अरूपी पदार्थ है अथवा सूक्ष्म रूपवान्। इसका मूर्तिमान् रूप काजलके उपमान द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

३. कज्जलमञ्जरीव १०।४५—सुभद्राकी रोमावलीका चित्रण करते हुए बताया है कि वह कांचनके मणिदीपसे निकली हुई कज्जलमजरीके समान थी।

४. कृशानुनेत्रम् ७।३६—नेत्रोंके प्रकाशको अभिव्यक्त करनेके लिए उन्हें अग्निके समान तेजस्वी कहा गया है। किसी आवेशके आनेपर नेत्रोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। यह उपमान उक्त स्थितिकी व्यजना करता है।

५. तिमिरायतै मधुपैः ४।८—भ्रमरोंकी सघनता और कालिमाकी व्यंजना अन्धकारके समान कहकर की गयी है।

(२) अस्त्र-शस्त्र

६ चापयष्टिमिव ९।१४—मणिमय झूलेके चित्रण प्रसंगमें बताया गया है कि झूलेके हिलनेके कारण मणि-रश्मियाँ धनुषकी यष्टिके समान प्रतीत होती हैं।

७. धनुर्षीव स्त्रीजने ९।२—पुष्पावचयके अवसरपर स्त्रीजन धनुषके समान प्रतीत होती थी। अर्द्धवृत्ताकार होकर नारियाँ पुष्प चयन कर रही थी, अतएव वे धनुषीके समान दिखलाई पड़ रही थी।

८. पिकवचः कवचः ४।६—ऋतुवर्णन करते हुए कहा गया है कि कोयल की कूक कवचके समान थी।

९. भल्लैरिव रक्तचन्द्रैः ७।३२—चन्द्रमाकी रक्त किरणोंको भालेके समान कहा गया है।

(३) आकृति-सौन्दर्य

१०. मूर्त इव रौद्रो रसो १।३६—मूर्तरूप धारण किये हुए रौद्र रसके समान राजा प्रतीत होता था।

११. लावण्यमिवावभाति १०।४८—चूते हुए लावण्यके समान सुभद्राका जंघा-युगल था।

१२. विश्वजेतुर्यश इव ३।३८—विश्वविजेताके यशके समान भ्रमरोंका गान प्रतीत होता था।

(४) आभूषण

१३. हारस्रगिवाट्टपङ्क्ति १।१०—द्वारकाके बाजार मुक्तामालाके समान एक श्रेणीमें सुशोभित होते थे।

१४ हिरण्यताडङ्कपत्रमिव ७।२२—सूर्य पूर्वदिशा रूपी नायिकाके स्वर्णमय कर्णफूलके समान प्रतीत होता था।

(५) गृह, उपकरण एवं दुर्गादि

१५. घट इव १५।२१—नायिकाके स्तनोंका वर्णन करते हुए उन्हें घटके समान कहा गया है।

१६. दुर्गभूमीव १।१—द्वारका नगरी सूर्यके लिए दुर्गभूमिके समान थी।

१७. नौरिव ९।१७—झूलेका चित्रण करते हुए कहा गया है कि वह प्रेम और विलासरूपी समुद्रको पार करनेके लिए नौकाके समान है।

१८. पुष्पप्रवालप्रथितेव शय्या १०।८६—सुभद्राके अधरोकी शोभा प्रवाल-पुष्पसे निर्मित शय्याके समान थी।

१९. शिखरिदुर्गरुचौ कुचौ ४।२२—दुर्गके शिखरकी कान्तिके समान स्तन।

(६) ग्रह-नक्षत्र

२०. इन्दोः कलङ्कमिव १।४—द्वारकाके उत्तुग चैत्योपर लगी हुई पताकाएँ आकाशगंगाका स्पर्श करती थी, जिससे ऐसा आभासित होता था कि वे पताकाएँ चन्द्रमाके कलंकका ही परिमार्जन कर रही है।

२१. ऐणाङ्कसमानमाननम् ११।२७—सुभद्राका कज्जलयुक्त मुख सकलंक चन्द्रमाके समान था।

२२. धर्मधामघटिते इव २।१२—सूर्यके समान सभा शोभित थी।

२३. राजीवजीवनरवि. १६।४—कमलरूपी प्रजाको विकसित—उन्नत करनेके लिए सूर्यके समान मन्त्री प्रतीत होता था।

२४ शरदिन्दुमुखी ११।३—शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मुखवाली सुभद्रा।

२५. सुधाकिरणकल्पिते इव २।१२—चन्द्रमाके समान वह निर्मल।

(७) दिव्यपदार्थ कामदेव, अमृतादि

२६ कर्णसुधोर्मिसेकं ११।४३—कानोके लिए अमृतलहरोंके समान सुखदायक वचन।

२७. कामचापकुटिलासु तरुमञ्जरीकासु ९।४—कामदेवकी कुटिल धनुष-मंजरियोंके समान तरुमंजरियाँ मालूम पड़ती थी।

२८. कामस्य लीला खुरलीगृहाभः १०।४७—कामदेवके बाणाभ्यासगृहके समान सुभद्राके जघनस्थल थे।

२९. त्रिपथगामिव कीर्तिः १६।१४—गंगाके समान पवित्र कीर्ति।

३०. मन्मथस्येव सर्पो १५।२१—सुभद्राकी वेणी कामदेवके सर्पके समान शोभित थी।

३१. मदनावनीशवरवीर इव भ्रमरध्वनिः ४।६—संयमियोंके संयमको वसन्तमें भंग करनेके लिए भ्रमरध्वनि कामदेवरूपी नृपतिके योद्धाओंके समान।

३२. मदनाग्नेयक बाणकल्पया सुभद्रया ११।१—कामदेवके अग्निबाणके समान काचन वर्णकी सुभद्रा।

३३. वक्रगलग्रहयन्त्रवत् ४।९—वक्र गलेमें पड़े पाशेके समान नवकिंशुक पुष्प।

३४. शक्रपुरीव १।१—अमरपुरीके समान—द्वारावती थी।

३५.सुधाधुनीनामिव १।२– अमृतके समान—द्वारकाके चारों ओर व्याप्त समुद्र चाँदनीके संयोगसे उस प्रकार नृत्य करने लगता था, जिस प्रकार भवनोंमें जटित चन्द्रकान्तमणियोसे चन्द्रमाका संयोग प्राप्त होते ही जलका क्षरण होने लगता है।

३६ स्वकुलनन्दनकल्पशाखी १६।५—वह पुत्र अपने कुलरूपी नन्दनवनके लिए कल्पवृक्षके समान था।

(८) धर्मात्मा व्यक्ति एवं सुकृतादि

३७. गुरुरेव १०।४६—सुभद्राके नख-शिख सौन्दर्य चित्रणमें कविने उसके नितम्बोको कामदेवके गुरुके समान कहा है। साधक और ज्ञानी, गुरु उच्चगुणोके कारण पूज्य होता है, सुभद्राके नितम्ब भी कामदेवके द्वारा इसी प्रकार पूज्य थे।

३८. राघवस्येव ८।१४—प्रकृतिकी रमणीयताके कारण कुछ शाश्वत दृश्य ऐसे थे, जो रामके तेजके समान सर्वदा एक ही रूपमें परिलक्षित होते थे। इसे पौराणिक उपमान भी माना जा सकता है।

३९. राम इव २।१९—श्रीकृष्ण सभामें शील, शक्ति और सौन्दर्यसे रामके समान शोभित थे।

४०. सुकृतार्णववीचिका इव ५।३३—चन्द्रकिरणें शीतलता और सुख प्रदान करनेके कारण पुण्यरूपी समुद्रकी लहरोंके समान सुशोभित थी।

४१. सुकृत इव १५।१६—वैवाहिक पुण्यके मूर्तिमान् रूपके समान अर्जुन सुशोभित हो रहे थे।

(९) नर-नारी, सेवक-सेविका एवं अन्य सम्बन्धी

४२. अङ्गनीभिरिव २।१६—श्रीकृष्णकी सभामें सर्व दिग्विजयश्री रमणियोंके समान सुशोभित थी।

४३. पथिकैरिव २।४—पथिकके समान अधिक किरणोंसे भूरे रंगकी कान्तिसे व्याप्त।

४४. पितेव १।३८—वह पिताके समान प्रजाका रक्षक था।

४५. प्रिय सखा इव ३ ४०—दम्पतियोके प्रिय मित्रके समान वृक्ष सुशोभित थे।

४६. प्रिय इवाधिकरागधरो रविः ५।१—प्रियके समान अधिक राग धारण करनेवाला सूर्य।

४७. प्रवरधीवरधीः मदनः ४।९—प्रवर धीवरके समान बुद्धिवाला मदन। जिस प्रकार धीवर—जलजन्तुओको जालमें फसानेके लिए निरन्तर प्रयत्न करता है, उसी प्रकार कामदेव भी नर-नारियोको फसानेका यत्न करता है।

४८. सखीव १०।५६—ललित ऊर्मियोरूपी हाथोके द्वारा सखिके समान समुद्रने अपनी क्रियाएँ प्रदर्शित की।

४९. दासीव मृतिः १२।७२—दासीके समान वशमे रहनेवाली मृत्यु।

५० द्वारदेशपदवीमिव दोलाम् ९।७—कौतुक और विलासरूपी नरेशके द्वारपाल प्रतिहारीके समान झूलेको देखा।

(१०) पयस्—मेघ

५१ दीप्तविद्युदिव वारिदः २।१—विद्युत् युक्त मेघके समान।

५२ पयोदमण्डली मण्डनैरिव तडिल्लताशतैः २।१४—श्रीकृष्णके मुकुटमें पद्म रागमणियाँ जटित थी, अतः उनका वह मुकुट सैकडो बिजलियोंसे युक्त मेघसमूहके समान शोभित था।

५३. वारिवाहा इवेभा. ८।३६—मेघसमूहके समान उन्नत और कृष्णवर्णके हाथी विद्यमान थे।

(१) पशु-पक्षी-जलचर-सरीसृपादि

५४. उरग इव तमः ५।१४—अन्धकारकी भयंकरता, कालिमा और गतिको अभिव्यक्त करनेके लिए उसे सर्पके समान कहा है।

५५ चाटुशालिभिरिवालिमण्डलै.। २।१५—चाटुकार करनेवाले भ्रमरोंके समान।

५६. तिमिवत् पान्थजलान् ४।९—मछलीके समान पथिकों को।

५७. पशूनामिव ३।२१—पशुओंके समान शबरोंके हाथसे छूटे बाण।

५८ विटपीव ७।१—बन्दरके समान चंचल वायु बह रही थी।

५९. हरिनखैरिव किंशुकैः ९।९—सिंहके नखोंके समान किंशुकोंसे व्याप्त वन था।

(१२) पुष्प-पल्लव-वृक्षादि

६०. कनक कमलिनीव १५।७—स्वर्ण कमलिनीके समान गंगाकी तरंग मूर्ति।

६१. नलिन्या इव ५।३२—कमलिनीके समान कन्या।

६२. पल्लवकरम् ४।११—हाथोंकी मृदुलता, रक्तिमा और सौन्दर्यको अभिव्यक्त करनेके लिए उन्हे पल्लवके समान कहा गया है।

६३. फुल्लकुसुमैरिव २।१०—विकसित पुष्पोंके समान।

६४. मृणालीकाण्डकान्तं शरीरं १५।३२—मृणालकाण्डके समान कोमल और सुन्दर शरीर।

६५. रम्भास्तम्भद्वयीतोरणदत्तशोभः १०।४७—केलेके स्तम्भद्वयके ऊपर लगे हुए तोरणकी शोभाके समान उसके ऊरु स्थल द्वार थे।

६६. वारिजं मुख ११।४३—कमलके समान मुखको।

६७. श्रीचन्दनद्रवमिव ७।१०—चन्दनद्रवके समान चन्द्रमा।

६८ स्मितमब्जनिभं ११।१७—विकसित कमलके समान।

६९. हिमसमीरसुखादिव पद्मिनी ५।६—हिम ऋतुकी सुखदायक वायुसे विकसित कमलिनीके समान वह शोभित थी।

(१३) मणि-माणिक्यादि

७०. द्युमणेरिव १।४—सूर्यकान्त मणिके समान पताकाएँ थी।

७१. मुक्ताश्रुभिः १।२२—मोतियोंके समान आँसू प्रतीत होते थे।

७२. वैडूर्यजालघटितेव ७।३०—वैडूर्यमणियोंसे निर्मित होनेके समान छायावलीसे युक्त।

७३. स्फटिकगोल इव ५।३५—स्फटिकके गोलेके समान चन्द्रमा।

(१४) मनोवेगमूलक

७४. अभीता इव १।५—निडर हुई पताकाओके समान।

७५. अमर्षमिव १२।५८—क्रोधके समान वचनोंकी वर्षा करते हुए।

७६. लीलाकटाक्षैरिव १।२६—लीलाकटाक्षके समान

(१५) संगीतोपकरण, साहित्य आदि

७७. महोत्सववाद्यमिव ५।४६—महोत्सवमें ध्वनित होनेवाले वाद्यके समान।

७८. सुखागमकथामिव ७।२०—सुखागमकी कथाके समान ही—सुखपूर्वक आनेके आख्यानको पूछनेके लिए ही मानो पक्षी अपने नीड़ोंसे उड़े।

(१६) विविध विषयक—मिश्रित उपमान

७९. आजन्मदुःखस्था इव १।८—जन्म दरिद्रीके समान याचक जन।

८०. उत्तमर्णव १।२७—कर्ज देनेवाले महाजनके समान चतुरंग सेना।

८१. छायेव ३।४२—छायाके समान वृक्षश्री पादमूलमें पहुँच गयी थी।

८२ तपतप्तमूर्तय इवोडुगणाः ४।१८—तपसे तप्त मूर्तिके समान नक्षत्र।

८३. तपोवनशैलयोरिव वधूकुचयोः ४।४४—तपोवन पर्वतके समान वधू कुच प्रतीत होते थे।

८४. त्वमिव ३।२८—तुम्हारे ही समान मेरे हृदयमें भी देवगण निवास करते है।

८५. रश्मिदण्डाविव १०।४०—उसके कपोलरूपी चन्द्रयुगलके रश्मिदण्डोके समान द्वेषसे गृहीत कमल प्रतीत होते थे।

८६. विषमिव रुषं १२।८१—विषके समान क्रोध।

८७. सस्वेदबिन्दुप्रसरा इव १०।२३—फैली हुई स्वेदबिन्दुओके समान मोती।

८८. सुरेन्द्रदिशेव सितरुचिः ५।३०—पूर्व दिशाके द्वारा क्रोधके प्रताड़ित हुए के समान चन्द्रमा आकाशमें गिर गया।

८९. सन्ध्यारुणं पादयुगम् १०।४९—सन्ध्याके समान अरुण पादयुगल।

९०. स्वेदोदबिन्दूनिव ३।४१—पसीनेकी बूँदोके समान पुष्पोका पवन हरण कर रहा था।

उत्प्रेक्षा

सूर्य अस्त हो गया है, अन्धकार नभोमण्डलमें व्याप्त है। कवि इस अन्धकारको देखकर उत्प्रेक्षा करता है—

> रविकरोद्धृतिमुक्तमिलातले किमपतद्वियदेव मलीमसम्।
> क्व पतितो रविरित्यवलोकितुं घनपथेऽधिरुरोह धरैव किम् ॥५।१५

अन्धकारको देखकर कवि कल्पना करता है कि सूर्यकिरणें क्या पृथ्वीतलपर स्थित हैं, क्या आकाशमें कालिमा स्थित है? अथवा सूर्य कहाँ चला गया? इस बातको देखनेके लिए पृथ्वी ही घनमण्डलमें स्थित हो गयी है।

अनन्वय

अर्जुनके रूप-सौन्दर्यके चित्रणमें कविने उनको उन्हीके समान बताया है—

> हरः पर इवैश्वर्ये शास्त्रे गुरुरिवापरः।
> स्मरोऽन्य इव सौन्दर्ये शौर्ये किन्तु स एव सः ॥ १२।७९

यहाँ अर्जुन ही उपमान और अर्जुन ही उपमेय हैं।

विरोधाभास

श्रीकृष्णका चित्रण विरोधाभास अलंकारमें किया गया है—

पुपोष मित्राण्यपि निर्ममोऽसौ गतस्पृहो राज्यमपि प्रतेने।
जघान शत्रूनपि शान्तचेताः प्रभु. प्रजैकार्थकृतावतारः ॥ १।४२

उसने निर्मम होनेपर भी मित्रोका पोषण किया है; जो निर्मम-कठोर होगा, वह मित्रोंका संवर्द्धन किस प्रकार करेगा, यह विरोध है। इसका परिहार यह है कि आसक्ति रहित होनेपर भी मित्रोका संवर्धन किया है। गतस्पृह—इच्छासे रहित होनेपर भी जिसने राज्यका विस्तार किया है। इच्छारहित होनेपर राज्यका विस्तार करना विरोध है, अतः परिहारमें अन्यायपूर्वक किसीकी वस्तुको लेनेकी इच्छासे रहित होनेपर भी राज्यका विस्तार किया है। शान्तचित्त होनेपर भी शत्रुओंका संहार किया है। यहाँ सामान्यतः विरोध प्रतीत होता है कि जो शान्तचित्त है, वह शत्रुओंका संहार किस प्रकार करेगा, परिहारमें प्रिय स्वभाव होनेपर भी विरोधी शत्रुओका दमन किया है।

"करवालसर्पदंशात्" १३।२६ में रूपक; "गुरुः सुराणामपि किंचिदन्तेवासित्वं" १।२३ मे अतिशयोक्ति, "इति ते सकल वपुर्भवत्यथवा क्षीणहृदाम्बबुद्धयः" ११।१८ मे अर्थान्तरन्यास; "तदमुं पवनाशनास्त्रतः पवनं सम्प्रति शोषयाम्यहम्" ११।७ में स्मरण, "पुष्पन्चया पुष्पधिया चयन्त." (१।१९) में भ्रान्तिमान् एवं "पद्मश्रीहरणं व्यग्रः प्रत्यूषे पद्मबन्धुना" १२।५४ मे ललित अलंकार है। इस पद्यमें वर्णनीय वृत्तान्तको स्पष्ट न कहकर प्रतिबिम्बका वर्णन किया है।

छन्दोयोजना

प्रथम सर्ग.—१-२ इन्द्रवज्रा, ३-८ उपजातिः, ९ इन्द्रवज्रा, १०-४२ उपजातिः, ४३ मन्दाक्रान्ता।
द्वितीय सर्ग —१-३८ रथोद्धता, ३९ वसन्ततिलका।
तृतीय सर्गः—१-३९ पुष्पिताग्रा, ४० वसन्ततिलका, ४१ उपजातिः, ४२ वसन्ततिलका, ४३ उपजातिः, ४४ शार्दूलविक्रीडितम्।
चतुर्थ सर्ग.—१-५१ प्रमिताक्षरा, ५२ वसन्ततिलका, ५३ शार्दूलविक्रीडितम्।
पंचम सर्ग —१-४८ द्रुतविलम्बितम्, ४९ शार्दूलविक्रीडितम्।
षष्ठ सर्गः—१....५८ वसन्ततिलका।
सप्तम सर्गः—१-३६ वसन्ततिलका, ३७ शार्दूलविक्रीडितम्।
अष्टम सर्गः —१-५१ शालिनी, ५२ वसन्ततिलका, ५३ उपजातिः, ५४ वसन्ततिलका, ५५-५६ शार्दूलविक्रीडितम्, ५७ वसन्ततिलका।
नवम सर्गः—१-३९ स्वागता, ४० मन्दाक्रान्ता।

दशम सर्गः—१-५८ इन्द्रवज्रा, ५९ शार्दूलविक्रीडितम् ।

एकादश सर्गः—१-३५ ललिता, ३६-३७ वसन्ततिलका, ३८ शार्दूलविक्रीडितम्, ३९ शिखरिणी, ४० आर्या, ४१ शार्दूलविक्रीडितम्, ४२-४३ वसन्ततिलका, ४४-४६ शार्दूलविक्रीडितम्, ४७ वसन्ततिलका ।

द्वादश सर्ग.—१-८० अनुष्टुप्, ८१ हरिणी ।

त्रयोदश सर्गः—१····६४ शार्दूलविक्रीडितम् ।

चतुर्दश सर्गः—१-२ उपजातिः, ३ वसन्ततिलका, ४ अनुष्टुप्, ५ वसन्ततिलका, ६ उपजातिः, ७ अनुष्टुप् , ८ मालिनी, ९ अनुष्टुप्, १० रथोद्धता, ११ अनुष्टुप्, १२ उपजातिः, १३-१५ अनुष्टुप्, १६-१८ अनुष्टुप् , १९ स्रग्धरा, २०-२१ अनुष्टुप्, २२ उपजातिः, २३-३२ अनुष्टुप्, ३३ वसन्ततिलका, ३४ अनुष्टुप्, ३५ आर्या, ३६ स्रग्धरा, ३७ अनुष्टुप्, ३८ वसन्ततिलका, ३९ स्रग्धरा ।

पंचदश सर्ग.—१-३७ मालिनी, ३८ शिखरिणी ।

षोडश सर्गः—१-३७ वतन्ततिलका, ३८-३९ शार्दूलविक्रीडितम्, ४० अनुष्टुप्, ४१ स्रग्धरा ।

सप्तदश सर्गः—१-५८ उपजातिः, ५९-६० मालिनी, ६१ वसन्ततिलका, ६२ शार्दूलविक्रीडितम्, ६३ मालिनी, ६४ मन्दाक्रान्ता, ६५ शिखरिणी ।

अष्टादश सर्ग.—१-६१ द्रुतविलम्बित, ६२ शार्दूलविक्रीडितम्, ६३ वसन्ततिलका, ६४-६५ स्रग्धरा, ६६ उपजाति·, ६७ मालिनी, ६८ शार्दूलविक्रीडितम् ।

एकोनविंश सर्गः—१-८२ उपजातिः, ८३ स्रग्धरा, ८४ शार्दूलविक्रीडितम्, ८६ मन्दाक्रान्ता ।

पद्मानन्दमहाकाव्य[1]

वीराक १९ सर्गोका पौराणिक महाकाव्य है। इसमें भगवान् ऋषभ देवका जीवनचरित वर्णित है। इस काव्यका दूसरा नाम जिनेन्द्रचरित भी है। सर्गान्तमें दी हुई पुष्पिकामे इसे महाकाव्य कहा गया है। इसके रचयिता महाकवि अमरचन्द्र है, कविता कामिनी इनकी वशवर्तिनी थी। संस्कृतके जैन कवियोमें इतना प्रौढ पाण्डित्य और आशुकवित्व कम ही व्यक्तियोमें उपलब्ध होता है।

कविका परिचय

कवि अमरचन्द्रके जीवन परिचयके सम्बन्धमें इनके समकालीन विद्वान् प्रभाचन्द्रसूरिने लिखा है—

---

[1] पद्मानन्द महाकाव्य—सं० एच० आर० कपड़िया एम० ए०, प्र० ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, १९३२ ई० ।

अद्यापि तत्प्रभावेण तस्य वंशे कलानिधिः ।
भवेत् प्रभावकः सूरि················ ॥[1]

इस उल्लेखके आधारपर मुनिकल्याण विजयजीने 'अद्यापि' शब्द द्वारा अमरचन्द्रको प्रभावक सूरिका समकालीन अनुमान किया है ।

वि० सं० १४०५ में रचित प्रबन्धकोशमें कविके सम्बन्धमें एक स्वतन्त्र प्रबन्ध पाया जाता है । इस प्रबन्धके अनुसार वायडगच्छके परकाय प्रवेश विद्या सम्पन्न जीवदेव सूरिके जिनदत्त सूरि शिष्य थे[2] और इन जिनदत्तके प्रतिभाशाली अमरचन्द्र शिष्य थे । कविराज अरिसिंहसे इन्हें सिद्ध सारस्वतमन्त्र मिला था, जिसकी आराधना निद्राजय, आसनजय और कवायजय करते हुए एकाग्र चित्तसे २१ दिनों तक आचाम्ल तपपूर्वक की थी । सरस्वतीकी यह साधना कोष्ठागारिक पद्मश्रावकके भवनके एकान्त भागमें सम्पन्न की गयी थी । २१ दिनोंकी साधनाके अनन्तर सरस्वती देवी प्रसन्न हुई और प्रत्यक्ष होकर अपने कमण्डलुका जल पिलाते हुए वरदान दिया—"तू सिद्ध कवि और राजमान्य होगा ।[3] " हुआ भी ऐसा ही ।

महाकवि अमरचन्द्रके पाण्डित्यसे आकृष्ट होकर विद्याप्रेमी गुर्जरेश्वर वीसलदेवने इन्हें अपनी राजधानीमें बुलाया था । राजसभाके व्यक्तियोंने इनकी काव्य प्रतिभाका परिचय विविध प्रकारकी समस्या पूर्ति द्वारा प्राप्त किया था । कहा जाता है कि इन्होंने १०८ समस्याओंकी पूर्तिकर राजसभाको चमत्कृत किया था ।

अमरचन्द्रके आशुकवित्वका एक सन्दर्भ उपदेश तरंगिणीमें मिलता है । कहा जाता है कि एक बार वस्तुपाल अमरचन्द्र सूरिका भाषण सुनने आया था, पर द्वारमें प्रवेश करते ही उसने आचार्यके मुखसे सुना ।[4]

अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारङ्गलोचना ।

इस पद्यांशको सुनकर वस्तुपाल आश्चर्यचकित हो गया और सूरिजी को स्त्रीकथामें आसक्त समझकर वह वन्दना किये बिना ही वापस लौटने लगा तो कविने पुन. पढ़ा—

यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपालभवादृशा. ॥

उत्तरार्ध पद्यके सुनते ही वस्तुपाल स्तब्ध हो गया और सम्मानपूर्वक मुनिराजकी वन्दना की ।

जिस प्रकार महाकवि कालिदासकी उपाधि 'दीपशिखा' और माघकी 'घण्टामाघ' थी उसी प्रकार अमरचन्द्रकी 'वेणीकृपाण' उपाधि थी । बालभारतमें प्रभातका वर्णन करते हुए बताया है कि महादेवजीने कामदेवको भस्म कर दिया है, [illegible] वही

---

[1] प्रभावकचरित, सिंघीजैन ग्रन्थमाला, १९४० ई०, जीवदेवसूरिचरितम्. पद्य २००, पृ० ५३ ।
[2] ये जिनदत्त सूरि विवेक विलासके रचयिता है ।
[3] प्रबन्धकोश—तृतीय प्रबन्ध, पृ० १३-१७ ।
[4] पद्मानन्द महाकाव्य, बड़ौदा १९३२ ई०, भूमिका पृ० २१ ।

Religious Book Distribution Fund

मथती हुई स्त्रियोंकी वेणीको इधर-उधर घूमती हुई देखकर प्रतीत होता है कि मदन पुनः अपना प्रभाव विस्तार करता हुआ मानो तलवार चला रहा है। वेणी कृपाणकी इस अनुपम उपमाके कारण ही कवि अमरचन्द्रकी उपाधि 'वेणीकृपाण' प्रसिद्ध हो गयी है, यथा—

> दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणिदम्भा-
> दयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता।
> भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाण-
> श्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति"
>
> —बालभारत आदिपर्व ११।६

स्थितिकाल

कवि अमरचन्द्र वीसलदेवका सभाकवि था और इस राजाका समय वि० सं० १३००-१३२० तक माना गया है।

"स्वस्तिश्रीमद्विक्रमकालातीतसप्तदशाधिकत्रयोदशशतकसंवत्सरे (१३१७) लौकिक ज्येष्ठमासस्य कृष्णपक्षचतुर्थ्यां तिथौ गुरावद्येह श्रीमदणहिल्लपाटके समस्तराजावलीविराजितपरमेश्वरपरमभट्टारक — उमापतिवरलब्धप्रसादप्रौढप्रतापचौलुक्यकुलकमलिनीकलिकाविकासमार्तण्ड[1] ………।

डॉ० रामकृष्णगोपाल भाण्डारकरने वीसलदेवका राज्यकाल वि० सं० १३०२–१३२० माना है[2]।

पाटणके टागडियावाड़ाके जैनमन्दिरमें इनकी एक मूर्ति अभी भी विद्यमान है। इस मूर्तिपर निम्नलिखित लेख पाया जाता है।

"संवत् १३४९" चैत्रवदी ६ शनि वायटीयगच्छे श्रीजिनदत्तसूरिशिष्य पण्डित श्रीअमरचन्द्रमूर्तिः पण्डितमहेन्द्रशिष्यमदनचन्द्राख्येन कारिता शिवमस्तु[3]।"

प्रस्तुत मूर्तिसे कविका स्वर्गवास वि० सं० १३४९ (ई० १२९२) के पूर्व ही सिद्ध होता है। अत. मूर्ति उनकी मृत्युके उपरान्त ही स्थापित की गयी होगी। इस प्रकार वीसलदेवकी समकालीनता, वस्तुपालका सम्बन्ध और टांगियावाड़ाकी मूर्ति, इन तीनों प्रमाणोंसे कविका समय ई० सन् १३वीं शती है।

कवि अमरचन्द्रपर ब्राह्मण संस्कारोंका पूरा प्रभाव है। जैन होनेपर भी उसपर प्राचीन संस्कार हावी थे। बालभारतके प्रत्येक सर्गके आरम्भमें व्यासकी स्तुति है।

---

[1] बालभारत, निर्णयसागर, बम्बई १८९४ ई०, भूमिका पृ० २५ तथा इण्डियन ऐण्टीक्वेरी वाल्यूम ६, पृ० २१०-२१२।

[2] भाण्डारकर ई० सन् १८८३-८४ वर्षकी रिपोर्ट, पृ० ३१८ एवं ४५७।

[3] प्राचीन लेख सग्रह द्वितीय भाग, लेखांक, ५२३।

रचनाएँ

पद्मानन्द महाकाव्यके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ इस कविके उपलब्ध हैं—

१. बालभारत[1]

यह एक महाकाव्य है। इसमें समस्त महाभारतकी कथाओंको निबद्ध किया गया है। ४४ सर्ग और ६९५० अनुष्टुप् छन्द संख्या है। इस काव्यमें जातीय आदर्श और विचार, समाजकी विविध परिस्थितियाँ, जीवनकी विविध समस्याएँ, चरित्रोंकी स्वाभाविक शालीनता, भाषाकी प्रौढता, अलंकारोंके प्रचुर प्रयोग एवं महाकाव्योचित गरिमा वर्तमान है। इस पौराणिक महाकाव्यमे अतिमानवीय तत्त्वोंका प्राधान्य है। इस महाकाव्यमें जैन तत्त्वज्ञानका समावेश नरनारायणानन्दके समान कही भी नही है। शान्तिपर्वमें भीष्म शरशय्यापर शयन करते हुए राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्मका उपदेश देते है। काव्यका आधार महाभारतकी कथा ही है।

२. काव्यकल्पलता[2]

कवि शिक्षा विषयक ग्रन्थ है। इसमें चार प्रतान हैं और प्रथम प्रतानमें पाँच, द्वितीयमे चार, तृतीयमें पाँच और चतुर्थमें सात स्तवक है। इन स्तवकोंमें सामान्य कविता, क्लिष्ट कविता एवं कवि शास्त्रार्थ प्रक्रिया आदि वर्णित है। संस्कृत लक्षणग्रन्थोंमें यह अपने विषयका अनुपम ग्रन्थ है। काव्य अभ्यासके लिए यह उपादेय है। इस ग्रन्थपर कविकी अपनी वृत्ति भी है।

३. स्यादिशब्द समुच्चय

यह व्याकरण विषयक ग्रन्थ है। इसमे स्वरान्त, व्यंजनान्त, सर्वनाम और संख्या शब्द इस प्रकार चार उल्लास है। कविने आरम्भमें लिखा है—

> श्रीशारदां हृदि ध्यात्वा स्यादिशब्दसमुच्चयम्।
> करोत्यमरचन्द्राख्यो यतिः श्वेताम्बराग्रणीः॥[3]

४. छन्द.रत्नावली

छन्दविषयक इस ग्रन्थकी एक हस्तलिखित प्रति न्यायतीर्थ, न्यायविशारद उपाध्याय श्रीमंगलविजयजीके पास विजयलक्ष्मी ज्ञानमन्दिर आगरामें है। इसमें ७५० श्लोक है। इस ग्रन्थमें नौ अध्याय है। छन्दोंके उदाहरणमें संस्कृत और प्राकृतके पद्य उद्धृत किये हैं।

५. पद्मानन्द

यह अलंकृत शैलीका महाकाव्य है। कविने १९ सर्गोंमें भगवान् ऋषभदेवका जीवनवृत्त अंकित किया है।

---

[1] बालभारत, सं० शिवदत्त शर्मा और काशीनाथ शर्मा, प्र० निर्णयसागर प्रेस बम्बई १८९४ ई०।

[2] चौखम्बा विद्याभवन, बनारससे १९३१ ई० में प्रकाशित, इसका एक संस्करण रामशास्त्री, बनारसका १८८६ ई० का भी है।

[3] पद्मानन्द—भूमिका पृष्ठ २१।

कथावस्तु

गुरु परम्परा और मंगलस्तवनके अनन्तर पद्ममन्त्रीके अनुरोधसे प्रस्तुत महाकाव्यके निबद्ध करनेकी प्रतिज्ञा है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषोंकी नामावली भी वर्णित हैं। —प्रथम सर्ग

क्षितिप्रतिष्ठ नगरमे धनसार्थवाहका जन्म होता है। युवा होनेपर इसका धर्मघोष सूरिके साथ समागम होता है। एक दिन यह वसन्तपुरको प्रस्थान करता है। मार्गमें ग्रीष्म और वर्षाका सामना करता है। धर्मघोष सूरिसे उसे दान-धर्मका उपदेश प्राप्त होता है। गृहस्थके द्वादश व्रतोका उल्लेख किया गया है। द्वितीय भव युगलिकके रूपमे वर्णित है। योगभूमिका भी चित्रण किया गया है। तृतीय धनजीवके भवका वर्णन है। —द्वितीय सर्ग

चतुर्थ भव महाबलके रूपमें वर्णित है। इस प्रसंगमें नास्तिकमत, क्षणिकवाद और मायावादका निरूपण किया गया है। महाबल प्रव्रजित हो तपश्चरण करता है। —तृतीय सर्ग

पंचम भवमें ललितागदेवके रूपमे जन्म ग्रहण करता है। ललितागदेव नन्दीश्वरकी यात्रा करता है। यह विदेहमे सुवर्णजघका पुत्र वज्रजंघ होता है।—चतुर्थ सर्ग

वज्रजंघका श्रीमतीके साथ विवाह सम्पन्न होता है। पूर्वजन्मके अनुरागके कारण दोनोमें घनिष्ठ प्रेम रहता है। सप्तम भवमे युगलिक होते है और अष्टम भवमे सौधर्म स्वर्गमें देवके रूपमे उत्पन्न होते है।—पचम सर्ग

नवम भवमे वज्रजंघका जीव वैद्यपुत्र जीवानन्द होता है और श्रीमतीका केशव। जीवानन्दके घर एक दिन गुणाकर मुनि आते है। जीवानन्द मित्रो सहित दीक्षा ग्रहण करता है और वह अच्युत स्वर्गमे अच्युत देव होता है। वहाँसे च्युत हो चक्रवर्ती वज्रनाभिके रूपमे जन्म धारण करता है।—षष्ठ सर्ग

वज्रनाभि दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करता है और सर्वार्थसिद्धि विमानमे जन्म ग्रहण करता है। वहाँसे च्युत हो सप्तम कुलकर नाभिरायकी पत्नी मरुदेवीके गर्भमे वह आता है। मरुदेवी चौदह स्वप्न[1] देखती है और ५६ कुमारियाँ उनकी सेवा करती है। जन्म ग्रहण करनेके उपरान्त अभिषेक विधि सम्पन्न की जाती है।—सप्तम सर्ग

ऋषभ नाम रखा जाता है। नाना प्रकारकी बालक्रीड़ाएँ ऋषभ सम्पन्न करते है। सुनन्दाके रूप-सौन्दर्यका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।—अष्टम सर्ग

विवाह मण्डप तैयार किया जाता है। सुनन्दा और सुमंगलाके साथ ऋषभका विवाह सम्पन्न होता है। ऋषभदेवको भरतादि पुत्र उत्पन्न होते है।—नवम सर्ग

---

[1] श्वेताम्बर आम्नायका कवि होनेके कारण चौदह स्वप्नो का उल्लेख किया है।

ऋषभदेवका राज्याभिषेक सम्पन्न होता है। राजा होनेपर वे विनीता नगरीकी स्थापना करते हैं। भरतादि पुत्रोंको स्वयं कला-कौशल, विद्या आदि प्रदान कर योग्य बनाते हैं।—दशम सर्ग

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ अपना मोहक दृश्य उपस्थित करती हैं। ऋषभ विलास-क्रीड़ा करते हैं।—एकादश सर्ग

वसन्तोत्सव क्रीडाके पश्चात् लौकान्तिक देवोंकी प्रार्थनापर ऋषभदेव विरक्त हो जाते हैं और चैत्रकृष्ण अष्टमीको दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। प्रभुको मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।—द्वादश सर्ग

नमि-विनमि ऋषभदेवकी अटूट भक्ति करते हैं, धरणेन्द्र उनकी भक्तिसे प्रभावित हो उन्हें विद्याधरनरेश बनाता है। श्रेयांस ऋषभदेवको इक्षुरसकी पारणा कराते हैं। अनन्तर ऋषभदेवको केवलज्ञान उत्पन्न होता है।—त्रयोदश सर्ग

केवलज्ञान महोत्सव सम्पन्न करनेके लिए देव पधारते हैं। समवशरणमें भगवान् ऋषभदेवकी देशना होती है। भरतके पुत्र पुण्डरीक आदि ऋषभदेवकी स्तुति करते हैं। चौंतीस अतिशय और अष्ट प्रातिहार्य भी इस प्रसंगमें वर्णित हैं।
—चतुर्दश सर्ग

भरतकी आयुधशालामें चक्ररत्न उत्पन्न होता है। भरत उसकी पूजा कर दिग्विजयके लिए प्रस्थान करते हैं। सिन्धु, वैताढ्य आदि स्थानोंको अधीन करते हैं। म्लेच्छ, किरात, आदिको परास्त करते हैं।—पंचदश सर्ग

चक्रवर्ती षट् खण्डकी विजय कर नगरीमें वापस लौटते हैं। इस सन्दर्भमें चक्रवर्तीकी सम्पत्ति और वैभवका विस्तृत वर्णन है।—षोडश सर्ग

आयुधशालामें चक्ररत्नके प्रविष्ट न होनेपर वे बाहुबलीपर चक्ररत्नका अनुचित प्रयोग करते हैं। फलतः बाहुबली विरक्त हो जाते हैं और दीक्षित हो तपश्चरण करने लगते हैं।—सप्तदश सर्ग

मरीचि दीक्षा ग्रहण करता है, पर किसी कारणवश वेष परिवर्तन कर लेता है। वह मिथ्या मतोंका प्रचार करता है। माघ कृष्ण त्रयोदशीको अष्टापद पर्वतसे भगवान् ऋषभदेवका निर्वाण हो जाता है।—अष्टादश सर्ग

उन्नीसवें सर्गमें कविकी प्रशस्ति वर्णित है।

कथावस्तुका स्रोत और गठन

इस महाकाव्यकी कथावस्तुका आधार श्वेताम्बर परम्परा प्राप्त ऋषभनाथ चरित है। दिगम्बर परम्पराके ऋषभनाथके जीवनवृत्तमें दस भवोंका चरित ही पाया जाता है। प्रस्तुत काव्यमें बारह भवका कथानक निबद्ध किया गया है। जिनसेनके आदि पुराणमें ऋषभदेवके पूर्वभव महाबलकी कथासे आरम्भ हुए हैं। यह महाबल विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें स्थित अलकानगरीके निवासी विद्याधर राजा अतिबलका

पुत्र था ।[1] इस महाबलके महामति, सभिन्नमति, शतमति और स्वयं नवाबका समर्थक और शतमति नैरात्म्यवादका पोषक था । इन तीनोंकी मान्यताओंका स्वयंबुद्ध मन्त्रीने निरसन कर आर्हतमतकी प्रतिष्ठा की है । प्रस्तुत काव्यमें अलका नगरीके स्थान गन्धसमृद्ध नगरका नाम आता है[2] और महाबलके पिताका नाम शतबल बताया[3] है । महाबलके जीवनकी अवशेष घटनाएँ आदिपुराणके समान ही हैं । ललितांग, वज्रजंघ और भोगभूमि-जन्म ये तीन भव इस काव्यमें आदिपुराणके समान ही वर्णित हैं । आदिपुराणमें बताया है कि वज्रजंघका जीव ऐशान स्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें श्रीधर नामका देव हुआ ।[4] वहाँसे च्युत हो महावत्सकावती देशको सुसीमा नगरीके राजा सुदृष्टिकी सुन्दरनन्दा नामक रानीके गर्भसे सुविध[5] नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । इसका अभयघोष चक्रवर्तीकी पुत्री मनोरमाके साथ पाणिग्रहण हुआ ।

आदिपुराणके उपर्युक्त कथानकके स्थानपर प्रस्तुत काव्यमें वज्रजंघ सौधर्म स्वर्गमें देव होता है और वहाँसे च्युत हो वैद्यपुत्र जीवानन्दके रूपमें जन्म लेता है ।[6] इसके पश्चात् अच्युतेन्द्र, वज्रनाभि और सर्वार्थसिद्धि नामक भव समानरूपसे वर्णित हैं ।

कवि अमरचन्द्रने कथानकमें नवीन उद्भावनाओंका समावेश नहीं किया हैं । अत. विस्तारकी कमी होनेसे कथावस्तु सुगठित नहीं हो पायी है । यद्यपि कविने बाल-लीला, राज्यव्यवस्था, षड्ऋतुविलास, वसन्तक्रीड़ा, भरतका दिग्विजय, बाहुबलीकी विरक्ति आदि घटनाओंका विस्तृत वर्णन कर जीवनका वैविध्य प्रदर्शित किया है, पर वर्ण्यविषयोंमें आवश्यक विस्तारका अभाव होनेसे शिथिलता आ गयी है ।

कविने आसक्तिको जीवन विनाशका प्रमुख कारण चित्रित किया है । महाबल और ललितांगदेव नारी-आसक्तिके कारण मृत्युको प्राप्त होते हैं । विषयासक्ति महापुरुषोंको भी पथभ्रष्ट कर देती है । दर्शन, आचार और जीवनके विविधपक्षोंका उद्घाटन किया गया है । द्वितीय सर्गमें श्राद्धधर्म[7]—श्रावकधर्मका धर्मघोष सूरिके मुखसे सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत किया गया हे । चार प्रकारके धर्मका वर्णन करते हुए कहा है—

> दानं विपद्भेदनिदानदानं, शीलं सुखोन्मीलनशालिशीलम् ।
> तप.स्फुरत्पङ्कतपातपश्री, सद्भावना स्याद् भवभावनाशा ॥ पद्म० २।१०७

---

[1] तस्यास्त्युत्तरत श्रेण्यामलकेति परा पुरी – आदिपुराण, ज्ञानपीठ काशी, १९४४ ई०; प० ४।१०४ खगेन्द्रोऽतिबलो नाम्ना ४।१२२ ।

[2] आस्ते पुरं तत्र जितद्युसत्पुरं, समृद्धिभिर्गन्धसमृद्धकाह्वयम् ॥ पद्मा० ३।७ ।

[3] शताद्बलो नाम बनारुविक्रम –पद्म० २।१६ ।

[4] श्रीधराख्य सुरोऽभवत्—आदि० ६।१८५ ।

[5] सुविधिर्नाम पुण्यधी —आदि० १०।१२२ ।

[6] जीवानन्द समानन्दितं जावलाक –पद्म० ६।७ ।

[7] श्राद्धो विवेकी विदधीत देशावकाशिक तद्व्रतमामनन्ति ॥ पद्म० २।२७६ ।

इस प्रकार दान, शील, तप और सद्भावनारूप धर्मका विवेचन किया है। कविने इसी सन्दर्भमें पाँच अणुव्रत[1], तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका विस्तार-पूर्वक कथन किया है। भोगोपभोगव्रतधारीको अंगारकजीविका[2] केश-दन्तादिवाणिज्य प्रभृति पन्द्रह खरकर्मोंका त्याग करना आवश्यक है। जीवोंके भेद-प्रभेद[3], भक्ष्याभक्ष्य[4] एवं आर्त-रौद्र[5] ध्यानादिके त्यागका निरूपण किया है।

सांस्कृतिक महत्त्व

प्रस्तुत काव्यका सांस्कृतिक दृष्टिसे पर्याप्त मूल्य है। विवाहके समय सम्पन्न किये जानेवाले रीति-रिवाजोंका सुन्दर वर्णन हुआ है। वधुओंको विविध वस्त्रालंकारोंसे सज्जित किया जाता है। मण्डपद्वारपर पहुँचनेपर वर यानसे उतरता है। स्त्रियाँ वरके मंगलके लिए एक अग्निपूर्ण शरावमें लवण रखती है, जिससे त्रटत् त्रटत्का शब्द होता है।[6] एक स्त्री दूर्वा आदि मांगलिक वस्तुओंसे पूर्ण चाँदीका थाल लेकर खड़ी होती है[7] और दूसरी मन्थन दण्ड लेकर वरके समक्ष खड़ी होती[8] है। मधुर गीतोंके बीच वरको अर्घ्य दिया जाता है[9] और मन्थन दण्डसे वरके मस्तकका स्पर्श किया जाता है[10]। पादुका पहने हुए वर वामचरणसे अग्नि-लवणपूर्ण शराव सम्पुटका स्पर्श करता है। इसके बाद अर्घ्य देनेवाली स्त्री वरको मातृगृहमें ले जाती है। यहाँ मातृगृहके सामने वरको सुवर्ण-आसनपर बैठाया जाता है और वधू एवं वरके हाथमें सूत्र बाँध दिया जाता है। इस अवसरपर पिप्पल एवं शमीकी छालको पीसकर वधूके हाथमें लेप किया जाता है। लग्नका समय आनेपर सर्वप्रथम पाणिग्रहण होता है। वर वधूके हाथको अपने हाथमें पकड़ता है। इसी समय 'तारामिलन' रश्मकी पूर्ति की जाती है। इस रश्ममें वर वधू एक-दूसरेको देखते है। तारामिलन पर्वपर वधूपक्षकी स्त्रियाँ वरको लक्ष्य कर नर्मवचनपूर्ण गीत गाती है।[11]

इस अवसरपर वरके वसनाचलसे वधूका वसनाचल बाँध दिया जाता है। वर वधूके साथ-साथ वेदी गृहको जाता है। यहाँ पत्नीका हाथ पकड़कर अग्निकी आठ

---

[1] तां देशतः प्राहरणुव्रतानि, पञ्च त्रिसंख्यानि गुणव्रतानि।
चत्वारि शिक्षापदव्रतानि प्रबुध्यतां द्वादशधेति सेयम्॥ पद्म० २।२१२।

[2] या जीविकाङ्गारक-काननाभ्यां पद्म० २।२५५-२६६।

[3] जीवा द्विधा स्थावरसञ्ज्ञया च, त्रसाख्यया च द्वितये द्विधामी॥ पद्म० २।१८६-१९८।

[4] हैयङ्गवीनं मधु सीधु मांस, विवर्जनीयं कृमिपूर्णगर्भम्॥ पद्म० २।२४२।

[5] रौद्रार्तदुर्ध्याननिविवर्जितस्य॥ पद्म० २।२७८।

[6] तत्तीर्य मानवरतो...॥ पद्म० ६।७०-७१।

[7] दूर्वादिमाङ्गलिकवस्तुविराजिरूप्यस्थालं । पद्म० ६।७२।

[8] वैशाखमुद्धतवती पुरता वरस्य...॥ पद्म० ६।७३।

[9] देहार्घदेऽर्घमिममर्घ्यतमाय...॥ पद्म० ६।७४।

[10] मन्थेन भालमथ सा स्पृशति॥ पद्म० ६।७८।

[11] पद्मन० ७६-१०२।

प्रदक्षिणा दी जाती हैं। इसके पश्चात् पाणिग्रहणकी विधि सम्पन्न हो जाती है। स्त्रियाँ हल्लीसक नृत्य करती हैं और गायन-वादनका वातावरण उपस्थित हो जाता है। पाणिमोक्षण क्रियाके साथ ही वैवाहिक क्रियाएँ समाप्त हो जाती है और वर यानमें बैठकर मण्डपसे अपने स्थानको चला जाता है।[1]

भरत चक्रवर्ती, बाहुबली प्रभृतिके शिक्षाकालमे ऋषभदेवने बहत्तर कलाएँ और अठारह लिपियोका उपदेश दिया था[2]। पुरुषलक्षण, नारीलक्षण, गजलक्षण और तुरगलक्षणको भी शिक्षाका अग माना है।[3]

साम, दाम, भेद और दण्डनीतिका निरूपण भी इस काव्यमें हुआ है। राजनीतिके सन्धि—परस्पर शान्ति और सामंजस्यकी स्वीकृति, विग्रह संघर्ष या युद्धका दृष्टिकोण, यान—युद्धकी तैयारी, आसन—उदासीन दृष्टिकोण, द्वैधीभाव—एकसे युद्ध और दूसरेसे सन्धि एवं सश्रय—शक्तिमान् राजाका आश्रय लेना, षड् अंग वर्णित है।[4]

महाकाव्यत्व

महाकाव्योचित कथावस्तु होनेके साथ महच्चरित्र भी इस काव्यमें निबद्ध है। पौराणिकताका अस्तित्व रहनेसे नायक—ऋषभदेवका चरित द्वादशभवोमें निबद्ध किया है। यतः महाकाव्योका एक ही नायक होता है, इस सिद्धान्तका निर्वाह अनेक जन्मोकी भूमिकामे किया गया है। इस काव्यमे भारविके समान अर्थ गौरव भले ही न मिले, पर गम्भीर अभिव्यजना शैली अवश्य है। बालभारतमे काव्यकलाका जितना चमत्कार पाया जाता है, उतना प्रस्तुत काव्यमे नही है, तो भी महाकाव्यके सभी लक्षण पाये जाते हैं। वस्तुवर्णनमे कविने षड्ऋतु, नदी, सन्ध्या, उषा, समुद्र, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन, पर्वत आदिका अच्छा चित्रण किया है। कवि आम्रवृक्षकी महिमाका प्रतिपादन करता हुआ करता है—

> वर्णेन गन्धेन रसेन विश्वे, स्वाद्येषु हृद्यं सहकारमेव ।
> नास्यान्तराले यदि बाजशल्य, रम्भाफलस्येव खलत्वमेति ॥ प० २।५३
> यत्पल्लवाः पल्लवयन्ति दर्पं, कन्दर्पवीरस्य जगज्जयाय ।
> यस्याङ्कुरः पञ्चमरागगान-निदानतां श्लिष्यति कोकिलानाम् ॥ ।५५
> यन्मञ्जरी षट्चरणातिथीनां, तूर्णं प्रपूर्णं कुरुतेऽभिलाषम् ।
> तृषा-क्षुधातापसमापकानि, माधुर्यधुर्याणि फलानि यस्य ॥ २।५६ ॥

ऋतुवर्णनमें कविने अनेक स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किये है। शरत्का वर्णन करते हुए कासका फूलना, नद-नदियोंके जलका निर्मल होना, सूर्यतेजका प्रखर होना

---

[1] त्रिश्चत् प्रमादभग्नवादितभूरिनाद्य पद्म० १०३-१०६।
[2] आदिम द्वयधिकसप्तति कला, साङ्गज भरतमध्यजागपत—पद्म० १०।९३-९४।
[3] लक्षणानि पुरुषस्य व्यापितो पद्म० १०।७८।
[4] पद्म० ६।२०।

बक पंक्तिका आकाशमें उड़ना, नभमें जल रहित शुभ्र मेघखण्डोंका विचरण करना आदि निरूपित है। यथा—

शरदृतुः शरपूर्णदिगन्तरो, विमलसत्तरवारिविजृम्भितम् ।
किल विजित्य घनागममुद्यतो, विशददुस्सहसूर्यमहस्तति ॥ प० ११।२०

निदाघके अनन्तर पावसका सजीव चित्रण किया है। गर्म हवासे झुलसे प्राणी नयी सास प्राप्त करते है। प्रखर किरणोसे तपी पृथ्वी बादलोकी फुरहरीसे शीतल हो जाती है और अपनी सुरभिके कोष खोल देती है। बीजोमे नये अंकुर फूटते है, कविका मन विकल हो जाता है, उसकी वाणी रससे सिक्त हो उठती है। कविने तेरह पद्योमे वर्षा ऋतुका चित्रण किया है। उसने लिखा है "हंसपंक्तिके वियोगसे कमलिनी श्वास छोड़ती हुई जलमें निमग्न हो गयी है। मेघका गर्जन और विद्युत्का चकाचौंध एक नयी सौन्दर्यछटाको विकीर्ण कर रहा है।"

श्वसितधूममलिच्छलतः क्षणात्, कमलिनः परिमुच्य जलेऽब्रुडत् ।
विशदहंसवियोगभरातुरा, समुदितेऽद्भुतनादिनि वारिदे ॥ ११।३०

शिशिरमे सूर्यकी किरणें शीतल हो जाती है। कवि इस शीतलताका कारण बतलाता हुआ कहता है कि प्रजानाथ—ऋषभदेवके प्रतापरूपी सूर्यके तीव्र आतपके समक्ष सूर्यकी किरणोका प्रभाव शीतल हो गया है। यथा—

स्वामि प्रतापतपनस्तपनि त्रिलोक्यां
तापं तनोति न तथेति विभाव्य तस्य ।
मन्दं स्वभावमिव भानुरतोव तीव्रान्
ग्रीष्मेऽपि नाधितकरान् रतये प्रजानाम् ॥ ११।७५

वसन्तकालीन प्रकृतिका उद्दीपन रूपमें सजीव चित्रण किया गया है। वसन्तमे कोकिल ध्वनि वियोगिनियोके प्राणोको घातक है, कुपित होनेवाली स्त्रियोके कोपका विनाशक है और प्रियाके वार्तालापको सुननेके लिए कानोंको अमृतपथके समान है। यथा—

वियोगिनी प्राणविनिर्गमानकः प्रकोपिनं कोपविलोपलग्नकः ।
प्रियान्विताकर्णपथामृतप्लवः, क्व नाम नाकर्ण्यत कोकिलारव. ॥ १२।५
दिशः समग्राः सहकारमञ्जरी-रजोभिरापिञ्जरिता विरेजिरे ।
जगज्जिगीषोर्विषमेषु भूपतेः, प्रतापभानुप्रमयोम्मिता इव ॥ १२।६

विलासिनी स्त्रियोंके दोलाविलासका चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि उसकी विलासलीलासे आश्चर्यचकित हो वनदेवताने पुष्पोंकी वर्षा की। वस्तुतः दोलाक्रीड़ाके कारण वृक्षोकी शाखाओके हिलनेसे पुष्प गिरते थे, इसीपर कविकी कल्पना है। यथा—

चलासु दोलासु विलास-कौशलं विलासिनीनामवलोक्य विस्मिताः ।
प्रपातिशाखिप्रसरैर्वितेनिरे, प्रसूनवृष्टिं वनदेवता इव ॥ १२।३०

रसभाव

इस महाकाव्यमें शान्त अंगीरस है और सहायक रूपमें वीर, शृंगार, एवं भयानक रसका परिपाक हुआ है। स्वयम्प्रभा और ललितांगके संयोग वर्णन प्रसंगमें शृंगारका सुन्दर निरूपण हुआ है।

अलंकार-योजना

इस काव्यमें समस्त प्रमुख अलंकारोका प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारोंमें अनुप्रास २।१७, २३, ४५. ९०, २८६, ७।२८३. ८।६५, ११।४, १८।१४२ में; यमक १०।४७, १४।६६, १७।३६३ मे एवं छेकानुप्रास २।२८, ३।४२, ४५, ४६, ६।१०, ७।३६, १५।१३८ में आया है। अर्थालंकारोंमे उपमा ५।१५ मे, उत्प्रेक्षा २।७०, ८७, ८८, ३।५१, ४।५३, ९।९०, १७।३९० मे, अर्थान्तरन्यास २।८५, ३।८३, ४।३५, ५।१३८, ६।३७, ७।२२, ८।१५८, १०।५८, १४।२४९, १५।१३ में; अतिशयोक्ति ३।१०, १६।२० मे; अपह्नुति ८।९३, ११.५६ मे, अप्रस्तुत प्रशंसा ४।१०५ में; एकावली ४।१८५ में; काव्यलिंग ७।२१ में; तुल्ययोगिता १४।२०० में; दीपक २।२४, ६।४०, दृष्टान्त २।५९ में, निदर्शना ३।३९, ८।७९ मे, विरोधाभास ४।२४०, १८।२४९ में एवं व्यतिरेक ४।५४, ६।१८८ मे प्रयुक्त हुए है।[1]

छन्दोयोजना

अनुष्टुप् १।१२७; आर्या १.१२८, इन्द्रवंशा ८.१६४, इन्द्रवज्रा २।२१, उपजाति १।२०, ६।१-२; उत्थापनी १७।२०३, उद्गीति ४।२४, उपेन्द्रवज्रा २।१५४, कुटजा १४।३८, गीति ४।६, चन्द्रिणी ४।४७, ज्योत्स्ना १४।२०९, द्रुतविलम्बित ११।१, १४।१, पुष्पिताग्रा १४।३५, पृथ्वी १०।११५, प्रबोधिता, १४।११७, प्रमिताक्षरा ११।७०, प्रहर्षिणी १५।१, मंजुभाषिणी १४।९०, मन्दाक्रान्ता ३।१, १०।१, मालिनी १।१२९, मेघविस्फूर्जिता ४।३९, रथोद्धता १०।१, लक्ष्मी १४।२०८, ललिता ५।१, वंशस्थविलम् १२।१, वसन्ततिलका २।३२५, वैतालीयम् १४।१८५, शार्दूलविक्रीडितम् ५।१४०, शालिनी ८।१६६, शिखरिणी ८।१६७, सुन्दरी ८।१६५, स्रग्धरा १४।१५८ स्वागता ८।१, एवं हरिणी १४।४० मं प्रयुक्त हैं।[2]

भाषा और शैली

इस काव्यकी भाषा सरल और प्रसादगुण युक्त है। समस्तकाव्यमे वैदर्भी शैलीको अपनाया गया है। दार्शनिक और आचार सम्बन्धी विषयोके प्रतिपादनमे भाषा अत्यन्त सरल और सानुप्राम है। जहाँ घटनाएँ और कथानककी धारा प्रवाहित होती है, वहाँ समासबहुला भाषा हो गयी है। यद्यपि प्रसादगुण सर्वत्र है। ललित और मधुरपद भी पाये जाते है।

◆

---

[1] अलंकारोंको विशेषरूपसे अवगत करनेके लिए पद्म० प्रस्तावना पृ० ८-१०।

[2] छन्दोंको अवगत करनेके लिए देखें—पद्मानन्द पृ० ५६६-५६८।

पंचम परिवर्त

*

सन्धान और ऐतिहासिक महाकाव्यों तथा अभिलेख काव्योंका अनुशीलन

(क) द्विसन्धान और सप्तसन्धान महाकाव्योंका परिशीलन
(ख) हम्मीर महाकाव्य : परिशीलन
(ग) हम्मीर महाकाव्यका ऐतिहासिक मूल्यांकन
(घ) मन्ने, कोन्नूर, ऐहोल और मल्लिषेण प्रशस्ति आदिका काव्य सौन्दर्य
(ङ) उक्त अभिलखोंका ऐतिहासिक मूल्य
(च) अन्य काव्योके साथ तुलनात्मक विवेचन

सन्धान, ऐतिहासिक और अभिलेख काव्य

प्रबन्धकाव्योंके विभिन्न रूपोंमें ऐसे काव्यरूप भी उपलब्ध हैं, जिनमें श्लेषके द्वारा दो, तीन, चार या इससे भी अधिक कथाओंका नियोजन कर सन्धान काव्योंका प्रणयन किया गया है। इन काव्योंका रचना-विधान साधारणतः चरित नामांकित या इतर महाकाव्योंके समान ही होता है; पर इनकी प्रमुख विशेषता यह रहती है कि इनमें श्लिष्ट शब्द और वाक्योंका नियोजन कर चमत्कारपूर्ण अर्थ-विधान उपस्थित किया जाता है। प्रत्येक श्लोकमें एकसे अधिक अर्थ श्लिष्ट रहते हैं। अतः काव्यके बाह्य रूपका चमत्कार विशेष रूपसे चित्ताकर्षक होता है। संस्कृत भाषाके जैन कवियोंने इस काव्य विधाके विकासमें योगदान दिया है। उपलब्ध सन्धान काव्योंमें जैनकवि धनंजयका 'द्विसन्धानम्' महाकाव्य सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। सान्ध्यकरनन्दीका 'रामचरितम्'[1] ई० सन् (१०८४-११३० ई०) ११वी शतीकी रचना है। अधिकांश इतिहासकार इसी काव्यको इस विधाका प्राचीन रचना मानते हैं।[2] इस काव्यमें मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और पालवंशी नरेश रामपालका वर्णन श्लेष द्वारा बड़ी मार्मिकताके साथ किया गया है। ऐतिहासिक प्रमाणोंके आलोकसे स्पष्ट हो जायेगा कि धनंजय सान्ध्यकरनन्दीसे प्राचीन है। यहाँ उपेक्षित प्रतिनिधि सन्धान रचनाओंका अनुशीलन प्रस्तुत किया जाता है—

द्विसन्धानम्[3]

यह महाकाव्य है। कथावस्तु १८ सर्गोंमें विभक्त है। इसका दूसरा नाम राघवपाण्डवीय भी है। एक साथ रामायण और महाभारतकी कथा कुशलतापूर्वक निबद्ध की गयी है। प्रत्येक श्लोकके दो-दो अर्थ हैं, प्रथम अर्थसे रामचरित निकलता है और दूसरे अर्थसे कृष्णचरित। कविने सन्धान विधामें भी काव्य-तत्त्वोंका समावेश आवश्यक माना

---

[1] हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १९१० ई०। इसका नवीन संस्करण डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदारके सम्पादकत्वमें वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटीसे १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ है।

[2] But a Triumph of misplaced ingenuity was attained in the twelfth century by three writers. The first perhaps in time was Sandhyakara Nandin, whose Ramapalacarita is intended to refer in each stanza to the history of Rama and also to the king Ramapala, who flourished at the close of the eleven the century in Bengal,

—A History of Sanskrit Literature, by A. B. Keith Oxford 1941, P. 137.

[3] द्विसन्धानम्—सं० शिवदत्त शर्मा, (काव्यमाला ४९), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९५ ई०।

है। उनका अभिमत है कि नवरस युक्त, शब्दालंकार और अर्थालंकारसे मण्डित, नवीन प्रयोगोंसे विभूषित एवं उपजाति आदि वृत्तोंमें रचित काव्य पुरातन इतिवृत्तके रहनेपर भी सहृदयोंका कण्ठहार होता है। काव्यमें माधुर्य आदि गुण, अर्थगाम्भीर्य एवं व्याकरण-सम्मत अलंकृत पदोंका सन्निवेश अपेक्षित है।[1]

रचयिता कवि धनंजय

महाकवि धनंजयके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें विशेष तथ्योंकी जानकारी उपलब्ध नहीं है। द्विसन्धान महाकाव्यके अन्तिम पद्यकी व्याख्यामें टीकाकारने इनके पिताका नाम वसुदेव, माताका नाम श्रीदेवी और गुरुका नाम दशरथ सूचित किया है।[2] कवि गृहस्थ था और गृहस्थोचित षट्कर्मोंका पालन करता था। विषापहार स्तोत्रके सम्बन्धमें कहा जाता है कि कविके पुत्रको सर्पने डँस लिया था, अत: सर्पविषको दूर करनेके लिए ही इस स्तोत्रकी रचना की गयी है।

स्थितिकाल

कविके स्थितिकालके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। इनका समय डॉ० के० बी० पाठकने ई० ११२३-११४० ई० के मध्य माना है। डॉ० ए० बी० कीथने अपने संस्कृत साहित्यके इतिहासमें धनंजयका समय पाठक द्वारा अभिमत ही स्वीकार किया है।[3] पर धनंजयका समय ई० सन् १२वीं शती नहीं है। यत: इनका उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्डमें आचार्य प्रभाचन्द्रने किया है। प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् ११वीं शतीका पूर्वार्ध है,[4] अतएव धनंजय सुनिश्चित रूपसे प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती है।

वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरित महाकाव्यमें द्विसन्धान महाकाव्यके रचयिता धनंजयका निर्देश किया है और वादिराजका समय १०२५ ई० है, अतएव धनंजयका समय इनसे पूर्व मानना होगा। यथा—

अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥पार्श्व० १।२६

जल्हणने राजशेखरके नामसे सूक्तिमुक्तावलीमें धनंजयके नामवाला एक श्लोक

---

[1] चिरन्तने वस्तुनि गच्छति स्पृहां विभाव्यमानोऽभिनवैर्नवप्रिय ।
रसान्तरेश्चित्तहरैर्जनोऽन्धसि प्रयागरम्भैरुपदंशकैरिव ॥द्वि० १।३
स जातिमार्गो रचना च साकृतिस्तदेव सूत्रं सकलं पुरातनम् ।
विवर्तिता केवलमक्षरैः कृतिर्न कञ्चुकश्रीरिव वर्ण्यमृच्छति ॥द्वि० १।४
कवेरपार्था मधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती ॥द्वि० १।५

[2] नीत्या यो गुरुणा ।द्वि० १८।१४६—य श्रीदेव्यामातुर्नन्दनः पुत्रो वसुदेवतः प्रति वसुदेवस्य पितुः प्रतिनिधि ।

[3] A History of Sanskrit Literature by A. B. Keith, P. 137.

[4] प्र० क० मू०—माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पृ० ४०२ ।

उद्धृत किया है।[1] यह राजशेखर काव्यमीमांसाके रचयिता राजशेखर ही हैं और इनका समय १०वीं शती सुनिश्चित है, अतः धनंजयका समय १०वी शतीके पूर्व होना चाहिए।

डॉ० श्री हीरालालजीने षट्खण्डागम प्रथम भागकी प्रस्तावनामें यह सूचित किया है कि जिनसेनके गुरु वीरसेन स्वामीने धवलाटीकामें[2] अनेकार्थनाममालाका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपमें उद्धृत किया है।

हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः॥

धवलाटीका वि० सं० ८०५-८७३ (ई० सन् ७४८-८१६) में समाप्त हुई थी, अतः धनंजयका समय ९वो शतीके उपरान्त नही हो सकता है।

धनंजयने अपनी नाममालामें 'प्रमाणमकलङ्कस्य'[4] पद्यमे अकलंकका निर्देश किया है, अतएव अकलंकके पूर्ववर्ती भो नही हो सकते। अतएव उपर्युक्त प्रमाणोके आधारपर धनंजयका समय अकलंक देवके पश्चात् और धवला टीकाकार वीरसेनके पूर्व होनेसे ई० सन्की आठवी शतीके लगभग है।

रचनाएँ

१ धनंजय निघण्टु या नाममाला[5]—छात्रोपयोगी दो सौ पद्यो का शब्दकोष है। इसमें ४६ श्लोक प्रमाण एक अनेकार्थ नाममाला भी सम्मिलित है। इस छोटे से कोषमें बडे ही कौशलसे संस्कृत भाषाकी आवश्यक शब्दावलीका चयन कर गागरमें सागर भरनेकी कहावत चरितार्थ की है। इस कोषमें कुल १७०० शब्दोके अर्थ दिये गये है। शब्द से शब्दान्तर बनानेको प्रक्रिया अद्वितीय है। यथा पृथ्वीके आगे धर शब्द या धरके पर्यायवाचो शब्द जोड़ देनेसे पर्वतके नाम; पति शब्द या पतिके समानार्थक स्वामिन् आदि शब्द जोड देनेसे राजा के नाम एवं रुह शब्द जोड़ देनेसे वृक्षके नाम हो जाते हैं।

२. विषापहारस्तोत्र—भक्तिपूर्ण ३९ इन्द्रवज्रा वृत्तोंमें लिखा गया स्तुतिपरक काव्य है। इस स्तोत्रपर विक्रम संवत् १६वी शतीकी लिखी पार्श्वनाथके पुत्र नागचन्द्रकी संस्कृत टीका भी है। अन्य संस्कृत टीकाएँ भी पायी जाती हैं।

---

१. द्विसन्धाने निपुणता सतां चक्रे धनञ्जयः।
यथा जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनञ्जय॥
—संस्कृत साहित्यका इतिहास—बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर काशी, षष्ठ संस्करण, पृ० २०४।

२. धवलाटीका, अमरावती संस्करण, प्रथम जिल्द, पृ० ३८७।

३. वही, प्रस्तावना, पृ० ६२

४. प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥
—नाममाला, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५० ई०, श्लो० २०१, पृ० ९२।

५. अमरकीर्तिके भाष्य सहित भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा सन् १९५० ई० में प्रकाशित।

३. द्विसन्धानमहाकाव्यम्—सन्धान शैलीका यह सर्वप्रथम संस्कृत काव्य है। कवि ने आद्यन्त राम और कृष्ण चरितोंका निर्वाह सफलताके साथ किया है। इसपर विनयचन्द्र पण्डितके प्रशिष्य और देवनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र, रामभट्टके पुत्र देवधर एवं बदरीकी संस्कृत टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

कथावस्तु

मुनि सुव्रत और नेमिनाथ तीर्थंकरको नमस्कार करनेके अनन्तर सरस्वतीकी वन्दना की है। कवि रामकथाका आरम्भ करते हुए अयोध्याका चित्रण करता है और कृष्णकथाके प्रारम्भके लिए हस्तिनापुरका। ये दोनों ही नगर गगनचुम्बी अट्टालिकाओंसे परिपूर्ण है। वातायनोंसे सुगन्धित धूम निकलता रहता है। यहाँकी बावड़ियोमे श्वेत कमल विकसित रहते है। लीलागृह सभीको समान रूपसे आनन्दित करते हैं। नगरोमें मोती, मूँगा, हीरा, पद्मराग प्रभृति मणियाँ समृद्धिकी सूचना दे रही है। इन दोनो ही नगरो में इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग नही होता है। नर और नारी सुख-शान्तिपूर्वक निवास करते हैं।—प्रथम सर्ग

अयोध्यामें विद्या, बुद्धि और पराक्रमका धनी दशरथ नामका राजा हुआ। इस राजाके राज्यमें समस्त प्रजा आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करती थी। श्लेष द्वारा बताया है कि हस्तिनापुरमे पाण्डु राजा शासन करते थे। दशरथकी पटरानी कौशल्या अपने सौन्दर्य और सदाचारके कारण अतीव प्रसिद्ध थी। सौन्दर्यकी दृष्टिसे वह समस्त रानियोंमे अपूर्व थी। पाण्डुकी पत्नी कुन्ती भी पटरानी थी। वह स्वयंवरमें राजाके गुणोंपर मोहित होकर अपने पातिव्रतका परिचय देती है।—द्वितीय सर्ग

कौशल्याने गर्भ धारण किया, जिससे महाराज दशरथ तथा अन्य सभी अन्तःपुरवासियोंको प्रसन्नता हुई। कौशल्याके गर्भसे रामचन्द्रका जन्म हुआ। महाराज दशरथने सुखद समाचार सुनानेवाले व्यक्तियोंका अपरिमित दान दिया। रामके अनन्तर कैकेयीसे भरत और सुमित्रा रानीके गर्भसे लक्ष्मण एवं शत्रुघ्नका जन्म हुआ। चूड़ाकरण और यज्ञोपवीतके अनन्तर रामका विवाह जनकपुत्री सीताके साथ सम्पन्न हुआ। दशरथ पुत्रों के बल-पराक्रम द्वारा रक्षित हो आनन्दपूर्वक रहने लगे।

पाण्डुपत्नी कुन्ती गर्भवती हुई और उसने युधिष्ठिर नामक पुत्रको जन्म दिया। युधिष्ठिरके अनन्तर कवचको तोड देनेवाले भीम, विशाल स्कन्धवाले अर्जुन और माद्रीसे नकुल एव सहदेवका जन्म हुआ। युधिष्ठिरका विवाह सम्पन्न कर दिया गया। पाण्डवोंने द्रोणाचार्यसे धनुर्विद्याका अभ्यास किया। धृतराष्ट्रसे दुर्योधन आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए, जो कौरव कहलाये। पाण्डु कौरव और पाण्डवोंसे युक्त निर्भयपूर्वक शासन करने लगे।—तृतीय सर्ग

एक दिन महाराज दशरथको दर्पणमें अपने श्वेत केश दिखलाई पडे। वृद्धावस्थाका आगमन समझकर उनको संसारसे विरक्ति हो गयी, अत. रामको राज्य पद देकर

उन्होंने तपस्या करनेका निश्चय किया। जब कैकेयीको रामके राज्याभिषेकका समाचार मिला तो उसे महान् कष्ट हुआ और उसने अपने पुत्र भरतके राज्याभिषेक करनेका वरदान माँगा। दूसरे वरदानमें रामको चौदह वर्षका वनवास माँगा गया। राम लक्ष्मण और सीताके साथ वन मे चले गये। दशरथने मुनिव्रत धारण कर लिया।

पाण्डुको जब अपनी वृद्धावस्थाका संकेत प्राप्त हुआ तो वे युधिष्ठिरको राज्य देकर तपस्या करने जाने लगे। इसी समय दुर्योधनने युधिष्ठिरको धोखा देकर पाशों द्वारा जुएमे राज्य जीत लिया। फलस्वरूप जुएकी शर्तके अनुसार पाण्डवोको वनवासके लिए जाना पड़ा।—चतुर्थ सर्ग

राम दण्डक नामके वनमे पहुँचे। यह वन बहुत ही सुन्दर और विस्तृत था। लक्ष्मणने यहाँ चन्द्रहास नामक खड्ग प्राप्त किया। शूर्पणखा रामकी सुन्दरता देखकर मोहित हो गयी और उसने अपने साथ विवाह करनेका प्रस्ताव रखा। लक्ष्मण द्वारा तिरस्कृत किये जानेपर उसने सीताहरणकी भूमिका तैयार की। रामने शम्बुकुमारकी भी हत्या की थी। लक्ष्मणने शत्रुवध किया। खरदूषणके साथ इनका युद्ध हुआ।

पाण्डव गुप्तवासके हेतु विराट् नृपतिके यहाँ पहुँचे। यहाँ कीचककी दृष्टि द्रौपदी-पर पड़ी, जिससे वह मुग्ध हो गया। भीमने कीचकका वध कर द्रौपदीके सतीत्वकी रक्षा की। कीचकके वधके अनन्तर अर्जुनने गोधनको लूटकर ले भागनेकी इच्छावाले शत्रुओं-का वध किया। दोनों ओर तुमुल युद्ध हुआ।—पंचम सर्ग

राम-लक्ष्मण दोनों ही खरदूषणकी अपार सेनाके साथ युद्ध करने लगे। खर-दूषणकी चतुरंगिणी सेनामें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चमक रहे थे, पर राम-लक्ष्मणके बलप्रतापके समक्ष खरदूषणकी सेना परास्त हो गयी तथा उसका वध भी कर दिया।

गायो के छुड़ानेमें तत्पर भीम और अर्जुनको दस्युओंके साथ भयंकर युद्ध करना पड़ा। उन्होंने अपने अपूर्व पराक्रम द्वारा दस्युओंसे गायें छुड़ा ली। इस भयंकर युद्धमें दोनोका पराक्रम अभूतपूर्व था, दोनों भाई पौराणिक नायकोंके समान युद्धमें संलग्न थे। उन्होने गायोंको उनके बन्धनोंसे मुक्त कर त्राण दिया।—षष्ठ सर्ग

खरदूषणके संहार होते ही रावण शूर्पणखा को सान्त्वना देनेके लिए आ पहुँचा। इस समय शरत् ऋतुका प्रारम्भ हो चुका था। रावण दण्डकारण्यमें जाकर शरत्का वैभव देखा। सीताके अनिन्द्यलावण्यको देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। उसने शरत्के रमणीय दृश्योंके बोच सीताका अपहरण किया और लंकाकी ओर प्रस्थान कर दिया।

शरत्को देखकर देव और दानवोंका समूह निर्मल आकाशमें क्रीड़ा करनेके लिए निकल पड़ा। सिद्धोंका समूह हाथमे वीणा दबाये भागा जा रहा था। सूर्यका प्रखर प्रताप क्षीण हो रहा था। अतएव शरत्के आनेपर भीमने द्यूतक्रीडाके कारण ऐश्वर्यसे च्युत धर्मराजसे कहा—"आपको अपने अपमानके प्रतिशोधके लिए प्रयत्न करना चाहिए। हमारा शत्रु दुर्योधन विविध सहाय आदि साधनोंसे सुसज्जित है। अतः हमें

अब अपना राज्य प्राप्त करनेके लिए प्रयास करना चाहिए। द्वारकाधीश श्रीकृष्ण हमारी सहायता करेंगे। धर्मराजने द्वारावतीके लिए प्रस्थान किया।—सप्तम सर्ग

लंका नगरी समुद्रसे वेष्टित थी, पर समुद्र इसका स्पर्श नहीं कर पाता था। रावणके प्रतापी शासनमें समस्त अधीनस्थ राजा नम्रीभूत थे। रावण लंका नगरीके वातायनमें बैठकर प्रजाको दर्शन देता था। शूर्पणखा सीताहरणसे बहुत प्रसन्न थी, उसे विश्वास था कि सीता लंकाका वैभव देखकर आत्मसमर्पण कर देगी। पर सती सीता अपनी प्रतिज्ञापर दृढ थी। इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, विभीषण आदि राजसभामें शासन शास्त्र और ललित कलाओंकी चर्चा करते थे।

युधिष्ठिर वैभवहीन हो जानेसे अन्य व्यक्तियोंके समक्ष आते हुए डरते थे। वे द्वारावतीके वातायनोंमें बैठकर समुद्रके सौन्दर्यका अवलोकन करते थे। भीम, अर्जुन आदि यादवोंको राजसभामें शस्त्र-शास्त्र एवं संगीत आदि की चर्चाएँ कर अपना समय यापन कर रहे थे। दुर्योधनके द्वारा किये गये अपमानमे युधिष्ठिरका मन बहुत दु:खी था। उन्हें दुर्योधनकी मनमानी तानाशाही असह्य थी, पर वचनबद्ध होनेसे कुछ भी प्रतिकार करनेमें असमर्थ थे।—अष्टम सर्ग

सीतापहरण होनेसे रामका मन चिन्ताक्रान्त हो गया। उन्होंने विभिन्न दिशाओंमें सीताका अन्वेषण किया। एक दिन रामने देखा कि साहसगति विद्याधर सुग्रीवकी पत्नीका अपहरण कर अनीतिपूर्वक रह रहा है। पापविनाशक राम अनर्थ बढ़नेकी आशंकासे दुर्गतिको प्राप्त सुग्रीवको उद्धार करनेके लिए तैयार हो गये। वे साहसगतिके साथ किष्किन्धामें भयंकर युद्ध हुआ। साहसगति मारा गया और नल, नील जामवन्त आदिने रामका स्वागत किया।

श्रीकृष्णकी नगरी द्वारावतीमे युधिष्ठिर आदि पाण्डव रहने लगे। जरासन्ध श्रीकृष्णसे शत्रुता करता था। उसने श्रीकृष्णके ऊपर सेना सहित आक्रमण किया। जरासन्धकी सेना व्याकरणके समान लोपको प्राप्त हो रही थी। बलभद्र, अर्जुन, भीम आदिसे युक्त हो श्रीकृष्ण युद्धभूमिकी ओर चले। भगीरथ प्रयत्न करनेपर भी अजेय माया—लक्ष्मीकी लोभी जरासन्धके द्वारा भेजी गयी सेना भागने लगी। सेनाका आतंक समाप्त होते ही द्वारकापुरीमे उत्सव मनाया जाने लगा और श्रीकृष्ण अर्जुनकी वीरतासे प्रसन्न होकर अपनी बहन सुभद्राका विवाह अर्जुनके साथ करनेका विचार करने लगे।—नवम सर्ग

एक दिन भोगविलासमे लीन वानरवंशके नेता राजा सुग्रीवके पास लक्ष्मण गये और क्रोधाविष्ट हो कहने लगे—"आप उच्चकुलमें उत्पन्न हैं, सद्गुणोंसे युक्त है और महापुरुषोंके द्वारा सेवनीय है। अतः मैं आपको स्पष्टरूपसे कह देना चाहता हूँ कि सीतान्वेषण करनेके लिए आपको प्रयास करना चाहिए, अन्यथा आप रामकी क्रोधाग्निमें भस्म हो जायेंगे।" सुग्रीवने मित्रता निर्वाहकी चर्चा की।

श्रीकृष्ण सभामें बैठे हुए थे कि पुरुषोत्तम नामका दूत आया और कहने लगा— "आपको कंसकी शत्रुताका स्मरण है या नहीं ? जरासन्धके साथ मित्रताका सम्बन्ध करो, अन्यथा इसका दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा।" दूतकी उक्त बातोंको सुनकर अर्जुन आदि क्षुब्ध हो गये। भीमके शरीरसे पसीना निकलने लगा। इस प्रकार यादव सभाको क्रोधसे युक्त होनेपर बलरामने सभीको धैर्य प्रदान किया और जरासन्धके दूतके साथ उचित व्यवहार किया। पुरुषोत्तम दूत अपने स्वामीका सन्देश कहकर चला गया।

—दशम सर्ग

वानरवंशी राजा सुग्रीव अपने मन्त्रियों और सामन्तोंके साथ मन्त्रणा करने लगा। रावण अत्यन्त प्रतापी है। अतः शत्रुके उन्मूलनके लिए प्रभु-मन्त्र और उत्साह शक्तिका व्यवहार करना चाहिए। जाम्बवान्ने सुग्रीवको धैर्य प्रदान किया। साम, दाम और दण्डनीतिका विचार किया जाने लगा। शत्रुकी शक्तिको समझकर ही युद्ध करना बुद्धिमत्ता है। पवनपुत्र हनुमान्, जाम्बवान् और सुग्रीवने राजतन्त्रके अनुसार विचार विनिमय किया।

पुरुषोत्तम दूतके चले जानेके उपरान्त नीतिनिपुण वासुदेव अनुभवी व्यक्तियोंके साथ मन्त्रणा करने लगे। जरासन्धके सम्बन्धमें दूरदर्शितापूर्वक विचार करना अत्यावश्यक है। यह जरासन्ध जगत् प्रसिद्ध है, अपूर्व शक्तिशाली है, इसको जीतना सामान्य बात नहीं है। श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने दान-नीतिका समर्थन किया। भीमने जरासन्धके विनाशका समर्थन किया। बलरामने मध्यस्थताका कथन किया।—एकादश सर्ग

मन्त्रणाके अनन्तर लक्ष्मण हनुमान्के साथ कोटिशिलापर पहुँचे। उन्होंने सोचा कि वनमें तपस्यामें लीन करोड़ों ऋषियोंसे भयभीत कामदेव इस शिलाको इसीलिए लाया होगा कि इसे वह गलेमें बाँधकर नदीमें डूब जायेगा। लक्ष्मणने उस कोटिशिलाको सरलता पूर्वक उठाया।

श्रीकृष्ण भीम आदिके मित्रोंके साथ कोटिशिलापर पहुँचे। यह कोटिशिला अपने तेजसे सुशोभित हो रही थी। श्रीकृष्णने उसे उठाया।—द्वादश सर्ग

जनकनन्दिनीका समाचार लेनेके लिए हनुमान् अकेला ही रावणपुरी लंकामें गया। मार्गमें अनेक राजाओंको उसने अपने स्वामी रामका अनुयायी बनाया। लंकामें उसने रावणकी गजशाला, अश्वशाला आदिका अवलोकन किया। हनुमान्ने रावणको समझाया कि अनीति करनेसे तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा। अतः सीताको लौटाकर रामके कृपापात्र बनो। रामसे विरोध करनेपर तुम्हारा सर्वनाश निश्चित है। हनुमान् सीताको रामकी अँगूठी उपहारमें देकर वापस लौटा।

श्रीकृष्णके द्वारा प्रेरित श्रीशैल नामका कोई दूत राजगृहमें पहुँचा। उसने राजगृहके प्रमुख स्थानोंका अवलोकन किया और जरासन्धसे कहा कि तुम श्रीकृष्णकी

अधीनता स्वीकार करो, अन्यथा किसी गुफामें जाकर तपश्चरण करो। दूत वहाँ की समस्त गुप्त बातोंका पता लगाकर वापस चला आया।—त्रयोदश सर्ग

राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान् आदि रावणपर आक्रमण करनेके लिए सैन्य तैयार करने लगे। रामकी सेना आँधीसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंके समान आगे बढने लगी। राम और लक्ष्मण हाथीपर सवार थे और चारों प्रकारकी सेना यथानुरूप गमन कर रही थी। स्कन्धावारोंकी स्थापना करती हुई यह सेना आगेकी ओर चली जा रही थी।

श्रीकृष्ण-बलराम पाण्डवोंके साथ राजगृहकी ओर अपनी चतुरंगिणी सेनाका संचालन कर रहे थे। प्रतापी यादवोंकी सेना लोकोत्तर मालूम पड रही थी। सेनाके प्रयाणसे प्रकृति भी विचित्र प्रतीत हो रही थी।—चतुर्दश सर्ग

राम, लक्ष्मणकी सेना समुद्रतटपर पहुँचकर वनमे चंक्रमण करने लगी। दिशा और विदिशाओंमें पुष्पचयन करते हुए लोगोंने आपसमे एक दूसरेको देखा। वनविहार और जलक्रीड़ा भी वानरवंशी राजाओने की।

यादववंशी राजा चन्द्रभानुलिप्त नायिकाओके साथ गगा किनारे वनविहार करने लगे। पुष्पावचय करती हुई नायिकाओके साथ नाना प्रकारकी प्रेमक्रीडाएँ करने लगे। जलविहार एवं विलासियों द्वारा सम्पन्न की जानेवाली विलासमय लीलाएँ सम्पादित की गयीं।—पंचदश सर्ग

रामकी सेनाका आगमन जानकर रावणने मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि सामन्तोको सेना तैयार करनेका आदेश दिया। राक्षसोंकी सेना सन्नद्ध होकर रणभूमिमें उपस्थित हो गयी। दोनो ओर बाण वर्षा होने लगी। मेघनाद और कुम्भकर्ण भी रामकी बाणवर्षाके समक्ष नही ठहर सके। रणभूमिमें भय और आतंक व्याप्त हो गया।

श्रीकृष्ण और पाण्डवोंकी सेनाने जरासन्धकी सेनापर आक्रमण किया। घमासान युद्ध होनेके कारण चारो ओर शवोंसे रणभूमि आच्छादित हो गयी। कबन्ध नाचने लगे और शृगाल शब्द करने लगे।—षोडश सर्ग

योद्धा कवचोंसे सन्नद्ध थे, जिसमे बाणका प्रवेश उनके शरीरमें नही हो पाता था। रावणकी अपूर्व शक्तिसे क्रुद्ध हो रामने अग्निके समान तीक्ष्ण बाणोंकी वर्षा की। मेघघटाके समान चारों ओर बाण आच्छादित हो गये। लक्ष्मणने कुम्भकर्णको घेर लिया। विजयश्रीने लक्ष्मणका वरण किया। सैनिकोने रात्रिमे अपनी नायिकाओके साथ सुरत सेवन किया।

केशव, बलराम और अर्जुनादिने जरासन्धकी सेनाको चारो ओरसे घेर लिया। दोनो ओरसे भयंकर बाणवर्षा होने लगी। योद्धा परस्परमें गर्जन तर्जन करने लगे। कृष्णने जरासन्धका सिर धडसे अलग कर दिया। सैनिक रात्रिमे सम्भोगसुखका अनुभव करने लगे।—सप्तदश सर्ग

सीताको लंकासे लेकर पुष्पक विमानमें सवार हो राम अयोध्याको वापस लौटे। लंकाका राज्य विभीषणको सौंप कर वे निष्कण्टक हो अयोध्याका राज्य करने लगे।

श्रीकृष्ण जरासन्धको परास्तकर पाण्डवोंको मित्रताका निर्वाह करते हुए निष्कण्टक राज्य संचालित करने लगे। —अष्टादश सर्ग

कथावस्तुका स्रोत और गठन

कविने रामकथा और पाण्डव कथाके प्रमुख अंशोंको एक साथ लेकर इस काव्यकी रचना की है। कवि धनंजयको संश्लिष्ट कथानकके निर्वाहमें सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि दो कथाओंको एक साथ ले चलनेके कारण प्रबन्ध गठनमें शिथिलता प्रतीत होती है, फिर भी घटनाएं स्वाभाविक रूपमें घटित होती हुई दिखलाई पड़ती है। मानव जीवनका पूर्व दृश्य इस काव्यमें अंकित नहीं हो सका है। मर्मस्पर्शी कथानक या घटनाएँ अल्प है, पर उनमें रसोद्बोधनकी क्षमता है। इतिवृत्त निर्वाहकी सफल चेष्टा की है, पर रसात्मक तरंग उत्पन्न होनेमें त्रुटि रह गयी है। राम और कृष्णके निष्कण्टक राज्य संचालनरूप एक ही व्यापक कार्यकी प्रतिष्ठा पायी जाती है। आधिकारिक कथा ही उपलब्ध है, प्रासंगिक नहीं। कथानकोंमें परस्पर सम्बन्ध वर्तमान है। दूतोंके आगमन और प्रत्यागमनके अवसरपर ओजस्वी संवाद प्रस्तुत किये गये हैं। घटनाएँ सकारण निरूपित हैं। इतिवृत्तात्मक वर्णनोंको सरस बनानेके लिए पुष्पचयन, जलक्रीडा, वनविहार, सुरतवर्णन, रात्रिसंयोग एवं युद्धवर्णन अंकित किये गये हैं। श्लेषके निर्वाहमें कविको बहुत अच्छी सफलता मिली है। आद्यन्त श्लेष व्याप्त है तथा दोनों कथावस्तुएँ रेलकी पटरियोंके समान समानान्तर रूपसे उपस्थित होती हैं।

महाकाव्यत्व

राम-कृष्णकी कथा अठारह सर्गोंमें विभक्त है। काव्यका आरम्भ तीर्थंकरोंकी वन्दनासे हुआ है। इतिवृत्त पुराण प्रसिद्ध है। मन्त्रणा, दूतप्रेषण, युद्धवर्णन, नगरवर्णन, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, पादप, उद्यान, जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, सुरतोत्सव आदिका चित्रण है। कथानकमें हर्ष, शोक, क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा आदि भावोंका संयोजन हुआ है। शाब्दीक्रीड़ाके रहनेपर भी रसका वैशिष्ट्य वर्तमान है। महत्कार्य और महदुद्देश्यका निर्वाह भी किया गया है। कविने किसी भी अस्वाभाविक घटनाको स्थान नहीं दिया है। विवाह, कुमारक्रीड़ा, युवराजावस्था, पारिवारिक कलह, दासियोंकी वाचालताका भी चित्रण किया है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ वस्तु-वर्णन उद्धृत किये जाते हैं।

नगरी चित्रण

श्लेष द्वारा अयोध्या और द्वारावतीका एक ही साथ चित्रण करते हुए कहा है—

पुरी पयोधीन् कुलपर्वतानपि प्रसाधयन्ती करशुद्धमण्डला ।
बिभर्ति साकेतकगोत्रसूचिता सर.सु लक्ष्मीं प्रतिमा रवेरिव ॥ १।११

सुन्दर राजस्व व्यवस्थाके कारण चोरादि हीन, फलतः समुद्रों और सीमा पर्वतों तकके लिए अलंकारभूत और साकेत नामसे प्रसिद्ध वह अयोध्यापुरी तालाबमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी प्रतिमाके समान सम्पत्तिकी भण्डार थी ।

राज्य भरमें उचित राजस्वके लिए ख्यात, अतएव समुद्रों और कुलाचलोकी शोभाको बढ़ानेवाली तथा साकेत वंशके राजपुत्रोंके लिए सर्वथा उपयुक्त वह हस्तिनापुरी सूर्य बिम्बके समान तालाबो और लक्ष्मीसे पूर्ण थी ।

विसारिभि. स्नानकषायभूषितैर्विभीषितेव प्रियगात्रमङ्गना ।
शुचौ समालिङ्गति यत्र सारवे ह्रदे तरन्ती कलहंससंकुले ॥ १।१२

ग्रीष्म ऋतुमें जहाँपर सुन्दर हंसोसे पूर्ण सरयू नदीके घाटोपर तैरती हुई युवती स्नानके समय लगाये गये लेप आदिसे रंगी मछलियोसे डर कर अपने पतिके शरीरसे चिपट जाती है ।

हस्तिनापुरमे सुन्दर हंसोसे व्याप्त, अतएव कोलाहलपूर्ण स्वच्छ तालाबमें तैरती हुई अंगना······· है ।

भरान घटी यन्त्रगतान् गतश्रम पय कणैरप्रपदेन पीडयन् ।
स यत्र कच्छी सतनुः सुरालयं प्रयुज्य निःश्रेणिमिवारुरुक्षति ॥ १।१३

जिन नगरियोमे माली अपने पैरमें रेहटके गजोको दबाता था, पर पानीकी फुहारसे उसकी थकान दूर हो जाती थी । वह ऐसा लगता था, मानो सीढी बिना लगाये ही अपने भौतिक शरीरके साथ स्वर्गमे चढनेका प्रयत्न कर रहा है ।

उदर्कसंक्लेशभरं स्वयं वहत् परस्य सतापहरं फलप्रदम् ।
युत विजात्यापि विलङ्घ्य सज्जनं विभाति यत्रोपवनं समन्तत ॥ १। ४

जिन नगरोमे शिरपर चमकते सूर्यके आतपको स्वयं सहकर भी दूसरोको गर्मीसे बचानेवाला, फलोंका दाता तथा कोने-कोनेमे विशेष प्रकारकी वृक्ष-श्रेणियोंसे पूर्ण उपवन सज्जनोसे भी बढकर शोभित होता है ।

प्रकृति चित्रण

काव्य मानवीय भावोकी प्रतिच्छाया है । अत. सामान्य रूपसे मानव ही काव्यका आलम्बन रहता है । मानवके नर और नारी इन दो रूपोमेसे काव्यमें नारीको विशेष महत्त्व दिया गया है । मानवके अतिरिक्त अन्य जीव और पदार्थ भी काव्यमे यथोचित आलम्बन प्राप्त करते हैं । प्रकृति काव्यमे आलम्बन और उद्दीपन दोनोका कार्य करती है । आलम्बनके चरित्र-विकास, परिस्थिति चित्रण एवं वातावरण निर्माणमें प्रकृतिका महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है । महाकवि धनंजयने प्रकृतिके रम्यरूपको प्रस्तुत कर भावनाओको उद्वेलित किया है । यथा—

वप्राणां रम्यतालक्ष्मीः सोत्पलाऽऽलिसंपदाम् ।
तेन पक्वफलापाण्डुरानिन्ये कङ्कनक्रियाद् ॥ ७।१८
किंशुकाकुलभूमीना नगानां फलसंपदः ।
नामिताः परिपक्वाणां कृता रभसयामुना ॥ ७।१९

शरत् ऋतुके आनेपर जल मलिन हो गया। धान्यरूपी सम्पत्तिसे पूर्ण खलियानोकी शोभा तथा श्रीको पके फलो और विकसित कमलोंके द्वारा सर्वथा श्वेत-रक्त करके शरत्कालने उछल-कूद ही मचा दी थी।

पके फलोसे युक्त और शुकोसे घिरे वृक्षोंकी फलरूपी सम्पत्तिको क्या ऋतुने तुरन्त ही निस्सीम नही बना दिया था।

भूर्जाश्रते प्रदेशेऽस्मिन्सालतालीसमाकुले ।
अभिख्यातियुता नित्यं शष्पच्छायोदकान्विता ॥ ७।४५

साल एव ताल वृक्षोसे व्याप्त, भोजपत्रोके समान विस्तृत और समतल इस क्षेत्रमे दूबकी छाया और जलसे पूर्ण शीतल भूमि अत्यन्त रमणीय प्रतीत होती है।

उद्दीपनके रूपमे प्रकृतिका चित्रण करते हुए कहा है—

संक्रीडितं स्यन्दनच..जात वने मयूरा विनिशम्य रम्यम् ।
वनारवोत्काः पतिता इवौघै पिच्छातपत्रप्रकरा विरेजुः ॥ ५।४७

वनमे जाते हुए रथोंके पहियोसे उत्पन्न गम्भीर तथा मधुर नादको सुनकर मयूर वैसे ही उत्कण्ठित हो गये थे, जैसे मेघके गर्जनको सुनकर होते हैं। वे झुण्डके झुण्ड बाहर निकल आते है और पंख फैलाकर नाचते है। ये सब मयूरपुच्छसे निर्मित छत्रोके समान सुशोभित होते हैं। यहाँ रथोकी ध्वनिको मयूर नृत्यका कारण कहा है।

समुद्रमे मानवका आरोप करता हुआ कवि कहता है—

वीचिबाहुभिरालिङ्गंश्चिरदृष्टामिवावनिम् ।
पारावारश्चचालोच्चैरपारः पूरयन्दिशः ॥ ७।७

शरत्को मनुष्यके रूपमे चित्रित करते हुए बताया है कि बहुत समयसे बिछुड़ीके समान पृथ्वीको विस्तृत सागरकी लहरो रूपी हाथोसे आलिगन करता हुआ तथा सभी दिशाओको व्याप्त करता हुआ शरत्काल फैलता जा रहा था। समुद्रका चित्रण कविने विभिन्न रूपोमें किया है—

अनिधनेन रसातलवासिना विगलितां निबिडं वडवाग्निना ।
इह मुहुः शफरीपरिवल्गनव्यतिकरात् क्वथतीव सरित्पतिः ॥ ८।४

नीचे धधकनेवाले बड़वानलके द्वारा निरन्तर जलाया गया यह समुद्र मछलियोकी उछल-कूदके बहाने बार-बार उबल-सा रहा है।

कल्लोलाः सपदि समुद्धृता मरुद्भिर्गण्डूषा इव करियादसां विभान्ति ।
और्वाग्निज्वलनशिखाकलापशङ्कामेतस्मिन्विदधति पद्मरागभासः ॥ ८।६

वायुके झोकोंसे एकाएक उठी हुई लहरें जलके हाथियोंके कुल्लेके समान प्रतीत होती हैं और पद्मराग मणिकी छटाएँ दावानलके जलनेसे उठी लपटोंकी शंकाको उत्पन्न करती हैं।

आपातुं जलमिदमिन्द्रनीलजालव्याजेन व्यवतरतीव मेघजालम् ।
वक्षोभिः करिमकरैर्विभिन्नमम्भो यात्युद्यन्मणिरुचिशक्रचापभावान् ॥ ८।८

इन्द्रनील मणियोंके जालके बहानेसे मेघमाला ही इसके जलको भरपूर पीनेके लिए उतरती-सी लगती है। हाथियों और मकरोंके वक्षःस्थलोंके थपेड़ोंसे बूँद-बूँदकर उछाला गया तथा उछलते मणियोंके समान चमकता इसका जल इन्द्रधनुषकी शोभाको धारण करता है।

एतान् प्रवालविटपान्स्वतटीभिरूढान् रूढानिविक्षति हस्तैरुदधिस्तरङ्गैः ।
रङ्गैर्महाम्बुकरिणां निकटे वसन्तं सन्तं न सत्त्वसहिता ह्यवधीरयन्ति ॥ ८।९

अपने किनारेपर उगे तथा बड़े-बड़े मूँगाके पौधोंको जलके हाथियोंकी विशाल कायाके आघातसे उत्पन्न विशाल लहरोंके द्वारा सींचता है। उचित ही है कि सामर्थ्यशाली पुरुष अपने पास रहनेवाले सज्जनोंकी उपेक्षा नहीं करते हैं।

इस प्रकार कवि धनंजयने वस्तुवर्णनमें कल्पनाके सहारे अनेक चित्रात्मक और संश्लिष्ट रूप उपस्थित किये हैं।

रस-भाव-योजना

जीवन और जगत्के विविध पदार्थोंकी प्रतिक्रियाके रूपमें उद्भूत विविध संवेदनात्मक मनोविकार भाव कहलाते हैं। भाव सुख-दुःखके रूपमें जीवनमें हर्ष-विषादका सृजन करते हैं। काव्यमें ये विभाव, अनुभाव और संचारीकी संज्ञा प्राप्त करते हैं। जो भाव हमारे हृदयमें सुषुप्तावस्थामें स्थित रहते हैं, स्थायी भाव कहलाते हैं। स्थायी भावोंको जागृत या उद्दीप्त करनेवाले विभाव और अनुभाव होते हैं। कवि धनंजयने विविध रसोंके निरूपण प्रसंगमें भावोंकी अभिव्यंजना की है।

प्रस्तुत काव्यका अंगीरस वीर है और अंगरूपमें श्रृंगार, भयानक, रौद्र और बीभत्स रसोंका निरूपण हुआ है।

श्रृंगार रस

श्रृंगार भावना जीवनमें व्यापक अस्तित्व रखती है। इसका स्थायी भाव रति है, यह प्रत्येक प्राणीकी शाश्वत भावना है। आचार्य रुद्रटने लिखा है कि श्रृंगार रसकी स्थिति आबाल-वृद्ध सभीमें पायी जाती है। इसके समान सरस रस अन्य कोई

---

१. अनुसरति रसाना रस्यतामस्य नान्य सकलमिदमनेन व्याप्तबालप्रवृद्धम् ।
तदिति विरचनीय सम्यगेष प्रयत्नात् भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम् ॥
—गोविन्द त्रिगुणायत, शा० स० के सि०, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, प्र० भा० पृ० १७८।

नहीं है। शृंगारकी सरसता और कमनीयता ही उसे आकर्षण प्रदान करती है। कवि धनंजयने संयोग शृंगार और विलासलीलाका सुन्दर चित्रण किया है।

क्षुपविपिनलतान्तरे जनानामीति सुरतव्यवहारवृत्तिरासीत् ।
ननु दयितपरस्परानिकारव्यवहरणं भुवि जीवितव्यमाहुः ॥ १५।१८

छोटे-छोटे पौधोंकी सघन पंक्ति और लताओंकी ओटमें क्रीडा करते लोगोंकी सुरत क्रियाका आचरण हुआ था। सत्य है कि प्रेमी-प्रेमिकाओके परस्पर निश्छल व्यवहार ही संसारमें जीवन कहे जाते हैं।

परिषजति परस्परं समेत्य प्रतिमिथुने कुचमण्डलं बबाधे ।
भजति हि निजकर्कशं न पीडा कमपरमध्यगतापवारकं वा ॥ १५।१९

निकट आकर गाढालिंगन करनेमें प्रत्येक युगलको स्तनमण्डल बाधा दे रहा था। जो कठोर है, वह अथवा दोके बीचमें आया बाधक किसको कष्ट नही देता है।

महानिवेशं कुचभारमेका धृत्वा कराभ्यां त्वरितं जिहाना ।
उपर्युपर्युच्छ्वसिता नताङ्गी शून्यं तरन्तीव घटद्वयेन ॥ ८।३९

यौवन भारसे झुकी, उत्तरोत्तर अधिक वेगसे साँस लेती हुई कोई एक स्त्री अपने बड़े-बड़े स्तनोके भारको दोनों हाथोंसे सँभाले तेजीसे आगे बढ़ती जाती, ऐसी मालूम होती थी मानो दो कलशोके सहारे आकाशमे तैर रही है।

विधूय लीलाम्बुजमुत्पलाक्षं निघ्नन्त्यलिं कर्णगमुत्पलाशम् ।
भ्रेजेऽङ्गनौघः सुरयो निजेन हावेन गच्छन् सुरयोनिजेन ॥८।४०

विकसित कलिकाओंसे युक्त लीलाकमलको हिलाकर कानपर लगे कमलके लोभी भ्रमरोंको मारती हुई वेगसे बढती कामिनियोंके झुण्डने अप्सराओंमें सुलभ अपने हाव-भावके द्वारा अद्भुत छटा दिखायी थी।

वीररस

महाकवि धनंजयने युद्धोंके विवेचनमें वीररसकी सुन्दर व्यंजना की है। योद्धाओंकी विविध चेष्टाएँ, वीरतापूर्ण कार्य एवं अस्त्र-शस्त्रोकी झनकार पाठकोंके हृदयमे वीररसका संचार करनेमें समर्थ हैं। यथा—

प्रभावतो बाणचयस्य मोक्तरि प्रभावतोषे समरे स्थिते नृपाः ।
प्रभावतो हीनतया विवर्जिता प्रभावतो हीनतया रराजिरे ॥६।३१

असन्तुष्ट राजा राम अथवा भीमकी समरस्थलीमें उपस्थित, प्रतापवान् बाण वर्षासे योद्धाओंके कारण लक्ष्मीसे परित्यक्त अतएव प्रभावसे वंचित शत्रु राजा लोग प्रभुताकी दृष्टिसे तनिक भी नही जँचते थे।

कीचक या शूर्पणखाके प्रति भीम या लक्ष्मणकी उक्तियाँ, वीरताका भाव उत्पन्न करनेमें समर्थ है—

स्वजीविते निर्विजसे यदि त्वं विशानलं वा गिल कालकूटम् ।
तेनाहतेयं महिलेति मे मा कृथा जनोदाहरणं दुरन्तम् ॥५।२४

यदि तुम्हें अपने जीवनसे घृणा हो गयी है तो आगमें जल मरो, या कालकूट विष पान कर लो। लक्ष्मण या भीमने एक स्त्रीको मार डाला था, ऐसा निन्दनीय उदाहरण भविष्यके लिए न होने दो।

मही समूहन्तमिवाक्षिपन्तं ब्रध्नं प्रतापाग्निमिवोद्गिरन्तम् ।
ब्रुवाणमाक्षिप्य गिरं तथासौ निर्घातपातोपहत जगर्ज ॥५।२६

पृथ्वीको मिलते हुए से, सूर्यको आकाशसे नोच कर फेंकतेसे, प्रतापकी अग्निको उगलते हुए-से और पूर्वोक्त प्रकारसे बोलते हुए लक्ष्मण अथवा भीमकी बातको काटती हुई शूर्पणखा अथवा कीचक ऐसे जोरसे बोला था, जैसे बिजली ऊपर गिरनेपर कोई चिंघाड़ता है।

प्रयाणभेरीके सुनते ही राजा लोग आनन्दमे झूमने लगे, वीरोंके शरीरमें रोमांच हो आया। प्रसन्नतासे कवच टूटने लगे। चतुरंगिणी राघव-पाण्डव सेनाका पराक्रम दर्शनीय था।

आरात्रं दिशि दिशि तं निशम्य तस्या रोमाञ्चै परिहृषितैस्तनुर्नृपाणाम् ।
अम्भोदप्रथमरवोत्थरत्नसूचिः संरेजे स्वयमिव सा विदूरभूमिः ॥१०।२

समस्त दिशाओंमें प्रयाण भेरीके उस घोषको सुनकर परम आनन्दसे उठे रोमाचके द्वारा राजा लोगोंकी काया वैसी ही शोभित हुई थी; जिस प्रकार वर्षारम्भमे मेघोंकी प्रथम गर्जनाको सुनते ही अपने-आप निकले रत्न अंकुरोसे युक्त विदूर-पर्वतकी भूमि होती है।

भयानक रस

राघव-पाण्डव राजाओके पराक्रमपूर्ण युद्धका आतंक सर्वत्र छा गया था, उनके बाणकी टंकारसे नागपत्नियोके गर्भपात हो गये थे। खेचर भयविह्वल हो स्तब्ध थे। युद्धकी भीषणतामे सभी दिशाएँ भयभीत थी, चारों ओर धूमकेतु छा गये थे। यथा—

पतत्रिनादेन भुजङ्गयोषितां पपात गर्भः किल तार्क्ष्यशङ्कया ।
नमश्चरा निश्चितमन्त्रसाधना वने भयेनास्यपगारमुद्यता: ॥६।३६

बाणकी टंकारको सुनकर गरुड़की ध्वनिका भय हो जानेसे नागपत्नियोंके गर्भपात हो गये थे। खेचरोको भी ऐसा दारुण-भय हुआ था कि तलवारको मियानसे निकालनेका प्रयत्न करते-करते ही उन्हे यह विश्वास हो गया था कि वे मन्त्रबलसे ही सफल हो सकते है।

समन्ततोऽप्युद्गतधूमकेतव: स्थितोर्ध्वबाला इव तत्रसुर्दिशः ।
निपेतुरुल्का: कलमाग्रपिङ्गला यमस्य लम्बाः कुटिला जटा इव ॥६।३०

युद्धकी भीषणतासे दशों दिशाएँ ऐसी भीत हो गयी थी, जैसी कि चारों ओरसे धूमकेतु छा जानेपर होता है और उनके बाल खडे हो जाते है। शस्त्र-संघर्षसे उत्पन्न पके धान्यकी बालोके समान धूसर रंगकी बिजलियाँ गिर रही थी, जो यमकी लम्बी और टेढ़ी जटाके समान प्रतीत होती थी।

बीभत्स रस

युद्धभूमिमे मृत मनुष्योंका मास, रक्त आदि पड़ा हुआ था। कटे सिर और धड़ोंको लेकर पिशाच, डाकिनी, शृगाल आदि मासाहारी नाना प्रकारसे उत्सव सम्पन्न कर रहे थे। यथा—

असृग्वसामांसरसेन भग्ना मस्तिष्कमुन्मग्नकपालशल्कम् ।
आस्वाद्य तद्दाधिककल्लरमल्पा क्षेमं रुचिर्मग्नमुखैः पिशाचैः ॥ १६।८२

अलंकार-योजना

प्रस्तुत महाकाव्यका अन्तिम सर्ग यमकालकारमे ही लिखा गया है। यमकके सभी प्रकारके उदाहरण इस सर्गमे आये है। यमकके अध्ययनके लिए इस सर्गके १४६ पद्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्लेष तो समस्त पद्योमे पाया जाता है। अर्थालकारोंमे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि सभी प्रसिद्ध अलकार प्रयुक्त हैं।

उपमा

काव्यशोभाको वृद्धिगत करनेवाले धर्मको अलकार कहा जाता है। महाकवि धनजयने विभिन्न उपमानोका प्रयोग कर इस अलंकार द्वारा काव्योत्कर्ष उत्पन्न किया है।

कटाक्षलीला इव दीर्घिका: १।२६—मछलीके समान चंचल गतियुक्त वेश्याओंके विशाल कटाक्षोको बावडियोके समान कहा गया है।

गवाक्षजालैरिव १।२०—गगनचुम्बी शिखरोमे युक्त पर्वतोकी भूमि मदोन्मत्त हाथियोके दन्त प्रहारके कारण खिडकियोसे व्याप्त प्रासाद श्रेणीके समान सुशोभित थी।

मेरोरिव कृत्रिमाद्रय: १।२२—जिन नगरोके क्रीडा पर्वत सुमेरु पर्वतके समान सुशोभित थे। सुमेरुपर सुर देवता क्रीडा करते हैं और क्रीडापर्वतोंपर सुरा उपसेवन होता था।

धूमोद्गमकुण्डिका इव १।२४—धूम निकलते हुए वातायन धूमकुण्डीके समान प्रतीत होते थे।

वट इव गुणः २।२१—राजाके गुण वटवृक्षके समान बिना फूले ही—प्रकट हुए ही फल देते थे।

घुणाहतं काष्ठमिव ३।४०—पुत्रहीन राज्यको घुनसे खायी लकड़ीके समान कमजोर कहा है। राज्य परम्पराके संचालनके लिए सन्तानका रहना आवश्यक है, यह इससे ध्वनित होता है।

कल्लोल इवाम्बुराशेः ५।३६—समुद्रकी लहरोंके समान घोड़ोंकी सेना बढ़ती जा रही थी।

खलानामिव ५।६०—बाण दुर्जन समूहके समान नहीं रुकते थे।

अर्थकामाविव ६।२—जिस प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थका सेवन संचित धर्मको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार भीम, अर्जुन आदि वीर शत्रुओंकी सेनाको समाप्त कर रहे थे।

उत्प्रेक्षा

मन्दोन्मत्त हाथियोके मदकी धारा प्रवाहित हो रही है। वे उन्मत्त होनेके कारण अपने सिरका संचालन कर रहे हैं। उनकी लाल-लाल आँखें और उन्माद सूचक आकृतिसे अवगत होता है कि वे अपने बन्धनका विरोध करनेके लिए ही माथा धुन रहे हैं। यथा—

दशां दधानाः खलु गन्धधारिणीं महाद्रुमस्कन्धनिबद्धकन्धराः।
स्वबन्धवैरोद्धटयेव सिन्धुराः शिरांसि यस्यां धुनतेऽरुणेक्षणाः॥ १।१५

विरोधाभास

वास्तविक विरोध न होनेपर भी जहाँ विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ यह अलंकार होता है। कवि धनंजयने नगर विभूतिके चित्रणमें इस अलंकारका व्यवहार किया है। यथा—

उदर्कसंक्लेशभरं स्वयं वहन् परस्य संतापहरं फलप्रदम्।
युतं द्विजात्यापि विलंध्य सज्जनं विभाति यत्रोपवनं समन्ततः॥ १।१४

उपवनका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि स्वयं चमकते सूर्यके आतापजन्य क्लेशको सहन करनेवाला होनेपर भी अन्य लोगोके सन्तापको दूर करनेवाला है, यह विरोध प्रतीत होता है, अतः जो स्वयं क्लेशयुक्त है, वह अन्यके क्लेशको किस प्रकार दूर कर सकता है। परिहार यह है कि सिरपर चमकते सूर्यके आतापको सहन कर भी दूसरोंको छाया द्वारा शीतलता प्रदान करता है।

परिसंख्या

अयोध्या और हस्तिनापुरीके वर्णन प्रसंगमें बताया है कि वेश्याओंके अतिरिक्त इस पुरीमें कोई दूसरा न था, जिसकी प्रतिज्ञा झूठी हुई हो, दूसरोंको ठगा हो, बनावटी रूपसे सेवा-सत्कार किया हो, केवल क्षण भरकी प्रीति निभायी हो।

असत्यसन्धाः परलोकवञ्चकाः कृतोपचाराः कृतकेन कर्मणा।
मुहूर्तरक्तास्तरला बहुच्छलाः परे न यस्यां पुरि पण्यदारतः॥ १।४८

दशरथ और पाण्डुकी राज्य-व्यवस्थाका चित्रण करते हुए लिखा है—

प्रसेदुषि स्थितिमति यत्र राजनि ध्वजांशुकान्यपि न जहार मारुतः ।
स चातकः सततृषातुरोऽश्रुधाः पतिंवराबलकपरिग्रहे परम् ॥ २।१८

वायु ही ध्वजाओंके कपडोंको चुराता-उड़ाता था, अन्य चोरोंकी बात ही क्या ? केवल चातक पक्षी ही प्याससे व्याकुल रहता था तथा पतिको वरण करके पाणिग्रहण करनेवाली कन्याकी विदाके समय ही आँसू बहते थे ।

वक्रोक्ति

अन्य अभिप्रायसे कही गयी बातका अन्य अर्थ लगाना वक्रोक्ति अलंकार है । यथा—

गुणोऽखिलं वसु च परेण तद्द्वयं गृहीतमप्यभजत यत्र न व्ययम् ।
असत्यसंव्यवहृतिलोभविस्मयं परात्तमन्वगमदशेषतः क्षयम् ॥ २।५

जिस राजाकी समस्त सम्पत्ति तथा साधुजनोचित गुण दूसरो—याचकों तथा अनुकरण करनेवालोंके द्वारा ग्रहण किये जानेपर कम नही हुए थे। किन्तु मिथ्या व्यवहार, लोभ तथा आश्चर्य दूसरोंमें ही चले गये थे और इसमें उनका लेशमात्र भी शेष न था ।

आक्षेप

महाकवि धनंजयने विवक्षित वस्तुकी विशेषता प्रतिपादन करनेके लिए निषेध या विधिका आभास प्रकट कर आक्षेप अलंकारका नियोजन किया है । यथा—

अनारतं तिसृषु सतीषु शक्तिषु त्रिवर्ग्यपि व्यभिचरति स्म न स्वयम् ।
पदातयः किमु किमरातयः सुता सहायता किमु किल यस्य बन्धुता ॥ २।१४

प्रभु-मन्त्र-उत्साह रूप तीनों समीचीन शक्तियोंका सर्वदा उपयोग करनेपर भी जिसने धर्म, अर्थ-काम रूपी त्रिवर्गका भी परस्पराविरोधेन पालन किया था। अनुगामियों, पुत्रों तथा सहायकोंका तो कहना ही क्या, इसके शत्रु भी मित्रके समान आचरण करते थे ।

अतिशयोक्ति

कवि धनंजयने दशरथको सूर्य और चन्द्रसे भी बढ़कर प्रतापी और आनन्द प्रदान करनेवाला कहा है। अतः अतिशयोक्ति अलंकारकी योजना की है—

भुवस्तलं प्रतपति संभ्रमन् रविः शशी चरन् स्वयमभिनन्दयत्ययम् ।
चरैः स्थितः पुरि सचराचरं जगत्परीक्ष्य यः स्म तपति संधिनोति च ॥ २।१५

सूर्य स्वयं संसारका परिभ्रमण कर उसे आतप देता है। चन्द्रमा भी संचार करता हुआ सृष्टिको अपनी चन्द्रिकासे आह्लादित करता है, किन्तु यह दशरथ अपनी राजधानीमें रहता हुआ भी स्थावर तथा जंगम संसारकी गुप्तचरोंके द्वारा पूरी आनकारो रखता था और उनपर प्रसाद तथा निग्रह करता था ।

निश्चय

पिता और पुत्रके पारस्परिक निश्चित सम्बन्धकी व्यंजनामें कविने निश्चय अलंकारकी योजना की है—

> तत्याज पुत्रो विनयं कथञ्चिज्जहौ पिता नानुनयं कदाचित् ।
> यतः पिता पुत्रमनन्यदाशं कस्यापि नाभूदपरुद्धवृत्तम् ॥ १।३४

पुत्रोने रंचमात्र भी विनयको नहीं छोड़ा था, तथा पिताने कभी भी इनपर स्नेहकी कमी नहीं की थी। पिता-पुत्रने कभी भी अपने आचरणकी मर्यादाका लोप नहीं किया था, यतः पुत्र और पिता दोनों परस्परमें निरपेक्ष थे।

समुच्चय

महाकवि धनंजयने एक कार्यकी सिद्धिके लिए अनेक कारणोंका वर्णन कर समुच्चय अलंकारकी योजना की है—

> द्विषो जगद्विलयभयान्यपातयन् न्यषेवत स्मरमपि संततीच्छया ।
> गृहीतवान् करमपभिन्ययाचितुं स्वजन्म यः समगमयत्परार्थताम् ॥ ८।१०

यह राजा संसारके विनाशके भयसे शत्रुओंका संहार करता था। सन्तानकी इच्छासे काम सेवन करता था, राजस्व भी दूसरोंको देनेके लिए लेता था, इस प्रकार उसने अपने जन्मको ही परार्थ कर रखा था।

छन्दोयोजना

१. वंशस्थ १।१—६।१; १०।४३; ११।२१; १३।३३, १३।३९; १७।७१; १७।८२।
२. वसन्ततिलका १।५०—२।३०, ४।२५, ६।५२, ८।९, १६।८७; १५।४६; ११।४१;
　　११।३४; ११।२८, ११।४१; ८।१८, ८।२२; ८।५२; १०।४६; १२।४७,
　　१२।५१, १४।३८।
३. वैश्वदेवी २।१—८।२७।
४. उपजाति २।३१—२।३३, ३।१; ३।४०; ५।१, ६।४७; १७।४५, ११।३२;
　　१२।४८; ८।५७, १०।३९; ८।२५; ८।२८, ८।३४, ८।४३, ८।४५; ८।४९;
　　८।५१; ८।५४; १३।३०; १३।३१; १४।२५, १६।१।
५ शालिनी २।३२—३।४२; ६।४९, ८।१०; ८।५०, ११।१; ११।४०; १२।४१;
　　१४।३२, १७।४७; १७।७०; १७।८०, १७।९०।
६ पुष्पिताग्रा २।३४—५।५७, १३।२८; १५।१; १७।५८; १७।८३।
७. मत्तमयूर ३।३९—८।१४; ८।१९; १०।३७; १३।१; १३।३६; १४।२६।
८. हरिणी ३।४३—५।६९; ८।५८; १३।२९, १५।४५; १७।५९।
९. वैतालीय ४।१—११।३९; १७।४१, १८।१४४।
१०. प्रहर्षिणी ५।६५—८।६; ८।८; ८।२६; ९।५२; १४।१।

११. स्वागता ५।६६—१०।१०; १०।१२; १०।१४; १०।१६; १०।१८; १०।२२; १०।२४; १०।२६; १०।२८; १०।३०; १४।३७; १७।५०; १७।५२; १७।५९।
१२. द्रुतविलम्बित ५।६८—६।५०; ८।१; ८।२०।
१३. मालिनी ६।५१—१३।४२; १६।८३; १६।८५।
१४. अनुष्टुप् ७।१—९।१; १८।१।
१५. शार्दूलविक्रीडित ७।९५—१४।३१; १८।१४५।
१६. जलधरमाला ८।७—८।११; ८।१३; ८।१५; ८।१७।
१७. रथोद्धता ८।१२—१०।१; १०।११; १०।१३; १०।१५; १०।१७; १०।१९; १०।२३; १०।२५; १०।२७; १०।२९; १०।३१; १७।४८; १७।५१।
१८. वंशपत्रपतित ८।१६।
१९. इन्द्रवज्रा ८।२१—८।२३; ८।४३, ८।४४; १०।३६; १७।८५।
२०. जलोद्धतगति ८।२४।
२१. अनुकूला ८।३०।
२२. तोटक ८।४८—८।५३।
२३. प्रमिताक्षरा ९।५६—१२।१; १७।४०, १७।६१, १७।७८; १७।८४।
२४. औपच्छन्दासिक १०।४१—१७।४९, १७।५४; १७।७९।
२५ शिखरिणी ११।३७—१२।५०, १३।३४; १४।२९, १५।४९; १६।८४; १७।४०।
२६. अपरवक्त्र १३।३७—१७।६५।
२७. प्रमुदितवदना १३।४०—१४।३०।
२८. मन्दाक्रान्ता १३।४३।
२९. पृथ्वी १३।४४।
३०. उद्गता १७।१।
३१. इन्द्रवंशा १७।७६।

शास्त्रीय पाण्डित्य

द्विसन्धान काव्यमे व्याकरण, काव्यशास्त्र, राजनीति और सामुद्रिकशास्त्र सम्बन्धी चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं। यहाँ थोड़ेसे उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है।

पदप्रयोगे निपुणं विनामे सन्धौ विसर्गे च कृतावधानम्।
सर्वेषु शास्त्रेपु जितश्रमं तच्चापेऽपि न व्याकरणं मुमोच ॥ ३।३६

शब्द और धातुरूपोके प्रयोगमे निपुण, षत्व-णत्वकरण, सन्धि तथा विसर्गका प्रयोग करनेमें न चूकनेवाले तथा समस्त शास्त्रोंके परिश्रमपूर्वक अध्येता वैयाकरण भी व्याकरणके अध्ययनके समान चापविधाको बना देते है।

विश्लेषणं वेत्ति न सन्धिकार्यं सविग्रहं नैव समस्तसंस्थाम्।
प्रागेव तवेत्ति न तद्धितार्थं शब्दागमे प्राथमिकोऽभवद्वा ॥ ५।१०

व्याकरण शास्त्रका प्रारम्भिक छात्र भी विसन्धि—सन्धिहीन अलग-अलग पदोंका प्रयोग करता है; क्योकि सन्धि करना नही जानता है। केवल विग्रह—पदोंका अर्थ करता है, कृदन्तादि अन्य कार्य नही जानता और न तद्धित ही जानता है। कारकों-का अभ्यासी भी कार्य विशेषका विचारक व्यापक सामान्यको भूलता है, विवाद करता है, समन्वय नहीं सोचता और अभ्युदय निश्रेयस्के लिए प्रयत्न नहीं करता।

विशेषसूत्रैरिव पत्रिभिस्तयोः पदातिरुत्सर्ग इवाहतोऽखिलः ॥१।१०

अपवाद सूत्र—विशेषसूत्र, उत्सर्गसूत्र—विधिसूत्र और खिलपाठोंका निर्देश किया है। व्याकरणमें धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिंगानुशासन ये चार खिलपाठ माने जाते हैं। धातुपाठ, व्याकरणका एक उपयोगी अंश है, सार्थ धातु परिज्ञानके अभावमें व्याकरण अधूरा ही रहता है। जितने शब्द समूहमें व्याकरणका एक नियम लागू होता है, उतने शब्द समूहको गण कहते हैं। उण् सूत्रका आरम्भ होनेसे उणादि कहलाते है। जिन शब्दोकी सिद्धि व्याकरणके अन्य नियमोसे नहीं होती है, वे शब्द उणादि सूत्रोंसे सिद्ध किये जाते है। लिंगानुशासनके बिना शब्दानुशासन पूरा नहीं माना जाता है:, यत: लिंगानुशासनमे सामान्य-विशेष द्वारा ही शब्दोंके लिंगका निर्णय किया जाता है।[१]

कविने लिपिशास्त्र और गणितशास्त्रको राजकुमारोंके लिए अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षाके समान ही उपयोगी लिखा है। यथा—

लिपिं स संख्यामपि वृत्तचौल. समाप्य वृत्तोपनय: क्रमेण।
ब्रह्माचरन् षोडशवर्षबद्धमादत्त विद्या. कृतवृद्धसेवः ॥ ३।२४

चूडाकरण और यज्ञोपवीत संस्कारको प्राप्त राजपुत्रोंने क्रमश: वर्णमाला तथा अंकगणितको शिक्षाको प्राप्त करके सोलह वर्षकी वय तक ब्रह्मचर्यका पालन किया था और वृद्धजनोंकी सेवा करते हुए समस्त विद्याओंको सीखा था। वृद्धसेवासे यहाँ ज्ञान प्राप्तिका साधन गुरुसेवा ही ग्रहण करनी चाहिए।

सामुद्रिक शस्त्रमें भ्रू, नेत्र, नासिका, कपोल, कर्ण, ओष्ठ, स्कन्ध, बाहु, पाणि, स्तन, पार्श्व, उरु, जंघा और पाद, इन चौदह अंगोंमें समत्व रहना शुभ माना जाता है। महापुरुषोंके लक्षणोंमे उक्त अंगोके समत्वकी चर्चा आती है। इस काव्यमें भी बताया है—

चतुर्दशद्वन्द्वसमानदेहः सर्वेषु शास्त्रेषु कृतावतारः ॥ ३।३३

इस काव्यमें निम्न विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१. असाम्प्रदायिकता—अन्य जैन काव्योंके समान जैनधर्म और दर्शनके सिद्धान्त वर्णित नहीं हैं। अत: दर्शनके भँवरजालमें पाठकको उलझना नहीं पड़ता।

---

[१] लिंगानुशासनमन्तरेण शब्दानुशासनं नातिकलमिति सामान्यविशेषलक्षणाभ्यां लिङ्गमनुशिष्यते।—आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन एक अध्ययन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३ई०, पृ० ५७।

२. लौकिक अभ्युदय—सामान्यतः समस्त जैन काव्योंका लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति है, पर इस काव्यकी समाप्ति नायककी राज्यप्राप्तिपर हुई है।

३. कथावस्तुका निर्वाह कुशलतापूर्वक किया गया है। श्लेषका इतना सुन्दर निर्वाह बहुत कम काव्योंमें हुआ है।

४. कविने इस काव्यको धनंजयांक कहा है। प्रत्येक सर्गके अन्तमें कुशलतापूर्वक धनंजय कवि नामको भी अंकित कर दिया है।

अन्य काव्योंका प्रभाव

रघुवंश और द्विसन्धान

द्विसन्धान काव्य रघुवंशसे अनुप्राणित है। विशेषत: रघुजन्म, दिलीपका रघु जन्मके समयका उत्साह, रघुका विद्याग्रहण, संस्कार प्रभृति सन्दर्भोंका प्रभाव द्विसन्धानपर है। रामजन्मका वर्णन करते हुए कहा गया है—

तेषु ग्रहेषूच्चगतेषु तस्मिन् नक्षत्रयोगे सुषुवे कुमारम् ।
अवग्रहो यैरभवन्नभूमे येनापि नक्षत्रमुदीर्णमन्यत् ॥ द्वि० ३।११

जिन ग्रहोंसे पृथ्वीपर उपसर्ग नही आता है, उन सबके अपने-अपने उच्च स्थानपर रहनेपर तथा जिनके कारण विपरीत उद्धत क्षात्र—शत्रुका उदय नहीं होता है, ऐसे नक्षत्र तथा योगमें महारानीने राजपुत्रको जन्म दिया।

रघुवंशमें बताया है कि जिस प्रकार राजा अपनी तीन साधनाओंवाली शक्तिसे अचल सम्पत्ति पा लेता है, वैसे ही इन्द्राणीके समान तेजवाली सुदक्षिणाने भी वह पुत्र उत्पन्न किया, जिसके सौभाग्यशाली होनेकी सूचना वे पाँच शुभग्रह दे रहे थे, जो उस समय उच्च स्थानपर थे और साथमें सूर्यके न होनेसे फल समर्थ थे।[1]

राजपुत्रके जन्म लेनेसे प्रसूतिकागृहमें रखे गये रत्नोंके दीपक तेजहीन हो गये थे। यही स्थिति रघुवंशमें भी रघुके जन्मके समय बतलायी गयी है। अतः द्विसन्धानपर रघुवंशका प्रभाव स्पष्ट रूपमें देखा जा सकता है।

तस्मिन् सुते तत्क्षणजातमात्रे रत्नप्रदीपाः प्रभया विमुक्ताः ।
नित्यं नराकम्पितभोगभागा नागा इवोच्चैः सविषादमस्थुः ॥ द्वि० ३।१२

उस क्षणमें ही उत्पन्न उस राजपुत्रके सामने प्रसूतिगृहमें रखे रत्नोंके दीपक तेजहीन हो गये थे और मन्त्रवेत्ता मनुष्योंके द्वारा फणसे पकडे गये साँपोंके समान सदाके लिए अत्यन्त उदास हो गये थे।

---

[1] ग्रहैस्ततः पंचभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
असूतपुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ रघु० ३।१३

रघुवंशमें बताया है—

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
निशीथदीपा: सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥रघु० ३।१५

उस भाग्यवान् बालकका तेज सौरीगृहमें चारो ओर इतना छाया हुआ था कि आधी रातके समय घरमें रखे हुए दीपोंका प्रकाश भी एकदम फीका पड़ गया और वे ऐसे जान पड़ने लगे मानो चित्रलिखित ही हो ।

पुत्र-जन्मके समय राजाने शुभ सन्देश सुनानेवालोको राजचिह्नोंको छोड़ अन्य समस्त वस्तुएँ प्रदान की । इस सन्दर्भ के लिए भी कवि रघुवशका ऋणी है ।

निवेदयद्भ्य: सुतजन्म राजा स राज्यचिह्नं सुतराज्यमाध्यम् ।
हित्वेतरेक धृतवानकिंचिद् देयं हि तुष्टैरपि नान्यदीयम् ॥द्वि० ३।१६

राजाने पुत्र जन्मकी सूचना देनेवालोको इस प्रकार पुरस्कार दिया था कि उनके शरीरपर भावी राजा राजपुत्रके राज्यचिह्नोंको छोडकर और कोई आभूषणादि ही न रह गये थे । क्योंकि महापुरुष परम प्रसन्न होनेपर भी दूसरोकी वस्तु पुरस्कारमें नहीं देते हैं ।

रघुवंशमें रघुजन्मके प्रसंगमें बताया है—

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम् ।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपते: शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ रघु० ३।१६

झट अन्त:पुरके सेवकने राजा दिलीपके पास आकर पुत्र होनेका समाचार सुनाया । इस समाचारको सुनकर राजा इतना प्रसन्न हुआ कि छत्र और दानो चँवरोको छोड शेष समस्त आभूषण उसे दे डाले ।

पुत्र जन्मके समय सम्पन्न हुए उत्सव दोनों काव्योमे समान रूपसे वर्णित हैं । महाकवि धनंजय रघुवंशके इस सन्दर्भसे अवश्य प्रभावित है ।

अन्त.पुरे राजनि राजधान्यां देशेऽप्यमम्माय दिशामधीशान् ।
व्याप्यासनक्षोभकृदुत्सवोऽयमद्यापि विश्राम्यति न प्रजासु ॥द्वि० ३।१७

आसनको हिला देनेवाला पुत्रके जन्मका उत्सव रनवास, राजा, राजधानी तथा पूरे राज्यमें भी न समा सका था । अतएव समस्त दिक्पालो तकको व्याप्त करके यह आज भी समस्त जनतामे चालू ही है, रुका नही ।

रघुवंशमें यह सन्दर्भ निम्न प्रकार पाया जाता है—

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वना. प्रमोदनृत्यै. सहवारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपते. पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥रघु० ३।१९

वह बालक संसारका कल्याण करनेवाला था, इसलिए उसके जन्म लेनेपर केवल सुदक्षिणाके पति दिलीपके ही राजमन्दिरमे मनोहर बाजे और वेश्याओंके नाच आदि उत्सव नही हो रहे थे, बल्कि आकाशमें देवताओके यहाँ भी नृत्यगान हो रहा था ।

इसी प्रकार "दिशः प्रसेदुर्विमलं नभोऽभूत्" (द्वि० ३।१४) पर रघुवंशके "दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः" (रघु० ३।१४ का) प्रभाव है।

मेघदूत और द्विसन्धान

द्विसन्धान और मेघदूतमें भी भावसाम्य पाया जाता है। कवि धनंजयने अयोध्या और हस्तिनापुरीके चित्रणमें बताया है कि वहाँ मयूरोंके बैठनेके लिए स्वर्णदण्ड बनाये गये हैं। यह प्रसंग उत्तरमेघ से प्रभावित है। यथा—

सुवर्णमय्यः शुचिरत्नपीठिका हरिन्मणीनां फलकैः कृतस्थलाः।
कलापिनां यत्र निवासयष्टयः स्फुरन्ति मायूरपताकिका इव॥ द्वि० १।२५

जहाँपर सोनेसे बने निर्दोष रत्नोंकी पीठिकापर रखे तथा हरित मणियोंसे बनी भूमियुक्त मोरोंके बैठनेके डंडे मोरध्वजके समान लहलहाते थे। मेघदूतमें यह सन्दर्भ निम्न प्रकार आया है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः॥ उत्त० मे० १९

कवि धनंजयने अयोध्या नगरीके चित्रणमें कबूतरोंके बैठने तथा गुप्त जलस्रोतोंसे युक्त कुँओंकी चर्चा की है। यह प्रसंग भी मेघदूतसे प्रभावित है। यथा—

अदृश्यपारापतनाभिहेतुषु स्थिरान्धकारेषु जलावगाहिषु।
अधोगतिं संप्रतिपन्नवर्त्मसु या न कूपदेशेष्वपि वस्तु दूषिताः॥ द्वि० १।२०

मेघदूतमें वर्णित है—

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्य पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥पूर्व ४२

इसी सन्दर्भमें निम्नांकित श्लोक भी मेघदूतसे प्रभावित प्रतीत होता है—

विशीर्णहारा हतकोणशेखराश्च्युतोरुजाला गलितावतंसकाः।
रतोत्सवे विस्मृतकांसीशुक्तयो यदीयसंकेतभुवश्चकासति॥ द्वि० १।२९

रमण वेलामें टूटकर गिरी एकावली, दबकर बिखर गयी जूड़ेकी माला, खिसके हुए करधनीके जाल, गिरे हुए कर्णभूषण तथा भूले हुए सीपके प्याले जिस नगरीके प्रेमियोंके मिलनके संकेत-स्थलोंको प्रकट करते हैं। मेघदूत में—

हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः,
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।

दृष्ट्वा यस्यां विपणि रचितान् विद्रुमाणां च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ पू० १४

किरात और द्विसन्धान

राजनीति और व्यवस्थाके वर्णनमें कौटिल्यके अर्थशास्त्र और किरातसे साम्य प्रतीत होता है। पर यह सत्य है कि कविने सामग्रीको अपने ढंगसे रखा है तथा अर्थ भी परिवर्तित कर दिया है। कवि धनंजयने राज्य स्थितिका वर्णन करते हुए लिखा है—

जिगाय षड्विधमरिमन्तराश्रयं यतः स्वयं त्यजति न षड्विधं बलम् ।
न यस्य यद्व्यसनमदोपि सप्तकं स्थिरामवत् प्रकृतिषु सप्तसु स्थितिः ॥
—द्वि० २।११

राजाने काम, क्रोधादि छहों प्रकारके अन्तरंग शत्रुओको जीत लिया था, अतः मौलत, भृत आदि छह प्रकारकी सेना इसे नही छोडती थी। मद्य, स्त्री, द्यूत आदि सातों व्यसन इसके मनमें नही आये थे, अतएव स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश आदि सातों प्रकृतियोंकी दृष्टिसे उसकी स्थिति दृढ थी।

किरातमें—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ कि० १।९

वह राजा काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और अहंकार ये जो प्राणीके छह शत्रु है, इन्हें जीतकर मनुष्य मात्रके लिए दुर्जेय, मनु द्वारा उपदिष्ट जो शासनपद्धति है उसे कार्यक्रममें लानेकी इच्छा रखकर और आलस्यको दूर भगाकर समय विभागानुकूल नीति-पथको आधार लेकर अपने पुरुषार्थको विस्तृत कर रहा है।

इसी प्रकार 'द्विषो जगद्विलयमयान्न्यपातयत्' (द्वि० २।१०) किरातके 'द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो' (कि० १।३) के तुल्य है।

माघ और द्विसन्धान

द्विसन्धानपर माघ काव्यका भी प्रभाव दिखलाई पड़ता है। द्वारकाके चित्रणमें कवि माघसे प्रभावित है। बाजारोंका वर्णन करते हुए कहा है—

प्रवालमुक्ताफलशङ्खशुक्तिभिर्विनीलकर्केतनवज्रगारुडैः ।
यदापणा मान्ति चतुःपयोधय कुतोऽपि शुष्का इव रत्नशेषतः ॥ द्वि० १।३२

मोती, मूँगा, शंख, सीप, कर्केतन, लाल, हीरा, गरुडमणि आदिसे भरे बाजार ऐसे सुशोभित होते हैं, मानो किसी कारणसे चारों समुद्र सूख गये हैं और केवल उनके रत्न ही शेष रह गये हैं।

माघमें—

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।
लोलैरलोकद्युतिभाञ्जि मुष्णान् रत्नानि रत्नाकरतामवाप ॥ मा० ३।३८

जिस द्वारकापुरीमें बाजारोंमें ढेर किये गये, स्थिर कान्तिवाले रत्नोंको नालियोंसे आये हुए चंचल जलोंसे चुराता हुआ समुद्र रत्नाकरत्वको प्राप्त हो गया—रत्नोंकी राशिवाला बन गया।

एक ही तथ्यपर दो कल्पनाएँ की गयी हैं।

तनुं नटन्त्याः किल काचकुट्टिमे भुवस्तले यत्र विलोक्य बिम्बिताम् ।
इयं प्रविष्टा किमसूचिता वधूरिति भ्रुकुंसैर्भ्रुकुटिर्विरच्यते ॥ द्वि० १।२०

माघमें—

कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षयं हर्म्यतलेषु तत्र ।
उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः ॥ मा० ३।४४

इसी प्रकार 'सितासिताम्भोरुहसारितान्तराः प्रवृत्तपाठीनविवर्त्तनक्रियाः' (द्वि० १।२६) पर माघके 'सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ-लम्भयन्' (मा० १।२५) का प्रभाव है।

सप्तसन्धान[1]

उपलब्ध सन्धान काव्योंमें सप्तसन्धान महाकाव्य काव्यकलाकी दृष्टिसे सहृदय पाठकोंका ध्यान सहजमें ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस महाकाव्यमें ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, रामचन्द्र और श्रीकृष्ण इन सात महापुरुषोंके चरित एक साथ निबद्ध हैं। कथावस्तु नौ सर्गोंमें विभक्त है। कविने दृश्य-चित्रण और वस्तुव्यापार वर्णनमें काव्यकलाका परिचय दिया है। रचयिता कवि मेघविजय उपाध्याय काव्य, व्याकरण, ज्योतिष और तर्कशास्त्रके पण्डित हैं।

कवि-परिचय

मेघविजय तपागच्छके आचार्य थे। इनके गुरुका नाम कृपाविजय था। इनकी गुरुपरम्परामें हीरविजय सूरि, कनकविजय, शीलविजय, कमलविजय, सिद्धिविजय और कृपाविजयके नाम मिलते हैं।

कवि मेघविजयने माघकी पादपूर्ति कर देवानन्दाभ्युदय, मेघदूतकी पादपूर्तिमें मेघदूत समस्यालेख और नैषधकी पादपूर्तिमें शान्तिनाथ चरितकी रचना की है। लोक-साहित्यके क्षेत्रमें पंचाख्यान और कथासाहित्यके क्षेत्रमें लघुत्रिषष्ठिचरित उपयोगी हैं। काव्य प्रणयनके समय कविकी लेखनीपर भगवती सरस्वती पूर्णतया आसीन रही हैं।

---

[1] यह काव्य 'सरणि' टीका सहित श्रीजैन साहित्यवर्धक सभा, गोपीपुरा सूरतसे वि० सं० २००० में प्रकाशित।

स्थितिकाल

देवानन्दकी[1] प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल वि० सं० १७२७ (ई० सन् १६७०) बताया गया है। सप्तसन्धान काव्यकी समाप्ति वि० सं० १७६० (ई० सन् १७०३) में हुई है।[2] कविकी एक रचना 'विजयदेव माहात्म्य विवरण' की एक पाण्डुलिपि वि० सं० १७०९ की प्राप्य है।[3] इसके प्रतिलिपिकर्ता श्रीरंग सोमगणिके शिष्य मुनि सोमगणि हैं। अतः स्पष्ट है कि इस टीकाकी रचना कविने वि० सं० १७०९ (ई० सन् १६५२) के पूर्व ही की है।

कवि मेघविजयने हिन्दीके जैन महाकवि बनारसीदासके दिगम्बर मतका निरसन करनेके हेतु 'मुक्तिप्रबोध' नाटककी रचना की थी। इससे इतना स्पष्ट है कि मेघविजय महाकवि बनारसीदासके समकालीन या उन के उत्तरवर्ती हैं। बनारसीदासका जन्म माघशुक्ला ११ वि० सं० १६४३ में हुआ था। इन्होंने नाटक समयसारकी रचना वि० सं० १६९३ (१६३६ ई०) में सम्पन्न की है। इनके इस नाटकके अनुकरणपर मेघविजयने 'युक्तिप्रबोध' दार्शनिक नाटक लिखा है। इसमें विभिन्न सम्प्रदायके दर्शनोंकी आलोचना की गयी है।

चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी) का प्रणयन[4] वि० सं० १७५७ में; उदयदीपिकाका वि० सं० १७५२ में और वर्षप्रबोधका प्रणयन वि० सं० १७३२ में किया है। अतएव कविका समय ई० सन् १८वीं शतीका प्रारम्भ है।

रचनाएँ

काव्य, कथा, ज्योतिष और व्याकरणके रूपमें इनकी रचनाएँ प्राप्य है। प्रमुख रचनाओंका परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

१. देवानन्दमहाकाव्य[5]—माघ काव्यके प्रत्येक श्लोकका अन्तिम चरण लेकर और तीनपाद स्वयं नये रचकर विजयदेव सूरिके चरितको निबद्ध किया है। इस काव्यमें सात पर्व हैं।

२. शान्तिनाथचरित[6]—नैषध महाकाव्यके प्रथम सर्गके सम्पूर्ण श्लोकोंकी समस्यापूर्ति है। इस काव्यमें क्रमशः नैषधके प्रथम चरणको प्रथम चरणमें, द्वितीय चरणको द्वितीय चरणमें, तृतीय चरणको तृतीयचरणमें और चतुर्थ चरणको चतुर्थ चरणमें नियोजित किया गया है। इसमें छह सर्ग हैं।

---

[1] मुनिनयनाश्वेन्दुमिते (१७२७ वि० सं०) वर्षे हर्षेण सादडीनगरे—देवानन्द प्रान्त प्रशस्ति।

[2] वियद्रसमुनीन्दूनां (१७६० वि० सं०) प्रमाणात् परिवत्सरे। कृतो यमुद्यम·—सप्तसन्धान प्रान्तप्रशस्ति।

[3] मुनिसोमगणिनो सं० १७०६ वर्षे चैत्रमासे···विजयदेव माहात्म्य प्रान्त पुष्पिका।

[4] विजयन्तै ते गुरव. शैलशरर्षीन्दुवत्सरे (१७५७ वि० सं०) तेषाम्।—चन्द्रप्रभ प्रान्त प्रशस्ति।

[5] सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद—कलकत्तासे १९३७ ई० में प्रकाशित।

[6] जैन विविध शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित, तिथि अनंकित।

३. मेघदूत समस्या लेख[1]—मेघदूतकी समस्यापूर्ति की गयी है।

४. दिग्विजय महाकाव्य[2]—विजयप्रभ सूरिका चरित निबद्ध है। इसमें १३सर्ग हैं।

५. हस्तसंजीवन[3]—सामुद्रिक शास्त्रका ग्रन्थ है। हस्तरेखा विज्ञानके लिए यह उपयोगी है।

६. वर्षप्रबोध[4]—ज्योतिषका ग्रन्थ है। इसमें अन्य ग्रन्थोंसे संकलन भी किया गया है। वर्षफल, शकुन, ग्रहस्वरूप आदि विषयोंका अच्छा वर्णन है।

७. युक्तिप्रबोध नाटक[5]—दार्शनिक नाटक है। दिगम्बर और श्वेताम्बर मतको ८४ विरोधी बातोंका उल्लेख है।

८. चन्द्रप्रभा—सिद्धहेमशब्दानुशासनकी कौमुदी रूप टीका है।

९. सप्तसन्धान काव्य—यह श्लेषकाव्यके लक्षणोंसे समन्वित है। कविने मंगल स्तवनके अनन्तर सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दाका अंकन किया है। कथावस्तु सरस और आह्लादोपादक है।

कथावस्तु

भरत क्षेत्रमे गंगा और सिन्धु नामकी दो पवित्र नदियाँ प्रवाहित होती है। यहाँ कोशल, कुरु, मध्य और मगध देश नामके जनपद हैं। इन जनपदोंमें क्रमशः अयोध्या, हस्तिनापुरी, शौर्यपुरी, वाराणसी, मथुरा और कुण्डपुरी नामकी नगरियाँ सुशोभित हैं। इनमें अयोध्यामें ऋषभदेव और रामचन्द्रका जन्म; हस्तिनापुरीमें शान्तिनाथका; शौर्यपुरीमें नेमिनाथका; वाराणसीमें पार्श्वनाथका, वैशालीमें महावीरका और मथुरामें श्रीकृष्णका जन्म हुआ था। अयोध्यामें नाभिराय और दशरथ, हस्तिनापुरमें विश्वसेन, शौर्यपुरीमें समुद्र विजय, वाराणसीमें अश्वसेन, कुण्डपुरमें सिद्धार्थ एवं मथुरामें वसुदेव नामके राजा निवास करते थे। इन राजाओंकी रानियोने रात्रिमें स्वप्न देखे। प्रातःकाल होनेपर उन्होंने अपने पतियोंसे स्वप्नोंका निवेदन किया। फलतः राजाओंने भविष्णु पुत्र होनेकी भविष्यवाणी की।—प्रथम सर्ग

गर्भवती रानियाँ विधि-विधानपूर्वक स्वास्थ्यवर्धक भोजन ग्रहण करती थीं। स्वर्गकी देवांगनाएँ उनका मनोरंजन करती थी। नृपति वर्ग उनके दोहदोंको पूर्ण करनेका प्रयास करते थे। तीर्थंकरोंकी माताओंका देवांगनाएँ विशेषरूपसे सेवा-सत्कार किया करती थी। तीर्थंकरोंके जन्मके समय दिशाएँ शान्त हो गयीं, आकाश निर्मल निकल

---

१. आत्मानन्दजैन सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित, तिथि अनंकित।

२. सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा १९४५ ई० में प्रकाशित।

३. चौखम्बा संस्कृत सीरिज द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित।

४. ऋषभदेव केसरीमल पीठो रतलामद्वारा प्रकाशित।

५. मैंसाणा श्रेयस्कर मण्डल द्वारा प्रकाशित।

आया और दुन्दुभि वाद्य बजने लगे। नवग्रह उच्चस्थानपर सुशोभित थे।, ऋषभ, शान्ति, नेमि पार्श्व और महावीरके जन्म होनेपर इन्द्रका आसन कम्पित हो गया। चतुरनिकायके देव अयोध्या, हस्तिनापुरी, शौर्यपुरी, वाराणसी और कुण्डपुरमें पधारे। इन्द्राणीने गर्भगृहोंमें जाकर मायामयी बालकोंको सुलाया और तीर्थंकरोंको ले जाकर इन्द्रको सौंपा। इन्द्रने सुमेरुपर उनका जन्माभिषेक सम्पन्न किया।—द्वितीय सर्ग

मेरुपर्वत तीर्थंकरोंके तेजसे व्याप्त हो गया। अभिषेक क्रियाके अनन्तर तीर्थंकरोंका नामकरण सम्पन्न हुआ। ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, वर्धमान, राम और कृष्णने अपनी बालक्रीड़ाएँ सम्पादित की। युवावस्थामें प्रवेश करनेपर उनके विवाहादि कार्य सम्पन्न हुए। इन महापुरुषोंके भ्रातृगण भी शान्तिशाली और शुभलक्षणोंसे युक्त थे। प्रखर प्रतिभाके कारण गुरुसे अध्ययन किये बिना ही समस्त विषयोंकी विद्वत्ता प्राप्त हो गयी। तीर्थंकरोंका वैभव और ऐश्वर्य अनुपम था। तीर्थंकरोंके राजा हो जानेपर प्रजा सर्वप्रकारसे सुखी थी। राम और कृष्णका राज्य भी अनुपम था। सभी लोग अपने-अपने कार्योंमें अनुरक्त होकर भी राज्यके प्रति विश्वास रखते थे। प्रजाकी अहर्निश उन्नति हो रही थी।—तृतीय सर्ग

तीर्थंकरोके राजा होते ही देशकी सम्पत्तिका विकास हुआ। इन्द्र आदि देवता उनकी सेवामें तत्पर रहते थे। समय पाकर ऋषभको भरत बाहुबलि आदि पुत्र प्राप्त हुए। इसी प्रकार समस्त कथानायकोंकी उन्नति हुई। श्रीकृष्णका सम्बन्ध पाण्डवोंके साथ था। हस्तिनापुरमे शान्तनु राजा राज्य करता था। इनके भीष्म पितामहादि पुत्र थे। इसी वंशके नृपति कुरुसे कौरव और पाण्डुसे पाण्डवोंका जन्म हुआ। कौरवोंके षड्यन्त्रसे पाण्डवोंको वनवास मिला, इनका विवाह द्रौपदीके साथ हुआ, अतः द्रौपदीके पाँच पति कहलाये। दुर्योधनने द्रौपदीका चीरापहरण कर उसे नग्न करना चाहा पर श्रीकृष्णकी सहायतासे द्रौपदीकी लज्जा सुरक्षित रही। कीचकका वध भी भीमने किया। कविने श्लेषके आधारपर ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, महावीर और रामकी जीवन-घटनाओंका भी विवेचन किया है। राम अन्तःपुरके षड्यन्त्रके कारण वन जाते हैं, भरत विरक्त होकर राज्यशासनका सचालन करते हैं। तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करनेकी तैयारी करते हैं।—चतुर्थ सर्ग

दीक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर तीर्थंकरोंका विहार होता है। पाँचों ही तीर्थंकर विभिन्न देशोंमें विचरण करते है। ये कठोर तपश्चरण करनेमें लग जाते हैं। अनेक प्रकारके उपसर्ग सहन करने पड़ते है। बाईस प्रकारकी परीषहोंको सहन करते हैं। इधर राम, लक्ष्मण और सीता वनमे निवास करते हैं। शूर्पणखाको लक्ष्मण दण्डित करते हैं। फलतः सीताका अपहरण होता है। हनुमान् सीताका अन्वेषण करने लंका जाते हैं और वहाँ रावणकी सभाको आतंकित करते है। श्रीकृष्णकी पाण्डवोंके साथ मित्रता दृढ़ होती है। वे अपनी सेनाको सुगठित करते हैं तथा द्वारकाको सब प्रकारसे सुदृढ़ बनाते हैं। शिशुपाल जरासन्धके साथ प्रस्थान करता है।—पंचम सर्ग

काम, क्रोधादिका विनाश करनेके लिए तीर्थंकर तत्पर होते हैं। संसारके समस्त अनर्थोका कारण कंचन-कामिनीरूप परिग्रह है। तीर्थंकर इस परिग्रहका त्यागकर ध्यान द्वारा कर्मोकी निर्जरा करते हैं। विद्याधर एवं देव-दानवादि उनकी अर्चना करते हैं। तीर्थंकरोंको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। इन्द्रादि देव उनके केवलज्ञान कल्याणकी पूजा करते हैं। राम रावणपर सुग्रीव और विभीषणकी सहायतासे विजय प्राप्त करते हैं और सीताको वापस लौटा लाते हैं। श्रीकृष्ण भी शत्रुओंका उन्मूलन कर अर्धचक्री पद प्राप्त करते हैं।—षष्ठ सर्ग

तीर्थंकरोंके समवशरणकी रचना की जाती है। भरत चक्रवर्ती आदि राजा उनके समवशरणमें उपस्थित होते हैं। तीर्थंकर मुनियोंके साथ विहार करते हैं। समस्त प्राणियोंको कल्याण एवं शान्ति प्रदान करनेवाला उपदेश दिया जाता है। प्रसंगवश कवि षड्ऋतुओंका सजीव चित्रण करता है। तीर्थंकरोंका उपदेश श्रवण कर अनेक राजा-महाराजा, रानियाँ, सेठानियाँ दीक्षा ग्रहण करती हैं। धर्मामृतकी वर्षाके कारण समस्त प्राणी सन्तोष और शान्तिलाभ प्राप्त करते हैं।—सप्तम सर्ग

भरत चक्रवर्ती दिग्विजयके लिए प्रस्थान करते है। घोड़ोंके चलनेसे आकाशमें रजकण व्याप्त हो जाते हैं। भरत दिग्विजयके अनन्तर शिलातीर्थपर पहुँचते है और वहाँ जिन प्रतिमाओंका वन्दन करते हैं। ऋषभदेव तीर्थंकरके मोक्ष प्राप्त करनेके अनन्तर भरत उनके द्वारा परिपालित भूमिकी रक्षा करते हैं।—अष्टम सर्ग

संसारमें ऋषभ तीर्थंकरकी कीर्ति व्याप्त हो जाती है। अन्य तीर्थंकर भी निर्वाण लाभ प्राप्त करते हैं तथा उनकी कीर्ति संसारमें व्याप्त हो जाती है।

राम अयोध्यामें आकर राज्यभार ग्रहण करते हैं। जनापवादसे वे सीताका निर्वासन कर देते है। गर्भवती सीताकी अनंगवलय और वदनांकुश नामक पुत्र उत्पन्न होते है। राम सीताकी अग्निपरीक्षा करते है। सीता संसारकी स्वार्थपरता एवं अनित्यतासे क्षुब्ध हो विरक्त हो जाती है और दीक्षा धारण कर लेती है। कालान्तरमें राम भी विरक्त हो तपश्चरण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण द्वारका नगरीकी रक्षा करते हैं; पर यादवों द्वारा द्वैपायन मुनिका तिरस्कार किये जानेसे द्वारकाका सर्वनाश होता है। उसमें आग लग जाती है और सोना पिघल-पिघल कर गिरने लगता है। देवनिर्मित द्वारका भस्म हो जाती है। बलराम तपस्या कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।—नवम सर्ग

कथास्रोत और गठन

कथानक अत्यन्त प्रसिद्ध है। कविने अपने पूर्ववर्ती पुराण एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदिसे कथावस्तुका चयन किया है। कथावस्तुमें कुछ भी नवीनता और मौलिकता नहीं है।

कथावस्तुका गठन भी बहुत ही शिथिल है। सात महापुरुषोंकी कथाको एक

साथ निबद्ध कर देनेसे कथावस्तुमें प्रवाह नहीं आने पाया है। तीर्थंकरोंमें ऋषभदेवकी कथामें ही विस्तार मिलता है, अन्य तीर्थंकरोंकी जीवन-व्यापी कथावस्तु अंकित नहीं हो पायी है। शान्ति, नेमि और पार्श्वकी तो कुछ ही घटनाएँ निबद्ध हो सकी हैं। अन्तिम तीर्थंकर महावीरकी जीवन रेखा भी अस्पष्ट ही रह गयी है। श्रीकृष्ण और रामके चरितोंकी भी झाँकी यथार्थ रूपमें नहीं मिलती है। घटनाओंका विकास भी मन्द गतिसे हुआ है। एकान्विति कथामें नहीं आ पायी है। कविने श्लेषके प्रलोभनमें पड़कर प्रबन्धात्मकताका निर्वाह नहीं किया है। प्रबन्धके प्रमुख चार अवयवोंमें इतिवृत्त, वस्तुव्यापारवर्णन, भावाभिव्यंजना और संवादमें-से त्रुटित इतिवृत्तके साथ संवादोंका भी प्रायः अभाव है। कथामें पूर्वापर क्रमबद्धता नाममात्रकी है। मर्मस्थलोंका नियोजन भी नहीं किया गया है। अतः प्रबन्ध काव्योचित कथाका अभाव है। इतना होनेपर भी एक साथ सात कथाओंका नियोजन करना प्रखर पाण्डित्यका सूचक है। कविने जीवनके तथ्यों और अनुभवोंको नयी व्याप्ति और अर्थगरिमा प्रदान की है।

महाकाव्यत्व

प्रस्तुत काव्यमें महाकाव्यके समस्त गुण—धर्म पाये जाते हैं। कथावस्तु सर्गबद्ध है। मंगलाचरण स्तुति रूपमें पाया जाता है। दुर्जननिन्दा, सज्जनप्रशंसा, देश, नगर, नदी, पर्वत आदिका वर्णन, कथाके नायकोंका चरित, रसवत्ता, ऋतुचित्रण, अनेक भावधाराओंके बीच समन्वय, युद्ध, विवाह, जन्म, तपस्या, दीक्षा, केवलज्ञानोत्सवका वर्णन एवं शैलीगत वैशिष्ट्य इसे महाकाव्यकी कोटिमें उपस्थित करते हैं। चतुर्वर्ग फल प्राप्ति काव्यमें निहित है। यहाँ कतिपय वर्णन प्रस्तुत कर कविकी वस्तुवर्णनात्मक क्षमताकी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की जा रही है। कवि कुसुमाकर सर्वजनश्लाघ्य वसन्तका वर्णन करते हुए कहता है—

जातातपस्य ललिता ललिता दिनस्य
श्रीर्नातिशीतमधुरा मधुराङ्गभाजाम्।
आपानमप्युपवने पवनेरितेषु
यूनां द्रुमेषु चरणात् रमणान्मयूनाम्॥ ७।५

समस्त व्यक्तियोंके सहन करने योग्य समशीतोष्णता रहनेसे इस मधुर ऋतुके दिन ललित हो गये हैं। यही कारण है कि सुकुमार शरीरवाले भी उद्यानमें वायुके कारण हिलते हुए वृक्षोंके नीचे विचरण करनेवाले मृगों या किन्नरोंकी पानगोष्ठीके दर्शनका आनन्द प्राप्त कर रहे हैं।

सा फाल्गुनस्य यशसां जगति प्रशस्तिः
प्रादुर्बभूव महसा जितशीतमासः।
मन्ये तदर्कतनुजन्मविभाविनोद-
स्तत्याज मौढ्यमचिरान्न तथा प्रसह्य॥ ७।६

फाल्गुन मासका यश संसारमें व्याप्त है; क्योंकि सूर्य भी अपनी कान्तिसे अधिक तेजको प्राप्त नहीं कर सकता है। सूर्यके शरीरसे उत्पन्न विभा बलपूर्वक इस फाल्गुन महीनेमें सहनशीलताका त्याग नहीं करा सकी है। आशय यह है कि कवि उत्प्रेक्षा द्वारा फाल्गुन मासकी समशीतोष्णताका चित्रण कर रहा है। ये दिन मधुर और सुहावने होते हैं, सभीको प्रिय लगते हैं। प्रकृतिके साथ मनुष्यका उत्साह भी वृद्धिगत होता जाता है।

दुर्योधनान्तकरणं धरणं क्षमाया,
भीतस्य तस्य ननु पश्यत एव पुंसः।
दृष्टा तपोवनकथा जिनसेवना वा,
नावाधिरुह्य यदि वाम्बुधिमज्जना वा ॥ ७।११

दुर्योधनान्तकरणम्—शीतके विनाशकारक इस वसन्तमें अतिशय गर्मीके कारण भूमिशय्याका आश्रय ग्रहण करनेवाले पुरुष ग्रीष्मके भयसे आतंकित हो तपोवन जाने या श्रमण दीक्षाका सेवन नहीं कर सकते हैं। ग्रीष्मके दाहके कारण नावपर सवार हो भ्रमण करते हैं अथवा जलमें डुबकी लगाकर स्नान करते हैं।

इस प्रकार कविने वसन्तकी सुषमा, शीतलता एवं उसमे विकसित होनेवाले विभिन्न पुष्पोंका वर्णन किया है।

वर्षाऋतुमें जलवृष्टिके कारण चारों ओरकी प्रकृति हरी-भरी हो जाती है। अपूर्व, आनन्दित होनेके कारण भेक, मयूर आदि हर्षोन्मत्त हो नृत्य करने लगते हैं। ग्रीष्मर्तुके सन्तापके कारण प्रकृतिका कण-कण मुरझा गया था, अब वर्षाके आने हो सर्वत्र नव चेतना और नयी स्फूर्ति परिलक्षित हो रही है। कवि इसी दृश्यका चित्रण करता हुआ उद्दीपन रूपमें प्रकृतिको उपस्थित करता है—

नभसि रभसा वेणीश्रेणी रमोद्ग्रमाश्रयद् ,
भुवि घनरवाश्चक्रुः प्रीतिं समं यदि वा दिवा।
प्लवगशिविरे हर्षोत्कर्षो न रक्षसि वक्षसि,
सभयमनसा नाकङ्क्षायास्तदा निरगृगृहात् ॥ ७।२८

श्रावणमासमें आकाशमें रजका नाम भी नही दिखलाई पडता है। पृथ्वीपर चारों ओर जल भर गया है। मेघ गर्जन कर रहे हैं तथा मेढक जलमें डुबकी लगाकर हर्षोत्कर्षके कारण टर्र-टर्रकी ध्वनि कर रहे है। मयूर मेघोंका गर्जन सुनकर नृत्य करते हैं। वानर शिविरमें हर्षध्वनि करते हुए किलकारियाँ भर रहे हैं। राक्षस सेना वानरोंकी सेनासे आतंकित हो जानेके कारण घरसे नहीं निकल रही है।

शरत्का चित्रण करते हुए कहा है—

पद्मोदयः सरसि निर्मलता प्रयुक्ता-
संपन्नकम्पनगतिर्मधुराध्वराजाम्।

नैपुण्यपुण्यचरिताद् दुरिताभिवृत्तिः
किं किं शरन्न तनुते स्म सुखं जनेऽस्मिन् ॥ ७।३१

शरत् ऋतुके आते ही कमल विकसित हो गये है, जलमें निर्मलता आ गयी है। पथिकोंके वाहनोंकी सुन्दरता सुशोभित हो रही है—वर्षाके कारण पथिकोंने मार्ग चलना बन्द कर दिया था, अब वे पुनः अपने वाहन तैयार कर जाने लगे हैं। पापके रुक जानेसे पवित्र पुण्याचरणकी प्रवृत्ति देखी जा रही है। यह शरद् ऋतु संसारके किस-किस सुखको उत्पन्न नही कर रही है ?

कविने खलका चित्रण बहुत ही मार्मिक किया है। कवि कहता है—

खलादरो यश्च गवां स्वभुक्तौ
भवेत्पशूनामुचितो न नृणाम्।
स गोः पतित्वाद् यदि भूपसर्गे
तत्पाशुपत्यं ध्रुवमीश्वरस्य ॥ १।९

खल-खलि—तिलकलकका आदर पशुओमे ही पाया जाता है, मनुष्योंमें नही। खल—तिलकलकको पशु पसन्द करते हैं, मनुष्योके बीच खलका सम्मान नही होता। यदि कदाचित् खल व्यक्ति पृथ्वीका अधिपति बनकर राजा हो जाये तो निश्चय ही इससे विधाताका पाशुपत्य—मूर्खत्व प्रकट होगा।

खले प्रतीता बहुधान्यपाताद्
विक्षेपणा क्षेपमतिर्नृपस्य।
मुखे निबन्धेन गवां नृणां वा
निजार्जितस्यापि मनाग् न भोगः ॥ १।१०

दुर्जनके रहनेपर नाना प्रकारकी विपत्तियाँ सहन करनी पड़ती है। अभीष्टके दूर करनेमे या राजकार्यके संचालनमें विलम्ब होता है अथवा विघ्न आता है। खलिहानमें रखे हुए गेहूँ, धान्य, चना आदिकी दमरीका उन-उन अन्न विशेषोंके एकत्र करनेमे खेटक—पंचागकी प्रवृत्ति होती है, यह प्रसिद्ध है। गो, वृषभ आदि पशु धान्योंको उत्पन्न करनेपर भी उनका उपयोग नही कर पाते हैं। राजदूत आदि कार्योंके नियोजन और निबन्धन करनेपर भी वे अपने द्वारा अर्जित वेतन आदिका स्वल्पांश भी उपयोग नही करते हैं। तात्पर्य यह है कि खल व्यक्ति नाना प्रकारसे अन्य लोगोंको कष्ट देता है।

रस-योजना

प्रस्तुत काव्यका अंगी रस शान्त है, अंगरूपमें वीर, भयानक, शृंगार और करुणरसका नियोजन किया है। कथाके सातों ही नायक अन्तिम जीवनमें संसारसे विरक्त होकर तपश्चरण करते हैं और जीवनका वास्तविक लक्ष्य निर्वाणको मानते हैं। युद्ध और शृंगार जीवनके पूर्वार्धमें घटित होते है, पर उनके जीवनका अन्तिम लक्ष्य

चिरन्तन सुख प्राप्त करना है। अतएव कवि मेघविजयने तीर्थंकरोंके साथ अन्य व्यक्तियोंका दीक्षा ग्रहण करना भी प्रदर्शित किया है। युद्धके प्रसंगमें "समुद्रविजयं मेघनादं सानकदुन्दुभिः। गर्जितैस्तर्जयामास" (६।३४) में वीररसका परिपाक भी हुआ। यद्यपि श्लेष काव्यमें एक साथ अनेक आख्यानोंके निबद्ध कर देनेसे रसाभिव्यंजनकी समस्त सामग्री उपलब्ध नहीं होती है, फिर भी शृंगार, वीर और भयानक रसके उदाहरण वर्तमान हैं। कविने शान्तरसका निरूपण करते हुए निर्वेद स्थायीभावकी व्यंजनामें लिखा है—

स विषयो विषयोजनभक्ष्यवत्,
सुमनसां मनसां भयकारणम्।
भुवि द्वितो विदितोऽपि सदाभया-
शवरसंवरसंकलितोऽभवत् ॥ ८।२५

सासारिक विषयोंकी अभिलाषा विषमिश्रित भोजनके सेवन करनेके समान है, अतः विषयेच्छा विचारशील व्यक्तियोके हृदयमे भय उत्पन्न करती है। अतएव इस जगत् प्रसिद्ध विषयाभिलाषाका त्याग करनेके लिए संवरका सेवन करना चाहिए।

यहाँ विषयाभिलाषाके त्याग और संवरकी चर्चा कर कविने निर्वेदकी व्यंजना की है।

अलंकार-योजना

इस महाकाव्यमे कविने शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार इन तीनोंकी योजना की है। अनुप्रास, यमक, चित्र शब्दालंकार है तो श्लेष उभयालंकार भी निहित है। अर्थालंकारोंमे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोध, अतिशयोक्ति प्रभृति अलंकार प्रधान हैं। यहाँ कतिपय अलंकारोंका विश्लेषण उपस्थित किया जाता है।

उपमा

रात्रिमें खेतोंकी रखवाली करनेवाले कृषकोको कविने ऋषियोके समान साधना करते वर्णित किया है। कविकी अनुभूति इस दिशामें बहुत ही गम्भीर है—

रजनिबहुधान्योच्चै रक्षाविधौ धृतकम्बलः
सपदि दुधुवे वारांमाराद् गवा गलकम्बलः।
ऋषिरिव परक्षेत्रं सेवे कृषीबलपुङ्गव-
श्चपलसबलं भीत्या जज्ञे बलं च पलाशजम् ॥ ७।२९

पशुके चर जानेके भयसे कृषक रात्रिमें कम्बल धारणकर ऋषिके समान अन्न परिपूर्ण खेतोंकी रखवाली कर रहे हैं। ऋषि पंचाग्निकी साधना करते हैं, कृषक भी शीतसे रक्षा प्राप्त करनेके लिए अग्निका सेवन कर रहे है। ऋषि इन्द्रिय निग्रह आदिके लिए सावधान रहते है, वे कृषक भी रात्रिमें जागकर खेतोंकी रखवाली करनेमें अत्यन्त सावधान है। इस प्रकार कविने सुन्दर उपमाकी योजना की है।

उत्प्रेक्षा

कवि कल्पनाका धनी है। उसने दृष्टि और स्मृति द्वारा संचित किये गये ज्ञानको कल्पनासे व्यवस्थित और आनन्दप्रद बनाया है। उत्प्रेक्षाकी उत्पत्ति इसी कल्पनासे हुई है। कविने भरतक्षेत्रका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है—

मूर्धास्य हैमाद्रिरमुष्य चूला-
स्याद्रोहिता भ्रूर्युसरिच्च वामा।
सा दक्षिणा सिन्धुसरिद् रसाग्रे
तयोः पयस्ते नयने च मन्ये॥ १।२१

इस भरतक्षेत्रका सिर हिमाचल पर्वत है और हिमालयमें प्रवाहित होनेवाली रोहिता नामकी नदी इसकी चूड़ा है। आकाशगंगा वाम भ्रू और सिन्धु दक्षिण भ्रू है। नदी निर्गमनलिका जिह्वा है और गंगा तथा सिन्धुके ऊपरी भाग दोनों नेत्र हैं। इस प्रकार कविने हिमालयकी कल्पना सिरके रूपमें की है।

अर्थान्तरन्यास

खलनिन्दाके प्रसंगमे इस अलंकारकी सुन्दर योजना हुई है। यथा—

उच्छृङ्खलात्किं खलतो न बिभ्येत्,
सभ्यस्तथेभ्यः परमार्थनाशात्।
नाशा ह्यनाशा किमु वर्धनीया,
श्रुत्या विहीनस्य सकर्णतायाम्॥ १।६

सभ्य और धनाढ्य व्यक्ति अपने सम्मान और धन नाशके भयसे अदण्ड खलसे भयभीत रहते हैं। शास्त्राभ्याससे रहित बधिर व्यक्ति औषधि आदिके सेवनसे अपने बधिरत्वको दूरकर शास्त्रज्ञान प्राप्त कर सकता है, इसी प्रकार खल भी उपदेश, शिक्षण आदिके द्वारा उद्दण्डताको छोड़ सज्जनता प्राप्त कर सकता है।

विरोधाभास

एक ही व्यक्तिमें दो विरोधी गुणोंका वर्णन कर कविने इस अलंकारकी योजना की है—

ये कामरूपा अपि नो विरूपाः, कृतापकारेऽपि न तापकाराः।
सारस्वता नैव विकर्णिकास्ते कास्तेजसां नो कलयन्ति राजीः॥ १।२८

जो कामरूप—कामदेवके समान अपगत रूप हैं, वे विरूपा—रूपरहित नही है, यह विरोध है। यतः जो अपगतरूप है, वह रूपरहित नही है, यह कैसे हो सकता है, इस विरोधका परिहार यह है कि जो सुन्दर रूपवाला है, वह विपरीत वेशवाला नहीं है। अपकार करनेपर भी सन्ताप देनेवाला नही है, यह विरोध है; क्योंकि अपकार करनेवाला अवश्य सन्तापदायक होता है। अतः विरोध परिहारके लिए सापराध होने-

पर भी कष्टप्रद नहीं है। सारस्वत—पण्डित होनेपर भी नाना प्रकारकी लेखन सामग्रीसे रहित हैं, यह किस प्रकार सम्भव है, यह विरोध है। परिहारमें विद्वान होनेपर भी कर्णभूषणसे रहित हैं।

अतिशयोक्ति

कविने गंगाको भरतक्षेत्रकी वनिताके रूपमें चित्रित कर अतिशयोक्ति अलंकारकी योजना की है—

गङ्गानुषङ्गान्मणिमालमारिणीं सुरद्रुमेकामृतपूरसारणी।
क्षेत्रक्षमेशस्य रसप्रचारिणी साप्रागुदूढा वनितेव धारिणी ॥ १।१७

मणिमालाको धारण करनेवाली गंगा नदी भरतक्षेत्रकी सुन्दर स्त्री है। यह अपने अधरामृतसे कल्पवृक्ष अथवा देवदारुका सेवन करती है। आनन्दको उत्पन्न करनेवाली है तथा सभी प्रकारसे धारण करनेवाली है। अथवा दुर्गतिमें जाते हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेवाली है।

परिसंख्या

राज्य शासनका वर्णन करते हुए कहा गया है कि दण्डादि उस राजाके शासनमें नही थे, केवल नमस्कारादिके समय ही दण्ड-प्रणाम ग्रहण किया जाता था—

जज्ञे करव्यतिकरः किल भास्करादौ
दण्डग्रहाग्रहदशा नवनस्करादौ।
नैपुण्यमिष्टजनमानमतस्करादौ
छेदः सुसूत्रधरणात् तदयस्करादौ ॥ ३।४१

करव्यतिकर—किरणोका विस्तार सूर्यमे ही पाया जाता है, कर अर्थदण्ड वहाँ किसीको नही देना पडता है। दण्डग्रहण उपदेशमें नही है, नमस्कारके समय ही लोग दण्डवत् करते हैं। लोगोंके मनको वश करनेवाले व्यक्ति ही वहाँ हैं, धनादिको चुरानेवाले वहाँ नहीं है। वहाँ किसीका गुणोच्छेद नही होता था, सूत्रधारण केवल जुलाहा और लुहार आदि ही करते थे।

काव्यलिंग

धनकी सार्थकता दान देनेमे है, इस बातको सिद्ध करनेके लिए कविने कारणका निरूपण कर काव्यलिंगकी योजना की है।

नासत्यलक्ष्मीं वपुषातिपुष्णन्नासत्यलक्ष्मीं धरते स्वरूपात्।
सत्यागमार्थं श्रूयते यतेभ्य. सत्यागमार्थं लभते फलं सः ॥ १।५१

'नृपेन्द्रभावे' (१।६८) में निदर्शना, 'सनाभिभूतेः' (१।५५) में तुल्ययोगिता, 'अज. सपक्षे' (१।५९) मे अर्थापत्ति, 'तमीश्वरं' (१।६०) में समासोक्ति,

'वामाभिरामा' (१।६१) में दीपक, 'नृपेन्द्रभावे' (१।६८) में उल्लेख, 'सम्यक्कला' (३।२४) में दृष्टान्त एवं 'जानन्ति दानविधिमत्र' (३।४५) में व्यतिरेकालंकार है।

छन्दोयोजना

इस काव्यमे स्रग्धरा (१।८८), इन्द्रवज्रा (२।१), शिखरिणी (२।१७), मालिनी (२।१८), शार्दूलविक्रीडित (२।२५, ६।६३, ७।४२), वसन्ततिलका (६। ६०, ७।३०, ७।३१), हरिणी (५।१, ७।१), अनुष्टुप् (६।१), द्रुतविलम्बित (८।१), स्वागता (७।३४) और उपजाति (९।१) की योजना प्राप्त होती है। कविने समृद्धि, सुख और विलासके चित्रणमे द्रुतविलम्बितका प्रयोग, वध, तपस्या और सौन्दर्यके चित्रणमें उपजातिका, ऋतुवर्णनमें वसन्ततिलकाका और कथानकको संक्षिप्त करनेके लिए अनुष्टुप्का प्रयोग किया है।

शैली

प्रसादगुण विशिष्ट शैली होनेपर भी श्लेषके कारण अर्थबोधमें कुछ कठिनाई अवश्य आ जाती है। कविने अनुप्रासके साथ कोमलकान्त पदावलीका व्यवहार किया है। एकाध उदाहरण उपस्थित किया जाता है—

> दिवानिशं केकिकलाकलापैरालीषु तालीविधिनोपजापैः।
> सख्या. सुदत्या दिवसाः सुखेन सूर्यः सतूया गमयांबभूवुः ॥ २।९

इसी प्रकार 'नये प्रसक्ता विनयेऽनुरक्ता जयेन तद्वद्विजयेन पूर्णा' (१।५३), 'अनल्पतल्पे सुमनो विकल्पे' (१।७२), 'उच्चामरीवाचमनेन चामरी' (२।५), 'सीतापहारविधिरेष तवोपहार' (७।८), 'पक्षः पुरः सुरसमागमरागदक्षः' (७।३२) आदि उदाहरण भी महत्त्वपूर्ण है। ऋतु वर्णनमे कविने कई सरस चित्र उपस्थित किये है। श्लेष, यमक और अनुप्रास कविको विशेष प्रिय है। श्लेषका चमत्कार पूरी कलाबाजीके साथ प्रस्तुत किया गया है। पर इस दोषको छिपाया नही जा सकता कि पदलालित्यके रहनेपर भी श्लेषकी जटिलताने रसधाराको आवृत कर दिया है।

ऐतिहासिक महाकाव्य

ऐतिहासिक इतिवृत्तका आश्रय ग्रहण कर काव्य लिखनेकी परम्परा संस्कृतमे बहुत प्राचीन है। कवियोने अपने आश्रयदाताओकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए इस कोटिके काव्योका प्रणयन किया है। संस्कृत भाषाके जैन कवियोंने भी प्रत्येक काव्यविधाके समान ही इस काव्यविधाको अपनी रचनाओं द्वारा समृद्ध बनाया है। हम प्रथम परिवर्तमें इस विधाका संक्षिप्त परिचय दे ही चुके हैं, अतएव यहाँ एक ही प्रतिनिधि रचना हम्मीर महाकाव्यका परिशीलन उपस्थित करते हैं।

हम्मीरमहाकाव्यम्[1]

वि० सं० १३५७ के श्रावण मासमें रणस्तम्भपुरका युद्ध अलाउद्दीन खिलजीने जीता था और शरणागत वत्सल हम्मीरदेव उसमें वीरतापूर्वक लड़ते-लड़ते काम आये थे। इसी ऐतिहासिक घटनाको लेकर इस महाकाव्यकी रचना हुई है। इस महाकाव्यके रचयिता नयचन्द्र सूरि हैं।

कविका परिचय

नयचन्द्रसूरि कृष्णगच्छीय थे। इस गच्छकी स्थापना वि० सं० १३९१ (ई० सन् १३३४) मे जयसिंह सूरिने की है। नयचन्द्र सूरि इन्हीके शिष्य थे। जयसिंह एक प्रसिद्ध नैयायिक विद्वान् थे। इन्होंने न्यायसार-दीपिका नामक एक टीका ग्रन्थ लिखा है। कहा जाता है कि इन्होंने षड्भाषाके विद्वान् सारंगको शास्त्रार्थमें परास्त किया और महाराज कुमारके लिए एक ऐसे नये व्याकरणकी रचना की थी, जो काव्यमय था[2] जयसिंह सूरिके गुरु आचार्य महेन्द्र थे। महेन्द्र अचल गच्छके दसवें आचार्य थे। इनका पट्टकाल वि० सं० १३९५ से वि० सं० १४४४ तक बताया गया है।[3] अचल गच्छकी स्थापना वि० सं० १२०२ मे मानी जाती है।

काव्यमें बताया गया है कि नयचन्द्र सूरिको हम्मीरकाव्य रचनेकी प्रेरणा हम्मीरकी दिवंगत आत्मा द्वारा स्वप्नमें तथा ग्वालियरके तत्कालीन शासक वीरमदेव तोमरकी इस उक्तिसे कि प्राचीन कवियोंके समान मनोहर काव्य अब कौन रच सकता है, प्राप्त हुई थी।[5]

मोहनलाल दलीचन्द देसाईने इस महाकाव्यका रचनाकाल वि० सं० १४४० माना है।[6] श्री अगरचन्द नाहटाके पास इसकी प्रतिलिपि वि० सं० १४८६ की लिखी सुरक्षित है।[7] अतः इस काव्यकी रचना वि० सं० १४८६ के पूर्व ही होनी चाहिए। कविने अपनेको जयसिंह सूरिका शिष्य और पौत्र लिखा है।[8] जयसिंह सूरिने वि० सं० १३९१ में कृष्णगच्छकी स्थापना की है। अतः इस काव्यकी पूर्वसीमा वि० सं० १३९१ के पूर्व भी नही हो सकती है। इसी कारण देसाईजीने इसकी रचना वि० सं० १४४८ में मानी है।

---

[1] नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तन द्वारा सम्पादित और एजुकेशन सोसाइटी प्रेस, बम्बई द्वारा १८७९ ई० में प्रकाशित।

[2] देखें, हम्मीर० १४-२३, १४-२४।

[3] हिन्दी विश्वकोष, कलकत्ता, भाग ८, पृ० ८१।

[4] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, भाग १२, अंक ३, पृ० २६३।

[5] हम्मीरमहाकाव्य १४-२६।

[6] जै० सा० सं० इ०, बम्बई, सन् १९३३, पैरा नं० ६५४।

[7] ना० प्र० प०, काशी, वर्ष ६४, पृ० ६७।

[8] ह० म० १४-२७।

तोमर नृपति वीरमदेवकी प्रेरणासे प्रस्तुत काव्यकी रचना की गयी है। इनके पिता वीरसिंहने २५ वर्ष तक शासन किया था और इसके अनन्तर वीरमने वि० सं० १४५७ में दुर्गपतिपदको सुशोभित किया[1] इनका एक शिलालेख ग्वालियरके सुहनियाकी अम्बिका देवीके मन्दिरसे प्राप्त हुआ है, जो वि० सं० १४६७ का है।[2] ग्वालियरके दुर्गपतियोमें वि० सं० १४८१ में हम वीरमके पौत्र और गणपतिके पुत्र डूंगरसिंहका नाम पाते हैं।[3] अतः इस काव्यकी अन्तिम सीमा वि० सं० १४६७ के बाद नहीं है। नयचन्द्र आरम्भमे ही वीरमदेवके यहाँ पहुँचे होंगे और राजाको भी युवावस्थाके कारण काव्यका शौक रहा होगा। अतएव इसका रचनाकाल १४५७ वि० सं० के आसपास होना चाहिए।

रचनाएँ

कवि नयचन्द्र सूरिकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—रम्भामंजरी और हम्मीर महाकाव्य। रम्भामंजरी[4] प्राकृतका सट्टक है, इसमे तीन जवनिकान्तर हैं। कविने इसका नाम नाटिका लिखा है। बहुलांश प्राकृत भाषा रहनेपर भी संस्कृतका प्रयोग पाया जाता है। कविने इसे कर्पूरमंजरीसे उत्तम बताया है। शृंगारका चित्रण बहुत ही मनोरमरूपमें प्रस्तुत हुआ है।

हम्मीर महाकाव्य

'वीरांक' इस काव्यका नायक उदात्तचरित हम्मीरदेव है। कविने काव्यके आरम्भमें अपने नायककी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि मान्धाता, श्रीराम आदि अनेक राजाओंके चरित्रोंके निबद्ध रहनेपर भी हम्मीरदेवका चरित्र आकर्षक है। यतः इस सात्त्विक वृत्तिवाले महाराजने अपने प्राणों और राजैश्वर्यको ठुकरा दिया, पर शक सुलतान (अलाउद्दीन) को अपनी पुत्री और अपने शरणागत मुगल न दिये।[6] शिविने शरणागतकी रक्षाके लिए अपने शरीरका मास दिया, दधीचिने अस्थि दान दिया, किन्तु हम्मीरदेवने शरणागतकी रक्षाके लिए सुख, ऐश्वर्य, भोग और प्राण भी दे दिये। इस महाकाव्यमें स्थान-स्थानपर तिथिक्रम भी पाया जाता है। इस काव्यकी कथावस्तु १४ सर्गोंमें विभक्त है और विभिन्न छन्दोंमें १५७२ पद्य हैं।

---

१. ना० प्र० प०, काशी, भाग १२, अंक ३, पृ० २६४।

२. जर्नल ऑफ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, वाल्यूम ३१, पृ० ४२२।

३. ना० प्र० प० काशी, भाग १२, अंक ३, पृ० २६५।

४. डॉ० पी० पीटर्सन और रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १८८६ ई० में प्रकाशित।

५. कप्पूरमंजरीए कह रंभामंजरी न अहिययरा।
कप्पूराउ न रभा रंभाओ जेण कप्पूरो ॥—रम्भा सं० प्रथम ज०, गा० १४।

६. हम्मीर० १-८, १-६।

कथावस्तु

ब्रह्माजी एक बार यज्ञके लिए अनुकूल भूमि ढूंढ रहे थे कि अकस्मात् किसी स्थानपर उनके हाथसे कमल गिर पड़ा। ब्रह्माजीने उसी स्थानको हवनके योग्य समझा और सूर्यको यज्ञरक्षाका भार दिया। कालान्तरमें वही स्थान पुष्कर क्षेत्र तथा सूर्यमन्दिरसे आया हुआ पुरुष चाहमान कहलाया।[१] उसी चाहमानसे यह चौहान वंश निस्सृत हुआ है। इस वंशमे वासुदेव[२], नरदेव[३], चन्द्रराज[४], जयपाल[५], चक्री, जयराज[६], सामन्तसिंह[७], गूर्यक[८], नन्दन[९], वप्रराज[१०], हरिराज[११] और सिंहराज[१२] ये बारह राजा हम्मीरके पूर्वज हुए हैं। इनमे वप्रराजने शाकम्भरी देवीको प्रसन्न करके साँभर नामकी झीलसे नमक लेना आरम्भ किया था। सिंहराजको कविने अत्यन्त वीर बताया है। इसने कर्णाटक, गुजरात, चोल और अन्य राजाओंको हराया तथा युद्धमें यवन-सेनापति हेतिमको मारकर उसके चार हाथी छीन लिये थे[१३]।—प्रथम सर्ग

सिंहराजके अनन्तर चौहान वंशमें भीमराज[१४], विग्रहराज[१५], गुंददेव[१६], वल्लभराज[१७], राम[१८], चामुण्डराज[१९], दुर्लभराज[२०], दुःशालदेव[२१], विश्वलप्रथम[२२], पृथिवीराज प्रथम[२३], अल्हणदेव[२४], आनलदेव[२५], जगदेव[२६], विश्वलदेव द्वितीय[२७], जयपाल[२८], श्रीगंगदेव[२९], सोमेश्वर[३०] और पृथिवी चौहान[३१] के नाम मिलते हैं। सोमेश्वरकी राजमहिषी कर्पूरदेवीके गर्भसे पृथिवीराजका जन्म हुआ था।—द्वितीय सर्ग

शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर पश्चिम भारतके राजाओंने गोपालचन्द्रके पुत्र श्रीचन्द्रराजके नेतृत्वमे पृथिवीराजसे सहायता माँगी। इस समय गोरी मुल्तानको अपनी राजधानी बना रहा था। चौहानपतिने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके शहाबुद्दीनपर चढ़ाई की और लड़ाईमें उसे बन्दी बनाया। इस प्रकार गोरी सात बार कैद किया गया और पृथिवीराजने उसे दण्ड देकर प्रत्येक बार क्षमा कर दिया। आठवी

---

[१] ह० म० १।१-२५।
[२] वही १।२६-३१।
[३] वही १।३२-३६।
[४] वही १।३७-४०।
[५] वही १।४१-५२।
[६] वही १।५३-५७।
[७] वही १।५८-६२।
[८] वही १।६३-६६।
[९] वही १।६७-७१।
[१०] वही १।७२-८१।
[११] वही १।८२-८७।
[१२] वही १।८८-१०२।
[१३] वही १।१०२।
[१४] वही २।१-६।
[१५] वही २।७-९।
[१६] वही २।१०-१५।
[१७] ह० म० २।१६-१८।
[१८] वही २।१९-२१।
[१९] वही २।२२-२५।
[२०] वही २।२६-२८।
[२१] वही २।२९-३२।
[२२] वही २।३३-३७।
[२३] वही २।३८-४०।
[२४] वही २।४१-४४।
[२५] वही २।४५-५१।
[२६] वही २।५२-५५।
[२७] वही २।५६-५९।
[२८] वही २।६०-६२।
[२९] वह २।६३-६६।
[३०] वही २।६७-७४।
[३१] वही २।७५-९०।

बार पृथिवीराज स्वयं पराजित होकर बन्दी बनता है और वहाँ अनशन करनेसे उसकी मृत्यु हो जाती है। सेनापति उदयराज अपने स्वामीके उद्धारका प्रयत्न करता है, पर इस संग्राममें उसकी भी मृत्यु हो जाती है।—तृतीय सर्ग

पृथ्वीराजका पुत्र गोविन्दराज हुआ[1]। गोविन्दराजने रणस्तम्भपुरमें नवीन राज्य स्थापित किया। इस समय दिल्ली और अजमेरपर शहाबुद्दीनका अधिकार हो गया था। गोविन्दराजका पुत्र प्रह्लादन हुआ और उसका पुत्र वीरनाराण। वीरनारायण राजगद्दीका अधिकारी बनता है, पर जलालुद्दीन शकपति छल द्वारा वीरनारायणको मार डालता है। अनन्तर प्रह्लादनका अनुज वाग्भट्ट रणस्तम्भपुरका शासक बनता है। पश्चात् इसके पुत्र जैत्रसिंहको राजगद्दी प्राप्त होती है। इसी जैत्रसिंहकी पत्नी हीरादेवीके गर्भसे हम्मीरका जन्म होता है। कहते हैं कि जब वह अपनी माताके गर्भमें था, तो माताको बार-बार मुसलमानोंके रक्तमें स्नान करनेकी इच्छा होती थी। जैत्रसिंहने अपनी महिषीके इस दोहदको पूर्ण किया था[2]। यथासमय हम्मीरदेवका जन्म हुआ, जिससे प्रसूतागार प्रकाशित हो गया, सभी दिशाएँ निर्मल हो गयीं। शिशुके जन्मके साथ माता-पिताका भी आनन्द बढ़ने लगा।—चतुर्थ सर्ग

हम्मीरदेव किशोरावस्थाको पार कर युवक होता है। उसका सात कन्याओंके साथ विवाह होता है और युवकोचित क्रीड़ा करनेके लिए वसन्त ऋतुमें वीर-वरांगनाओंके साथ वनविहारके लिए जाता है। कविने इस प्रसंगमें वसन्त ऋतुका सुन्दर चित्रण किया है।—पंचम सर्ग

वनविहारके साथ जलक्रीडा करनेमें युवक-युवतियाँ संलग्न हैं। चन्द्रोदय होता है; सुधामयी किरणें नयी स्फूर्ति, नया चेतना एवं नया उल्लास उत्पन्न करती हैं। दम्पति विलास-वैभवमें प्रवृत्त हो जाते हैं।—षष्ठ सर्ग

सन्ध्या और चन्द्रोदयके स्निग्धपूर्ण वातावरण युवकोके लिए शृंगार-संजीवनीका कार्य करते हैं। रात्रिके समय पुरवासी नर-नारी सुरत क्रीड़ामें प्रवृत्त होते हैं। कविने इस प्रसंगका बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है। सुगन्धित ताम्बूलोंका सेवन और पुष्पहारोंके उपयोगसे जीवनको आह्लादित कर रहे हैं। विविध प्रकारकी सुरत क्रीड़ाओं द्वारा जीवनको सरस बनाते हैं।—सप्तम सर्ग

एक दिन स्वप्नमें जैत्रसिंहको विष्णुका आदेश प्राप्त होता है और उस आदेशके अनुसार वि० सं० १३३९ की पौष शुक्ला पूर्णिमा रविवार, मेष लग्नमें हम्मीरदेवका राज्याभिषेक सम्पन्न होता है। जैत्रसिंह हम्मीरदेवको राजनैतिक उपदेश देता है। वह कहता है कि जो व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न होकर भी अपनी शक्तिका प्रकाश नहीं करते

---

[1] मूलकाव्यमें 'पौत्रो गोविन्दराजाख्यः' (४।८४) —गोविन्दराजको पृथिवीराजका पौत्र कहा है, पर गोविन्दराज पृथिवीराजका पुत्र था, पौत्र नहीं।—ना० प्र० प०, भा० १२, अंक २, पृ० २७५ की पादटिप्पणी।

[2] पृ० म० ४। १४०-१४२।

उसका अपमान सदा ही होता रहता है। बिना नीतिके प्रयोग की हुई शक्ति भी सफल नहीं होती। जहाँ केवल बुद्धिसे काम हो सकता है, वहाँ बलका तनिक भी प्रयोग नही करना चाहिए। इस प्रकार पुत्रको उपदेश देकर जैत्रसिंह वनको चला गया। दैवयोगसे वहाँ उसे लूताने काट लिया, जिससे राजाका शरीरान्त हो गया।—अष्टम सर्ग

हम्मीरदेवने षड्गुण और तीन शक्तियोंसे अपनेआपको पूर्ण तथा युक्त देखकर दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया। सर्वप्रथम अर्जुनदेवकी राजधानी भीमरसपर आक्रमण किया। राजा अर्जुनदेवने अधीनता स्वीकार की और उससे कर लेकर वह धारा नगरी पर चढ़ा। यहाँ विद्याप्रेमी भोजसे सत्कार प्राप्त कर हम्मीरदेवने अवन्तीपर चढ़ाई की, जहाँ क्षिप्रानदी प्रवाहित होती है। महाकालकी पूजा की। यहाँ उज्जयिनीमें इतना प्रभावशाली जुलूस निकला कि उसने विक्रमादित्यको भी भुला दिया। यहाँसे चित्रकूट-पर आक्रमण करता हुआ मेवाड़पर जा पहुँचा। अनन्तर आबूपर गया। यद्यपि वह जैन नही था, तो भी उसने ऋषभदेवके दर्शन किये तथा वस्तुपालके कीर्तनमे सहयोग दिया और कुछ समय तक वशिष्ठाश्रममें रहकर मन्दाकिनीमें स्नान किया एवं श्रीअचलेश्वरकी पूजा की। अर्बुदेश्वर एक प्रसिद्ध योद्धा था, किन्तु उसे भी हम्मीरके अधीन होना पड़ा। यहाँसे चलकर उसने क्रमशः वर्धनपुर, चंगा और पुष्करको जीता। पुष्करमें वराह भगवान्की पूजा की। इस प्रकार शाकंभरी, महाराष्ट्र, खण्डिल्ल, चम्पा और कांकरौलीके अधिपतियोको परास्त कर हम्मीर अपनी राजधानीको वापस लौट आया। इस अवसरपर धर्मसिंह आदि अमात्योंने बड़े उत्साहके साथ राजाका स्वागत किया। एक बार राजाने अपने पुरोहित विश्वरूपसे कोटियज्ञके फलका माहात्म्य सुनकर उसे करनेकी तैयारी की। राजाने ब्राह्मणोंको बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी और अन्तमें एक महीनेके लिए मुनिव्रत धारण किया। अलाउद्दीनको जब हम्मीरके मुनिव्रत धारणका समाचार मिला तो उसने अपने भाई उल्लूखाँसे कहा—"रणस्तम्भपुरका राजा जैत्रसिंह कर देता था, वह हमारे अधीन था, पर उसका पुत्र हम्मीरदेव बगावत कर रहा है, उसने कर देना बन्द कर दिया है। इस समय वह मुनिव्रत धारण किये हुए है, अतः तुम जाकर शीघ्र ही उसके राज्यको नष्ट-भ्रष्ट कर दो।" सुल्तानकी आज्ञानुसार वह अस्सी हजार सैनिक लेकर रणस्तम्भपुरके लिए चला। वर्णाशा (बनास) नदीपर पहुँचनेपर उसे मार्ग नही मिला, अतः वही रुककर वह ग्रामादि जलाता रहा। हम्मीर-को जब यह समाचार मिला तो, उसने सेनापति भीमसिंह और धर्मसिंहको सेना देकर उल्लूखाँका सामना करने भेजा। इन दोनों वीरोने यवन सेनाको छिन्न-भिन्न कर दिया और सारा सामान लूट लिया।

उधर उल्लूखाँ अपनी सेनाके साथ छिपकर राजपूत सेनाके पीछे लग गया। भीमसिंहने अद्रिघाटिकामें पहुँचकर यवन सेनाके बाजोंको बजाया, जिससे यवन सेना भीमसिंहपर टूट पड़ी। भीमसिंह मारा गया और धर्मसिंह सेनाके प्रधान भागके साथ आगे बढ़कर रणस्तम्भपुरमें चला आया। उल्लूखाँ पराजित होकर भी विजयी बन

दिल्ली लौटा। जब हम्मीरदेवका व्रत पूर्ण हुआ तो उसे धर्मसिंहपर बहुत क्रोध आया। उसने धर्मसिंहसे कहा—"क्या तू अन्धा था, जो शक सेनापति तुझे दिखाई न दिया। इस प्रकार भाग आना तुम्हारी वीरता नहीं है। इतना कहकर राजाने उसे अन्धा कर दिया और देश निर्वासनका दण्ड दिया, किन्तु भोजने बीचमें पड़कर राजाको शान्त किया और धर्मसिंहको क्षमा करा दिया। धर्मसिंहके स्थानपर भोजको दण्डनायक बनाया।

कूटनीतिज्ञ धर्मसिंहने धारादेवी नामकी नर्तकीको राजदरबारमें भेजना आरम्भ किया। एक दिन नर्तकीसे उसे पता लगा कि अश्वोंको नेत्ररोग हो जानेसे राजा हम्मीरदेव बहुत चिन्तित हैं। धर्मसिंहने नर्तकीके द्वारा राजाके पास समाचार भिजवाया कि राजा धर्मसिंहको पूर्वपद प्रदान करे तो वह अश्वोंकी संख्या दूनी कर सकता है। धर्मसिंह पूर्वपदपर आसीन हो गया। उसने प्रजासे मनमाना कर वसूल करना आरम्भ किया। राजकोष तो धनसे भर गया, पर प्रजामें असन्तोष व्याप्त हो गया। भोजदेवने राजासे इस बातकी शिकायत भी की, पर राजाने भोजको जली-कटी सुनाकर अपमानित किया। हम्मीर वैजनाथकी यात्राको गया, भोज भी साथ था। यहाँपर भोजको अपमानित किया गया। भोजने लौटकर अपने अपमानका समस्त वृत्तान्त अपने भाई पीथसिंहको सुनाया। दोनों ही काशी-यात्राका आदेश लेकर राजासे बदला चुकानेके लिए अलाउद्दीनसे मिल गये। राजाने भोजका स्थान रतिपालको प्रदान किया।
—नवम सर्ग

अल्लाउद्दीनने भोजका खूब सत्कार किया और उसे महिमाशाहका जगरा नगर जागीरमें दे दिया। भोजदेव दिल्लीमें अलाउद्दीनकी सेवामें रहने लगा। शनैः-शनैः अलाउद्दीनको उसपर विश्वास हो गया। अतः उसने भोजसे पूछा कि युद्धमें हम्मीरको किस प्रकार जीता जा सकता है? भोजदेवने हम्मीरकी वीरता, दानशीलता और चातुर्यका वर्णन करते हुए उसका प्रजाके असन्तुष्ट होनेकी बात कही। उसने बताया कि शीघ्र ही आक्रमण कर देना चाहिए, जिससे फसलका अन्न नष्ट कर दिया जाये। इससे प्रजा विद्रोही बन जायेगी और अपनी विजय हो जायेगी। अलाउद्दीनने भोजदेवकी सम्मति पसन्द कर एक लाख सेनाके साथ उल्लूखाँको पुनः भेजा। उल्लूखाँके पहुँचते-पहुँचते हम्मीरको भी आक्रमणका समाचार प्राप्त हो गया। उसने अपनी मन्त्रि-परिषद्में वीरम आदि आठ मन्त्रियोंसे सम्मति लेकर युद्धके लिए यह प्रबन्ध कि आठ सेनापति एक साथ आक्रमण करें। राजपूतोंके युद्धके समक्ष यवन सेना ठहर न सकी और उल्लूखाँने भागकर अपने प्राण बचाये। राजपूतोंने सेनाको लूटा और स्त्रियोंको कैद कर उनसे गाँव गाँवमें मठा बिकवाया गया। राजाने रतिपालकी वीरतासे प्रसन्न होकर उसे पैरोंमें पहननेके लिए स्वर्णकी जंजीर प्रदान की और उसे मत्तगजकी पदवी दी।

हम्मीरदेवके मुगलसरदारोंने जगरापर चढ़ाई की और भोजके भाई पीथमको बन्दी बनाकर ले आये। इधर उल्लूखाँ जब दिल्ली पहुँचा तो अलाउद्दीनने उसका तिरस्कार किया। इसी बीच भोजदेव भी दरबारमें आया और अलाउद्दीनसे प्राप्त

खिलअतको ही भूमिपर बिछाकर लोटने लगा। अलाउद्दीन द्वारा कारण पूछे जानेपर उसने कहा—"मेरे जीवनको धिक्कार है। भाईको महिमशाह पकड़कर ले गया और जगराको उजाड़ गया। अब सब पृथ्वीपर हम्मीरका अधिकार है, मैं कहाँ रह सकता हूँ ? तभी तो वस्त्र बिछाकर लोट रहा हूँ।" अलाउद्दीनका क्रोध बढ़ गया और उसने हम्मीरके विनाशकी प्रतिज्ञा की। —दशम सर्ग

अलाउद्दीनने युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी कर असंख्य सैनिकोंके साथ उल्लूखाँ और निसुरतखाँको आगे भेजा और आप स्वयं थोड़ी सी सेना लेकर पीछे रुका रहा। निसुरतखाँ और उल्लूखाँ जब अद्रिघट्टपर पहुँचे, तब उल्लूखाँको अपनी पूर्वदशाका स्मरण हो आया, अतः उसने अपने भाई निसुरतखाँसे कहा—यह स्थान विषम है, अतः इसमें प्रवेश करते समय लड़ने-भिडनेके स्थानपर सन्धिका बहाना करना चाहिए। निसुरतखाँने भी इस कुटिल नीतिको पसन्द किया और मोल्हणको तुरत दूत बनाकर हम्मीरके पास भेजा। साथ ही दिल्लीकी सेना उस घाटीसे होकर आगे बढ़ रही थी। इधर राजपूत भी यह समझकर उपेक्षा कर रहे थे कि उन्हें घाटी पार कर आगे आ जाने दिया जाये।

मोल्हणने हम्मीरके दरबारमें जाकर कहा—"सर्वविजयी दिल्लीपति सम्राट् अलाउद्दीनके उल्लूखाँ और निसुरतखाँ दोनो भाई मेरे द्वारा सन्देश देते हैं कि आ हम्मीर ! यदि तुझे राज्य भोगने की इच्छा है तो एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ, चार बडे-बड़े हाथी, तीन सौ अत्युत्तम घोडे और अपनी कन्या देकर हमारी आज्ञा शिरोधार्य करो, और यदि इतना करना न चाहो तो उन चार मुगलोंको, जो हमारी आज्ञा भंग करके तुम्हारे यहाँ रहते हैं, हमारे अधिकारमें देकर ही अपने राज्यकी रक्षा करो।" हम्मीरने दूतको डाँटकर सभासे निकाल दिया। दूतके चले जानेपर राजपूत सेना दुर्गकी रक्षामें लग गयी। अनेक युद्धोंमें विजय प्राप्त कर चुकनेवाले योद्धा रक्षा स्थानोंमें नियत कर दिये गये। दुर्गकी मरम्मत की गयी। स्थान-स्थानपर तेल और रालके गर्म कड़ाहे रख दिये गये।

दूतके पहुँचनेपर निसुरतखाँ और उल्लूखाँने दुर्गपर चढ़ाई की। तीन मास तक दुर्गको घेरकर दोनों भाइयोंने दीवारोंको तोड़नेके अनेक प्रयत्न किये। उधर राजपूत ऊपरसे पत्थर, गोले, तीर, गर्म तेल, राल आदि फेंककर शत्रु-सेनाको नष्ट करते रहे। एक दिन युद्ध-स्थलमें मुसलमानी फौजके यन्त्रसे निकले हुए गोलेका टुकड़ा निसुरतखाँको जाकर लगा, और उसकी मृत्यु हो गयी। अपने भाईकी मृत्यु देखकर उल्लूखाँ पीछे हट गया। उसने उसके शवको दिल्ली भेजकर अलाउद्दीनको वास्तविक स्थितिकी सूचना दी तथा उसे सहायताके लिए बुलाया। अलाउद्दीन भी शीघ्र ही रण-स्थलमें उपस्थित हो गया।—एकादश सर्ग

अलाउद्दीनके आनेपर हम्मीरकी सेनाने निरन्तर दो दिनोंतक घोर युद्ध

किया। इसमें ८५ हजार मुसलमान मारे गये। इसके पश्चात् कुछ समयके लिए युद्ध बन्द हो गया।—द्वादश सर्ग

सामयिक सन्धिकालमें अलाउद्दीनकी सेना किलेकी दीवालके निकट इतने अन्तरसे पड़ी थी, जिससे किलेके भीतरकी सारी चीजोंको देखा जा सकता था। धारादेवी नृत्यकलाका प्रदर्शन कर रही थी। उसने कई बार मयूरबन्ध नामका नृत्य किया। अलाउद्दीनने अपनी सेनामें घोषणा की कि क्या कोई ऐसा धनुर्धर है, जो इस नर्तकीको एक ही बाणसे धराशायी बना सकता है। उड्डानसिंह नामके एक राजपूत बन्दीने कहा—"हाँ, मैं एक ही बाणसे नर्तकीका काम तमाम कर सकता हूँ।" उसने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और एक ही बाणसे नर्तकीको मार दिया। महिमाशाहको इससे बहुत क्रोध आया और उसने बाण चलाकर अलाउद्दीनको मारना चाहा, पर हम्मीरने रोक दिया। अतः उसने उड्डानसिंहको एक ही बाण से समाप्त कर दिया। अलाउद्दीन उस स्थानको संकटपूर्ण समझकर अन्यत्र शिविरको ले गया। यवन सेनाने राजपूतोंके किलेकी खाईपर पुल बना दिया और दीवारों तक एक सुरंग भी तैयार कर ली। हम्मीरदेवने पुलको गोलोंकी वर्षासे तोड़ दिया और सुरंगमे तप्ततैल तथा राल छोड़कर शत्रु सैनिकोंका संहार किया। तत्पश्चात् उस सुरंगको उन्ही सैनिकोके शवोसे भरकर बन्द कर दिया।

वर्षा आरम्भ हो जानेसे अलाउद्दीनकी सेनाको बहुत कष्ट होने लगा। उसके हाथी, घोड़े दुर्बल हो गये। अन्तमे उसने सन्धि सम्बन्धी नियम तय करनेके बहाने हम्मीरके पास सूचना भेजकर रतिपालको बुलाया। रतिपालके इस विशेष सत्कारसे रणमल्ल कुछ क्रुद्ध हुआ।

हम्मीरके इच्छानुसार रतिपाल अलाउद्दीनके पास पहुँचा। अलाउद्दीनने उठकर स्वयं ही उसका स्वागत किया। स्वयं अपने आसनपर बराबर बैठाया और अनेक प्रकारसे उसका सम्मान किया और वह बोला—"मैंने अबतक अनेक दुर्गविजय किये हैं और मुझे इस दुर्ग तथा राज्यकी इच्छा भी नही है, प्रत्युत तुम्ही इसे ले लेना। यदि मैं इसे बिना विजय किये लौट जाऊँ तो संसारमें मेरी सब कीर्ति नष्ट हो जायेगी।" रतिपालपर अलाउद्दीनका जादू चल गया। उसने उसके प्रस्तावको स्वीकार कर लिया। अलाउद्दीनने उसे अन्तःपुरमें ले जाकर भोजन कराया। यहाँ उसने उसकी छोटी बहनके साथ मदिरापान किया।

लौटकर रतिपालने हम्मीरदेवसे नाना प्रकारकी झूठी बातें बतायी। उसकी इस धूर्तताको वीरमदेवने ताड़ लिया; किन्तु हम्मीरदेवने कुछ भी ध्यान नही दिया। रतिपालने महलमें निराधार अनरव फैला दिया कि अलाउद्दीन तो सन्धिके लिए केवल देवीको माँगता है। रानियोंने लड़कीको सिखा-पढ़ाकर राजाके पास भेजा और निवेदन कराया कि सन्धि कर ली जाये। रतिपालने रणमल्लको भी बहकाया। रतिपाल

रणमल्लके साथ शत्रु-सेनामें सम्मिलित हो गया। हम्मीरने अपनेको सर्वत्र विश्वासघातसे घिरा देखा। अतः वह क्रोध और निराशासे व्याकुल हो गया। उसने महिमाशाहसे कहा—"भई! हम क्षत्रिय हैं, अपने देशकी रक्षाके लिए प्राण दे देना, हमारा धर्म है, आप वैदेशिक हैं, अतः हमारे साथ मरना उचित नहीं।" राजाकी इन बातोंसे महिमाशाहको वेदना हुई और उसने घर जाकर अपने परिवारका कत्ल कर दिया। वह राजाके पास पहुँचा और बोला—"आपने मेरा बड़ा उपकार किया है, अतः मेरी स्त्री आपका दर्शन करना चाहती है।" महिमाशाहके यहाँ जाकर उक्त दृश्य देख राजा आश्चर्यचकित हो गया। उसने जौहरकी तैयारी की। दुर्गमें नारियोंके लिए चिताएँ तैयार की गयीं और सभी राजपूत केसरिया बाना पहन दुर्गके कपाट खोल शत्रु-सेनापर टूट पड़े। एक-एक कर सामन्त मारे गये। अन्तमें हम्मीरने भी शत्रुके हाथसे मरनेकी अपेक्षा स्वयं अपनी हत्या कर ली।—त्रयोदश सर्ग

कविने अन्तिम सर्गमें हम्मीरके गुणोंकी स्तुति तथा रतिपाल, रणमल्ल, भोज, जाहड़की निन्दा एवं जाज और महिमाशाहकी प्रशंसा की है। ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्तिके साथ काव्य समाप्त होता है।—चतुर्दश सर्ग

कथावस्तुका स्रोत और गठन

कथावस्तुका आधार ऐतिहासिक घटना है। कविने ऐतिह्य और किंवदन्तियोंका आश्रय ग्रहण कर इस ऐतिहासिक काव्यका सृजन किया है। महाकाव्यके प्रथम चार सर्गोंमें हम्मीरके पूर्वजोंका वर्णन है। इन सर्गोंके कथानकमें इतिवृत्तात्मकता अधिक और सरसता कम है। इनमें तथ्य कथनकी ओर अधिक आग्रह रहनेसे ऐतिह्य तथ्योंका पूर्ण समावेश है। पाँचवें सर्गसे आठवें सर्गतक बसन्त, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, सुरतकेलि एवं प्रभात वर्णन काव्यकलाकी दृष्टिसे बेजोड़ हैं। इन सर्गोंमें कथाका क्रम अवश्य अवरुद्ध है, पर कविताकी मनोरम छटा, कल्पनाओंका प्राचुर्य और सरस अलंकरण सर्वत्र वर्तमान है। नवम सर्गसे कथा पुनः गतिशील होती है और त्रयोदश तक बढती जाती है। चतुर्दश सर्ग प्रशस्ति मात्र है।

कथावस्तुमें अन्विति है। कही किसी भी प्रकारकी शिथिलता नहीं है। आद्यन्त कथानककी गति समान रूपसे प्रवाहित परिलक्षित होती है। कथानकके समस्त अंग समान रूपसे विकसित हैं। कथामें मर्मस्थल भी वर्तमान हैं—पृथिवीराजकी पराजय और गोरीके बन्दीगृहमें उसकी मृत्यु, हम्मीर द्वारा महिमाशाहको शरण देना, निसुरतखाँका वध, हम्मीरके साथ सामन्तोंकी धोखाबाजी एवं हम्मीरकी आत्महत्या आदि स्थल मर्मस्पर्शी और हृदयावर्जक हैं। काव्यके कथानकका विकास वस्तुतः अष्टम सर्गसे होता है। यहीसे नायकका चरित्र सामने आने लगता है और उत्तरोत्तर कथाके क्रममें किसी भी प्रकारकी विशृंखलता नहीं आती है।

महाकाव्यत्व

महाकाव्यके समस्त शास्त्रीय लक्षण इस काव्यमें समवेत है। आरम्भमे नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया गया है। सर्ग-संख्या तथा सर्गान्तमें छन्द परिवर्तन शास्त्रीय विधानानुसार है। वन, नगर, ऋतु, सागर, प्रातः, सन्ध्या, चन्द्रोदय, सुरत-क्रीड़ा, पुत्रोत्पत्ति, युद्ध, सैन्य-संचालन आदि विविध वस्तु-व्यापार शास्त्रीय दृष्टिसे वर्णित हैं। इस महाकाव्यमें जातीय जीवनकी सफल अभिव्यंजना हुई है। अर्थगौरव, विचारगाम्भीर्य, भाषा-शैलीकी प्रौढ़ता, व्यापक कथानक, युगजीवनकी अभिव्यक्ति एवं सरसता प्रभृति इस महाकाव्यको महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करनेमे क्षम है।

यह महाकाव्य दुःखान्त है। इसका नायक हम्मीर और प्रतिनायक अलाउद्दीन है। हम्मीर स्वयं पराजित हो आत्म-वध कर लेता है। इतना सत्य है कि नायक अपनी आनके लिए अपना सर्वस्व त्याग कर मातृभूमिकी प्रतिष्ठाके हेतु वीरगति लाभ करता है। कविने महाकाव्योचित उदात्त चरितवाले व्यक्तिको अपने इस महाकाव्यका नायक निर्वाचित किया है।

सौन्दर्य चित्रण

इस महाकाव्यमे प्रकृतिके सौन्दर्य चित्रणके साथ नर-नारीके सौन्दर्यका चित्रण भी किया गया है। कविने हम्मीरदेवके सौन्दर्य चित्रणमे केश, मुख, कण्ठ, वक्ष, बाहु और पदोके लिए क्रमशः शशि, कम्बु, कपाट, परिघ और कमल उपमानोका प्रयोग किया है। यथा—

केशाः केकिकलापकान्तिजयिनो वक्त्रं शशिप्रीतिमित्
कण्ठः कम्बुरिपुः कपाटपटुताविक्षेपि वक्षस्थलम्।
दोर्दण्डा परिघापवादनिविडौ पादौ कृताब्जापदौ
किं किं रम्यतरं न यौवनपदं प्राप्तस्य तस्याभवत् ॥ ४।१५५

नारी सौन्दर्यमें कविने नर्तकी धरादेवीके सौन्दर्य-वर्णनमें विशेष अभिरुचि दिखलायी है। कवि कहता है—

कर्णोपान्तभ्रमच्चक्र-व्याजात्स्माहेव तां शशी।
समोपमा वदास्यस्य भ्रम एव विपश्चिताम् ॥ १३।२१
कर्पूरपरमाणूनां व्याजाल्लग्नान् पादयाः।
अभिभिभ्रामयन्तीव रेजे यूनां मनांसि सा ॥ १३।२२

चन्द्रमाको इस बातसे बहुत लज्जा हुई कि धरादेवीके मुखको उसके समान कहा जाता है। वह उपमा देनेवाले विद्वानोंका इसे भ्रम समझता है, अतएव कर्णके उपान्तमें चक्राकार रूपसे भ्रमण कर रहा है। आशय यह है कि धरादेवीका मुख चन्द्रमासे अधिक सुषमापूर्ण और आह्लादजनक है। उसके चरणोंमें कर्पूरके परिमाणु ही

बहानेसे लग गये थे, अतएव वह युवकोंके चंचल मनको चाकके समान घुमाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी।

कवि नयचन्द्र सूरिने प्रकृतिके रम्य रूपका पंचम और षष्ठ सर्गमें चित्रण किया है। वसन्त ऋतु अपनी मादकतासे समस्त प्राणियोंको विभोर बना देती है। कवि कहता है—

मदनोऽधुनापि परदेशजुषां हृदि नष्टशल्यमभिहन्तुमिव।
कुसुमानि वृन्तसुषिराणि भृशं विरच्य काण्डफलतामनयत्॥ ५।१६

वसन्त ऋतुमें परदेशमें रहनेवाले प्रेमियोंको बाणाहत करनेके लिए कामदेव पुष्प गुच्छोंको बार-बार तैयार कर रहा है। वसन्तमें विकसित पुष्प अपने सौरभ और रम्यरूपके कारण परदेशमें निवास करनेवाले व्यक्तियोके लिए मदनबाणका कार्य कर रहे हैं।

परिलोभयन् मधुकरप्रकरान् मधुसंगमेन मधुरैर्मधुभिः।
तिलकद्रुमस्तिलकवन्निखिलेष्वपि भूरुहेषु लभतेस्म रुचिम्॥ ५।२२

अपने परागसे भ्रमर समूहको लुब्धक बनाता हुआ तिलक वृक्ष समस्त वन प्रान्तमें तिलकके समान सुशोभित हो रहा है। तिलक वृक्ष समस्त वृक्षोंके बीच तिलक के समान प्रतीत होता है।

भृशलीनषट्चरणचक्रवशाऽधिकनीलनारजदले सरसि।
कमलैरलम्भि विलसत्कमनैर्गगने नवोदितशशाङ्करुचिः॥ ५।२९

सरोवरके निर्मल जलमें कमलोंके ऊपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है, मानो नीले निर्मल आकाशमें चन्द्रमा ही सुशोभित हो रहा हो। यहाँ निर्मल नीला जल आकाश है और श्वेत कमलपर भ्रमरोका संलग्न रहना चन्द्रमा है। चन्द्रमामें कलंक है, भ्रमर ही यहाँ कलंक तुल्य हैं।

वसन्तके आगमनके समय कोयलका कूजन होता है। युवक अपनी रूठी हुई युवतियोंको अनुनय-विनयसे मनानेका प्रयत्न करते हैं, पर वे मानती नहीं। इसी समय जब उनके कानमें कोकिलकी मधुर कूक सुनाई पड़ती है, तो वे अपनेको अधिक समय तक उक्त अवस्थामें नहीं रख सकती। फलतः गाढालिंगन पूर्वक युवक उन मानवती युवतियोंका चुम्बन करते हैं।

इस प्रकार वसन्तका आगमन जड़-चेतन सभीमें नयी स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है। वसन्तकी कुसुमसम्पदा मानवकी भावराशिका भण्डार खोल देती है। भौरोंका गुंजन और कोकिलकी कूज मानवतियोंके मानको क्षण भरमें समाप्त कर देती है। पलाश, तिलक, अशोक और कुरवक का नया रूप नया जीवन उत्पन्न करता है।

निशाको सुन्दरी नायिका और चन्द्रमाको नायक मानकर मानव रूपमें प्रकृतिका सहज और रम्यरूप उपस्थित किया गया है। यथा—

हिमकरं दयितं मिलितुं निशा विवसिताद्भुतभूषणया दधे ।
अविरलोदिततारकपेटकच्छलमयी नवमौक्तिकजालिका ॥ ७।२५
चिरमथान्मिलनादुपगूहन ह्रिअपतावदयं ददति श्रियः ।
त्रुटति हारलतास्म समुत्पतद्द्विविधमौक्तिकतारकिताम्बरा ॥ ७।२६

रात्रि अपने पति चन्द्रमासे मिलनेके लिए नाना प्रकारके अद्भुत आभूषणोंको धारण कर और तारागण रूपी मोतियोंकी मालाको पहन कर जा रही है ।

बहुत कालके अनन्तर मिलन होनेसे चन्द्रमा शोभाको प्राप्त हो रहा है तथा हारलताके टूट जानेसे मोती बिखर गये हैं, इसी कारण तारागणोंके द्विधा विभक्त हो जानेसे आकाश दो भागोंमें विभक्त हो गया है ।

प्रस्तुतके रूपमें 'पित्रा प्रदत्तं समवाप्य काले' (२।७८) में प्रकृतिका चित्रण किया गया है ।

इस प्रकार प्रस्तुत ऐतिहासिक काव्यमें प्रकृतिका चित्रण विभिन्न रूपोंमें समाविष्ट है ।

रसभाव योजना

भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक संचारी भाव एक समुचित व्यवस्थामें एकत्र होकर पारस्परिक सहयोगसे अभिन्न रूपमें कार्य करते हुए रस-निष्पत्ति सम्पन्न करते हैं । जो कवि अपने काव्यमें उक्त भावादिका जितना अधिक समुचित संयोग सम्पादित कर सकता है, उसके काव्यमें रसकी स्थिति उतनी सघन रहती है । अनुभूतिकी व्याप्ति और काव्य चमत्कार भी रसयोजनापर अवलम्बित रहता है । कवि नयचन्द्रने विचारोंकी गरिमा और भावतीव्रताका प्रदर्शन कर रसयोजना सम्पन्न की है । कविने स्वयं ही इस काव्यको 'शृंगारवीराद्भुतं' (१४।४३)—शृंगार, वीर और अद्भुत रससे युक्त कहा है । इस काव्यमें अंगी रस वीर है, वीरके पोषक रौद्र, भयानक और करुण रसों का परिपाक भी पाया जाता है । शृंगार रसके दोनो ही पक्ष तथा इसके सहायक रूप में हास्य भी आया है ।

अलंकार-योजना

अलंकरणका सम्बन्ध सौन्दर्यसे है । यह प्रवृत्ति मानव जीवनमें सार्वकालिक, सार्वजनीन और सार्वत्रिक है । सौन्दर्यानुभूतिको तीव्र बनानेके लिए अलंकारयोजना प्रत्येक कवि करता है । आचार्य नयचन्द्र सूरिने प्रस्तुत काव्यमें यथास्थान अलंकारोंकी योजना कर काव्य-चमत्कारका सृजन किया है । हम्मीर महाकाव्यमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही पाये जाते हैं ।

अनुप्रास

ऐतिहासिक काव्य रहनेपर भी कविने अनुप्रासकी सुन्दर छटा प्रदर्शित की है । इस अलंकार द्वारा संगीत तत्त्व उत्पन्न किया गया है । यथा—

गुरुप्रसादाद्यदि वास्मि शक्तस्त्वदीयवृत्तस्तवनं विधातुम् ।
सुधाकरोत्संघसरंगयोगान्मृगो न खे खेलति किं सखेलम् ॥१।१२

यहाँ स, र, ख और ल की आवृत्ति द्वारा अपूर्व माधुर्य उत्पन्न किया गया है। अर्थकी दृष्टिसे उपर्युक्त पद्यमें चमत्कार है ही, पर अनुप्रासकी छटाने संगीत माधुर्य उत्पन्न कर दिया है।

यमक

आवृत्ति क्रमकी व्यवस्थाके अनुसार यमक अलंकार अनेक प्रकारका होता है। कविने भिन्नार्थ वर्णोंकी योजना कर इस अलंकार द्वारा काव्य-चमत्कार उत्पन्न किया है।

नाम्नि धाम्नि च संक्षेपं विधित्सन् यो विरोधिनाम् ।
अवनीपालतां हित्वा द्राग् वनीपालतां दधौ ॥४।३६

उपमा

अर्थालंकारोंमें उपमा प्रधान है, अधिकांश अलंकार उपमामूलक ही होते हैं। कविने अनेक प्रकारके उपमानों द्वारा भावोत्कर्ष उत्पन्न किया है। यहाँ उपमाका एकाध उदाहरण ही दिया जाता है।

पित्रा प्रदत्तं समवाप्य काले राज्यं स भूभृन्नितरां चकासे ।
अहर्मुखेऽहर्पतिनोदयाद्रिर्यथा तमोव्रातविनाशि रोचिः ॥२।७८

पृथ्वीराज पिताके द्वारा दिये गये राज्यको प्राप्तकर उस प्रकार प्रकाशित होने लगा, जिस प्रकार अन्धकार समूहको विनाश करनेवाला सूर्य उदयाचलको प्राप्तकर प्रकाशित होता है।

उत्प्रेक्षा

किसी नयी सूझ या कल्पनाका चमत्कार दिखलानेके लिए उत्प्रेक्षा अलंकारकी योजना की गयी है।

हृदयेश्वरं भजत मानममुं त्यजताशु नेति समयो हि गतः ।
इति बोधयन्निव कुरङ्गदृशो रुचिरं चुकूज परपुष्टयुवा ॥५।३०

बसन्त ऋतुमें कोयल स्वभावतः कूजती है। कवि उसके कूजनेके सम्बन्धमें उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है कि वह मानवती स्त्रियोंका मान तोड़नेके लिए प्रेरित कर रही है। वह कहती है कि हे हरिणाक्षियो ! शीघ्र ही मान छोड़कर पतियोंका सेवन करो। कोकिलका मधुर कूज मानवतियोंके उद्बोधनके लिए ही है।

रूपक

उपमान और उपमेयको एक दूसरेसे नितान्त अभिन्न वर्णनकर कविने रूपक अलंकारका सृजन किया है। कविने वाग्भट नृपतिमें सूर्यका और रणस्तम्भपुरमें व्योमका आरोप किया है। यथा—

तो वाग्भटभूपाल-सूर्येण परिवर्जितम् ।
रणस्तम्भपुरव्योम व्यानशे शकतारकैः ॥४।१०६

अर्थान्तरन्यास

वसन्तवर्णन प्रसंगमें कविने इस अलंकारकी योजना की है—

अधिकाधिकं तनुविलेपविधौ प्रमदाभिराद्रियत वह्निशिखम् ।
उपकारकारि सुचिरोपनतं सहसैव हेयमिह वस्तु कथम् ॥५।३५

वसन्त ऋतुमें नारियाँ केशर या कुंकुमका लेप करनेके लिए अत्यधिक उत्सुक थीं। चिरकालसे प्राप्त वस्तुएँ उपकार करनेवाली होती हैं, क्योंकि संसारमें कोई भी वस्तु सहसा हेय नहीं हो सकती।

परिसंख्या

जयराज नृपतिकी समुचित शासन व्यवस्थाका वर्णन करते हुए कविने प्रजाकी समृद्धि और सच्चरित्रताका वर्णन परिसंख्या अलंकार द्वारा किया है।

अस्मिन्महीं शासति राजमार्ग-प्रोल्लङ्घनं तुङ्गसुरालयेषु ।
निस्त्रिंशताऽस्त्रेषु मदो द्विपेषु करग्रहोऽभात् करपीडनेषु ॥१।५५

उस राजाके राज्यमें निस्त्रिंशता अस्त्रोंमें ही थी, मनुष्योंमें नही। तीक्ष्ण अस्त्र ही थे, मनुष्य नहीं। वहाँके मनुष्य सरल और दयालु थे। मद हाथियोंमें ही पाया जाता था, मनुष्योंमे नही। करग्रह—दण्ड ग्रहण करना प्रजामे नही था, करग्रह—पाणिग्रहण ही वहाँ होता था।

तुल्ययोगिता

वर्णनीय विषयोमेंसे एक ही के धर्म, गुण या क्रियाका एक बार उल्लेख किया जाय तो तुल्ययोगिता अलंकार होता है। सेनाके मिलनेसे धूलिजाल आकाशमें आच्छादित हो गया, हथिनियोंके गण्डस्थलपर भ्रमर गुंजार करने लगे और योद्धाओंके पासमें सिंहनाद सुनाई पड़ने लगे। यथा—

प्राक्रेणुजालानि ततः करेणु-कुम्भभ्रमत्षट्पदझंकृतानि ।
ततो भटानां स्फुटसिंहनादाः सैन्यद्वयस्याप्यमिलंस्तदानीम् ॥१।२५

अतिशयोक्ति

कवि अनल्लदेवके यशका चित्रण करता हुआ कहता है—

गिरीशकैलाससुधासुधांशु-श्रियं समाकृष्य यशः किमस्य ।
वेधा व्यधत्तास्य पुरो यदेते निःश्रीकतामाकलयांबभूवुः ॥२।४८

कैलास, हिमालय, अमृत और चन्द्रमाके सौन्दर्यका सार ग्रहण कर ही इस राजाका निर्मल यश ब्रह्माने तैयार किया है। इसी कारण उपर्युक्त वस्तुएं इस राजा समक्ष श्रीहीन हो गयी हैं।

यथासंख्य

जहाँ क्रमपूर्वक कहे गये पदार्थोंके साथ क्रमपूर्वक ही यथोचित सम्बन्ध कहा जाय, वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है। यथा—

गुरवो यदि वा सन्तो हितवाक्योपदेशिनः ।
हेयोपादेयतां तस्यामभव्यमव्यौ चिकीर्षितः ॥४।१७

यहाँ हेय और उपादेयके साथ अभव्य और भव्यका सम्बन्ध कहा गया है।

हेतु

हेतुका विवेचन कर हेतु अलंकारकी योजना की है। जयराज नृपतिके पराक्रम और यशका विवेचन करता हुआ कवि कहता है कि सूर्यसे उत्पन्न होनेके कारण राजाका ओज उष्ण है और चन्द्रोत्पन्न होनेसे यश शीतल है। यथा—

सत्यं किलैकोदरजोऽपि चैकनक्षत्रजातोऽपि सदृग्भवेन्न ।
अप्येकतोऽसेः सममस्य जातमुष्णं यदोजः शिशिरं यशस्तु ॥१।५०

एक साथ उत्पन्न होनेपर भी सूर्य और चन्द्र दोनोंमे सादृश्य नहीं है। पर इस राजामें एक साथ उत्पन्न होनेवाले ओज और यशमेसे ओज उष्ण है और यश शीत।

संकर

उपमा और श्लेषके संयोगसे संकर अलंकारकी योजना की गयी है—

ततश्चतुर्वंशभवत्प्रसादात् साम्राज्यमासाद्य स चाहमानः ।
चक्रेऽर्कवद्भूभृत आशुपादाक्रान्तान् गुरूनप्ययमस्य वसा ॥१।१८

इसी प्रकार 'यस्य प्रतापज्वलनस्य' (१।३८) में विरोधाभास, 'अथोद्भटैश्चारभटैस्तुरष्का' (३।३७) में उदाहरण; 'यः संगरे' (३।१०) में संशय; 'सामन्तसिंहो नृपतिस्ततोऽभात्' (१।५८) में विशेषक एवं 'क्वैतस्य राज्ञः' (१।११) में विषम अलंकारकी योजना पायी जाती है।

शैली और भाषा

माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण मण्डित शैलीका विन्यास किया गया है। शृंगार रसके वर्णनमें कविने श्रुति मधुर शब्द और कोमल कान्त पदावलीका नियोजन किया है। सुरतवर्णन सन्दर्भमें टवर्गीय वर्णोंका बहिष्कार पाया जाता है और श्रुतिमधुर शब्दावलि प्रयुक्त है।

कविने वीर, भयानक, रौद्र और बीभत्स रसमें ओज गुणका सन्निवेश किया है। यह गुण चित्तको उद्दीप्त करता है। कविने भोजकी दुर्दशा सुनकर अलाउद्दीनके अमर्षको उद्दीप्त कर इस गुणको अभिव्यक्त किया है—

तावद्गर्जन्तु आग्रन्मदभरतरकाश्चक्रका नीरमाद्या
वीराः प्रत्यर्थिवीरावलिदलनकलाकेलिकण्डूलहस्ताः ।

ज्वालावैर्विस्फुरद्भिर्जगदखिलमपि प्रापयन्नेह भावम्
यावज्ज्वालावदीनः किरति शरमरं प्रावृषेण्यच्छटावत् ॥१०।८४

उपर्युक्त पद्यमें दीर्घ समास, संयुक्त वर्ण एवं टवर्गीय ध्वनियोंका समावेश ओज-गुणके सृजनमें सहायक हैं।

प्रसाद गुण काव्यके लिए अत्यावश्यक है। इस गुणके अभावमें कोई भी काव्य उपादेय नहीं हो सकता है। सहृदयोंको वही काव्य आकृष्ट करता है, जो सहज ही अर्थ-बोध करा देता है। अर्थ चमत्कारसे ही काव्यमें उपादेयता गुण उत्पन्न होता है। कवि नयचन्द्रने अल्पसमासोंका गठन कर प्रसादगुणकी योजना की है। यथा—

हम्मीरदेवाय वितीर्य राज्यं मदङ्घ्रिसेवानिरतो भवेति।
स्वप्ने निशान्ते शयितं निशान्ते मामाह विष्णुः करवै किमार्यं ॥८।५४

जैत्रसिंहको स्वप्न दिखलाई पड़ा कि हम्मीरदेवको राज्य देकर मेरी सेवामें संलग्न हो जाओ। यह स्वप्न विष्णुने दिखलाया।

सदा सदाचारपरो नरेन्द्रः सेव्यो मुनीनामपि निस्पृहाणाम्।
कुशीलवाभाग्न वरं खलोपभोगाय वैलीव भवत्यवश्यम् ॥८।७७

भाषा सरल, कोमल और ललित है। कविने सूक्तियों द्वारा 'मूलाद्विनष्टे कार्ये हि किं कुर्यात् बलवानपि' (९।१७७), 'स्वभावः खलु दुस्त्यजः' (४।६३), 'कार्याकार्यविचारणान्ध' (३।७१) द्वारा भाषाको मनोरम बनाया है।

शीलस्थापत्य

लोकमर्यादा-पालनकी ओर जनताका ध्यान आकृष्ट करनेके लिए कवि नयचन्द्रने ऐतिहासिक व्यक्ति हम्मीरदेवका चरित्र उपस्थित किया है। हिन्दू राजाओंकी उदार-नीतिका आदर्श पृथिवीराज भी उपस्थित कर रहा है। शाहबुद्दीन गोरीको सात बार बन्दी बनाकर भी क्षमा कर देना पृथिवीराजके शीलकी विशेषता है। मुसलमान शासक हिन्दू सामन्त और अमात्योंको उत्कोच देकर किस प्रकार अपनी ओर मिला लेते थे तथा प्रलोभनोंमें फँस जानेसे वैयक्तिक हानिके अतिरिक्त सामाजिक और राष्ट्रीय हानि इस प्रकारके विश्वासघाती अमात्योंके कारण उठानी पड़ती थी, यह रतिपालके चरित्रसे स्पष्ट है।

ऐतिहासिक तथ्य

प्रस्तुत काव्य ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। कवि नयचन्द्रसूरिके गुरु जयसिंहसूरिको हम्मीर युद्धका साक्षात् दर्शन हुआ होगा अथवा उन्होंने समकालीन साधनोंसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया होगा। दूसरी बात यह है कि नयचन्द्र स्वयं इतने प्रतिष्ठित और उच्चकोटिके व्यक्ति थे, जिससे उच्च राजकर्मचारी और राजा-महाराजा उनके संसर्गमें आते थे। अतः यह संभव है कि नयचन्द्रने इस युद्धका

वृत्तान्त और तत्सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान अपने प्रपिता और पिता तथा अन्य समवयस्क व्यक्तियोंसे प्राप्त किया था। इसी कारण इस काव्यको ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रामाणिक माननेमें कोई भी अड़चन नहीं है।

चौहानोंकी वंशावली इस काव्यमें अंकित है। यह वंशावली हम्मीर महाकाव्यके अतिरिक्त (१) प्रबन्ध चतुर्विशति (२) कर्नल टॉड द्वारा संग्रहीत (३) प्राचीन राजवंश भाग १ में प्रकाशित और (४) पृथिवीराज-विजय में उपलब्ध है। हम्मीर काव्यमें चाहमानको इस अंशका आदिपुरुष माना है, इसे सूर्य पुरुष कहा है। अतः नयचन्द्र सूरिके अनुसार चाहमान सूर्यवंशकी शाखासे ही सम्बद्ध है। यह नाम सभी वंशावलियोंमें पाया जाता है, अतः इसे कल्पित नहीं माना जा सकता।

वासुदेव—पृथिवीराज-विजयसे ज्ञात होता है कि वासुदेव अहिच्छत्रसे शाकम्भरी (साँभर) में चौहान-राजवंशकी राजधानी लाये थे और शाकम्भरीके नामसे ही चौहान शाकम्भरी शूर कहलाये। प्रबन्ध चतुर्विशतिमें भी यह नाम मिलता है। महाकाव्यमे आये हुए नरदेव नामकी पुष्टि किसी भी अन्य प्रमाणोंसे नही होती है। सामन्त सिंह, जयपाल या अजयपाल, गूयक, नन्दन और वप्रराज नाम पृथिवीराज विजयसे भी पुष्ट होते हैं। जयपाल या अजयपाल चक्रीने अजमेर बसाया था। यह वृद्धावस्थामें वानप्रस्थी होकर अजमेरके पासकी तराईमें रहता था।

हरिराजके स्थानपर प्रबन्ध चतुर्विशति तथा हर्षनाथवाले लेखमें सिंहराज नाम मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हरिराज और सिंहराज ये दोनों नाम एक ही व्यक्तिके है। यतः हरि और सिंह दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। टॉडने इसका समय वि० सं० ८२७ लिखा है।[1] पर इतिहाससे यह समय अशुद्ध प्रतीत होता है। भीमराजका समर्थन भी किसी ग्रन्थसे नही होता है। विग्रहराजका नाम प्रबन्धचतुर्विशतिमे दुर्लभराज (द्वितीय) तथा सुल्तान मुहम्मदको हरानेवाला लिखा है। हम्मीर महाकाव्यमें यह कथन अशुद्ध है कि सिंहराजके कोई पुत्र नही था, अतः उसने अपने भाईके पुत्र भीमको गोद लिया था। पर अन्यत्र सिंहराजके तीन पुत्रोंके नाम पाये जाते हैं—(१) विग्रहराज (२) दुर्लभराज (३) गोविन्दराज[2]। महाकाव्य का गुंददेव गोविन्ददेव का प्राकृत रूप है।

काव्यके अन्य नामोंमें एक वीरनारायणका नाम आता है। इस प्रसंगमें जलालउद्दीनका नाम भी आया है। प्रबन्धचतुर्विशतिके अनुसार वीरनारायणका युद्ध शम्सउद्दीनके साथ हुआ था, इसका उपनाम बावरिया था। कहा जाता है कि शम्सउद्दीनकी मुलतान जाते समय मार्गमें मृत्यु हो गयी थी। इसके पश्चात् सुल्ताना रजिया गद्दीपर आसीन हुई। इतिहास ग्रन्थोंमें इसके प्रेमपात्र और प्रधान जमालउद्दीन याकूतका उल्लेख है। जमालउद्दीनका ही दूसरा नाम जलालउद्दीन था।

---

१. 'हम्मीर-महाकाव्य' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० प० भा० १२, अं० ३, पृ० २८४।

२. वही, ना० प्र० प० भा० १२, अं० ३, पृ० २८५-८६।

इसीके साथ वीरनारायणका युद्ध हुआ है[1]। इस प्रकार हम्मीरके पूर्वज राजाओं-का वर्णन इतिहास सम्मत है। प्रस्तुत काव्यमें निरूपित तथ्योंसे कई ऐतिहासिक मान्यताओंकी पुष्टि होती है।

पृथिवीराज तृतीय इतिहासमें रायपिथौराके नामसे प्रसिद्ध है। मुसलमान ऐतिहासिकोंने शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरीके साथ इनके दो युद्धोंका उल्लेख किया है[2]; किन्तु भारतके हिन्दू इतिहासकार उसके पृथिवीराजके द्वारा सात बार बन्दी किये जानेका उल्लेख करते हैं[3]। पृथिवीराज रासोके समान हम्मीर काव्यके कथनको बिलकुल अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता। यद्यपि इस काव्यमें सात आक्रमणोंका विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता, तो भी जिस प्रकार महमूद गजनवीने सन् १०००-१०११-१२ तक केवल १० या ११ वर्षोंमें भारतपर नौ आक्रमण किये थे, उसी तरह पृथिवीराजको भी सन् ११८६ से ११९२ ई० गोरीकी सेनाको सात बार भगा देना संभव है। हम्मीर काव्यके अनुसार पृथिवीराज और शहाबुद्दीनका प्रथम युद्ध तब हुआ था, जब वह मुलतानको अपनी राजधानी बना चुका था। अतः यह घटना सन् ५७२ हिजरी (सन् ११७६-७७ ई०) की या उससे कुछ पीछेकी है। फिरिश्ता-के अनुसार ५८७ हिजरी सन् (११९१ ई०) मे भारत विजयकी आकांक्षासे शहाबुद्दीनका पृथिवीराजपर आक्रमण करनेका उल्लेख आया है। यह लड़ाई सरस्वती के मैदानमें हुई थी, जिसमें शहाबुद्दीन एक घातक चोट खाकर लड़ाईके मैदानसे भागा था। फिरिश्ताके अनुसार उसने पृथिवीराजपर दूसरा आक्रमण किया[4]।

हम्मीरकी दिग्विजयका विषय ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। भौगोलिक नामोंमें सबसे प्रथम भीमरसपुरका नाम आता है[5]। यह अर्जुन भूपतिकी राजधानी था। इतिहासके अनुसार यह अर्जुन बघेला वंशका अर्जुन हो सकता है। इसका एक लेख संवत् १३२० (सन् १२६३) का प्रकाशित हो चुका है[6]। इससे अनुमान होता है कि अर्जुनदेवने इसी समय तक राज्य किया होगा। प्रायः इसी समय संवत् १३४३के आसपास हम्मीरदेवने अपनी दिग्विजय यात्रा आरम्भ की होगी, क्योंकि वि० सं० १३३९ में उसका राज्याभिषेक हुआ था। इस काव्यके अनु-सार अर्जुनदेवने भीमरसपुरमें आश्रय लिया था। हम्मीरदेवने उसे वहाँ परास्त किया एवं मांडलगढसे कर लेकर वह आगे बढ़ा। यहाँ यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि अर्जुनकी वास्तविक राजधानी मांडलगढ थी। मांडलगढ़से चलकर हम्मीरदेवने प्रसिद्ध धारा नगरीपर आक्रमण किया। वहाँ इस समय भोज (द्वितीय)

---

[1] 'हम्मीर महाकाव्य' शीर्षक निबन्ध, ना० प्र० प०, भाग १२, अ० ३, पृ० २०३।

[2] वही, पृ० २९८।

[3] वही।

[4] वही, पृ० २९८-३००।

[5] हम्मीर महाकाव्य ९/१५।

[6] Indian Anti. Vol. XI p. 343 तथा Bhavanagar Inscriptions p. 224.

शासन कर रहा था। इसी मालवा विजयके प्रसंगमें चर्मण्वि, सिप्रा और रेवा नदियोंका नामोल्लेख पाया जाता है। इस दिग्विजयके चित्रकूट (चित्तौड़), वर्धनपुर (बदनौर या वेदनौर), महाराष्ट्र (मेड़ता), खंडिल (खंडेला) और कंकराल (कांकरोली) ऐसे स्थान हैं, जो राजनैतिक भूगोलकी दृष्टिसे मेवाड़ राज्यमें ही गिने जाते रहे हैं। मेवाड़से चलकर हम्मीरका अर्बुदेश्वर अथवा आबूपतिसे हम्मीरदेवका युद्ध हुआ। इस समय आबूका परमार राज्य निर्बल होता जा रहा था।

चंगा और चम्पा दो स्थान और हैं, जिनपर हम्मीरदेवने दिग्विजयके प्रसंगमें आक्रमण किया था। प्रथम वर्धनपुर (बदनौर या वेदनौर) से अजमेर और पुष्करके मध्यमें और दूसरा खण्डेलासे कँकरालको जाते समय मार्गमें पड़ा था।

हम्मीरदेवके स्वतन्त्र सत्ताधीश हो जानेका उल्लेख फारसी इतिहासोंमें भी पाया जाता है। जियाउद्दीन बरनीने अपने इतिहासमें लिखा है—किला रणथंभौर भी जो राजधानी दिल्लीके निकट है, इस समय (सन् हिजरी ६९८) राय पिथौरा (पृथ्वीराज) के नवासे हम्मीरदेवने ले लिया था और वह वहाँका मुकद्दम बन बैठा था (पृ० २७२)।[1]

महाकाव्यके अनुसार रणथंभौरका युद्ध सं० १३५८ श्रावण शुक्ला सप्तमी रविवारको समाप्त हुआ था।[2] इस युद्धमें निम्नांकित लड़ाइयाँ हुईं।

(१) उल्लू खाँ (उलग खाँ) की सर्वप्रथम चढ़ाई, जिसमें अद्रिघट्टिकामें भीमसिंह मारा गया।[3]

(२) उल्लू खाँकी दूसरी चढ़ाई, जिसमें भोजदेवकी सम्मतिसे अलाउद्दीनने उसे एक लाख सवार देकर भेजा था।[4] यह लड़ाई हिन्दौनकी घाटीमें हुई और उल्लू खाँ फिर हार कर भागा। इस बार शकोंकी स्त्रियोंसे राजधानीमें मठा बिकवाया गया।

(३) भोजके भड़काने और उल्लू खाँके हारकर दिल्ली पहुँचनेपर नुसरत खाँ और उल्लू खाँको संयुक्त सेना सहित अलाउद्दीनने बड़ी तैयारीसे भेजा। नुसरत खाँ मारा गया।[5] यह युद्ध तीन मास तक चलता रहा।[6]

(४) अलाउद्दीन स्वयं रणस्तम्भपुर पहुँचा। दो दिन तक घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें ८५ सहस्र यवन मारे गये।[7] वर्षा ऋतु आनेसे युद्ध बन्द रहा। इसी बीच

---

[1] हम्मीर महाकाव्य शीर्षक निबन्ध—ना० प्र० प० काशी, भाग १३, अंक ३, पृ० ३११।
[2] हम्मीर काव्य १३/१९६।
[3] हम्मीर महाकाव्य ९ स०।
[4] वही, १०।३१।
[5] वही, ११।१००।
[6] वही, ११।९९।
[7] वही, १२।८८।

रतिपाल और रणमल्लको उसने विश्वासघातके लिए तत्पर कर लिया और अन्तिम युद्ध होनेपर हम्मीरदेव मारा गया ।[1]

मुसलमान लेखकों द्वारा लिखे गये इतिहासोंमें प्रथम दो युद्धोंका उल्लेख नहीं मिलता है, केवल अन्तकी दो लड़ाइयोंका ही निर्देश पाया जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि मुसलमान इतिहासकार अपने स्वामीको पराजयका वर्णन नहीं कर सकते। जियाउद्दीन बरनी, जो समसामयिक इतिहासकार है, अलाउद्दीनका दरबारी और वेतनभोगी था। अतः वह अपने स्वामीकी पराजयके सम्बन्धमें निर्देश नहीं कर सका। दो बारकी पराजयने ही अलाउद्दीनकी आँखें खोली थीं। हम्मीरदेवकी बढ़ती हुई शक्तिकी उपेक्षा अब वह सहन नहीं कर सकता था। महिमाशाह आदि चारों मुगल सरदार इन दोनों युद्धोसे पहले ही पहुँच चुके थे, क्योंकि दूसरे युद्धमें उन्होंने भाग लिया है।

बरनीने इस युद्धका वर्णन करते हुए लिखा है कि संवत् १३५८ में अलाउद्दीनने आस-पाससे गरीब प्रजाको इकट्ठा किया और बोरे तैयार कराकर सेनामें बाँटकर उनमें रेत भरवाया तथा उन्हें गार (नाले) में भरवा कर बड़े-बडे बन्द तैयार कराये एवं उनपर बड़े-बड़े पत्थर और पत्थर फेंकनेके यन्त्र लगाये तथा पत्थरोंसे दुर्गके पश्चिमी परकोटेको तोड़ा। राजपूतोंने ऊपर किले परसे आग बरसायी, जिससे दोनों ओरकी सेनाका सत्यानाश हुआ। मुसलमानी सेनाने इस अवसरपर झाँई से धार तक का देश उजाड़ दिया।[2] (, बरनी पृ० २७७)। राजपूतोने इस नाले या खाईके पुलको ही नष्ट नहीं किया, किन्तु उन्होने मुसलमानोंको तैयार की हुई सुरंगको भी गर्म तेलसे भरकर नष्ट किया तथा उसमे जलती हुई राल छोडी, जिससे अलाउद्दीनकी सेना नष्ट हो गयो।[3] बरनी द्वारा वर्णित युद्धकी पुष्टि महाकाव्यसे होती है।

नुसरतखाँकी मृत्युका समर्थन भी फारसी इतिहासोसे होता है। काव्यमें लिखा है कि राजपूतोंका चलाया हुआ एक गोला तुर्कोंके चलाये हुए गोलेसे टकराकर कई टुकडे हो गया और वह मर गया। फरिश्ताके अनुसार मंजनीकसे चलाये हुए पत्थरके लगनेसे वह मरा था।[4] बदायूँनीने लिखा है कि नुसरतखाँने उलघखाँकी सहायता करनेके विचारसे रणथम्भौरके किलेको घेरा। एक दिन एक पत्थर सिरपर गिरा और उसके सदमेसे वह मर गया।[5]

महिमाशाहके सम्बन्धमें फिरिश्तामें लिखा है—"राजा हम्मीरदेव मय अपने लोगोंके मारा गया। साबिकमें फतह गुजरातके वाकेमें जिक्र हो चुका कि जालौरके

---

[1] हम्मीर महाकाव्य १३वाँ सर्ग।

[2] ना० प्र० प०, काशी, भा० १३, अं० ३, पृ० ३३५।

[3] ह० म० १३।३६-४८।

[4] Brigg's Vol. II P. 301; Elliot and Dowson. Vol. III, P. 172.

[5] ना० प्र० प० काशी, भा० १३, अं० ३, पृ० ३३८।

मुकामपर मुहम्मदशाह (महिमाशाह) मुगल मय भी मुस्लिमोंके बागी हो गया था और आखिर मगलूब होकर किला रणथम्भौरमें पनाह ली थी, इस वक्त राजाके साथ होकर लड़ा और उसके अकसर साथी मारे गये और मुहम्मदशाह जख्मी पड़ा हुआ था। इत्तफाकन बादशाहने उसे देखा और तरस खाकर फर्माया कि अगर मैं तेरा इलाज करके तुझे तन्दुरुस्त करूँ तो तू क्या सुलूक करेगा। उसने जहालतसे जवाब दिया—अगर अच्छा हो जाऊँ तो तुझे कत्ल करके हम्मीरदेवके बेटेको राजा बनाऊँ। बादशाहने गुस्सा होकर उसपर हाथी चला दिया।"[1]

महिमाशाहका नाम अपने समयमें विश्रुत रहा है। हम्मीरदेवने उसे शरण दी, इसका भी निर्देश उस समयकी कई रचनाओंमें मिलता है। संस्कृतकी एक छोटी-सी पुस्तक विद्यापति कृत पुरुष परीक्षा जो कि मिथिलाके महाराज शिवसिंहके निर्देशसे लिखी गयी थी और इसके उपलक्ष्यमें लेखकको जरइल परगनेका बिस्वी गाँव श्रावण शुक्ला ७ गुरुवार वि० सं० १४६९ में भेंटमें दिया गया था। इस पुस्तकमें लिखा है—

"अस्ति कालिन्दीतीरे योगिनीपुरं नाम नगरम्। तत्र च निजभुजविजितनिखिलभूमण्डलसकलारातिप्रलयधूमकेतुरनेककरितुरगपदातिसमेतः संकलितजनपदो निर्जितविपक्षनरपतिसीमन्तिनीसहस्रनयनजलकल्पितापारपारावारो रक्षितदीनो दीनो नाम यवनराजो बभूव।"[2]

प्रस्तुत काव्य मध्यकालीन भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी है। चौहान वंशका विस्तृत विवरण इतिहासके जिज्ञासुओंको उपादेय होगा।

अभिलेख काव्य

अभिलेखोंका इतिहास और संस्कृतिकी दृष्टिसे जितना मूल्य है, उससे कहीं अधिक काव्यकी दृष्टिसे। प्रस्तुत सन्दर्भमें कतिपय अभिलेखोंके काव्यमूल्य अंकित किये जाते हैं।

ऐहोल-अभिलेख[3]

यह अभिलेख बीजापुर (पूर्वका कलाद्गी) जिलेके हुंगुण्ड तालुकाके ऐहोलके मेगुटि नामके प्राचीन जैन मन्दिरकी पूर्वकी ओरकी दीवालपर अंकित है। लेखमें १९ पंक्तियाँ हैं, जिनमें १८ पंक्तियाँ पूर्ण हैं। उन्नीसवीं छोटी पंक्ति बादमें किसीकी जोड़ी

---

[1] तारीख फरिश्ता, उर्दू संस्करण, पृ० १६० ।

[2] इस पुस्तकका कुछ अंश ना० प्र० प० काशी, भाग १३, अंक ३, पृ० ३२६-३२८ पर प्रकाशित है। प्रस्तुत उद्धरण पृ० ३२६ से उद्धृत है।

[3] डॉ० फ्लीटने इण्डियन एंटिक्वेरीके ५।६७ तथा ८।२३७ में इसे दो बार सम्पादित किया है। यह जैन-शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग, मा० ग्र० मा०, १९५२ ई०, पृ० ९३ पर प्रकाशित है।

गयी है। अभिलेख रविकीर्तिके द्वारा उत्कीर्णित है। इससे सप्तम शतीके दक्षिण-भारतके राजनैतिक इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस अभिलेखका दक्षिण भारतके इतिहासकी दृष्टिसे वही महत्त्व है, जो उत्तर भारतके लिए समुद्रगुप्तके प्रयाग स्तम्भ लेखका।

विषयवस्तु

जन्म-मृत्यु-जरा विजयी जिनेन्द्रको नमस्कार करनेके उपरान्त चालुक्य वंशकी प्रशस्ति आरम्भ की गयी है। इस वंशमें प्रसिद्ध राजा जयसिंह वल्लभ हुआ, जिसने चंचलता दिखानेवाली लक्ष्मीको भी अपनी वीरतासे अधीन कर लिया था। इस प्रतापी राजाने रणभूमिमें अत्यधिक शूरता प्रकट की थी। नाना प्रकारके शस्त्रोंके प्रहारसे गिरकर अश्व, पदाति और हस्ति काँप रहे थे तथा सहस्रों कबन्ध धराशायी होनेपर नृत्य कर रहे थे। तलवारकी झंकारसे निकली अग्निकी चिनगारियाँ प्रकाश उत्पन्न कर रही थीं। जयसिंहका पुत्र रणराग हुआ, यह दिव्य महिमायुक्त तथा संसारका एकमात्र स्वामी था। दिव्य शरीर और अलौकिक तेजके कारण यह देवोंके समान सुशोभित था। इस रणरागका पुत्र पुलकेशी हुआ, जो चन्द्रमाकी शोभाको धारण करनेपर भी श्रीवल्लभ उपाधिसे विभूषित था। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका अविरोध रूपसे सेवन करनेवाले इस राजाने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया और समस्त पृथ्वीको यज्ञीय जलसे अभिषिक्त किया।

पुलकेशीका पुत्र कीर्तिवर्मा हुआ, जो नल, मौर्य और कदम्ब जातियोंके लिए प्रलयरात्रि था। इस नृपतिने युद्धमें पराक्रम दिखलाकर कदम्बवंशका उच्छेद किया था। कीर्तिवर्माकी मृत्युके अनन्तर उसका छोटा भाई मंगलेश राजा हुआ। इसने अपने राज्यकी सीमाका विस्तार पूर्व और पश्चिम समुद्र तक किया। अपने दिव्य खड्ग द्वारा गजसेना और अश्वसेनाको विदीर्ण कर कटच्छुरि राज्यको अपने अधीन किया। उसने रेवती·द्वीपपर ससैन्य आक्रमण कर उसे जीत लिया। मंगलेश अपने भाईके पुत्र पुलकेशीसे ईर्ष्या करता था और अपने पुत्रको राजा बनाना चाहता था, पर नहुषके समान प्रतापी पुलकेशीके समक्ष उसकी कोई भी शक्ति न चल सकी और राजलक्ष्मी पुलकेशीको प्राप्त हो गयी। पुलकेशी शूरवीर और रणकुशल योद्धा था। उसने भीमा नदीके उत्तरकी भूमिको जीतनेके लिए हाथियोंके साथ आये हुए आप्यायिक और गोविन्द इन दोनों राजाओंसे मुठभेड़ की। फलतः आप्यायिक तो भाग गया और गोविन्दने सन्धि कर ली। उसने इन्द्रपुरीकी स्पर्धा करनेवाली वनवासीपुरीका मर्दन किया। गंग और अलुपके राजा सप्तव्यसन छोड़कर कर देने लगे। कोंकण देशमें आकर इसकी सेनाने मौर्योंका विनाश किया। त्रिपुर नाशक शिवके समान कान्तिवाला वह पुलकेशी मद-वाले हाथियोंके समूहके आकारकी अपनी सैकड़ों नावोंके सहारे, पश्चिम सागरकी लक्ष्मी-

स्वरूपा पुरीका मर्दन कर रहा था, तो आकाश उसकी सेनासे घिरकर समुद्रके समान बन गया।

पुलकेशीने अपने प्रतापसे लाट, मालव और गुर्जरोंको दबाया और उन्हें अपने अधीन किया। इस प्रतापी राजाके आतंकसे महान् शक्तिशाली हर्षवर्धन भी आतंकित रहता था। पुलकेशीके प्रतापके माहात्म्यसे विन्ध्याचलका समीपवर्ती प्रदेश अधिक शोभित हो रहा था। इन्द्रोपम राजाने तीनों शक्तियों—प्रभु, मन्त्र और उत्साहके द्वारा निन्यानबे हजार गाँवोंवाले तीनों महाराष्ट्रोंका आधिपत्य प्राप्त किया था। कलिंग और कोसल देश भी उसकी सेनाके भयसे काँपते थे। इसने पिष्टपुरको अत्यन्त सुगम दुर्ग बनवाया। इस राजाकी वीरताके कारण उस समय पृथ्वी रक्त-रंजित रहती थी। कुनाल झीलका जल शत्रु सेनाके रक्तसे लाल रहता था।

पुलकेशीने अपनी सेनाके कारण पल्लव राजाओंको इतना आतंकित कर दिया था, जिससे वे अपनी राजधानी कांचीपुरकी चहारदीवारीके भीतर ही निवास करते थे। कहीं भी बाहर निकलनेका उनका साहस नहीं होता था। चोल देशपर विजय प्राप्त करनेके लिए उसने कावेरी नदी पार की तथा दक्षिण भारतके अन्य प्रदेशोंको अधीन किया। उसने चोल, केरल और पाण्ड्य देशोंको महर्द्धिक बनाया।

सभी दिशाओंको जीतकर, प्रतिष्ठित राजाओंको हराकर और देवता ब्राह्मणोंका सत्कार कर वह सत्याश्रय—पुलकेशी द्वितीय उत्साह, प्रभु और मन्त्र शक्तियोंसे युक्त होकर समस्त पृथ्वीपर एक नगरीके समान शासन करने लगा। सत्याश्रयके परम कृपापात्र रविकीर्तिने समस्त महिमाओंके भवनस्वरूप पत्थरके इस जिनेन्द्र-मन्दिरको बनवाया। इस प्रशस्ति तथा जिनमन्दिरका निर्माण करनेवाला रविकीर्ति ही है। यह प्रशस्ति भारतके युद्धके ३७३५ वर्ष तथा शक संवत् ५५६ (६३४ ई०) में निर्मित हुई थी। इस रविकीर्तिने कवितामें कालिदास और भारविकी कीर्ति प्राप्त कर ली थी।

अभिलेखका ऐतिहासिक मूल्य

इस अभिलेखमें चालुक्य वंशके राजा पुलकेशी द्वितीय, जिसका दूसरा नाम सत्याश्रय था, के वीरकार्योंका वर्णन किया गया है। इसने अपने चाचा मंगलेशसे राज्य छीन किया था। आप्यायिक, गोविन्द, गंग, अलूप, मौर्य, लाट, मालव, गुर्जर, कलिंग, कोसल, पल्लव, चोल, निन्यानबे हजार गाँववाले महाराष्ट्र, पिष्टपुरका दुर्ग, कुणालद्वीप, वनवासी और पश्चिम समुद्रकी पुरीको जीत लिया था। इसने हर्षवर्द्धनको रोककर नर्मदाके किनारे सैनिक केन्द्र स्थापित किया था। ई० ६३४ में समस्त दक्षिण भारतमें पुलकेशी द्वितीयका और उत्तर भारतमें हर्षवर्द्धनका साम्राज्य व्याप्त था। चीनी यात्री ह्वेनत्सांगने इस समय समस्त भारतका परिभ्रमण किया और ह्वेनत्सांगके विवरणसे भी ज्ञात होता है कि पुलकेशी प्रथमने इन्दुकान्तिपुरीसे आकर वातापिमें अपनी

राजधानी, किसी कदम्ब राजाको हराकर प्रायः ५५० ई० में बनायी थी[1] और इसने अश्वमेध यज्ञ किया था। उसके पुत्र कीर्तिवर्माने ५६७ ई० में राजा होकर नल[2], मौर्य और कदम्ब राजाओंको हराया। नल राजाओंके दो लेख मिले हैं—एक तो जयपुरके पास पोदागढ़ पहाड़ीमें, जिसमें नलोंको कलिंगका राजा कहा है। सम्भव है कि ये चालुक्योंके राज्य विस्तारसे भाग गये हों। दूसरे रीठपुरके ताम्रलेख (मध्यप्रदेश) से मालूम होता है कि वहाँ भी इनका राज्य था। मौर्य लोग उत्तरी कोंकणके राजा थे[3]। कदम्ब लोग बेलगाँव तथा धारबार जिलेमें पश्चिमी भागके और कनाराके राजा थे। कीर्तिवर्माने कृष्णवर्मा द्वितीयको हराया था। इसने अपने अनुज मंगलेशकी प्रेरणासे कई मन्दिरोंका निर्माण कराया था। मंगलेशने पश्चिम और पूर्वसागरोंकी मध्यवर्ती भूमि जीत ली तथा रेवती द्वीप—वर्तमान रेडी, रत्नगिरि जिला और कलचुरियोंके उत्तरी दक्कन प्रदेशपर अधिकार कर लिया। इसके शासनकालमें बादामीमें विष्णुका अद्भुत दरी-मन्दिर निर्मित हुआ।

अपने चाचाको मारकर पुलकेशिन् द्वितीय चालुक्य सिंहासनपर बैठा। इस समय गृह-कलहसे राज्यमें इतनी अराजकता व्याप्त थी, जिससे जिन पूर्वगामी शक्तियोंका दमन किया गया था, वे पुनः सिर उठाने लगीं। परमेश्वर श्री पृथ्वीवल्लभ सत्याश्रय (पुलकेशिन् द्वितीय) ने विद्रोहों और आक्रमणोंका धैर्य, साहस, दृढ़ता तथा सफलताके साथ सामना किया। गोविन्द और आप्यायिकने भीमा नदीके उत्तरवर्ती क्षेत्रपर आक्रमण किया। पुलकेशीने इस आक्रमणका उत्तर प्रत्याक्रमण द्वारा दिया। फलस्वरूप गोविन्दने सन्धि कर ली और आप्यायिक हार गया। इसके पश्चात् पुलकेशीने वरदा नदीके किनारेके वनवासी किलेको ले लिया। यह उत्तर कनारामें है तथा कदम्बोंकी राजधानी यही थी। यहाँ उसने भोगिवर्माके पुत्र विष्णुवर्माको हराया। पुनः उसने गंग और अलुपको हराया था। गंगवंश मैसूरके गंगवाड़ीमे राज्य करता था[4]। सम्भवतः पुलकेशी द्वितीयने गंगराजा दुर्विनीतको हराया था। अलुप जाति मालाबारकी नाग जातिकी एक शाखा थी। उत्तरी कोकणके मौर्य लोग सम्भवतः मंगलेशकी मृत्युके बाद स्वतन्त्र हो गये थे, अतः पुलकेशी द्वितीयने उन्हें पुनः परास्त किया था।

---

१. रणरागका उत्तराधिकारी पुलकेशिन् प्रथम छठी शती ईसवीके मध्य राजा हुआ। —डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारतका इतिहास, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस १९५६ ई०, पृ०२६४ तथा बादामी के पार्वत्य दुर्गके हालमें उपलब्ध अभिलेखमें पुलकेशिन् प्रथमके लिए शक संवत् ४६५ (५४३ ई०) दिया हुआ है। उसमें उसे वल्लभेश्वर कहा गया है। इससे उसके अश्वमेध अनुष्ठाता होनेका भी प्रमाण मिलता है। —दी लीडर, इलाहाबाद, जून १६, १९४१।

२. फ्लीटका मत है कि नल नलवाडी (वर्तमान बेलारी और करनूल जिले) में राज करते थे। परन्तु अब उन्हें दक्षिण कोशल और बस्तर राज्यका निवासी माना जाता है—र० त्रि०–प्रा० भा०, बना०, पृ० २६४ का पादटिप्पण ५ संख्यक।

३. वही, पृ० २६४।

४. डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रा० भा० इ०, ब० पृ० २६५।

मौर्योंकी राजधानी पुरीमें रही होगी। इसके अनन्तर दक्षिण गुजरातके लाटों, मालवों और भृगुकच्छके गुर्जरोंने उसे आत्मसमर्पण किया।

कहा जाता है कि इसकी सर्वप्रमुख विजय कन्नौजके हर्षवर्द्धनके विरुद्ध हुई। स्वयं 'सकलोत्तरापथनाथ' हर्षने अपनी सेनाका संचालन किया था, परन्तु 'दक्षिणापथनाथ'की रणदक्षता उससे कहीं कुशल प्रमाणित हुई।[1] पुलकेशी द्वितीयने अपने राज्यका विस्तार इतना अधिक कर लिया था, जिससे ६१५ ई० में पूर्वी प्रान्तोंका शासन अपने अनुज कुब्ज विष्णुवर्द्धन विषय सिद्धिके सुपुर्द करना पड़ा। इस अनुजने भी उधरके प्रान्तोंको जीतकर राज्यका विस्तार किया।

इस अभिलेखकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें ही सबसे पहले कालिदास और भारविके नाम स्पष्ट रूपसे अंकित मिलते हैं। इन दोनों कवियोंके समयकी अन्तिम सीमा इसके द्वारा निश्चित हो जाती है।

कालिदास और भारविका प्रभाव

इस अभिलेखको उत्कीर्ण करनेवाले रविकीर्तिने कालिदास और भारविके ग्रन्थोंका अध्ययन किया है। अनेक पद्योंमें पद और अर्थ योजनाके लिए कवि उक्त दोनोंसे प्रभावित है। यहाँ कुछ उदाहरण दिखलानेका प्रयास किया जायेगा— अभिलेख 'वीतजरामरणजन्मनो' (१ अ०) पर किरातके 'वीतजन्मजरसं' (५।२२); 'पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम्' (१० अ०) पर किरातके 'पृथुकदम्बकदम्बकराजितं' (५।९); 'हंसावलीमेखलां' (१८ अ०) पर किरातके 'ततः स कूजत्कलहंसमेखला' (४।१) का स्पष्ट प्रभाव है। रविकीर्तिने किरातके उक्त पदोंको ज्योंका त्यों ले लिया है। पर इतना सत्य है कि पद समान रहनेपर भी कविने विषयवस्तुमें एक नया ही रूप उपस्थित किया है।

महाकवि कालिदासका प्रभाव इस अभिलेखपर कम नहीं है। कई उत्प्रेक्षाओंके उत्स रघुवंश महाकाव्यमें पाये जाते हैं। कुनालझीलके घायल मनुष्योंके रक्तसे मिश्रित लाल जलका दृश्य आकाशमें सन्ध्याके दृश्यके समान प्रतीत हो रहा है। अभिलेखके 'संनद्धवारणघटास्थगितान्तरालम्' (२८ प०) पर रघुवंशके निम्न पद्यकी उत्प्रेक्षाका प्रभाव है।

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः॥ रघु० १६।५८

देखो तो! मेरे रनिवासकी सैकड़ों रानियोंके स्नान करनेसे और उनके शरीरसे

---

[1] अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः॥२३॥–ऐ० शि०
जिस हर्षके चरणकमल अपरिमित विभूतियोंसे युक्त सामन्तोंकी सेनाकी मुकुटमणिकी किरणोंसे आक्रान्त रहते थे, वही हर्ष अब उस–पुलकेशिन्‌के द्वारा भयातुर हो हर्षरहित हो गया, रणमें मारी गयी अपनी गजेन्द्र सेनाको देख श्रीहत हो गया।

घुले हुए अंगरागके मिल जानेसे सरयूकी धारा ऐसी रंग-बिरंगी प्रतीत होने लगी, जैसे बादलोंसे भरी सन्ध्या हो।

अभिलेखके 'नृत्यद्भीमकबन्धखड्गकिरणज्वालासहस्रे' (५ प०) पर रघुवंशके 'नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श' (७।५१) का और 'जलनिधिरिव व्योम व्योम्नः' (२१ प०) पर 'भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्' (४।२९) का स्पष्ट प्रभाव है। यहाँ केवल पदप्रयोगोंकी समता नहीं है, अपितु भाव और कल्पनाओंकी भी समता है। रघुवंशके 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः' (४।२९ पू०) पद्यकी उत्प्रेक्षासे 'अश्वसेनारजःपटविनिर्मितदिग्वितानः' (अभि० ११) पद्य निर्मित प्रतीत होता है। यह सत्य है कि उत्प्रेक्षाओंके ग्रहण करनेपर भी रविकीर्तिने अपने ढंगसे नया ही चमत्कार उत्पन्न करनेका प्रयास किया है। समस्त अभिलेखमें शब्दालंकार और अर्थालंकारोंके अतिरिक्त ध्वनि भी वर्तमान है। अभिधाके साथ लक्षणा और व्यंजनाका समवाय भी पाया जाता है।

काव्यमूल्य

यह अभिलेख काव्यमूल्यकी दृष्टिसे समुद्रगुप्तके प्रयाग-स्तम्भ लेखके समान ही महत्त्वपूर्ण है। कवि रविकीर्त्ति अलंकारशास्त्रके सभी नियमोंका ज्ञाता है। कुल ३७ पद्योंमें १७ प्रकारके छन्दोंका प्रयोग किया है। अभिलेखके समस्त पद्योंमें उक्तिवैचित्र्य पाया जाता है। कविने उत्प्रेक्षा द्वारा अपनी कल्पनाका चमत्कार भी प्रदर्शित किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें उदाहरणार्थ कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

तदनु चिरमपरिमेयश्चालुक्यकुलविपुलजलनिधिर्जयति।
पृथिवीमौलिललाम्नां यः प्रभवः पुरुषरत्नानाम् ॥२॥

चालुक्य-वंश-रूपी विशाल और अपरिमित समुद्रकी सदा जय हो, जो पृथ्वीके सिरपर अलंकारके रूपमें सुशोभित पुरुषरूपी रत्नोंका उत्पत्ति-स्थान है।

कविने रूपक अलंकारकी योजना कर चालुक्य वंशको रत्नाकर—समुद्र कहा है। रत्नाकरसे रत्न उत्पन्न होते हैं और इस वंशसे वीरपुरुष रूपी रत्न जन्म लेते हैं।

रूपकका एक अन्य चमत्कार

रणपराक्रमलब्धजयश्रिया सपदि येन विरुग्णमशेषतः।
नृपतिगन्धगजेन महौजसा पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम् ॥१०॥

युद्धमें पराक्रम दिखलाकर जिसने विजयश्री प्राप्त की थी, उस गन्धगज (जिस हाथीका मद सुगन्धित होता है) रूपी राजाने शीघ्र अपनी बड़ी शक्तिसे कदम्बजाति-रूपी विशाल कदम्बवृक्षोंके समूहका समूल उच्छेद कर दिया। यमककी योजना तो है ही, पर रूपक भी बहुत ही सटीक है। कीर्तिवर्मामें गन्धगजका आरोप और कदम्बवंशमें कदम्ब वृक्षका आरोप कर सांगरूपक प्रस्तुत किया गया है। श्लोकसे कीर्तिवर्माके पराक्रम और शूरताकी ध्वनि भी निकल रही है।

रूपकका निम्न उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

स्फुरन्मयूखैरसिदीपिकाशतैः व्युदस्य मातङ्गतमिस्रसंचयम् ।
अवाप्तवान् यो रणरङ्गमन्दिरे कटच्छुरिश्रीललनापरिग्रहम् ॥१२॥

जिस राजाने चमकती हुई किरणों वाले खड्गरूपी दीपोंके सहारे हाथियोंरूपी अन्धकार समूहको हटाकर रणांगनरूपी घरमें कटच्छुरि राज्यकी लक्ष्मीरूपी कन्याका पाणिग्रहण किया था।

प्रस्तुत पद्यमें खड्गोंमें दीपकका, हाथियोंमें अन्धकारका, रणभूमिमें गृहका और कटच्छुरिकी राज्यलक्ष्मीमें कन्याका आरोप कर रूपककी योजना की गयी है।

उपमेयोपमाकी योजना द्वारा कविने पुलकेशीको शिवके समान कान्तिवाला एवं प्रतापी सिद्ध किया है। अलंकारके चमत्कारने पद्यको रमणीय बनानेके साथ ओजगुण पूर्ण भी बना दिया है। यथा—

अपरजलधेर्लक्ष्मीं यस्मिन्पुरीं पुरभित्प्रभे,
मदगजघटाकारैर्नावां शतैरवमृद्नति ।
जलदपटलानीकाकीर्णं नवोत्पलमेचकं
जलनिधिरिव व्योम व्योम्नः समोऽभवदम्बुधिः ॥२१॥

जब त्रिपुर नाशक—शिवके समान कान्तिवाला वह पुलकेशी मतवाले हाथियोंके के समूहके आकारकी अपनी सैकड़ों नावोंके सहारे पश्चिम सागरकी लक्ष्मीस्वरूपा पुरीका मर्दन कर रहा था तो मेघ-समूहरूपी सेनासे घिरकर और नवीन उत्पल के समान नील बना हुआ आकाश समुद्रके समान हो गया और समुद्र भी आकाशके समान हो गया।

उत्प्रेक्षाका चमत्कार कई पद्योंमें बहुत ही सुन्दर है। कुनाल झीलके पास हाथियोंका समूह खड़ा है, घायल व्यक्तियोंके रक्तसे जल लाल हो रहा है। यह दृश्य ऐसा प्रतीत होता है, मानो बादलोंसे भरा हुआ आकाश हो और उसमें सन्ध्याकी लाली छिटकी हुई है। कल्पनाकी उड़ान दर्शनीय है—

संनद्धवारणघटास्थगितान्तरालं
नानायुधक्षतनरक्षतजाङ्गरागम् ।
आसीज्जलं यदवमर्दितमभ्रगर्भं
कौनालमम्बरमिवोर्जितसान्ध्यरागम् ॥२८॥

जिसके भीतरका भाग निकटस्थ हाथियोंके समूहसे ढँका था, जिसमें नाना शस्त्रोंसे कटे हुए मनुष्योंके रुधिरसे उत्पन्न अंगराग—रक्तकी लालिमा या उबटन भरा हुआ था। कुनाल झीलका ऐसा जल उसके द्वारा मर्दित होनेपर बादलोंसे भरे हुए जैसे आकाशके समान लगा, जिसमें सन्ध्याकी लाली उत्पन्न हो चुकी हो।

विरोधाभासकी योजना

पिष्टं पिष्टपुरं येन जातं दुर्गमदुर्गमम् ।
चित्रं यस्य कलेर्वृत्तं जातं दुर्गमदुर्गमम् ॥२७॥

यहाँ दुर्ग अदुर्गमम्में विरोधाभास है। अतः अदुर्गमम्का अर्थ सुगम लेना चाहिए। पुलकेशीके द्वारा हराये जानेपर पिष्टपुर एक अदुर्गम—सुगम किला बन गया, किन्तु आश्चर्य है कि कलियुगकी बात (दोष) उसके लिए अत्यन्त दुर्गम हो गयी।

उक्तिवैचित्र्य भी इस अभिलेखके अनेक पद्योंमें पाया जाता है। कविने प्रतिभाके बलपर अपनी कृतिमें चमत्कार उत्पन्न करनेके लिए तथ्योंका निरूपण विचित्र उक्तियों द्वारा किया है। यथा—

तस्मिन् सुरेश्वरविभूतिगताभिलाषे
राजाभवत्तदनुजः किल मङ्गलेशः ।
यः पूर्वपश्चिमसमुद्रतटोषिताश्व
सेना रजःपटविनिर्मितदिग्वितानः ॥११॥

उस राजाने जब देवराज इन्द्रकी विभूति पानेकी इच्छा की, तब उसका छोटा भाई मंगलेश राजा हुआ, जिसने पूर्व और पश्चिम समुद्रके किनारे ठहरे हुए घुड़सवारोंकी सेनाको धूलिरूपी वस्त्रसे ही दिशाओंका वितान (-tent) खड़ा कर लिया था।

यहाँ स्वर्गका वैभव प्राप्त करनेकी इच्छासे मृत्यु ध्वनित होती है और पूर्व-पश्चिम समुद्रके किनारे धूलिके व्याप्त हो जानेसे पूर्व-पश्चिम समुद्र पर्यन्त राज्यकी सीमाकी सूचना मिलती है। वस्तु निरूपणका क्रम उक्ति चमत्कारका सृजन कर रहा है।

गङ्गालुपेन्द्रा व्यसनानि सप्त हित्वा पुरोपार्जितसंपदोऽपि ।
यस्यानुभावोपनताः सदासन्नासन्नसेवामृतपानशौण्डाः ॥१९॥

गंग और अलुपके राजाओंने सात व्यसनोंको छोड़कर पहले सम्पत्ति अर्जित की थी, फिर भी उसकी महिमासे अवनत होकर, उसके समीप रहकर सेवारूपी अमृतका पान करके मतवाले हो गये।

इस पद्यसे राजाकी वीरताके साथ गंग और अलुपकी अधीनता भी व्यक्त होती है। इसी प्रकार भीमा नदीके उत्तरमें विजयेच्छासे आये हुए आप्यायिकके सम्बन्धमें 'भयरसज्ञत्व' कहा गया है। इससे उसका भयके कारण रणभूमिसे भाग जाना ध्वनित होता है। 'अपरणोऽपि सद्यः प्राप्तं फलमुपकृतम्—गोविन्दने शीघ्र ही उपकारका फल प्राप्त कर लिया' से गोविन्दके द्वारा की गयी सन्धिकी ध्वनि निकलती है।

तदात्मजोऽभूद्रणरागनामा दिव्यानुभावो जगदेकनाथः ।
अमानुषत्वं किल यस्य लोकः सुप्तस्य जानाति वपुःप्रकर्षात् ॥६॥

जयसिंह वल्लभका पुत्र रणराग दिव्यमहिमायुक्त और संसारका एकमात्र स्वामी था; सो जानेपर उसके अलौकिक व्यक्तित्वको संसार उसके शरीरके उत्कर्षसे ही समझता था।

मन्ने अभिलेख

शक सं० ७२४ (८०२ ई०) के ताम्रपत्रपर मान्यपुरमें यह लेख अंकित है। यह शानभोग नरहरियप्पके अधिकारके ताम्रपत्रपर है। इस अभिलेखका काव्यात्मक और ऐतिहासिक मूल्य समान है।

विषयवस्तु

इस भूमिपर अपने भुजदण्डोंसे संसारको परास्त करनेवाला कृष्णराज हुआ। कृष्णराजके पुत्रका नाम धोर था, यह भी प्रतापी था। इसने चालुक्योंसे राजलक्ष्मीको अपने अधीन किया था। इसके कलिवल्लभ, वत्सराज और निरुपम ये दूसरे नाम भी थे। अभिलेखमें इस धोरको धैर्य-धनी, शत्रुओंकी ललनाओंकी लक्ष्मीका अपहरण करनेवाला और दानी कहा गया है। गुणी निरुपमसे गोविन्दराज उत्पन्न हुआ। इसे राष्ट्रकूट वंशमें गोविन्द तृतीय कहा गया है। गोविन्द तृतीय बहुत शक्तिशाली था। इसने गंगोंको बहुत समयसे पराधीन देखकर मुक्त किया, पर उनके उद्धत स्वभावके कारण पुनः बाँध दिया। गंगवंशके पराधीन होनेकी पुष्टि सन् ८६० ई० के कोन्नूरसे प्राप्त लेख (१२७ जैन शि०) से भी होती है। इतिहासज्ञोंका अभिमत है कि गंगवंशके इन बुरे दिनोंमें शिवमार द्वितीय राज्याधिकारी था। इसने राष्ट्रकूटवंशकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। अभिलेखमें उसके पराक्रमोंका वर्णन किया गया है। इसने देवभोग—मन्दिरके प्रबन्धके हेतु भूमि दान दी। इसके बड़े भाईका नाम शौचकुम्भ था। शौचकुम्भका दूसरा नाम रणावलोक भी मिलता है।

इस देशमें प्रसिद्ध शाल्मली नामक गाँवमें कौण्डकुन्दान्वयके उदारगणमें तोरणाचार्य हुए। पुष्पनन्दि पण्डित उनके शिष्य थे। उनके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए। उनके बप्पय्य नामके भक्त श्रावक थे। उनका पुत्र दानी और वीर था। अपने प्रियपुत्रकी प्रार्थना सुनकर उन्होंने, मान्यपुर (मन्ने) के पश्चिममें स्थित जिनमन्दिरके लिए, उसके शासक श्री विजयराजकी कृपासे शक संवत् ७२४ (८०२ ई०) के बीतनेपर अपने ही विजय वर्षमें, मान्यपुरमें पडे हुए अपने विजयी कैम्प (स्कन्धावार) में एदेदिण्डे विषयका पोर्बडियूर नामका गाँव सर्वकरोंसे मुक्त करके जलधारापूर्वक दानमें दिया।

अभिलेख गद्य-पद्य दोनोंमें है। आरम्भमें पद्य भाग है। अन्तमें गद्यमें दस-पन्द्रह पंक्तियाँ मुद्रित हैं। शिलालेख १२२ संख्यकसे श्रीविजय सेनापति प्रतीत होता है। इसने मान्य नगरमें एक अच्छा विशाल जिनमन्दिर बनवाया था। आचार्य प्रभाचन्द्रको भूमिदान दिये जानेका भी उल्लेख है।

मान्यपुर राष्ट्रकूटवंशी राजाओंकी राजधानी ही है। इसका दूसरा नाम मान्यखेट भी आता है।

काव्यमूल्य

अभिलेखोंमें राजाओंकी प्रशंसा-सन्दर्भोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकका चमत्कार सर्वत्र है। निरुपमकी प्रशंसा करते हुए बताया गया है कि उसने अपने चरित्रसे कलियुगको परास्त कर दिया था। इस युगके प्रधान चिह्न कंचन और कामिनीमें आसक्त होना है; बेईमानी, दुराचार, असत्य भाषण, विषयोंमें आसक्ति प्रभृति दुर्गुण कलिके प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस अभिलेखके निम्नांकित पद्यमें अन्योक्ति द्वारा निरुपमकी युद्धप्रियताका चित्रण किया गया है—

> लब्धप्रतिष्ठमचिराय कलिं सुदूरं उत्सार्य शुद्धचरितैर्धरणीतलस्य ।
> कृत्वा पुनः कृत-युग-श्रियमप्यशेषं चित्रं कथं निरुपमः कलिवल्लभोऽभूत् ॥
> —जैन शिलालेख० भाग, पृ० १२६

निरुपम नृपतिने अपने शुद्धचरित द्वारा इस पृथ्वीतलसे लब्धप्रतिष्ठ कलियुगको हटाकर सतयुगकी स्थापना की थी, फिर भी यह आश्चर्य की बात थी कि वह युद्ध-प्रिय—कलिवल्लभ था। आशय यह है कि निरुपमने अपनी प्रजाके मध्य कलियुग—दुराचार, दुर्गुण, पंचपाप, सप्त व्यसन आदिको हटाकर सुव्यवस्था, सुख, शान्तिरूप सतयुगकी स्थापना की थी, फिर भी वह कलिवल्लभ—युद्धप्रिय कहा जाता था। यहाँ श्लेषजनित अन्योक्ति द्वारा राजाकी युद्धप्रियता और विजयश्रीकी प्राप्तिका संकेत किया गया है।

कृष्णराज नृपतिकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

> भूयोऽभवद् बृहदुरस्थल-राजमान-
> श्री-कौस्तुभायत-करैरुपगूढ-कण्ठः ।
> सत्यान्वितो विपुल-बाहु-विनिर्जितारि-
> चक्रोऽप्यकृष्ण-चरितो भुवि कृष्णराजः ॥—वही पृ० १२५ पद्य २

कृष्णराज और अकृष्ण चरितमें विरोधाभास है, यतः जो कृष्ण है वह अकृष्ण चरित किस प्रकार हो सकता है, परिहार यह है कि अकृष्ण चरित—उज्ज्वल चरित होनेपर कृष्णराज इस पृथ्वीपर सुशोभित हुआ। इस कृष्णराजका वक्षस्थल विशाल था। उसके गलेमें प्रेयसी नारियाँ हाथ डाले हुई थीं, अतएव कौस्तुभमणिका रूप प्रतीत हो रहा था। शत्रुओंको अपने भुजबलसे परास्त करनेके कारण वह सुशोभित था। सत्यवक्ता एवं शूर-वीरता आदि गुणोंसे उसने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

कृष्णराजके पुत्र धोरके गुणोंका निरूपण करते हुए बताया है कि उस वैर्यंबकी-ने शत्रुओंकी रमणियोंकी मुखश्रीका हरण कर लिया था—

> धोरो वैर्यंबको विपक्ष-वनिता-वक्त्राम्बुज-श्री-हरो
> हारीकृत्य यशो मदीयमनिशं दिक्-नायिकाभिर्धृतम् ॥—वही पृ० १२५

यहाँ 'विपक्ष-वनिता-वक्त्राम्बुजश्रीहरो' में व्यंजना द्वारा शत्रुओंके परास्त या मारे जानेका अर्थ निकलता है; यतः शत्रुओंकी मृत्युके अनन्तर ही उनकी स्त्रियोंके मुख श्रीहीन होते हैं। धैर्यशाली धोरका यश दिगंगनाएँ सर्वदा धारण किये रहती हैं। इस पंक्तिसे भी धोरकी वीरताकी अभिव्यंजना होती है।

धोरकी दानशीलताका चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि उसने अपने दानसे कर्णको भी तिरस्कृत कर दिया है तथा दिग्गज उसकी दानशीलताको देखकर अत्यन्त लज्जित हो गये, अतः वे दिशाओंके प्रान्तमें स्थित हो गये हैं। यहाँ भी अन्योक्तिका चमत्कार है—

कर्णाधःकृत-दान-संतति (२४) भृतो यस्यान्य-दानाधिकम्।
दानं वीक्ष्य सुलज्जिता इव दिशां प्रान्ते स्थिता दिग्गजाः॥

—वही पृ० १२६

उपमाकी छटा दर्शनीय है—

उदन्वानिव गाम्भीर्ये विवस्वानिव तेजसि
शशलक्ष्मेव लावण्ये नभस्वानिव यो बले।
मनोभूरिव सौरूप्ये मघवानिव संपदि
सुरमन्त्रीव शास्त्रार्थे उशनेव च यो नये॥

—वही पृ० १२२

वह समुद्रके समान गम्भीर, सूर्यके समान तेजस्वी, चन्द्रश्रीके समान लावण्ययुक्त और तूफानके समान बलवान् है। सौन्दर्यमें कामदेवके समान, सम्पत्तिमें इन्द्रके समान, शास्त्रार्थ करनेमें बृहस्पतिके समान पटु और नीतिशास्त्रमें उशनाके समान प्रवीण है।

उपमा द्वारा कविने राजाके समस्त गुणोंको स्पष्ट रूपमें उपस्थित करनेका प्रयास किया है।

निरुपमके पुत्र गोविन्दराजने गंगराजाओंको बन्धन-मुक्त किया था, पर पुनः उनकी उद्दण्डता देखकर उन्हें बन्दी बना लिया। इसी तथ्यकी अभिव्यंजना निम्नांकित पद्यांशमें बहुत सुन्दर रूपमें की गयी है।

लीला-भ्रू-कुटिले ललाटफलके यावच्च भालक्ष्यते
विक्षेपेण विजित्य तावदचिरादाबद्ध-गङ्गः पुनः॥

—वही पृ० १२७

जबतक उसने अपनी भौंहें भी टेढ़ी नहीं की थी, तबतक बातकी बातमें गंगराजको बन्दी बना लिया।

कोन्नूर[1] (जिला धारवाड़) अभिलेख

कोन्नूर अभिलेखमें ४९ पद्य हैं और बीचमें कुछ गद्यांश भी आया है। यह अभिलेख कोन्नूरके परमेश्वरकी दीवालपर एक पाषाणखण्डमें उत्कीर्णित है। इसे दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। श्लोक १ से ४३ तक दानकी प्रशस्ति है। यह दान ८६० ई० में राष्ट्रकूट अमोघवर्ष प्रथमने दिया है। ४४ पद्यसे लेकर अन्तिम गद्यांश तक जैनधर्म और दो मुनि मेघचन्द्र त्रैविद्य और उनके शिष्य वीरनन्दीकी प्रशंसा करनेके उपरान्त बताया गया है कि वीरनन्दीके पास एक ताम्रशासन था, जिसे उक्त अभिलेखके रूपमें कोन्नूरके महाप्रभु हुलियमरस तथा अन्य व्यक्तियोंकी प्रार्थनासे उत्कीर्ण कराया गया है। अतएव अभिलेखके प्रथम ४३ पद्य ताम्रशासनपर-से उत्कीर्ण किये गये हैं।

शिलालेखके प्रथम भागमें आया है कि आश्विन महीनेकी पूर्णिमाको सर्वग्राही चन्द्रग्रहणके अवसरपर, शक संवत् ७८२ के बीतनेपर जगत्तुंगके उत्तराधिकारी राजा अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकालमें, उसने अपने अधीनस्थ राज्यकर्मचारी बंकेयकी महत्त्वपूर्ण सेवाके उपलक्ष्यमें कोकनूर (कोन्नूर) में बंकेय द्वारा स्थापित जिनमन्दिरके लिए देवेन्द्रमुनिको तलेयूर गाँव पूरा तथा दूसरे गाँवोंकी कुछ जमीन दानमें दी गयी थी। ये देवेन्द्र देशीय गण, पुस्तक गच्छ और मूलसंघके त्रैकालयोगीशके शिष्य थे। शिलालेखके ३ पद्यसे ११वें पद्यतक अमोघवर्षकी वंशावली दी गयी है। १७वें से ३४वें पद्यतक बंकेयकी सेवाओंकी प्रशंसा अंकित है। गद्यांश तथा ४३वें पद्यमें लेखकका नाम वत्सराज तथा बंकेयराजके मुख्य सलाहकारका नाम महत्तर गणपति दिया हुआ है।

काव्यात्मक मूल्य

इस अभिलेखमें कविने उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारकी सुन्दर योजना की है। कवि दन्तिदुर्गराट्की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

ततोऽभवद्दन्तिघटाभिमर्दनो हिमाचलादूर्जित-सेतु-सीमतः ।
खलीकृतोद्वृत्तमहीपमण्डलः कुलाग्रणीः यो भुवि दन्तिदुर्गराट् ॥ ५ ॥

युद्धमें हाथियोंके समूहको नष्ट करनेवाला, हिमालयसे सेन्तुबन्ध पर्यन्त राज्यसीमाका विस्तार करनेवाला, अहंकारी राजाओंको व्यर्थ करनेवाला, एवं कुलावतंस दन्तिदुर्गराज नामक नृपति पृथ्वीपर हुआ।

'खलीकृत' पदसे चूर्णित करना या निस्सार करना सूचित होता है। दन्तिदुर्गने अहंकारी राजाओंको युद्धमें परास्त कर यमराजके यहाँ भेज दिया। इस पदसे उसकी वीरता तो व्यंजित होती ही है, साथ ही रणनीति एवं पराक्रमसे वीर-अहंकारी योद्धाओं-

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भा०, भा० दि० जैन ग्र०, वि० सं० २००६, लेख १२७, पृ० १४१।

के युद्धमें मारे जानेकी ध्वनि भी निकलती है। हिमालयसे लेकर सेतुबन्ध पर्यन्त शासनका विस्तार किया। अपने राज्यकी सीमा बढ़ायी और शत्रुओंकी गजगामिनीका ध्वंस किया भी सिद्ध होता है।

अमोघवर्षकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि इसने अपने पराक्रमसे अनेक राजाओंको अपने आधीन कर लिया था। शत्रु उसकी आज्ञा मस्तकोपरि धारण करते हैं। वह समस्त राजाओंके ऊपर स्थित था—

यस्याज्ञां परचक्रिणः स्रजमिवाजस्रं शिरोभिर्वह-
न्त्यादिग्दन्तिघटावलीमुखपटैः कीर्तिप्रतानस्स तैः ।
यत्रस्थस्वकरप्रतापमहिमा कस्याप्यदूरस्थितः
तेजःक्रान्तसमस्तभूभृदिव एवासौ न कस्योपरि ॥ १२

अन्य राजा जिसकी आज्ञाको मालाके समान सिरपर धारण करते हैं। हाथियोंके मुखपटोंसे ही जिसकी कीर्तिका चँदोवा तना हुआ है। अपने भुजबलके प्रतापके कारण, जिसके लिए कोई भी वस्तु दूर नहीं है अर्थात् समस्त वस्तुएँ जिसके लिए सुलभ हैं। जितने राजा हैं, वे सभी उसके तेजसे आक्रान्त हैं—अभिभूत हैं, अतः वह किससे ऊपर नहीं है।

'स्रजमिव' मालाके समान उपमानसे यह प्रकट है कि जिस प्रकार मालाको लोग आदरपूर्वक प्रसन्नतासे गलेमें धारण करते हैं, उसी प्रकार अमोघवर्षकी आज्ञा भी अन्य राजाओंके द्वारा प्रसन्नता और आदरपूर्वक धारण की जाती है।

वीरनारायणसे कल्पान्तकालपर्यन्त वीर शासन स्थिर हुआ, इसका सुन्दर चित्रण करते हुए वीरनारायणके प्रतापका वर्णन किया गया है—

हुत्वा येन रिपुं विरोधिरुधिरप्राज्याज्यधाराहुति-
व्रात-प्रस्फुरित-प्रतापदहने विद्विष्टशान्ते श्रितम् ।
विप्रेणेव रणाध्वरे सुविहित-श्री-मन्त्रशक्त्यार्जितं
कल्पान्तस्थिरवीरशासनमिदं मद्वीरनारायणात् ॥ २४ ॥

शत्रुओंके रुधिररूपी घृतकी धाराकी आहुतिसे प्रज्वलित प्रतापाग्निमें शत्रुओंका हवन किया है और रणभूमिरूपी यज्ञमें पुरोधाके द्वारा अच्छी तरह किये गये मन्त्रानुष्ठानसे शक्ति अर्जित कर ली गयी है, ऐसे प्रतापी वीरनारायणसे यह कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाला वीरशासन प्रवर्तित किया गया है।

प्रस्तुत पद्यमें रूपककी योजना बहुत ही सुन्दर है। रुधिर धारामें घृताहुतिका, प्रतापमें अग्निका, रणमें यज्ञका और मन्त्र—स्तुतिरूप मन्त्रमें मन्त्रशक्तिका आरोप किया गया है।

मेघचन्द्र त्रैविद्य और वीरनन्दीका वर्णन करते हुए कहा है—

वैदग्धश्रीवधूटीपतिरखिलगुणालंकृतिर्मेघचन्द्र—
त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः ।
सिद्धान्तव्यूहचूडामणिरनुपमचिन्तामणिर्भूजनानां
योऽभूत्सौजन्यरुन्द्रश्रियमवति महौ वीरनन्दीमुनीन्द्रः ॥ ४७ ॥

चातुर्यरूपी लक्ष्मीके पति समस्त गुणोंसे अलंकृत मेघचन्द्र त्रैविद्यके आत्मज—शिष्य वीरनन्दी हुए । ये वीरनन्दी कामरूपी पर्वतको भेदन करनेमें वज्रके समान तथा सिद्धान्तरूपी व्यूह-रचनाके चूडामणिके समान थे । जनताके लिए ये अनुपम चिन्तामणिके समान सुखदायक थे । इन वीरनन्दी मुनीन्द्रने इस पृथ्वीपर अपनी सौजन्य रूपी श्रीको विस्तृत किया है ।

'मदनमहिभृत्' और 'सिद्धान्तव्यूहचूडामणि'में सुन्दर रूपक योजना है । वीरनन्दीकी पुनः प्रशंसा करते हुए कहा है—

यः शब्दस्त (?) नभस्थली-दिनमणिः काव्यश्चूडामणि—
र्यस्तर्कस्थितिकौमुदीहिमकरस्तूर्यत्रयाब्जाकरः ।
यस्सिद्धान्तविचारसारधिषणो रत्नत्रयीभूषणः
स्थेयादुद्धतवादिभूभृदशनिः श्रीवीरनन्दीमुनिः ॥ ४८ ॥

जो व्याकरणरूपी आकाशमण्डलके लिए सूर्य हैं, कवियोंमें चूडामणि—शिरोमणि हैं, जो न्यायशास्त्रके संरक्षणरूपी ज्योत्स्नाके लिए चन्द्रमा हैं और गीत, नृत्य, वाद्यरूपी कमलोंके लिए सरोवर है एवं जो सिद्धान्तशास्त्रके मर्मज्ञ हैं । रत्नत्रयके भूषण हैं तथा उच्छृंखल वादिरूपी पर्वतोंके लिए वज्र-समान हैं, इस प्रकारके वीरनन्दी मुनि हैं ।

स्पष्ट है कि उक्त पद्यमें रूपक अलंकारकी बहुत ही सुन्दर योजना की गयी है । रूपक और उपमाके मिश्रण द्वारा वीरनन्दीकी निम्नलिखित पद्यमें की गयी प्रशंसा काव्यमूल्योंकी दृष्टिसे श्लाघ्य है ।

यन्मूर्त्तिर्जगतां जनस्य नयने कर्पूरपूरायते
यद्वृत्तिर्विदुषां ततश्श्रवणयोर्माणिक्यभूषायते ।
यत्कीर्तिः ककुभां श्रियः कचभरे मल्लीलतान्तायते
जेजीयाद्भुवि वीरनन्दिमुनिपः सैद्धान्तचक्राधिपः ॥ ४९ ॥

जिनकी मूर्ति—आकृति संसारके जनोंके नेत्रोंके लिए कर्पूरांजनके समान है, जिनका आचरण विद्वत्समूहके कानोंके लिए आभूषणके समान है और जिनकी कीर्ति दिकश्रीके केशोंके लिए मल्लिकाके समान है, ऐसे सिद्धान्त चक्रवर्ती वीरनन्दी मुनि पृथ्वीपर विजयी हों ।

समय

अभिलेखमें अंकित समय शक संवत् ७८२ (ई० ८६०) है, पर कीलहॉर्नके वीरनन्दी और मेघचन्द्र त्रैविद्यके कालके आधारपर ईसवी १२वीं सदीका मध्य निश्चित किया है।

मल्लिषेण-प्रशस्ति

(पार्श्वनाथ वस्ति, चन्द्रगिरिमें एक स्तम्भपर अंकित)

इस प्रशस्तिमें मूलरूपसे मल्लिषेण मलधारिदेवके समाधिमरणका निर्देश किया गया है। चन्द्रगिरि पर्वत (कटवप्र) के पार्श्वनाथ मन्दिर (वस्ति) के नवरंगमें यह प्रशस्ति (लेख नं० ५४) शक संवत् १०५० (सन् ११२८ ई०) में अंकित की गयी है। जैन इतिहासकी दृष्टिसे इस प्रशस्तिका मूल्य अत्यधिक है। इसमें दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आचार्योंका नाम आया है।

प्रशस्तिके प्रथम पद्यमें वर्धमान जिनका स्मरण किया है। अनन्तर सप्त ऋद्धिधारी गौतम गणधर, मोहरूपी विशाल मल्लके विजेता भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, कुन्दपुष्पकी कान्तिके समान स्वच्छ कीर्तिरश्मियोंसे विभूषित कुन्दकुन्दाचार्य बादमें 'धूर्जटि' की जिह्वाको स्थगित करनेवाले समन्तभद्र, सिंहनन्दी, वादियोंके समूहको परास्त करनेवाले एवं छह मास तक 'अथ' शब्दका अर्थ करनेवाले वक्रग्रीव, नवीन स्तोत्रकी रचना करनेवाले वज्रनन्दी, त्रिलक्षण सिद्धान्तके खण्डनकर्ता पात्रकेसरि, सुमतिसप्तकके कर्ता चिन्तामणि, ब्रह्मराक्षसोंके द्वारा पूजित महेश्वर, साहसतुंग नरेशके सम्मुख हिमशीतल नरेशकी सभामें बौद्धोंके विजेता अकलंकदेव, अकलंकके सधर्मा—गुरुभाई पुष्पसेन, समस्तवादियोंको प्रशमित करनेवाले विमलचन्द्र मुनि, अनेक राजाओं द्वारा वन्दित इन्द्रनन्दि, अन्वर्थ नामवाले परवादिमल्ल, कायोत्सर्ग मुद्रामें तपस्या करनेवाले आर्यदेव, श्रुतबिन्दुके कर्ता चन्द्रकीर्ति, कर्मप्रकृति भट्टारक, पार्श्वनाथचरितके रचयिता वादिराजके गुरु मतिसागर और प्रगुरु श्रीपालदेव, विद्याधनंजय महामुनि हेमसेन, रूपसिद्धि व्याकरणके कर्ता दयापाल मुनि, वादिराज द्वारा स्तुत्य श्रीविजय, कमलभद्रमुनि, दयापाल पण्डित, महासूरि, विनयादित्य होय्सल नरेश द्वारा पूज्य शान्तिदेव, गुणसेन, अजितसेन, वादीभसिंह तथा इनके शिष्य कविताकान्त शान्तिनाथ और वादिकोलाहल पद्मनाभ, कुमारसेन और अजितसेन पण्डित देव के शिष्य मल्लिषेण मलधारिका उल्लेख है। प्रशस्तिमें आचार्योंकी नामावली गुरु-शिष्य परम्पराके अनुसार नहीं है, अतः पूर्वापर सम्बन्ध और समय निर्णयमें यथेष्ट सहायता इससे नहीं मिल पाती है। इतना तो अवश्य सिद्ध है कि इस प्रशस्तिसे अनेक आचार्यों और लेखकोंके सम्बन्धमें मौलिक तथ्य इस प्रकारके उपलब्ध होते हैं, जिनसे अनेक आचार्योंका इतिवृत्त तैयार किया जा सकता है।

काव्य-मूल्य

प्रस्तुत प्रशस्तिमें ७२ पद्य हैं। चूर्णिरूपमें छठे पद्य, बीसवें पद्य, पच्चीसवें पद्य, अट्ठाइसवें पद्य, छत्तीसवें पद्य, इकतालीसवें पद्य, पैंतालीसवें पद्य, सत्तावनवें पद्य, साठवें पद्य, सत्तरवें पद्य और बहत्तरवें पद्यके अनन्तर गद्य आया है।

प्रशस्तिके प्रथम पद्यमें वर्धमान जिनकी वन्दनामें रूपकको सुन्दर योजना की गयी है। रूपक अलंकार पद्यमें आरम्भसे अन्त तक निहित है। यथा—

श्रीमन्नाथकुलेन्दुरिन्द्रपरिषद्वन्द्यश्रुत-श्री-सुधा-
धारा-धौत-जगत्तमोऽपह-महः पिण्डप्रकाण्डं महत् ।
यस्मान्निर्मल-धर्म-वार्धि-विपुलश्रीवर्धमाना सता
भर्तुर्भव्य-चकोर-चक्रमवतु श्रीवर्धमानो जिनः ॥१॥

श्रीमान् नाथकुल—ज्ञातृकुलके चन्द्र तथा इन्द्र परिषद् द्वारा वन्दनीय हैं और जिनकी ज्ञान-श्री-सुधासे ससारका अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे प्रकाशमान् पिण्ड वर्धमान जिन भव्य चकोरोंकी रक्षा करें। इस वर्धमानसे निःसृत निर्मल धर्मवारिधि-की शोभा सर्वत्र बढ़ रही है।

वर्धमानको ज्ञातृकुलका चन्द्र कहा है, जिस प्रकार चन्द्रकी अमृत किरणोंसे तमस्तोम छिन्न हो जाता है और समुद्रमे वृद्धि उत्पन्न होती है तथा चकोर पक्षी आनन्दित होता है, उसी प्रकार वर्धमान जिनके ज्ञानोपदेशसे अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है, निर्मल—अनेकान्त धर्मकी वृद्धि हुई है और भव्य जीवोंको सुख प्राप्त हुआ है।

गौतम गणधरके स्मरण प्रसंगमें भी रूपककी योजना की गयी है। प्रशस्ति-में अन्वर्थक नाम कहकर इन्द्रके समान वैभवकी ओर संकेत किया है। इससे स्पष्ट है कि गौतमके गणधर होनेके पूर्व इनका शिष्य परिवार इन्द्रसभाके समान था और इनका समस्त वैभव इन्द्रके तुल्य था। अति साम्यके कारण प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका आरोप कर काव्य चमत्कार उत्पन्न किया गया है। उपमाके समान सहज सौन्दर्य बोध करानेके लिए ही पद्यमें रूपक योजना भी है। उत्प्रेक्षापुष्ट होनेसे प्रशस्ति पद्यका रूपक सजीव और अलौकिक सौन्दर्यको तो चित्रित करता ही है, साथ ही भावाभिव्यक्तिको स्वच्छ रूप प्रदान करता है। यथा—

जीयादर्थयुतेन्द्रभूतिविदिताभिख्यो गणी गौतम-
स्वामी सप्तमहर्धिभिस्त्रिजगतीमापादयन् पादयोः ।
यद्बोधाम्बुधिमेत्य वीर-हिमवत्कुत्कीलकण्ठाद्बुधा-
म्भोदात्ता भुवं पुनाति वचन-स्वच्छन्द-मन्दाकिनी ॥२॥

इन्द्रभूति—इस सार्थक नामवाले गौतम गणधर अपनी सप्त ऋषियोंसे तीनो लोकोको अपने चरणोंमें झुकाते है तथा वीररूपी हिमालय कण्ठसे निःसृत स्वच्छन्द वचन मन्दाकिनी, जिनके ज्ञान समुद्रको प्राप्त कर संसारको पवित्र करती है।

बोधाम्बुधि, वीर-हिमवत्कुरकीलकण्ठात् और वचन-स्वच्छन्द-मन्दाकिनीमें रूपक योजना है।

ओज गुणका सन्निवेश करते हुए समन्तभद्रकी ललकारका सुन्दर चित्रण किया गया है—

अवटु-तटमटतिझटिति स्फुट-पटु-वाचाटधूर्जटेरपि जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूपकास्थान्येषाम् ॥८॥

हे राजन्! स्पष्ट बोलनेमें चतुर शंकर भी जब मेरे समक्ष पराजित हो जाते हैं, तब आप ही बतलाइए कि समन्तभद्रकी उपस्थितिमें आपकी सभामें अन्य विद्वानोका क्या विश्वास।

उपर्युक्त पद्यमें टकारकी आवृत्तिसे समन्तभद्रकी ललकार ध्वनि पर्याप्त उद्दीप्त हो गयी है। शब्दालंकारकी योजनाने रणवाद्यकी ध्वनिका सृजन किया है।

कुमारसेन मुनिको सूर्यका रूपक देकर उसके विचित्र प्रकाशका वर्णन कर कौतूहलका सृजन किया गया है।

उदेत्य सम्यग्दिशि दक्षिणस्यां कुमारसेनो मुनिरस्तमापत्।
तत्रैव चित्रं जगदेकभानोस्तिष्ठत्यसौ तस्य तथा प्रकाशः ॥१४॥

उत्तर दिशामें उदय लेकर कुमारसेन मुनि दक्षिण दिशामें अस्त हुए। वे संसारके लिए एकमात्र सूर्य थे, उनका विचित्र प्रकाश वैसा ही है।

शंकर इतने बडे देव हैं, उन्होंने अपने प्रभावसे गंगाको जटाओंमें धारण किया है, पर श्रीवर्धदेवने सरस्वतीको अपनी जिह्वापर ही धारण कर लिया।

जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः।
श्रीवर्धदेवः संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीम् ॥१७॥

महेश्वरकी प्रशंसा करते हुए उसे शंकरसे भी अधिक शक्तिशाली बतलाया है।

प्रशस्तिमें चमत्कारपूर्ण शैलीमे वादिराजको राजचिह्नोंसे युक्त बतलाया है। काव्य-चमत्कारकी दृष्टिसे यह पद्य अनुपम है। यथा—

आरुढाम्बरमिन्दुबिम्ब-रचितौत्सुक्यं सदा यद्यश-
श्छत्रं वाक्चमरोज-राजि-रुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
सेव्यः सिंहसमर्च्य-पीठ-विभवः सर्व-प्रवादि-प्रजा-
दत्तोच्चैर्जयकार-सार-महिमाश्रीवादिराजो विदाम् ॥४१॥

विस्तृत आकाशमें उदित चन्द्रबिम्बका औत्सुक्य ही जिनका यश है, वाणी ही छत्र है और कानके पासके उज्ज्वल केश ही चामर हैं। सभी के द्वारा प्राप्त सेवा-अर्चा आदि विभव ही जिनका सिंहासन है एवं वादी लोग ही जिनकी प्रजा हैं। इस प्रकार एक यशस्वी राजाके समान वादिराजका जय-जयकार हो रहा है।

श्रीविजयको गंगराज नमस्कार करते थे। अतः उनके मुकुटमें जटित पद्मराग मणियोंकी लालिमासे श्रीविजयके चरणोंकी नख-चन्द्र कान्ति अरुण हो गयी है। यथा—

> गङ्गावनीश्वर-शिरोमणि-बद्ध-संध्या-रागोल्लसच्चरण-चारुनखेन्दु-लक्ष्मीः ।
> श्रीशब्द-पूर्व-विजयान्त-विनूतनामा धीमानमानुष-गुणोऽस्ततमः प्रमांशुः ॥४५॥

नमस्कारके कारण गंगराजके मुकुटमें जटित पद्मरागमणियोंकी कान्तिसे जिनके चन्द्रतुल्य नख लाल हो गये हैं, अतः सन्ध्याकी अरुणिम आभाकी प्रतीति होती है। इस प्रकार सान्ध्यश्रीसे सम्पन्न विनीत और बुद्धिमान् श्रीविजयने अपने प्रमाज्ञानकी किरणोंसे अन्धकारको नष्ट कर दिया है।

इस प्रकार उक्त प्रशस्तिकाव्यमें रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारकी योजना द्वारा ऐतिहासिक तथ्योंको सरस बनाया गया है।

संस्कृतके अन्य अभिलेखोंमें देवकीर्ति प्रशस्ति[1] (लेख नं० ३९-४०); शुभचन्द्र प्रशस्ति[2] (लेख नं० ४१); मेघचन्द्र प्रशस्ति[3] (लेख नं० ४७); प्रभाचन्द्र प्रशस्ति[4] (लेख नं० ५०); पण्डितार्य प्रशस्ति[5] (लेख नं० १०५) एवं श्रुतमुनि प्रशस्ति[6] (लेख नं० १०८) भी महत्त्वपूर्ण है। इन अभिलेखोंमें भी उक्त तीन ही अलंकार नियोजित है। भाषा प्रौढ है और छन्दोंका लालित्य भी विद्यमान है। काव्य-कलाकी दृष्टिसे कुछ पद्य तो बहुत ही सुन्दर और ललित हैं।

●

---

[1] जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग, मा० दि० ग्र०, सन् १९२८ ई०; पृष्ठांक २१-२६।
[2] वही, पृ० ३०-३३।
[3] वही, पृ० ५८-६५।
[4] वही, पृ० ७१-८१।
[5] वही, पृ० १९५-२०७।
[6] वही, पृ० २०९-२२१।

षष्ठ परिवर्त

*

एकार्थ-लघु-सन्देश-सूक्ति-स्तोत्र काव्योंका परिशीलन

(क) शत्रुंजय-क्षत्रचूड़ामणि-देवानन्द काव्योंका परिशीलन

(ख) पार्श्वाभ्युदय-यशोधर-महीपाल चरितोंका अनुशीलन

(ग) जैनकुमारसम्भवका काव्य-मूल्यांकन

(घ) नेमिदूत, पवनदूत, शीलदूत और मेघदूत समस्यालेख काव्योंकी तुलनात्मक समीक्षा एवं काव्य चमत्कार

(ङ) सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितरत्नसन्दोह और वैराग्यशतकका आचार, नीति और काव्यमूल्य

(च) भक्तामर, एकीभाव, विषापहार, कल्याणमन्दिर और भूपालचतुर्विंशतिकाका भक्ति एवं काव्यात्मक मूल्यांकन

(छ) जैन स्तोत्रोंका अन्य स्तोत्रोंकी अपेक्षा वैशिष्ट्य

(ज) जैनकाव्योंकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ

एकार्थ-काव्य

क्षत्रचूड़ामणि[1]

इस काव्यमें जीवक या जीवन्धरकी कथा अंकित है। कथावस्तु ग्यारह लम्ब या लम्भोंमें विभक्त है। लम्भ शब्दका अर्थ उपलब्धि या प्राप्ति है। एक प्राप्ति या उपलब्धिको एक लम्भ—लम्बमें निबद्ध किया जाता है। लम्बका अर्थ लटकना भी है, कथावस्तुके जितने खण्डका जीवनके एक अंशके साथ सम्बन्ध रहता है, वह एक लम्भ या लम्ब है। लम्बक शब्द मूलतः प्राकृतका है, इसका प्रयोग वसुदेव हिण्डी और कथासरित्सागरमें भी हुआ है। इन ग्रन्थोके अनुसार एक विवाह द्वारा एक स्त्रीकी प्राप्ति लम्भ है और उतना कथांश एक लम्बक या लम्भकमें गुम्फित किया जाता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने कथासरित्सागरकी भूमिकामें लिखा है—'लम्भ या उसके प्राकृत रूप लम्बका प्रयोग गुप्तकालमें होने लगा था। सुबन्धुकृत वासवदत्ताकी रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके कुछ बाद पाँचवी शताब्दीमें आरम्भ हुई, इसमें बृहत्कथाको लम्बोसे युक्त कहा है—'बृहत्कथालम्बैरिव शालभंजिकानिवहै'[2]—अर्थात् बृहत्कथाके लम्बों या परिच्छेदोंमें शालभंजिका या स्त्रियोंकी कथाएँ थी।"[3] स्पष्ट है कि लम्भ या लम्ब शब्द परिच्छेद या सर्गके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, पर यह शब्द उसी काव्य या कथाग्रन्थमें प्रयुक्त होता था, जिसमें नायकके अनेक विवाह वर्णित रहते थे। हमारे इस कथनकी पुष्टि बुधस्वामीकृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रहसे भी होती है। इस ग्रन्थकी कथावस्तु सर्गोंमें विभक्त है, पर एक विवाहकी सूचना देनेके लिए लम्भ शब्द भी सर्गान्तमें आया है। अतएव यह निष्कर्ष सहजमें निकाला जा सकता है कि बहुविवाहवाली कथावस्तु एक-एक विवाहके वर्णनके आधारपर लम्भों या लम्बोंमें विभक्त रहती थी। वादीभसिंहने प्रस्तुत काव्यके नायक जीवन्धरके अनेक विवाह वर्णित किये है अतः पूर्व प्रचलित प्राकृत कथा पद्धति[4] के आधारपर इसकी कथावस्तुको सर्गोंमें विभक्त न कर लम्भोमे विभक्त किया है।

---

[1] स० टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, प्रकाशक–सरस्वती विलास सीरीज, तंजोर, सन् १९०३ ई०।

[2] वासवदत्ता, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी सन् १९५४ ई०, पृ० ८५।

[3] कथासरित्सागर, प्रथम खण्ड, बिहारराष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९६० ई०।

[4] सामाविजयालंभो, सामलीलंभो, गन्धव्वदत्तालंभो, नीलजासालंभो, सोमसिरिलंभो, धणसिरिलंभो, पउमालंभो, पुण्डालभो, रत्तवतीलंभो, सोमसिरिलंभो, वेगवतीलभो···देवकीलंभो।
—वसुदेवहिंडि प्रथम खड, प्रथम-द्वितीय अंश, जैन आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १९३०-३१ ई०।

रचयिता

डॉ० कीथने लिखा है कि कादम्बरीसे प्रतिस्पर्धा करनेका दूसरा प्रयत्न ओडयदेव (वादीभसिंह) के गद्यचिन्तामणिमें परिलक्षित होता है। ये एक दिगम्बर जैन थे और पुष्पसेनके शिष्य थे, जिनकी प्रशंसा इन्होंने अपनी रचनामें अत्युक्तिपूर्ण शैलीमें की है। इनकी रचनाका सम्बन्ध जीवक या जीवन्धरके उपाख्यानसे है, जो जीवन्धरचम्पूका प्रतिपाद्य विषय है। इन्होंने बाणका अनुकरण किया है; यह बात बिलकुल स्पष्ट है। मनीषी शुकनास द्वारा युवक चन्द्रापीडको दिये गये उपदेशको अधिक सुन्दर रूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न भी सम्मिलित है।[1]

स्पष्ट है कि कविका वादीभसिंह वास्तविक नाम नहीं है, उपाधि नाम है। गद्यचिन्तामणिकी तंजौरवाली पाण्डुलिपिकी प्रशस्तिमें ओडयदेव नाम अंकित भी मिलता है।[2] वादीभसिंहके निवासस्थानके सम्बन्धमें विवाद है। पं० के० भुजबली[3] शास्त्री इन्हें तामिल या द्राविड़ प्रान्तका और बो० शेषगिरि राव कलिंग[4] (तेलगु) के गंजाम जिलेके आस-पासका निवासी मानते हैं। गंजाम जिला मद्रासके उत्तरमें है और अब उड़ीसामें सम्मिलित कर दिया गया है। यहाँपर ओडेय और गोडेय ये दो जातियाँ निवास करती हैं। सम्भवतः वादीभसिंह ओडेय जातिके रहे होंगे। तमिल भाषाकी लोककथाओंमें जीवन्धरकी कथा पायी जाती है। तमिल भाषाका जीवक चिन्तामणि काव्य, जिसके कर्ता तिरुतक्कदेव हैं, तमिलनाडके रहनेवाले थे। अतः 'राव' का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। तंजौरमें गद्यचिन्तामणिकी पाण्डुलिपियोंका प्राप्त होना भी इस बातकी ओर संकेत करता है कि कविका निवास तमिलनाडका उसके आस-पासका स्थान होना चाहिए। वादीभसिंह या ओडयदेवके गुरुका नाम पुष्पसेन है।

समय

वादीभसिंहके समयके सम्बन्धमें विद्वानोंमें निम्नलिखित विचारधाराएँ प्रचलित हैं—

१–ई० ७७०-८६० की मान्यता।

२–विक्रमकी ११वी सदीके प्रारम्भकी मान्यता।

३– ११वी शतीके उत्तरार्धकी मान्यता।

४– १२वीं शतीकी मान्यता।

---

[1] हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर—कीथ, लन्दन १९४१, पृ० ३३१।

[2] श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणि' कृतः। स्थेयादोडयदेवेन चिरामास्थानभूषणः। स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृत.। गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः॥

—गद्यचिन्तामणि, तंजौर, १९१६ ई० प्रशस्ति, पृ० २५७।

[3] जैन सिद्धान्तभास्कर. भा० ६, कि० २, पृ० ७८-८७।

[4] वही, भा० ८, कि० २, पृ० ११७।

प्रथम मान्यताके पोषक श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री[1] और प्रो० दरबारीलाल कोठिया हैं। आप दोनों महानुभावोंने जिनसेनके आदिपुराण १।५४ (सन् ८३८ ई०), वादिराजके पार्श्वनाथ चरित १।२१ (१०२५ ई०) एवं लघु समन्तभद्रके अष्टसहस्री टिप्पण पृ० १ (वि० सं० १३वीं शती) के वादिसिंह विषयक उल्लेखोंके आधारपर उनका समय सन् ८-९वी शती माना है। कोठियाजोने[2] स्याद्वादसिद्धिके सन्दर्भोंके साथ जयन्तभट्टकी न्यायमंजरी, कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्त्तिक एवं बौद्धदार्शनिक शंकरानन्दकी अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धिके तुलनात्मक उद्धरण प्रस्तुत कर वादीभसिंहका समय ई० सन् ७७०-८६० के मध्य सिद्ध किया है। उक्त दोनों विद्वान् वादीसिंह और वादीभसिंहको एक ही व्यक्ति मानते हैं।

द्वितीय मान्यताके समर्थक श्री पं० नाथूराम प्रेमी[3] और टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री[4] हैं। 'अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती'[5] परिमल कविके इस धारा नरेश भोज सम्बन्धी उक्तिका पूर्वार्ध सत्यन्धर महाराजके शोक प्रसंगमें गद्यचिन्तामणिमें प्राप्त कर वादीभसिंहका समय भोजदेवके पश्चात् मानते है।

११वी शतीके उत्तरार्ध सम्बन्धी मान्यताके समर्थक श्री पं० के० भुजबली शास्त्री[6] है, आपने अजितसेन वादीभसिंहका अपरनाम मानकर ११वी शतीका उत्तरार्ध सिद्ध किया है। शास्त्रीजीका दूसरा तर्क क्षत्रचूड़ामणिके अन्तके 'राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः' (११।१०६) पद्यमें आया हुआ 'राजराज' पद है। इस पदको श्लिष्ट मानकर तत्कालीन शासक चोलवंशी राजराज (सन् ११४६-११७८ ई०) का निर्देश स्वीकार करते हैं। अपने तर्ककी पुष्टिके लिए शास्त्रीजीने श्रवणबेलगोलके शिलालेख न० ५४,३,४०,३७ के भी उद्धरण प्रस्तुत किये है।

१२वी शतीकी मान्यता संस्कृत साहित्यके इतिहास लेखक श्री एम० कृष्णमाचारीयर की है। इन्होने श्री कुप्पुस्वामीके तर्कके आधारपर ही भोजका राज्यकाल १२वी सदी मानकर अपना मत स्थिर किया है।[7]

उपर्युक्त विचारधाराओंपर दृष्टिपात करनेसे तथा समय निर्णयके प्रसंगमें दिये गये तर्कोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि परिमल कविकी छाया गद्यचिन्तामणिपर नही है, बल्कि परिमलपर ही गद्यचिन्तामणिकी छाप है। गद्यचिन्तामणिका सन्दर्भ निम्न है—'अद्य निराश्रया श्रीः निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम्, निस्सारः संसारः नीरसा रसिकता, निरापदा वीरता, इति मिथः

---

[1] न्यायकुमुद चन्द्रोदय, प्रथम भाग, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, प्रस्तावना पृ० १११।

[2] स्याद्वादसिद्धि, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई १९५० ई०, प्रस्तावना पृ० ११।

[3] जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९५६ ई०, पृ० ३२५।

[4] गद्यचिन्तामणि, तंजौर, १९१६ ई०, प्रस्तावना, पृ० ६-७।

[5] वही, पृ० १३१।

[6] जैन सिद्धान्तभास्कर, आरा भाग ६, कि० २ तथा भाग ७, कि० १।

[7] हिस्ट्री ऑफ् क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, १९३७, पृ० ४७७।

प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणी वाणीम्, सखेदायां च खेचरचक्रवर्तिदुहितीरदयित-विमोक्षणाय ···।’ [1]

परिमल कविने अनेक कवियोंके पद्योंको अपने काव्यमें ग्रहण किया है। अतः आदिपुराण और पार्श्वनाथचरितके उल्लेखोंका औचित्य भी तभी घटित होगा, जब परिमलसे वादीभसिंहको पूर्ववर्ती माना जाये। श्री प्रेमीजीने भी लिखा है—“तमिल साहित्यके विशेषज्ञ पं० स्वामिनाथय्याका मत है कि इस ग्रन्थ (जीवक चिन्तामणि) की रचना क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिकी छाया लेकर की गयी है और कुप्पुस्वामी शास्त्रीने अपने सम्पादित किये हुए क्षत्रचूडामणिमे इस तरहके छायामूलक बीसों पद्य टिप्पणके रूपमे उद्धृत करके इस बातकी पुष्टि की है।[2] तमिल विद्वानोंने तिरुत्तक्कदेवका समय ई० सन् की १०वी शती माना है, अतः वादीभसिंहका समय इनसे पूर्व है।

रचनाएँ

वादीभसिंहकी तीन रचनाएँ प्राप्त हैं—(१) गद्यचिन्तामणि[3], स्याद्वादसिद्धि[4] और क्षत्रचूडामणि। दोनों काव्य ग्रन्थोंकी कथावस्तु एक है। गद्यचिन्तामणि ग्रन्थ कादम्बरीके समान प्रौढ संस्कृत गद्यमें लिखा गया है। कल्पना वैभव, वर्णनपटुता और मानवमनोवृत्तियोंके निरीक्षणका परिचय इस गद्य ग्रन्थमें प्राप्त हैं। कविकी भाषा भावोंके अनुसार दीर्घ समास एवं अल्प समास रूपमे उपलब्ध होती हैं।

क्षत्रचूड़ामणिकी कथावस्तु

हेमागद देशकी राजपुरीमें सत्यन्धर राजा अपनी रानी विजया सहित शासन करता था। राजा विषयासक्त हो अन्तःपुरमें अपना समय यापन करता था और उसने काष्ठागार नामक मन्त्रीको राज्यका अधिकारी बना दिया। रानी विजया गर्भवती हुई और उसे एक रात्रिके पिछले भागमें तीन स्वप्न दिखलाई पडे। सत्यन्धरसे उसने स्वप्नोंका फल पूछा। प्रथम स्वप्नका अनिष्ट फल जानकर राजा कुछ सावधान हुआ और उसने एक मयूराकृति यन्त्र बनाया। काष्ठांगारने एक दिन बगावत कर राजा सत्यन्धरको मारने के लिए सेना भेजी। राजाने वंशरक्षाके लिए गर्भवती महारानीको यन्त्रमें बैठाकर आकाशमे उडा दिया और स्वयं युद्ध करते-करते मारा गया। चालकके अभावमें यन्त्र राजपुरीकी श्मशानभूमिमे गिरा। रानीने वहीं पुत्रको जन्म दिया। रानीने पालन-पोषणका साधन न देखकर उस पुत्रको राजनामांकित अँगूठी पहना कर श्मशानके एक हिस्सेमे रख दिया।

उस नगरीके सेठ गन्धोत्कटके यहाँ उसी दिन पुत्र जन्म हुआ, पर थोड़ी देरके अनन्तर उसकी मृत्यु हो गयी। फलतः वह मृत-संस्कारके लिए वहाँ आया और संस्कार

---

१. गद्यचिन्तामणि, तंजौर, १९१६, पंचम लम्ब, पृ० १३१।

२. जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९५६ ई०, पृ० ३२५।

३ सं० प्र० कुप्पुस्वामी, तंजौर, सन् १९१६ ई०।

४. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९५० ई०।

के अनन्तर उसे वह नवजात पुत्र मिला । उसने उसे उठा लिया । पासमें छिपी विजयाने पुत्रको आशीर्वाद दिया—'जीव' । अतः इस शब्दके अनुसार जीवक या जीवन्धर नाम रखा । गन्धोत्कटने घरपर आकर पत्नीसे कहा—'तुमने जीवित पुत्रको मृत कैसे घोषित कर दिया' । सुनन्दा सेठानी पुत्रको प्राप्त कर बड़ी प्रसन्न हुई और अपना ही पुत्र समझ सावधानी पूर्वक पालन करने लगी । गन्धोत्कटने पुत्र-प्राप्तिके हर्षमें बहुत बड़ा उत्सव सम्पन्न किया । महारानी विजया पुत्र व्यवस्थाके पश्चात् दण्डक वनमें तपस्वियोंके आश्रममें पहुँच गयी । कुछ दिनोंके अनन्तर सुनन्दाको एक पुत्र और हुआ, जिसका नाम नन्द रखा गया । पाँच वर्षकी अवस्थामें जीवन्धरका विद्या संस्कार आरम्भ किया गया । —प्रथम लम्ब

जीवन्धरने आर्यनन्दी गुरुसे समस्त विद्याओंका अध्ययन किया । आर्यनन्दीने एक अपना आत्मवृत्तान्त जीवन्धरको सुनाया और इसी प्रसगमें उसे यह भी कहा कि तुम सत्यन्धर महाराजके पुत्र हो और तुम्हारा राज्य काष्ठांगारने हड़प लिया है । जीवन्धर द्वारा क्रोध प्रदर्शित करने पर उन्होंने एक वर्ष तक युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा करायी । राजपुरी नगरीके नन्दगोपकी गायोंको एक दिन वनमें व्याधोंने रोक लिया । नन्दगोपने राजा काष्ठांगारसे प्रार्थना की कि गायें वापस दिलानेकी व्यवस्था करें । काष्ठांगारने व्याधोंसे लड़नेके लिए सेना भेजी पर सेना कुछ न कर सकी । फलतः नन्दगोपने नगरमे घोषणा करायी कि जो व्यक्ति भीलोंसे गायोंको छुड़ा लायेगा, उसे सुवर्णकी सात पुतलियाँ दहेजमे देकर अपनी गोविन्दा नामक पुत्रीका विवाह कर दूँगा । जीवन्धर भीलोंको जीतकर गायोंको छुड़ा लाया और अपने मित्र पद्मास्यके साथ गोविन्दाका विवाह करा दिया ।—द्वितीय लम्ब

राजपुरी नगरीका श्रीदत्त सेठ जहाजी बेड़ा लेकर व्यापारके लिए गया । वह सामान लेकर लौट रहा था कि उसका जहाज, समुद्रमे डूबने लगा । उसे वहाँ एक स्तूप मिला, जहाँ एक व्यक्ति छिपा हुआ था, उसने कहा—'यह गान्धार देश है । यहाँकी नित्यालोका नगरीमे गरुडवेग विद्याधर राजा रहता है । इसकी पुत्री गन्धर्वदत्ता है, जन्मके समय ज्योतिषियोंने भविष्यवाणी की है कि राजापुरी नगरीमें जो इसे वीणावादनमे पराजित करेगा, वही इसका पति होगा । आपका जहाज डूबा नही है, आपको यह भ्रम हुआ । आप गन्धर्वदत्ताको अपने जहाजमें बैठाकर राजपुरी ले चलिए ।' श्रीदत्तने गन्धर्वदत्ताको अपने जहाजमें बैठा लिया और राजपुरीमे आ गया । यहाँ काष्ठांगारकी स्वीकृतिसे स्वयंवर योजना की गयी, जिसमे राजकुमारोंने वीणावादन किया । पर सभी राजकुमार गन्धर्वदत्तासे हार गये । अन्तमें जीवन्धरने अपनी घोषवती वीणा बजायी और गन्धर्वदत्ताको पराजित कर उसके साथ विवाह किया—तृतीय लम्ब

वसन्त ऋतुमें जलक्रीड़ा सम्पन्न करने के लिए नगरवासियोंके साथ जीवन्धर कुमार भी गया । वहाँ वैदिकों द्वारा घायल किये गये एक कुत्तेको उन्होंने णमोकार

मन्त्र सुनाया, जिससे उसने यक्ष पर्याय प्राप्त की। कुत्तेके जीव उस यक्षने अपने ज्ञानबलसे उपकारीको जान लिया, अतः वह जीवन्धरके समक्ष अपनी कृतज्ञता प्रकट करने आया। वह समयपर सेवामें उपस्थित होनेका वचन देकर चला गया। इस उत्सवमे गुणमाला और सुरमंजरी नामकी दो सखियाँ भी सम्मिलित हुई थीं। उन्होंने 'स्नानीय चूर्ण' तैयार किये थे। उनके चूर्णोंकी परीक्षा जीवन्धर कुमारने की और गुणमालाके चूर्णको श्रेष्ठ सिद्ध किया। इससे सुरमंजरी रूठकर घर चली आयी और जीवन्धर कुमारसे विवाह करनेका उसने अनुबन्ध किया। गुणमाला स्नानकर उत्सवसे लौट रही थी कि काष्ठांगारके मदोन्मत्त हाथीने उसे घेर लिया। प्रियंवदा सखीको छोड़ अन्य सभी व्यक्ति भाग गये। जीवन्धरने हाथीको भगा दिया। गुणमालाका जीवन्धरके साथ विवाह भी हो गया।—चतुर्थ लम्ब

हाथीको ताडित करनेके कारण राजा काष्ठागार जीवन्धरपर बहुत रुष्ट हुआ और उसे अपने दरबारमें पकड़वा कर बुलाया। गन्धोत्कटने कुमारको सभामें उपस्थित कर दिया। राजा काष्ठागारने उसके वधका आदेश दिया। कुमारने यक्षका स्मरण किया। यक्ष कुमारको चन्द्रोदय पर्वत ले गया। वहाँ उन्हे तीन मन्त्र दिये और एक वर्षमें राजा होनेकी भविष्यवाणी की। जीवन्धर कुमार वहाँसे चलकर एक वनमे आया, जहाँ दावाग्निसे बहुत-से हाथी जल रहे थे। कुमारके जिनेन्द्र स्तवन द्वारा मेघवृष्टि कर दावाग्निको शान्त किया। तीर्थवन्दना करते हुए कुमार चन्द्रप्रभा नगरीमें आया, जहाँ धनमित्रकी पुत्री पद्मासे विवाह किया।—पंचम लम्ब

चन्द्रप्रभा नगरीसे चलकर कुमार दक्षिण देशके सहस्रकूट चैत्यालयमें आया और यहाँ चैत्यालयके बन्द किवाड़ोंको अपने स्तुतिबलसे खोला, जिससे क्षेमपुरीके सुभद्र सेठकी पुत्री क्षेमश्रीके साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ।—षष्ठ लम्ब

क्षेमपुरीमें कुछ दिन रहनेके अनन्तर कुमार जीवन्धर माया नगरीके समीप पहुँचा और वहाँके दृढमित्र राजाके पुत्रोंको धनुर्विद्या सिखलायी। राजाने प्रसन्न होकर अपनी कन्या कनकमालाके साथ जीवन्धरका विवाह कर दिया।—सप्तम लम्ब

क्षेमपुरीमें जीवन्धरकी भेंट नन्दभाईसे होती है। वह सुनाता है कि गन्धर्वदत्ताने अपने विद्याबलसे मुझे यहाँ भेजा है तथा वह गन्धर्वदत्ताका पत्र भी देता है। इसी समय पद्मास्य आदि मित्र भी कुमारसे मिलते हैं और दण्डकारण्यमें माता विजयाके निवास करनेका समाचार देते हैं। कुमार माताजीके दर्शन करता है और उन्हें अपने मामाके यहाँ भेज देता है। वह राजपुरीमें लौटता है, और वहाँ सागरदत्तकी कन्या विमलाके साथ विवाह करता है।—अष्टम लम्ब

कुमारसे बुद्धिषेणने कहा—'पुरुषोंकी छायासे भी घृणा करनेवाली सुरमंजरीके साथ विवाह करो, तभी तुम्हारी विशेषता मानी जा सकती है।' कुमार यक्ष द्वारा प्रदत्त विद्याबलसे वृद्ध ब्राह्मणका वेश धारण कर सुरमंजरीके यहाँ गया और उसे प्रभावित

कर कामदेवके मन्दिरमें ले गया। वहाँ कामदेवकी पूजा करते समय उसने कुमार जीवन्धरको प्राप्त करनेकी याचना की। कुमारने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और सुरमंजरीका कुमारके साथ विवाह हो गया।—नवम लम्ब

सुरमंजरीसे विवाह होनेके उपरान्त कुमार अपने धर्म माता-पिता सुनन्दा और गन्धोत्कटके यहाँ आया और परिवारसे मिलकर प्रसन्न हुआ। जीवन्धरने राज्यप्राप्तिके लिए उनसे सलाह की। पश्चात् वह धरणीतिलका नगरीके राजा अपने मामा गोविन्दराजके पास गया। मामा गोविन्दराजने राजपुरीको ससैन्य प्रस्थान किया और वहाँ नगरके बाहर मण्डप तैयार कर चन्द्रक यन्त्र बनवाकर घोषणा की कि जो व्यक्ति इस यन्त्रका भेदन करेगा, उसके साथ लक्ष्मणाका विवाह किया जायेगा। अनेक राजकुमारोंने प्रयास किया, पर असफल रहे। अन्तमें जीवन्धरने यन्त्रका भेदन किया। गोविन्दराजने समस्त व्यक्तियोंको कुमार जीवन्धरका परिचय कराया। काष्ठांगारने रुष्ट होकर युद्ध किया और वह मारा गया। जीवन्धर कुमार राजा हो गया और नन्दको युवराजपद दे दिया गया। कुमारका विवाह भी लक्ष्मणाके साथ सम्पन्न हो गया।—दशम लम्ब

जीवन्धर अपनी आठो स्त्रियों सहित जलक्रीडा के लिए गये। वहाँ एक वानरवानरीके प्रेमकलहको देखकर उनके मनमे विरक्ति हुई अतः राज्यमें आकर उन्होंने गन्धर्वदत्ताके पुत्र सत्यन्धरको राज्यभार प्रदान किया। पश्चात् दीक्षित हो तपश्चरण कर निर्वाण लाभ किया।—एकादश लम्ब

कथावस्तुका स्रोत और गठन

क्षत्रचूडामणिकी कथावस्तु कवि परमेष्ठीके वागर्थसंग्रह[1]से ग्रहण की गयी प्रतीत होती है। उत्तरपुराणमे भी जीवन्धर चरित आया है।[2] कविने गद्यचिन्तामणिके प्रारम्भमे कथास्रोतका निर्देश करते हुए लिखा है—

> इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्रवं शृण्वतां
> तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः।
> विद्यास्फूर्तिविधाय धर्मजननीत्राणीगुणाभ्यर्थिनां
> वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्‌मयसुधावर्षेण वाक्सिद्धये ॥
> —ग० चि० श्लो० १५

क्षत्रचूड़ामणिकी कथावस्तुमें और उत्तर पुराणकी कथावस्तुमें निम्नलिखित अन्तर है—

१—क्षत्रचूड़ामणिमें मयूर यन्त्रका नाम आता है, पर उत्तरपुराणमें गरुड[3] यन्त्रका नाम आया है।

---

[1] जैनसिद्धान्त भास्कर॥

[2] उत्तरपुराण, भा० ज्ञा० पी० काशी, १९५४ ई०, ७५ वें पर्वके १८८ वें पद्यसे ६६१ वे पद्यतक।

[3] वही ७५।२२४।

२—क्षत्रचूड़ामणिमें राजा मयूरयन्त्रको संचालित कर रानीको बैठाता है, जब कि उत्तरपुराणमें रानी स्वयं ही वंशरक्षाके हेतु यन्त्रको संचालित कर आकाशमें चली जाती है।[1]

३—क्षत्रचूड़ामणिमें रानी पुत्रको राजनामांकित अंगूठी सहित छिपा देती है, उत्तर पुराणमे रानी स्वयं अपना परिचय देकर गन्धोत्कटको पुत्र समर्पित करती है।[2]

४—उत्तरपुराणमें जीवन्धरके गुरुका नाम आर्यवर्मा आया है, पर क्षत्रचूड़ामणिमे आयनन्दी नाम आया है। आर्यवर्मा गन्धोत्कटसे अपनी आत्मकथा कहता है, पर क्षत्रचूड़ामणिमें आर्यनन्दी जीवन्धरको अपना इतिवृत्त सुनाता है।

५—उत्तरपुराणमें गोपकन्याका नाम गोदावरी आया है और जीवन्धरने उसका विवाह अपने छोटे भाई नन्दाढयसे कराया है, पर क्षत्रचूडामणिमे उसका नाम गोविन्दा बताया है और विवाह पद्मास्यके साथ हुआ है।

६—इसी प्रकार क्षत्रचूडामणिमे राज्यप्राप्तिके लिए मामा गोविन्दराज द्वारा जीवन्धरको सहायता प्राप्त होने एवं उनकी कन्या लक्ष्मणाके स्वयंवरकी चर्चा आयी है, पर उत्तर पुराणमें स्वयं ही गोपेन्द्र अपनी कन्या रत्नवतीको लेकर राजपुरमे आता है, और वहाँ स्वयंवर करता है। जीवन्धर द्वारा चन्द्रकयन्त्रका भेदन होनेपर काष्ठागार नाराज होता है। जीवन्धर इस समय ही अपना परिचय स्वयं प्रस्तुत करता है। सामन्त जीवन्धरका साथ देते है, फलतः काष्ठागार मारा जाता है और राजपुरीका राज्य जीवन्धरको प्राप्त हो जाता है। उत्तर पुराणमे विरक्तिका हेतु बन्दरोंका लड़ना है, जबकि क्षत्रचूडामणिमें वानर-वानरीका प्रेमकलह हे।

इस प्रकार उत्तर पुराणके कथानकमें पर्याप्त अन्तर है, कविने काव्योचित रूप देनेके लिए कल्पनाका यथेष्ट उपयोग किया है।

क्षत्रचूडामणिमे आया हुआ आर्यनन्दीका इतिवृत्त समन्तभद्रके इतिवृत्तसे मिलता-जुलता है। इस प्रकार गोविन्दा पद्मास्यसे विवाह करती है, उसका विवाह भी श्रीकृष्ण और राधाके विवाहके समान ही प्रतीत होता है। गन्धर्वदत्ताको जीवन्धर घोषवती वीणा बजाकर परास्त करता है। स्वप्नवासवदत्तं नाटकमे यह घोषवती वीणा वासवदत्ताकी प्रेमवीणा है, उदयन वासवदत्ताको इसी वीणा द्वारा वीणावादन सिखलाता था। अत. नाटकके छठवें अंकमे वीणा प्राप्त होनेपर राजाको सन्ताप प्राप्त होता है।[3]

कथावस्तुका गठन सुन्दर हुआ है। प्रत्येक सन्दर्भमे प्राय. अर्थान्तरन्यास अलंकारकी योजना की गयी है। पौराणिक कथानकोमे परिवर्तन करनेसे कविने कथानकोंके

---

१. उत्तरपुराण ७५।२२४।

२. वही, ७५।२४४।

३ चिरप्रसुप्त कामो मे वीणया प्रतिबोधित ।
तां तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया ॥
—स्वप्नवासवदत्तम्, रामनारायणलाल, इलाहाबाद १६६१ ई०, ६।३।

संघटनमें अन्वितिका परिचय दिया है। विरक्तिमें वानर-वानरीके प्रेम-कलहका हेतु बनना, विषयोंसे विरक्तिका तर्कपूर्ण समाधान है। कथानकमें आद्यन्त प्रवाह और तथ्योंको मनोरंजक रूपमे प्रस्तुत किया गया है। विषयासक्तिके दुष्परिणाम, रोमान्स, साहसपूर्ण कार्य, उदारता और आत्मनिरीक्षण प्रभृति तथ्योंको सुन्दर योजना की गयी है।

काव्यगुण

क्षत्रचूडामणिमे कथावस्तुकी जितनी रमणीयता एवं व्यापकता है, उतने ही अनुपातमें काव्यगुण भी इस काव्यमें निहित है। जीवनके मर्मोंका उद्घाटन अनेक स्थलोंपर हुआ है। जीवन्धरको जब हेमाभा नगरीमें अपनी माताके जीवित रहनेका समाचार प्राप्त होता है तो वह प्रसन्नतासे भर जाता है। कविने इस सन्दर्भ में मातृ-पुत्र वात्सल्यका सुन्दर चित्रण किया है।

मातुर्जीवन्मृतिज्ञानात् तत्त्वज्ञः सोऽप्यखिद्यत ।
जीवानां जननीस्नेहो, ह्यन्यैः प्रतिहन्यते ॥क्ष० ८।४८
व्यस्मारि मातरि स्नेहान्मान्यनान्यदशेषतः ।
रागद्वेषादि तेनैव, बलिष्ठेन हि बाध्यते ॥क्ष० ८।५०

अर्थात्—जीवन्धरको यह निश्चय हो चुका था कि माताका स्वर्गवास हो चुका है, पर अपने मित्रोंसे उनके जीवित रहनेका समाचार जानकर अपने अज्ञानपर दुःखी हुए, क्योंकि प्राणियोका मातृविषयक प्रेम किसीसे भी नष्ट किया जा सकता है। अतः तत्काल जीवन्धर कुमार माताके दर्शनार्थ चल दिया।

जीवन्धर कुमारको माताके विषयमें इतना अधिक स्नेह हुआ, जिससे वे अन्य कार्य या बात करना भूल गये। यह सत्य है कि किसी वस्तुमे अतिशय अनुराग होनेसे अन्य अनिष्ट वस्तुओका द्वेष और इष्ट वस्तुओमें प्रेम उतने समयके लिए शिथिल हो जाता है।

कविने इस सन्दर्भमे जीवन्धर कुमारकी मातृदर्शनसे उत्पन्न जिस विभोर अवस्थाका चित्रण किया है, वह समस्त बाह्य वस्तुओंकी सुधि-बुधि भुलानेवाली है। मातृदर्शनसे पुत्रको अपूर्व प्रसन्नता होती है।

जीवन्धर वृद्ध ब्राह्मणका वेष धारण कर नगरका परिभ्रमण करता है और सुरमंजरीके भवनमें पहुँचकर भोजन करता है। अनन्तर मनोहर गाना गाता है, कविने इस मनोहर गानका हृदयस्पर्शी चित्रण किया है—

भुवनमोहनं गान-मगामीदथ गानवित् ।
परस्परातिशायी हि, मोहः पञ्चेन्द्रियोद्भवः ॥क्ष० ९।१२

शयनके अनन्तर वृद्धवेषधारी जीवन्धरने श्रोताओंको मोहित करनेवाला गाना गाया; क्योंकि प्राणियोंको प्राय पाँचों इन्द्रियोके विषयमें एक दूसरेको अधिकता लिये हुए मोह हुआ करता है। तदनुसार उक्त वृद्धको भी औरोंकी अपेक्षा अधिक मोह था।

जब कामदेवके मन्दिरमें वृद्ध वेषधारी जीवन्धर अपना वास्तविक रूप प्रकट करता है तो सुरमंजरीकी विचित्र स्थिति हो जाती है। यह स्थिति कुमारसम्भवके पंचम सर्गमें वर्णित ब्रह्मचारी वेषधारी शिवके पार्वतीके समक्ष प्रकट होनेपर पार्वतीको आश्चर्यचकित स्थितिसे तुलनीय है।

कुमारं दर्शिताकारं दृष्ट्वा जिह्वाय तत्क्षणे।
मृतकल्पा हि कल्पन्ते, निर्लज्जा निष्कृपा इव ॥ क्ष० ९।३४

'कामदेवके मन्दिरमें सुरमंजरी द्वारा जीवन्धर-वर-प्राप्तिकी याचना किये जानेपर जीवन्धर वृद्ध ब्राह्मणके वेषको छोड़ निज रूप प्रकट करते है। इस रूपको देखते ही सुरमंजरी स्तब्ध हो जाती है, वह लज्जाके कारण पृथ्वीमें धँसने लगती है। यतः निर्लज्ज मनुष्य और दयाहीन व्यक्ति मृतकके तुल्य माने जाते हैं। अतः सुरमंजरीका लज्जित होना स्वाभाविक है।

इस काव्यके मर्मस्थलोंमें एक मर्मस्थल वानर-वानरीका प्रेमकलह भी है। कविने बताया है कि एक वानरकी पत्नी वानरीने देखा कि उसके पतिने अन्य वानरीसे सम्भोग किया है, अतः वह अपने पति वानरसे रूठ जाती है। वानर भी बड़ा चालाक है, अतः वह बहानाकर मृतवत् पड जाता है। वानरी भयभीत होती है और उसकी खुशामद करने लगती है।

अन्यसंपर्कतः क्रुद्धां मर्कटीं कोऽपि मर्कटः।
प्रकृतिस्थां बहूपायैर्नाशकत्कर्तुमुद्यत. ॥ क्ष० ११।२४
ततः शाखामृगोऽप्यासीन्मायिको मृतवद्वशः।
तदवस्थां भयग्रस्तां, वानरीयमपाकरोत् ॥ ११।२५

कविने काव्यत्व लानेके लिए वसन्त और जलक्रीड़ाका संक्षिप्त वर्णन भी किया है, पर महाकाव्यों जैसा काव्य चमत्कार नहीं आ सका है। यथा—

माधवोऽथ जलक्रीडां पौराणामुदपादयत्।
रागान्धानां वसन्तो हि, बन्धुरग्नेरिवानिलः ॥ क्ष० ५।१

विषयानुरागियोंको विषयानुरागवर्धक वसन्तका आगमन हुआ, अतएव पुरवासियोने जलक्रीडा करना आरम्भ किया। यह वसन्त विषयानुरागका उसी प्रकार वर्धक है, जिस प्रकार वायु अग्नि का।

इस काव्यकी प्रमुख विशेषता सूक्ति वाक्य या नीतिवाक्यों की है। प्रत्येक पद्यमें कोई न कोई सूक्ति निबद्ध की गयी है। 'सौभाग्यं हि सुदुर्लभम्' (१ ८) सौभाग्यका होना अति कठिन होता है; 'अविचारितरम्यं हि रागान्धानां विचेष्टितम्' (१।१३) विषयोंमें मोहित मनुष्योके कार्य बिना विचार किये ही अच्छे प्रतीत होते हैं, 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' (१।१९) विचार कर्मोंके अनुकूल होता है; 'प्रदीपैर्दीपिते देशे, न ह्यस्ति तमसो गतिः' (१।३१), 'दोषं नार्थी हि पश्यति' (१।५२) स्वार्थी व्यक्ति दोष नहीं देखता है; 'सौभ्रात्रं हि दुरासदम्' (१।१०७) योग्य भाईका मिलना

कठिन है; 'आशाब्धिः केन पूर्यते' (२।२०) 'आशारूपी समुद्र किसके द्वारा पूर्ण किया जा सकता है', 'अमूलस्य कुतः स्थितिः' (२।३३) बिना जडके वस्तुकी स्थिरता कहाँसे हो सकती है; 'कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः' (६।५०) रसायनके सम्बन्धसे लोहा भी स्वर्ण रूप हो जाता है; 'सौगन्धिकस्य सौगन्ध्यं, शपथात्किं प्रतीयते' (६।४७), 'सुतप्राणा हि मातरः' (८।५४) माताओंके पुत्र ही प्राण होते हैं; 'स्वभावो न हि वार्यते' (१०।५१), 'केनाङ्गारविशुद्धता' (१०।५२) एवं 'महिषैः क्षुभितं तोयं, न हि सद्यः प्रसीदति' (१०।५७)—भैंसाओं द्वारा गन्दा किया गया जल शीघ्र स्वच्छ नही होता है, आदि शताधिक अमूल्य सूक्तियाँ आयी हैं।

शत्रुंजयमाहात्म्य[1]

पन्द्रह सर्गोंमें निबद्ध शत्रुंजयमाहात्म्य नामका काव्य धनेश्वरसूरि द्वारा लिखित है। यह काव्य वैदिक परम्पराकी पुराण शैलीपर लिखा गया है और घटनाओंका वर्णन भविष्यत्कालके रूपमे किया गया है। इस काव्यका नायक कोई व्यक्ति नही है, कविने शत्रुंजय तीर्थकी महत्ता प्रकट करनेके लिए तीर्थोद्धारकोंका चरित्र चित्रित किया है। अतः उक्त तीर्थका पुनरुद्धार करनेवाले १८ राजाओंका वर्णन आया है। तीर्थ शत्रुंजयका विकास, पुनरुद्धार और समय-समयपर भक्तों द्वारा किये गये कार्योंका चित्रण काव्यके परिप्रेक्ष्यमे इस प्रकार किया गया है, जिससे 'शत्रुंजय'में एकार्थ काव्यके गुण घटित हो जाते है।

रचयिता

शत्रुंजयमाहात्म्यके रचयिता धनेश्वरसूरि चन्द्रगच्छके आचार्य थे। ये बड़े तपस्वी और लब्धियोंसे युक्त थे। इन्होंने वलभीपुरके शिलादित्यको सम्बोधित किया था। इस शिलादित्यने अपने राज्यमे बौद्धोंको निर्वासित कर जैन चैत्यालयोंकी स्थापना की थी।[2] कविने इन्हें यदुवंशका भूषण कहा है।[3]

ग्रन्थारम्भमें कविको सर्वांग योग निपुण, प्रबुद्धात्मा, वैराग्य सार और सर्वविद्याविशारद कहा है। इन्हें राजगच्छका मण्डन भी बताया है। यहाँ राजगच्छसे भी कविका अभिप्राय शशिगच्छ—चन्द्रगच्छसे है। धनेश्वर चन्द्रगच्छके आचार्य, नाना शास्त्र और पुराणोंके ज्ञाता हैं। प्रशस्तिसे यह भी ज्ञात होता है कि वि० सं० ४७७ में कविने शत्रुंजयमाहात्म्यको शिलादित्य नरेशको सुनाया है।[4] प्रबन्धचिन्तामणिमें

---

[1] शोहोरनिवासी प्रभुदासात्मज पोपटलाल द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, वि० स० १६६५।

[2] इतश्च लब्धिसपन्न' सर्वदेवमयो गुरु'। शशिगच्छाम्बुधिशशी सूरिर्भावी धनेश्वर' ॥१८४॥
सोऽनेकतपसा पुण्यो बल्लभीपुरनायकम्। शिलादित्यं जिनमते बोधयिष्यति पावने ॥१८५॥
—शत्रु० अ०, १५ सर्ग, पत्र २६१।

[3] श्रीश्रीमान् यदुवंशभूषणमणि राजा शिलादित्य। श० १५।२५१।

[4] सप्तसप्ततिमब्दानामतिक्रम्य चतु शतीम्। विक्रमार्काच्छिलादित्यो भविता धर्मवृद्धिकृत्॥ श० १५।१८७

शिलादित्यकी उत्पत्तिकी एक कथा भी आयी है[1] और इसके समयमें बौद्ध और जैनोंके शास्त्रार्थकी बात भी कही गयी है।

प्रबन्धचिन्तामणिके चमत्कारपूर्ण उक्त आख्यानकी ऐतिहासिकतामें सन्देह उत्पन्न होता है। यदि यह भी मान लिया जाये कि शिलादित्य नामका कोई राजा हुआ भी है, तो धनेश्वरसूरिका उससे सम्बन्ध रहा है, यह अत्यन्त शंकास्पद है। ऐसा प्रतीत होता है कि कविने अपने शत्रुंजयमाहात्म्यको प्रसिद्ध करनेकी दृष्टिसे उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा है।

वलभीके ताम्रपत्रमें सात शिलादित्योंके नाम आये हैं। कथावली, प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, चतुर्विंशति प्रबन्ध आदि किसी भी ग्रन्थमें इस बातका निर्देश नहीं आया है कि किस प्रभावक आचार्यने उक्त शिलादित्यको प्रतिबोधित किया। शत्रुंजयमाहात्म्यका निर्देश भी सोलहवीं शताब्दीके पहलेके किसी ग्रन्थमें नहीं मिलता है। प्रबन्धचिन्तामणि, प्रभावकचरित प्रभृति ग्रन्थोंमें मल्लवादिसूरिका[2] प्रबन्ध आया है। इस प्रबन्धमें जैन-बौद्ध शास्त्रार्थ एवं शत्रुंजयके उद्धार किये जानेका निर्देश है, पर धनेश्वरसूरि और उनके द्वारा रचित शत्रुंजय काव्यका कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः यह अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है कि धनेश्वरसूरि उक्त शिलादित्यका समकालीन नहीं है और न मल्लवादिके साथ उसका सम्बन्ध ही है। अतएव धनेश्वरसूरिका समय वि० सं० ४७७ तो निश्चयतः नहीं है। डॉ० एच० एल० जैनने[3] धनेश्वरसूरिका समय ई० ७-८ शती बताया है, पर ग्रन्थावलोकनसे यह समय भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। यतः इस काव्यमें तीर्थोद्धारकके रूपमें अनेक प्राचीन राजाओंके साथ भविष्यरूपमें कुमारपाल, वाहड, वस्तुपाल और समरसिंहका भी उल्लेख आया है।[4]

श्री कनकसूरिने वि० सं० १३९३ में नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्धकी रचना की है। उसमें मुख्यरूपसे समरसिंह द्वारा शत्रुंजयके उद्धार करनेका वर्णन है। इसमें भरत, सगर, पाण्डव, जावड और वाहड द्वारा शत्रुंजयके ऊपर मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया गया है। प्रभावकचरितमें भी इस घटनाका उल्लेख है। वि० सं० १३६९ में म्लेच्छोंने शत्रुंजयका विध्वंस किया। समरसिंहने इस क्षेत्रका जीर्णोद्धार कराके आदिजिनकी वि० सं० १३७१ में माघशुदि चतुर्दशीको उकेशगच्छीय सिद्धसेनसूरि द्वारा

---

[1] प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन, वि० सं० १९८९, पृ० १०७-१०९।

[2] प्रबन्धचिन्तामणि, शान्तिनिकेतन, वि० सं० १९८९, पृ० १०६, प्र० २००-२०१।
तथा– प्रभावकचरित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता, वि० स० १९९७, पृ० ७७।

[3] 'भारतीय संस्कृतिमें जैन धर्मका योगदान', मध्यप्रदेश शासन परिषद्, भूपाल, सन् १९६२ ई०, पृ० १७६।

[4] तत' कुमारपालस्तु बाहडो वस्तुपालक.।
समराद्या भविष्यन्ति, शासनेऽस्मिन् प्रभावका' ॥—शत्रु० अ० १४।२८८, पत्र २६१।

प्रतिष्ठा करायी थी। अतएव शत्रुंजयमाहात्म्यके रचयिता धनेश्वरसूरिका समय कुमारपाल वाहड, वस्तुपाल और समरसिंहके पश्चात् होना चाहिए। अतः कविका समय ई० सन् १३वी शती आता है। कवि धनेश्वर चन्द्रगच्छीय हैं और इस गच्छमें चन्द्रप्रभसूरिके शिष्य धनेश्वर विक्रम संवत्की १२वीं शतीके अन्तसे १३वीं शतीके मध्य भागतक रहे हैं। अतएव प्रस्तुत काव्यका रचयिता धनेश्वर उक्त धनेश्वरसूरिसे अभिन्न है।

काव्यकी कथावस्तुका सार

प्रथम सर्गमें चन्द्रपुरके स्वामी कण्डु नृपतिका चरित वर्णित है, जिसने शत्रुजयकी यात्रा कर पवित्रता प्राप्त की थी। द्वितीय सर्गमें गिरिदुर्गके निवासी सूर्यमल और उसकी महिषी शशिलेखासे उत्पन्न देवपाल और महिपाल नामके दो पुत्रोंमेसे महिपालके साहसिक कार्योंका बहुत विस्तारके साथ निरूपण किया गया है। कल्याण सुन्दरकी पुत्री गुणसुन्दरीके साथ विवाह सम्पन्न होनेपर महिपालको कुष्ठव्याधि हो गयी, जिसे उसने शत्रुजयकी यात्रा द्वारा दूर किया। तृतीय सर्गमें ऋषभदेवका चरित वर्णित है। चतुर्थ सर्गमे बाहुबली और भरतके संग्रामका वर्णन है तथा भरत द्वारा चक्ररत्नका प्रयोग किये जानेपर बाहुबलीकी विरक्तिका निरूपण किया गया है। पंचम सर्गमें भरत द्वारा की गयी शत्रुजयकी यात्रा एवं छठें सर्गमें ऋषभदेव और भरतके निर्वाणका कथन है। सप्तम सर्गमें ऋषभदेवके एक पुत्र द्रविडका वर्णन आया है, जिसके नामसे द्रविड़ देश ख्यात हुआ है। द्रविडके दो पुत्र हुए, द्राविड और बालिखिल्ल। इन दोनोंके आख्यानके साथ भरतके वंशज दण्डवीर्य द्वारा शत्रुजयके उद्धारका निरूपण है। अष्टम सर्गमे अजितनाथ तीर्थंकरके साथ चक्रवर्ती सगरका भी चरित वर्णित है। सगरके वंशज भगीरथके द्वारा सम्पन्न गंगावतरणकी कथा भी आयी है। नवम सर्गमें राम आदि महापुरुषोका चरित अंकित है। इस वंशके यहाँ ४० राजाओंके नाम आये हैं। वंशावलीके अनन्तर रामका आख्यान है।

दशम सर्गमें रैवतगिरिकी प्रशंसाके अनन्तर भीमसेनका चरित वर्णित है। यह भीमसेन पाण्डव भीमसेनसे भिन्न है। यह श्रावस्तीके राजा वज्रसेनकी सुभद्रा नामकी पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुआ है। पिताने इसे युवराज पद दिया, पर द्यूतक्रीड़ाके व्यसनके कारण इसने प्रजाको बहुत कष्ट दिया। जब मन्त्रियोंने राज्यकी दुरवस्था देखी, तो भीमसेनको सिंहासनसे च्युत कर देशसे निष्कासित कर दिया। भीमसेन राज्यसे निकलकर मगध देशके पृथ्वीपुर नगरमें आया और एक मालीके यहाँ दास कर्म करने लगा। चोरी करनेके कारण यहाँसे निकाला गया। पश्चात् वह एक सेठकी नौकरी करने लगा। समुद्र यात्रामें वह सेठके साथ रहता है। यहाँसे भीमसेनका साहसिक जीवन आरम्भ होता है। कविने उसे रुचिकर शैलीमें कौतूहल वर्धक ढंगसे नाना घटनाओंके साथ निरूपित किया है। अनेक प्रकारकी साहसिक घटनाओंके बीच चलता हुआ

भीमसेन अपने राज्यमें आता है। छोटा भाई, जिसे मन्त्रियोंने राज्याधिकारी बनाया था, भीमसेनका स्वागत करता है और उसे राज्य सौंप देता है। अनन्तर इसी सर्गमें हरिवंशके प्रधानपुरुष नेमिनाथ, श्रीकृष्ण आदिके आख्यान निबद्ध हैं। ग्यारहवें सर्गमें पाण्डवोंकी द्यूतक्रीड़ा और वनवासका कथन है। बारहवें सर्गमें पाण्डवोके संग्रामका अंकन है। तेरहवें सर्गमें भगवान् नेमिनाथके दीक्षादि कल्याणकोका निरूपण किया है। चौदहवें सर्गमें पार्श्वनाथकी कथा और पन्द्रहवे सर्गमें शत्रुजयके उद्धारक जावडका चरित अंकित है तथा भविष्यत्कालके रूपमे कुमारपाल, वस्तुपाल और वाहडका कथन आया है। इस काव्यमें शत्रुजय तीर्थके उद्धारक निम्नांकित राजाओंका वर्णन है—

१–प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके समयमे भरत चक्रवर्ती द्वारा।
२–भरत चक्रवर्तीके वंशज दण्डवीर्य द्वारा।
३–सीमन्त स्वामीके उपदेशसे ईशानेन्द्र द्वारा।
४–माहेन्द्र नामक चतुर्थ स्वर्गके इन्द्र द्वारा।
५–पाँचवें स्वर्गके ब्रह्मेन्द्र द्वारा।
६–भवनवासियोके इन्द्र चमरेन्द्र द्वारा।
७ अजितनाथके समयमें सगर चक्रवर्ती द्वारा।
८–व्यन्तरेन्द्र द्वारा।
९–चन्द्रप्रभके तीर्थकालमें चन्द्रयश नृपति द्वारा।
१०–शान्तिनाथके तीर्थकालमें उन्हीके पुत्र चक्रायुध द्वारा।
११–मुनि सुव्रतके तीर्थकालमें रामचन्द्र द्वारा।
१२–नेमिनाथके तीर्थकालमें पाण्डवों द्वारा।
१३–पचमकालमे भावडशाहके पुत्र जावडशाह द्वारा।
१४–वि० सं० ४७७ मे शिलादित्य द्वारा।
१५–कुमारपाल द्वारा।
१६–वाहड—वाग्भट मन्त्री द्वारा।
१७–वस्तुपाल द्वारा।
१८–समर द्वारा।

काव्यगुण

अनुष्टुप् छन्दमें काव्यकी रचना सम्पन्न हुई है। सर्गान्तमे छन्द परिवर्तन भी हुआ है तथा उपजाति, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित जैसे छन्द प्रयुक्त हैं। कथावस्तुको सरस बनानेके लिए बीच-बीचमे नीतिश्लोक भी प्रयुक्त हैं। यथा—

तावद्बलं महत्तावत् तावत्कीर्तिरखण्डिता।
यावत्पुराकृतं पुण्यं न ग्लानिमधिगच्छति ॥१।९५

द्राविड और बालिखिल्लके मध्यमें सम्पन्न हुए संग्रामका रोमांचकारी वर्णन किया गया है। यह युद्ध सात महीने तक चला और दस करोड़ व्यक्ति मारे गये। कविने योद्धाओंके उत्साहका वर्णन करते हुए लिखा है—

गृध्रफेरववेतालशाकिनीप्रेतरक्षकान्।
अलोभयत्परो वीरो रिपुमांसैरनेकधा ॥७।६७॥
स्थलेऽपि रुधिराम्भोधिः संचरिष्णुरितस्ततः।
उच्छलद्वाजिकल्लोलो बभूव गजमूध्नमत् ॥७।६८, श०मा० पत्र ११९

दृश्यवर्णनमें कविको सफलता मिली है। वन, पर्वत, सरोवर और रात्रि, सन्ध्या आदिका वर्णन आह्लादजनक है। रैवतक गिरिका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

यश्चानेकतमःस्तोमतिरस्कारविभाकरः।
अदोषाकरकृद्विश्वे कमलोल्लासभासुरः ॥१०।११
चमरीभिश्चामरीभिर्वीज्यते व्यजनैस्तु यः।
सर्वदा सवदः सर्वपर्वतग्रामवादिव ॥१०।१५

स्पष्ट है कि वस्तुवर्णनमे कविने कल्पनाका पूरा उपयोग किया है। दृश्ययोजना, घटना-विकास और परिस्थिति निर्माण ये तीनों ही अवयव वस्तुवर्णनोके रूपमें प्रस्फुटित हुए हैं। चरित्र चित्रणमें कविने कौशल प्रदर्शित किया है। जब बाहुबलीको भरतको सेवा करनेके लिए कहा जाता है, तो वह उत्तर देता है—"पिताजीने राज्यका बँटवारा हम लोगोके बीच किया है, भरत अपने हिस्सेसे सन्तुष्ट नहीं है, अतः वह समस्त पृथ्वीका राज्य लेना चाहते है। यदि वे क्षत्रियोचित वीरताका प्रदर्शन कर राज्य लेना चाहे, तो ले सकते है। जब मुष्टि-युद्धमें भरत मूच्छित हो जाते हैं, तो बाहुबलीको चिन्ता उत्पन्न होती है। कविने उस सन्दर्भमें बाहुबलीके चरित्रका बहुत ही उदात्त रूप अभिव्यक्त किया है—

पुराश्रीतातपादाब्जैरर्थिभ्य इव संपदः।
अस्मभ्यं च प्रदत्तानि राज्यानि भरताय च ॥३।४८८
राज्येन वयमेतेन, संतुष्टाः पितृशासनात्।
असंतुष्टस्तु भरतो भरतं सर्वमग्रसत् ॥३।४८९
क्षात्रतो यदि गृह्णाति, तद् गृह्णातु महीमिमाम् ॥-।४९३

उक्त पद्योंमें बाहुबलीके चरित्रमें क्षात्रतेज, भ्रातृस्नेह एवं स्वाभिमान इन तीनों तत्त्वोंका समवाय निहित है।

काव्यकी भाषा सरल है। सीधे-सादे रूपमें कविने कथा-प्रवाहको गतिशील बनाया है। वस्तुवर्णनोंसे काव्यगुण चमत्कारपूर्ण बन गये हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, परिसंख्या, श्लेष आदि अलंकार भी पाये जाते हैं।

सुदर्शनचरितम्[1]

ब्रह्मचर्यकी निष्ठाके कारण सेठ सुदर्शनका जीवनवृत्त बहुत प्रसिद्ध है। अतएव संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषामें उक्त इतिवृत्तको लेकर कई काव्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रस्तुत एकार्थ काव्यके रचयिता भट्टारक सकलकीर्ति हैं। भट्टारक सकलकीर्तिका जन्म वि० सं० १४४३ (सन् १३८६ ई०) में हुआ था[2]। इनके पिताका नाम करमसिंह और माताका नाम शोभा था। ये हूँबड़ जातिके थे और अणहिलपट्टणके रहनेवाले थे[3]। गर्भमें आनेके समय माताको स्वप्न हुआ। पतिने इस स्वप्नका फल योग्य, कर्मठ और यशस्वी पुत्रकी प्राप्ति होना बतलाया।

बालकका नाम माता-पिताने पूर्णसिंह या पूर्नसिंह रखा था। एक पट्टावलीमें इनका नाम पदार्थ[4] भी पाया जाता है। इनका वर्ण राजहंसके समान शुभ्र और शरीर बत्तीस लक्षणोंसे युक्त था। पाँच वर्षकी अवस्थामें पूर्णसिंहका विद्यारम्भ किया गया। कुशाग्रबुद्धि होनेसे अल्प समयमें ही शास्त्राभ्यास पूर्ण कर लिया। माता-पिताने चौदह वर्षकी अवस्थामें पूर्णसिंहका विवाह कर दिया। पर इनका मन सांसारिक कार्योंके बन्धनमें बँध न सका। माता-पिताने पुत्रको बहुत समझाया पर उनका चित्त गृहस्थीमें न लगा। फलतः चार वर्षके अनन्तर अर्थात् अठारह वर्षकी अवस्थामें नेणवाँ (राजस्थान) मे पद्मनन्दि भट्टारकके पास संयम ग्रहण कर लिया[5]। चौत्तीस वर्षकी अवस्थामें कविको आचार्यपद प्राप्त हुआ।[6]

आचार्य सकलकीर्तिने बागड़ और गुजरात प्रान्तमे परिभ्रमण कर धर्मोपदेश दिया। नये मन्दिर बनवाये, प्रतिष्ठाएँ करायी। बलात्कार गण ईडर शाखाका आरम्भ इन्हींसे होता है। इनका समय विक्रम संवत्‌की पन्द्रहवी शती है।[7] इनके द्वारा रचित शान्तिनाथचरित, मल्लिनाथचरित, यशोधरचरित, धन्यकुमारचरित, सुकुमालचरित, जम्बूस्वामीचरित और श्रीपालचरित काव्योंके अतिरिक्त कई पुराण एवं आचार ग्रन्थ हैं।

---

[1] मराठी अनुवाद सहित, सोलापुर, सन् १९२७ ई० में प्रकाशित।

[2] चोऊदत्रितालि प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ। १४।—जैनसन्देश, शोधांक १६, पृ० १८२ का फुटनोट।

[3] न्याति महि मुहुत्तवंत हुँबड हरषि वरखाणिइए।
करमसिंह वितपन्न उदयवंत इम जाणिइए ।।३—वही, पृ० १८२ का फुटनोट।

[4] चौथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २६ छब्बीस श्रीसाह्य श्रीपदर्थपाटण नाता तीणि दीक्षा लीध्यी। --(म० यशःकीर्ति शास्त्रभण्डार ऋषभदेवकी एक पट्टावलि) जैन सन्देश शोधांक १६, पृ० १८३ का फुटनोट।

[5] देखें --जैनसन्देश शोधांक १६, पृ० २८३।

[6] वही, पृ० १८३-१८४।

[7] विद्याधर जोहरापुरकर--भट्टारक सम्प्रदाय, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, लेखांक ३३४, ३३० एवं पृ० १५८ पर अंकित बलात्कारगण ईडरशाखाका कालपट।

सुदर्शनचरितकी कथावस्तु

सुदर्शनचरितमें आठ परिच्छेद या सर्ग हैं। इसमें पुण्य पुरुष सुदर्शनका आख्यान अंकित है। बताया है कि भरत क्षेत्रके अंगदेशमें चम्पापुरी नगरी है। इस नगरीमें धात्रीवाहन राजा निवास करता था। इसकी पटरानीका नाम अभयवती था। इसी नगरीमें वृषभदास नामका सेठ रहता था, इसकी पत्नी जिनमती थी। इस सेठ दम्पतिको सुदर्शन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सेठ परिवारने पुत्र-जन्मोत्सव धूम-धामपूर्वक सम्पन्न किया। चम्पापुरीमें सागरदत्त नामका एक और भी सेठ रहता था, इसकी पत्नी सागरसेना थी। सागरदत्तने एक दिन अपने मित्र वृषभदाससे कहा—"यदि मेरे यहाँ पुत्रीका जन्म होगा, तो मैं उसका विवाह आपके पुत्रके साथ करूँगा, जिससे हमारा मैत्री सम्बन्ध चिरस्थिर रहेगा।" हुआ भी ऐसा ही, सागरदत्तको मनोरमा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई, जो रूपमें लक्ष्मी और ज्ञानमें सरस्वती थी।

पाँच वर्षकी अवस्थामें शुभ दिनमें सुदर्शनको विद्यारम्भ कराया गया। सुदर्शनने अपनी कुशाग्र प्रतिभाके कारण अल्प समयमें ही समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया। सुदर्शनका एक मित्र कपिल नामक पुरोहित पुत्र था। दोनों मित्रोंने साथ खेलकर शैशव काल व्यतीत किया। —प्रथम सर्ग या परिच्छेद

एक दिन सुदर्शन अपने मित्र कपिलके साथ राजमार्ग पर जा रहा था कि उसकी दृष्टि देवदर्शनके लिए जाती हुई मनोरमा पर पड़ी। उसके रूप-लावण्यको देखते ही सुदर्शन तन-मन खो बैठा। घर लौटकर वह एक शय्यापर पड़ गया। उसकी इस अस्वस्थताको देखकर माता-पिताको चिन्ता हुई। उन्होंने पुत्रके रोगका वास्तविक कारण जाननेके लिए कपिलसे जानकारी प्राप्त की। मनोरमाके रूपाकर्षणको हेतु समझ वृषभदास सागरदत्तके यहाँ गया और मनोरमाकी याचना की। सुदर्शनका मनोरमाके साथ विवाह हो गया।

एक समय उस नगरमें समाधिगुप्त नामके मुनिराज पधारे। सभी व्यक्ति उनके दर्शनके लिये गये। सेठ वृषभदास भी सपरिवार मुनिराजका धर्मोपदेश सुनने गया। उपदेश सुनते ही वृषभदासको विरक्ति उत्पन्न हो गयी। अतः वह अपने पुत्रको गृहभार सौंप आत्मकल्याणमें प्रवृत्त हुआ। सुदर्शनने भी गृहस्थके व्रत ग्रहण किये। उसने मनोरमाके अतिरिक्त संसारकी समस्त परस्त्रियोंका त्याग कर दिया[1]। वह श्मशान भूमिमें जाकर प्रतिमा योगकी साधना करने लगा।—द्वितीय परिच्छेद या सर्ग

एक दिन सुदर्शनके मित्र कपिलकी पत्नी कपिलाकी दृष्टि सुदर्शनपर पड़ी और वह उसके रूप-सौन्दर्यको देखकर मोहित हो गयी। जब कपिल ग्रामान्तरको चला गया तो उसने धोखेसे अपनी सखी द्वारा सुदर्शनके पास समाचार भिजवाया कि तुम्हारे मित्रको बहुत कष्ट है, अतः शीघ्र आइए। जब सुदर्शन कपिलाके यहाँ पहुँचा तो कपिलाकी

---

[1] मनोरमां विना सर्वाः स्त्रियो मे जननीसमाः। —सु० २।६७

कामुक प्रवृत्तिको देखकर तथा उसके द्वारा रतिकी याचना सुनकर वह आश्चर्य-चकित हो गया और उसने कहा कि मैं तो नपुंसक हूँ, यह शायद आपको मालूम नहीं[1]। इस प्रकार बहाना बनाकर सुदर्शनने अपने शीलकी रक्षा की।

एक समय वसन्तोत्सव मनानेके लिए राजा परिजन-पुरजन सहित वनमें गया। वहाँ रानी अभयमती भी अपनी सखियों सहित गयी। मार्गमें रथमें सवार सुदर्शनको मनोरमा और पुत्रों सहित देखा। सुदर्शनके रूपकी अभयमतीने प्रशंसा की। इसपर कपिलाने अपना समस्त इतिवृत्त रानीको सुना दिया। उसने रानीको चुनौती दी कि वह सुदर्शनके साथ संभोग करे, तो उसकी विशेषता समझी जायेगी। अन्तःपुरमें लौटनेके उपरान्त अभया रानीकी बुरी हालत हो गयी। उसने अपने मनकी बात पण्डिता दासीसे कही और किसी प्रकार सुदर्शनको महलमें ले आनेके लिए आग्रह किया। पण्डिता अपनी धूर्ततासे प्रतिमा योगमें स्थित सुदर्शनको राजभवनमें ले आयी। रानी अभयाने सुदर्शनके साथ अनेक कामचेष्टाएँ की, पर वह जितेन्द्रिय सुमेरुकी तरह अटल रहा। जब अभया प्रयास करते-करते थक गयी तो उसने पण्डितासे कहा—"इसे जहाँसे लायी हो, वहीं छोड़ आओ।" पण्डिताने उत्तर दिया—"अब प्रात होने जा रहा है, मैं इसे छोड़ने नहीं जा सकती।" इसपर रानीने स्वयं नखक्षत कर हल्ला मचाया कि धूर्त कपटी सुदर्शन सेठ मेरा शील नष्ट करने भवनमें घुस आया है। मेरी रक्षा कीजिए। रानीके क्रन्दनको सुनकर पहरेदारोंने सुदर्शनको पकड़ लिया। राजाने वधस्थल ले जाकर मार डालनेका तत्काल आदेश दिया। बधिकोंने जब सुदर्शनको तलवारसे मारना चाहा तो, उसके तलवारके घावोंसे दिव्यहार, पुष्पमालाएँ उत्पन्न हो गयीं। दैवी प्रभावने बधिकोंको कीलित कर दिया। शीलके प्रभावसे कौन सा कार्य नहीं हो सकता है।[2] —तृतीय परिच्छेद

सुदर्शनके ऊपर विपत्ति देखकर एक देव उसकी सहायताके लिए आया। जब राजा धात्रीवाहनको इस बातका पता लगा कि सुदर्शन मारनेसे मर नहीं रहा है और कोई देव उसकी सहायता कर रहा है, तो वह स्वयं चतुरंगिणी सेना लेकर आया। उस देवके साथ युद्ध हुआ। जब राजा पराजित हो गया और उस देव द्वारा तथ्यका पता लगा तो उसने सुदर्शनसे क्षमा माँगी। अभया स्वय अपने ही भयसे मरकर व्यन्तरी हुई और पण्डिता दासी भागकर पाटलिपुत्रकी एक वेश्याके यहाँ जाकर रहने लगी। सुदर्शनने राजाको धर्मका स्वरूप बताया। - चतुर्थ परिच्छेद

सुदर्शनने मुनिराजसे मनोरमाके ऊपर अपने प्रेमका कारण पूछा। मुनिराजने पूर्व भवोंका विस्तारसे वर्णन किया। —पंचम परिच्छेद

---

[1] तदाकर्ण्य सशीलोऽसौ बभाणेद शुभं वचः ।

[2] सुन्दरि त्वं न किं वेत्सि षण्डक मां स्मरान्तकम् ॥—३।१७
अहो शीलप्रभावेण सतां किं किं न जायते ।३।१२६

मुनिराजका उपदेश एवं अपनी पूर्व भवावलि सुनकर सुदर्शनको संसारसे विरक्ति हो गयी। अतः वह दीक्षा धारण कर तपश्चरण करने लगा। —षष्ठ परिच्छेद

सुदर्शन एकाकी विहार करता हुआ पाटलिपुत्रमें आया। वह श्मशानमें कायोत्सर्ग मुद्रामें ध्यान करने लगा। जब पण्डिता और उसको आश्रय देने वाली देवदत्ता वेश्याने देखा तो पूर्व वृत्तान्त स्मरण कर उसे विषयानुरागी बनानेका पूरा प्रयास किया, पर सुदर्शन अपने व्रतमें स्थिर रहा। नाना प्रकारके दिये गये उपसर्गोंको उसने सहन किया। — सप्तम परिच्छेद

सुदर्शन नाना देश और नगरोमे विहार करता हुआ तीर्थोंकी वन्दनाके लिए गया। पाटलिपुत्रमें अभया रानीके जीव व्यन्तरीने कहा—"अरे सुदर्शन, तुम्हारे ही कारण मैं मरण कर व्यन्तरी बनी हूँ। उस समय तुम्हारी किसी देवने रक्षा की थी। अब मैं देखती हूँ कि "तुम्हारी कौन रक्षा करेगा।" इस प्रकार कहकर उपसर्ग देना आरम्भ किया। उसने विक्रिया ऋद्धि द्वारा नाना प्रकारके कष्ट सुदर्शनको दिये, पर वह हिमालयकी चट्टानके समान अडिग रहकर सहता रहा। ध्यान बलसे कर्मोंकी निर्जरा कर केवलज्ञान प्राप्त किया और पौष शुक्ला पंचमीको निर्वाण प्राप्त कर लिया।
—अष्टम परिच्छेद

काव्यगुण

सुदर्शनके आख्यानका विस्तार दसवीं शतीसे अधिक दिखलाई पड़ता है। अपभ्रंशमें कवि नयनन्दि (वि० सं० ११००) का सुदसणचरिउ सरस काव्य है। सुदर्शन कामदेव एवं अन्तःकृत् केवली है। कवि सकलकीर्तिने सीधे और सरल रूपमें इस काव्यका प्रणयन किया है। इसमें मर्मस्पर्शी कई स्थल है, जिनमें अन्तर्द्वन्द्वोंका विकास बहुत अधिक हुआ है। कपिलाके यहाँ सुदर्शनके पहुँचनेपर एवं कपिला द्वारा कामोत्तेजनाओके उत्पन्न होनपर भी सुदर्शनकी दृढता किसके हृदयका स्पर्श न करेगी।

तद्धस्तं सा गृहीत्वा निधाय स्वस्य कुचोपरि।
तमित्थं प्रार्थयेत्कामशास्त्रस्थै दीनतया गिरा ॥३।१५

वसन्तोत्सवके समय अभयमती रानी सुदर्शनके अपूर्व लावण्यको देखकर विह्वल हो प्रतिज्ञा करती है—

भोगानुभवनं तेन करिष्यामि समं महत्।
नो चेन्मनं करिष्येऽह तच्छीलमञ्जनेऽक्षमा ॥३।३७
विधायेति प्रतिज्ञां सा गर्वारिकवलीकृता।
वनं जगाम निःशोका क्रमात्तद्रागरञ्जिता ॥३।३८
जलक्रीडादिकांस्तत्र कृत्वा ततो निजं गृहम्।
आगत्य स्मरदाहार्ता शय्यायां सापतद्द्रुतम् ॥३।३९

* * *

तथाविधं तमालोक्याक्षोभं राज्ञी परेष्र्यया ।
उत्थाप्य शयने स्वस्य व्यधात्कामसुखाप्तये ॥३।८६

हमें आश्चर्य और कौतूहल दोनों होते हैं कि जो सुदर्शन मार्गमें जाती हुई मनोरमाको देखकर मोहित हो गया था, वही सुदर्शन रानी द्वारा नाना प्रकारकी काम-चेष्टाएँ किये जानेपर भी विचलित नहीं होता है। सुदर्शनके चरित्रकी यह दृढ़ता और शीलकी अटलता काव्यका उदात्तीकरण है। कविने मुनि-अवस्थामें पाटलिपुत्रमें देवदत्ता गणिका द्वारा जो उपसर्ग दिखलाये हैं या जिन काम-चेष्टाओंका वर्णन किया है, वे पुनरुक्त जैसी प्रतीत होती हैं।

वीररसके संचारके लिए यक्ष और धात्रीवाहन राजाके युद्धका नियोजन कर वीरताका प्रदर्शन किया है। यक्षने राजाके हाथीको नष्ट कर दिया, राजा पुनः दूसरे हाथीपर सवार हुआ, उसको भी यक्षने मार दिया—

तत्प्रतापं विलोक्यान्यं चटित्वा द्विपमूर्जितम् ।
युद्ध्वानन्दंन यक्षोऽसौ गज राज्ञा न्यपातयत् ॥३।१५

इस प्रकार युद्धका सजीव चित्रण किया है। कविने सुदर्शनकी साधनाका रूपकमें निरूपण किया है—

ततो कब्धजयो योगी शीलसनाहवर्मितः ।
चारित्ररणभूमौ स गुणसैन्यपरिष्कृत. ॥८।३७
महाशयगजारूढो ध्यानखड्गो महाजयी ।
जयन् दुर्जयकर्मारीन्महासुमटवद् बभौ ॥८।३८

प्रस्तुत सन्दर्भमें शीलको कवच, चरित्रको रणभूमि, गुणस्थानारोहणको सेना, महाशयको गज, ध्यानको खड्ग, महाजयी मोहको शत्रुका रूपक देकर साधना मार्गमें ही रणका रूप उपस्थित किया है।

कविने शीलके चित्रणमें आठों कारकोंका नियोजन करते हुए कहा है—

शीलं मुक्तिवधूप्रियं भवहरं शीलं सशोकाः श्रिताः
शीलेनात्र समाप्यते शिवपद शीलाय तस्मै नमः ।
शीलान्नास्त्यपरः सुधर्मजनकः शीलस्य सर्वे गुणाः
शीले चित्तमनारत विदधतं मां शील मुक्तिं नय ॥३।११०

समस्त काव्य अनुष्टुप् छन्दमें निबद्ध है। सर्गान्तमें छन्द परिवर्तन हुआ है। शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, वंशस्थ छन्द भी सर्गान्तोंमें आये हैं।

भाषा सरल है और कथारस सर्वत्र प्राप्त होता है। प्रस्तुत काव्यमें काव्यके उत्कृष्ट चमत्कारका प्रायः अभाव है। प्रकृतिके रम्य रूप भी अंकित नहीं हो पाये हैं। सूक्तियाँ और धर्मोपदेश पर्याप्त मात्रामें हैं।

लघु काव्य

लघुकाव्योंके अन्तर्गत ऐसे काव्य परिगणित हैं, जिनमें कथाका विस्तार छह सर्गोंसे कम है यद्यपि कवियोंने इस श्रेणीके काव्योंमें भी जन्म-जन्मान्तरके उपाख्यान निबद्ध किये हैं, वर्तमान जीवनकी घटनाएँ भी अंकित हैं, पर एकार्थ काव्य जैसा कथा विस्तार नहीं है और न वस्तु-वर्णन ही व्यापक रूपमें उपस्थित किये गये हैं। उस कोटिके काव्योंको खण्ड काव्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि खण्डकाव्यको कथावस्तु बहुत सीमित जीवनके किसी एक अंगका ही स्पर्श करती है, जब कि इस श्रेणीके काव्योंकी कथावस्तु खण्डकाव्यकी अपेक्षा अधिक विस्तृत होती है। यह सत्य है कि इन काव्योंकी कथावस्तुओंमें न तो महाकाव्योंकी कथावस्तुके समान गहराई रहती है और न उतना काव्य चमत्कार ही। जीवनकी विभिन्न मोड़ें भी इन काव्योंमें नहीं आ पाती है। यहाँ कुछ प्रतिनिधि काव्योंका समालोचन उपस्थित किया जायेगा।

यशोधरचरितम्[1]

यशोधरचरित हिंसाके दोष और अहिंसाका प्रभाव दिखलानेके लिए बहुत लोकप्रिय रहा है। कवि वादिराजने इसी लोकप्रिय कथानकको लेकर प्रस्तुत काव्यकी रचना की है। इस काव्यमें चार सर्ग है। प्रथम सर्गमें ६२ पद्य, द्वितीयमे ७५, तृतीयमें ८३ और चतुर्थ सर्गमें ७४ पद्य हैं। रचयिता वादिराजके सम्बन्धमे पूर्वमें लिखा जा चुका है।

कथावस्तु

यौधेय देशकी राजधानी राजपुर नगरमे थी। इस नगरके दक्षिणमे चण्डमारी देवीका मन्दिर था। इस मन्दिरमें जीवोंका बलिदान होता रहता था। बलिदान न करनेसे दुर्भिक्ष या महामारी व्याप्त हो जाती थी। राजा मारिदत्त देवीके मन्दिरमें बलिदानके हेतु गया। मारिदत्तने हाथमें तलवार उठाकर चण्डकर्माको आज्ञा दी—"एक मनुष्य युगल और लाओ, पर यह बात ध्यानमें रखना कि वह बहुत सुन्दर और अच्छे लक्षणों से युक्त हो।" सुदत्त मुनिके संघके क्षुल्लक युगल—अभयरुचि और अभयमती राजाके समक्ष उपस्थित किये गये। राजा उनके सौन्दर्य, स्पष्टवादिता और निर्भीकतासे बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुआ। अतः उनका जीवन वृत्त जाननेकी इच्छा प्रकट की। अभयरुचिने अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। —प्रथम सर्ग

अवन्ती नगरीमें यशोघ नामका राजा रहता था। इसकी रानीका नाम चन्द्रमती था। इनको यशोधर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। यशोधरका विवाह अमृतमती नामकी सुन्दरीके साथ सम्पन्न हुआ। इस दम्पतिको यशोमति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

---

[1] लक्ष्मणकृत संस्कृत व्याख्या सहित, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, सन् १९६३ ई०।

यशोघ वृद्धावस्था आनेपर तपस्वी हो गये और यशोधर राज्यका संचालन करने लगा। यशोधरने एक दिन अपनी रानी अमृतमतीको कुबडे महावतके साथ व्यभिचार करते देखा, जिससे क्रोध, ग्लानि और विरक्तिसे उसका हृदय भर गया। वह उदास होकर अपनी माताके पास पहुँचा। माताने पुत्रको आशीर्वाद दिया। —द्वितीय सर्ग

पुत्रको उदासीन देखकर माता चन्द्रमतीको बहुत चिन्ता हुई। उसने अनिष्ट शान्तिके लिए बलिदान करनेकी सलाह दी। यशोधरने माताको हिंसा न करनेका उपदेश दिया; पर अन्तमें एक आटेके मुर्गेका बलिदान देनेकी बात निश्चित की गयी। मातृभक्तिके कारण यशोधरको इस संकल्पी हिंसाके लिए तैयार होना पड़ा। इस संसारके अभिनयके कारण राजा यशोधरको विरक्ति हुई और वह मुनि बननेके लिए तैयार हो गया। उसने यशोमतिको राज्यभार सौंप दिया। अमृतमतीने कपटाचार द्वारा माता चन्द्रमती और राजा यशोधरको विष देकर मार डाला। वे अनेक पशुयोनियोंमें दुःख भोगते रहे। —तृतीय सर्ग

अनन्तर कष्ट सहन कर वे यशोमतिकी रानी कुसुमावलिके गर्भसे सहोदर भाई-बहनके रूपमें उत्पन्न हुए। एक बार यशोमति वनमें आखेट खेलने गया, वहाँ उसे सुदत्त मुनिके दर्शन हुए। वह बाण द्वारा मुनिकी हत्या करना चाहता था कि एक सेठने राजाको मुनिका माहात्म्य समझाया। राजाने मुनिसे अपने माता-पिता तथा मातामहीका वृत्तान्त पूछा। मुनिने अनेक भव-भ्रमणका वृत्तान्त बतलाते हुए कहा कि तुम्हारे पिता और मातामही तुम्हारे ही यहाँ अभयरुचि और अभयमतिके रूपमें पुत्र-पुत्री हुए हैं। इस वृत्तान्तको सुनकर यशोमतिको संसारसे विरक्ति हो गयी। पुत्र-पुत्रियोंको भी अपने पूर्व भवोंका स्मरण हो आया। पिता यशोमतिकी दीक्षाके उपरान्त अभयरुचि और अभयमतिने भी सुदत्त मुनिके पास क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली। हम वे ही दोनों व्यक्ति है, आपके राजपुरुषों द्वारा पकड कर लाये गये है। इस प्रकार उनका वृत्तान्त सुनकर देवी चण्डमारि, पुरोहित और राजा मारिदत्तको भी वैराग्य हो गया। इस सन्दर्भमें चार्वाक सिद्धान्तका खण्डन कर आत्मतत्त्वकी सिद्धि भी की गयी है। अणुव्रतोंका स्वरूप तथा अहिंसाका महत्त्व भी प्रदर्शित किया गया है। —चतुर्थ सर्ग

इस यशोधरचरितको अपभ्रंश भाषामें कवि पुष्पदन्तने निबद्ध किया है। उनके जसहरचरिउ[1] (१०वी शती) के कथानकमें और प्रस्तुत यशोधर चरितके कथानकमें कोई विशेष अन्तर नही है। अन्तर केवल आरम्भमें है। जसहरचरिउमें बताया गया है कि राजा मारिदत्त कापालिकाचार्य भैरवानन्दके परामर्शसे आकाशगामिनी विद्याकी प्राप्तिके लिए नरबलिका आयोजन करता है। अन्य वृत्तान्त प्रायः समान हैं। यशोमति आखेटसे निराश लौटनेपर मुनिके ऊपर कुत्ते छोड़ता है, यह आख्यान भी इस काव्यमें नहीं आया है।

---

[1] स० पी० एल० वैद्य, कारजा सीरीज, सन् १९३१ ई०।

कथावस्तुका आधार हरिभद्रकी समराइच्चकहाका[1] चतुर्थ भव है। यह कथावस्तु पुष्पदन्त, सोमदेव और वादिराजको सम्भवतः यहींसे प्राप्त हुई है। इतना ध्यातव्य है कि समराइच्चकहामें मारिदत्तका नाम नहीं आया है। यशोधर स्वयं अपनी कथा धनसे कहता है।

काव्यगुण

यशोधरचरित काव्यगुणोंकी दृष्टिसे समृद्ध है। रस, अलंकार एवं उक्ति-वैचित्र्यका समावेश है। कथावस्तुमें मर्मस्पर्शी स्थलोंकी योजना भी वर्तमान है। कवि सन्ध्याका चित्रण करता हुआ कहता है—"भवनमें सुगन्धित धूप जलायी जा रही है। इसकी गन्धसे समस्त नगर सुगन्धित हो उठा है। भवनोंके वातायनोंसे कबूतरोंके पंखका रंग लिये हुए धुएँके पिण्डके पिण्ड निकलने लगे। उस समय प्रज्वलित रत्न प्रदीपोंकी लाल-लाल कान्तिसे धुएँके पिण्ड कुछ रक्त और कुछ पीत हो उठे। मनको प्रसन्न करनेवाली सुगन्धिसे मस्त होकर लोग प्रफुल्लित चमेलीके पुष्पोंको भी तुच्छ दृष्टिसे देखने लगे।" यथा—

वहन्बहिश्चारुगवाक्षरन्ध्रैरामोदितान्तर्भवनस्तदानीम्।
कपोतपक्षच्छविरुज्जजृम्भे निर्हारिकाकागुरुपिण्डधूमः॥ २।२३
आताम्रकभ्रद्युतिरत्नदीपैस्तस्मिन् जनाः पाटलवर्णमाजाम्।
व्याकोशमल्लीकुसुमानि दाम्नामवागमस्तन्नवसौरभेण॥ २।१४

भवनोंके वातायनोंसे निकलनेवाले धूम्रमें कवि गृहदेवताको सुगन्धित सांसका आरोप करता हुआ कहता है—

आवर्तमानः परिमन्दवृत्त्या वातायनद्वारि चिरं विरेजे।
कर्पूरधूलीसुरभिर्नभस्वान् श्वासायितस्तद्गृहदेवतायाः॥ २।२५

भवनोंके वातायनोंपर पहुँचनेपर उनमेंसे निकलते हुए धूम्रके छोटे-छोटे कणोंसे उसकी और ही शोभा हो गयी। वह ऐसा प्रतीत होता था, मानो गृहदेवताकी सुगन्धित साँस हो।

व्यंजनावृत्तिका भी कविने उपयोग किया है। कुब्जकके साथ व्यभिचार करनेके अपराधमें महाराज यशोधर अमृतमतिको मार डालना चाहता था, पर स्त्री वधको अपयशका कारण जानकर उसने उसे मारा नहीं। प्रातःकाल होनेपर यशोधरने अमृतमतिको हँसीमें एक पुष्पसे मारा, जिससे वह मूर्छित हो गयी। शीतलोपचारके पश्चात् दयालु राजा कहने लगा—

अनेन रन्ध्रेषु रसच्युता ते कृष्णाननेनाद्य निपीडितायाः।
दैवेन केनापि परं विदग्धे निवारितः संनिहितोऽपि मृत्युः॥ २।७१

---

[1] अस्थि इहेव वासे विसाला नाम नयरी। तत्थ अमरदत्तो नाम नरवई होत्था।
इओ य अतीय नवमभवंमि तस्स पुत्तो सुरिन्ददत्तो नाम अहमासि।
--समराइच्चकहा, सं० और प्र० भगवानदास, अहमदाबाद, सन् १९४२ ई०, चतु० भ० पृ० २८९ : ३३३

इस रसोईके पर कृष्णमुख कमलने आज तुम्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया, यह बहुत कुशल हुई जो किसी पूर्व कर्मने तुम्हें आज मृत्युमुखसे बचा लिया, पास आये हुए मरणको टाल दिया।

व्यंजनावृत्ति द्वारा रानी अमृतमतिके दुराचारकी बात कह दी है और यह भी व्यक्त कर दिया है कि आज रात्रिमें तुम्हारी मृत्यु इस खड्गसे हो गयी होती, पर किसी शुभोदयने मृत्युसे तुम्हारी रक्षा कर ली है।

कविने चतुर्थ सर्गमें वसन्त, पुष्पावचय, एवं वन-विहारका सरस चित्रण किया है। कवि वसन्तश्रीमें मानवका आरोप करता हुआ कहता है कि वसन्तश्रीने मुसकराकर कोकिलाओंके मनोरम शब्द द्वारा राजा यशोमतिका स्वागत किया—

उपेयुषस्तस्य वनं मधुश्रिया कलक्वणत्कोकिलकण्ठनादया।
अकथ्यत स्वागतमुर्वरापतेर्ध्रुवं नवीनोद्गमशुभ्रहासया॥ ४।२

कवि वन-विहारके समय महारानियोंकी लतासे तुलना करता है और उनमे लताके समस्त गुणोंका दर्शन करता है—

निकामतन्व्यः प्रसवैः सुगन्धयः तदा दधानास्तरलप्रवालताम्।
इतस्ततो जग्मुरिलापतेः स्त्रियो लतास्तु न स्थावरतां व्यतत्यजुः॥ ४।३

वसन्त-विहारके समय राजमहिषियाँ लताके समान श्रीको धारण कर रही थी, अन्तर इतना ही था कि लताएँ अपने स्थानपर ही स्थित रहती हैं, पर महिलाएँ चंचल हो इधर-उधर लीला-विनोद कर रही थी। लताएँ कोमल और पतली होती हैं, वे महिलाएँ भी कोमलांगी और क्षीण कमरवाली थी। लताएँ पुष्पोंसे सुगन्धित रहती है, वे भी अनेक प्रकारके पुष्पोंके आभूषण पहिने हुई थी, उन पुष्पोंकी गन्धसे सुगन्धित हो रही थी। लताएँ चचल पत्तोंसे युक्त होती है, वे सुन्दरियाँ भी अपनी चचलतासे युक्त थी।

कवि वृक्षोमे मानवी भावनाका आरोप करता हुआ कहता है—पुष्पोपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। स्त्रियाँ उनकी शाखाओंको पकड़कर उनपर-से पुष्प-चयन कर रही हैं। अतः झंकार करते हुए भ्रमर उडे, जिससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वृक्ष अपनी पुष्पश्रीको नष्ट होती देखकर उसके दुःखसे रो उठे हैं।

निगृह्य शाखासु नितम्बिनीजने प्रसूनगुच्छानवलूय चिन्वति।
मधुव्रतानां ध्वनिरुत्थितोऽभवत् प्रवेदनाध्वान इव द्रुमैः कृतः॥४।६

कवि इसी सन्दर्भमे वृक्षोके कल्पवृक्ष कहे जानेकी सार्थकताका चित्रण करता हुआ कहता है—

नतभ्रुवां केचिदनोकहा वने प्रसूनशाखास्ववलम्बतां गताः।
ततः प्रभृत्युन्नमिनो विरेजिरे वराङ्गनाकिङ्क्षितकल्पपादपाः॥४।७

झुकी हुई भौंहोंवाली रमणियोंने जिस दिनसे पुष्प तोड़नेके लिए वृक्षोंकी डालियोंको झुकाया, वृक्ष उनके आश्रयको प्राप्त हुए। मालूम होता है कि तभीसे वृक्ष सुन्दर स्त्रियों द्वारा भूषित होकर—उनसे युक्त होकर कल्पवृक्ष कहे जाने लगे हैं।

स्पष्ट है कि यशोधरचरित कल्पना, वस्तु एवं शैलीकी दृष्टिसे अच्छा काव्य है। उपमा (१।८-९), उत्प्रेक्षा (१।१०,४०), रूपक (१।५७) और अर्थान्तरन्यास (२।३८) अलंकारोंकी योजना की गयी है। द्वितीय सर्गमें कविने नायक यशोधरकी विलास क्रीडाओं और नायिका अमृतमतीकी दुराचार प्रवृत्तिका बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। संगीतमें कितनी शक्ति होती है, यह अष्टभंगकी मधुर संगीत ध्वनिसे स्पष्ट है। वह कुबड़ा है, पर उसके कंठमें अमृत है, यही कारण है कि अमृतमती उस कुरूप अधेड़पर रीझ जाती है और अपने यथार्थ नामके विपरीत विषमतीका आचरण करती है। तृतीय सर्गमें नाना योनियोंमें भ्रमण करनेका सुन्दर चित्रण किया है। चतुर्थ सर्गमें पुनः विलासक्रीड़ाएँ पल्लवित होती हैं। इस प्रकार काव्योचित गुणोंका समावेश किया गया है। इस काव्यके संस्कृत टीकाकर लक्ष्मणने इसे महाकाव्य कहा है, पर है यह लघुकाव्य ही। कथावस्तुका प्रवाह इतना तीव्र है, जिससे महाकाव्यतत्त्वोंका विकास नहीं हो पाया है।

जैनकुमारसंभव[१]

महाकवि कालिदास द्वारा विरचित कुमारसम्भव काव्यसे प्रेरणा ग्रहण कर कवि जयशेखरसूरिने जैनकुमारसंभव काव्यकी रचना की है। प्रस्तुत काव्यमें ११ सर्ग हैं और कुमार भरतकी उत्पत्तिकी कथा वर्णित है।[२]

कवि जयशेखर अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरिके शिष्य थे। इस गच्छके स्थापक आर्यरक्षित सूरि थे। इनकी दसवीं पीढ़ीमें महेन्द्रप्रभसूरि हुए। इनके तीन शिष्य थे—मुनिशेखरसूरि, जयशेखरसूरि और मेरुतुंगसूरि। अंचलगच्छकी पट्टावलिमें मेरुतुंगका दीक्षा समय वि० सं० १४१८ बताया गया है। जैनकुमारसंभवकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल वि० सं० १४८३ दिया गया है। अतः अनुमान है कि मेरुतुंग इनसे बड़े रहे होंगे। ग्रन्थोंमें अंकित प्रशस्तियोंके आधारपर इनका समय वि० सं० की १५वीं शती निश्चित है। कवि द्वारा प्रस्तुत काव्यकी प्रशस्तिमें निम्नलिखित रचनाओंका निर्देश प्राप्त होता है।[४]

---

[१] जैन पुस्तकोद्धार संस्था, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९४६ ई०।

[२] अस्मिन् दधाने भरताभिधानमुपेष्यतो भूमिरियं च गीश्च।
विद्वद्भुवि स्वात्मनि भारतीति ख्याती मुदं सत्प्रभुलाभजन्माम्॥ जैनकु० ११।४३।

[३] जैनकुमारसंभव, जैनपुस्तकोद्धार संस्था, सूरत १९४६ ई०, प्रस्तावना पृ० ८-९।

[४] प्रबोधश्चोपदेशश्च चिन्तामणिकृतोत्तरौ।
कुमारसंभवं काव्यं चरितं धम्मिलस्य च॥ जैनकु० प्र० ३।

१–उपदेशचिन्तामणि[1]—रचनाकाल वि० सं० १४३६ ।
२–प्रबोधचिन्तामणि[2]—रचनाकाल वि० सं० १४६४ ।
३–धम्मिलचरित[3] ।

कथावस्तु

उत्तर दिशामें अयोध्या नामकी सम्पन्न नगरी थी । इस नगरीके भवन उन्नत और पताकाओंसे सज्जित थे । मणिदीपोंका प्रकाश निरन्तर वहाँ व्याप्त रहता था । इस नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी राजा नाभिराय शासन करते थे । इनकी पत्नीका नाम मरुदेवी था । इस दम्पतिके घरमें आनन्द मंगलाचार होता रहता था । मरुदेवीके गर्भमें ऋषभदेव अवतरित हुए । जन्म होनेपर इन्द्रने ऋषभदेवका जन्माभिषेक सम्पन्न किया । शैशव समाप्त कर ऋषभदेवने युवावस्थामें प्रवेश किया ।—प्रथम सर्ग

ऋषभदेवका यश सर्वत्र व्याप्त हो गया । सभी उनके कार्योंको प्रशंसा करने लगे । इन्द्र आदि देवोंको ऋषभदेवके विवाहकी चिन्ता हुई । महाराज नाभिरायने भी ऋषभदेवसे विवाहका अनुरोध किया और संसार चलानेके लिए जोर दिया ।
—द्वितीय सर्ग

ऋषभदेवसे लोगोंने निवेदन किया—"जिस प्रकार पहाड़ोंसे निःसृत रत्नसहित नदियाँ उपकारशील होती हैं, उसी प्रकार आपसे निःसृत समस्त शिल्पकलाएँ संसारका उपकार करें । आपके वचनोंसे समुत्पन्न आगम समुद्रसे जल ग्रहण कर ज्ञानीजन रूपी मेघ जनसमुदायरूपी वृक्षोंका सिंचन करें । हे जगत्प्रदीप, आप पाणिग्रहण संस्कारका आदर्श उपस्थित कर कर्मभूमिका मार्ग उज्ज्वल बतावें । जिस प्रकार आपने विविध लीलाओंसे परिपूर्ण आदर्श बाल्यकाल व्यतीत किया है, उसीप्रकार आप यौवनको चरितार्थ करें ।" इस अनुरोधका ऋषभदेवने कुछ भी उत्तर नहीं दिया । "मौन स्वीकृतिलक्षणं" नीतिसे माता-पिताने विवाहको तैयारियाँ आरम्भ की ।—तृतीय सर्ग

सुमंगला और सुनन्दाको विवाह मण्डपमें लाया गया । मानववेषमें रहने वाली देवियोंने उन दोनोंकी साज-सज्जा की । सुगन्धित तेल, उबटन लगाये गये । दिव्य-वस्त्राभूषण पहनाकर ऋषभदेवको भी विवाह मण्डपमें उपस्थित किया गया । उनके मस्तकपर मुकुट, कानोंमें कुंडल, वक्षस्थलपर हार और हाथोंमें कंकण सुशोभित हो रहे थे । अप्सराएँ नभोमण्डलमें नृत्य करने लगी । नारियाँ दधि, दूर्वा, अक्षत आदि मंगलद्रव्योंसे अर्घ्यादि उतार रही थीं । सुमंगला और सुनन्दा अवगुंठन किये हुई थी । उन्होंने अपनी आँखोंकी चपलतासे ऋषभदेवके लावण्यका अवलोकन किया ।
—चतुर्थ सर्ग

---

[1] हीरालाल हंसराज द्वारा मुद्रित ।

[2] जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर द्वारा मुद्रित ।

[3] हीरालाल हंसराज द्वारा मुद्रित ।

अनन्तर ऋषभदेवका सुमंगला और सुनन्दाके साथ पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। पाणिग्रहणके समय सर्वत्र हर्ष व्याप्त हो गया। कमल और कदलीसे भी कोमल सुमंगला और सुनन्दाके हाथ ऋषभदेवके हाथोमें पहुँचकर शोभित हो रहे थे। चारों ओरसे जय-जयकी ध्वनि सुनाई पड़ रही थी।—पंचम सर्ग

वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओकी मोहक ज्योत्स्नामयी रात्रियाँ शीतलता और शान्ति विकीर्ण कर रही थी। ऋषभदेव और सुमंगला इन रमणीय रात्रियोमें सांसारिक सुखोका अनुभव कर तृप्तिकी अनुभूति कर रहे थे। प्रकृतिकी रमणीयता आनन्दको विस्तृत करनेमें सहयोग प्रदान कर रही थी।—षष्ठ सर्ग

एक रात्रिके पिछले प्रहरमें सुमंगलाने चौदह स्वप्न देखे। कविने वृषभ, हाथी आदिका काव्यात्मक चित्रण किया है। सुमंगला रानी स्वप्नोका फल पूछनेके लिए ऋषभदेवके पास चली।—सप्तम सर्ग

सुमंगलाके मुखसे श्वास निकल रहा था, जिससे चारो ओर सुगन्धि व्याप्त थी। उसके मुखपर पसीनेकी बूँदें मौक्तिकके समान शोभित हो रही थी। मार्गके शुभके कारण उसका दुकूल शिथिल हो गया था। स्वप्न फल जाननेकी उत्सुकता मनमे निहित थी। ऋषभदेवने सखियोका कुशल समाचार पूछा और उस चन्द्रमुखीका स्वागत किया। —अष्टम सर्ग

सुमंगलाके स्वप्नोंको सुनकर ऋषभदेवने उनका फल कहना आरम्भ किया। उन्होने क्रमशः एक-एक स्वप्नका फल बतलाते हुए कहा कि आपको चक्रवर्ती पुण्यात्मा पुत्र प्राप्त होगा।—नवम सर्ग

विभिन्न देवांगनाएँ ऋषभदेवके चरितको अपने-अपने दृष्टिकोणसे गा-गाकर सुनाने लगी। अन्तःपुरकी दासियाँ भी ऋषभचरितका गायन कर सुमंगलाको प्रसन्न रखनेका प्रयास करने लगी। ऋषभदेव भी उस सुमंगलाके दोहदको पूर्ण करनेका प्रयत्न करने लगे। सुमंगलाको सर्वदा प्रसन्न रखने एवं गर्भजन्य कष्टसे दूर रखनेके लिए उनका प्रयत्न होने लगा।—दशम सर्ग

सुमंगलाने शुभ नक्षत्र और उच्चग्रहयोगमे पुत्रको जन्म दिया। भारतका भावी निर्माता समक्ष कुमारका नाम भरत रखा। भरतकी समस्त चेष्टाएँ और क्रियाएँ जनानुरंजन करती थी। उनके शुभलक्षण और दिव्यभाल भावी चक्रवर्तित्वकी सूचना देता था। कुमारके वचन जनताका अनुरंजन करते थे।—एकादश सर्ग

काव्यगुण

काव्यकी कथावस्तु पुराण प्रसिद्ध है। भरतजन्मकी कथाका अंकन होनेके कारण 'कुमारसंभव' नामकरण किया गया है। कविने इसे स्वयं महाकाव्य कहा है, पर वस्तुतः है यह एकार्थकाव्य। काव्यकी भाषा प्रौढ है और शैली परिमार्जित है। देश,

नगर, वन, पर्वत, ऋतु, सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदयका वर्णन उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक अलंकारकी भूमिकामें सम्पन्न हुआ। कवि अयोध्या नगरीका चित्रण करता कहता है—

तमिस्रपक्षेऽपि तमिस्रराशेरुद्धेऽवकाशे किरणैर्मणीनाम् ।
यस्यामभूवन्निशि लक्ष्मणानां श्रेयोऽर्थमेवावसथेषु दीपाः ॥१।६

अयोध्या नगरीमें धनिकोंके घरमें रात्रिमें दीपक केवल मंगलके लिए ही प्रज्वलित किये जाते थे। यतः भवनोमे जटित मणियोका ही प्रकाश इतना अधिक होता था, जिससे दीपक प्रज्वलित करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

कवि मणियोंके प्रकाशके सम्बन्धमे आगे पुनः कहता है कि इस नगरीमें कृष्णपक्ष नही रहता है, सर्वदा शुक्लपक्षका निवास है। इस कारण न तो यहाँ अभिसारिकाएँ अभिसार ही कर पाती हैं और न चोर चोरी ही।

रत्नौकसां रुग् निकरेण राकी कृतासु सर्वास्वपि शर्वरीषु ।
सिद्धा न मन्त्रा इव दुःप्रयुक्ता यत्राभिलाषा ययुरित्वरीणाम् ॥१।७

कवि ऋषभदेवके अग-प्रत्यगका सौन्दर्य चित्रित करता हुआ कहता है—

पद्मानि जित्वा विहितास्य दृग्भ्यां सदा स्वदासी ननु पद्मवासा ।
किमन्यथा सावसथानि याति, तत्प्रेरिताप्रेमजुषामखेदम् ॥१।५७

ऋषभदेवके नेत्रो पद्मश्री—लक्ष्मीको जीत लिया था, अतः वह दासी बन गयी थी। उसके नेत्रोंसे प्रेरित होकर लक्ष्मी खेदरहित निवासको प्राप्त हो रही थी। अभिप्राय यह है कि ऋषभदेवकी दृष्टिमे ही भक्त लोगोके दुःख, दारिद्रय, दुर्भाग्य आदि दोष दूर हो जाते थे।

कथानकपर पौराणिकताका बोझ है। कविने ऋषभदेवके समस्त कृत्य इन्द्र, देव एवं देवियो द्वारा ही सम्पन्न कराये है। जिन स्थानोपर मानवताका विकास दिखलाना आवश्यक था, उन स्थानोपर भी देवत्वका आरोप हो जानेसे पाठकको बौद्धिक भोज्य नही मिल पाता है। फलतः मनोहारिणी कविता होने पर पूर्णतया सन्तोष नही प्राप्त होता है।

एकार्थ काव्यों मे श्रीरूपचन्द्र कवि (वि० सं० १८०७) कृत गौतमीय[1] काव्य भी उल्लेखनीय है। इस काव्यमे ११ सर्ग है और गौतम स्वामीका जीवनचरित अंकित है। कवि वसन्तका चित्रण करता हुआ कहता है—

दूरोज्झिता या नवमालिकाली सा चैत्र सेव्या भ्रमरैर्बभूव ।
अहो स्वार्थपरो हि लोकः स्वार्थं विना कोऽपि सुहृन्न कस्य ॥गो० ३।१४

काव्यकी भाषा सरल है और वैदर्भी शैलीमें गुम्फन किया गया है।

---

[1] देवचन्द्र लालाभाई—जैनपुस्तकोद्धार सस्था, सूरत, १९४० ई० में प्रकाशित।

महीपालचरितम्[1]

पंच सर्गात्मक महीपालचरित एक लघुकाव्य है। इस काव्यके रचयिता चारित्रभूषण या चारित्रसुन्दर गणि हैं। ये सत्तपोगच्छके नेता रत्ननन्दि या रत्नसिंह सूरिके शिष्य थे। इस काव्यकी प्रशस्तिमें बताया गया है कि विजयेन्दु सूरिके पट्टपर क्षेमकीर्ति आसीन हुए। इसके पश्चात् रत्नाकर सूरि हुए। अनन्तर अभयनन्दि, जयकीर्ति, रत्ननन्दि आदि सूरीश्वर हुए[2]। रत्ननन्दिके अनेक कवि शिष्य थे। कविने लिखा है—

> श्रीरत्ननन्दिगुरुपादसरोरुहालिश्चारित्रभूषणकविर्यदिदं ततान।
> तस्मिन्महीपचरिते भववर्णनाख्यसर्गः समाप्तिमगमत् किल पञ्चमोऽयम्॥
> प्रश० ८।

चारित्रसुन्दर गणिकी अन्य रचनाओंमें शीलदूत, कुमारपालकाव्य और आचारोपदेश रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

शीलदूतका रचनाकाल वि० सं० १४८७ है[3], अतः कविका समय वि० सं० १५वीं शती निश्चित है।

कथावस्तु

महीपाल उज्जैनके राजा नृसिंहका योग्य सेवक था। उसकी सोमश्री नामकी पत्नी थी। राजा किसी कारण महीपालसे रुष्ट हो गया। अतः उसने उसे राज्यसे निर्वासित कर दिया। महीपाल पत्नी सहित भृगुकच्छ पहुँचा और वहाँसे सेठ सागरदत्तके साथ कटाहद्वीप जानेको उद्यत हुआ। वह पत्नी सहित जहाजके ऊपरी भागपर बैठा हुआ समुद्रकी शोभाका अवलोकन कर रहा था। जहाज कटाह द्वीपके निकट पहुँचने ही वाला था कि समुद्रमें अचानक तूफान आया, जिससे जहाज टूट गया। महीपालको एक काष्ठखण्ड मिल गया, जिससे वह उसके सहारे तैरता हुआ पाँच दिनोंके उपरान्त भूखा-प्यासा कटाह द्वीपके किनारे पहुँच गया। तटके समीप ही मनोहर कमलोंसे युक्त एक सरोवर उसे दिखलाई पड़ा। सरोवरका सौन्दर्य देखनेके लिए वह निकट गया और स्नान तथा जलपानसे निवृत्त होकर वटवृक्षके नीचे विश्राम करने लगा।—प्रथम सर्ग

विश्रामके अनन्तर महीपालने नगरमें प्रवेश करनेका विचार किया कि उसे एक व्यक्ति आता हुआ दिखलाई पड़ा। महीपालने उस व्यक्तिसे राजा और नगरके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त की। नगरमें पहुँचकर वह राजा वैरसिंहकी सभामें पहुँचा और वहाँ

---

[1] काव्यकी पाण्डुलिपि श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरामें (झ/१३२) २४ पत्रात्मक है।

[2] श्रीमान् श्रीविजयेन्दुसूरिरभवद्भव्याङ्गचिन्तामणिः।—महीपालचरित प्रशस्ति, श्लो० ३-७

[3] वर्षे हर्षाज्जलधिभुजगाम्भोधिचन्द्रप्रयाणे।—शीलदूत, य०वि० बनारस, श्लो० १३१

रत्नोंकी परीक्षा कर अपनी कलाका प्रभाव स्थापित किया। राजाने महीपालको पुरस्कृत किया। एक बार राजमन्त्रीके ऊपर यक्ष क्रोधित हो गया, जिससे राजाको चिन्ता हुई। सभामें महीपालको बुलाया गया। उसने अपने बुद्धिबलसे यक्षको अपने अधीन कर लिया। महीपालके इस कार्यसे राजा वैरसिंह बहुत प्रसन्न हुआ। राजाकी पुत्री का नाम चन्द्रलेखा था। वह महीपालके रूप-सौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो गयी, फलतः राजाने चन्द्रलेखाका विवाह उसके साथ कर दिया। एक दिन महीपाल वनमे गया, वहाँ उसने एक मुनिराजके दर्शन किये। मुनिराजसे उसने अपनी पत्नी सोमश्रीके सम्बन्धमे पूछा। रत्नसंचयपुरके चक्रेश्वरीदेवीके मन्दिरमे उसका पता पाकर महीपाल अपनी पत्नी चन्द्रलेखा सहित राजाज्ञासे अथर्वण मन्त्रीको साथ लेकर रत्नपुरको चल दिया।—द्वितीय सर्ग

मार्गमें मन्त्रीने महीपालकी पत्नीको देखा। वह चन्द्रलेखाके रूप-सौन्दर्यसे बहुत प्रभावित हुआ। अतः रात्रिमें सोते समय महीपालको समुद्रमे गिरा दिया और स्वयं समस्त सम्पत्तिका स्वामी बन गया। जब चन्द्रलेखाके साथ अनाचार करनेको प्रस्तुत हुआ तो चन्द्रलेखा ने कहा कि अभी मैं एक महीना व्रत लिये हुई हूँ। रत्नसंचयपुरमे देवीकी पूजाके पश्चात् मैं आपको अपना पति स्वीकार कर लूँगी। कृपया अभी मुझे छोड़ दीजिए। आपका प्रस्ताव स्वीकार करनेमे मुझे कोई विरोध नही है। इस प्रकार समझा-बुझाकर रत्नसंचयपुरमे चन्द्रलेखा पहुँच गयी। जैसे ही जहाज किनारे लगा, वह शीघ्र ही उतरकर चक्रेश्वरीदेवीके मन्दिरमें पतिप्राप्ति तक उपवास ग्रहण कर देवीकी उपासनामें सलग्न हो गयी। इधर महीपाल जहाजसे गिरते ही एक मत्स्यका अवलम्बन कर सिंहल द्वीप पहुँचा। वहाँ वनस्थ आश्रममे एक तपस्वी कन्या रहती थी, जो महीपालके रूप-सौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो गयी और बोली—"आप मेरे साथ विवाह कर ले, तो आपको कुछ विद्याएँ प्राप्त होगी।" परिचय प्राप्त करनेपर महीपालको ज्ञात हुआ कि वह कन्या श्रीपुर नगरके राजा जितशत्रुकी पुत्री है। विवाहोपरान्त महीपालको (१) दिव्य खाट, (२) यष्टि और (३) इच्छानुसार रूप बनानेवाली विद्याएँ प्राप्त हुई। महीपाल शशिप्रभाके साथ कुछ दिनों तक वहाँ रहा। एक दिन दिव्य खाटपर बैठ शशिप्रभा सहित रत्नपुरीमे आया। यहाँ एक वृद्धाके घर पत्नीको छोड स्वयं नगर परिभ्रमणके लिए चला। बाजारमे अथर्वण मन्त्रीको देखकर वह कुछ भयभीत हुआ और कुब्जा वृद्धाका वेश बना घूमने लगा। रात्रिके समय लौटकर न आनेपर शशिप्रभा बहुत दुःखी हुई और वह भी पतिप्राप्ति तक उपवास ग्रहण कर चक्रेश्वरी देवीकी उपासनामे लग गयी। वे तीनो स्त्रियाँ मौन होकर देवीके ध्यानमे मग्न थी।—तृतीय सर्ग

उन तीनो महिलाओंकी साधनाकी चर्चा नगरमे व्याप्त हो गयी। राजा भी चक्रेश्वरीके मन्दिरमे पहुँचा। उसने उन तीनो महिलाओंको बुलवानेका प्रयास किया, पर वे तीनों ही मौन रूपमें अवस्थित रही। राजाने नगरमें घोषणा करायी कि जो

व्यक्ति इन तीनों महिलाओंका मौन तोड़ देगा, उसे एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कारमें दी जायेंगी। कुब्जाका वेष धारण करनेवाले महीपालने भी यह घोषणा सुनी, अतः वह एक वृक्षके कुछ पत्ते पुस्तकके रूपमें लेकर राजाके पास पहुँचा और आशीर्वाद दिया। राजाने उस पुस्तकके सम्बन्धमें जिज्ञासा व्यक्त की, तो उसने उत्तर दिया—"यह अष्टाग निमित्त ज्ञानकी पुस्तक है, यह मुझे एक देवसे प्राप्त हुई है, जो द्विजात होगा, वही इसे पढ सकेगा, त्रिजात नहीं।" राजा, मन्त्री एवं सामन्त कोई भी उस पुस्तकको न पढ़ सका, तब उस कुब्जासे ही पुस्तक पढवायी गयी। उसने अपनी समस्त विगत घटनाओंको पढ़ा, जब सोमश्रीका चरित पढा गया तो सोमश्रीने पतिके सम्बन्धमें पूछा। इसी प्रकार उक्त दोनो पत्नियोने भी मौन तोडकर अपने पतिके सम्बन्धमें जिज्ञासा व्यक्त की। राजाने उसे एक लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कारमें प्रदान की। अनन्तर अपनी स्त्रियोके समक्ष उसने वास्तविक रूप प्रकट किया।

अथर्वण मन्त्रीको बड़ी चिन्ता हुई और उसने कुब्जाको मारनेके लिए अपने सेवकोको भेजा। महीपालने सेवकोके नाक-कान काट लिये। इसपर वह मन्त्री स्वयं लड़ने गया, पर जब महीपालने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया, तो वह भयभीत हो भूमिपर गिर पडा और वही मर गया।

राजाने एक बार बुलाकर महीपालसे हाथीका वजन पूछा, उसने हाथीका वजन बतला दिया। अतः प्रसन्न हो राजाने उसे अपना प्रधान मन्त्री बना लिया। महीपालने समस्त शत्रुओंको परास्त कर राज्यको सुदृढ किया। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपनी सौभाग्यसुन्दरी कन्याके साथ महीपालका विवाह कर दिया और आधा राज्य भी दे दिया।

महीपाल अपना प्रभाव और महत्त्व प्रदर्शित करनेके लिए अपने देशमें आया। अवन्तीमें पहुँचकर उसने राजाके पास दूत भेजा। राजाने दूतको वापस कर दिया और कहलवाया कि मैं सेनासहित तुम्हारे घमण्डको चूर करने आ रहा हूँ। मन्त्रियोंने राजाको बहुत समझाया, पर वह न माना। अन्तमें महीपालके समक्ष उसकी हार हुई और उसे महीपालको पुनः सम्मान देना पडा।—चतुर्थ सर्ग

एक बार राजसभामे बैठे महीपालने आकाशमार्गसे जाते हुए देवोंको देखा तथा बाजोंकी आवाज सुनी। द्वारपालसे उसे अवगत हुआ कि सुधर्म नामक मुनिराज पधारे हैं। वह मुनिके दर्शनार्थ गया और उनका उपदेश सुनकर उसने श्रावकके व्रत स्वीकार किये। कुछ दिनोंके अनन्तर अपने पुत्र कीर्तिपालको राज्य देकर मुनि-व्रत ग्रहण कर तपश्चरण करने लगा। उसने घातिया कर्मोंका विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और पश्चात् मुक्तिलाभ।—पंचम सर्ग

कथावस्तुका स्रोत सम्भवतः वीरदेव गणिको प्राकृत महीपाल कहा है। कथावस्तुमें कोई भी अन्तर नहीं है। कविने प्राकृतकथाके तथ्योको लेकर कल्पना द्वारा केवल विस्तार भर किया है। कथावस्तुमें रोमांसके साथ साहस तत्त्वका समावेश किया

है। बुद्धि और कलाके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। सहस्रों प्रकारके लौकिक चमत्कार प्राप्त कर सकता है। पर सुख और शान्तिका साधन त्याग और वैराग्य ही है। काव्यका नायक महीपाल और प्रतिनायक अथर्वण है। सत्यकी विजय होती है, जो असत्य या धोखा करता है, वह सदा जीवनमें कष्ट उठाता है। इन्द्रियजयी होना और आसक्तिका त्याग करना ही, कल्याणका मार्ग है।

कथावस्तुका गठन सुन्दर हुआ है। आरम्भसे अन्त तक अन्विति पायी जाती है। अप्राकृतिक और अलौकिक चमत्कार भी निहित हैं। काव्यसे अधिक पौराणिकता है। कथानकको काट-छाँटकर सुडौल नहीं बनाया गया है।

काव्यगुण

कविने महीपालकी विशेषताओंका शिखरिणी छन्दमें वर्णन करते हुए लिखा है—

उदन्वन् छिन्नाभूः स च निधिरपां योजनशतं
सदा पान्थ. पूषा गगनपरिमाणं कलयति।
इति प्रायो भावाः स्फुरदवधिमुद्रा मुकुलिताः
सतां प्राज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमा विजयते ॥२।४४

चन्द्रलेखा महीपालके गुण और रूपसे आकृष्ट होकर उसके पास अपनी दूती भेजती है। महीपाल नैतिकताकी सीमाके अनुसार उत्तर देता है—

दास्यते त्वां पिता मह्यमार्ये यदा तद्विवाहं करिष्याम्यहं ते मुदा।
युज्यते भोगयोगोऽपि रीत्या सतां हन्ति लोकद्वयं वै कुरीत्या कृतः ॥२।९५
तद्विधेयं त्वया चिन्तनीयं तथा जायते कार्यमेतद्यथा नोऽद्भुतम्।
उत्तमप्रीतिरङ्गीकृता सत्तमः हीयते नैव तत्प्रत्यहं वर्द्धते ॥२।९६

कविने काव्यके बीच-बीचमें नीति श्लोकोंका भी समावेश किया है, इससे सरसता तो उत्पन्न हुई ही है, पर चमत्कार भी आ गया है। कवि कहता है कि समान शक्तिवालेके साथ शौर्यका, अधिक शक्तिवालेके साथ नम्रताका और नीच व्यक्तिके साथ अवज्ञाका व्यवहार करना चाहिए—

समेषु शौर्यं प्रशमं महत्सु नीचेष्ववज्ञां प्रणतेषु मानम्।
ऋजौ ऋजुत्वं निपुणो विदध्यात् मूर्खेषु कुर्यादतिधूर्त्तभावम् ॥३।२१

तपस्वी कन्याको देखकर महीपाल उसके सौन्दर्यको नेत्रोंके लिए आसेचनक मानता है। उसके मनमें संशय उत्पन्न होता है कि यह रोहिणी है, अप्सरा है, इन्द्राणी है, रति है, विद्याधरी है, अथवा नागकन्या है, जो कुतूहलसे इस वनमें क्रीड़ा कर रही है—

महीपाल अकेली युवतीके पास जाना और उससे वृत्तान्त पूछना अनैतिक मानता है, अतः वह चुपचाप उसके कार्योंका निरीक्षण करना ही विधेय समझता है।

एकाकिनोऽस्या निकटं प्रयातुं न युज्यते मे विजनस्थितायाः ।
पश्यामि तावत्किमयं करोति क्व याति किं वक्ति च चेष्टितं किम् ॥३।६९

जिस प्रकार कविने तापस कन्याके प्रति महीपालके चित्तको संशयशील चित्रित किया है, उसी प्रकार तापसकन्याका चित्त भी महीपालके प्रति अनुरक्त होता है और वह सोचती है कि यह चन्द्रमा है, अथवा कामदेव है, या विष्णु है, विद्याधर है अथवा कोई देव है। मनुष्योंमें इतना सुन्दर रूप नही हो सकता है—

किं रोहिणीशः किमु कामदेवः सनत्कुमारः किमयं मुरारिः ।
विद्याधरः कोऽपि सुरः कथं वा मनुष्ययोनिर्न किलेदृशः स्यात् ॥३।७१

शशिप्रभा उसके लावण्यकी श्लाघा करती है—

अस्य प्रलावण्यपयःप्रवाहे मग्नं मनो नोत्तरणक्षमं मे ।
अस्यास्यचन्द्रं पिबतो कदाचित् तृप्तिर्भवेन्नेत्रचकोरयोर्नो ॥३।७३

कविने वीररसका सुन्दर चित्रण किया है। वीरोंकी दर्पोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

कियान्मृगोरे: पुरतः शृगालः को वैनतेयस्य पुरो भुजंग ।
भानोः पुरः कस्तमसां समूहस्तथा वराकः स कियान्ममाग्रे ॥४।१०६

कविने बीच-बीचमें जहाँ-तहाँ नीति सम्बन्धी भर्तृहरि, किरात आदि काव्योंके श्लोक भी उद्धृत किये है। 'भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं' (३।७९), 'प्रथमवयसि पीतं तोयमल्पं स्मरन्तं' (२।७६), 'स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं' (४।१०८) पाये जाते है।

कविने लघुसमासान्त पदावलियोंका प्रयोग किया है। शृंगार और वीर रसकी व्यंजना अनेक स्थलोंपर हुई है। कुब्जाके रूपमें महीपालका भ्रमण करना और नाना प्रकारके कुतूहलवर्धक कार्योंका प्रदर्शन करना विस्मयका सृजन करते है।

सन्देश काव्य

उपलब्ध दूत या सन्देश साहित्यमें सबसे प्राचीन सन्देश काव्य कालिदासका मेघदूत[1] है। इस काव्यके स्रोतोंका विवेचन करते हुए विद्वानोंने ऋग्वेदमें आये हुए सरया-पणि-संवाद[2] को प्राचीन स्रोत रूपमें गणना की है। वाल्मीकि रामायणमें[3] सीताकी खोजमें हनुमान्‌का दूत रूपमें भेजा जाना भी काव्यके प्रेरणास्रोतोमे एक है। मेघदूतके अनुकरणपर जैन कवियोंने एक नवीन उद्देश्य लेकर सन्देश काव्योंकी रचना की है। शृंगारके वातावरणमें चलनेवाली काव्य परम्पराको अपनी प्रतिभासे शान्तरसकी ओर

---

१. नागरी प्रकाशन प्रा० लि०, पटना-४, सन् १९६० ई०।

२. ऋग्वेद, मथुरा सन् १९६० मण्डल १०, अनुवाक ८, सूक्त १०८, मन्त्र १-११।

३. वाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० स० २०१७, किष्किन्धाकाण्ड, ४४वाँ सर्ग।

मोड़ देना कम महत्त्वपूर्ण नहो है। त्यागमें विश्वास रखनेवाले जैन मुनियोंने श्रमण संस्कृतिके उच्च तत्त्वोका विश्लेषण पार्श्वनाथ और नेमिनाथ जैसे महापुरुषोंके जीवन चरितोमे अंकित किया हैं। कुछ कवियोने मेघदूतके अन्तिम पदोंको लेकर समस्या पूर्ति स्वरूप कई सन्देश काव्योंका प्रणयन किया है। जैन कवियों द्वारा पार्श्वाभ्युदयसे सन्देश काव्योंकी परम्पराका आरम्भ माना जा सकता है। जैन सन्देश काव्योमें साहित्यिक सौन्दर्यके साथ दार्शनिक सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं। विषयके अनुसार मन और शीलको दूत नियुक्त करना और शीतलता तथा शान्तिका वातावरण उत्पन्न कर देना, सर्वथा नवीन प्रयोग है। संयम, सदाचार एवं परमार्थतत्त्वका निरूपण काव्यकी भाषा और शैलीमे होनेसे काव्य सहृदय जन आस्वाद्य बन गये हैं।

पार्श्वाभ्युदय[1]

मेघदूतके पद्योको लेकर समस्या-पूर्तिके रूपमे लिखे गये काव्योंमें पार्श्वाभ्युदय सबसे पहला काव्य है। इस काव्यमें चार सर्ग है—प्रथम सर्गमे ११८ पद्य, द्वितीयमे ११८, तृतीयमे ५७ और चतुर्थमे ७१, इस प्रकार कुल ३६४ पद्योमे काव्य लिखा गया है। काव्यकी भाषा प्रौढ है और मेघदूतके समान ही मन्दाक्रान्ता छन्दका व्यवहार किया है। काव्यकी शैलीकी जटिलताके कारण कथावस्तु सहसा पाठकके समक्ष नही आ पाती है। समस्या-पूर्तिके रूपमें गुम्फित रहनेसे मूल पंक्तियोके भावमे यत्र-तत्र विपर्यस्तता आ जानेसे काव्य कुछ जटिल हो गया है। इसके रचयिता आचार्य जिनसेन द्वितीय है।

कवि जिनसेन द्वितीयके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमें प्रामाणिक इतिवृत्त उपलब्ध नही है। पार्श्वाभ्युदयके अन्तमें[2] आये हुए पद्यसे इतना स्पष्ट है कि वीरसेनाचार्यके ये शिष्य थे। विनयसेन इनके गुरु भाई थे। उन्हीके कहनेपर इस काव्यकी रचना की गयी है। काव्यके प्रत्येक सर्गके अन्तमे जिनसेनको अमोघवर्षका गुरु बताया गया है। अमोघवर्ष राष्ट्रकूट वंशका राजा था और कर्नाटक तथा महाराष्ट्रपर शासन करता था। यह शक सं० ७३६ (वि० स० ८७१) में राज्यासीन हुआ था। इसकी राजधानी मान्यखेट अथवा मलखेड थी। जिनसेनके उपदेशसे यह जैनधर्ममें दीक्षित हो गया था। प्रश्नोत्तर रत्नमालासे ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष अपने पुत्रको राज्य सौंप, स्वयं मुनि बन गया था[3]। जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयका उल्लेख हरिवंश पुराण[4] (शक सं० ७०५,

---

[1] निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, वि० स० १९६६।

[2] श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम्॥
— पा०, नि० ब०, वि० स० १९६६, ४।७१

[3] विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचिता मोघवर्षेण सुधिया सदलंकृति॥—संस्कृतके सन्देश काव्य, अजमेर, १९६३ ई०, पृ० १५८।

[4] हरिवंश पुराण, भा० ज्ञा० पी० काशी, सन् १९६२ ई० १।४०।

सन् ७८३ ई०) में आया है। अतः पार्श्वाभ्युदयकी रचना ई० सन् आठवी शतीमें हो चुकी है। जिनसेन द्वितीयने वीरसेन द्वारा आरम्भ की गयी जयधवलाकी परिसमाप्ति शक संवत् ७५९ (सन् ८३७ ई०) फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाह्णमें की है। अतः जिनसेनकी रचनाओंका क्रम घटित करनेपर पार्श्वाभ्युदयके अनन्तर 'जयधवला' टीका और उनके पश्चात् आदिपुराणका क्रम आता है। श्री डॉ० ज्योतिप्रसादने लिखा है[1]—"वीरसेन स्वामीके पट्ट शिष्य सेनसंघी आचार्य जिनसेन स्वामी अमोघवर्षके राजगुरु और धर्मगुरु थे। ये त्रिभिन्न भाषाविज्ञ एवं विविधविषयपटु दिग्गज विद्वान् थे। लड़कपनसे ही उनके साथ अमोघवर्षका सम्पर्क रहा था और वह उनकी बड़ी विनय करता था।" अतएव जिनसेनाचार्यका स्थितिकाल शक संवत् ६८०-७६५ (सन् ७५८-८३७ ई०) तक होना चाहिए। स्व० श्री पं० नाथूराम प्रेमीने अपने विस्तृत निबन्धमें जिनसेनकी गुरुपरम्परा और समयादिपर विचार किया है[2]। इस काव्यकी सुबोधि टीकामें पार्श्वाभ्युदयकी बहुत प्रशंसा[3] की गयी है।

पार्श्वाभ्युदयकी कथावस्तु

पोदनपुरके अरविन्द नरेश द्वारा बहिष्कृत कर दिये जानेपर कमठ सिन्धु नदीके तटपर तपश्चरण करने लगता है। बड़े भाईके इस निष्कासनसे दुःखी छोटा भाई मरुभूति तलाश करते-करते कमठके पास पहुँचता है। मरुभूतिको देखते ही कमठके हृदयमें क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो जाती है और वह नमस्कार करते हुए मरुभूतिके ऊपर पाषाण शिला गिरा देता है, जिससे उसका प्राणान्त हो जाता है। अनन्तर कई जन्मोंमें कमठका जीव मरुभूतिके जीवको तंग करता है। अन्तमें मरुभूतिका जीव वाराणसीमें महाराज विश्वसेन और महारानी ब्राह्मीदेवीके पुत्र-रूपमें जन्म ग्रहण करता है। अभिनिष्क्रमणके अनन्तर एक दिन तपस्या करते समय पार्श्वनाथ (मरुभूतिका जीव) के ऊपर शम्बर (कमठके जीव) की दृष्टि पड़ती है। उसका पूर्वकालीन वैर जागृत हो जाता है। वह अपनी मायाके प्रभावसे घोरवृष्टि उपस्थित कर देता है, सिंहके समान गर्जना करता है और उन्हें धिक्कारता है। इसपर भी जब पार्श्वनाथ अपनी साधनासे विचलित नही होते, तब कमठ उन्हे युद्ध करनेके लिए ललकारता है और युद्धमें अपने हाथसे मृत्यु पानेके बाद स्वर्गलोकस्थित अलकापुरी जानेका परामर्श देता है। शम्बर (कमठ) के विभिन्न प्रकारके दुर्वचनको सुनकर भी पार्श्वनाथ (मरुभूति) मौन ही रहता है। शम्बर इस अवसरपर पार्श्वनाथको विभिन्न पूर्वकथाएँ याद दिलाता है और अन्तमें पुन. युद्ध करनेके लिए प्रेरित करता है। युद्धमें पार्श्वनाथके मारे जानेकी सम्भावनाको

---

[1] भारतीय इतिहास ' एक दृष्टि, भा० ज्ञा० पी० काशी, सन् १९६१ ई० पृ० ३०१।

[2] प्रेमी, नाथूराम—विद्वद्रत्नमाला, बम्बई, सन् १९१२ ई०, पृ० १-८६।

[3] श्रीपार्श्वात्साधुत साधु कमठात्खलत' खल । पार्श्वाभ्युदयत. काव्यं न च क्वचिदपीष्यते।
—पार्श्वा० नि० ब०, १९६६ वि० ११९७।

लेकर स्वयं मेघरूप धारण करनेके कारण शम्बर पार्श्वनाथको भी मेघका ही रूप देकर उत्तर दिशाकी ओर स्वर्गस्थित अलकापुरी जानेका परामर्श देता है।

इस काव्यमें शम्बर (कमठ) यक्षके रूपमें कल्पित है और उसकी प्रेयसी भ्रातृ-पत्नी वसुन्धरा यक्षपत्नीके रूपमें कल्पना की गयी है । राजा अरविन्द कुबेर रूपमें वर्णित है, जिसने कमठको नगरनिर्वासनका दण्ड दिया था। मेघ पार्श्वनाथ (मरुभूति) को चित्रित किया है। कमठके अनुसार मरनेपर पार्श्वनाथ मेघरूपमें स्वर्ग जायेंगे। प्रसंगवश रामगिरिसे अलकापुरी तकके मार्गका वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम रामगिरिसे उत्तरकी ओर चलनेपर आम्रकूट पर्वत, तत्पश्चात् पुनः उत्तरकी ओर चलनेपर नर्मदा नदी, विन्ध्य-वन, दशार्ण देश और उसकी राजधानी विदिशा नगरीका वर्णन किया है। विदिशा नगरीमे वेत्रवती नदीके जलको ग्रहण करनेके बाद किसी अट्टालिकाके ऊपर दिन बिताकर रात्रिमें नीचैः नामक पर्वतपर विश्राम करने, तदनन्तर निर्विन्ध्या और सिन्धु नदियोंपर से होते हुए मेघ (पार्श्वनाथ-मरुभूति) को उज्जयिनी जानेका परामर्श दिया है। उज्जयिनीमें जिनेन्द्रके मन्दिरमें जिन-स्तुति के करने तथा महाकाल नामक वनमें स्थित जिनालयोंके दर्शन करनेके बाद नगरीकी शोभा देखनेका परामर्श दिया गया है।

उज्जयिनीके अनन्तर गम्भीरा नदी, देवगिरि पर्वत, चर्मण्वती नदी, दशपुर नगर, सीता नदी, ब्रह्मावर्त देश, कुरुक्षेत्र, कनखल, हिमालय, क्रौंचरन्ध्र और अलकापुरी पहुँचनेका अनुरोध किया गया है। कविने अलकापुरीका विविध भाव-भंगिमाओंके साथ शृंगारिक वर्णन कमठ (शम्बर) के मुखसे कराया है। इस प्रकार मेघ (पार्श्वनाथ-मरुभूति) के अलकापुरी पहुँच जानेपर उसकी पूर्वजन्मकी पत्नी वसुन्धरासे उसके मिलनेका वर्णन किया है। इस सन्दर्भमें वसुन्धराकी विरहावस्थाका वर्णन मेघदूतके यक्षकी प्रेयसीके समान ही सरस तथा भावुकता पूर्ण किया गया है।

शम्बर (कमठ) के द्वारा उक्त वर्णन किये जानेपर भी पार्श्वनाथ (मरुभूति) शान्त ही बना रहता है, इसपर शम्बर पुनः युद्धके लिए उसे प्रोत्साहित करता है। युद्धमें मृत्यु होनेपर स्वर्गमें जाकर किसी देवांगनाके साथ रहनेका प्रलोभन देता है। जब पार्श्वनाथ किसी भी प्रकार युद्ध करनेको तैयार नहीं होते तो वह अपनी मायाशक्तिसे स्त्री-समूहकी सृष्टि करते हुए गाना प्रारम्भ करा देता है और स्त्रियोंकी प्रणय चेष्टाओं तथा प्रियवचनोंके द्वारा उन्हें विमुग्ध करना चाहता है। इतनी शठता करनेपर भी जब पार्श्वनाथ ध्यानसे विचलित नहीं होते हैं, तो वह पाषाणोंकी वर्षा द्वारा उनका अन्त करना चाहता है। इस प्रकारके घोर उपसर्गको देखकर धरणेन्द्र और पद्मावती वहाँ आते हैं और उपसर्गको दूर करते है। शम्बर (कमठ) भयभीत होकर भागने लगता है। नागराज धरणेन्द्र उसे अभयदान देकर भागनेसे रोकते हैं और उसके पूर्व-जन्मोंकी याद दिलाते है। तीर्थंकर पार्श्वनाथको केवलज्ञान हो जाता है। इन्द्रादि देव केवलज्ञानकी पूजाके लिए आते है, शम्बर (कमठ) भी अपने कुकृत्योंके लिए पश्चात्ताप

करता है और तीर्थंकरका गुणगान करने लगता है। वह क्षमा-याचना करता हुआ धर्म ग्रहण करता है। देव आकाशसे पुष्प वर्षा करते हैं और दुन्दुभि वाद्य बजने लगते हैं।

समालोचन

पार्श्वाभ्युदय सन्देश या दूत काव्य है। जिनसेनने समग्र मेघदूतको समस्यापूर्ति द्वारा आवेष्टित कर इस काव्यका प्रणयन किया है। इसका प्रत्येक श्लोक मेघदूतके क्रमसे, श्लोकके चतुर्थांश या अर्द्धांशको समस्याके रूपमें लेकर गुम्फित किया गया है। समस्यापूर्तिका आवेष्टन तीन रूपोंमें पाया जाता है—(१) पादवेष्टित, (२) अर्द्धपादवेष्टित, (३) अन्तरितावेष्टित। अन्तरितावेष्टितमें भी एकान्तरित, द्वयान्तरित आदि कई प्रकार हैं। प्रथम पादवेष्टितमें मेघदूतके श्लोकका कोई एक चरण लिया गया है और द्वितीय अर्द्धवेष्टितमें कोई दो चरण। तृतीय अन्तरितावेष्टितमें तृतीय चरणको रखा गया है।

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या,
योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन्बद्धवैरेण दग्धः
कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः ॥१।१

—पादवेष्टित

वक्रोऽप्यध्वा जगति स मतो यत्र लाभोऽस्त्यपूर्वो,
मातुं शक्यं ननु वनपथात्कालिकाप्राज्ञुनान्तात्।
वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां,
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्या ॥१।१०२

—अर्धवेष्टित

एकान्तरित

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
गाढोत्कण्ठं करुणविरुतं विप्रलापायमानम्।
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा
त्वामुद्दिश्य प्रचलदलकं मूर्च्छनां भावयन्ती ॥३।३८

द्वयन्तरित

तन्त्रीरार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
स्वाङ्गुल्यग्रैः कुसुममृदुभिर्वल्लकीं मा स्पृशन्ती।
ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं शून्यचित्तानुकण्ठी
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥३।३९

कवि जिनसेनने मेघदूतके उद्धृत अंशके प्रचलित अर्थको अपने स्वतन्त्र कथानकमें प्रसक्त करनेमें बड़ी विलक्षणताका परिचय दिया है। कविने विभिन्न प्राकृतिक

दृश्यों एवं भावपूर्ण रम्य स्थानोंके चित्रणमे पूरी सहृदयताका परिचय दिया है। आम्रकूट पर्वतके शिखरपर मेघके पहुँचते समय पर्वतकी शोभाका वर्णन करते हुए लिखा है—

कृष्णाहिः किं वलयिततनुर्मध्यमस्याधिशेते
किं वा नीलोत्पलविरचितं शेखरं भूभृतः स्यात्।
इत्याशङ्कां जनयति पुरा मुग्धविद्याधरीणां
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ॥१।७०

विद्याधरियोंको पर्वतके शिखरपर स्थित श्यामवर्णके मेघको देखकर कृष्ण सर्प अथवा नीले कमलोंकी मालाका भ्रम हो रहा है।

कवि दृश्यचित्रणमे पटु है। इस वर्णनके आधारपर सुन्दर रेखाचित्र अंकित किया जा सकता है। रेवा नदीका वर्णन करता हुआ कवि रेवा नदीको पृथ्वीकी टूटी हुई बड़ी-सी माला बताकर उसके तटपर वन्य हाथियोंकी दन्तक्रीड़ा तथा पक्षियोंके मधुर कलरवका वर्णन कर कविने नदीके तटका चित्र-सा खींच दिया है।

गत्वोदीचीं भुव इव पृथु हारयष्टिं विभक्तां
वन्यैर्मानां रदनहतिभिर्भिन्नपर्यन्तवप्राम्।
वीनां वृन्दैर्मधुरविरुतैरात्ततीरोपसेवां
रेवां द्रक्षस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ॥१।७५

कवि सन्ध्याके समय महाकाल वनमे जिनमन्दिरमे पहुँचनेका चित्रण करता हुआ कहता है—"हे मेघ! महाकाल वनमें यदि सन्ध्याके समय तुम जैन मन्दिरमें पहुँचो तो सन्ध्याकालीन पूजाके बाद स्वेद बिन्दुओंसे भीगी हुई धीरे-धीरे चलती हुईं, अपने चरण-निक्षेपके साथ करधनीका शब्द करती हुईं कोमल कण्ठवाली चतुर गणिकाओंको तुम लीलामें ही बिखेरे हुए अपने जलकणोंसे सिक्त करना।"

सायाह्ने चेत्तदुपगतवान्धाम तत्कालपूजा-
संगीतान्ते श्रमजलकणैराचिताङ्गीः सुकण्ठीः।
मन्दं यान्तीश्चतुरगणिकाः शीकरैः संनयेस्त्वं,
पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः ॥२।९

इसके अनन्तर कवि चित्रण करता हुआ कहता है—"हे मेघ! यदि तुम जिन मन्दिरमे दिनमें पहुँचो, तो तुम्हे वहाँ मणियोंसे युक्त तथा बजते हुए नूपुरोंवाली, सुललित पदन्यासके साथ गाती हुईं, भ्रूविलास-युक्त, रत्नजटित दण्डवाले चामरोंसे थके हुए हाथों वाली, वर्षाके नवीन बिन्दुओंसे सिक्त तथा चंचल और ऊपरको देखती हुई गणिकाएँ देखनेको मिलेंगी।"

तास्तत्राह्नमणिमयरणन्नूपुराः पण्ययोषाः,
प्रोद्गायन्तीः सुललितपदन्याससमुद्भ्रूविलासाः।
पश्योत्पश्या नवजलकणद्विन्नसिक्ता विलोला
रत्नच्छायाखचितवलभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ॥२।१०

मेघदूतका यक्ष प्रेममें रूठी हुई अपनी प्रियाका चित्र गेरूरंगके पत्थरपर बनाकर उसके चरणोंमें अपने-आपको समर्पित कर देना चाहता है, पर अचानक आँसुओंका वेग उमड़ जानेसे चित्र धूमिल हो जाता है और चित्रमें भी मिलन नहीं हो पाता। इसी पद्यके भावको बदलते हुए कवि जिनसेनने स्वप्नमें संगम न हो सकनेका भावांकन किया है। कविके द्वारा विरहिणीकी दीनताका किया गया चित्रण भाव-सौन्दर्यकी दृष्टिसे श्लाघ्य है—

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पबाणैर्मदङ्गं
तल्पे नाल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृसे।
तीव्रापायस्त्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नाप्तं,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्त. ॥ ४।३५

शम्बर (कमठ) पार्श्वनाथ (मरुभूति) को क्रोधित करनेका पूरा प्रयास करता है. वह अपशब्दोंका प्रयोग करता है, पर पार्श्वनाथ अपने ध्यानमें अटल रहते हैं। कवि जिनसेनने द्वितीय और तृतीय पंक्तिकी समस्यापूर्ति करते हुए कहा है—

यो भो भिक्षो मयि सहरुषि क्व प्रयास्यस्यवश्यं
त्वामुद्धेति प्रणिपतनकैः सारमिष्यं नतप्रम्।
न प्राणान् स्वान् घटयितुमलं तावको निर्भयो वा
मुक्ताजातं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ॥ ४।२

हे भिक्षो ! मेरे क्रुद्ध होनेपर तुम कहाँ जाओगे ? मैं तुम्हे अपनी तलवारकी नोकका शिकार अवश्य बनाऊँगा। चिरकालसे अभ्यस्त मौक्तिक आभूषणोंको देववश छोड़ देनेका तुम्हारा निर्णय भी तुम्हारे प्राणोको बचाये नहीं रख सकता।

किं ते वैरिद्विरदनघटाकुम्भसंभेदनेषु
प्राप्तस्थेमा समरविजयी वीरलक्ष्म्याः करोऽयम्।
नास्मत् खड्गः श्रुतिपथमगाद्रक्तजानांत्सवानां
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम् ॥ ४।३

हे भिक्षो ! वैरियोके हाथियोके कुम्भस्थलको विदीर्ण करनेमें अभ्यस्त समर विजयी, युद्धमे कार्य करनेके उपरान्त (सम्भोगान्ते) मेरे हाथों द्वारा संवहन करने योग्य तथा वीर लक्ष्मीके बाहुस्वरूप इस मेरे खड्गका क्या तुमने नाम नहीं सुना है ?

इस प्रकार समस्यापूर्ति करनेपर भी कविने नवीन भावोंकी योजना की है। अनावश्यक वर्णनोंकी भरमार रहनेसे कथानकमे शिथिलता आ गयी है। मार्ग-वर्णन और वसुन्धराकी विरहावस्था इस काव्यमें मेघदूतके समान ही वर्णित है। परन्तु सन्देश कथन मेघदूत जैसा इस काव्यमें नहीं है। शम्बर (कमठ) पार्श्वनाथ (मरुभूति) की धीरता, सौजन्य और सहिष्णुतासे प्रभावित हो वैरभाव छोड़कर उनकी शरणमें चला आता है तथा अपने अपराधोके लिए पश्चात्तापपूर्वक क्षमा याचना करता है।

प्रस्तुत काव्यमें जैनधर्मका कही कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है। कैलासपर्वत और महाकालवनमे जिनमन्दिरों और अर्हत् प्रतिमाओंका निर्देश अवश्य किया है। कविने जहाँ-तहाँ सुन्दर सूक्तियोंकी योजना कर रमणीयता उत्पन्न करनेका प्रयास किया है। 'रम्यस्थानं त्यजति न मनो दुर्विधानं प्रतीहि' (१।७४), 'पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव' (२।६५) आदि सूक्तियाँ उपलब्ध हैं।

इसमें सन्देह नही कि समस्यापूर्तिकी दृष्टिसे यह काव्य अद्वितीय है। कविने कालिदासके मूलभावोको सुन्दर ढंगसे पल्लवित किया है। कहीं-कही कालिदासके भावोंको प्रसंगान्तरमे कलापूर्ण सूक्ष्मतासे सन्निविष्ट करनेका सुन्दर प्रयास किया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि जिनसेनने समस्त मेघदूतको इसमें समाविष्ट कर लिया है। अतः इसके आधारपर मेघदूतका शुद्ध पाठ तैयार किया जा सकता है।

नेमिदूत

मेघदूतके चतुर्थचरणकी समस्यापूर्तिके रूपमें इस काव्यकी रचना की गयी है। इसमे कुल १२६ पद्य है। तीर्थंकर नेमिनाथका चरित वर्णित है। काव्यके रचयिता विक्रम कवि है। कविके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें तीन विचारधाराएँ उपलब्ध होती है।

प्रथम विचारधाराके प्रवर्तक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं, आपने अपनी विद्वद्रत्नमाला तथा जैनसाहित्य और इतिहासमें इस कविको दिगम्बर जैन सम्प्रदायका कवि सिद्ध करते हुए लिखा है—"खम्भातके चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिरमे एक विस्तृत शिलालेख है, जो कि वि० सं० १३५२ का है। इस लेखके २८वें पद्यसे ३१वें पद्य तक मालवा, सपादलक्ष और चित्रकूट (चित्तौड़) से खम्भातमें आये हुए सागण, जयता और प्रह्लादन आदि धनी श्रावकोका उल्लेख हैं, जिन्होने उक्त मन्दिरकी निरन्तर पूजा होते रहनेके लिए व्यापारपर कुछ लाँग बाँध दो थी। इनमेसे सांगण हुंकारवंश (हूबड़) के और जयता सिंहपुर वंश (नरसिंहपुरा) के थे। सम्भव है कि इनमें से पहले श्रावक सांगणके ही पुत्र विक्रम हों और सांगण आदि दिगम्बर सम्प्रदायके मालूम होते हैं। क्योकि इस लेखके चौथे पद्यमें सहस्रकीर्ति और सत्ताईसवें पद्यमें यशःकीर्ति गुरुका उल्लेख है और ये दोनों दिगम्बर साधु है। इसके सिवाय हूंबड़ और नरसिंहपुरा जातियोंके श्रावक इस समय भी दिगम्बर आम्नायके अनुयायी है।"[1]

दूसरी विचारधाराके प्रवर्तक श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई है। आपने 'जैन साहित्यनी संक्षिप्त इतिहास' में सागण सुत विक्रमको गुर्जर महाकवि ऋषभदासका भाई माना है और इनका समय वि० सं० १७वी शती निर्धारित किया है। श्रीप्रेमीजीने देसाईजीके मतकी आलोचना की है।[2]

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, द्वितीय संस्करण, पृ० ३६१।

[2] जैन साहित्य नी संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, सन् १९३३ ई०, प्र० २८९, ४८५, ७९०, ७९२, ८८२, ८९६, ९०४, १००३।

तीसरी विचारधाराके प्रवर्तक मुनि श्रीविद्याविजयजी हैं। आपने उक्त दोनों मान्यताओंके अतिरिक्त एक तीसरी मान्यताकी स्थापना करते हुए विक्रमकी १२वीं सदीके कर्णावतीके मन्त्री सांगणका पुत्र कहा है।[१]

उपर्युक्त तीनों मान्यताओंको समीक्षा करते हुए मुनि विनयसागरजीने लिखा है—''खरतरगच्छालंकार युग प्रधानाचार्य गुर्वावलि (१४वी शतीके उत्तरार्द्धकी रचना) मे श्री जिनपति सूरिजीके शिष्य श्रीजिनेश्वर सूरिजीने वि० सं० १२८५-१३३० तक लगभग १२-१५ शिष्य कीर्तिनन्दीने दीक्षित किये थे, जिनमें यशःकीर्तिका उल्लेख प्राप्त है। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि इसी गुर्वावलीमें सं० १२२६ में श्रीजिनेश्वर सूरिजीकी अध्यक्षतामें जो यात्रासंघ निकला था, वह क्रमशः यात्रा करता हुआ खम्भात पहुँचा था। वहाँ मन्दिरजीमें फूल-मालाकी बोलियाँ हुई थी। उनमें सांगणसुतने आठ द्रम्ममें चमत्कारक पद धारण किया था।

जिस हुंबड़ जातिको देखकर कविको दिगम्बर बतलाया गया है, वह हुंबड जाति श्वेताम्बरोमें भी होती है और आज भी मालवदेशस्थ प्रतापगढमें लगभग ७५ घर हुंबड जातिके हैं; वे सब श्वेताम्बर हैं और पूर्वमें भी १२वी शतीके युगप्रधान दादा पदधारक श्रीजिनदत्त सूरिजी भी हुंबड़ जातिके ही थे।''[२]

नेमिदूत काव्यके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि यह कृति असाम्प्रदायिक है। श्वेताम्बर या दिगम्बर आम्नायकी कोई बात नही कही गयी है। अतएव जब तक कविके गण गच्छका पता न लगे, तबतक उसके आम्नायका यथार्थ निश्चय नही किया जा सकता है। केवल श्वेताम्बर सम्प्रदायकी वृत्तिके आधारपर कविको श्वेताम्बर मानना उचित नही। प्रेमीजीके तर्कोंका अभी खण्डन नही हो सका है।

नेमिदूत काव्यकी एक पाण्डुलिपि वि० सं० १४७२ की लिखी हुई है और दूसरी वि० सं० १५१९ की है।[३] अतः वि० स० १४७२ के पूर्व कविको माननेमें किसी प्रकारका विरोध नही है। प्रेमीजीने १३वी शती[४] और विनयसागरजीने १४वी शती माना है।

कथावस्तु

नेमिकुमारके विरक्त होकर तपश्चरणके लिए जानेपर विरहविधुरा राजीमतीने एक वृद्ध ब्राह्मणको उनका कुशल समाचार लेने श्री नेमिकी तपोभूमिमें भेजा। पश्चात् पिताकी आज्ञा लेकर स्वयं एक सखीके साथ वहाँ पहुँचकर अनुनय-विनय करती हुई अपने विरह-दग्ध हृदयकी भावनाओंको प्रलापरूपमें व्यक्त करने लगी।

---

[१] नेमिदूत, कोटा प्रकाशन, बि सं० २००५, प्रस्तावना पृ० २।

[२] वही, प्रस्तावना, पृ० ३।

[३] नेमिदूत, कोटा प्रकाशन, वि० सं० २००५, प्रस्तावना, पृ० ४।

[४] जैन सा० और इ०, द्वि० सं०, पृ० ३६१।

पतिके त्याग-तपश्चरणका प्रभाव उसपर भी इतना अधिक पड़ा कि वह भी तपस्विनी बनकर तपस्या करने लगी।

कविने इस काव्यमें नाना प्रकारसे द्वारका नगरीके सौन्दर्य और वैभवका चित्रण किया है। राजीमति विविध उपायोंसे नेमिकुमारको सांसारिक सुखोंका उपभोग करनेके लिए प्रेरित करती है। रैवतक पर्वतसे द्वारका तकके मार्ग तथा मार्गमें पड़नेवाले विविध प्राकृतिक दृश्योंका बड़ा ही सरल वर्णन किया गया है। रैवतक पर्वतसे नीचे उतरनेपर स्वर्ण-रेखा नदीके दूसरे तटपर स्थित वामनपुरी, तदनन्तर भद्रा नदी, उसके पास पौर नामक नगरका उल्लेख किया गया है। अनन्तर गन्धमादन, वेणुलपर्वतके पश्चात् द्वारका पहुँचनेका अनुरोध किया गया है। इस प्रसंगमें द्वारका नगरीका विविध भाव-भंगिमाओंके साथ सरस चित्रण किया गया है। जब नेमिकुमार राजीमतिका अनुरोध स्वीकार कर द्वारका नहीं लौटते तो सखी राजीमतिकी विरहावस्थाका करुणापूर्ण चित्रण करती है और वह भी नेमिकुमारसे द्वारका चलनेकी प्रार्थना करती है। अन्तमें नेमिकुमार दयार्द्र हो राजीमतिको धर्मोपदेश देते हैं। राजमति भी विषय-भोगोंकी निस्सारताका अनुभव कर आर्यिका बन जाती है। वृद्ध ब्राह्मणको दूतके रूपमें भेजे जानेके कारण ही सम्भवतः इस काव्यका नाम नेमिदूत रखा गया होगा। डॉ० फतेहसिंहका मत है— "नेमिने राजीमतिको पत्नी रूपमें ग्रहण न करनेपर भी आनन्दरथकी संगिनीके रूपमें ग्रहण करना निश्चित कर लिया था, जिसके लिए ही 'अदृष्ट' शक्तियाँ राजीमतिको तैयार करके लायी थीं—नेमिनाथके दूतोंने इस प्रकार अदृश्य रूपमें उनका सन्देश राजीमति तक पहुँचाया था। सचमुच यह विचित्र दूतकर्म था। अतः श्री प्रेमीजीका यह कथन ठीक है कि इसका 'नेमिचरित' नाम बहुत सोच-समझकर रखा गया है।"[1]

समालोचन

नेमिदूत काव्यमें केवल नायिकाकी विरहावस्थाका चित्रण पाया जाता है और वह संसारसे विरक्त नायकको अपनी ओर अनुरक्त करनेका पूरा प्रयास करती है। काव्यमें वृद्ध ब्राह्मण अवश्य दूतके रूपमें आता है, पर कविने उससे दूतका कोई भी कार्य नहीं लिया है। राजीमति स्वयं अनुनय-विनय करती है और उसकी सखी राजीमतिकी विरहवेदना एवं मानसिक अवस्थाका निवेदन करती है। इस प्रकार कविने नायिकाके शील और लज्जाका सुन्दर ढंगसे निर्वाह किया है। पतिपरायणा साध्वी भारतीय नारी अपने मुखसे आराध्यके समीप मर्यादाका अतिक्रमण नहीं कर सकती है।

काव्यमें विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रसका अपूर्व गंगा-यमुनी संगम हुआ है। काव्यका आरम्भ विरहसे होता है, पर उसकी समाप्ति शान्त रसमें होती है।

---

[1] डॉ० फतेहसिंह—साहित्य और सौन्दर्य, संस्कृति सदन, कोटा, अनंकित तिथि, पृ० ६६।

राजीमतिके विप्रलम्भका जन्म विवाहोपरान्त सम्भोगकी आशा, अभिलाषा और संभावनाके विनाशसे होता है। वियोगकी परिणति सुखान्त होते हुए भी शृंगारमें न होकर शान्तरसमें होती है। नायक-नायिकाका मिलन शारीरिक भोगोंके लिए नहीं, मोक्ष सौख्यकी प्राप्तिके लिए होता है। कवि कहता है—

चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः,
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ १२४

जीवनका चरम लक्ष्य सम्भोग नहीं है, यह तो तपोमय जीवनको आरम्भ करनेकी पृष्ठभूमि है। जीवनका साध्य या लक्ष्य मोक्ष है, अतः भोग-बुद्धिकी निस्सारताको समझकर केवल कर्तव्य-भावसे संयोगमें प्रवृत्त होकर निष्कामभावसे कर्म करता हुआ मुक्तिकी ओर अग्रसर होता जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि विरक्त हो शाश्वतिक सुख-प्राप्तिके हेतु प्रयत्न करता है। कुमारसंभवके समान नेमिदूतका नायक भी योगासक्त होकर पर्वत शिखरपर बैठा है और नायिका अभिलाषा हेतुक वियोगसे व्यथित हो सामने खड़ी हो प्रेमकी याचना करती है। वह लौकिक सौन्दर्य, वैभव और आकर्षणका वर्णन करती है, नायकको कर्तव्यका ध्यान दिलाती है। अन्तमें पार्वतीके समान निराश हो सखी-मुखसे अपने पवित्र प्रेम एवं विरहवेदनाका सजीव वर्णन करती है। पार्वतीके समान उसकी माता भी राजीमतिको समझाती है, पर उसकी व्यथा कम नही होती।

मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय दुःखं सखीना-
मन्तश्चित्तेष्वजनयदियं पाणिपङ्केरुहाणि।
हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदति संघती कोमलाभ्याम्
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥१०६॥

स्वप्नमे कभी-कभी प्रिय मिलन हो जाता है, वह बात करनेके लिए मुँह खोलती है, पर क्रूर कृतान्त को यह सह्य नही है—

रात्रौ निद्रां कथमपि चिरात् प्राप्य यावद्भवन्तं,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किंचिदिच्छामि वक्तुम्।
तावत्तस्या भवति दुरितैः प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगमं नौ कृतान्तः ॥११३॥

कविने राजीमतिकी विरहवेदना और करुणदशाका ३२ पद्यों (९०-१२१) में चित्रण किया है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियोंसे ये पद्य सुन्दर हैं। प्रेम-विरह विह्वल राजीमति न तो अच्छी तरह सो पाती है और न उसकी इस अवस्थाको जागृत अवस्था ही कह सकते हैं। कविने इस अवस्थाका बहुत ही सरस चित्रण किया है—

अन्तर्भिन्ना मनसिजशरैर्मीलिताक्षी मुहूर्तं,
लब्ध्वा संज्ञामियमथ दृशावीक्षमाणार्तिदीना ।
शय्योत्संगे नवकिशलयसंस्तरे शर्म लेभे
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता ॥९९॥

इस प्रकार कविने विप्रलम्भ शृंगारका अति सरस चित्रण किया है। शान्तरसमें पर्यवसान होनेपर भी काव्यमें शृंगारपूर्ण अनेक भाव-चित्र पाये जाते हैं। रैवतक पर्वतसे द्वारिकाके निकट क्रीड़ाशैलपर पहुँचनेके समय नेमिनाथको देखकर सुन्दरियोंके मनमे उत्पन्न होनेवाली विभिन्न भावावलियाँ और शारीरिक चेष्टाओंका कवि अंकन करता है—

तस्मिन्नुद्यन्मनसिजरसाः प्रांशु शाखावनाम-
व्याजादाविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्चीकलापाः ।
संधास्यन्ते त्वयि मृगदृशस्ता विचित्रान् विलासान्,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥३०॥

द्वारकाकी रमणियाँ भी मेघदूतकी अलका नगरीकी रमणियोंके समान मुग्ध हैं। कवि कहता है—

रात्रौ यस्यामुपसखि भृशं गात्रसंकोचभाजां
रागेणान्धैः शयनभवनेषूल्लसद्दीपवत्सु ।
प्रेम्णा कान्तैरभिकुचयुगं ह्यग्निर्वधूनां
ह्रीमूढानां भवति विफलः प्रेरितश्चूर्णमुष्टिः ॥७५॥

समस्यापूर्तिके बन्धनमें रहनेपर भी कविकी रचनामें कृत्रिमता नही आ पायी है। भाषा प्रसादगुण युक्त है और काव्यमें सर्वत्र प्रवाह है। जिस प्रकार मेघदूतका यक्ष प्रेयसीके स्पर्शसे आयी हुई वस्तुमे स्पर्शसुखका अनुभव करता है, उसी प्रकार राजीमति भी नेमिनाथके स्पर्शसे आयी हुई (प० ११५) वायुमे स्पर्श-सुखका आनन्दानुभवन करती है। काव्य सरस और सुन्दर है। शान्तरस प्रधान होने हुए भी विरह भावनाका सजीव और सांगोपांग चित्रण किया गया है।

जैनमेघदूतम्[1]

कवि मेरुतुंगने महाकवि कालिदासके मेघदूतके अनुकरणपर प्रस्तुत काव्यकी रचना की है। यह स्वतन्त्र रचना है, समस्यापूर्ति-आत्मक नही है। काव्य चार सर्गोंमें विभक्त है और १९६ पद्य हैं।

जैन साहित्यमें मेरुतुंग नामके दो विद्वान् हुए है। प्रथम नगेन्द्रगच्छके आचार्य चन्द्रप्रभसूरिके शिष्य थे। इनका प्रबन्ध चिन्तामणि[2] नामका अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ

---

[1] शीलरत्न सूरि विरचित वृत्ति सहित, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२४ ई० में प्रकाशित।

[2] सिंघी जैन विद्यापीठ, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, वि० सं० १९८९ में प्रकाशित।

प्रसिद्ध है। इसकी रचना वि० सं० १३६१ (ई० सन् १३०४) में की[1] है। द्वितीय मेरुतुंग अंचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरिके शिष्य हैं। यही प्रस्तुत काव्यके रचयिता हैं। इनका जन्म मारवाड़के माणी ग्राममें हुआ था। इस ग्राममें पोरवालवंशीय वहोरा वीरसिंह रहते थे, जिनकी पत्नीका नाम नालदेवी था। इस नालदेवीके गर्भसे वि० सं० १४०३ में कवि मेरुतुंगका जन्म हुआ था। बचपनमें इनका नाम वस्तिक, वस्तो या वस्तपाल था। अंचलगच्छके महेन्द्रप्रभ इस गाँवमें विहार करते हुए आये और इनसे वहोरा वस्तिकने दीक्षा ग्रहण की। इसी समय वस्तिकका नाम मेरुतुंग रख दिया गया। मेरुतुंगने संस्कृत, प्राकृत और इनसे सम्बद्ध विविध भारतीय भाषाओं और शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया। वि० सं० १४२६ (सन् १३६९ ई०) में इन्हें सूरिपद और वि० सं० १४४५ (सन् १३८८ ई०) फाल्गुन कृष्णा एकादशीको इन्हें गच्छ नायकका पद प्राप्त हुआ[2]। वि० सं० १४७१ (सन् १४१४ ई०) में मार्गशीर्ष पूर्णिमाके दिन पाटनमें इनका देहावसान हो गया।

कविने सप्ततिका भाष्यमें भाष्य रचनेका समय अंकित किया है[3], जिससे इनका समय वि० सं० १४४९ के आसपास सिद्ध होता है। अंचलगच्छकी पट्टावलीके आधारपर मेरुतुंगका समय सन् १३४६-१४१४ तक निर्णीत हुआ है। कविकी आठ रचनाएँ[4] जैनमेघदूत, सप्ततिका भाष्य, लघुशतपदी, धातुपारायण, षड्दर्शन समुच्चय, बालबोध व्याकरण, सूरिमन्त्र सारोद्धार और बालबोध व्याकरणकी वृत्ति हैं।

काव्यकी कथावस्तु

नेमिकुमार पशुओंके करुण चीत्कारको सुनकर वैवाहिक वेष-भूषाका त्याग कर मार्गमेंसे ही मुनि बन तपस्या करने रैवतक (गिरनार) पर चले गये। राजीमति जिसके साथ नेमिकुमारका विवाह हो रहा था, उक्त समाचारको सुन शोकाभिभूत हो गयी। उसे कुछ क्षणोंके लिए मूर्च्छा आ गयी। सखियों द्वारा चन्दनादिका उपचार किये जानेपर उसे होश आया और वह मेघको देखकर कह उठी—

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यराङ्क्षीत्-
तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानसं भावि हा किम् ॥१।४

---

१. त्रयोदशस्वब्दशतेषु चैकषष्ट्यधिकेषु क्रमतो गतेषु।
वैशाखमासस्य च पूर्णिमायां ग्रन्थः समाप्तिं गमितो मितोऽयम् ॥
—प्रब० चि०, प्रशस्ति पद्य ५

२ देखें—जैन मेघदूत, जै० आ० भा०, १९२४ ई०, प्रस्तावना, पृ० १५-१६।

३. व्यधानि नन्दाम्बुधिवेदसोमसंवत्सरे सप्ततिभाष्यटीका—वही, प्रस्तावना, पृ० १६ पर उद्धृत।

४. काव्यं श्रीमेघदूताख्यं षड्दर्शनसमुच्चयः।
वृत्तिर्बालावबोधाख्या धातुपारायणं तथा।—वही, प्र० पृ० १६ पर उद्धृत।

इस प्रकार प्रिय वियोगसे व्यथित राजीमति मेघको देखकर आकुलित हो जाती है, वह उसका स्वागत करती है और अपने पतिका परिचय देती है। इस परिचयके सन्दर्भमें नेमिकुमारकी बालक्रीड़ा, पराक्रमपूर्ण कार्य, विविधवसन्त-क्रीड़ाएँ, विवाह-महोत्सव और गृहत्यागका वर्णन किया गया है। राजीमति अपनी विरहावस्थाका निरूपण करते हुए प्राणनाथको दिये जानेवाले सन्देशको सुनाती है। इस सन्देशको सुनकर सखियाँ राजीमतिको समझाती हैं कि नेमिकुमार मानवताकी प्रतिष्ठाके लिए वीतरागी हुए हैं, अतः वे अब तुमसे अनुराग नही कर सकते। कहाँ मेघ, कहाँ यह तेरा सन्देश और कहाँ उनकी वीतरागी प्रवृत्ति? इन सबका मेल नही बैठता। अतः तुम शोकका त्याग कर वीतरागी प्रभुसे व्रतग्रहणकर आत्मकल्याणमें प्रवृत्त हो जाओ। राजीमति सखियोके परामर्शानुसार आर्यिका बन जाती है।

समालोचन

कालिदासके मेघदूतके समान इस काव्यमें भी मेघको दूत निर्वाचित करते समय उसकी कुशल-वार्ता पूछी गयी है, उसके चरित्र और कुलवंशकी प्रशंसा की गयी है तथा उसका स्वागत किया है। नेमिनाथका परिचय दिया है, पर भौगोलिक स्थानोके निर्देशका अभाव है। प्रियके वियोगमें राजीमति अत्यन्त खिन्न है, मेघके देखते ही उसका हृदय फूट पड़ता है :—

हेतोः कस्मादहिरिव तदासञ्जिनीमप्यमुञ्च-
न्मा निर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाते।
यद्वा देवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
त्तणस्य स्मात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः॥१।७॥

इस काव्यके द्वितीय सर्गमें कविने नेमिकुमारकी श्रीकृष्णकी स्त्रियोके साथ की गयी क्रीड़ाओंका सुन्दर चित्रण किया है। श्रीकृष्णकी कोई पत्नी नेमिकुमारकी कमरमें रक्तोत्पलकी करधनी पहनाती थी, कोई हँस-हँसकर उनसे बातें करती थी, कोई चन्दन द्रवका लेपन करती थी, कोई उनके वक्षस्थलमें सुन्दर, सरस पुष्पोंकी माला पहनाती थी। कामदेवके पुष्पबाण बताये जाते हैं, पर विभिन्न पुष्पोंके हार आपके हृदयका भेदन न कर सके, वे ऊपर ही रह गये। कोई वामा पारिजात पुष्प उनके कानमें पहनाती थी, कोई मल्लिका पुष्पकी माला उन्हें पहनाती, कोई उन्हें वकुल पुष्पके केयूर पहनाती और कोई कमलतन्तुकी मुद्रिका पहनाती थी[1]।

राजीमति समस्त विरहियोके शोकको सावसान मानती है। वह कहती है कि रात्रिमें चकवा-चकवीका वियोग हो जाता है, पर प्रातःकाल पुनः संयोग हो जाता है, चकोरीका चन्द्रसे दिनमे वियोग रहता है, पर रात्रि होते ही संयोग हो जाता है।

---

[1] जैनमेघदूत २।२१-२३।

नीलकण्ठी-मयूरी वर्षाऋतुमें शोकसे मुक्त हो जाती है, पर मेरा यह वियोग अन्तहीन है। यथा—

कोकी शोकाद्वसतिविगमे वासरान्ते चकोरी,
शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकण्ठी।
त्यक्ता पत्या तरुणिमभरेकक्षुकश्चक्रिणेवाऽ-
मत्रं वारां ह्रद इव शुचामामवं त्वामवं भोः ॥४।९॥

राजमति नेमिकुमारके प्रति अपना सन्देश देती हुई कहती है—

यां क्षैरेयीमिव नवरसां नाथ वीवाहकाले,
सारस्नेहामपि सुशिशिरां नाग्रहीः पाणिनापि।
सा किं कामानलतपनतोऽतीव बाष्पायमाणा-
नन्योच्छिष्टा नवरुचिभृताप्यद्य न स्वीक्रियेत ॥४।१७॥

हे नाथ! विवाहके अवसरपर अत्यन्त शान्त (शीतल), नवीन शृंगार, (माधुर्य) युक्त तथा उत्कृष्ट प्रेमसे पूर्ण मुझको आपने क्षैरेयीकी तरह अपने हाथसे स्पर्श तक नहीं किया। आज मै कामानलसे तप्त हूँ। किसी अन्यके साथ मेरा सम्पर्क भी नही हुआ है। आप मुझे स्वीकार क्यों नही कर लेते?[1]

यदि आपको छोड़ना ही था, तो प्रथम मुझे स्वीकार ही क्यों किया। आप पशु-पक्षियों पर दया करते हैं, पर मुझ भक्तको सन्तुष्ट नहीं करते।

हे नाथ! आपने सम्बन्धियोके आग्रहसे विवाह करना स्वीकार किया, पर आप अपने श्वसुरके द्वारपर आनेके पहले ही लौट गये। इस प्रकार तो चार वर्षके बच्चे तकको धोखा नही दिया जाता है।[2]

हे नाथ! यदि बाल-क्रीड़ाएँ तथा अन्य पराक्रम लीलाएँ आपने केवल अपने गुरुजनोंके मनको प्रसन्न करनेके लिए ही की, तो मेरी प्रसन्नताके लिए आप विवाह क्यों नहीं करते। जब वृद्धावस्था आ जाये तो आप तपस्या करने चले जाइए।[3]

हे नाथ! यह कामदेव अपने विषम बाणोंसे मुझे बहुत सता रहा है। अपने तिरस्कारकी ज्वाला मुझे व्याकुल कर रही है। अपनी इस अचेतावस्थामें यदि मैं किसी खाईमें कूद पड़ूँ तो क्या होगा? हे नाथ! मुझमें किसी दोषका आरोप करके यदि छोड़ा होता तो उचित भी था। इस तरह तो आपपर एक निर्दोष स्त्रीके परित्यागका कलंक लगेगा। बिना किसी बहाने यमराज भी तो प्राणियोंको नहीं मारता है[4]। वह शोकको अन्तिम अभिव्यंजना करती हुई कहती है।

---

[1] जैनमेघदूतम्—भावनगर, सन् १९२४ ई०, ४।१५।

[2] वही, ४।१८।

[3] वही, ४।२४।

[4] वही, ४।२०।

कर्पूं कर्पूमिव निवसितं सद्दुकूलं कुकूलं
रकाक्षं दावं नलिनमलिनं भूषणं त्र्यूषणं वा ।
सर्वं सर्वंकषविषमसौ मन्यतेऽनन्यनेमौ
नेमौ नेमौ भवति भवति स्पष्टमस्वालतायाः ॥४।२९॥

हे नाथ ! तुम्हारे वियोगमें मुझे शीतल नदी अंगार परिखाके समान, रेशमी वस्त्र तुषाग्निके समान, चन्द्रमा दावाग्निके समान, कमल वृश्चिकके समान और समस्त आभूषण त्रिकटुकी औषधिके समान अप्रिय लगते हैं। पुष्प, ताम्बूल और मधुर भोजन विषके समान प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार काव्यमें विरह भावनाकी व्यंजना हुई है। कविने "वानस्पत्याः कलकिशलयैः कौशिकाभिः प्रवालैः" (२।२) पद्यके पूर्वार्धमें अपह्नुति और रूपक एवं उत्तरार्धमें उत्प्रेक्षा और श्लेषकी सुन्दर योजना की है। अतः प्रस्तुत काव्यकी भाषा-शैली, अलंकार, रस, भावविश्लेषण एवं पदलालित्यकी दृष्टिसे संस्कृत दूतकाव्योंमें अपना पृथक् स्थान है। भावविश्लेषणमें कविको अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

शीलदूतम्[1]

मेघदूतके पद्योंके अन्तिम चरणोंको लेकर समस्यापूर्तिके रूपमें यह काव्य लिखा गया है। इस काव्यके रचयिता चारित्रसुन्दरगणि हैं, इनके सम्बन्धमें महीपालचरितके अनुशीलन प्रसंगमें लिखा जा चुका है। यह काव्य वि० सं० १४८७ में लिखा गया है। शील जैसे भावको दूत बनाना कविकी मौलिक प्रतिभाका परिचायक है।

कथावस्तु

स्थूलभद्र अपने पिताकी मृत्युका समाचार सुनकर विरक्त हो जाता है और एक पर्वतपर आश्रम बनाकर रहने लगता है। एक बार भद्रबाहु स्वामीसे उसका साक्षात्कार होता है, वह उनसे दीक्षा ग्रहण करता है। गुरुके आदेशसे अपनी नगरीमें आता है। वहाँ उसकी रानी कोशा उसे गृहस्थीमें पुनः प्रविष्ट होनेके लिए निवेदन करती है। वह तर्क देती है कि यदि आपको पुण्यको प्राप्त करना है तो दान, पूजा, परोपकार आदि कार्योंको करके पुण्यार्जन कर सकते हैं। आप सोचिए कि आपने मेरे साथ किस प्रकारकी क्रीड़ाएँ की थी। आपके अभावमें मेरी बुरी स्थिति हो रही है। गृहस्थीमें प्रवेश कर परिजन-पुरजनको आनन्दित करनेकी कृपा कीजिए। रानीके इन वचनोंको सुनकर स्थूलभद्रने कहा—' भद्रे ! अब मुझे विषयोंसे राग नहीं है, मुझे चित्र-शाला भी वनके समान प्रतीत होती है। संसारके समस्त सुख अनित्य और क्षण-विध्वंसी हैं। ज्ञान और चरित्र ही आत्माके शोधनमें सहायक हैं।

---

[1] शीलदूतम्—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वि० स० २४३६।

स्थूलभद्रकी उक्त बातोंको सुनकर कोशाकी सखी चतुरा उनसे पुनः निवेदन करती है—

"हे सुभग ! क्या तुम्हारा हृदय वस्तुतः इतना कठोर हो गया है। तुम्हारी प्रेयसीने कितने दिन रोते-रोते व्यतीत किये हैं। उसने कितने ज्योतिषियोंसे तुम्हारे आनेके सम्बन्धमें पूछा है। इसकी आँखें रोते-रोते सूज गयी है। क्या तुम्हें इसके ऊपर दया नही आती। रानीकी सखीके वचनोको सुनकर स्थूलभद्र पुनः कहता है—

"आर्ये ! मैंने समता दृष्टि प्राप्त कर ली है। मेरे लिए स्त्री और तृण समान हैं। इस समय मुझे जो आनन्द प्राप्त हो रहा है, वह वचनातीत है। अब तुम भी जैनी दीक्षा स्वीकार कर शाश्वत सुख प्राप्त करो। वास्तविक सुख त्यागमें होता है, भोगमें नही।

कोशाका मन पवित्र हो जाता है, उसकी वासनाएँ जल जाती है और वह स्थूलभद्रके चरणोंमें गिर पड़ती है। वह भी साधनामार्गमें संलग्न हो जाती है, स्थूलभद्र सूरीश बनते हैं।

समालोचन

शीलदूतमें कुल १३१ पद्य हैं और पूर्व एवं उत्तर मेघ जैसा विभाजन नहीं है। काव्यका नायक स्थूलभद्र अपनी प्रेयसी कोशाको अपने शीलके प्रभावसे प्रभावित कर जैनधर्ममें दीक्षित करता है। इसी आधारपर इस काव्यका नाम शीलदूत रखा गया है। यो इस काव्यमें किसीको दूत बनाकर नही भेजा गया है। कोशाकी सखी चतुरा स्थूलभद्रसे कोशाकी विरह वेदनाकी अभिव्यंजना अवश्य करती है, पर दूत जैसा कार्य उसने भी नहीं किया है।

इस काव्यमे विप्रलम्भ शृंगारकी प्रधानता रहनेपर भी शान्तरस ही है। नायिका अपनी विरह अवस्थाका निवेदन नायकसे करती है, पर नायक अपने त्याग, संयम और शीलके प्रभावसे उसे सांसारिक भोगोंसे विरक्तकर त्याग मार्गपर ले आता है। इस काव्यमे भी कोशाकी विरहावस्थाका अच्छा चित्रण हुआ है। कोशा स्थूलभद्रको घरपर रहनेके लिए प्रोत्साहित करती हुई कहती है—

> तातै याते त्रिदशभवनं युष्मदाशानिबद्धा
> ये जीवन्ति प्रिय ! परिहरंस्तान्न किं लज्जसे त्वम् ?
> आयाभावात् त्वयि सति गते बान्धवास्तेऽस्तवित्ताः
> संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥२५॥

उक्त पद्यमें मेघदूतके अन्तिम चरणमें प्रयुक्त "दशार्ण" पद बान्धवोंका विशेषण है और हंस शब्द प्राणोंके अर्थमें प्रयुक्त है। इस प्रकार कविने अपनी प्रतिभासे दशार्ण नामक जनपदको—"दशानां ऋणं विद्यते येषां ते दशार्णाः" रूपमे परिवर्तित कर दिया है।

कोशाकी सखी चतुरा उसकी विरहावस्थाका चित्रांकन करती हुई कहती है—

एषाऽनैषीत सुभग ! दिवसान् कल्पतुल्यानियन्तं
कालं बाला बहुलसलिलं लोचनाभ्यां स्रवन्ती ।
अस्थाद् दुःस्था तव हि विरहे मामियं वार्तयन्ती
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ।।९ ।।

× × ×

पृष्ट्वा पृष्ट्वा गणकनिचयं जीवितं धारयन्ती
नीत्वा नीत्वा कथमपि दिनान्यङ्गुलीमिर्लिखन्ती ।
गत्वा गत्वा पुनरपि पुनर्द्वारि तस्थौ च गेहे
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ।।१४।।

कविने विरहिणी कोशाकी उत्सुकता, स्मृति और उत्कण्ठाका सजीव चित्रण किया है। स्थूलभद्रकी प्रतीक्षामें कोशा किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करती है, यह उपर्युक्त पद्योंसे स्पष्ट है। विरहानुभूतिकी तीव्रता सम्यक् प्रकार प्रदर्शित की गयी है।

प्रस्तुत काव्यमें कविने नारीके अंग-प्रत्यंगोंका सुन्दर चित्रण किया है। यद्यपि वर्णन परम्पराभुक्त है, पर चित्रांकन सुन्दर हुआ है। यथा—

वेणीदण्डो जयति भुजगान् मध्यदेशो मृगेन्द्रान्
यासामास्यं प्रिय ! परिभवत्युच्चकैश्चन्द्रबिम्बम् ।
चैत्ये नृत्यन्त्यतुलमसकृद् यत्र वाराङ्गनास्ता-
स्त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ।।६२।।

समस्यापूर्ति होनेपर भी मौलिक कल्पनाके यथास्थान दर्शन होते हैं। मेघदूतमें कवि कालिदासने बताया है कि अलकामें पहननेके लिए रंग-बिरंगे वस्त्र, नयनोंको विविध विलास सिखलानेवाली मदिरा, शरीर सजानेके लिए कोपलों सहित खिले हुए फूलोंके नाना प्रकारके गहने, कमलकी तरह पैरोंको रँगनेके लिए महावर—आदि समस्त प्रकारकी स्त्रीजनोपयोगी शृंगार सामग्री अकेला कल्पवृक्ष ही प्रस्तुत करता है[1]। कवि चारित्रसुन्दरगणिने कल्पवृक्षकी इस कल्पनाको त्यागके रूपमें निम्न प्रकार अंकित किया है—

त्यागो यस्यां धनिभिरनिशं दीयमानोऽथनां द्रा-
गेकं सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ।।८०।।

शृंगाररसके प्रसंगमें कही गयी उक्तियोंको शान्तरसकी ओर बड़े ही सुन्दर ढंगसे मोड़ दिया है।

---

[1] मेघदूत, नागरी प्रकाशन पटना, १९६० ई०, श्लो० ११ उत्तरमेघ।

काव्यगुणोंकी दृष्टिसे इसमें पदलालित्य, नवकल्पना, प्रसादगुण और वैदर्भी शैली पायी जाती है।

पवनदूतम्[1]

यह एक स्वतन्त्र रचना है। इस काव्यमें १०१ पद्य हैं। समस्यापूर्ति न होनेपर भी मेघदूतके अनुकरणपर ही लिखा गया है। इसके रचयिता यशोधरचरितके लेखक वादिचन्द्रसूरि ही हैं। इनका समय विक्रमकी १७वी शती है।

बलात्कारगणकी सूरत शाखाके भट्टारकोंमें कवि वादिचन्द्रका नाम उपलब्ध होता है। इनके गुरु प्रभाचन्द्र और दादागुरु ज्ञानभूषण थे। इनकी जाति हूंबड बतायी जाती है। सूरत शाखाके भट्टारक पट्टमें पद्मनन्दि, देवेन्द्र और वादिचन्द्रके नाम उपलब्ध होते है। वादिचन्द्रके पट्टपर महीचन्द्र आसीन हुए थे। वादिचन्द्र काव्य-प्रतिभाकी दृष्टिसे अन्य भट्टारकोंसे आगे है। ग्रन्थरचना करनेके साथ इन्होने मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा भी करायी थी। धर्म और साहित्यके प्रचारमें इनका बहुमूल्य योग रहा है। ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके विद्वान् हैं।

स्थितिकाल

वादिचन्द्रसूरिके समयमें वि० सं० १६३७ (सन् १५८० ई०) में उपाध्याय धर्मकीर्तिने 'कोदादा'मे 'श्रीपालचरित' की प्रति लिखी है[2]। वि० सं० १६४० (सन् १५८३ ई०) मे वाल्मीकनगरमें पार्श्वपुराणकी रचना[3]; वि० सं० १६५१ (सन् १५९४) मे श्रीपालआख्यान[4] एवं वि० स० १६५७ (सन् १६०० ई०) मे अंकलेश्वरमे यशोधरचरितका[5] प्रणयन कवि द्वारा हुआ है। वादिचन्द्रने ज्ञानसूर्योदय नाटककी रचना माघ शुक्ला अष्टमी वि० सं० १६४८ (सन् १५९१ ई०) में मधूक नगर (गुजरात) में समाप्त की थी[6]। विद्वानोने इनका यह समय अनुमानतः वि० सं० १६३७-१६६४ माना है[7]। यदि पट्टपर आरूढ़ होनेके समय वादिचन्द्रकी अवस्था २५ वर्ष मान ली जाये तो जन्म समय वि० स० १६१२ आता है।

वादिचन्द्रकी प्रतिभा बहुमुखी है, इन्होंने पुराण, नाटक, काव्य प्रभृतिकी रचना की है। पार्श्वपुराण, श्रीपालआख्यान, सुभग सुलोचनाचरित, ज्ञानसूर्योदय नाटक,

---

[1] हिन्दी अनुवाद सहित, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, १९१४ ई० में प्रका०।

[2] सवत् १६३७ वर्षे वैशाखवदि ११ सोमे अवेह श्रीकोदादा शुभस्थाने ··श्रीवादिचन्द्रस्तेषां मध्ये उपाध्यायधर्मकीर्तिस्वकर्मक्षयार्थं लेखि।

—भ० स०, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, ले० नं० ४६१।

[3] शून्याब्दे रसाब्जांके······ वही, ले० नं० ४६२।

[4] संवत सोलएकावनर्षे कोधो ये परबंधजी ·····। —वही, ले० नं० ४६४।

[5] सप्तपंचरसाब्जांके वर्षेकारि सुशास्त्रकम्। वही, ले० नं० ४६५।

[6] वसुदेवरसाब्जांके वर्षे माघे सिताष्टमी दिवसे।—वही, ले० नं० ४६३।

[7] वही, पृ० २०१।

पवनदूत, पाण्डवपुराण, यशोधरचरित और होलिकाचरित रचनाएँ ग्रन्थागारोंमें उपलब्ध हैं।

काव्यकी कथावस्तु

उज्जयिनीमें विजयनरेश नामका राजा रहता था। इसकी रानीका नाम तारा था। राजा अपनी रानीसे बहुत प्रेम करता था। एक दिन अशनिवेग नामका एक विद्याधर ताराको हर कर ले गया। रानीके वियोगसे राजा दुःखी रहने लगा। विरहावस्थामें वह पवनको दूत बनाकर रानीके पास भेजनेका निश्चय करता है। अपनी विरहावस्थाका चित्रण करनेके अनन्तर पवनको वह मार्ग बतलाता है। इस सन्दर्भमें वन, नदी, पर्वत, नगर और नगरोंमें निवास करनेवाली स्त्रियाँ तथा उनकी विलासमयी चेष्टाओंका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पवन राजाका सन्देश लेकर अशनिवेगके नगरमें पहुँचता है और अशनिवेगके महलमें जाकर ताराको उसके प्रियका सन्देश सुनाता है। तदनन्तर अशनिवेगकी सभामें जाकर उसे ताराके वापस दे देनेका परामर्श देता है। अशनिवेग विजयनरेशको युद्धकी धमकी देता है, पर उसकी माता उसे युद्ध न करनेका परामर्श देती है और ताराको पवनके हाथ सौंप देती है। पवन ताराको लेकर वापस आ जाता है।

समालोचन

मेघदूतके समान यह दूत काव्य भी मन्दाक्रान्ता छन्दोंमें लिखा गया है। भाषा सरल, सरस और प्रसादगुण युक्त है। कवि काव्यारम्भमें पवनका महत्त्व बतलाता हुआ कहता है—जल, पर्वत, वृक्ष आदि पृथ्वीके आधार हैं और वह पृथ्वी तुम्हारे आधार है। अतः हे मित्र! संसारमें ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसे आप न कर सकते हों। संसारमें समर्थ व्यक्तिसे ही याचना की जाती है, अतः मैं आपसे अपनी प्रियाके पास कुशल-समाचार पहुँचा देनेकी प्रार्थना करता हूँ। प्राणोंकी रक्षा करनेवाले आप ही हैं। हे पवन! मेरे वियोगमें मेरी प्रियाके प्राण निकल रहे हैं, तुम उन्हें जाकर रोक सकते हो, यतः जिनके हृदयमें दयाका भाव वर्तमान रहता है, वे प्राणियोंकी रक्षाके लिए सदैव तत्पर रहते हैं—

क्षित्यां नीरे हुतभुजि परव्योम्नि काले विशाले
त्वं लोकानां प्रथममकथि प्राणसंत्राणतत्त्वम् ।
तस्माद्वातोधरचलगते तान्वयोगे हि नार्याः,
स्थान्नैवान्तर्विपुलकरुणः सत्त्वरक्षानपेक्ष ॥३॥

मेघदूतके समान कवि वादिचन्द्र अन्धवती नदीका वर्णन करते हुए कहता है—

नीरं नद्या उपकृतिकरं शोषयन्नान्धवत्या–
स्तत्कंजानां परमिह मुदां यादसां च प्रहन्ता ।

तस्माद्रक्षं जलमविकलं येन ते धर्मराशिः
कार्यं कार्यं परमविदुषा हिंसयैवात्र लोके ॥ १५ ॥

मार्गमें अन्धवती नदी मिलेगी, उसका जल बहुत उपकारी है। अतएव जाते समय तुम उसके जलको सुखा मत देना, अन्यथा तुम कमल और जलजन्तुओंको नष्ट करनेवाले कहलाओगे। तुम उस नदीके जलकी रक्षा करना, नष्ट न होने देना, इससे तुम्हें पुण्यबन्ध होगा। बुद्धिमानोंको ऐसा ही काम करना चाहिए, जिससे हिंसा न हो।

कविने अन्धवतीका चित्रण १७वें पद्यमें भी किया है। विजयनरेशका अपनी पत्नी ताराके प्रति बड़ा सच्चा और गम्भीर प्रेम है। वह ताराको संसारकी सब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ समझता है। ताराके सम्बन्धमें विजयनरेश अपने भावोद्गार व्यक्त करता हुआ कहता है—

नार्यस्तारामनु च भुवने भाग्यसौभाग्यवत्यो
नार्यस्तारामनु च भुवने शीलसंपन्निवामाः।
नार्यस्तारामनु च भुवने भर्तृभक्त्यैकरागा.
नार्यस्तारामनु च भुवने दीनदानप्रदाऽ्यः ॥ ३३ ॥

उक्त पद्यमें ताराके सौभाग्य, शील, पतिभक्ति और दयालुता आदि गुणोंका विजयनरेशने बड़ा ही उत्कृष्ट चित्र अंकित किया है।

कविने ऋतुओंका सुन्दर चित्रण किया है। ग्रीष्ममें विजयनरेश योगीके समान ताराका चिन्तन करता है, तो हेमन्तमें प्रियाके बिना जाड़ेकी रातोंको ठण्डसे सिकुड़ते हुए व्यतीत कर देता है। वर्षाके दिनोंमें मेघका गर्जन सुन प्रियासहित रहनेवालोंका भी धैर्य नष्ट हो जाता है, पर वह प्रियाहीन होकर भी किस प्रकार मन मारकर मेघ-गर्जन सुनता रहता है, यह भगवान् ही जाने। इस प्रकार ऋतुओंके सन्दर्भमे नायकको विरह-वेदना व्यंजित की गयी है।

विरही नायक पवनसे कहता है कि देखो यह चन्द्रमा भी मुझे एकाकी समझ कर जलाता है, अतः तुम जाकर इसे समझाओ। संसारमें सुख-दुःख प्रत्येक व्यक्तिको घूमते हुए पहियेके आरोंके समान क्रमशः प्राप्त होता रहता है। मित्र पवन! चन्द्रमासे इतना और कहना कि केवल तुम ही दुःख नही देते हो, बल्कि तुम्हारा मृग भी कष्ट देता है। अतः उस मृगकी सुन्दर आँखें देखकर मुझे अपनी प्रियाके नेत्रोंका स्मरण हो आता है। कविका यह सन्दर्भ बहुत ही सरस है—

चन्द्रश्चायं दहति विरहे योषितोऽङ्कं क्षपायां
त्वद्यानं तत्प्रकृतिपुरुषस्तेन संबोधयाब्जम्।
ससारे भो मम विचरतः केवलं नैव दुःखं
सर्वेषां स्यात्कृततनुमतां चक्रनेमिक्रमेण ॥५४॥

इस प्रकार इस काव्यमें संयोग-शृंगारका चित्रण बहुत ही सुन्दर हुआ है। कविने शृंगाररसके साथ परोपकार, दया, अहिंसा, दान आदि सद्भावोंकी भी प्रशंसा की है। 'कार्यं कार्यं परमविदुषा हिंसयैवात्र लोके' (१५), 'प्रायः सन्तः शिशुतरुणिषु ह्यार्द्रचित्ता भवन्ति' (१६), 'प्रायो भवति महतां संगतेः पापहानिः' (५) आदि नैतिक पद पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करते हैं। 'प्रायः कार्यं लघुजनकृतं नाधिके चित्रकारी' (१३), 'प्रायः सन्त. सकलसमये रङ्गभङ्गे न शूरा.' (४) जैसे सुभाषित पदोंने काव्यमे चारुता उत्पन्न कर दी है। संक्षेपमें कविको इस काव्यके प्रणयनमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। उच्चकोटिकी कविताके साथ नैतिक भावोंका समावेश किया गया है।

अन्य सन्देश काव्य

चेतोदूत[1], जम्बुकविकृत चन्द्रदूत, मेघदूत, समस्यालेख[2] और इन्दुदूत[3] भी संस्कृत भाषामें निबद्ध जैन सन्देश काव्य हैं। चेतोदूतके कर्ताका नाम अज्ञात है। इसमें मेघदूतकी समस्यापूर्ति की गयी है। १२९ पद्य हैं, काव्य मन्दाक्रान्ता छन्दमें लिखा गया है। इसमें एक शिष्य अपने गुरुके श्रीचरणोंकी प्रशक्ति (कृपा) को प्रेयसीके रूपमें मानकर उसके पास चित्तको दूत बनाकर भेजता है। काव्यमें गुरुके यश, विवेक और वैराग्यका यथास्थान वर्णन किया गया है।

इन्दुदूतके रचयिता विनयविजय गणि हैं। इसमें १३१ पद्य हैं। यह काव्य मेघदूतके अनुकरणपर मन्दाक्रान्ता छन्दमें लिखा गया है। परन्तु इसका विषय मेघदूतसे बिलकुल भिन्न है। यह शुद्ध शान्तरस प्रधान काव्य है। विजयप्रभसूरि सूरतमे चातुर्मास करते है और उनके शिष्य विजयगणि जोधपुरमे। चातुर्मासके अन्तमें पूर्णिमाकी रात्रिमें चन्द्रमाको देखकर उनका विचार होता है कि उसके द्वारा अपने गुरुके पास वे अपना सांवत्सरिक क्षमापण सन्देश और अभिवन्दन भेजें। चन्द्रमाको दूत कार्यमें नियुक्त करनेसे पूर्व वे उसका स्वागत करते है, उसकी कुशलवार्ता पूछते है और सूरतमे गुरुको विज्ञप्ति सुनानेके लिए कहते है। इस सन्देश काव्यमें अर्बुदाचल, सिद्धपुर, बटभद्रपुर, भृगुपुर, नर्मदा नदी, तापी और सूरत आदि भौगोलिक स्थानोका निर्देश आया है। काव्यकी भाषामे प्रसाद गुण है, प्रवाह सर्वत्र है। सन्देश काव्य परम्परामे इसका अपना पृथक् स्थान है। इस काव्यका विषय बिलकुल नवीन है।

मेघदूत समस्यालेखके रचयिता मेघविजय हैं। अकबरसे इन्हें जगद्गुरुकी उपाधि प्राप्त हुई थी। इस काव्यमें १३१ पद्य हैं। मेघदूतकी समस्यापूर्ति की गयी है। कविने इस काव्यमें अपने गुरु विजयप्रभसूरिके पास मेघ द्वारा कुशलवार्ताका सन्देश भेजा है। सन्देशमे कविने गुरुके प्रतापका वर्णन किया है। गुरुके वियगोमें अपनी व्याकु-

---

[1] जेन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १८७०में प्रकाशित।

[2] वही, वि० सं० १९७० में प्रकाशित।

[3] जैन साहित्य वर्धक सभा, शिरपुर (पश्चिम खानदेश), सन् १९४६ ई०।

लता और असहायावस्थाका मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। शृंगाररसको शान्तरसमें परिवर्तित कर दिया है।

सूक्ति या सुभाषित काव्य

जैन कवि या आचार्यों द्वारा गुम्फित सुभाषित काव्योंका उद्देश्य सर्वसाधारणमें नैतिकता या धर्मके प्रति श्रद्धा अथवा विश्वास भावना जागृत करना है। इस श्रेणीके काव्योंमें गहन सैद्धान्तिक विषयोंका निरूपण न होकर, इस प्रकारके सार्वजनिक नैतिक विषयोंका विवेचन किया गया है, जिनका सम्बन्ध मानवमात्रसे है। कतिपय चर्चाओके हटा देनेपर अवशिष्ट अंश माताके दूधके समान सम्प्रदाय-निरपेक्ष किसी भी व्यक्तिको उपादेय हो सकता है। इस श्रेणीके काव्योंमें किसी एक विषयका विस्तार नही है, अपितु छोटे-मोटे अनेक विषय आबद्ध किये गये हैं। मुक्तक शैलीमे विषयोका प्रस्तुतीकरण किया गया है। यही कारण है कि अनेक स्थानोपर कवित्व-कौशल रहनेसे मनोरम और स्वाभाविक अलकारोंका सन्निवेश पाया जाता है। नैतिक उद्बोधनका कर्तव्यके प्रति जागरूकता उत्पन्न करना ही इन काव्योंका लक्ष्य है। कवि धर्मके अचिन्त्य लाभका चित्रण करता हुआ कहता है—

सकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥
—आत्मानुशासन, सोलापुर, १९६१ ई०, पद्य २२

किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिए कल्पवृक्षके समक्ष भी संकल्प करना पड़ता है, चिन्तामणिके सामने भी चिन्ता करनी पड़ती है, तभी उनसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। धर्मकी ही यह विशेषता है कि उससे बिना ही संकल्प किये और बिना ही किसी प्रकारकी चिन्ता किये स्वाभाविक फल की प्राप्ति होती है।

कवि रूपक अलंकार द्वारा शरीरके प्रति अनुराग कम करनेका उपदेश देता हुआ कहता है—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ।
कर्मारातिभिरायुरुद्धनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवैहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥
—आत्मा०, सो०, १९६१ ई०, प० ५९

हे नष्टबुद्धि प्राणी! हड्डियों रूप स्थूल लकड़ियोके समूहसे रचित, शिराओं और नसोंसे सम्बद्ध, चमड़ासे ढका हुआ, रुधिर एवं सघन माससे लिप्त दुष्ट कर्मों रूप, शत्रुओंसे रक्षित तथा आयुरूपी भारी साँकलसे संलग्न, ऐसे शरीररूप गृहको तू अपना बन्दीगृह समझ कर उसके विषयमें व्यर्थ अनुराग न रखनेकी प्रेरणा की गयी है।

उक्त पद्यमें शरीरमें गृहका आरोप कर सांगरूपककी योजना की है। अतएव शरीरके प्रति आसक्तिका त्याग उचित वैचित्र्य द्वारा किया गया है।

यहाँ प्रमुख सुभाषित काव्योंका अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है—

सुभाषित रत्नसन्दोह[1]

सुभाषित रत्नसन्दोह एक सुन्दर सूक्ति काव्य है। इसमें ९२२ पद्य हैं। इस काव्यके रचयिता माथुरसंघके आचार्य अमितगति हैं। श्री पं० नाथूरामप्रेमीका अभिमत है कि माथुरसंघ काष्ठासंघकी ही एक शाखा है। दर्शनसारके अनुसार काष्ठासंघकी उत्पत्ति जिनसेनके सतीर्थ और वीरसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा वि० सं० ७५३ (सन् ६९६ ई०) में हुई है। ये कुमारसेन नन्दीतट में रहते थे और कर्कशकेश—गोपुच्छकी पिच्छि रखनेका आदेश दिया था। पश्चात् दो सौ वर्ष बाद अर्थात् वि० सं० ९५३ के लगभग मथुरामें माथुरोंके सम्मुख रामसेनने निःपिच्छिक रहनेका उपदेश दिया।[2]

अमितगतिकी गुरुपरम्परामें वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिषेण, नेमिषेणके माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति (द्वितीय) बताये गये हैं। अमरकीर्तिके छक्कम्मोवएस[3] (षट्कर्मोपदेश) में अमितगतिकी जो शिष्यपरम्परा अंकित है, उसमें अमितगति, शान्तिदेव, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और अमरकीर्तिके नाम आये हैं। अकरकीर्तिका यह ग्रन्थ भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी वि० सं० १२४७ में समाप्त किया गया है।

अमितगति (द्वितीय) काव्य, व्याकरण, न्याय, आचार प्रभृति अनेक विषयोंके विद्वान् थे। काव्यत्वकी पूर्ण क्षमता परिलक्षित होती है।

अमितगति (द्वितीय) ने अपने काव्योंकी प्रशस्तियोंमें रचनाकालका निर्देश किया है। सुभाषित रत्नसन्दोहका रचनाकाल[4] वि० सं० १०५० पौष शुक्ला पंचमी बुधवार दिया है। धर्मपरीक्षाका रचनाकाल वि० सं० १०७० और पंसंग्रहका वि० सं० १०७३ अंकित है। अतः कविका समय वि० सं० की ११वीं शती निश्चित है।

सुभाषित रत्नसन्दोहके अतिरिक्त धर्मपरीक्षा,[5] उपासकाचार,[6] पंचसंग्रह,[7] आराधना, सामायिक पाठ और भावनाद्वात्रिंशतिका[8] रचनाएँ भी हैं।

---

[1] काव्यमाला ग्रन्थांक ८२, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९०९ ई०।

[2] जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, द्वितीय संस्करण, पृ० २७५-२८०।

[3] जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, भाग २ किरण ३, पृ० ८०-९९।

[4] सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके (१०५०) सु० र० सं० बम्बई, पद्य ९२२।

[5] धर्मपरीक्षा, हिन्दी अनुवाद सहित, जैनग्रन्थ, बम्बई, १९०८ ई०।

[6] उपासकाचार—श्रावकाचार, भागचन्द्र कृत वचनिका सहित, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० स० १९७९।

[7] माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९२७ ई०।

[8] प्रथमगुच्छक, वाराणसी, वि० सं० १९८२, पृ० २९८-३०१।

सुभाषित रत्नसन्दोहका विषय

सुभाषित रत्नसन्दोह काव्यमें सुभाषितरूपी रत्नोंका भण्डार निबद्ध है। कविने सासारिक विषय निराकरण, माया-अहंकार निराकरण, इन्द्रिय-निग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोष, कोप-लोभ निराकरण, सदसत्स्वरूप निरूपण, ज्ञाननिरूपण, चारित्र-निरूपण, जातिनिरूपण, जरानिरूपण, मृत्यु-सामान्यनित्यता-दैव-जठर-जीव-सम्बोधन-दुर्जन-सज्जन-दान-मद्य-निषेध-मांसनिषेध-मधुनिषेध-कामनिषेध-वैश्य-संग-छूत-आत्मस्वरूप-गुरुस्वरूप-धर्म-शोक-शौच-श्रावकधर्म और द्वादशविध तपश्चरण इस प्रकार बत्तीस विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। कविने अपने सुभाषितोंका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—

जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां, हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीव।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतोद्भा, वितरतु धुतदोषा सर्हितां भारती वः ॥१॥

अर्थात्—जिस प्रकार सूर्यकी किरणें अन्धकारका विनाश कर समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करती हैं और कमलोंको विकसित करती हैं, उसी प्रकार ये सुभाषित चेतन-अचेतन विषयक अज्ञानको दूर कर भव्योंके—सहृदयोंके चित्तको प्रसन्न करते हैं।

कविने उत्प्रेक्षा द्वारा वृद्धावस्थाका कितना सजीव और सागोपांग चित्रण किया है। काव्यकलाकी दृष्टिसे यह चित्रण रमणीय है—

प्रबलपवनापातध्वस्तप्रदीपशिखोपमै-
रलमलनिचयैः कामोद्भूतैः सुखैर्विषसंनिभैः।
समपरिचितैर्दुःखप्राप्तैः सतामतिनिन्दितै-
रिति कृतमनाः शङ्के वृद्धः प्रकम्पयते करौ ॥ सु० २७०॥

अर्थात्—वृद्धावस्थामें जो हाथ कांपते हैं, वे यह प्रकट करते है कि युवावस्थामें कामजन्य जो सुख भोगे थे, वे विषतुल्य हानिकारक सिद्ध हुए। आँधीके वेगसे शान्त की गयी दीपककी लौके समान क्षणविध्वंसी और अत्यन्त दुःखकारक इन विषयभोगोंको सज्जनोंने पहले ही निन्दा की थी, वह निन्दा निन्दा नहीं है, यथार्थ है।

उक्त पद्यमें हाथोंके कांपनेपर कवि द्वारा की गयी कल्पना सहृदयोंको अपनी ओर आकृष्ट करती है। उक्तिवैचित्र्य भी यहाँ निहित है।

मदिराकी उपमा देकर जरा—वृद्धावस्थाका जीवन्त चित्रण किया है। यह उपमा श्लेषमूलक है, विशेषण जरा और मदिरा दोनों पक्षोमे समान रूपसे घटित होते हैं।

स्खलयति तनुं दृष्टेर्भ्रान्तिं करोति शरीरिणां
रचयति बलादव्यक्तोक्तिं, तनोति गतिक्षितिम्।
जनयति जने नुद्यां निन्दामनर्थपरम्परां
हरति सुरभिगन्धं देहाज्जरा मदिरा यथा ॥२७१

जिस प्रकार मदिरापान शरीरको अस्त-व्यस्त कर देता है, आँखें घूमने लगती हैं, मुखसे अस्फुट वचन निकलते हैं, चलनेमे बाधा होती है, लोगोंमें निन्दाका पात्र बन जाता है एवं शरीरसे दुर्गन्धि निकलती है, उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीरको कँपा देती है, इसमें नेत्रों की ज्योति घट जाती है, दाँत टूट जानेसे मुँहसे अस्फुट ध्वनि निकलती है, चलनेमें कष्ट होता है, शरीरसे दुर्गन्धि निकलती है और नाना प्रकारकी अवहेलना होनेसे निन्दा होती है। इस प्रकार कविने मदिरापानकी स्थितिसे वृद्धावस्थाकी तुलना की है।

इस सुभाषित काव्यमें नारीकी प्रशंसा खूब की गयी है। कवि नारीको श्रेष्ठ रत्नका रूपक देकर उसके गुणोंका उद्घाटन करता हुआ कहता है—

यत्कामार्तिं धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
सत्पात्राहारदानप्रभवरभूषस्यास्तदोषस्य हेतुः।
वंशाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभुव. कारणं कान्तकीर्ति-
स्तत्सर्वाभीष्टदात्री प्रवदत न कथं प्रार्थ्यते स्त्रोसुरत्नम् ॥१०१॥

अर्थात्—स्त्री वासना शान्त करती है, परम सुख देती है, अपना प्रेम प्रकट करती है, सत्पात्रको आहार दान देनेमें सहायता करती है, वंशोद्धार करनेवाले पुत्रको जन्म देती है। नारी श्रेष्ठ रत्न समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेमें समर्थ है।

कवि कहता है कि स्वल्पज्ञानी वकुल और अशोकवृक्ष जब नारीका सम्मान करते हैं, उसके सान्निध्यसे प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंकी बात ही क्या? जो पुरुष नारीका परित्याग कर देता है, वह जड़ वृक्षोसे भी हीन है। विवेकशून्य है।

कारणमाला अलंकारकी योजना करते हुए ज्ञानका महत्त्व प्रदर्शित किया है।

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्तत. प्रवृत्तिर्न हिते जनानाम्।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लमतेऽप्यमोष्टम् ॥१९८॥

ज्ञानके बिना मनुष्यकी अहितसे निवृत्ति नही होती, अहितकी निवृत्ति न होनेसे—हित कार्यमें प्रवृत्ति नही होती। हितकार्यमे प्रवृत्ति न होनेसे पूर्वोपार्जित कर्मका नाश नही होता और पूर्वोपार्जित कर्मके नाश न होनेसे अभीष्ट मोक्ष सुख नही मिलता।

कषायका सद्भाव ही चरित्रका अभाव है। कषायकी जितने रूपमे कमी होने लगती है, उतने ही रूपमे चरित्रका विकास होता है। यत: कषायके अभावका नाम ही चरित्र है।

वृद्धावस्थाका कवि स्पष्ट और गहरा चित्रांकन करता हुआ कहता है—

गलति सकल रूपं, लालां विमुञ्चति जल्पन
स्खलति गमनं दन्ता नाशं श्रयन्ति शरीरिणः।
विरमतिमतिर्नो शुश्रूषां करोति च गेहिनी
वपुषि जरसा ग्रस्ते वाक्यं तनोति न देहजः ॥२७६॥

जब मनुष्य जरासे ग्रस्त हो जाता है तो इसका सम्पूर्ण रूप नष्ट-भ्रष्ट होने लगता है, बोलनेमें थूक गिरता है, चलनेमें पैर टेढ़े हो जाते हैं, बुद्धि अपना काम नही करती। पत्नी भी सेवा-शुश्रूषा करना छोड़ देती है और पुत्र भी आज्ञा नही मानता।

भावानुसार भाषा और अभिव्यंजना परिवर्तित होती गयी है। आध्यात्मिक, आचारात्मक और नैतिक सुभाषितोंकी त्रिवेणी वर्तमान है।

सूक्तिमुक्तावली[1]

सूक्तिमुक्तावली ९९-१०० पद्योंका सुभाषित काव्य है। इस काव्यका पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद महाकवि बनारसीदासने वि० सं० १६९२ में किया है। कविने अपने गुरुका निर्देश करते हुए लिखा है—

> अभजदजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रिद्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे।
> मधुकरसमतां यस्तेन सोमप्रभेण व्यरचि मुनिपनेत्रा सूक्तिमुक्तावलीयम् ॥१०१॥

बनारसीदासने इसका अनुवाद निम्न प्रकार किया है—

> जैन वंश सरहंस दिगम्बर; मुनिपति अजितदेव अति आरज।
> ताके पद वादीमदभंजन; प्रघटे विजयसेन आचारज॥
> ताके पट्ट भये सोमप्रम; तिन ये ग्रन्थ कियो हित कारज।
> जाके पढ़त सुनत अवधारत हैं सुपुरुष जे पुरुष अनारज ॥१०१॥[2]

स्पष्ट है कि बनारसीदास कविके दादागुरु अजितदेव और गुरु विजयसेनको दिगम्बर आचार्य मानते है। पर परीक्षा करनेपर बनारसीदासका यह भ्रम ही मालूम पड़ता है। सोमप्रभका जन्म प्राग्वाट कुलके वैश्य परिवारमें हुआ था। इन्होने प्राकृत भाषामें कुमारपाल प्रतिबोध[3]की रचना वि० सं० १२४१ में की है। आचार्य हेमचन्द्र इनके सतीर्थ थे। सोमप्रभके पिताका नाम सर्वदेव और दादाका नाम जिनदेव था। सूक्तिमुक्तावलीका रचनाकाल वि० सं० १२५० माना गया है। कवि सोमप्रभकी मृत्यु श्रीमाल नगरमे वि० स० १२८४ के आसपास हुई थी।[4]

विषय-परिचय

मंगलाचरणके अनन्तर अष्टम पद्यमें भक्ति, गुरुप्रक्रम, जिनमतप्रक्रम, संघप्रक्रम, अहिंसाप्रक्रम, अस्तेयप्रक्रम, सत्यप्रक्रम, शीलप्रक्रम, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, सुजन, गुणिसंग, इन्द्रिय, लक्ष्मीस्वभाव, दान, तप, भावना और वैराग्य प्रक्रम, इस प्रकार २१ प्रक्रमोंमें विषयोका निरूपण किया गया है। लोकधर्मके अन्तर्गत दान, तप,

---

[1] काव्यमाला सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२६ ई०, पृ० ३५-५१।

[2] बनारसीविलास, श्रीनानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर, वि० स० २०११, पृ० १७-७१।

[3] गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, सन् १९२० ई०।

[4] जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास, खण्ड १, शाह लालचन्द नन्दलाल वकील, बड़ौदा, सन् १९५६ ई०।

शील और भावनाकी प्रधानता है। कोई भी व्यक्ति उक्त चारों प्रकारके लोकधर्मोका अनुष्ठान करनेसे अपना जीवन सुख-शान्तिमय बना सकता है।

कवि कहता है कि मूर्ख मनुष्य अपने अमूल्य जीवनको व्यर्थ ही विषय-सेवनमें नष्ट करता है। जिस प्रकार विवेकहीन मूर्ख व्यक्ति हाथीको सजाकर उसपर ईंधन ढोता है, सोनेके पात्रमें धूल भरता है, अमृतसे पैर धोता है, कौएको उड़ानेके लिए रत्न फेंककर रोता है, उसी प्रकार इस दुर्लभ मानवशरीरको प्राप्त कर आत्मोद्धारके बिना योंही खो देता है। कविने उदाहरणोंकी शृंखला उपस्थित कर उक्त तथ्यका निरूपण प्रभावोत्पादक शैलीमें किया है—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यैन्धभारम्।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद्वायसोड्डायनार्थं
यो दुष्प्राप्तं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥५॥

आगे कवि चित्रण करता है कि जो धर्मका त्याग कर अधर्मका सेवन करता है, वह उसी प्रकार बुद्धिहीन है, जिस प्रकार अपने घरसे कल्पवृक्षको उखाड़ कर उसके स्थान धतूरेका वृक्ष लगानेवाला, चिन्तामणि रत्नको छोडकर काचके टुकडेको ग्रहण करनेवाला और हाथीको बेचकर गधा खरीदनेवाला व्यक्ति होता है। यथा—

ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्यकल्पद्रुमं,
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रकरिणं क्रीणन्ति ते रासभं
ये लब्ध परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया: ॥६॥

कवि आराध्यके प्रति अनुपम भक्ति प्रदर्शित करता हुआ उसकी पूजाका महत्त्व बतलाता है। वह कहता है कि जो अर्हन्तकी पूजा करता है, उसकी दुर्गति, विपत्ति नष्ट हो जाती है और वह पुण्यका संचय करता है। भक्त अपनी आराधनाके बलसे रोग, अस्वास्थ्य आदिको नष्ट कर नीरोगताको प्राप्त करता है। उसका सौभाग्य वृद्धिगत होता है, यशकी उत्पत्ति हो जाती है, स्वर्गादिके सुख उसे प्राप्त हो जाते है और संसारके समस्त सुख उसके अधीन हो जाते है—

पाप लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं,
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति नीरोगताम्।
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः
स्वर्गं यच्छति निर्वृत्तिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता ॥ ९ ॥

कवि शीलका महत्त्व प्रदर्शित करता है। वह कहता है कि शीलके पालन करनेसे कुलकलंक दूर हो जाता है, पाप नष्ट हो जाता है, पुण्यका संचय होता है, वह प्रशंसाको प्राप्त होता है, देव उसे आकर प्रणाम करने लगते हैं, भयंकर उपसर्ग नष्ट हो जाते हैं और स्वर्ग-मोक्षका सुख प्राप्त होता है।

हरति कुलकलङ्कं लुम्पते पापपङ्कं, सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति ।
नमयति सुरवर्गं हन्ति दुर्गोपसर्गं, रचयति शुचि शीलं स्वर्गमोक्षौ सलीलम् ॥२१

उपर्युक्त पद्यका पदलालित्य काव्य-कलाकी दृष्टिसे काव्य-रसका आधायक है।

कवि रूपक अलंकार द्वारा परिग्रहके अनुरागका निराकरण करता हुआ कहता है कि अर्थानुराग कलहरूप हाथी उत्पन्न करनेके लिए विन्ध्यगिरि है, क्रोधरूपी गृद्धोंको सन्तुष्ट करनेके लिए श्मशान है, संकटरूपी सर्पके निवास करनेके लिए बिल है, वैर-भावरूपी चोरके लिए अन्धकारपूर्ण रात्रि, कोमलतादि सुगुणरूपी बादलोंको छिन्न-भिन्न करनेके लिए महापवन, पुण्यवनको भस्म करनेके लिए दावानल और नीतिनय कमलको नष्ट करनेके लिए हिमराशि है। इस प्रकार रूपककी सुन्दर योजना द्वारा अर्थानुरागके दोषोंका विश्लेषण किया गया है।

कलहकलभविन्ध्यः कोपगृध्रश्मशानं, व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः ।
सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवाम्भोदवायुर्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥ १२ ॥

लक्ष्मी कितनी चंचल होती है और यह कितने तरहकी विलास-लीलाएँ करती है, इसका चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि वह सरिताके जलप्रवाहके समान नीचेकी ओर ढलती है, निद्राके समान प्रमाद उत्पन्न करती है, बिजलीकी तरह चंचल है तथा धुएँके समान मनुष्यको अन्धा बनाती है। यह तृष्णा अग्निको उसी प्रकार बढ़ाती है, जैसे मदिरा मत्तता को। वेश्या जिस तरह कुरूप-सुरूप, शूद्र-ब्राह्मण, ऊँच-नीच, विद्वान्-मूर्ख आदिसे कृत्रिम स्नेह करती है, उसी प्रकार यह भी सभीसे दिखावटी प्रेम करती है। यह वेश्याके समान नाना दुर्गुणोंकी खान है। उक्त भावको कविने उपमा अलंकार द्वारा बहुत ही सुन्दररूपमें नियोजित किया है—

निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्कम्भते,
चैतन्यं मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव धत्तेऽन्धताम् ।
चापल्यं चपलेव चुम्बति दवज्वालेव तृष्णां नय-
त्युल्लासं कुलटाङ्गनेव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति ॥ ७६ ॥

इस सूक्ति काव्यमें जीवनोपयोगी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं संयमके विवेचनके साथ क्रोध, काम, घृणा, अहंकार आदि विकारोंका लोकोपयोगी चित्रण किया है। भाव, भाषा और उक्तिवैचित्र्यकी दृष्टिसे यह रचना उपादेय है। प्रसादगुण सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। कविने माधुर्य व्यंजक वर्णोंकी योजना कर पद्योंमें लालित्य बनाये रखनेका प्रयास किया है। त्यागवृत्ति और जीवनशोधन सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त रूपमें अंकित है। इस काव्यका अन्य नाम सिन्दूरप्रकरण भी है।

स्तोत्रकाव्य

जैन कवियों द्वारा विरचित संस्कृत भाषामें लगभग एक सहस्र स्तोत्र उपलब्ध हैं। इन समस्त स्तोत्रोंका अनुशीलनात्मक परिचय प्रस्तुत करना शक्य नहीं है। अतएव

जो स्तोत्र काव्यकला और भक्तिभावनाकी दृष्टिसे सुन्दर हैं, उनमेंसे कुछ प्रतिनिधि-स्तोत्रोंका अनुशीलन उपस्थित किया जाता है।

भक्तामर स्तोत्र[1]

भक्तामर स्तोत्र सभी जैन सम्प्रदायोंमें समानरूपसे समादृत है। इसके रचयिता आचार्य मानतुंग हैं। प्रभावकचरितमें मानतुंगके सम्बन्धमें लिखा है—

ये काशी-निवासी धनदेवके पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनिसे दीक्षा ली थी और इनका नाम चारुकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अनुयायिनी श्राविकाने उनके कमण्डलुके जलमें त्रस जीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्यासे विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्यके निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्थामें भक्तामरकी रचना की।[2]

आचार्य प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापकी टीकाके अन्तर्गत भक्तामर स्तोत्र-टीकाकी उत्थानिकामें लिखा है—

"मानतुङ्गनामा सिताम्बरो महाकवि निर्ग्रन्थाचार्यवर्येरपनीतमहाव्याधिर्प्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादि"।[3]

अर्थात्—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्यने उनको महाव्याधिसे मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा—भगवन्! अब मैं क्या करूँ? आचार्यने आज्ञा दी कि परमात्माके गुणोंका स्तोत्र बनाओ, फलतः आदेशानुसार भक्तामर स्तोत्रका प्रणयन किया गया।

इस प्रकार विरोधी आख्यान उपलब्ध होते हैं और यह विरोध सम्प्रदाय व्यामोहका ही फल है। वस्तुतः मानतुंग दोनों ही सम्प्रदायोंके लिए मान्य है। इसी प्रकार इनके समयके सम्बन्धमें भी प्रमुख दो विचारधाराएँ प्रचलित है—भोजकालीन और हर्षकालीन। ऐतिहासिक विद्वान् मानतुंगकी स्थिति हर्षवर्धनके समयमें मानते हैं। डॉ० ए० बी० कीथने मानतुंगको बाणका समकालीन अनुमान किया है।[4] सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० नाथूरामप्रेमीने भी कविको हर्षकालीन माना है।[5] अतः भक्तामरका रचनाकाल ७वी शती है।[6]

---

[1] काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर बम्बई, सन् १९२६ ई०, पृ० १-१०।

[2] प्रभावकचरित, सिंघी जेन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद तथा कलकत्ता, सन् १९४० ई० मानतुंगसूरिचरितम्, पृ० ११२-११७।

[3] क्रियाकलाप, सं० प्र०—प० पन्नालाल सोनी, दि० जैन सरस्वतीभवन, झालरापाटन, वि० स० १९९३, भक्तामरस्तोत्रकी उत्थानिका।

[4] ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, १९४१, पृ० २१४-१५।

[5] भक्तामर स्तोत्र, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१६, पृ० १२।

[6] देखें—स्मारिका, भारतीय जैन साहित्य संसद, १९६५ ई०, मानतुंग शीर्षक निबन्ध।

स्तोत्रका परिचय और समालोचन

इस स्तोत्रमें ४८ पद्य है। प्रत्येक पद्यमें काव्यत्व रहनेके कारण ये ४८ काव्य कहलाते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमे ४४ पद्य माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि अशोक वृक्ष, सिंहासन, छत्रत्रय और चमर इन चार प्रातिहार्योंके बोधक पद्योंको ग्रहण किया है और पुष्पवृष्टि, भामण्डल, दुन्दुभि और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्योंके बोधक पद्योंको निकाल दिया है। इधर दिगम्बर सम्प्रदायकी कुछ पाण्डुलिपियोमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले गये प्रातिहार्योंके बोधक चार नये पद्य और जोड़ दिये गये। इस प्रकार ५२ पद्योकी संख्या गढ ली गयी है। वस्तुतः इस स्तोत्रमें ४८ पद्य है और भगवान् ऋषभकी स्तुति वर्णित है। ऋषभको आदिनाथ या आदिदेव भी कहते है। भक्ति स्तोत्रोंमें यह सबसे प्राचीन स्तोत्र है। यह कल्याण मन्दिर स्तोत्रके पहले ही लिखा गया है। कल्याण मन्दिरमे कल्पनाकी जैसी ऊँची उड़ानें है, वैसी इस स्तोत्रमे नही है। कल्याण मन्दिरमें भक्तामरकी कल्पनाओका पल्लवन एवं उन कल्पनाओंमें कुछ नवीनताका समावेश चमत्कारपूर्ण शैलीमें पाया जाता है। भक्तामरमे कहा है कि सूर्यको बात ही क्या, उसकी प्रभा ही तालाबोमे कमलोंको विकसित कर देती है। उसी प्रकार हे प्रभो ! आपका स्तोत्र तो दूर हो रहे, पर आपका नाम कथन हो समस्त पापोंको दूर कर दता है। यथा—

> आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं, त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
> दूरं सहस्रकिरण. कुरुते प्रभैव, पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ।। भक्ता० ९

कल्याण मन्दिरमे उक्त बीजरूप कल्पनाका विस्तार पाया जाता है। कवि कहता है कि जब निदाघमें कमलसे युक्त तालाबकी सरस वायु ही तीव्र आतपसे संतप्त पथिकोकी गर्मीसे रक्षा करती है, तब जलाशयकी बात हो क्या ? इसी प्रकार जब आपका नाम ही संसारके तापको दूर कर सकता है, तब आपके स्तोत्रके सामर्थ्यका क्या कहना ?

> आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते, नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
> तीव्रातपोऽपहतपान्थजनान् निदाघे, प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥कल्या० ७

भक्तामरस्तोत्रकी गुणगान महत्त्वसूचक कल्पनाका प्रभाव और विस्तार भी कल्याण मन्दिरमे पाया जाता है। भक्तामरस्तोत्रमें बताया गया है कि हे प्रभो ! संग्राम में आपके नामका स्मरण करनेसे बलवान् राजाओंके युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियोंकी भयानक गर्जनासे युक्त सैन्यदल उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है। यथा—

> वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादमाजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
> उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं, त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥
> भ० ४२

उपर्युक्त कल्पनाका रूपान्तर कल्याण मन्दिरके ३२वें पद्यमें उसी प्रकार पाया जाता है, जिस प्रकार जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयमें मेघदूतके पाद सन्निवेशके रहनेपर भी कल्पनाओंमें रूपान्तर। यथा—

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमभ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम्।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे तेनैव तस्य जिन दुस्तरवारि कृत्यम्॥
कल्या० ३२

इसी प्रकार भक्तामरस्तोत्रके 'नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं' (१८) का कल्याण मन्दिरके 'नून न मोहतिमिरावृतलोचनेन' (क० ३७) पर और 'त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्'' (भ० २३) का 'त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूपम्' (क० १४) पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

भक्तामरस्तोत्र वसन्ततिलका वृत्तमें निबद्ध है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवकी स्तुति होनेपर भी इसे किसी भी तीर्थंकरपर घटित किया जा सकता है। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कहता है कि प्रभो ! अल्पज्ञ और बहुश्रुतज्ञ विद्वानो द्वारा हँसीके पात्र होनेपर भी तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है, वसन्तमे कोकिल स्वयं नही बोलना चाहती, प्रत्युत आम्रमंजरी ही उसे बलात् कूजनेका निमन्त्रण देती है। यथा——

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥६

अतिशयोक्ति अलंकारमें आराध्यके गुणोंका वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हे भगवन् ! आप एक अद्भुत जगत् प्रकाशी दीपक है, जिसमें न तेल है, न बाती और न धूम। पर्वतोंको कम्पित करनेवाले वायुके झोके भी इस दीपक तक नही पहुँच सकते है, तो भी जगत्में प्रकाश फैलता है।

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः॥१६

उक्त पद्यमे आदिजिनको सर्वोत्कृष्ट विचित्र दीपक कहकर कविने अतिशयोक्ति अलंकारका समावेश किया है। १७वें पद्यमे भी अतिशयोक्ति बहुत सुन्दर घटित हुई है। कवि कहता है कि हे भगवन् ! आपकी महिमा सूर्यसे भी बढ़कर है, क्योंकि आप कभी भी अस्त नही होते, न आप राहु गम्य हैं, न आपका महान् प्रभाव मेघोंसे अवरुद्ध होता है। आप समस्त लोकोंके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे अवगत करते हैं।

यथा——

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः सूर्यातिशायि महिमासि मुनीन्द्र लोके ॥१७॥

आदितीर्थंकरको अद्भुत सूर्य कहकर अतिशयोक्तिका चमत्कार दिखलाया है। कविने सूर्यको राहुगम्य होनेका निषेध किया है; पर यह कविकी भूल-सी प्रतीत होती है; क्योंकि सूर्य केतु द्वारा गम्य होता है, राहु द्वारा नहीं।

आदिजिनको बुद्ध, शंकर, धाता और पुरुषोत्तम सिद्ध करता हुआ कवि कहता है—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

कवि आराध्यकी जितेन्द्रियताका चित्रण करता हुआ कहता है—प्रलयकालकी वायुसे पर्वत चलायमान हो जाते हैं, पर सुमेरु किंचित् भी चलायमान नहीं होता। इस प्रकार देवांगनाओंके रूप-लावण्यको देखकर ऋषि-मुनि, देव-दानव आदिके चित्त चलायमान हो जाते हैं, पर आपका चित्त रंचमात्र भी विकारसे युक्त नही हुआ। अतः इन्द्रिय जयी होनेसे आप महान् वीर हैं।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

उपमाका चमत्कार दिखलाते हुए कविने तृतीय प्रातिहार्य चामरके वर्णनमें आराध्यको 'शातकौम्भं सुरगिरेरिव' कहा है। बताया है कि हे प्रभो! देवो द्वारा चँवर ढोरते समय आपका सुवर्णमय शरीर इस प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार झरनेके श्वेत जलसे मेरुपर्वत शोभित होता है।

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारमुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

कवि आराध्यका महत्त्व बतलाता हुआ कहता है कि जो आपके इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसके मत्त हाथी, सिंह, वनाग्नि, साँप, युद्ध, समुद्र, जलोदर और बन्धन आदिसे उत्पन्न हुआ भय नष्ट हो जाता है। आपके भक्तको किसी भी प्रकारका वध-बन्धनजन्य कष्ट नही सहन करना पड़ता है। बड़ीसे बड़ी बेडियाँ और विपत्तियाँ विलीन हो जाती हैं—

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

कविने इस स्तोत्रको 'रुचिरवर्णविचित्रपुष्पा स्रजं' कहा है। यहाँ श्लेषमूलक रूपक है। इस प्रकार यह स्तोत्र काव्य गुणोंसे मण्डित है।

विषापहार स्तोत्र[1]

भक्तिपूर्ण ४० पद्योंका यह स्तोत्रकाव्य है। इसमें ३९ उपजाति और एक पुष्पिताग्रा इस प्रकार ४० पद्य हैं। प्रौढता, गम्भीरता और अनूठी उक्तियोके लिए यह

---

[1] काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९२६ ई०, पृ० २२-२६।

काव्य प्रसिद्ध है। इस काव्यके रचयिता महाकवि धनंजय है, इनका समय ८वी शती है। जीवन परिचय और समयनिर्णयके सम्बन्धमें 'सन्धानकाव्य' शीर्षकमें लिखा जा चुका है। इस स्तोत्र काव्यपर वि० सं० १६वी शतीको लिखी पार्श्वनाथके पुत्र नागचन्द्रकी संस्कृत टीका प्रसिद्ध है। अन्य संस्कृत टीकाएँ भी पायी जाती हैं। किंवदन्ती है कि इस स्तोत्रके प्रभावसे सर्पविष दूर हो जाता है। इस सम्बन्धमें एक कथा भी मिलती है। नवीन विषयोकी कल्पना एवं पुरातन इतिवृत्तोंका नवीन रूपमें प्रस्तुतीकरण इस स्तोत्रकी मौलिक विशेषता है।

विषय और समीक्षा

इस स्तोत्रमें आदिपुरुष तीर्थंकर ऋषभदेवकी स्तुति की गयी है। कविने तीर्थंकरके अचिन्त्य गुणोका वर्णन किया है। भगवान् ऋषभदेव सृष्टिके कर्ता नही है, फिर भी उनका स्तवन करनेसे दुःख, दारिद्रय, शोक एवं सर्पविष आदि दूर हो जाते है। कवि आरम्भमें ही विरोधाभास अलंकार द्वारा आराध्यके गुणोका विवेचन करता हुआ कहता है—"आप भक्ति रूपमे स्थित होकर भी सर्वव्यापक है, समस्त व्यापारोंके जानकार होनेपर भी परिग्रहसे रहित है और दीर्घायु वाले होकर—ज्येष्ठ पुरुष होकर भी जरासे रहित है।" इस सन्दर्भमें विरोध यह है कि जो स्वरूपमें स्थित है, वह सर्वव्यापक किस प्रकार होगा ? ~~इस~~ विरोधका परिहार यह है कि आत्मप्रदेशोकी अपेक्षा अपने स्वरूपमें स्थित होनेपर भी ज्ञान~~की अपेक्षा~~ समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण सर्वव्यापक हैं। इसी प्रकार जो सम्पूर्ण व्यापारोको जाननेवाला है, वह परिग्रह रहित कैसे हो सकता है ? यह विरोध है। इसका परिहार यह है कि समस्त पदार्थोंके स्वाभाविक अथवा वैभाषिक परिवर्तनोको जानते हुए भी कर्मोंके सम्बन्धसे रहित है। इसी प्रकार दीर्घायु होनेपर भी अष्टादश दोषोको जीतनेके कारण जरासे रहित है। यथा—

स्वात्मस्थित· सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात्पुरुषः पुराण. ॥ ५॥

कवि स्तोत्र प्रणयनमें अपनी अल्पज्ञताका वर्णन करता हुआ कहता है कि मैं आपके अनन्त गुणोका प्रतिपादन करनेमे असमर्थ हूँ, फिर भी इस दृष्टिसे आपकी स्तुति करता हूँ कि जिस स्थानपर सूर्यका प्रकाश न पहुँचे, उस स्थानपर दीपक भी तमका उच्छेदक होता है, अतः महान् व्यक्तियोंके द्वारा स्तुति न होनेपर भी मैं आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ।

परैरचिन्त्यं युगभारमेकः स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः किमप्रवेशे विशति प्रदीपः ॥ ६॥

आगे कहता है कि स्तवन न कर सकनेके कारण इन्द्रको स्तुति-विषयक अपना अभिमान छोड़ना पडा, पर मै इस उद्योगसे पृथक् नही हो सकता हूँ।

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम् ।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ॥३॥

कवि आराध्यको 'बालवैद्य' का रूपक देकर कहता है कि जिस प्रकार बच्चे अपनी अज्ञानताके कारण नाना प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त हो जाते हैं, पर बालवैद्य उन बच्चोंको अपनी चिकित्सा द्वारा रोगसे मुक्ति करा देता है, वह शिशुओंके अपराधोंका लेखा-जोखा नही करता। इस प्रकार आप भी प्राणियोंके अपराधोंकी ओर नही देखते है, बल्कि उन्हें जन्म-जराके कष्टोंसे मुक्त कर देते हैं।

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च तुङ्गा: प्रकृतिः स यत्र ।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव, व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि ॥८॥

उक्त पद्यमे ऋषभकी गम्भीरता समुद्रके समान, उन्नत प्रकृति मेरुके समान और विशालता आकाश-पृथ्वीके समान कहकर कविने उनकी लोकोत्तर महिमाका चित्रण किया है। इस पद्यमें व्यंजनावृत्तिसे आराध्यकी गुणातिशयता प्रकट होती है।

कवि अपने आराध्यमें मणि, मन्त्र, औषधि, रत्न आदिसे भी अधिक सामर्थ्य मानता है। अतः वह कहता है कि प्रभो! आपका स्मरण करते ही समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, सभी प्रकारकी व्याधियाँ नष्ट हो जाती है और विष-विकारादि भी नष्ट हो जाते हैं—

विषापहारं मणिमोषधानि, मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च ।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति, पर्यायनामानि तवैव तानि ॥१४॥

आराध्यके उदारता गुणका विश्लेषण करते हुए कविने कहा कि प्रभो! आप भक्तको सभी पदार्थ प्रदान करते है। उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्यसे भी जो फल प्राप्त होता है, वह सम्पत्तिशाली कृपण धनाढ्योसे नही। क्योकि पानीसे शून्य रहनेपर भी पर्वतसे नदियाँ प्रवाहित होती हैं, पर जलसे लबालब भरे रहनेपर भी समुद्रसे नही। पर्वत उन्नत है, उसकी यह उच्चता ही गौरवका कारण है।

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च, प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकोऽपि निर्याति धुनी पयोधेः ॥१९॥

उपर्युक्त पद्यमें भगवान्की तुंगताका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। संसारके समस्त पदार्थ अनित्य हैं, सभीकी सत्ताके साथ विनाश जुड़ा हुआ है। आप ही एक ऐसे हैं, जो जन्म-मरणसे रहित हैं। राहु सूर्यका, पानी अग्निका, प्रलयकालकी वायु समुद्रका तथा विरहभाव संसारके भोगोंका नाश करनेवाला है, इस प्रकार आपसे भिन्न सभी पदार्थ विनाश और उत्पत्तिसे युक्त हैं।

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः, कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः ।
संसारभोगस्य वियोगभावो, विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥२६॥

कवि भगवान्से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि प्रभो ! आपकी स्तुति, भक्ति, स्मृति, ध्यान और प्रणतिसे जीवोंको अभीष्ट फलोंकी प्राप्ति होती है, अतः मैं आपकी स्तुति करता हूँ ।

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या, स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि ।
स्मरामि देवं ! प्रणमामि नित्यं केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम् ॥१२॥

इस स्तोत्र काव्यमे काव्यकलाका चमत्कार सर्वत्र दिखलाई पड़ता है ।

एकीभावस्तोत्रम्[1]

इस स्तोत्रमे २६ पद्य है । २५ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्दके है और एक स्वागता छन्दमें लिखित है । इसके रचयिता महाकवि वादिराज है । वादिराजके सम्बन्धमे पहले लिखा जा चुका है । कविका समय ईस्वी सन् ११वी शती है ।

एकीभावस्तोत्र भक्तिभावनासे समन्वित है । कवि स्तोत्रके आरम्भमे ही कहता है—

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो,
घोरं दु.खं भव-भवगतो दुर्निवारः करोति ।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चे-
ज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥ १ ॥

हे भगवन् ! आपकी भक्तिसे भव-भवमें दुःख देनेवाला कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है, तब दूसरे शारीरिक सन्तापके कारण दूर हो जावें तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या ?

भगवद्भक्तिके मनमे रहनेसे समस्त सन्ताप दूर हो जाते हैं । भक्ति द्वारा मानवको आत्मबोध प्राप्त होता है, जिससे वह चैतन्याभिराम गुणग्राम आत्माभिरामको प्राप्त कर लेता है । कवि वादिराजने भगवान्को ज्योतिरूप कहा है । कविकी दृष्टिमें आराध्यका स्वरूप सौन्दर्यमय मधुर भावसे भरा हुआ है । आशाकी नवीन रश्मियाँ उसके मानस-क्षितिजपर उदित होती है । जीवनमें एक नवीन उल्लास व्याप्त हो जाता है । भक्ति-विभोर होकर तन्मयकी स्थिति आनेपर समस्त मंगलोंका द्वार खुल जाता है । कवि वादिराज इसी तन्मयताकी स्थितिका विश्लेषण करता हुआ कहता है—

आनन्दाश्रु स्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन् ,
यश्चायेत त्वयि दृढमना. स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्या-
न्निष्कास्यन्ते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः ॥ ३ ॥

---

[1] काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२६ ई०, पृ० १७-२२ ।

अर्थात्—हे भगवान् जो आपमें स्थिर चित्त हो तथा हर्षाश्रुओंसे विगलित गद्गद वाणी द्वारा स्तोत्रपाठ करता है, उसके समस्त रोग-शोक आदि दूर हो जाते हैं। यहाँ भक्तिकी तन्मयता ही समस्त सिद्धियोंका कारण है।

भक्त भगवन्की बराबरी करता हुआ कहता है कि जो आप हैं, सो मैं हूँ। शक्तिकी अपेक्षा मुझमें और अर्हत्को आत्मामें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि भगवन्, आप अभी शुद्ध है, रत्नत्रय गुण विशिष्ट हैं, जबकि मेरी आत्मा अभी अशुद्ध है, रत्नत्रय गुणका केवल प्रवेश ही हुआ है, पूर्णता तो अभी दूर है। अतः जिस प्रकार दीपककी लौको प्रज्वलित करनेके लिए अन्य दीपककी लौका सहारा आवश्यक होता है, उसी प्रकार भगवन् ! आत्मशुद्धिके हेतु मुझे आपका अवलम्बन लेना है। यथा —

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख ! त्वामनुध्यायतो मे,
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां,
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति ॥ १७ ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! आपका ध्यान करनेसे मेरे मनमें यह भावना उत्पन्न होती है कि जो आप है, सो मैं हूँ। यद्यपि यह बुद्धि मिथ्या है, क्योंकि आप अविनाशी सुखको प्राप्त है और मै भवभ्रमणके दुःख उठा रहा हूँ। तो भी मुझे आत्माके स्वभावका बोध कर अविनाशी सुख प्राप्त करना है, इतने मात्रसे ही सन्तोष होता है। यह सत्य है कि आपके प्रसादसे सदोष आत्माएँ भी इच्छित फलको प्राप्त हो जाती हैं।

कवि अपने आराध्यके अचिन्त्य महत्त्वको व्यक्त करता हुआ कहता है—

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देवः ! प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयेवानपेक्षम्।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं संनिधिर्वैरहारी,
क्वैवंभूतं भुवनतिलक ! प्राभवं त्वत्परेषु ॥ २२ ॥

हे प्रभो ! आप वीतरागी होनेसे क्रोध और प्रसन्नतासे रहित है। आपका चित्त बिलकुल निरपेक्ष है, फिर भी संसार आपकी आज्ञामे चलता है और आपकी समीपता सबके बैरको दूर कर देती है। आप जैसा यह विलक्षण प्रभुत्व संसारके दूसरे प्रभुओंमें नहीं पाया जाता। आप विचित्र स्वामी हैं।

भक्ति भावना और काव्यचमत्कारका एक साथ समन्वय करता हुआ कवि कहता है कि हे प्रभो ! आपका ध्यान करते समय आपका निवास मेरे हृदयमें रहता है, अतः यह मेरा शरीर स्वर्णमय बन जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। यथा—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या-
त्पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।

ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥ ४ ॥

कविने 'जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक्च दुःखं' (११) में आत्मसमर्पणकी भावना और 'प्रापद्दैवं तव नुतिपदैः' (१२) मे पौराणिक आख्यानका स्मरण दिलाकर नमस्कारमन्त्रकी महत्ता प्रदर्शित की है।

स्तोत्रकी भाषा प्रौढ और परिमार्जित है।

कल्याणमन्दिर[1]

प्रस्तुत स्तोत्र ४४ पद्योमें है। अन्तिम पद्य आर्यावृत्तमें गुम्फित है और शेष वसन्ततिलका छन्दमे लिखे गये है। इस स्तोत्रके रचयिता कुमुदचन्द्र नामके कवि है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सिद्धसेन दिवाकरका दूसरा नाम कुमुदचन्द्र माना गया है।[2] पर कल्याणमन्दिरके विषय वर्णनसे यह स्पष्ट है कि इस स्तोत्रकी कई बातें श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रतिकूल पड़ती हैं। इस स्तोत्रमे १९वें पद्यसे लेकर २६वे पद्य तक अष्ट प्रातिहार्योंका वर्णन है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अशोकवृक्ष, सिहासन, चमर और छत्र-त्रय ये चार प्रातिहार्य ग्रहण किये गये हैं और दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल तथा दिव्यध्वनि छोड दिये है। अत: आठों प्रातिहार्योंके वर्णनका पाया जाना सम्प्रदायके विपरीत है। दूसरी बात यह है कि इस स्तोत्रमें 'प्राग्भारसंभृतनभांसि रजांसि रोषात्' ३१वें पद्यसे 'ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड' ३३वें पद्य तक शम्बर (कमठ) द्वारा पार्श्वनाथके ऊपर किये गये उपसर्गोंका वर्णन है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमे अन्तिम तीर्थंकर महावीरको छोड शेष तेईस तीर्थंकरोंको निरुपसर्ग माना गया है और दिगम्बर सम्प्रदायमें पार्श्वनाथको सोपसर्ग तथा शेष तीर्थंकरोंको निरुपसर्ग माना गया है। अत: पार्श्वनाथका सोपसर्ग वर्णन करना भी श्वेताम्बर आम्नायके विरुद्ध है[3]। अतएव इस स्तोत्रका रचयिता श्वेताम्बर मतानुयायी कवि नही हो सकता है।

अब प्रश्न यह है कि प्रस्तुत कुमुदचन्द्रका समय क्या है? जैन साहित्यमे कई कुमुदचन्द्रोके नाम आये हैं। पर इस स्तोत्रके रचयिता वे ही कुमुदचन्द्र हैं, जिनका शास्त्रार्थ गुजरातके जयसिंह सिद्धराजकी सभामें वि० सं० ११८१ मे श्वेताम्बर वादिदेवसूरिके साथ हुआ था। सम्भवत: श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इसके प्रचारका कारण भी

---

[1] साहित्याचार्य पं० पन्नालाल कृत हिन्दी अनुवाद सहित, श्रीसन्मति कुटीर, चन्दाबाडी, सी० पी० टेक, बम्बई नं० ४, सन् १९५६ ई० में प्रकाशित।

[2] सिद्धसेनस्य दीक्षाकाले 'कुमुदचन्द्र' इति नामासीत्। सूरिपदे पुन: 'सिद्धसेनदिवाकर' इति नाम प्रपथे। तदा 'दिवाकर' इति सूरे संज्ञा।
—प्रबन्धकोष, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, सन् १९३५ ई०, वृद्धवादि सिद्धसेन प्रबन्ध, पृ० १६।

[3] सव्वेसिं तवोकम्मं, निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं।
नवरं तु वड्ढमाणस्स, सोवसग्गं मुणेयव्वं॥ २७६ नियुक्ति–कल्याणमन्दिर, स्वाध्याय सदन खुरई, १९५ ई०, प्रस्तावना पृ० ११ पर उद्धृत।

यही हो सकता है। प्रबन्धकोशकारने सिद्धसेनका अपर नाम कुमुदचन्द्र अंकित कर दिया है। प्रबन्धकोशसे पूर्व किसी भी ग्रन्थमें सिद्धसेन दिवाकरका नाम कुमुदचन्द्र नही मिलता है। शास्त्रार्थकी घटनाके आधारपर कल्याणमन्दिर स्तोत्रका रचनाकाल वि० सं० १२वी शती होना चाहिए।

यह भक्तामर स्तोत्रकी समालोचनामें दिखलाया जा चुका है कि कल्याणमन्दिरकी रचना भक्तामरके पश्चात् हुई है। इस स्तोत्रकी शैली भी सिद्धसेनकी शैलीके समान नही है। सिद्धसेनने द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, इस स्तोत्रमें ३५ श्लोक नही हैं, ४४ हैं। शैली भी सिद्धसेनकी शैलीकी अपेक्षा भिन्न है। अतः कुमुदचन्द्रका अपर नाम सिद्धसेन मानकर इस स्तोत्रका कर्त्ता सिद्धसेनको नही माना जा सकता है।

विषय और समालोचन

इस काव्यमे भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति की गयी है। कवि भगवान्‌की भक्तिको समस्त दुःखोंका नाशक कहता है। यथा—

त्वं नाथ ! दुःखिजनवत्सल ! हे शरण्य
कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य।
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय,
दुखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥ ३९ ॥

अर्थात्—हे दयालुदेव ! आप दीनदयाल शरणागत प्रतिपाल, दयानिधान, इन्द्रियविजेता, योगीन्द्र और महेश्वर है, अत. सच्ची भक्तिसे नम्रीभूत मुझपर दया करके मेरे दुखांकुरोके नाश करनेमें तत्परता कीजिए।

कविने उक्त पद्यमें आराध्यके महत्त्व एवं शीलका विवेचन किया है। भगवान् पार्श्वमें कविने भक्तकी दृष्टिसे बल पराक्रमका आरोप कर उन्हे दयानिधान और शरणागतवत्सल विशेषण दिये है। वीतरागता प्रकट करनेके लिए इन्द्रियविजयी और योगीन्द्र विशेषण दिये गये है।

कवि दृष्टान्तालंकार द्वारा बतलाया है कि क्रोधरहित होनेपर भी आराध्यने कर्म वनको उस प्रकार नष्ट किया, जिस प्रकार तुषार क्षणभरमें कमलवनको नष्ट कर देता है। यथा—

क्रोधस्त्वया यदि विभो ! प्रथमं निरस्तो
ध्वस्तस्तदा बत कथं किल कर्मचौराः।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥ १३ ॥

हे कोपदमन ! यदि आपने अपने क्रोधको पहले ही नष्ट कर दिया, तो फिर आपही बतलाइए कि आपने क्रोधके बिना कर्मरूपी चोरोंको कैसे नष्ट किया ? अथवा

इस लोकमें तुषार शीत होनेपर भी हरे-हरे वृक्षोंसे युक्त वन-उपवनोंको नहीं जला देता है ?

उपमालंकारकी योजना द्वारा आराध्यका प्रभाव व्यक्त करता हुआ कवि कहता है—

हृद्वर्तिनी त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥ ८ ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! जिस तरह मयूरके आते ही चन्दनके वृक्षमें लिपटे हुए साँप ढीले पड़ जाते हैं, उसी तरह जीवोंके हृदयमें आपके आनेपर उनके कर्मबन्धन ढीले पड़ जाते हैं ।

कवि अपने आराध्यके शील पर मुग्ध है, उसकी वृत्तियोंका मेल होने लगा है । अतः वह यह विश्वास करता है कि भगवान्‌की भक्ति ही विपत्तियोंको चूर करनेवाली है । अतः वह दृढ श्रद्धा व्यक्त करता हुआ कहता है—

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥ १० ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार भीतर भरी हुई वायुके प्रभावसे मसक पानीमें तिरती है, उसी प्रकार आपको हृदयमें धारण करनेवाले पुरुष आपके ही प्रभावसे संसारसमुद्र से पार हो जाते हैं ।

कवि कहता है कि हे भगवन् ! अनेक जन्म-जन्मान्तरोंसे आपके दर्शन मैं करता चला आ रहा हूँ, पर अभी तक मुझे मोक्षसुखकी प्राप्ति नहीं हुई । इसका कारण यही है कि मैंने भावपूर्वक अभी तक भक्ति नहीं की है । भावपूर्वक भक्ति करनेसे कर्मोंकी निर्जरा सम्भव है ।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥ ३८ ॥

कवि भगवच्चरणोंका ध्यान न कर सकनेके लिए पश्चात्ताप करता है—

निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्यमासाद्य सादितरिपुप्रथितावदानम् ।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावक हा हतोऽस्मि ॥४०

स्तोत्र सरस, वैदर्भी शैलीमें निबद्ध किया गया है । भक्तिभावना प्रत्येक पद्यमें पायी जाती है । लालित्य और माधुर्य भी निहित है ।

चतुर्विंशतिजिनानन्दस्तवन[1]

इस स्तोत्रमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति का गयी है। प्रत्येक तीर्थंकरकी स्तुतिमें चार पद्य लिखे गये है, इस प्रकार कुल ९६ पद्योंमें स्तवन समाप्त हुआ है। स्तवन वसन्ततिलका वृत्तमे निबद्ध किया गया है। इसके रचयिता पण्डित मेरुविजय गणि है। कविके सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रशस्ति उपलब्ध होती है।

'संवत् १६६२ वर्षे तपागच्छाधिराज भट्टारक श्रीहरि विजयसूरीश्वर पट्टालंकारभट्टारक श्रीविजयसेनसूरीन्द्रराज्ये पण्डित श्रीआनन्द विजयगणिचरणकमलालिना विरचिता चिरं नन्दतु।'[2]

स्पष्ट है कि पण्डित मेरुविजय गणि पण्डित आनन्दविजय गणिके शिष्य थे और विक्रम संवत् १६६२ में वर्तमान थे। मेरुविजयकी शिष्य परम्परामें लावण्यविजय, ज्ञानविजय, वृद्धिविजय, नयविजय, शुभविजय और प्रेमविजयके नाम मिलते है। अतः कविका समय १७वी शती है।

इस स्तोत्रपर कवि द्वारा विरचित अवचूरिका भी उपलब्ध है। स्तोत्रक्रममें प्रत्येक तीर्थंकरकी स्तुति एक पद्यमें पायी जाती है, पश्चात् सामान्य जिनस्तुति, प्रवचन परिचय और किसी देवी की स्तुति अंकित कर चार पद्योमें स्तुतिको समाप्त किया गया है। कई पद्य काव्यकलाकी दृष्टिसे सुन्दर हैं। कवि अजितदेवकी स्तुति करता हुआ उनके प्रवचनको अमृतपानके समान सन्तोषप्रद बतलाता है। यह प्रवचनामृत समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है और मुनियोंके चारित्रकी वृद्धि करनेवाला है—

> पीयूषपानमिव तोषमशेषपुंसां
> निर्मायमुच्चरणकृद् भवतो ददानम्।
> ज्ञानं जिन! प्रवचनं रचयत्वनल्पं
> निर्मायमुच्चरणकृद्भवतो ददानम् ॥७॥

इस स्तुतिके सन्दर्भमें कवि 'अजितबला' नामक देवीकी स्तुति करता हुआ, उससे समस्त पापोंको नष्ट करनेकी प्रार्थना करता है। यह नूतनागी देवी कल्याणरूपी कमलको उत्पन्न करनेवाली है, करोड़ों व्यक्तियोंका मंगल करती है, सुख देती है और विपत्तियोंको नष्ट करती है। यथा—

> श्रेयः परागनलिनी नयतां नवाङ्गी,
> सा मे पराजितबला दुरितानि तान्तम्।
> कल्याणकोटिमकरोन् निकरे नराणां
> सा मे पराजितबला दुरिता नितान्तम् ॥८॥

◆

---

[1] आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२७ ई० में अवचूरिका सहित मुद्रित।

[2] वही, भूमिका, पृ० ४६ पर मुद्रित प्रशस्ति।

गंगवंशके गुरु जैनाचार्य सिंहनन्दिने इस राजवंशकी स्थापनामें बड़ी सहायता की थी। गोम्मटसारवृत्तिके कर्ता अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्तीने भी अपने ग्रन्थकी उत्थानिकामें इस बातका उल्लेख किया है।[1] सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थके रचयिता आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि इसी वंशके सातवें नरेश दुर्विनीतके राजगुरु थे।[2] गंगनरेश मारसिंहके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने अनेक बड़े युद्धोंमें विजय प्राप्त कर नाना दुर्गोंको जीत अनेक जैन मन्दिर और स्तम्भोंका निर्माण कराया था। अन्तमें अजितसेन भट्टारकके समीप बंकापुरमें संल्लेखना विधिसे मरण किया था।[3] मारसिंहके उत्तराधिकारी रायमल्ल (चतुर्थ) के मन्त्री तथा सेनापति वीर चामुण्डरायने श्रवणबेलगोलके विन्ध्यगिरि पर्वतपर चामुण्डरायवस्ति निर्माण करायी और गोम्मटेश्वरकी विशालमूर्तिका उद्घाटन कराया, जो प्राचीन भारतीय मूर्तिकलाकी दृष्टिसे अनुपम है।[4] चामुण्डराय तलवारका धनी होनेके साथ लेखनीका भी धनी था। उसने चामुण्डराय नामक पुराण कन्नड़ भाषामें लिखा है।[5]

जैन काव्य एवं साहित्यके प्रणयनमे सहयोग देनेवाले राजवंशोंमें राष्ट्रकूट वंशका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोविन्द तृतीयके पश्चात् इस वंशमे अमोघवर्ष राजा हुए, जिन्होंने लगभग सन् ८१५ ई० से सन् ८७७ ई० तक राज्य किया। इन्होने अपनी राजधानी नासिकको छोड़ मान्यखेटमें स्थापित की। इनके समयमें जैन साहित्यकी पर्याप्त समृद्धि हुई। अमोघवर्ष जिनसेन द्वितीयके चरणोकी पूजा करते थे।[6] जैन व्याकरण शाकटायनकी अमोघवृत्ति नामक टीका इन्हीके नामपर पायी जाती है। महावीर कविने इन्हींके राज्यमें गणितसार संग्रह नामक गणित ग्रन्थ पद्यबद्ध लिखा है। इनके उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीयके राज्यकालमें गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणको समाप्त किया।[7] सोमदेवने चम्पूविधाका चूडान्त निदर्शन 'यशस्तिलक' नामक चम्पू ग्रन्थ लिखा। अपभ्रंशके महाकवि पुष्पदन्तने इन्हीके राज्यकालमें अपभ्रंश भाषामे महापुराणकी रचना की। इस ग्रन्थका काव्यगुणोंकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चालुक्यनरेश पुलकेशी (द्वितीय) के समयमें जैन कवि रविकीर्तिको संस्कृत काव्यकलामें कालिदास और भारविके समान पटु बतलाया गया है।[8] लक्ष्मेश्वरसे प्राप्त अनेक दानपत्रोंमें चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैन

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग, मा० दि० जेन ग्र०, बम्बई, वि० सं० १९८४, भूमिका, पृ० ७२।

२. वही, पृ० ७२।

३. बंकापुरदोल् अजितसेन भट्टारक श्रीपादसन्निधियोल् आराधनाविधिर्चिमूरुदे·· वही, शि० ले० ३८ (५९)।

४. डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, भोपाल, सन् १९६२ ई०, पृ० ३८।

५. जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा—भाग १३, किरण १, गोम्मटेश प्रतिष्ठापक, पृ० १–६।

६. संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपति' पूतोऽहमद्येत्यलम् ।
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥
—उत्तर० भार० काशी, सन् १९५४ ई०, प्रशस्ति श्लोक ९।

७. उत्तर० भार० काशी, सन् १९५४ ई०, प्रशस्ति भाग।

८. ऐहोल अभिलेख पद्य, ३७।

सप्तम परिवर्त

*

संस्कृत जैन काव्योंका आभ्यन्तरिक विश्लेषण

(क) संस्कृत जैन काव्योंकी पृष्ठभूमि
(ख) संस्कृत जैन काव्योंमें निरूपित काम, सौन्दर्य और प्रेमतत्त्व
(ग) ज्योतिष एवं शकुन तत्त्व
(घ) राजनीति-तत्त्व
(ङ) धर्म और दर्शन तत्त्व
(च) शिक्षा और संस्कृति
(छ) चार्वाक दर्शन समीक्षा
(ज) तत्त्वोपप्लववाद समीक्षा
(झ) सर्वज्ञसिद्धि समीक्षा
(ञ) न्याय-वैशेषिक और सांख्यदर्शन समीक्षा
(ट) उपसंहार—जैन काव्योंका तुलनात्मक विवेचन
(ठ) जैन कवियोंकी देनका अन्तिम निष्कर्ष

आचार्योंको दान दिये जानेका उल्लेख है। ग्यारहवीं शताब्दीमें दक्षिणभारतमें जब पुनः चालुक्य नरेशोंका वैभव बढ़ा, तो अनेक जैनकवि और जैनाचार्योंके इस वंशके राजाओंने प्रश्रय प्रदान किया। पश्चिमी चालुक्यवंशके संस्थापक तैलपने कन्नड़ भाषाके जैन कवि रन्नको आश्रय दिया। तैलपके उत्तराधिकारी सत्याश्रयने जैनमुनि विमलचन्द्र पण्डितदेवको अपना गुरु बनाया। इस वंशके जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय तथा विक्रमादित्य षष्ठने कितने ही जैनकवियोंको प्रोत्साहित कर साहित्य सृजन कराया।

होयसल राजवंशकी स्थापना एक जैनमुनिके निमित्तसे हुई थी। विनयादित्य नरेशके राज्यकालमें जैनमुनि वर्द्धमान देवका शासन प्रबन्धमें बहुत बड़ा हाथ रहा है। होयसलोंका मूल निवासस्थान पश्चिमीघाटपर मुदगेरे तालुकेमें स्थित अंगदिशशकपुर नगर था। यह स्थान पहलेसे ही जैनधर्मका केन्द्र था। यहाँ जैनाचार्य सुगत वर्धमानका विद्यापीठ वर्तमान था, जिसमें अनेक गृहस्थ, त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे। सल नामक व्यक्ति, जो कि चालुक्योंके साधारण श्रेणीके सामन्तका पुत्र था, इन्हीं आचार्यके पास अध्ययन करता था। सलने ही इस वंशके राज्यका विस्तार किया और सुगत वर्धमान उनके धर्मगुरु एवं राजगुरु थे। इस वंशने अभयचन्द्र, अजितसेन भट्टारक, दार्शनिक गोपनन्दी, चारुकीर्ति पण्डितदेव प्रभृति जैन विद्वानोंको सम्मानित किया तथा राजाश्रय देकर साहित्य सेवाके लिए प्रोत्साहित किया।

उपर्युक्त प्रसिद्ध राजवंशोके अतिरिक्त दक्षिणके अनेक छोटे-मोटे राजाओंने भी जैनधर्मको संबल प्रदान किया।

भुजबल सामन्तर[1] ने अपनी राजधानी पोम्बुचवर्गमे एक जैनमन्दिर बनवाया और अपने गुरु कनकनन्दिको उस मन्दिरके संरक्षणार्थ एक ग्रामका दान दिया। वीर सान्तरके मन्त्री नगुलरसको ई० सन् १०८१ के एक शिलालेखमें जैनधर्मका संरक्षक कहा है। दक्षिणभारतके अभिलेखोंमें बताया गया है कि १२वी शती तक राजा, सामन्त, मन्त्री, सेठ, साहूकार, सेनापति, रानियाँ आदि सभीने 'जैनधर्म' और 'जैनसाहित्य'की समृद्धिमें योगदान दिया है। अतः दक्षिण भारतमें जैनों द्वारा संस्कृत काव्यके सृजनका पूर्ण वातावरण वर्तमान था।

ई० सन्‌की प्रथम शताब्दीके लगभग ही काठियावाड़में एक जैन केन्द्र सुप्रतिष्ठित था। धरसेनाचार्य गिरिनगर (काठियावाड़के गिरनार) की चन्द्रगुफामें रहते थे। यहीपर इन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक आचार्योंको बुलवाकर आगम ग्रन्थोंका उन्हें अध्ययन कराया था, इसी अध्ययनके आधारपर द्रविड़ देशमें षट्‌खण्डागमकी सूत्ररूपमें रचना हुई। गुजरातमें जैनधर्मका प्रभाव बढ़ता गया और वीरनिर्वाण संवत् ९८० (ई० सन ४५४) मे क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणिकी अध्यक्षतामें जैन मुनियोका एक विशाल

---

[1] डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९६१ ई०, दक्षिण भारत तथा डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय सस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, पृ० ४१।

Religious Book Distribution
महावीर प्रसाद जैन
1320, चांदनी चौक, देहली-110006

उपेक्षित संस्कृत काव्योंका अन्तरंग अनुशीलन

संस्कृत जैन काव्योंके अन्तरंग स्वरूपके परिज्ञानके हेतु इन काव्योंके रचनाकालके समयकी राजनैतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमिकी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। गुप्त साम्राज्यके पतनके अनन्तर कान्यकुब्ज और वलभी दो प्रमुख साहित्यिक केन्द्र निर्मित हुए। कान्यकुब्ज बाण (सातवी शती) से लेकर नैषधकार श्रीहर्ष (बारहवी शती) तक काव्य प्रणयन और विद्याका केन्द्र बना रहा। कान्यकुब्जके कुछ नरेश स्वयं भी कवि थे, अतः उनके यहाँ समय-समयपर बाण, मयूर, वाक्पतिराज, भवभूति, राजशेखर प्रभृति वैदिक धर्मानुयायी कवि राजाश्रय प्राप्त करते रहे। वलभी तो ब्राह्मण, बौद्ध और जैन संस्कृतिका एक बड़ा केन्द्र था। चीनी पर्यटक ह्वेनच्वांगके अनुसार वलभीमें कई सौ संघाराम थे। इत्सिंगके वर्णनोंसे यह प्रमाणित है कि वलभी शिक्षा और साहित्यका केन्द्र था। धरसेन द्वितीय (सन् ४८० ई०) के दानपत्रमें बताया गया है कि उसका पिता गुहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंमें प्रबन्ध रचना करनेमें निपुण था।

जैनधर्मका उत्थान मगधमें हुआ, पर इसकी प्रवृत्तिके केन्द्र दक्षिण भारत, उज्जयिनी, मथुरा और वलभी अत्यन्त महत्त्वके थे। दक्षिणके राजवंशोंमें कदम्ब, गंग, होय्सल, राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशके नाम प्रसिद्ध हैं। इन राजवंशोंने जैन मनीषियोंको राज्याश्रय तो दिया ही, साथ ही जैनधर्मकी प्रतिष्ठाके हेतु जैनमन्दिर बनवाये और मन्दिरोंके प्रबन्धके निमित्त भूमिदान दिया। कदम्बवंशके शान्तिवर्माके पुत्र मृगेश द्वारा अपने राज्यके आठवें वर्षमें यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक मुनियोंको भूमिदान दिये जानेका उल्लेख है।[1] अभिलेखोंसे अवगत होता है कि मृगेशके पुत्र रविवर्माने यापनीय संघके प्रमुख आचार्य कुमारदत्तको पुरुखेटक ग्रामदानमें दिया गया था।[2] इसी तरह कदम्ब वंशकी दूसरी शाखाके युवराज देववर्माने भी यापनीय संघको कुछ क्षेत्रोंका दान देकर सत्कृत किया था।[3]

---

१. श्री विजयपलाशिकायां यापनि (नी) यनिर्ग्रन्थकूर्च्चकानां स्ववैजयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्त्तिकपौर्णमास्याम्। श्रीविजयवैजयन्तीनिवासी दत्तवान् भगवद्भ्योऽर्हद्भ्य तत्राज्ञाप्ति.।—जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग, मा० दि० जैन ग्र० बम्बई, वि० सं० २००६, शिलालेख ९९, पृ० ७३।

२. तै रवे' पुण्यार्थं स्वपितुर्म्मात्रे दत्तवान् पुरुखेटकं। जिनेन्द्र महिमा—वही, शि० ले० १००, पृ० ७५।

३. देववर्मयुवराज' स्वपुण्यफलाभिकांक्षया त्रिलोकभूतहितदेशिन' धर्मप्रवर्त्तनस्य अर्हत. भगवत: चैत्यालयस्य भग्नसंस्काराच्चर्चयने महिमार्थं यापनीयसंघेभ्य: वही, शि० ले० १०५, पृ० ८३।

सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें जैन आगमके अंगोपांग आदिके ४५ ग्रन्थ संकलित किये गये, जिन्हें श्वेताम्बर परम्परामें सर्वोपरि प्रमाणभूत माना जाता है। वलभीके जैनाचार्योंमें मल्लवादी नामके एक महान् आचार्य हुए हैं, जिन्होंने द्वादशारनयचक्र नामक जैन न्यायका एक श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है।

तीर्थकल्पके कर्ता जिनप्रभसूरिने लिखा है कि सिन्धसे आये हुए अरबों द्वारा वलभीका पतन हुआ। अरबोंका यह अन्तिम आक्रमण था, जिसने वलभीके गौरवको सदाके लिए लुप्त कर दिया।

वलभीके पराजयानन्तर उसका स्थान पश्चिमी भारतके मुख्य नगरके रूपमें अणहिलवाड़ने ले लिया और वह पन्द्रहवीं सदी तक यह सम्मान प्राप्त करता रहा जबकि अहमदाबादने इसे पदच्युत कर दिया।[1]

प्राचीन समयमें गुजरातमें अणहिलवाडके अतिरिक्त भिन्नमाल या श्रीमाल नामका नगर गुर्जरोंका पहला प्रधान नगर था।[2] इस नगरमें जैन विद्याका बहुत प्रचार था। सिद्धर्षिका 'उपमिति भवप्रपंचकथा' नामक ग्रन्थ ई० सन् ९०६ में इसी नगरमें समाप्त हुआ है। इस रूपक कथामें जैन साहित्यकी धर्म कथाशैली अपने उन्नत शिखरपर पहुँच गयी है। ई० सन् ७७८ मे उद्योतन सूरिने जाबालीपुर मारवाड़के आधुनिक जालोरमें कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थकी रचना की है, जो भिन्नमालके बहुत ही निकट है। उद्योतन सूरिने हरिभद्रके अतिरिक्त देवगुप्त नामके आचार्यको भी अपना गुरु लिखा है। देवगुप्त महाकवि थे, इनके शिष्य शिवचन्द्रने श्रीमालको अपना निवास स्थान बनाया था।[3]

भिन्नमालके पतनकी अनेक सदियों पूर्व ही सन् ७४६ में चावड़ा वंशके वनराज द्वारा उत्तर गुजरातकी सरस्वती नदीके तीर स्थित लाखाराम नामक प्राचीन गाँवमें अणहिलवाड़ बसा दिया गया था। अणहिलवाड़मे राज्य करनेवाले चौलुक्यवंशीय प्रथम राजा मूलराज बड़ा सेनानी और दूरदर्शी शासक था। इसने चावडोंसे प्राप्त की गयी छोटी-सी रियासतको गुजरातका रूप दे दिया। अणहिलवाड़ पाटणमें गुजरात साम्राज्य स्थापनाके अनन्तर उत्तर गुजरातके प्रदेशमें विशेष रूपसे जैन विद्वानों और कवियों द्वारा साहित्य रचना होती रही।

११वीं शतीमें शान्तिसूरि और नेमिचन्द्रने उत्तराध्ययनकी विशाल टीकाएँ लिखी। हेमचन्द्र और उनकी शिष्यमण्डलीने व्याकरण, काव्य, नाटक एवं नाट्यशास्त्र-पर ग्रन्थोंकी रचना की।[4] आचार्य हेमचन्द्रके समकालिक कवि और विद्वानोंमें सिद्धराज

---

[1] स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, आक्सफोर्ड १९२४ ई०, पृ० ३१४-१५।

[2] देखें—डॉ० भोगीलाल ज० साण्डेसरा—महामात्य वस्तुपालका 'साहित्य-मण्डल और संस्कृत साहित्यमें उसकी देन', पृ० ९-१०।

[3] पारेख, हीरालाल त्रिभुवनदास—वसन्तरजत महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, अहमदाबाद १९४०, पृ० २७०-२७१ में मुनि जिनविजयका कुवलयमालापर लेख (गुजराती)।
डॉ० भोगीलाल ज० साण्डेसरा द्वारा लिखित—'महामात्य वस्तुपालका साहित्यमण्डल', पृ० १४।

के राजकवि प्राग्वाट वंशीय श्रीपालका नाम प्रसिद्ध है। उसने सिद्धराजके द्वारा निर्मित सुप्रसिद्ध सहस्रलिंग सागरकी प्रशस्ति लिखी थी, जिसका कुछ अंश पाटणके एक मन्दिरमें मिले पाषाणखण्डपर खुदा प्राप्त हुआ है[1]। बड़नगरके गढ़की प्रशस्तिके अन्तमें श्रीपाल कविका परिचय निम्न प्रकार मिलता है—

> एकाहनिष्पन्न-महाप्रबन्धः, श्रीसिद्धराज-प्रतिपन्नबन्धुः ।
> श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत्प्रशस्ताम् ॥[2]

श्रीपालका पुत्र सिद्धपाल भी एक अच्छा कवि था। सिद्धपालका पुत्र विजयपाल अच्छा संस्कृत नाटककार था। उसकी एक रचना 'द्रौपदी स्वयंवर' उपलब्ध है, जो मूलराजके द्वारा निर्मित त्रिपुरुषप्रासादमें भीमदेव द्वितीयकी आज्ञासे अणहिलवाड़में खेला गया था। यशःपाल कविने सन् ११७४-११७७ ई० के मध्यमे मोहराज पराजय नाटकको रचना की। यह यशःपाल कुमारपालके उत्तराधिकारी अजयपालका जैन मन्त्री था। थारापद्रमें बनाये गये कुमारपालके मन्दिर कुमारीविहारमें महावीरकी रथयात्राके समय यह नाटक खेला गया था। इसमें राजा, हेमचन्द्र और विदूषकके अतिरिक्त सभी पात्र गुण-दोषोंके प्रतीक हैं। इसकी संस्कृत आडम्बरशून्य और सरल है।

अणहिलवाड़के सम्बन्धमे बताया गया है कि यहाँ विद्याकी अनेक शाखाओंकी शिक्षा देनेवाली सत्र शालाएँ और मठ थे। अध्यापकों और अध्येताओंको निःशुल्क निवास, भोजन और वस्त्र राज्यकी ओरसे देनेकी व्यवस्था थी। इस क्षेत्रको विश्वविद्यालयके उपनिवेशका-सा रूप दिया गया था। प्रत्येक धर्म और सम्प्रदायके लोग वहाँ विद्याध्ययन करते थे।[4]

तेरहवीं सदीके पूर्वार्धमें गुजरातके धोलका नगरके राजाका महामन्त्री वस्तुपाल अपनी साहित्य सेवाओंके लिए प्रसिद्ध है। इनका नरनारायण महाकाव्य, सोमेश्वरकी कीर्ति कौमुदी और सुरथोत्सव, अरिसिंहका सुकृत संकीर्तन, बालचन्द्रका वसन्तविलास और उदयप्रभसूरिका धर्माभ्युदय जैन साहित्यकी अमूल्य मणियाँ हैं, इनके प्रणयनका श्रेय एक प्रकारसे वस्तुपालको ही है। इस प्रकार गुजरातके वलभी, अणहिलवाड और धोलका जैन साहित्य विद्याके केन्द्र थे। भिन्नमाल पहले गुजरातमें था, पर आजकल राजस्थानमे है, यह भी जैन विद्याका पीठ था। वस्तुपाल श्रीमाल भिन्नपालसे उद्भूत प्राग्वाट जातिका ही था। इसने जैन काव्यके विकासमें अमूल्य सहयोग प्रदान किया है।

---

१ आर० सी० मोदी, ७वीं ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स, बडौदाका विवरण, पृ० ६४६।

२ प्राचीन लेखमाला, भाग १, सं० ४५।

३. डॉ० भो० ज० साण्डेसरा—महामात्य वस्तुपालका साहित्यमण्डल और संस्कृत साहित्यमें उसकी देन, पृ० २१।

४. विद्यामहोधर्मार्थमुपाध्यायच्छात्राणां भोजनाच्छादनादिसामग्रयोपेत ईश्वरेण कारितो…हेमचन्द्र-द्व्याश्रय महाकाव्य टीका, १।७।

काव्यकी इस पृष्ठभूमिके विश्लेषणसे ही सामाजिक और सांस्कृतिक सिद्धान्त निष्पन्न होते हैं। अतएव समाज और संस्कृतिके विभिन्न पक्षोंपर प्रकाश डाला जायेगा।

राजनीति और शासनतत्त्व

राज्य हमारे जीवनका महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसकी आवश्यकता सामाजिक सम्बन्धोंको नियन्त्रित करनेके लिए होती है। वैदिककालसे ही राज्य और शासन व्यवस्थाका क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होने लगता है। समाजका जो दण्डधरका रूप है, वही राज्य है। समाजके कलात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक अभ्युदयसे भी राज्यका सम्बन्ध रहता है। कला, नीति, दर्शन, धर्म, अध्यात्म आदिके संरक्षणका कार्य भी राज्य द्वारा सम्पादित होता है। अतएव राज्यको मानवके हृदयमें वर्तमान सामूहिक भावनाओंकी केन्द्रीय अभिव्यक्ति मानना तर्कसंगत है। समाज जब नियन्त्रणकी केन्द्रीय व्यवस्था कर लेता है, तब राज्यका उद्भव होता है। राज्यके मूलमें अर्थ, सेना और शक्ति निवास करती है।

संस्कृत जैन काव्योंमें स्फुटरूपमें राजनैतिक विचार उपलब्ध होते है तथा लोककी स्थिति और मर्यादाकी रक्षाका परिज्ञान भी इन काव्योंसे होता है। महाकवि धनंजयने राजकुमारोंको शिक्षाका निर्देश करते हुए (१) आन्वीक्षिकी, (२) त्रयी, (३) वार्ता और (४) दण्डनीतिका निर्देश किया है।[1] आन्वीक्षिकी दर्शनशास्त्र है, इसमें आत्मज्ञान अपेक्षित है। त्रयीमें धर्म और अधर्मकी जानकारी प्राप्त की जाती है। वार्ता[2] आधुनिक अर्थशास्त्र है, संसार यात्राका यह आधार है। दण्डनीति[3] अथवा राजनीतिसे सामाजिक व्यवस्थाओं और स्थितियोंकी जानकारी प्राप्त की जाती है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवालने दण्डनीतिको स्पष्ट करते हुए लिखा है—"The treatise on political theories and practical governance were originally called Danda-Niti or the Principles of Government.[4]"

---

[1] आन्वीक्षिकीं शिष्टजनाद्यतिभ्यस्त्रयी च वार्तामधिकारकृद्भ्य.।
वक्तु प्रयोक्तुश्च स दण्डनीतिं विदां मतः साधु विदाञ्चकार ॥—द्विसन्धान ३।२५।
कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें भी—'आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चे'ति विद्या.—प्रकरण १, अध्याय १, विद्यासमुद्देशः, सूत्र १।

[2] कृषिपशुपाल्ये वाणिज्य च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्।—वही, १।३।१।

[3] आन्वीक्षिकी त्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्ड'। तस्य नीतिर्दण्डनीति। अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षितविवर्धिनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च।
द्विसन्धानकी 'पदकौमुदी' टीकामें देवरभट्टने लिखा है—
आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञान धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ।—द्विसन्धान टीका ३।२५।

[4] *Hindu Polity, Banglore, 1943, p. 5.*

स्पष्ट है कि दण्डनीतिका अर्थ राजनीति शास्त्र है। काव्य ग्रन्थोंमें राजकुमारों और सामन्तोंको राजनीतिकी शिक्षा प्राप्त करनेके निर्देश प्रायः सर्वत्र उपलब्ध हैं।

राज्यके अंग

कवि मुनिभद्रसूरिने राज्यको सप्तांग कहा है—"राज्यं न सप्तमिदं विवत्ते शर्माणि पुंसां गुणलालसानाम्" (शान्तिनाथचरित २।१३४)। राज्यके (१) स्वामी, (२) अमात्य, (३) सुहृत्, (४) कोश, (५) राष्ट्र, (६) दुर्ग और (७) बल ये सात अंग माने गये है।[1] इन सप्त अंगोंमें राजा प्रधान होता है। राज्य और इन अंगोंमें अंगी और अंगका सम्बन्ध माना गया है। मन्त्री राज्यका नेत्र है, मित्र कान, कोश मुख, सेना मन, दुर्ग हाथ और राष्ट्रको पाद कहा जाता है।[2] सोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृतमें इन्ही अंगोको राज्यका उपादान स्वीकार किया है।[3]

राजा

राज्यकी उत्पत्तिके साथ ही राजाकी उत्पत्ति हो जाती है। जैन काव्योंमें वर्णित पात्रोके अनुसार राजा प्रजाकी रक्षा और उसके कल्याणके लिए अपनी समस्त शक्ति लगा देता है। यद्यपि राजा प्रभुसत्ता सम्पन्न स्वतन्त्र था, तो भी उसे अत्याचार या अन्यायसे दूर रहना पडता था। काव्योंमें ऐसा एक भी उदाहरण नही आया है, जहाँ किसी राजाने प्रजाके ऊपर अत्याचार किया हो। राजा श्रीषेण श्रीवर्माको समझाता हुआ कहता है—

वान्छन्विभूतीः परमप्रभावा मोद्वीविजस्त्वं जनमात्मनीनम् ।
जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति ॥

—चन्द्रप्रभ च० ४।३६

समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य ।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥ वही, ४।३७

वैभवकी इच्छासे तुम अपने हितैषी, सगे-सम्बन्धियोंको पीड़ा मत पहुँचाना। नीतिज्ञ व्यक्तियोंका कथन है कि प्रजाको प्रसन्न रखना, अपनेपर अनुरक्त बनाना अथवा प्रजासे सन्तानवत् व्यवहार करना ही वैभवका मुख्य कारण है। जो राजा विपत्ति रहित है, उसे नित्य ही सम्पत्ति प्राप्त होती है और जिस राजाका अपना परिवार वशवर्ती है, उसे कभी विपत्तियाँ नही आती। निष्कर्ष यह है कि परिवारके वशवर्ती न

---

[1] स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।
'सप्ताङ्गमुच्यते राज्य तत्र मूर्धा स्मृत नृप.॥ शुक्रनीति, मद्रास, सन् १८८२ ई० १।६१ तथा—'प्रकृतिषु सप्तासु स्थिति '—द्विसन्धान, २।११।

[2] दुर्गमात्मा सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मन ।
हस्तौ पादौ दुर्ग-राष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि॥—शुक्र० १।६२।

[3] नीतिवाक्यामृत, बम्बई, अ० १७, २३।

होनेसे राजाको अनेक विपत्तियाँ सहन करनी पड़ती हैं। अतः परिवारको वशमें करनेके लिए कृतज्ञता गुणका होना परम आवश्यक है। राजाके स्वरूपका विवेचन करते हुए महाकवि धनंजयने लिखा है—

द्विषो जगद्विलयमयान्न्यपातयत् न्यषेवत स्मरमपि संततीच्छया।
गृहीतवान् करमपमित्ययाचितुं स्वजन्म यः समगमयत्परार्थताम् ॥
—द्वि० २।१०

राजा संसारके विनाशके भयसे शत्रुओंका संहार करता था। सन्तानकी इच्छासे काम-सेवन करता था, राजस्वको भी दूसरोंको देनेके लिए प्रजासे लेता था, इस प्रकार उसने अपने जन्मको ही परार्थ कर रखा था।

उक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि राजामें निम्नलिखित गुणोंका रहना आवश्यक है—

१. वीरता और शत्रुसंहार—शक्ति।
२. इन्द्रियजयी, व्यसनसेवन रहित—आचार।
३. परोपकार वृत्ति—स्वामी, सखा और गुरुजनके रूपमें व्यवहार[1]।

धनंजयने 'जिगाय षड्विधमरिमन्तराश्रयं' (द्वि० २।११) में काम, क्रोध, मान, लोभ, हर्ष और मद इन छह प्रकारके शत्रुओंका विजयी राजाको कहा है। सैन्य शक्ति भी प्रबल होनी चाहिए।

राजा और प्रजाका सम्बन्ध तथा राजाके कर्तव्य

राजाका अपरिमित शासनाधिकार रहनेपर भी उसे अहंकार और क्रोधसे बचनेके लिए चेतावनी दी है। प्रजासे कर ग्रहण कर भी राजा उस धनको प्रजाके कल्याणके हेतु व्यय करता था। राजा और प्रजाके सम्बन्धका विवेचन करते हुए कवि वीरनन्दीने श्रीषेण द्वारा कहलाया है—

धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं स्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ॥ चन्द्र० ४।३९
वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहतप्रमादः।
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ॥ वही, ४।४०

पापाचरणरूप कलिदोषसे मुक्त रहकर धर्मकी रक्षा करते हुए अर्थ और कामको बढाना। जो राजा परस्पर अविरोध रूपसे त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह लोक और परलोक दोनोंको बना लेता है। सावधान होकर वृद्ध—ज्ञान एवं अनुभव वृद्धोंकी आज्ञासे राजकार्य चलानेवाला व्यक्ति सब प्रकारसे अपना कल्याण करता है। गुरु—गुरुजनोंकी विनय करनेवालोंका इन्द्रके समान सदैव वैभव बढता है।

---

[1] वीरनन्दी—चन्द्रप्रभ ३।४।

राजाका यह कर्तव्य है कि वह प्रजाको पीड़ा पहुँचानेवाले कर्मचारियोंको दण्ड देकर शासन व्यवस्था करे। जो राजकर्मचारी प्रजाकी अनुकूल सेवा करते हैं, उनका दान या पुरस्कार आदिके द्वारा अभिनन्दन करना चाहिए[1]। इस प्रकार आचरणकर्ता राजा प्रजा द्वारा प्रशंसनीय होता है और उसकी विमलकीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो जाती है।

धर्मनाथके पिताने धर्मनाथको बहुत ही सुन्दर राजनीतिका उपदेश दिया है। यह उपदेश कादम्बरीमें निरूपित शुकनासके उपदेशके समान ही कर्तव्य और अधिकारका विवेक सिखलानेवाला है। बताया है—'राज्यपदका फल सुख है, वह सुख कामसे उत्पन्न होता है और काम अर्थ से। यदि तुम इन दोनोंको छोड़कर केवल धर्मकी इच्छा करते हो तो राज्य व्यर्थ है। उससे अच्छा तो यही है कि वनकी सेवा की जाये। जो राजा अर्थ और काम-प्राप्तिकी लालसा रख अपने धर्मके मर्मोंका भेदन करता है, वह दुर्मति फलकी इच्छासे समूल वृक्षको उखाड़ना चाहता है। गुरुओंकी विनयको प्रकाशित करता हुआ राजा इस लोक तथा परलोक दोनो ही जगह मंगलास्पद बनता है। अविनीत राजा अपनी ही उद्दण्डतासे अग्निके समान प्रज्वलित होता हुआ अपने समस्त आश्रयको जला देता है।'[2]

'जो अर्थरूप सम्पत्तिके द्वारा न मित्रोंको सन्तुष्ट करता है, न भृत्योंका भरण-पोषण करता है और न भाई-बन्धुओंको अपने समान ही बनाता है, वह व्यक्ति राजा किस प्रकार कहलाया जा सकता है। इस लोकमें मृत्युको प्राप्त हुआ भी राजा जिनके सुभाषितरूपी अमृतके कणोंसे शीघ्र ही जीवित हो जाता है, उन महाकवियोंके समान अन्य कोई बन्धु नही हो सकता है।'[3]

राजा प्रजाका अनुरंजन करता है तथा उसका अभ्युदय करनेके लिए अपनी शक्ति लगा देता है। वह पराक्रमी होता है और अपने पराक्रमसे राज्यका विस्तार करता है। बन्धुओ और सेवकोको उचित सम्मान देता है। बहुमुखी शक्तियोंका विकास कर कोश और सैनिक शक्तिकी वृद्धि करता है। पुत्र, मित्र या अन्य अपराधीको निष्पक्ष भावसे दण्ड देता है। क्षत्रचूडामणिमें राजाको—'वृद्धसेवी विशेषज्ञः नित्योद्योगी निराग्रहः' (क्षत्र० ११६), बड़ोंका सेवक, गूढ कार्योंका ज्ञाता, सदा पुरुषार्थमें संलग्न रहनेवाला, हठरहित एवं सावधान रहनेका उल्लेख किया है।

पूर्वोक्त वर्णनसे राजाके निम्नलिखित गुणों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) प्रजा-परिपालन, (२) दुष्ट-निग्रहण, (३) दान, (४) धार्मिक कार्योंका सम्पादन, (५) कोषका अर्जन तथा प्रजाको किसी प्रकारका कष्ट दिये बिना उसका संवर्धन, (६) राज्य विस्तार और शत्रुओंका दमन, (७) प्रजाकी समृद्धिके लिए सार्वजनिक कार्योंका निर्माण, (८) गुरुजनोंकी सेवा, (९) अविरोध रूपसे

१, चन्द्रप्रभचरित ४।४१।

२, धर्मशर्माभ्युदय १८।३०-३४।

३, वही १८।४०-४१ तथा हम्मीरकाव्य—चतुर्थ सर्ग

त्रिवर्गका सेवन, (१०) व्यसन त्याग, (११) सावधानी और सतर्कता, (१२) काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओंका जय, (१३) मन्त्रि-परिषद्‌के परामर्शसे राज्यका संचालन, (१४) पक्षपात रहित—निष्पक्ष शासन-तन्त्रका संचालन एवं (१५) आश्रित जनोंका सम्यक् संरक्षण और परिवारके व्यक्तियोंको सर्वदा अनुकूल बनाये रखनेका प्रयास।

श्रीवर्मा और धर्मनाथको राज्याभिषेकके समय जो उपदेश दिये गये है, उनसे राजाके सैनिक, शासनीय और न्याय सम्बन्धी समस्त कर्तव्योंका स्पष्टीकरण हो जाता है। राजाके मौलिक (अनिवार्य) कार्य प्रजारक्षण, प्रजाशासन एवं प्रजारंजन भी सम्मिलित है।

राजाके प्रकार

संस्कृत जैन काव्योमे राजा[1], महाराजा[2], माण्डलिक[3], अर्धचक्रवर्ती[4] और चक्रवर्ती[5] शब्दोका प्रयोग राजाके लिए आया है। सम्राट् शब्दका प्रयोग भी राजाके लिए उपलब्ध है। काव्योके सन्दर्भोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त नाम उनकी समृद्धिके अनुसार ही रखे गये है। राजा शब्द जिस अर्थमें प्रयुक्त है, उससे ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक नगर या जनपदका एक राजा होता था। यह अपने राज्यका सचालन करता था, इसकी आय सीमित होती था। महाराज राजासे कुछ बडे साम्राज्यका अधिकारी होता है, उसकी सैन्यशक्ति अधिक दृढ़ और सबल रहती है। माण्डलिकके अधीन कई सामन्त और राजा राज्य संचालन करते हैं। अर्धचक्रवर्ती भरतक्षेत्रके तीन खण्डोंका पालन करता है। यह तीन खण्डकी विजयके लिए सामरिक यात्रा भी करता है और जहाँ-तहाँ युद्ध भी करने पड़ते है। चक्रवर्ती छह खण्डका स्वामी होता है, उसे दिग्विजयके लिए यात्रा करनी पड़ती है। अपनी इस यात्रामे अनेक स्थानो पर उसे युद्ध करना पड़ता है। कन्या, रत्न, माणिक्य आदि विविध वस्तुएँ उपहारमें प्राप्त होती हैं।

युवराज

राजतन्त्र व्यवस्थामें राजासे साथ-साथ युवराज (भावी राजा) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा प्रायः अपने औरस पुत्रको ही युवराज पद देता था। प्रद्युम्न चरितमे आया है कि कालसंवरने अपने पाँच सौ पुत्रोंके रहतेपर भी प्रद्युम्नको

---

१. वर्धमानचरित १।४३।
२ चन्द्रप्रभचरित १।३७—४६ तथा वर्धमान० २।३।
३. चन्द्रप्रभचरित १।४७।
४. वर्धमानचरित ७।६३।
५ चन्द्रप्रभचरित सप्तम सर्ग तथा पद्मानन्द काव्यका सप्तदश सर्ग।

युवराज पद दिया। प्रद्युम्नको उसने शिलातलसे प्राप्त किया था और अपनी पत्नीको यह वचन दिया था कि इस पुत्रको ही युवराज पद दिया जायेगा।[1]

युवराज पद प्रदान करते समय प्रायः वृद्ध महाराज उसे कर्तव्यमार्गका उपदेश देते हैं[2]। श्रीषेणने जब श्रीवर्माको युवराज पदपर अभिषिक्त किया तो उसने बहुत ही मार्मिक उपदेश उसे दिया और राज्यको किस प्रकार समृद्ध एवं सुखी बनाना चाहिए, इसका अनुभवपूर्वक प्रतिपादन किया। युवराज धनमद या प्रभुतामदसे अपने माता-पिता या अन्य परिवारके व्यक्तियोको अवहेलना नही करता है। परिवारके साथ प्रजाको भी सन्तुष्ट बनाये रखनेका कार्य युवराज करता है। राष्ट्रके महाजनोंको अपमान तथा पीड़ा न पहुँचानेके कार्यसे सदा दूर रहता है। विद्या, कर्म और शीलसे सदा प्रजाको अनुरंजित करता रहता है। राजाको प्रत्येक कार्यमें सहायता पहुँचाता है।

मन्त्रिमण्डल

पार्श्वनाथचरितमे आया है कि किसी बातका निर्णय एक व्यक्ति नही कर सकता है, इसके लिए कई व्यक्तियोसे पूछ-ताछ करनेकी आवश्यकता होती है।[3] अतः कोई भी राजा अपना मन्त्रिमण्डल या मन्त्रिपरिषद् अवश्य गठित करता है और समस्त कार्योंका सम्पादन मन्त्रिमण्डलके परामर्शसे करता जाता है। छोटेसे छोटा कार्य भी सहायकोके बिना सम्पन्न नही होता, फिर राज्य जैसे महान् कार्यके लिए तो कुशल मन्त्रिमण्डलकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। प्रतिभाशाली और विचारक राजा समय, अधिकारी प्रकृति और सभासदोंके मतसे कार्यका संचालन करता है। क्षत्रचूड़ामणिका 'अचीकथच्च मन्त्रिभ्यो' पद भी मन्त्रिपरिषद्की ओर संकेत करता है। महाकवि धनंजयने लिखा है—

विवर्ज्य य. प्रियमहिषीं युवाधिपं स्वमप्यत. परमुपनीय लक्ष्यताम्।
सदोपधाविधिभिरमात्यमेकशो यथोचितं पदमनयद्विशोधितम्॥ द्वि० २।१२

राजा पट्टरानो और युवराजके अतिरिक्त अमात्य आदि प्रत्येक महान् अधिकारीको बहुत सोच-समझकर नियत करता है।

उक्त पद्यके टीकाकार कवि देवरभट्टने अमात्य, सचिव, महत्तर, पुरोहित और दण्डनायकको[4] मन्त्रिमण्डलमें सम्मिलित करनेका निर्देश किया है।

चन्द्रप्रभचरितके अनुसार मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, दुर्गाधिकारी, कर्माधिकारी, कोषाध्यक्ष और ज्योतिषीको मन्त्रिमण्डलमें रखनेका विधान है।[5] इन समस्त उल्लेखोके समन्वयसे मन्त्रिमण्डलके सम्बन्धमें निम्नलिखित तथ्य उपस्थित होते है।

---

१. प्रियतमे युवराजपदं मया·· ·· ···; प्रद्युम्नचरित ४।६१।

२. चन्द्रप्रभचरित ४।१६-३६।

३. पार्श्वनाथचरित २।५५-५७ (वादिराज—मा० दि० जैन ग्रन्थमाला)

४. अमात्यं सचिवं महत्तरं पुरोहितं दण्डनायकं च···द्विसन्धान २।१२ की वृत्ति।

५. चन्द्रप्रभचरित ४।४७।

१. पुरोहित[1]—यह नीतिशास्त्र, व्यूहादिकार्योंमें कुशल होता था। धनुर्वेदका ज्ञाता, अर्थ और धर्मका विद्वान् होता था। युद्धभूमिमें राजाके साथ रहता था, विजय प्राप्तिके लिए कवच धारण कर स्वयं युद्ध करता था।

२. अमात्य—यह एक प्रकारसे प्रधानमन्त्री होता था। समस्त राजकृत्योंका चिन्तन एवं कार्य-अकार्यको व्यवस्था इसीके द्वारा सम्पन्न होती थी। चतुरंगिणी सेनाकी व्यवस्था भी इसीके परामर्शसे को जाती थी। युद्ध या सैन्य आक्रमण करनेके पूर्व राजा अमात्यसे अवश्य परामर्श करता था। भूमि, कर, शुल्क एवं दण्डके सम्बन्धमें परामर्श भी यही राजाको देता था।

३. सचिव—सैनिक और व्यवस्था सम्बन्धी कार्योंकी सूचना राजाको इसीके द्वारा प्राप्त होती थी।

४. मन्त्री—साम, दाम, भेद और दण्ड चतुर्विध नीतिका व्यवहार किसके साथ कब और किस प्रकार करना चाहिए तथा इनका क्या फल होगा, आदि बातोंका निश्चय मन्त्री करता था।

५. दण्डनायक—यह एक प्रकारका प्रधान न्यायाधीशका पद था। दण्डनायक अनेक प्रमाणो द्वारा विवादोका परीक्षण कर राजाके समक्ष निवेदन करता था।

६. महत्तर—यह राज्यके सभी कार्य और अकार्योंका ज्ञाता होता था। कर और शुल्कके विषयमें घोषणा एवं परामर्श इसीके द्वारा प्राप्त होता था।

७. प्रधान सेनापति—दुर्ग, जल एवं स्थल सेनाका प्रबन्ध, शिविर सन्निवेश एवं सैन्य संचालन इसके कार्योंमे परिगणित थे।

८. दूत—इंगित और आकारसे तत्त्वकी बात जान लेनेवाला राजाका अनुगामी दूत कहा गया है। एक प्रकारसे परराष्ट्र विभाग इसके हाथमें रहता था।

९. युवराज—राजाके समस्त कार्योंमे सहायक तथा गृहमन्त्रीके दायित्वका निर्वाह करता था।

१०. पट्टमहिषी—राजाके समस्त कार्योंमें मन्त्रणा देती थी। मन्त्रियोकी बैठकमे सम्मिलित होती थी। राजकर्मचारियोकी नियुक्तिमे पट्टरानी और अमात्यसे ही राजा परामर्श करता था। जिस प्रकार युद्धके समय युवराजसे परामर्श लेना आवश्यक था, उसी प्रकार पट्टरानीसे कर्मचारियोंकी नियुक्तिमें परामर्श करना आवश्यक माना जाता था।

११. ज्योतिषी भी मन्त्रिपरिषद्का एक सदस्य होता था।

१२. कोषाध्यक्ष—राज्य सम्पत्तिको बढ़ानेका प्रयत्न करता था। इसका स्थान भी महत्त्वपूर्ण माना जाता था।[2]

---

१. हम्मीरकाव्य २।२२।

२. दुर्गाध्यक्षधनाध्यक्षकर्माध्यक्षसेनापतिपुरोहितामात्यज्योतिःशास्त्रज्ञा हि मूलं क्षितिपतीनां…द्विसन्धान काव्य २।२२ की देवरभट्टकृत वृत्ति।

इस प्रकार काव्योंमें मन्त्रिमण्डलके सम्बन्धमें संकेत उपलब्ध होते हैं। आवश्यकता पड़नेपर मन्त्रिमण्डलकी बैठक समय-समयपर होती थी। चन्द्रप्रभमें आया है कि पद्मनाभने मन्त्रणालयमें अपने समस्त मन्त्रियोंको बुलाया और स्वयं भी युवराज सहित वहाँ उपस्थित हुआ। उसने कहना आरम्भ किया—"हमें नीतिशास्त्रका जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसमें आपही कारण हैं। दिन समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है, उसमें सूर्यका ही प्रताप है। माता अपने पुत्रको कौशलसे बढ़ाती है, चतुराई सिखाती है, सावधान रखकर रक्षा करती है। यही सब व्यवहार आप लोगोंकी बुद्धि भी हमारे साथ करती है। जिसके आप सदृश गुरु सब कामोंकी देखभाल करते रहते हैं, वह मैं सुमेरुके समान प्रयोजन आ पड़नेपर भी व्याकुल होनेवाला नही हूँ। यदि अंकुश समान आप जैसे गुरु सिरपर न हों तो गजसदृश मदमूढ होनेके कारण पग-पगपर गिरनेवाले जो हमलोग है, उन्हें कुपथमे जानेसे कौन रोक सकता है। आप ही लोगोंकी बुद्धिके सहारे आगे बढकर मेरा पराक्रम शत्रुओंपर आक्रमण करता है। तेजस्वी होनेपर भी सूर्य सारथीके बिना आकाशके पार नही जा सकता। सभामें आप लोगोने सुना ही है कि उस दूतने मुझसे किस प्रकारके कटु वचन कहे है।"[1] राजाके इस वक्तव्यको सुननेके उपरान्त मन्त्रियोने साम, दाम और दण्डनीतिकी बातें अपनी बुद्धिके अनुसार उपस्थित की।

कोष और राजस्व

राज्यकी आर्थिक आयके साधनोंके विवेचन-प्रसंगमें (१) उद्योग, (२) उद्योगोंकी पूँजी, (३) श्रम, (४) कृषि, (५) करोंका वर्णन आया है। पर यह सत्य है कि कोष ही राजाओंका बल है। उसकी समृद्धिके बिना राज्यकी स्थिति ही नही रह सकती है। महाकवि धनंजयने सम्पत्ति बढ़ानेके साधनोंका वर्णन करते हुए लिखा है—'बाजार[2], खनिज क्षेत्र, अरण्य, समुद्रतटपर स्थित पत्तन, पशुपालकोंकी बस्तियाँ, दुर्ग प्रभृति स्थानोंसे' धन प्राप्त कर राजा अपने कोषकी वृद्धि करता है। बाजारमें बिकनेवाली वस्तुओंसे कर वसूल करता है तथा खानोसे निकलनेवाले खनिज पदार्थोंपर कर लगाता है तथा खानोका ठेका व्यापारियोंको देकर धन प्राप्त करता है। अरण्योंमें उत्पन्न होनेवाले इमारती सामानोसे धन प्राप्त करता है। समुद्रतटपर स्थित बन्दरगाहोसे चुंगी द्वारा धन प्राप्त करता है। पशुपालकोसे चरागाहोंका कर लेकर तथा परती भूमिमें कृषि करके राजा कोषका उपचय करता था। इसी कारण "पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम्'[3] की व्युत्पत्ति घटित होती है।

---

१. अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्समाहूय समस्तमन्त्रिण ।
युवराजसमन्वितोऽभ्यधादिति वाच वचने विचक्षण. ॥ चन्द्र० १२।५७।
वयमप्यगमामकौशलं · वही, १२।५८–७६।

२. वणिक्पथे खनिषु वनेषु सेतुषु व्रजेषु योऽहनि निशि दुर्गराष्ट्रयो'।
—द्विसन्धान २।१३।

३. नीतिवाक्यामृत, बम्बई, १९।१,

कृषिकी उन्नतिके लिए राजा विशेष श्रम करता था। उसकी सुव्यवस्थासे 'अकृष्टपच्या' (चन्द्र० १६।५) धान्यकी उत्पत्ति होती थी। सिचाईका प्रबन्ध रहनेसे ही कम परिश्रम करनेपर अच्छी फसल उत्पन्न होती है। धनंजयके 'जलाशयं दिशि दिशि पङ्कजीविनं' (द्विसन्धान २।२३) से भी यह सिद्ध होता है कि बुद्धिमान् नृपति खाद्य सामग्रीकी उत्पत्तिका पूरा प्रयास करता था। राजा कृषकोंसे षष्ठांश (चन्द्रप्रभ १५।१३७) कर रूपमे ग्रहण करता था। इस प्रकार राजाका कोष समृद्ध रहता, जिससे शासन व्यवस्थामें किसी भी प्रकारकी त्रुटि उत्पन्न नही होती थी।

स्वराष्ट्र-परराष्ट्र विभाग

संस्कृत जैन काव्योंमें वर्णित भारत अनेक राज्योमें विभक्त है। प्रमुख राज्योंका देश तथा विदेशके राजाओके साथ राजनीतिक, सास्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध रहता था। अतः राज्योंके परस्पर सम्बन्धोके विषयमें काव्योमे अनेक मूल्यवान् विचार आये हैं। स्वराष्ट्रको समृद्ध बनानेके लिए भी राजाको प्रयत्नशील रहना पड़ता है। वह अन्तरंग और बहिरंग दोनो ही दृष्टियोसे राज्यकी समृद्धि करता था। स्वराष्ट्र और परराष्ट्र विभागको सुदृढ करने हेतु धनंजयने अपने पात्रो द्वारा गुप्तचर विभागकी सुन्दर व्यवस्था किये जानेका निर्देश किया है।

गुप्तचर विभाग सदासे ही अपराधियोंका पता लगाने, प्रजाकी वास्तविक स्थितिका परिज्ञान प्राप्त करने एवं शासनको सुदृढ करनेके लिए आवश्यक माना जाता रहा है। धनंजयने 'कृषि[1] के क्षेत्रमें कृषकोको, बाह्य प्रदेशोंमें ग्वालोंको तथा जंगलोंमें भीलोको गुप्तचर नियुक्त करनेका कथन किया हैं। शहरोमे व्यापारियोको, सीमाओंपर कौलादि साधुओको एवं राजाओ, राजपुत्रों, कुटुम्बियो तथा मन्त्रियोंमें उनके कर्मचारियोंको गुप्तचर बनानेका निरूपण किया है।' गुप्तचरोंकी नियुक्तिमे इस प्रकारकी नीतिको अपनानेका प्रमुख कारण यही है कि इन विभिन्न समुदायोकी कठिनाइयो एवं आवश्यकताओंको उसी समुदायका व्यक्ति सरलतापूर्वक समझ सकता है, दूसरे समुदायका व्यक्ति उनकी आवश्यकताओ और कठिनाइयोंको समझनेकी योग्यता नही रखता है।

अन्तःपुरमें बहिरो, अपगो तथा कुबडोंपर चरत्वका भार था।[2] राज्यकी सुव्यवस्था, शासनका पूर्णतया पालन और प्रजाकी सुख-सुविधाओंका दायित्व गुप्तचरोंपर निर्भर था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें भी गुप्तचर विभागका निर्देश प्राप्त होता है। कार्यभेदसे उसके नौ विभाग किये हैं।[3]

(१) दूसरोंके रहस्योको जाननेवाला, प्रगल्भ और विद्यार्थीकी वेषभूषामें रहनेवाला गुप्तचर 'कापटिक' कहलाता है। (२) बुद्धिमान्, सदाचारी, संन्यासीके

---

१. कृषीवल कृषिभुवि वल्लव बहिर्वनेचरं चरमटवीष्वयुङ्क्त य ।
वणिग्जनं पुरि पुरसीम्नि योगिन नियोगिनं नृपसुतबन्धुमन्त्रिषु ॥ द्वि० २।१६ ।

२. त्रिसन्धान २।१७ ।

३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२ ई० ।

वेशमें रहनेवाला गुप्तचर 'उदास्थित' है। (३) बुद्धिमान्, पवित्र हृदय और गरीब किसानके वेषमें रहनेवाला 'गृहपतिक' कहलाता है। (४) इसी प्रकारका व्यक्ति व्यापारीके वेषमे रहनेवाला 'वैदेहक' होता है। (५) जीविकाके हेतु सिर मुँड़ाये या जटा धारण कर तापसीके वेषमें रहनेवाला 'तापस' कहा जाता है। (६) सामुद्रिक, व्याकरण, ज्योतिष आदि अनेक विद्याओंमें प्रवीण 'सत्री' कहलाते हैं। (७) धनके लिए बडेसे बड़ा साहसपूर्ण कार्य करनेवाले 'तीक्ष्ण', (८) क्रूर प्रकृति और आलसी स्वभाववाले व्यक्ति रसद एवं (९) प्रगल्भा ब्राह्मणी, रनिवास या अमात्योंके यहाँ निवास करनेवाली संन्यासिनीका वेष धारण करनेवाली 'परिव्राजिका' कहलाती हैं। इस प्रकार कौटिल्यने गुप्तचर विभागका विस्तृत वर्णन किया है। धनंजयने गुप्तचरोकी नियुक्तिके लिए जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसमें यह विशेषता है कि प्रजाके विभिन्न क्षेत्रोंसे गुप्तचर ग्रहण करनेसे राजाको प्रामाणिक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

देशको समृद्धिके लिए राजा कृषि और व्यापारकी उन्नतिमे सदैव सतर्क रहता था। प्रजाके अभ्युत्थानके लिए प्रत्येक सम्भव उपायका प्रयोग किया जाता था।

काव्यग्रन्थोंमें दण्ड एवं अपराधोंकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें भी कतिपय तथ्य उपलब्ध होते हैं। पौराणिक दण्ड व्यवस्थाके सम्बन्धमें पद्मानन्द काव्यमें बताया है[1]— (१) हाकारनीति (२) माकारनीति (३) धिक्कारनीति (४) अर्थदण्ड (५) बन्धन (६) ताड़न (७) निर्वासन (८) प्राणदण्ड।

अभयकुमारचरितमें चोरकी दण्डव्यवस्थाके सम्बन्धमें बताया गया है—"जो चोरी करता था, उसके शरीरको धातुमय चूर्णसे काला करके उसके गलेमे सरावमालिका पहना दी जाती थी, उसके सिरपर करवीके पुष्प तथा कन्धेपर शूल रख दी जाती थी। उसके सिरपर जीर्ण सूर्पका छत्र लगाकर पूँछ और कान रहित गर्दभपर बैठाकर सारे नगरमे घुमाते हुए वध-स्थानपर ले जाते थे। गर्दभस्थ चोरके पीछे कल-कल करते हुए बालक लग जाते थे। चोरके आगे डिण्डिमकी कर्कश ध्वनि होती चलती थी। चोरी करनेवाले को अपमानपूर्ण मृत्युका सामना करना पडता था"[2]।

पुत्रके अपराधमें पिताको भी दण्डनीय माना जाता था। चतुर्थ सर्गमें बताया है कि श्रेणिककी अँगूठी चुरानेके अपराधमें अभयकुमार आभीर-पुत्रीको पकड़ लेता है और उसके पिताका भी निग्रह करता है। यतः उस समय यह नियम था—'अपत्यापराधे पितृनिग्रहो भवेत्' (अभयकुमारच० ४।२५८)।

पार्श्वनाथचरितमें बताया गया है कि कमठके अत्याचारका समाचार जब दूत आकर राजाको सुनाता है, तो मरुभूति निवेदन करता है—"महाराज! आपके भृत्य यद्यपि दुस्सह दण्डके भयसे कभी भी झूठ वचन नही बोलते हैं, तब भी एक व्यक्तिको

---

[1] पद्मानन्दकाव्य ७।१६६-२३८।

[2] अभयकुमारचरित ६।६६०-६६८।

बातपर विश्वास करना उचित नहीं। अतः इस बातकी सत्यताका पता अन्य व्यक्तियोंसे भी लगा लेना चाहिए। जब प्रत्यक्ष घटित होनेवाली बातें भी असत्य होती हैं, तो नितान्त एकान्तमें किया गया कमठका दुराचार कैसे सत्य हो सकता है। अतः सत्य बातकी छान-बीन कर ही दण्ड-व्यवस्था करनी चाहिए।''[1] राजा अरविन्दने मरुभूतिकी उक्त प्रार्थना स्वीकार कर सत्यका अन्वेषण आरम्भ किया। कमठको दोषी पाकर राजाने उसे नगर निर्वासनका दण्ड दिया। उसे गधेपर सवार कर तिरस्कारपूर्वक नगरसे निर्वासित कर दिया।

परराष्ट्रनीतिके सिद्धान्तोंका विश्लेषण करनेपर ज्ञात होता है कि विजिगीषु अपनी शक्ति—प्रभु, मन्त्र और उत्साह[2]के अनुसार परराष्ट्रोंसे षाड्गुण्यका[3] व्यवहार करता था।

(१) सन्धि—परस्पर शान्ति और सामंजस्यकी स्वीकृति।
(२) विग्रह—संघर्ष या युद्धका दृष्टिकोण।
(३) यान—युद्धकी तैयारी।
(४) आसन—उदासीन दृष्टिकोण।
(५) द्वैधीभाव—एकसे युद्ध और दूसरेसे सन्धि।
(६) संश्रय—शक्तिमान् राजाका आश्रय लेना।

परराष्ट्र-सम्बन्धी परम्परागत नीति चार प्रकारकी आयी है।

(१) साम—शान्तिपूर्ण समझौता।
(२) दाम या दान—आर्थिक सहायता अथवा राजनीतिक क्रय।
(३) भेद—परराष्ट्रमें आन्तरिक संघर्ष या भेद उत्पन्न करना।
(४) दण्ड—बल या सेनाका प्रयोग।

इन नीतियोंको व्यवहारमें प्रयोग करनेके सम्बन्धमें चन्द्रप्रभचरितमें आया है—''विवेकी राजाको शत्रुके ऊपर सहसा दण्डका प्रयोग नहीं करना चाहिए। अभिमानी शत्रु साम—शान्तिपूर्ण समझौतेसे ही शान्त हो सकता है। अहंकारी व्यक्ति दण्डकी धमकीसे बिगड़ जाता है। आगसे कहीं आग बुझती है। बुद्धिमान् पुरुष सिद्धिके लिए शत्रुके प्रति सामका प्रयोग करते हैं। उसके अनन्तर ही दाम और भेदका व्यवहार किया जाता है। दण्डसे पीड़ा पहुँचाना विवेकी पुरुषोंका अन्तिम उपाय है। पुरुषकी एक प्रिय बात सैकड़ों अपराधोंको धो डालती है। वज्रपात करनेवाले पयोधर शीतल जल बरसानेके कारण ही लोगोंको प्रिय है। दाम या दानमें धन हानि होती है। दण्डका प्रयोग करनेसे सैनिक शक्तिका क्षय होता है। भेद नीतिका व्यवहार करनेसे कपट

---

[1] पार्श्वनाथचरित २।५५-६० (वादिराज)।
[2] चन्द्रप्रभचरित ५।२२ तथा द्विसन्धान २।१४।
[3] सन्धिप्रमुखा गुणाः षट्—पद्मानन्द ६।१६।

करनेका अपयश व्याप्त हो जाता है। अतः सामसे बढ़कर और कोई अच्छा उपाय नहीं है।"[1]

"दूसरेके अभ्युदयपर ईर्ष्या करनेवाले, व्यर्थ शत्रुता रखनेवाले राजाके साथ सामका व्यवहार कैसे हो सकता है ?[2] उसके साथ समझौतेका व्यवहार किया जायेगा, तो वह और भी क्रूर हो जायेगा। दुर्जनकी प्रकृति ही इस प्रकारकी होती है कि वह अनुकूल नहीं किया जा सकता। योग्य पुरुषके प्रति प्रयुक्त होनेपर ही अच्छा उपाय सफल होता है, अन्यथा नही। वज्रसे तोड़ने योग्य पहाड़पर टाँकी कुछ काम नहीं करती। मदान्ध और अपमान करनेके लिए प्रस्तुत पुरुषके प्रति दण्डका प्रयोग करना ही बुद्धिमानोंकी सलाह है। जो नया नही है, वह बैल क्या सहजमें वश होता है ? जबतक शत्रु-आक्रमण नही, तबतक मनुष्य सुवर्णके समान भारी रहता है। वही जब शत्रुओंसे तोला जाता है, तब वह तत्क्षण तृणके समान हलका हो जाता है। क्षमा कल्याणकारी अवश्य है, पर वह व्रतधारियोंके लिए गुण है, राजाओंके लिए नही। संसारके अनुयायी और मुक्तिकी कामना करनेवालोके मार्गोंमें बड़ा अन्तर है। चन्द्रमाको ज्योत्स्नाको सभी चाहते हैं, पर सूर्यकी ओर लोग आँख उठाकर देख भी नहीं पाते। यह सब तेजकी महिमा है।"

"दूसरेके द्वारा अपनाये मार्गपर चलनेवाले नित्य पीड़ितहीन पुरुषके जीवनको धिक्कार है। क्या कुत्ता पूँछ हिलाकर ललित अनुनय-विनय द्वारा अपना पेट नही भर लेता। अपने उचित महत्त्वको छोड़कर जो दुष्ट पुरुषसे प्रियवचन कहता है, वह जलशून्य बादलकी तरह गरजकर अपनी असारताको प्रकट करता है। जन्मके पहले ही मर जाना उत्तम है, पर पराधीन होकर रहना अच्छा नही।"[4]

साम, दाम आदि नीतियोंके प्रयोगका कथन इसी प्रकार वर्धमानचरितमें भी पाया जाता है। वहाँ साम, दाम और भेदसे कार्यके सिद्ध न होनेपर दण्डनीतिके व्यवहारपर जोर दिया गया है।[5]

सैनिक शक्ति

जैन संस्कृत काव्योके निर्माणके समय विशाल साम्राज्य देशमें नही था, और यह देश छोटे-छोटे राज्योंमें विभक्त था। पर सैनिक शक्ति पहलेसे अधिक मजबूत हो रही थी। राज्यके मूल तत्त्वोंमें बलको महत्त्वपूर्ण माना गया है। सैनिक विभाग—(१) दुर्ग, (२) अस्त्र-शस्त्रागार और (३) सेनागठन इन तीन भागोंमें विभक्त

---

[1] चन्द्रप्रभचरित १२।७८–८१।

[2] परवृद्धिनिबद्धमत्सरै विफलद्वेषिणि साम कीदृशम् ।—वही १२।८५।

[3] चन्द्रप्रभचरित १२।८६–९६।

[4] वर्धमानचरित ६।५३–७० तथा ७।१३–४६।

[5] वर्धमानचरित ३।६२।

था। सैन्यसंगठन और युद्धसंचालनके सम्बन्धमें जैन काव्योंमें पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। सेना चतुरंगिणी होती थी—इसमें पदाति, अश्व, गज और रथ रहते थे। हाथीका महत्त्व प्रत्येक युद्धमें दिखलाया गया है।

सेनाकी भरती कई स्रोतोसे होती थी। द्विसन्धान काव्यके 'षड्विधं बलम्' (२।११) की व्याख्या करते हुए देवरभट्टने अपनी संस्कृत वृत्तिमें लिखा है—'मौलभृतकश्रेण्यारण्यदुर्गमित्रभेदम्। मौलं पट्टसाधनम्, भृतकं पदातिबलम्, श्रेण्योऽष्टादशः, सेनापतिः, गणकः, राजश्रेष्ठी, दण्डाधिपतिः, मन्त्री, महत्तरः, तलवरः, चत्वारो वर्णाः, चतुरंगबलम्, पुरोहितः, अमात्यो, महामात्यः, आरण्यमाटविकम्, दुर्गं धूलिकोट्टपर्वतादि, मित्रं सौहृदम्।' (१) मौल—वंशानुगत क्षत्रिय आदि जातियाँ, (२) भृत्य—केवल वेतनके लिए भरती, (३) श्रेणी—शस्त्रोपजीवी गणजातियाँ, (४) आरण्य—जंगली जातियोसे भरती हुई सेना, (५) दुर्ग—दुर्गमें रहकर लड़नेवाली अथवा पहाड़ी जातियोसे निर्मित सेना और (६) मित्रबल—मित्र राज्योकी सेना।

उपर्युक्त प्रसंगमें अठारह श्रेणियोका निर्देश भी आया है। पद्मानन्द काव्यमे *अठारह श्रेणियोका कथन है।*[१] डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदारने २७ श्रेणियोंका उल्लेख किया है।[२]

इस प्रकार संस्कृत जैन काव्योंमें राजनीति और शासननीतिके सम्बन्धमे तथ्य उपलब्ध होते है।

समाजतत्त्व

व्यक्तियोंका वह समूह, जिसमें सामूहिक स्वार्थ और प्रयोजन सिद्धिकी भावना निहित हो, समाज है। समाज व्यक्तियोसे बनता है, अतः व्यक्तिको समाजका अंग माना जायेगा। जिस प्रकार व्यक्तिका काम समाजके बिना नही चल सकता है, उसी

---

[१] पद्मानन्द १६।१६३।

[२] (1) Workers in wood (carpenters including cabinet makers, wheel wright, builders of houses, builders of ships and builders of vahicles of all sorts) (2) Workers in metal, including gold and silver (3) Workers in store (4) Leather workers (5) Ivory workers (6) Workers fabricating hydraulic engines (odayamtrika) (7) Bamboo workers (vasakara) (8) Braziers (kasakara) (9) Jewellers (10) Weavers (11) Potters (12) Oilmillers (Tilapishaka) (13) Rush workers and basket makers (14) Dyers (15) Painters (16) Corn-dealers (17) Cultivators (18) Fishers folk (19) Butchers (20) Barbers and shampooers (21) Garland makers and flowers sellers (22) Mariners (23) Merdsmen (24) Traders including caravan traders (25) Robbers and free-bookers (26) Forest police who guarded the caravans (27) Money-lenders.

—Corporate life in ancient India (PP.18-19)

प्रकार समाजका कोई काम व्यक्तियोंके बिना नहीं हो सकता है। व्यक्तियोंके पारस्परिक सहयोगसे ही समाजके कार्य चलते है और समाजका विकास होता है। यदि सब व्यक्ति मिलकर एक-दूसरेकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए प्रयास न करें, तो समाज चल नहीं सकता है। अतएव स्पष्ट है कि व्यक्ति ही समाजके अस्तित्वका आधार है। आशय यह है कि समाज और व्यक्ति चिरस्थायी हैं। व्यक्ति समाजका अंग है और समाज व्यक्तियोंका समूह है। व्यक्ति और समाज एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। एकके अभावमें दूसरेकी कल्पना नहीं की जा सकती; दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं।

समाजतत्त्वमें समाजकी रचना, उसकी व्यवस्था, उसके कार्य एवं उसके विकासका इतिवृत्त सम्मिलित है। सामाजिक जीवनके आधारभूत सिद्धान्त, संगठन, व्यवस्था, अनुशासन, पारस्परिक सहयोग प्रभृति भी समाजतत्त्वके अन्तर्गत हैं। समाजतत्त्वमें समूहके आचरणकी प्रवृत्ति भी आती है।

समाजका विकास (१) सहयोग (२) संघर्ष (Conflict) (३) सम्मिलन (Assimilassion) और (४) समावेश (Accomodation) से होता है। इन सामाजिक प्रक्रियाओंको समाजतत्त्वमें ही परिगणित किया जाता है।

समाज-रचना

संस्कृत जैन काव्योमें समाज रचनाके सिद्धान्त उपलब्ध होते है। कई मानव परिवार मिलकर समाजका संगठन करते हैं। अनेक वर्ण और जातियाँ समाजमें सम्मिलित है, इन्हीसे समाजकी रचना होती है। आचार्य जिनसेन द्वितीयने अपने आदिपुराणमें वृत्तियोके आधारपर वर्णव्यवस्थाका निर्देश किया है। आदितीर्थंकरने अपनी दोनों भुजाओंमें शस्त्र धारण कर शस्त्रविद्याकी शिक्षा देनेके साथ सबल शत्रुओंके प्रहारसे निर्बलोंकी रक्षा करनेका उपदेश दिया। जो शस्त्रजीवी और रक्षा करनेका सामर्थ्य रखते थे, उन्हें क्षत्रिय घोषित कर क्षत्रिय वर्णकी स्थापना की। इस वर्णका प्रधान कार्य रक्षा करना, पौरुष दिखलाना और आक्रमणकारियोंका सामना करना था।[1]

तदनन्तर उन्होने अपने ऊरुओंसे यात्रा दिखलाकर—परदेश जाना सिखलाकर और जल-स्थल व्यापारकी विधिका उपदेश देकर वैश्योंकी स्थापना की।[2] उत्तम वर्णोंकी सेवा-शुश्रूषाकी शिक्षा देकर दैन्यवृत्तिमें तत्पर रहनेवालोंको शूद्र घोषित किया।[3]

भरतने ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की। इस वर्णके कार्योंमें पढ़ना, पढ़ाना, दान लेना तथा पूजा, यज्ञादि करना सम्मिलित हैं।[4]

---

१. स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभु' ।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रिया' शस्त्रपाणय' ॥ —आदिपु०, ज्ञानपीठ, काशी सन् १९५१ ई० १६।२४३।

२. ऊरूभ्यां दर्शयन् यात्राम् अस्राक्षीद्वणिज प्रभुः ।
जलस्थलादियात्राभि' तद्वृत्तिवार्त्तया यत' ॥ आदि० १६।२४४।

३ न्याग्वृत्तिनियतात् ·· . ···आदि० १६।२४५।

४. मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं······वही, १६।२४६ तथा १६।२४८।

आदितीर्थंकरने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्णकी निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्णकी आजीविका करेगा, वह राजाके द्वारा दण्डित किया जायेगा; यतः इस व्यवस्थाके न माननेसे वर्णसंकीर्णता हो जायेगी और समाज-व्यवस्था नहीं चल सकेगी।[1] फलतः कर्मके आधारपर स्थापित वर्ण-व्यवस्था-जन्मजात हो गयी।

शत्रुंजयकाव्यमें कृषक, सेवक, कुम्हार, वणिक्, नियोगी, क्षत्रिय, सूत्रकार, शिल्पी, स्वर्णकार, चित्रकार, मणिकार प्रभृति जातियोंका वृत्तिके आधारपर गठित होनेका निर्देश है।[2] कृषक खेती एवं पशुपालनका कार्य करते थे। सेवक दासकर्म करनेवाले हलवाहे या अन्य गृहकार्य सम्पन्न करनेवाले थे। बर्तन बनाना और समाजकी तत्सम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ण करना कुम्हारोंका कार्य था। वणिक् व्यापार और क्रय-विक्रयका कार्य करते थे। नियोगी एक प्रकारके ज्योतिषी या पुरोहित थे। रक्षा और शत्रु आक्रमणोंसे अवरोध करना क्षत्रियोंका कार्य था। सूत्रकार समाजकी वस्त्रसम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ति करते थे। सूत कातना, कपड़े बुनना इनका पेशा था। एक प्रकारसे ये बुनकर थे। शिल्पी राजमिस्त्रीको कहा गया है। यह गृह और मूर्ति बनानेका पेशा करता था। स्वर्णकार सुनार है, जो आभूषण बनानेका कार्य कर समाजकी आवश्यकताकी पूर्ति करता था। चित्रकार—चित्रपट एवं विभिन्न वस्तुओंके रेखाचित्र अंकित कर समाजके अनुरंजनमें सहयोग देता था। मणिकार—मणि, हीरा, मोती, माणिक्य प्रभृतिका पारखी और उन्हें सुडौल रूप देनेवाला वर्ग था। इस प्रकार कवि धनेश्वर-सूरिने पेशेके अनुसार कुछ जातियोंका निर्देश किया है।

महाकवि असगने ब्राह्मण जातिके गौरवका उल्लेख किया है। भरत क्षेत्रके मन्दिर नगरमें गौतम ब्राह्मण रहता था, जो अनेक विद्याओंमें प्रवीण था। इस उल्लेखसे यह भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मण वर्णके व्यक्ति विद्वान् और तपस्वी होते थे। ये प्रौढ़ावस्थाके आनेपर गृहत्यागी हो जाते थे और संन्यासीके रूपमें तपश्चरण करते थे।[3] उपदेश देना, चारित्रिक उत्थान करना इनका प्रधान कार्य था। ब्राह्मण अग्निहोत्री[4] भी होते थे, इसका भी निर्देश श्वेतविका नगरीके अग्निभूति ब्राह्मणके चरित्रमें उपलब्ध होता है। कौलीयक नगरका कौशिक ब्राह्मण समस्त शास्त्रोंमें विशारद कहा गया है।[5] स्थूणागार नगरके भारद्वाज ब्राह्मणके चरित्रसे ऐसा भी ध्वनित होता है कि

---

[1] मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं ''' वही, १६।२४६ तथा १६।२४८।

[2] कर्षुका सेवका' कुम्भकारा वाणिज्यजीविन।
नियोगिन क्षत्रियाश्च सूत्रकाराश्च शिल्पिन' ॥ शत्रु०, अहमदाबाद, ३।१२७, पृ० ३१।
स्वर्णकाराश्चित्रकारा मणिकारास्तथापरे। —वही, ३।१२८ पृ० ३१।

[3] वर्धमानचरित, सोलापुर, सन् १९३१ ई०, ३।९१।

[4] वही, ३।८९।

[5] वही, ३।७२ तथा 'सकलवेदविद षडङ्गमन्यार्थकोविदतरा' —प्र० च० ६।२०३।

कुछ ब्राह्मणोंका वंश शुद्ध नही था।[1] नाना प्रकारकी घोर तपस्या करना और ज्ञानार्जन तथा ज्ञानवितरण करना ही उनके जीवनका लक्ष्य था। राजगृहके साण्डिल्यने[2] अपने युक्त कर्मको छोड़ मस्करी—संन्यासीके व्रत ग्रहण कर ब्रह्मस्वर्ग प्राप्त किया था। अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण वर्णका समाजमें गौरवपूर्ण स्थान था। यह वर्ग ज्ञान और चारित्रका प्रतिनिधित्व करता था। तापसकर्मका आचरण करनेवाले व्यक्ति इसी वर्णके प्रायः होते थे।

महाकवि वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें ब्राह्मणों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने, जलमें स्नान कर सन्ध्या-वन्दन करने एवं हाथ जोड़कर मन्त्रजाप करनेका निर्देश किया है।[3] ब्राह्मण मन्त्रीके पदपर भी प्रतिष्ठित रहते थे। अरविन्द राजाका विश्वभूति मन्त्री अत्यन्त बुद्धिमान् और गुणी था।[4] वृद्धावस्था आ जानेपर वह दीक्षाग्रहण कर तपस्या करने चला गया। इसने दिगम्बर मुनिके व्रत ग्रहण किये थे। अतः सिद्ध है कि ब्राह्मणोंमे वैदिक और श्रमण दोनों ही धर्म प्रचलित थे।

क्षत्रियोंके सम्बन्धमें बताया है कि वे शूरवीर, शस्त्र और शास्त्रके विशारद होते थे।[5] राज्यशासन चलाना, आक्रमणोसे रक्षा करना एवं दिग्विजयके लिए प्रस्थान करना भी उनके कर्तव्योंमे परिगणित था। हम्मीरकाव्यमें चाहमान वंशके क्षत्रियोंकी उत्पत्ति वर्णित है।[6] क्षत्रिय शरणागत वत्सल होते थे, वे जिसे एक बार आश्रय दे देते थे, उसका आजीवन निर्वाह करते थे।

वैश्यके लिए पार्श्वनाथचरितमें सार्थ या सार्थवाह और वणिक् शब्दोंका प्रयोग उपलब्ध होता है। सार्थवाह व्यापारके लिए संघ बनाकर जाते थे और ये तीर्थयात्राके लिए संघ भी निकालते थे।[7] कवि हरिचन्द्रने आर्यजातिमें कायस्थ जातिका भी निर्देश किया है, जिसका काम लेखन कार्य करना था।[8] इस जातिका मध्ययुगमें उदय हुआ था। याज्ञवल्क्यस्मृतिके अनुसार शासन (काय) में स्थित लेखक—संख्यायक, गणक आदिको कायस्थ कहा जाता था। समाजमें इनका यश अच्छा नही था। अतः याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—"राजाको चाट (ठग), तस्कर (चोर), दुर्वृत्त (दुराचारी), महासाहसिक (डाकू) तथा विशेषत कायस्थोसे पीडयमान प्रजाको

---

[1] वर्धमानचरित ३।७६ तथा 'सन्ध्याक्रियाचरणवेदविधि विहाय' —प्रद्युम्न० ६।११५।

[2] वही, ३।१११।

[3] पार्श्वनाथचरित, मा० दि० जै० ग्रन्थ म०, वि० सं० १९७३, ६।६०।

[4] वही, १।८४।

[5] अहं तु क्षत्रिय' शूर' शस्त्रशास्त्रविशारद —शत्रु०, अहमदाबाद, १।१३६।

[6] हम्मीरकाव्य, बम्बई, सन् १८७६ ई०, प्रथम सर्ग।

[7] पार्श्वनाथ चरित, बम्बई, ३।६२-६४।

[8] कायस्थ एव स्मर एष कृत्वाद्ग्लेखनीं कज्जलमञ्जुलां य'।
शृङ्गारसाम्राज्यविभोगपत्रं तारुण्यलक्ष्म्या' सुदृशो लिलेख ॥ धर्म० १४।५८।

बचाना चाहिए।"[1] विज्ञानेश्वरने मिताक्षरा भाष्यमें लिखा है—"कायस्थका अर्थ है लेखक तथा गणक। उनसे विशेषकर प्रजाको बचाना चाहिए, क्योंकि राजाके प्रिय तथा मायावी होनेके कारण उनका निवारण करना कठिन होता है।"[2] इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शती तक कायस्थोंकी कोई जाति नहीं बनी थी। सभी वर्ण और जातियोंके लोग कायस्थ वर्गमें सम्मिलित थे। उनके आचार-विचार, विवाह-सम्बन्ध, भोजन-पेय भिन्न-भिन्न थे। व्यवसायसे वर्ग और वर्गसे जातिकी कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस मिश्र समुदायने अपनेको एक जातिके रूपमें संघटित किया। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि कवि हरिचन्द्रके स्वयं कायस्थ होनेसे भी होती है। जैनोंमें पद्मनाभ नामके कायस्थने भी यशोधर-चरितकी रचना ग्वालियरके राजावीरमदेवके राज्यकालमें की है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कायस्थ जातिमे विभिन्न वर्ग, विभिन्न धर्म और विभिन्न वर्णोंके व्यक्ति सम्मिलित थे। इस जातिके भेद-प्रभेदोंका विकास भी स्थानभेदके आधारपर हुआ है।

अनार्य जातियोमे शक, यवन, शबर और भिल्लोंके निर्देश मिलते हैं। विन्ध्य-मेखलामें शबर[3]—पुलिन्द आदि जातियाँ निवास करती थी। सेनामें सबसे आगे शबर और भिल्ल[4] जातिके व्यक्तियोंकी सेना रहती थी। म्लेच्छोंको[5] पराजित करनेका निर्देश भी वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें किया है।

परिवार गठन

परिवार एक आधारभूत सामाजिक समूह है। उसके कार्योंका विस्तृत स्वरूप विभिन्न समाजोंमे विभिन्न होता है, फिर भी उसके मूलभूत कार्य सब जगह समान ही हैं। कामकी स्वाभाविक वृत्तिको लक्ष्यमें रखकर यह यौन सम्बन्ध और सन्तानोत्पत्तिकी क्रियाओंको नियमित करता है। यह भावनात्मक घनिष्ठताका वातावरण तैयार करता है, तथा बालकके समुचित पोषण और सामाजिक विकासके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि देता है। इस प्रकार सामाजिक गठनमें परिवारका महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इन आधारभूत कार्योंके अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व भी परिवारका होता है। संक्षेपमें परिवारके कार्योंका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

---

[1] चाटतस्कर-दुर्वृत्त-महामाहसकारिभि'।
पीड्यमाना प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषत' ॥ १।३३६।
—याज्ञ० स्मृ०, विश्वरूपकृत बालक्रीडा सहित, त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज, सन् १९२२-२४ ई०।

[2] कायस्था लेखका गणकाश्च तै' पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत्। तेषां राजवल्लभतयातिमायाविरवाच्च दुर्निवाररवात्। —मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति, विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका सहित, बम्बई, सन् १९०९ ई० १।३३६ पद्य।

[3] पार्श्वनाथचरित, बम्बई, वि० स० १९७३, २।५३।

[4] वर्धमानचरित, सोलापुर, ३।३८।

[5] पा० ना० च०, ७।१२५।

१. यौन सम्बन्धको विहित और नियन्त्रित करना ।

२. वंशवर्धनके हेतु सन्तानकी उत्पत्ति, संरक्षण, शिक्षा-दीक्षा एवं योग्यताओं और सम्भावनाओंका विकास करना ।

३. सहयोग और सहकारिताके आधारपर सुखी और समृद्ध जीवन-यापन करना तथा परिवारके समस्त सदस्योंमें एकता और प्रेमका संचार करना ।

४. ऐहिक उन्नतिके साथ पारलौकिक या आध्यात्मिक उन्नति करना । जीवनमें आनेवाली विघ्न-बाधाओंको सहन कर व्यक्तित्वका विकास करना ।

५. जातीय जीवनके सातत्यको दृढ़ रखते हुए धर्म-कार्य सम्पन्न करना ।

६. आदर्श परिवारके गठन द्वारा समाजको शक्तिशाली और कर्तव्यपरायण बनाना ।

७. स्नेह, सेवा, त्याग और सहानुभूतिका विकास कर मानवताकी प्रतिष्ठा करना तथा कर्मठ परिवार द्वारा समाजके आदर्शको उज्ज्वल बनाना ।

संस्कृत जैनकाव्योंके अनुसार आत्मसंरक्षण और आत्मविकासकी भावनाने मानव-समाजमें विवाह और परिवारकी संस्थाको जन्म दिया है । मातृस्नेह, पितृप्रेम, दाम्पत्य-आसक्ति, सन्तान-वात्सल्य, सहयोग और संघर्ष परिवारके मुख्य आधार हैं । इन आधारोंकी नींवपर ही परिवारका प्रासाद निर्मित होता है । काव्योंमें पितृ सत्तात्मक परिवार संयुक्त और असंयुक्त दोनों रूपोंमें उपलब्ध होते हैं । संयुक्त परिवारके तीन घटक हैं—(१) दाम्पत्य सम्बन्ध, (२) माता-पिता और सन्तानका सम्बन्ध एवं (३) भाई-भाई या भाई-बहनका सम्बन्ध ।

स्त्री-पुरुषका यौन सम्बन्ध जीवनका प्राथमिक अधिकार है, पर अन्तिम नहीं है । धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धोंके पालनमें दम्पतिकी पूरी समानता और सहकारिता रहती है । पति और पत्नीके सम्बन्धोंका विवेचन प्रत्येक काव्यमें आया है । यहाँ उदाहरणार्थ दो-चार दाम्पत्य सम्बन्धोंका विश्लेषण किया जायेगा ।

चन्द्रप्रभ काव्यमें कनकप्रभ और सुवर्णमालाके आदर्श दाम्पत्य जीवनकी झाँकी मिलती है[1] । पति-पत्नीमें अपूर्व प्रेम है । राजा कनकप्रभ सुवर्णमालासे केवल वासनात्मक प्रेम ही नहीं करता है, अपितु वह उससे विशुद्ध प्रेम भी करता है । राजा सुवर्णमालाकी प्रत्येक माँगको पूरा करता है । इसी प्रकार अजितसेन चक्रवर्ती और शशिप्रभाका दाम्पत्य जीवन भी स्पृहणीय है ।[2]

वर्धमानचरितमें राजा-रानियोंके अतिरिक्त साधारण गृहस्थोंके दाम्पत्य जीवन भी वर्णित हैं । गौतम और कौशिकीका दाम्पत्य जीवन बहुत ही सुखद है ।[3] कौशिकी गृहकार्यमें पटु और स्वामीकी प्रिय वल्लभा थी । दोनों ही आपसमें आकर्षण उत्पन्न

---

[1] चन्द्रप्रभचरित, ११।५०-५७ ।

[2] वही, सर्ग ७-११ ।

[3] वर्धमानचरित, ३, ६१ ।

करते थे। नीलकण्ठकी पत्नी कनकमाला[1] भी दाम्पत्य प्रेमके लिए प्रसिद्ध है। यह श्रेष्ठ गुणोंसे भूषित, मधुर भाषण करनेवाली और निर्मल शीलसे युक्त थी।

वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें दाम्पत्य जीवनके कटु-मधु दोनों ही चित्र उपलब्ध होते हैं। एक ओर वसुन्धरा और मरुभूतिका दाम्पत्य जीवन है, तो दूसरी ओर वज्रवीर्य और विजयाका दाम्पत्य जीवन। वसुन्धरा अपने पति मरुभूतिको धोखा देती है और अपने ज्येष्ठ कमठसे प्रेम करने लगती है।[2] यद्यपि आरम्भमें उसका विरोध दिखलाई पड़ता[3] है, किन्तु अन्तमें वह आत्मसमर्पण कर देती है।[4]

प्रद्युम्नचरितमें रुक्मिणी और श्रीकृष्णके दाम्पत्य जीवनकी अनेक विलास-क्रीड़ाएँ वर्णित है।[5] प्रेमकलह भी सपत्नी सुभद्राके कारण होता है।[6] जीवनके कटु-मधु चित्र सुन्दर उत्कीर्ण हुए है।

धर्मशर्माभ्युदयमें श्रृंगारवती और धर्मनाथके दाम्पत्य जीवनका सरस चित्रण किया गया है।[7] नरनारायणानन्दमे सुभद्रा और अर्जुनका दाम्पत्य[8] एवं जयन्तविजयमें जयन्त और कनकवतीका[9] आदर्श जीवन अंकित है।

सन्तान और माता-पिताका सम्बन्ध परिवारका दूसरा घटक है। प्रत्येक संस्कृत जैन काव्यमें सन्तानप्राप्तिकी चिन्ता दम्पतियोंको निरन्तर सताया करती है। यतः सन्तान प्राप्त होनेपर ही दाम्पत्य जीवनकी पूर्णता सिद्ध होती है। सन्तानके अभावमें दम्पतिको अपने काम पुरुषार्थका विश्वास ही नही हो पाता है। परिवारका आधार तो सन्तान है ही, उसके अभावमे परिवारकी परम्परा तो टूटती ही है, साथ ही परिवार नीरसताका आगार हो जाता है। महासेन सोचता है—'हम ऋतुकालके अनुसार गमन करते है, फिर भी इस सुव्रताके नवयौवन रूप वृक्षमें पुत्र नामक फलको प्राप्त नही कर रहे है, यही कारण है कि हमारा मन निरन्तर दुःखी रहता है, मानो उसे इस बातका खेद है कि यह पृथ्वीका भार जीवन पर्यन्त मुझे ही धारण करना होगा। हजारो कुटुम्बियोंके रहते हुए भी पुत्रके बिना किसका मन प्रसन्न रहता है?

---

१ वर्धमानचरित, ७।१५-२०।

२. निशम्य वाच कलहंसकस्य यानं समारुह्य सखीसमेता।
अयादनालोचनया नतभ्रू तम्यान्तिक केतुनिपीडितस्य॥ पा० च० २।२६।

३. भेत्तव्यमादौ परलोकभङ्गादबन्ध्यकोपश्च जने मनोज।
तेनोभयास्तस्पृगियं मनिर्मे प्रियाधिरूढेव बिभर्ति लौल्यम्॥ वही २।३१।

४. न कामिनी लङ्घयति स्मराज्ञां लब्धावकाशा तु न किं करोति।—पा० च० २।४५,
कन्दर्पदेवं परितर्पयन्ति—पा० च० २।४६।

५ प्रद्युम्नचरित, मा० च० दि० जैन० बम्बई, वि० स० १९७३, सर्ग ४।

६. वही, ३।६८-७० तथा ४।५-६।

७. धर्म० अ० अष्टादश सर्ग।

८. नरनारायणानन्द, बडौदा, सन् १९१६ ई०, पन्द्रहवाँ सर्ग।

९. फलं तथाप्यत्र यथर्तुगामिनः सुताह्वयं नोपलभामहे वयम्।
अनन्यसक्तावनिभारखिन्नवन्निरन्तर तेन मनो दुनोति नः॥ धर्म २।६९।

भले ही आकाश देदीप्यमान नक्षत्रों और ग्रहोंसे युक्त हो, पर चन्द्रमाके बिना मलिन ही रहता है । पुत्रके शरीर स्पर्शसे जो सुख होता है, वह सर्वथा निरुपम है, पूर्णकी बात जाने दीजिए, उसके सोलहवें भागको भी चन्द्रमा नहीं पा सकता है, न इन्दीवर पा सकते हैं, न मणियोंका हार पा सकता है, न चन्द्रमाकी किरणें पा सकती हैं और न अमृतकी छटा ही पा सकती है । मेरे कुलकी लक्ष्मी कुलांकुर—पुत्रको न देखकर अपने भोगके योग्य आश्रमके नाशकी शंका करती हुई निस्सन्देह गर्म-गर्म आहोंसे अपने हाथके क्रीड़ा-कमलको सुखाती रहती है ।'[1]

पुत्रके अपहरण होनेपर माता-पिताकी वेदना अवर्णनीय होती है । प्रद्युम्नचरितमें बताया गया है कि जब पूर्वजन्मकी शत्रुताके कारण असुर द्वारा प्रद्युम्नका अपहरण कर लिया गया तो श्रीकृष्ण और रुक्मिणीने अपार शोक व्यक्त किया ।[2] चन्द्रप्रभचरितके पंचम सर्गमें आया है कि चण्डरुचि असुर द्वारा कुमार अजितसेनके अपहरण करनेपर राजा अजितंजय और रानी अजितसेनाको अपार वेदना हुई । राजाको कुमार रहित सभा जीर्ण-जंगलके समान प्रतीत होने लगी । राजा-रानीने अनेक प्रकारसे विलाप किया ।[3] इस प्रकार सन्तान-वात्सल्य माता-पिताके जीवनको सरस बनाता हुआ दिखलाई पड़ता है ।

पुत्र आज्ञाकारी होता था । नन्दन अपने माता-पितासे आज्ञा ग्रहण कर मित्रोंके साथ वन भ्रमणके लिए जाता है । 'पितुरवाप्य परामनुज्ञां'[4] पद सन्तान और अभिभावकोंके मध्य मधुर सम्बन्धको अभिव्यक्त करता है । दम्पति सुजाति, सुकुल, सुन्दररूप स्वास्थ्य, एवं अन्य भोगोपभोगकी सामग्रियोंको प्राप्त कर आनन्दपूर्वक जीवनयापन करते हैं ।[5] आज्ञाकारिताका उज्ज्वल उदाहरण प्रद्युम्न भी है, जो अपनी माता रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिए बाल-क्रीड़ाएँ सम्पन्न करता है । 'वाञ्छास्ति बोक्षस्व करोमि बाल्यम्'[6] द्वारा प्रेमपूर्वक आज्ञा-पालन करनेकी भावना व्यंजित होती है ।

सन्तान-प्राप्तिके समय माता-पिता अत्यन्त प्रसन्न होते हैं । वे वर्धापन आदि उत्सव सम्पन्न कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं । पुत्र पिताका उत्तराधिकारी होता है । प्रत्येक राजा दीक्षा ग्रहण करते समय अपने पुत्रको ही राज्यशासन सौंपता है ।[7] पुत्र भी उत्तराधिकार प्राप्त कर पिताके भारको हलका करता है । पार्श्वनाथचरितका मन्त्री विश्वभूति भी अपना उत्तराधिकार अपने लघु पुत्र मरुभूतिको प्रदान करता है ।[8]

---

१. सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मनः प्रसीदति । धर्म० २।७०–७३ ।

२. किं जीवितेन मम पुत्र विना त्वयाद्य · प्रद्युम्न० ५।११–१५ ।

३ गुणयन्नरण्यमिव जीर्णमसौ ··प्रललाप मुक्तकरुणार्तरवम् ।—चन्द्र० ५।५७ ।

४. वर्धमानचरित १।५२ ।

५. प्रद्युम्नचरित १३।५ ।

६. वही, ६।२८७ ।

७. पार्श्व० च० ३।५८; चन्द्रप्रभ च० ४।१६; धर्म० १८।४४ ।

८. मरुभूतिं महीपालः साचिव्ये प्रत्यतिष्ठपत्—पार्श्व० च० २।६४ ।

अतः स्पष्ट है कि पुत्र उत्तराधिकार सँभालनेके लिए सर्वदा प्रस्तुत रहता था। परिवारके मधुर सम्बन्धोंमें पुत्रका वात्सल्य अमृत सिंचनका कार्य करता था।

भाई-भाई या भाई-बहनका सम्बन्ध परिवारका तीसरा घटक है। संस्कृत जैन काव्योंमे भाई-भाईका सम्बन्ध मधु और कटु दोनों रूपोंमें उपलब्ध होता है। शत्रुंजयकाव्यमें बताया गया है कि भरत षट्खण्डकी विजयके अनन्तर आयुधशालामें चक्रके प्रवेश न करनेपर अपने भाई बाहुबलीको अधीनता स्वीकार कर लेनेके लिए बाध्य करते हैं। जब बाहुबली आत्मसमर्पण नही करते तो भरत विचार करता है—'राज्य-वैभव, सम्पत्तियाँ, सुख-विभूति, दिव्यांगनाएँ आदि समस्त सुख-साधन मनुष्य अपने प्रयत्नसे प्राप्त कर सकता है, पर सहोदर भाईको बिना भाग्यके नही प्राप्त कर सकता है। अर्थात् सहोदरकी प्राप्ति किसी भी प्रयत्नसे सम्भव नही है, यह तो भाग्यसे ही प्राप्त होता है। भाईका इतना महत्त्व होनेपर भी राजाकी आज्ञाका भंग करनेवाले भाईकी भी उपेक्षा नही की जा सकती है। राजाओंकी आज्ञा ज्योत्स्नाके समान प्रकाश करनेवाली होती है। अतः जो भी राजाज्ञाका भंग करे, उसको दण्ड मिलना ही चाहिए।'[1]

जब बाहुबली और भरतका मल्लयुद्ध होता है, तो बाहुबली भरतको आकाशकी ओर उछाल देते हैं और जब बहुत समयतक भरत बाहुबलीको दिखलाई नही पड़ते, तो उनके मनमें महान् पश्चात्ताप होता है। वे सोचते हैं कि भाईके बधके कारण मुझे महान् पाप होगा। मुझ कुपुत्रने अपने वंशको कलंकित कर दिया। संसारमे सभी वस्तुएँ सुलभ हैं, पर सहोदरका मिलना सम्भव नही है।[2] इसी प्रकारकी विचार-सरिणी भरत को भी दिखलाई पड़ती है। अतः भाई-भाईका मधुर सम्बन्ध प्रशंस्य है।

इसी काव्यमें देवपाल और महीपालका आख्यान आया है। देवपाल कहता है—'सम्पत्ति, स्त्री, वैभव एवं भोगोपभोगके पदार्थ सर्वत्र सुलभ है, पर सहोदर माताके उदरके बिना, अन्यत्र प्राप्त नही हो सकता है। जो राज्य प्राप्तिके लिए अपने सहोदरके साथ झगड़ा करते हैं, वे भाग्यहीन कुत्तेके समान हैं।'[3] राज्यादिकी प्राप्तिके लिए जो

---

[1] संपदो राज्यमखिलं प्राप्यते सर्वतो नरैः।
स्वमहोदरो विना भाग्यं लभ्यते न हि कुत्रचित ॥ शत्रु० अहमदाबाद ४।१५३।
नोपेक्षणीयो भ्रातापि स्वाज्ञाभङ्करो नृपैः।
राज्ञामाज्ञैव ज्योत्स्नेव सर्वतेजस्करा हि सा ॥ वही, ४।१६१।

[2] अहो भ्रातृवधाज्जातं पातकं मेऽसिदुःसहम्।
कलङ्कितस्तात वंश कुपुत्रेण मयाद्य हा ॥ वही, ४।५८०।

[3] संपत्तयः कलत्राणि यत्र तत्र भवन्त्यपि।
मातुः कुक्षिं विनान्यत्र न पश्यामि सहोदरम् ॥ शत्रु० २।४३२।
राजलक्ष्मीकृते मूढा, ये द्विषन्ति सहोदरम्।
ते सारमेयसमतां भजन्ते भाग्यवर्जिताः ॥ वही, २।४३३।

भाईका घात करते हैं, वे स्वयं ही अपने कुलको कलंकित करते हैं और अपने ही पंखके काटनेवाले हैं।[1]

निष्कर्ष यह है भाई-भाईका स्नेह परिवारके सम्बन्धको मधुर बनाये रखनेके लिए अत्यन्त उपादेय है। जिन परिवारोंमें भाईका स्नेह वर्तमान रहता है, वे परिवार सुदृढ़ होते हैं और उनका अभ्युदय विकसित होता है। निश्छल भ्रातृ-वात्सल्यकी अत्यन्त आवश्यकता है।

जैन काव्योंमें कमठ जैसे भाई भी चित्रित हैं, जो अकारण शत्रुता करते हैं और जिनका वैर-विरोध एक ही जीवनमें समाप्त नहीं होता है, जन्म-जन्मान्तर तक चलता है। कमठ अपने छोटे भाईकी पत्नीको भी ले लेता है और उसे अपनी प्रेयसी बनाता है। सचमुचमें कमठ जैसे भाई समाजके लिए कलंक हैं। मरुभूति अपने बड़े भाईके प्रति सहज अपार वात्सल्य रखता है। राजा द्वारा दुराचारके अपराधमें कमठका निर्वासन किया जाता है। मरुभूति भाईके वियोगसे दुःखी है, उसकी बड़े भाईके प्रति अपार श्रद्धा है, भक्ति है, उसके अभावमें उसे भोजन-पान भी अरुचिकर प्रतीत होते हैं। अतः वह राजा अरविन्दके द्वारा निषेध करनेपर भी कमठकी तलाशमें निकलता है। तापसियोंके आश्रममें उसका पता लग जानेके उपरान्त वह उस पहाड़ीपर पहुँचता है, जिसपर कमठ तपश्चरण करता है। कमठ नमस्कार करते हुए मरुभूतिको पाषाण शिला गिराकर मार डालता है।[2] जिस प्रकार कवि वादिराजने अमृतमती जैसी पति-द्वेषी, विलासिनी, मायाचारी और क्रूररमणीका चित्र प्रस्तुत किया है,[3] उसी प्रकार कमठ जैसे क्रूर और विलासी भाईका भी। वस्तुतः परिवारकी सुख-शान्ति समाप्त करनेमें जो हाथ अमृतमतीका है, वही हाथ कमठका भी।

भाई-बहनके स्नेहका उदाहरण अभयरुचि और अभयमतीका[4] है। दोनोंमें अपार स्नेह है, वे दोनो एक साथ आत्मकल्याणके हेतु दीक्षित होते हैं, साथ-साथ तपश्चरण करते है।

विवाह

विवाह एक प्राचीन संस्था है। विवाहका उद्देश्य अर्थकी उपलब्धि तथा काम-सेवन है। स्त्री-पुरुषके यौन-सम्बन्धका नियन्त्रण और वैधीकरणके साथ सन्तान उत्पत्ति, संरक्षण एवं शिक्षण भी विवाहके उद्देश्यके अन्तर्गत है। नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्योंका पालन गृहस्थावस्थामें ही सम्भव है। वस्तुतः धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका

---

[1] ये घ्नन्ति राज्यादिकृते, भाग्यहीनाः सहोदरान्।
ते स्वयं स्वस्य पक्षस्य छेत्तारो मम संमता.॥ शत्रु० २।४३४।

[2] इति-निष्ठुरमुच्चरद्वचाः कमठो वैरनिबद्धपातया।
शिलया सचिवस्य मस्तकं प्रणतस्यैव चकार जर्जरम्॥ पार्श्व० च०, मा० जै० ग्र०, बम्बई, ३।१६।

[3] यशोधरचरित, तृतीय सर्ग।

[4] वही. चतुर्थ सर्ग।

सेवन विवाहित गृहस्थाश्रममें ही निराकुल भावसे किया जा सकता है। कवि वादीभसिंहने[१] उक्त तीनों पुरुषार्थोंका अविरोध रूपसे सेवन करनेका उल्लेख किया है। उनका अभिमत है कि धर्म, अर्थ और कामका यदि एक दूसरेके साथ विरोध न कर सेवन किया जाये, तो उससे सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है और अनुक्रमसे मोक्षपद प्राप्त होता है। कामसेवनको जलके समान माना जाता है, धर्म कामतृष्णाको दूर करनेवाली ओषधि है और अर्थ दोनोंका साधन है—उन्हें यथास्थान पहुँचानेवाला है। यदि इन तीनोंका उचित और उपयुक्त मात्रामें सेवन किया जाये तो सुखकी प्राप्ति होती है।

विवाहको दारपरिग्रह या दारकर्म भी कहते हैं। यह दारकर्म कामवासनाको परिमित करता है, इन्द्रियोंके विजय करनेका एक मार्ग है और है कामतृष्णाको शनैः-शनैः कृश करनेका उपाय। विवाह संस्था समाजको सुव्यवस्थित बनानेके लिए महत्त्वपूर्ण है। सन्तानोत्पादन करना और परिवारकी सन्ततिको बनाये रखना, इसी संस्था द्वारा सम्भव है। कुटुम्बके व्यक्तियोंको एकतामें आबद्ध करना तथा कुटुम्बको समृद्ध बनाना भी विवाहका कार्य है। कुटुम्ब समाजकी इकाई है और कुटुम्बकी व्यवस्था विवाहपर आधारित है। अतः निवृत्ति प्रधान जैन धर्ममें गृहस्थ-श्रावकके व्रतोंमें स्वदारसन्तोष व्रतका उल्लेख है, जो विवाह संस्थाकी पुष्टि करता है।

संस्कृत जैन काव्योंमें विवाहके समय सम्पादित होनेवाले आचार-व्यवहारोंका विस्तारपूर्वक निर्देश मिलता है। स्वयम्वर विधिसे तो विवाह सम्पन्न होते ही थे, पर वरका निर्वाचन कर भी विवाह किये जाते थे। वर निर्वाचनके लिए समान आयु, कुल, शील, विद्या और धर्म, गुण अपेक्षित थे। शान्तिनाथचरितमें कपिल ब्राह्मणका कथानक कुल, शील और धर्मकी ओर संकेत करता है। कपिल और सत्यभामाका दाम्पत्य समान कुल-शीलके अभावमें ही दुःखमय बनता है। सत्यभामा अपने पतिको नीच कुलोत्पन्न समझ कर ही सम्बन्ध विच्छेद करती है।[२] अतः काव्योंमें कुलकी शुद्धतापर जोर दिया है। कपिलके साथ सात्यकिने अपनी पुत्री सत्यभामाका विवाह कपिलकी विद्वत्तासे प्रभावित होकर ही किया।

विवाहके समय निर्वाचनके लिए स्वास्थ्य, रूप, धन, कुल, शील और विद्याका भी विचार किया जाता था।[३] इस प्रकार वरका निर्वाचन कर विवाह कार्य सम्पन्न

---

[१] परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्य-मपवर्गोऽप्यनुक्रमात्॥—क्षत्र० जबलपुर, वी० नि० २४८० १।१६।
तथा चन्द्रप्रभ० ३।११।

[२] शान्तिनाथचरित, वाराणसी, वी० नि० सं० २४३७, प्रथम सर्ग और द्वितीय सर्ग, विशेषतः—वर्णाश्रमाचारविचारचारु · २।६२–८०।

[३] वित्त ययोरेव समं जगत्यां कुलं ययोरेव समं प्रतीतम्।
मैत्री तयोरेव तयोर्विवाहस्तयोर्विवादश्च निरूपितोऽस्ति॥ शान्ति० च० ४।२६।
स एव संबन्धविधिर्विधेयः संबन्धिता येन भवेत् प्रशस्या।
निर्बन्धमापाद्य विधीयमानः संबन्ध एव प्रकरोति हास्यम्॥ वही, ४।२७।

करनेसे ही दाम्पत्य जीवन सुखी होता था। कवि अमरचन्द्रने विवाहके समयपर किये जानेवाले रीति-रिवाजोंका सुन्दर वर्णन किया है—‘वर विविध प्रकारके वस्त्रालंकारों से सज्जित हो यानपर सवार होता है और मण्डप द्वारपर उतर जाता है। यहाँ स्त्रियाँ वरके मंगलके लिए एक अग्निपूर्ण शरावमें लवण रखती हैं, जिससे लवणके चटकनेसे त्रटत्-त्रटत्की ध्वनि निकलती है; जो विघ्ननिवारक समझी जाती है। एक स्त्री दूर्वा आदि मांगलिक वस्तुओंसे परिपूर्ण चाँदीका थाल लेकर खड़ी होती है और दूसरी मन्थन दण्ड लेकर वरके समक्ष खड़ी होती है।’ मधुर गीत गाते हुए वरको अर्घ्य दिया जाता है और मन्थन दण्डसे वरके मस्तकका स्पर्श किया जाता है। पादुका पहने हुए वर वाम-चरणने अग्नि-लवण पूर्ण शराव सम्पुटका स्पर्श करता है। इसके पश्चात् अर्घ्य देनेवाली स्त्री वरको मातृगृहमें ले जाती है। यहाँ मातृगृहके सामने वरको सुवर्णके आसनपर बैठाया जाता है और वधू एवं वरके हाथमें सूत्र बाँध दिया जाता है। इस अवसरपर पिप्पल एवं शमीकी छालको पीसकर वधूके हाथमें लेप किया जाता है। लग्नका समय आनेपर वर वधूके हाथको अपने हाथमें पकड़ता है। इसी समय तारामिलन पर्व सम्पन्न होता है, जिसमें वर-वधू एक दूसरेको देखते हैं। तारामेलक पर्वपर वधू पक्षकी स्त्रियाँ वरको लक्ष्य कर नर्मवचनपूर्ण गीत गाती हैं और वर-वधूका ग्रन्थिबन्धन सम्पन्न किया जाता है। वर, वधूके साथ वेदी-गृहमें जाता है और यहाँ वधूका हाथ पकड़कर अग्निकी सात प्रदक्षिणाएँ की जाती हैं। इसके पश्चात् वर-वधूका पाणिग्रहण पर्व सम्पन्न होता है। स्त्रियाँ हल्लीसक नृत्य करती हैं और गायन-वादनका वातावरण उपस्थित हो जाता है। पाणिमोक्षण क्रियाके साथ ही विवाह विधि समाप्त हो जाती है और वर यानमें बैठकर मण्डपसे अपने स्थानको चला जाता है।

चन्द्रतिलक उपाध्यायके अभयकुमार चरितमें विवाह विधियोंका सुन्दर चित्रण हुआ है। कविने लिखा है कि सधवा स्त्रियाँ वधूका तैलसे अभ्यंग और पिष्टिकासे उद्वर्तन करती थी। वे स्नान करानेके अनन्तर वधूको कौसुम्भ वस्त्र पहनाती थी। तत्पश्चात् उसे मंचिकापर बैठा कर उसका तिलक करती थीं। उसके केशोंको सुखाकर उन्हें सुगन्धित धूपसे सुवासित किया जाता था। पैरोंमें लाक्षारस, कपोलोंपर पत्र-वल्ली, आँखोंमें अंजन और ललाटमें चन्दन लगाकर उसका धम्मिल्ल—जूड़ाबन्धन किया जाता और उस जूड़ेको पुष्पोंसे सजाया जाता था। उसे श्वेत परिधान पहनाया जाता था और सिरपर पुष्पोंका मुकुट धारण कराया जाता था। इस प्रकार वधूके अंग-प्रत्यंगको विविध आभूषणों और प्रसाधनोंसे प्रसाधित किया जाता था।

---

१ उत्तीर्य यानवरतो वरतोरणाग्रे, तस्थौ विभुर्जगति दर्शयितुं व्यवस्थाम्।
तस्मै सहस्रनयनोऽर्पयतिस्म बाहुं, भाग्यैर्भवत्यवसरो विभुसेवनाय॥ पद्मानन्द, बड़ौदा, ६।७०।
माणिक्यमण्डपचरा व्यमुचत्र च नार्यो, निश्शेषमङ्गलमयप्रभुमङ्गलाय।
द्वारे शरावरसंपुटमुत्कटाग्नि-क्षिप्तत्रटत्त्रटितिकृल्लवणौघगर्भम्॥ वही, ६।७१।
दूर्वादिमाङ्गलिकवस्तु विराजि रूप्य-स्थालं विधृत्य पुरतोऽस्थित काऽपि तत्र।
कौसुम्भशोभिवसनावरणाद्वयुग्मभू सन्ध्येव नव्यविलसच्छशलक्ष्मबिम्बा॥ —वही, ६।७२-१०२।

वरकी साज-सज्जामें बताया गया है कि वर उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजकर वाहनपर आरूढ़ हो मण्डप द्वारपर आता था, इस अवसरपर उसके ऊपर चमर हिलाये जाते थे। वन्दीजन मंगल-पाठ करते थे, विविध वाद्य बजाये जाते और स्त्रियाँ नृत्य करती थीं। बहन वरके पीछे खड़ी होकर अक्षिदोषको दूर करनेके लिए लवण उतारती है। वर मण्डप द्वारपर वाहनसे उतर जाता है तथा मण्डप द्वारपर दूर्वादि-पात्र मुसल, मथानी आदि रखे जाते हैं। एक स्त्री लवणाग्नि युक्त शराव युग्मको द्वार-पर रखती है। वरको अर्घ्य दिया जाता है। वर शराव युग्मको वामपादसे फोड़ देता है। अनन्तर वरको वधूके समीप ले जाया जाता है। वर-वधूके सम्मुख विष्टरपर बैठ जाता है। उस समय एक ऐसी महिला जिसके पुत्र, पति, सास, ससुर, पिता, माता, भाई, देवर आदि जीवित है, अश्वत्थ और शमीकी छालको पीसकर उसका लेप वधूके करमें करती है। तारामिलनके अनन्तर पुरोहित मन्त्र पढता हुआ वर-वधूका ग्रन्थि-बन्धन करता है। अनन्तर वेदिका गृहमें जाकर वर अग्निमें सात बार धान क्षेपण करता है। इस अवसरपर पुरोहित मन्त्रोच्चारण करता है। चार प्रदक्षिणाके पश्चात् वरको वधू पक्षकी ओरसे शक्तिके अनुसार गज, वाजि, ग्राम, बर्तन आदि दहेजमें प्राप्त होते हैं। सात प्रदक्षिणाओंके करनेपर कर-मोक्षणकी रस्म की जाती है। इस अवसरपर भी वरको दहेज प्राप्त होता है। पुरोहित ग्रन्थिमोक्षण करता है। वर-वधूको अश्व या अन्य किसी सवारीपर बैठाकर जनवासेको जाता है।[1] उस समय नान्दीपाठ होता है। वर-वधूको देखकर बराती हर्षसे घोड़े कुदाने लगते हैं। स्त्रियाँ नृत्य करती है, गीत गाती हैं और हर्षध्वनि करती हैं।

विवाहकी विधिका वर्णन वर्धमान कविने वासुपूज्यचरितमें भी किया है। कतिपय विधि-विधान तो पूर्वोक्त विधियोके समान ही है। नवीनता यही है कि सास वरके गलेमें कौसुभ वस्त्र डालकर अपने साथ मातृगृहमे ले जाती हैं, वहाँ वर-वधूको हेमासन-पर बैठाया जाता है और वे एक दूसरेका अवलोकन करते है। शुभ लग्नमें फेरेकी विधि सम्पन्न की जाती है। इस अवसरपर वन्दिगान, कुलवृद्धाओंके आशीर्वाद, तूर्यनाद, मंगलगान तथा हर्षध्वनि की जाती है। तारामिलनके अनन्तर वेदिका गृहमें वर-वधूको गोदमें लेकर जाते हैं। प्रदक्षिणाएं चार ही सम्पन्न होती हैं। पाणि-मोक्षणके समय दहेज दिया जाता है।[2]

शान्तिनाथचरितमें हरिद्रालेपन, मंगलवाद्योंका बजना एवं वृद्धा स्त्रियोंके आदेशसे अवगुंठन करना वर्णित है। विवाह संस्कार पुरोहित द्वारा सम्पन्न किया जाता था।[3]

---

१. अभयकुमारचरित, जेन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९१७ ई०, २।१०१-१५६।

२, वासुपूज्यचरित, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९७३, २।५६९-५९६।

३. अभ्यज्य तैलेन सुगन्धिना तं हारिद्रचूर्णोपचितेन तेन ॥ शान्ति० ४।१०९ ॥
विशेषके लिए ४।१०७-१३०।

स्वयंवर विधि

विवाह स्वयंवर विधिसे भी सम्पन्न होते थे। स्वयंवरोंमें अनेक प्रकारकी शर्तें रखी जाती थीं। क्षत्रचूडामणिकाव्यमें वीणावादन और चन्द्रकयन्त्रवेध करनेकी शर्तका निर्देश है। गान्धार देशकी नित्यालोका नगरीके राजाकी पुत्री गन्धर्वदत्ताका राजपुरमें स्वयंवर होता है। विभिन्न देशोमें घोषणा करा दी जाती है कि जो राजकुमार वीणा-वादनमें कुमारीको पराजित करेगा, उसीके साथ उसका विवाह सम्पन्न होगा। जीवन्धरकुमार घोषवती वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ताको परास्त कर उसके साथ विवाह करते हैं।[1]

धरणीतिलका नगरीके राजा गोविन्दराजने अपनी कन्या लक्ष्मणाका स्वयंवर रचा और चन्द्रकयन्त्र बनवाकर घोषणा की कि जो व्यक्ति इस यन्त्रका भेदन करेगा, उसीके साथ लक्ष्मणाका विवाह सम्पन्न किया जायेगा। अनेक धनुर्धारी राजकुमार स्वयंवरमे सम्मिलित हुए पर यन्त्रपर स्थित तीन शूकरोका भेदन न कर सके। अन्तमें जीवन्धरकुमारने अलातचक्र द्वारा चन्द्रकयन्त्रका भेदन कर लक्ष्मणासे विवाह किया।[2]

धर्मशर्माभ्युदयमें एक स्वयंवरका वर्णन है।[3] प्रतापराज अपनी पुत्री शृंगारवती का पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित करनेके हेतु स्वयंवरकी योजना करता है। परन्तु इस स्वयंवरमें कन्याकी रुचि ही शर्त है, अन्य किसी प्रकारकी शर्त नहीं है। इस प्रकारके स्वयंवरोंमे रूप सौन्दर्य, यश एवं प्रभुता ही आकर्षणका कारण बनती है।

नलायनकाव्यमें[4] बताया गया है कि स्वयंवरमे समस्या एवं पहेलियाँ भी रखी जाती हैं। कलावती प्रतिहारी द्वारा घोषणा कराती है कि वह उसी व्यक्तिके साथ विवाह करेगी, जो उसकी पहेलीका उत्तर देगा। पहेली निम्न प्रकार है—

> दिवापि चक्रवाकानां मिथुन यद् विमज्यते।
> किमत्र कारण वाच्य स्फुटीकुरुत पार्थिवा. ॥ नलायन, ५।१४।५

स्वयंवर मण्डपमे उपस्थित राजकुमार उक्त पहेलीका उत्तर समझनेका प्रयास करते है।

स्वयंवरके अतिरिक्त अन्य कई निमित्त भी कन्या विवाहके उपलब्ध होते है। क्षत्रचूडामणिमें बताया गया है कि सहस्रकूट चैत्यालयके किवाड़ जिस व्यक्तिके आनेपर खुल जायेंगे, उसीके साथ क्षेमपुरी नगरीके सेठ सुभद्रकी कन्या क्षेमश्रीका विवाह सम्पन्न होगा।[5] इसी तरह जिसके घरके द्वारपर आनेसे रत्न बिक जायेंगे, उसीके साथ विमलाका विवाह सम्पन्न होगा।[6]

---

[1] क्षत्रचूडामणि, जबलपुर, ३।४३-४६।

[2] वही, १०।२३-२६।

[3] धर्मशर्माभ्युदय, बम्बई, सन् १९३३ ई०, १७।१-६४।

[4] नलायन, यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् १९३७ ई०, स्कन्ध ५, सर्ग १४, श्लो० ५-८।

[5] क्षत्रचूडामणि, जबलपुर ६।३६-५१।

[6] वही, ८।६८-७३।

उक्त वर्णनोसे यह स्पष्ट है कि विवाह हेतु वरान्वेषणकी कई प्रथाएँ प्रचलित थी। कुल, शील, विद्या, वैभवके समान किसी निमित्त विशेषका घटित होना भी वरण की योग्यतामे परिगणित था। स्वयंवरमें लक्ष्यभेदकी विभिन्न शर्तें, काव्य-समस्यापूर्ति, वीणावादन, पहेली सुलझाना एवं प्रत्युत्पन्नमतित्वकी जानकारीके अन्य साधन भी वर-वरणके लिए व्यवहारमें लाये जाते थे।

गान्धर्वविवाह

संस्कृत जैनकाव्योमें विवाहके विविध प्रकार उपलब्ध नहीं होते। केवल आर्ष विवाह विधिके साथ गान्धर्वविवाहके अनेक उदाहरण अवश्य आये हैं। इन उदाहरणोसे ज्ञात होता है कि क्षत्रियोमे कन्या अपहरणकी प्रथा थी। श्रीकृष्ण रुक्मिणीका अपहरण कर गान्धर्वविवाह करते हैं। अपहरण करनेमें उन्हें रुक्मिणीके भाई रुक्म एवं शिशुपाल के साथ युद्ध भी करना पड़ता है।[1] अर्जुन श्रीकृष्णकी बहन सुभद्राका अपहरण करता है। बलरामसे इसके लिए युद्ध भी होता है। सुभद्रा भी अर्जुनसे प्रेम करती है और अर्जुन भी सुभद्राको चाहते हैं। परस्परका यह अनुराग गान्धर्व विवाहके रूपमे परिणत होता है, जिससे अपहरणके पश्चात् बलराम सुभद्राका विवाह अर्जुनके साथ सम्पन्न करते हैं।[2] शान्तिनाथचरितमे आया है कि राजा लोग अनुरक्त कन्याका अपहरण कर लेते थे। इस काव्यको घटनाओमे एक घटना अनन्तवीर्य द्वारा कनकश्रीके अपहरणको भी है। अनन्तवीर्यको इसके लिए कनकश्रीके पिता दमितारिके साथ युद्ध भी करना पडता है।[3]

उक्त सन्दर्भांशोसे यह स्पष्ट है कि क्षत्रियोमे ही गान्धर्वविवाहकी प्रथा प्रचलित थी।

बहुविवाह

संस्कृत जैन काव्योंमें बहुविवाहकी प्रथाका समर्थन प्राप्त होता है। क्षत्रचूडामणि के नायक जीवन्धरने आठ विवाह किये हैं। उनकी पत्नियोके गन्धर्वदत्ता, गुणमाला, पद्मा, क्षेमश्री, कनकमाला, विमला, सुरमंजरी और लक्ष्मणा नाम आये हैं।[4] भरत, अजितसेन प्रभृति चक्रवर्तियोंकी छियानबे हजार रानियाँ वर्णित हैं। शान्तिनाथ तीर्थंकर होनेके साथ चक्रवर्ती भी है, अत उनकी भी रानियोकी संख्या छियानबे हजार है।[5] ऐसे भी आदर्श पात्र हैं, जिनका एक ही विवाह सम्पन्न हुआ है। धर्मनाथ तीर्थंकरका शृंगारवतीके साथ ही विवाह सम्पन्न होता है। साधारण श्रेणीके पात्रोंमे अनेक विवाहोंकी

---

[1] प्रद्युम्नचरित, बम्बई, वि० स० १९७३, तृतीय सर्ग।

[2] नरनारायणानन्द, सर्ग १२-१५ तक।

[3] शान्तिनाथचरित, नवम सर्ग।

[4] क्षत्रचूडामणि—लम्भ ३-१० तक।

[5] शान्तिनाथचरित, चतुर्दश सर्ग, विशेषत २००-२३९ पद्य तक।

प्रथा दिखलाई नहीं पड़ती है। कौशिक, भारद्वाज, अग्निभूति, गौतम संकायन[1] प्रभृति ऐसी पात्र हैं, जिनका एक ही विवाह हुआ है।

काव्योंके उक्त कथानकोंका स्फोटन करनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि धनी-मानी, राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, माण्डलिक-चक्रवर्ती आदिमें बहुविवाहकी प्रथा थी; पर साधारण जनतामें एक ही विवाह किया जाता था।

स्त्रियोंमें बहुविवाहके उदाहरण प्रायः नहीं हैं। पतिकी मृत्यु हो जाने अथवा उसके अज्ञात हो जानेपर स्त्रियोंको दूसरे विवाहका अधिकार था। नलके न मिलनेपर वैदर्भी द्वितीय स्वयंवरकी घोषणा करती है। पर दमयन्तीके इस कार्यकी साधारण जनतामें आलोचना होती है।[2] अतएव स्पष्ट है कि कुलीन स्त्रियोंका पुनर्विवाह समाजमें आदरकी दृष्टिसे नहीं देखा जाता था।

विवाहित जीवन

विवाहके पश्चात् जब कन्या पिताके घरसे जाने लगती है, तो पिता उसे उपदेश देता है। इस उपदेशमें विवाहित जीवनके कर्तव्योंका उल्लेख आ गया है। दमयन्तीकी विदाईके समय विदर्भ नरेश भीम उसे शिक्षा देता हुआ कुल-वधूके कर्तव्योंकी ओर निर्देश करता है—"गृहपतिसे निष्कपट व्यवहार करना, सास-ससुर आदि गुरुजनोंकी भक्ति करना, परिजनोंसे स्नेह करना, सपत्नियोंसे मृदुताका व्यवहार करना, पतिके शत्रुको शत्रु समझना, पैरोंकी ओर दृष्टि रखकर पतिसे बातें करना, पतिके घरमें आते ही उन्हें आसनपर बैठाना, रात्रिमें पतिके सोनेके पहले कभी नहीं सोना और उनके जागनेके पूर्व जाग जाना कुल-वधुओंका कर्तव्य है।"[3]

अभयकुमारचरितमें भी श्वसुरालय जाते समय माता-पिता उक्त प्रकारका ही उपदेश देते हैं। पतिभक्ति, अतिथि सेवा, सपत्नियोंसे प्रेमिल व्यवहार, गृहकार्योंका सम्पादन, गुरुजनोंके प्रति अनुराग[4] आदि इस उपदेशके प्रमुख अंग हैं।

दाम्पत्य जीवनको सुखमय बनानेके लिए विविध प्रकारके मनोरंजक कार्य भी सम्पादित किये जाते थे। पति-पत्नीके विनोदका एक साधन गूढ चतुर्थक आदि पहेलियाँ भी थी। मेघकुमार अपनी पत्नियोंसे उक्त प्रकारके विनोद करता है। अनेक प्रश्नोंका एक वाक्यमें उत्तर देना, तताबलीके अव्यक्त संकेतसे उत्तर देना, समस्या-पूर्ति करना एवं उक्तिवैचित्र्य द्वारा चमत्कार उत्पन्नकर आनन्दित करना इन विनोदोंमें प्रमुख है। पति-पत्नियोंके बीच यह एक प्रकारकी विदग्ध गोष्ठी ही थी, जिसमें वे अपना अनुरंजन करते थे। पत्नी पूछती है—

---

[1] वर्धमानचरित, सोलापुर, ३।७३-९६।

[2] नलायन, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध।

[3] वही, ४।१।७ १०।

[4] अभयकुमारचरित, १।४६६-७१।

किमङ्कुरजनीहेतुः किं भोज्यं स्वर्गवासिनाम् ।
नारी वाञ्छति भर्तारं कीदृशं पतिदेवता ॥—अभयकुमार० ३।१७१
ध्यायन्ति मुनीन्द्राः किं सदा तद्गतमानसाः ।
प्रियैकेनैव वाक्येन चतुर्णां किमुत्तरम् ॥—वही, ३।११४

कुमार इस पहेलीका उत्तर 'अमृतम्' शब्द द्वारा देता है ।

शत्रुंजयकाव्यमे नारोके जिन गुणोंका निर्देश किया गया है, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नारी परिवारमें सुख-शान्ति बनाये रखनेके लिए विभिन्न प्रकारके मनोरंजक कार्य करती थी ।[1] गायन-वादन, चित्रकर्म आदि भी विवाहित जीवनमें अनुरंजनके हेतु किये जाते थे । वनविहार, जलक्रीड़ा, दोलारोहण, पुष्पावचय आदिका उद्देश्य भी दम्पतियों द्वारा मनबहलाव एवं जीवनके विविध भोगोंका भोग करना ही है ।

संगीतका प्रचार उस समय अधिक था । प्रत्येक मांगलिक अवसरपर नारियों द्वारा गायन-वादन और नृत्य किये जानेका निर्देश मिलता है । राजभवनोंमें वापिकाएँ निर्मित रहती थीं, जिनमें दम्पति जलक्रीड़ा द्वारा मनोरंजन करते थे ।[2]

सपत्नियोंमें ईर्ष्याभाव भी उपलब्ध होता है । रुक्मिणी और सत्यभामाके बीच ईर्ष्याका स्पष्टीकरण हुआ है । सत्यभामा रुक्मिणीके पास सन्देश भेजती है कि यदि तुम्हारे पुत्रका विवाह पहले हो तो तुम मेरे केशोंको कटवाकर अपने पुत्रके पैरके नीचे दबा देना और यदि मेरे पुत्रका विवाह पहले होगा, तो तुम्हारे केश काटकर मेरे पुत्रके पैरके नीचे दबा दिये जायेंगे । दोनों सपत्नियाँ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा बलरामको साक्षीपूर्वक करती है ।[3] इस सपत्नी ईर्ष्याका फल यह भी होता है कि प्रद्युम्न अपनी माँको प्रसन्न करनेके लिए सत्यभामाको नाना प्रकारसे तंग भी करता है । विवाहित जीवनमे इस प्रकारकी कलहके एकाध उदाहरण और भी हैं ।

सात्यकिकी पुत्री सत्यभामा और उसके पति कपिलके मध्य भी कलह दिखलाई पड़ती है । सत्यभामा कपिलको नीचकुलका व्यक्ति समझ लेती है, जिससे वह कपिलमें नीचवृत्तिकी अनुबन्धिनी बन जाती है ।[4] और दाम्पत्य सम्बन्धको विच्छेद कर राजपरिवारके संरक्षणमें रहने लगती है । यों साधारणतः दाम्पत्य जीवनके रमणीय चित्र प्रस्तुत किये गये हैं । विवाहित जीवनको सुखमय बनानेके लिए तीनों—

---

[1] नार्य' शीलगुणैरार्या पतिभक्तिपरायणा । स्मितानना रूपवत्य' परिवारेषु वत्सला ।
सकौतुका, स्वल्परोषाः सुवेषा मुग्धबुद्धय । मृदुवाचोऽतिगम्भीरा, यत्र सन्ति गुणप्रिया. ॥
—शत्रुंजय, अहमदाबाद, १।३१६, ३१८ ।

[2] पार्श्वनाथचरित, बम्बई, ४।१३४ और वर्धमानचरित, सोलापुर, ५।७ और ५।४२ ।

[3] प्रथमसूनुविवाहसमुत्सवो यदि भवेत्तव रुक्मिणि पुण्यत ।
कुटिलकोमलनीलशिरोरुहान् पदतले तनयस्य निजान् दधे ॥
—प्रद्युम्न० ४।६-८ ।

[4] अनन्यनिर्वर्त्यतदीयचेता वृत्तिप्रवृत्ति च सुवृत्तभावा ।—शान्ति० २।४७-१४६ ।

धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका अविरोधरूपसे सेवन किया जाता था। सोत्साह पूजार्चा करना, दान देना, साधु-मुनियोंके दर्शन करना, तीर्थयात्रा करना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनसे मनोरंजन और पुण्यार्जन दोनों होते थे। पति-पत्नी साथ-साथ पूजा-अर्चा करते थे।

अतिथि-सत्कार करने और भोजन-निर्माणकी कलामें गृहदेवियाँ पटु होती थी। शान्तिनाथचरितमें आया है कि धरणिजटके पहुँचनेपर उसकी पुत्रवधू सत्यभामाने तत्काल भोजन सम्पादित किया। यथा—

तदैव संसाध्य च साधुभोज्यं सा भोजयामास तमाशु साध्वी।
कलावतीनां हि कुलाङ्गनानां पाकक्रियायां न भवेद्विलम्बः॥ शान्ति० २।२९

स्पष्ट है कि कुलवधुएँ पाकक्रियामें अत्यन्त पटु होती थी। शीघ्रता और चतुराई दोनों ही गुण उनमें विद्यमान थे।

दाम्पत्य जीवनका आदर्श था—

दानं सुपात्रविषये प्रतिपादनीयं शीलं विशिष्य-विशदं परिपालनीयम्।
तप्यं तपश्च शुचिभावनया समेतं धर्मं चतुर्विधमुदाहृतवाञ्जिनेशः॥
—शान्ति० ३।३६

शीलं कलङ्कपरिवर्जितमेव येन संसाधितं किमपि तस्य न दुर्लभं स्यात्।
यस्माद्दुरन्तदुरितक्षयहेतुकत्वमेतद्विहाय वहतीह न किंचिदेव॥
—वही, ३।३८

अन्य संस्कार

संस्कार शब्दका प्रयोग सामान्यरूपसे समस्त धार्मिक कृत्योके अर्थमें होता है, पर स्मृतिकालमें इस शब्दका प्रयोग उन्ही धार्मिक कृत्योंके अर्थमें सम्पन्न हुआ है, जिनका अनुष्ठान व्यक्तिके व्यक्तित्वकी शुद्धिके लिए किया जाता था। जैन सम्प्रदायमें जिनसेन द्वितीयने ५३ गार्हस्थिक क्रियाओंका निर्देश किया है, पर संस्कृत जैन काव्योमें कुछ ही संस्कार उपलब्ध होते हैं।

गर्भकालीन पुंसवनादि संस्कार

गर्भके निश्चय हो आनेपर गर्भस्थ शिशुको पुंसवन नामक संस्कारके द्वारा अभिषिक्त किया गया है। पुंसवनका अभिप्राय सामान्यतः उस कर्मसे है, जिसके अनुष्ठानसे पुरुष सन्ततिका जन्म हो। पार्श्वनाथचरितमें बताया है—

उदूढगर्भां दयितां प्रजापतिर्निधानगर्भामिव भूतधारिणीम्।
अनेकविद्याजपहोमकर्मभिर्विभक्तरक्षाद्यभिरन्ववर्तत॥ पार्श्व० ४।१११
प्रवर्तिता पुंसवनादिषु क्रमात स विक्रमी दोहदभेदमाहितः।
प्रपृच्छ्य शृण्वन् सुहृदः सखी जनाज्जहर्ष सत्पुत्रविनिर्णयावहम्॥
—वही, ४।११२

उक्त पद्योंमें 'पुंसवनादिषु' पदसे सीमन्तोन्नयन संस्कारके किये जानेका भी संकेत मिलता है। 'पुंसवन गर्भके तीसरे महीनेमें और सीमन्तोन्नयन सातवें महीनेमें सम्पन्न होता था। सीमन्तोन्नयनमें गर्भिणीके केशोंको ऊपर उठाया जाता था। साधारणतः लोगोंमें यह विश्वास था कि गर्भिणीको अमंगलकारी शक्तियाँ ग्रस्त कर सकती हैं, अतः सीमन्तोन्नयनके द्वारा उन शक्तियोंका निराकरण करना चाहिए। संस्कारोंके अवसरपर पूजा, जप, हवन प्रभृति धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न की जाती थी।

धर्मशर्माभ्युदयमें भी पुंसवनादि संस्कारोंका (धर्म० ६।१०) निर्देश किया है। विधि प्रायः समान ही है।

गर्भोत्तरकालीन संस्कार

गर्भोत्तरकालीन संस्कारोमें नामकरण, चौलकर्म, उपनयन और विवाह संस्कारों के निर्देश जैन काव्योमे उपलब्ध होते हैं। जन्मपत्रिका निर्माण करानेका निर्देश भी अभयकुमारचरितमें आया है। 'तिथिपत्रं करे गृहीत्वा' (९।५०) द्वारा बालकका जन्म होते ही पंचाग दिखलानेकी प्रथापर प्रकाश पडता है। यह एक प्रकारका जातकर्म संस्कार है, काव्योंमें इसीका दूसरा नाम वर्धापनक भी आया है। जन्म होते ही[1] दासियाँ माता-पिता या अन्य अभिभावकोंको सूचना देती है। अभिभावक मुद्रिका, हार, मणिमाला या अन्य आभूषण पारितोषिकमें देते है। सूतिका मन्दिरके द्वारपर दाहिनी एवं बायी ओर खटिकाद्रव—गेरू या खलीसे यूप-मुशल चित्रित किये जानेका उल्लेख है।

भाई-बान्धव अपने घरोको वन्दनमालाओंसे सजाते है। विविध प्रकारके वाद्य बजाये जाते है। स्त्रियाँ अक्षतपूर्ण पात्र लेकर बधाई देने आती है। सधवा स्त्रियाँ नृत्य-गान करती हैं और जिन्हें पुत्रलाभ हुआ है, वे गृहपति उन्हें गुड-घी देकर विदा करते हैं। स्त्रियोंके भालपर कुंकुम और मुखपर हरिद्राचूर्ण लगाया जाता है। उपाध्याय सूत-मातृका पाठ करते हुए आते है। उपाध्यायोको वस्त्र-ताम्बूल दानसे सत्कृत किया जाता है और बालकोंको गुडपिण्ड बाँटे जाते हैं। जन्मसे तीसरे दिन बालकको सूर्य-चन्द्रमाका दर्शन कराया जाता है। जन्मके दिन ही ज्योतिषी जन्मकुण्डलीका निर्माण करते हैं। इस सन्दर्भमे अभिभावकोको हर्षसूचक समाचार देनेकी विभिन्न मुद्राएँ और

---

[1] नृत्यन्त्यविधवा नार्या गीत गायन्ति गायका ।
आयान्त्यक्षतपात्राणि गुडसर्पिश्च दीयते ॥—अभयकुमारचरित १।३९७ ।
पिञ्जर्यन्ते मुखान्युच्चगौर्धशालीनि सुभ्रुवाम् ।
कुङ्कुमस्तवका भाले क्रियन्ते रागमूर्तय ॥ वही, १।३९८ ।
उपाध्याया वृत्ताश्चेते पठद्भि सूतमातृकाम् ।
गृहमायान्ति कि बालात्सद्बुद्धिमुपजावितुम् ॥—वही, १।३९९ ।
उपाध्याया प्रपूज्यन्ते वस्त्रताम्बूलदानत । -वही, १।४०० ।
तृतीये दिवसे चन्द्रसूर्यौ बालस्य दर्शितौ ॥—वही १।४०१ ।

भाव भंगिमाएँ भी वर्णित हैं। यह भावावलि पुत्र और पुत्रीके जन्मकी पृथक् सूचना देती है।

जन्मके छठे दिन[1] षष्ठी जागरणोत्सव धूमधामसे सम्पन्न होता है। इस दिन मांगलिक दीपोंकी ज्योति रातभर प्रज्वलित रहती है और जागरण किया जाता है।

दसवें दिन सूतक-शुद्धि की जाती है। बारहवें दिन सम्पूर्ण बान्धवोंको निमन्त्रण कर भोज दिया जाता है। इसी दिन बालकका नामकरण संस्कार भी सम्पन्न किया जाता है।[2]

पार्श्वनाथचरितमें नामकर्म संस्कारका वर्णन करते हुए लिखा है—

> शुभदिनसमवाये लग्नशुद्धावमात्यै-
> रधिगतनयमार्गैर्वर्षवृद्धैश्च सार्धम्।
> अभिमतमतिसृज्य प्रीणयत्प्राणिवर्गं,
> तनयमकृत नाम्ना वज्रनाभं स भूपः॥ पार्श्व० ४।१४०

अनन्तर शुभ दिन, शुभ मुहूर्तमें नीतिशास्त्रके वेत्ता वृद्धमन्त्रियोंके साथ महाराजने अपने उस प्रिय पुत्रका नाम वज्रनाभ रखा।

पुत्रोत्पत्तिके सुखद समाचारको सुनकर महाराज वज्रवीर्यने याचकोंको यथेष्ट धन दिया। प्रसन्नता सूचक समाचार सुनानेवाली दासीको महाराजने बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण प्रदान कर सन्तुष्ट किया। इसके अतिरिक्त पुत्रप्राप्तिके उपलक्ष्यमें महाराजने दीन-दुःखियोंको धन वितरित किया, ब्राह्मणोंको इच्छानुसार धन दिया और वन्दियोंको वन्दीगृहसे मुक्त किया गया।

राजपुत्रकी उत्पत्तिका समाचार समस्त नगरमें विद्युत्के प्रकाशके समान व्याप्त हो गया। नगरवासी इस आनन्दमय समाचारको सुनते ही उत्सवकी तैयारी करने लगे। उन्होंने अपने विशाल उत्तुंग गृह-शिखरोंपर ध्वजाएं फहरायीं। वे पवनसे काँपती हुई, स्वर्गलक्ष्मीको आमन्त्रित कर रही थीं। रंगीन दण्डोंसे भेरीनाद किया जाने लगा। नारियाँ कुंकुममिश्रित जलसे होलिकोत्सव सम्पन्न करने लगीं। अनेक यन्त्रोंसे फेंके गये जवाकुसुमके समान लोहित कुंकुमजलसे व्याप्त आकाश उस समय असमयमें सन्ध्याकालीन मेघका भ्रम उत्पन्न कर रहा था। कुंकुममिश्रित जलसे भींगी हुई स्त्रियाँ हर्षविभोर हो नृत्य कर रही थीं। वृद्धाएँ नाना प्रकारके हाव-भावोंका प्रदर्शन करती हुई नृत्य कर रही थीं। वेणुवादन और मृदंगवादनके साथ मनोरम गीत ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। कस्तूरी, केसर एवं चन्दन द्रवसे नगरके समस्त मार्गोंको सुगन्धित किया गया था। प्रौढ़ाएँ नर्मगीत गा रही थीं, अश्लीलता भी उस समय सुहावनी प्रतीत हो

---

[1] षष्ठेऽह्नि स्वजनास्तस्य धर्मजागरिकां व्यधुः।—वही १।४०२।

[2] दशमाहे पुनस्तेऽमी चक्रुः सूतकशोधनम्।
द्वादशे वासरे सर्वान् मेलयित्वा स्वबान्धवान्॥ अभयकुमारचरित १।४०१-४१०।

रही थी। विलास और वैभवका प्रदर्शन सर्वत्र हो रहा था।[1] इस प्रकार जन्मकालीन उत्सवका क्रम कई दिनोंतक चलता रहता था।

द्विसन्धानकाव्यमें 'पुरोहितावर्तितजातकर्मा नीरञ्जितं रत्नमिवाकरस्थम्' (द्विसन्धान ३।१९) में पुरोहित द्वारा जातकर्म किये जानेका निरूपण पाया जाता है। इन संस्कारोंसे व्यक्तित्वका निर्माण होनेका समर्थन किया गया है।

वासुपूज्यचरितमें पुत्र-जन्मोत्सवका विवेचन करते हुए लिखा है कि स्त्रियाँ बालकके नालको चार अंगुल ऊपरसे काटकर उसे भूमिमें गाड़ देती थी। बालकके गलेमें रक्षापोटली बाँधी जाती थी। सूतिकागृहमें रत्नदीपक जलते थे। स्त्रियाँ प्रफुल्लित हो नृत्य करती थी। मण्डली बनाकर रासक नृत्य करती थी। उपाध्याय और विद्यार्थी मंगलपाठ करते हुए राजा-महाराजाओंके द्वारपर जाते थे और पुरस्कार प्राप्त करते थे। छट्ठीके दिन स्त्रियाँ रात्रि-जागरण करती और मंगलगीत गाती थीं। ग्यारहवें दिन स्नान संस्कार और बारहवें दिन नामकरण सम्पन्न होता था।[2]

महाकवि असगने जन्मसे दसवें दिन नामकरण संस्कार किये जानेका निर्देश किया है। उन्होने लिखा है—

> स्वकुलोचितां जिनपतेर्महिमां महतीं विधाय विधिना नृपतिः।
> अकरोत्त्रिपृष्ट इति नाम मुदा तनयस्य तस्य दशमे दिवसे॥
>
> —वर्धमान० ५।६२

राजाने अपने कुलके योग्य जिनेन्द्रदेवकी महती पूजाविधिको सम्पन्न करके दसवें दिन हर्षसे पुत्रका नाम त्रिपृष्ट रखा।

चन्द्रप्रभचरितमें महाकवि वीरनन्दीने नामकरण संस्कारके समय स्वर्णपुष्पोंसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेका निर्देश किया है। महाराज श्रीषेणने वृद्धपुरुषोके साथ भगवान्‌की पूजा सम्पन्न करके अपने पुत्रका नाम श्रीवर्मा रखा।

> सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य पुष्पैः कल्याणेऽहनि सहितेन वंशवृद्धैः।
> श्रीवर्मेत्यवनिभुजाथ तस्य नाम श्रीशब्दानुगतमकारि मङ्गलाय॥
>
> —चन्द्र० ४।७५

इस प्रकार नामकरण संस्कारके सम्बन्धमें संस्कृत जैन काव्योमें पर्याप्त सामग्री वर्तमान है।

बालकके संस्कारोंका निर्माण

संस्कृत जैन काव्योंमें बालकके संस्कार निर्माणपर बहुत बल दिया है। जिन काव्योंकी कथावस्तु किसी तीर्थंकर के जीवनवृत्तसे सम्बद्ध हैं, उन काव्योमें आया है कि

---

[1] पार्श्वनाथचरित ४।१२६-१३६।

[2] वासुपूज्यचरित, भावनगर, वि० सं० १९७३, तृतीय सर्ग।

जब कोई तीर्थंकर गर्भमें आता है, तो माताकी सेवा देवांगनाएँ करती हैं। वे नाना प्रकारके प्रश्नोत्तर भी मातासे करती हैं। इन प्रश्नोत्तरोंका विषय प्रायः आचारमूलक या दार्शनिक होता है। प्रश्नोत्तरकी यह प्रणाली गर्भस्थ बालकके ऊपर उत्तम संस्कार अंकित करनेके लिए ही होती है। माताके चित्तको वे देवियाँ चर्चा-वार्ता, हास्य-विनोद एवं कर्माख्यानों द्वारा प्रसन्न और निर्मल बनानेका प्रयास करती हैं। इस प्रकार गर्भकालसे ही बालकके धार्मिक संस्कार अंकित हो जाते है। यों तो तीर्थंकरके प्रभावसे गर्भस्थितिमें माताको किसी प्रकारका कष्ट नही होता, उसका शरीर और अधिक दीप्त होने लगता है, तो भी देवियों द्वारा सेवाकार्य सम्पन्न होना और प्रश्नोत्तर करना बालकके संस्कार निर्माणका समाजशास्त्रीय पहलू है। कवि हरिचन्द्रने तीर्थंकरके गर्भमें आनेकी स्थितिका चित्रण करते हुए लिखा है—

गर्भे वसन्नपि मलैरकलङ्किताङ्गो
ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैकगुरुर्बभार ।
तुङ्गोदयाद्रिगहनान्तरितोऽपि धाम
किं नाम मुञ्चति कदाचन तिग्मरश्मिः ॥ धर्म० ६।९

अर्थात्—गर्भमें रहनेपर भी जिनका शरीर मलसे कलंकित नही है, ऐसे वह त्रिभुवन गुरु मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानसे युक्त थे। सूर्य उत्तुग उदयाचलके वनमें छिपा रहकर भी क्या कभी अपना तेज छोड़ता है।

जन्मके अनन्तर संस्कारोंको पुष्ट करनेके लिए देव-बालक तीर्थंकरकी शैशवक्रीड़ामें साथ देते हैं। इन्द्र प्रत्येक आवश्यकताकी पूर्तिके लिए स्वयं ही प्रस्तुत रहता है। इस पौराणिक मान्यताका उद्घाटन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि और आचार्योंका सामाजिक दृष्टिकोण बालकके संस्कार निर्माणका ही है। शैशवकालमें बच्चेके ऊपर जो संस्कार पड़ते है उनसे ही भावी जीवनका निर्माण होता है। ध्यान देनेकी बात है कि तीर्थंकर जैसे प्रभावशाली और प्रतापी बालकके संस्कार निर्माणके लिए जब इतनी सतर्कता अपनानी पड़ती है, तो फिर साधारण व्यक्तिके लिए संस्कार निर्माणकी कितनी अधिक आवश्यकता है? जैन काव्योंमें बचपनके संस्कारोंका बहुत अधिक महत्त्व वर्णित है।

बालक्रीड़ा तत्त्व

क्रीड़ा मानव सुलभ सहजवृत्ति है। बाल्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्थातक यह विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त होती है। आनन्द, उद्दीपन, उत्तेजना और मनोरंजन प्रभृति इसकी क्रियाओंकी विशेषताएँ हैं। खेलकूदमें बालक सबसे अधिक तन्मय और निश्चिन्त होते हैं। उनके व्यक्तित्वका पूर्ण विकास खेल-कूद या मनोरंजन द्वारा ही होता है। क्रीड़ा द्वारा अनुशासन और नियमपालनके प्रति सम्मानकी भावना उत्पन्न की जाती है। यह कहना अधिक उपयुक्त है कि क्रीड़ा जीवनके लिए तैयारी ही नहीं, उत्कृष्ट

जीवनकी तैयारी है। व्यक्तित्वका स्वाभाविक विकास खेल-कूदोंसे होता है। सामाजिकताका विकास भी क्रीडा या खेल-कूदोंसे होता है। यतः खेलना अकेले सम्भव नहीं है, इसके लिए कुछ समूहकी आवश्यकता होती है। अतएव समूहके बीच रहना, अन्य व्यक्तियोंका सहयोग प्राप्त करना तथा स्वयं भी दूसरोका सहयोगी बनना क्रीड़ाओंसे बालक सीखता है। स्वास्थ्य, कार्यकुशलता और सामाजिक व्यवहारका ज्ञान बच्चोंको खेलकूदसे ही प्राप्त होता है। शैशव और किशोरावस्थातक मनुष्य अधिक समय खेलने-कूदने या अन्य मनोरंजनोंके कार्योंमें व्यतीत करता है। युवावस्थामें क्रीड़ाकी प्रवृत्ति परिवर्तित हो जाती है। समय क्रमानुसार अर्थार्जनके पश्चात् अवशिष्ट समयमेंसे कुछ ही समय मनोरंजनके लिए व्यतीत किया जाता है।

संस्कृत जैन काव्योंमें वर्णित राजकुमार व्यक्तित्व विकास एवं सामाजिकता उत्पन्न करनेके लिए शैशवकालसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाकर या प्रकृतिके रम्यस्थलोंमें विचरणकर अपना मनोरंजन करते हुए दिखलाई पड़ते है। अभयकुमारचरितमें बताया गया है कि अभयकुमार क्राटी, कन्दुकसारी, घुड़सवारी, एकपादिका, गोलिका, भ्रमरक (लट्टू) और कोड़ियोंके खेल खेलता है। इन[1] खेलोंमें उसके अनेक साथी भी सम्मिलित रहते है।

धर्मशर्माभ्युदयमें बताया है कि धर्मनाथ अकेले नही खेलते थे; शैशवमें लड़खड़ाकर गिरना, पश्चात् सँभलकर चलना, माता-पिताकी गोदमे[2] पहुँचकर लीलापूर्ण गति[3] करना, मुसकराना और अपने वचनोंसे उन्हें सुख पहुँचाना आदि क्रीड़ा धर्मनाथने सम्पन्न की है। धर्मनाथकी क्रीड़ाएँ यद्यपि साधारण बालकोके समान ही थी पर उन क्रीडाओंसे वैशिष्टच प्रकट हो जाता था। कविने धूलि समूहमें खेलनेको क्रीडाका वर्णन करते हुए लिखा है—

> चित्रं प्रचिक्रीड यथा यथा करप्रकीर्णपांसुप्रकरैः कुमारकैः।
> आदर्शवन्निर्मल एव सोऽभवत्तथा तथान्तःफलितावनीत्रयः॥
>
> —धर्म० ९।१२

जिनकी अन्तरात्मामें तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, ऐसे जिन बालक अपने हाथों द्वारा धूलि समूहको बिखेरनेवाले अन्य बालकोके साथ ज्यों-ज्यों क्रीड़ा करते थे, त्यों-त्यो दर्पणकी तरह वे निर्मल ही होते जाते थे—यह एक आश्चर्यकी बात थी।

युवावस्थामे किये गये वनविहार, जलक्रीड़ा, पुष्पावचय प्रभृति भी क्रीड़ाविनोद ही है। इन क्रीड़ाओका मध्यकालमें महत्त्वपूर्ण स्थान था।

---

[1] अभयकुमारचरित १।४३३-४३५।
[2] धर्मशर्माभ्युदय ६।४।
[3] वही, ६।६-११।

उपनयन और विद्यारम्भ

उपनयन संस्कार चौलकर्मके अनन्तर ही सम्पादित होता था। पार्श्वनाथचरितमें बताया है—'जब बालकका चौलकर्म (मुण्डन) संस्कार सम्पन्न हो गया,[1] तो उसके पिताने उसे विद्याध्ययनके लिए गुरुके पास भेजा।' इस कथनसे स्पष्ट है कि विद्यारम्भके पूर्व शरीर सौन्दर्यके लिए चौल संस्कार सम्पन्न होता था। पूजापाठ नामकरणके समान ही सम्पन्न किया जाता था। उपनयनके स्पष्ट उल्लेख नही मिलते हैं। वर्धमानचरितमें महाकवि असगने अश्वग्रीवके यज्ञोपवीत धारण करनेके उपरान्त ही, विद्यासिद्धिका उल्लेख किया हैं। कविने लिखा है—

अन्येद्युरादाय सिताक्षसूत्रं पर्यङ्कमास्थाय गुहोदरस्थः।
ध्यानं न यावद्विततान सम्यक् विद्यागणस्तावदभूत्तदग्रे ॥ वर्धमान ५।२७

महाकवि धनंजयने चूड़ाकरण संस्कारके बाद उपनयन संस्कारका विधान किया है और उपनयनके अनन्तर ही शिक्षा आरम्भ करनेका विधान बताया है। शिक्षार्थी सोलह वर्षकी अवस्था पर्यन्त गुरु एवं वृद्धजनोंकी सेवा करता हुआ ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन करता था (द्विसन्धान ३।२४)।

शिक्षा

शिक्षा समुदाय या व्यक्तियों द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है, जो समाजको उसके द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओंकी ओर अग्रसर करती है। सांस्कृतिक विरासत और जीवनके ज्ञानका अर्जन ही शिक्षा है। शिक्षामें साहित्य और विज्ञान दोनोंकी जानकारी सम्मिलित है। अच्छी शिक्षा व्यक्तिको केवल अनुभव करना और सोचना ही नही सिखलाती, बल्कि उसे विशेषकार्य करनेको प्रेरणा भी देती है। कवि वादीभसिंहने विद्याको शिक्षाका पर्यायवाची स्वीकार कर बताया है—'अनवद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयफलावहा' (क्षत्रचूड़ामणि ३।४५)—निर्दोष—अच्छी तरह परिश्रमपूर्वक अभ्यस्त विद्या ही ऐहिक और पारलौकिक कार्योंको सफल करती है। आशय यह है कि जिस ज्ञानसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास होता है, वही यथार्थमें ज्ञान माना जाता है। मानवजीवनका वास्तविक ध्येय सर्वांगीण विकास करना है। अतः शिक्षा वह है, जिसके सतत अभ्याससे लौकिक अभ्युदयोंकी प्राप्तिके साथ पारलौकिक—आत्मानुभूति द्वारा मृत्युके अनन्तर भी आत्मा सुख-शान्तिको प्राप्त कर सके।

शिक्षा आरम्भ करनेकी आयु

कवि वादीभसिंहने विद्यारम्भ करनेकी आयु पाँच वर्ष बतायी है। कुमार जीवन्धरका विद्यारम्भ पाँच वर्षकी अवस्थामें सम्पन्न हुआ था। विद्यारम्भ संस्कारका वर्णन करते हुए लिखा है—

---

[1] पार्श्वनाथचरित, मा० दि० जैन ग्रं०, बम्बई, ५।४।

निष्प्रत्यूहेष्ट सिद्ध्यर्थं सिद्ध-पूजादिपूर्वकम् ।
सिद्धमातृकया सिद्धा-मथ लेभे सरस्वतीम् ॥ क्षत्र० १।११२

अनन्तर निर्विघ्न विद्याप्राप्तिके हेतु सिद्धपूजन, हवन और दानादिको सम्पन्न कर सिद्धमातका—अ, इ, उ, ऋ, क, ख आदि वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) को सीखना आरम्भ किया।

पार्श्वनाथचरितमें भी कुमार रश्मिवेगका शिक्षारम्भ पाँच वर्षकी अवस्थामें ही हुआ है। शिक्षारम्भ वर्णमाला (सिद्धमातृका) से होता है। कुमार रश्मिवेग अकेला अध्ययन नही करता है, वह समवयस्क बालकोंके साथ ही शिक्षकसे पढता हुआ दृष्टिगोचर होता है। कवि इसी तथ्यको व्यंजना करता हुआ कहता है—

समं वयस्यैर्विनयेनतत्परो गुरूपदेशोपनतासु बुद्धिमान् ।
विभज्य विद्यासु स लब्धशिक्षत स्वयं हि भव्यस्य गुणाः पुरस्सराः ॥
—पार्श्व० च० ४।२८

वर्णसमाम्नायके सीख लेनेके पश्चात् रश्मिवेग समान आयुवाले बालकोके साथ-साथ विनयपूर्वक अध्ययन करने लगा। वह अपनी कुशाग्रबुद्धिके कारण समस्त विद्याओंमे शीघ्र ही पारंगत हो गया। भव्य—प्रतिभाशाली भविष्णु व्यक्तिमे गुण स्वयं ही आकर प्रविष्ट हो जाते हैं।

कवि वादीभसिंहके उल्लेखोसे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिक्षाका आरम्भ अपने घरपर या गुरुके स्थानपर होता था। वर्णज्ञान, गणितज्ञान और लिपिज्ञानतक छात्र किसी सुयोग्य गुरुसे एकाकी ही शिक्षा प्राप्त करता था। जब आरम्भिक शिक्षा घरपर ही समाप्त हो जाती थी, तब वह किसी विद्यालय या गुरुकुलमे निवासकर ज्ञानकी विभिन्न शाखाओको जानकारी प्राप्त करता था।[1] पार्श्वनाथचरितके पूर्वोक्त सन्दर्भसे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि हो जाती है। रश्मिवेग वर्णमाला और आरम्भिक गणित आदिकी शिक्षा एकाकी ही प्राप्त करता। आरम्भिक शिक्षा समाप्त कर वह समवयस्कोके साथ अध्ययन करता है, इससे यह ध्वनित होता है कि विद्यालयीय शिक्षा आवश्यक ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् ही आरम्भ होती थी।

शिष्यकी योग्यता और गुण

शिक्षार्थीके गुण और योग्यताका निर्देश क्षत्रचूड़ामणिमें पाया जाता है। कवि वादीभसिंहने लिखा है—

---

[1] अथ विद्यागृहं किंचिदासाद्य सखिमण्डितः ।
पण्डितान्विश्वविद्याया—मध्यगीष्टातिपण्डितः ॥ क्षत्र० २।१
जीवन्धरने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्तिके अनन्तर मित्रोंके साथ किसी पाठशालामें प्रविष्ट होकर सर्वविद्याविशारद आर्यनन्दी गुरुसे अध्ययन आरम्भ किया।

गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः ।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥ क्षत्र० २।२१

गुरुभक्त, संसारसे अनासक्त—इन्द्रियजयी, विनयी, धर्मात्मा, प्रतिभाशाली, कुशाग्रबुद्धि, शान्तपरिणामी, आलस्यरहित और सभ्य व्यक्ति ही उत्तम शिक्षार्थी होता है।

गुरुभक्तिको विद्यार्जनमें आवश्यक कारण माना है। जो शिष्य अपने गुरुकी सेवा-शुश्रूषा, विनय, भक्ति और उनकी आज्ञाका पालन करता है, वह सभी प्रकार की विद्याओंको प्राप्तकर लेता है।

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै, क्षुद्रं किंवा न साधयेत् ।
त्रिलोकीमूल्यरत्नं न, दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥ क्षत्र० २।३२

जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नसे भूसेका ढेर खरीदना साधारणसी बात है, उसी प्रकार निष्कपटभावसे सम्पन्न की गयी गुरुभक्तिसे भी जब परम्परया मुक्तितक प्राप्त हो सकती है, तो अन्य लौकिक कार्योंकी पूर्ति होना तो तुच्छ बात है।[1] अभिप्राय यह है कि गुरुभक्तिसे शिक्षाकी प्राप्ति बड़ी सरलतासे होती है।

जो शिष्य गुरुओंका उपकार न मान उनसे द्रोह करता है, उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार जड़के बिना वृक्ष आदि की सत्ता नहीं रह सकती है, उसी प्रकार उपकार, स्मृति, विनय और गुरुसेवाके बिना विद्यारूपी वृक्ष भी नहीं ठहर सकता है। गुरुद्रोह करना या गुरुका अपमान करना शिक्षार्थीके लिए अत्यन्त अनुचित है।

गुरुविनयके समान ही शिक्षार्थीको शिक्षाकालमें जितेन्द्रिय और संसारके विषयोंकी आसक्तिको छोड़कर शिक्षा सम्पादन करना चाहिए। वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें वज्रनाभके विद्याध्ययनका निर्देश करते हुए बताया है कि उसने अपने इन्द्रियरूपी उन्मत्त हस्तियोंको निरंकुश नहीं होने दिया। पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी ओर जाती हुई शक्तिको उसने अपनी शिक्षासाधनामें लगाया।[2] सभी प्रकारकी प्रवृत्तियोंको रोककर एक ही लक्ष्यकी ओर केन्द्रित कर दिया। शिक्षाकालमें विविध प्रकारकी प्रवृत्तियाँ अत्यन्त बाधक होती हैं, अतः जो साधक बनकर साधना करता है, उसीको सरस्वतीकी उपलब्धि होती है। बहुमुखी प्रवृत्ति शिक्षा ग्रहण करनेमें अत्यन्त बाधक है। अतएव शिक्षार्थीमें गुरुसेवा, विनय, ब्रह्मचर्य, एकाग्रता, निरलसता एवं परिश्रम इन गुणोंका होना परम आवश्यक है।

---

[1] गुरुद्रुहां गुण को वा, कृतघ्नाना न नश्यति ।
विद्यापि विद्युदाभा स्याद्‍मूलस्य कुतः स्थिति ॥ क्षत्र० २।३३ ॥

[2] प्रतिबोधकचित्तदर्पमङ्के, बलिता तेन कृते मदोदयेऽपि ।
विषया विजगाहिरे हृषीक-द्विपनादैर्न यथामतं तदीयैः ॥—पार्श्व०, बम्बई, ६।१।

गुरु या शिक्षककी योग्यता

शिक्षार्थीमें गुणोंका होना जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार शिक्षकमें वैदुष्य, सहानुभूति आदि गुणोंका रहना आवश्यक है। कवि वादीभसिंहने शिक्षककी योग्यतापर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि, भवाब्धेस्तारको गुरुः॥ क्षत्र० २।३०

रत्नत्रयधारक—श्रद्धावान्, ज्ञानी और चारित्रवान्, सज्जन, शिष्यसे स्नेह करनेवाला, परोपकारी, धर्मरक्षक और जगतारक गुरु—शिक्षक होता है। कवि वादीभसिंहने शिक्षकको विषयका पण्डित होनेके साथ चारित्रगुणसे विभूषित माना है। जिसका चरित्र निर्मल नहीं, वह क्या शिक्षा देगा? ज्ञानी होनेके समान ही चरित्रनिष्ठ होना भी शिक्षकके लिए आवश्यक है। शिष्यसे प्रेम करना, उसको उन्नतिकी इच्छा करना, अच्छे संस्कार उसके ऊपर डालना, उसकी बौद्धिक-आत्मिक उन्नतिके लिए प्रयत्नशील रहना तथा सभी प्रकारसे सावधानीपूर्वक विकास करना शिक्षकके कर्तव्योंमे परिगणित है।

संस्कृत जैन काव्योंमे प्रयुक्त पात्रोंके शिक्षक निर्लोभी, नि.स्वार्थी और कर्तव्य-परायण परिलक्षित होते हैं। आर्यनन्दी जीवन्धरकुमारको जो अपना इतिवृत्त सुनाते हैं और उसे ज्ञानी तथा विद्वान् बनानेके अतिरिक्त खोये हुए पिताके राज्यको पुनः हस्तगत करने की विधि भी समझाते हैं। इतना ही नही कर्तव्य और अधिकारोंका उद्बोधन करते हुए उसे समयकी प्रतीक्षा करनेका आदेश देते हैं।

गुरु—शिक्षकके गुणोके सम्बन्धमे शान्तिनाथचरितमें आता है—'अशेषशास्त्रागमतत्त्वदर्शिनां' (शान्ति० १।१२९) समस्त शास्त्र, आगम, पुराण और इतिहास आदिकी जानकारी गुरुके लिए आवश्यक है।

शिक्षक दो प्रकारके होते थे—सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ। सग्रन्थसे तात्पर्य उन शिक्षकोंसे है, जो कषायवस्त्र धारण करते थे और वेद-वेदागके निष्णात विद्वान् थे। गृहस्थीमें निवास करते थे, जिनकी आजीविका छात्रो द्वारा दी गयी दक्षिणा अथवा राजाओ द्वारा दिये गये वेतनसे सम्पादित होती थी। इस प्रकारके शिक्षक सपरिवार रहते थे, इनके पुत्र-पुत्री एवं पौत्रादिक भी साथमे निवास करते थे। ज्ञानी, चरित्रनिष्ठ होने के साथ छात्रोंकी उन्नतिकी कामना करना तथा उन्हें योग्य विद्वान् बनाना उनका लक्ष्य था। शान्तिनाथचरितमें निबद्ध सत्यकि अध्यापकका आख्यान इस बातपर प्रकाश डालता है कि गुरुका दायित्व शिष्यका सर्वांगीण विकास करना था। शिष्य भी प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा गुरुकी सेवा कर अपने भीतर ज्ञान और चरित्रका विकास करता है।[1] निर्ग्रन्थ गुरु आरम्भ-परिग्रहसे रहित होकर किसी चैत्य या वनमें निवास करते थे,

---

[1] शान्तिनाथचरित, १।१११-१६०।

कुछ शिष्य इनके पास रहकर तत्त्वज्ञान और आगमोंका अध्ययन करते थे। अध्यापनके बदलेमें ये किसीसे कुछ भी नही लेते थे।

शिक्षा-संस्थाओंके भेद

हमें काव्योंमें तीन प्रकारकी शिक्षा-संस्थाओंका निर्देश मिलता है। प्रथम प्रकारकी वे संस्थाएँ थीं, जो तापसियोंके आश्रममे गुरुकुलके रूपमें वर्तमान थी। इस प्रकारकी शिक्षा-संस्थाओमें प्राय. ऋषिकुमार ही अध्ययन करते थे। अन्य नागरिक छात्र कम ही अध्ययनके लिए पहुँचते थे। युवक तपस्वी भी अध्ययनकर अपने ज्ञानकी वृद्धि करते थे। साधनाकर आत्मशोधन करना ही इस प्रकारकी शिक्षा-संस्थाओंका उद्देश्य था। कमठ जिस आश्रममें पहुँचा था, वह भी इस प्रकारका शिक्षा-संस्थान था। प्रधान ज्ञानी तपस्वी उस आश्रमका कुलपति होता था। अध्ययन करनेपर भी यह पता नही चलता है कि इस प्रकारके गुरुकुलोंमें कितने अध्यापक होते थे और कितने विषयोका अध्यापन किया जाता था।[1]

दूसरे प्रकारकी वे शिक्षा-संस्थाएँ है, जो पाठशालाके रूपमें चलती थीं, जिनमें एकसे अधिक अध्यापक नही होते थे। प्रत्येक पाठशालामें एक ही अध्यापक रहता था। वह सामान्यरूपसे लिपिज्ञान, गणितज्ञान एवं भाषा आदिका बोध कराता था।[2] कोई-कोई शिक्षक अन्य विषयोंका ज्ञान भी कराता था।

तीसरे प्रकारकी वे शिक्षा-संस्थाएँ थी, जिनका रूप आजकलके कॉलेजोंके समान था; जिनमें प्रत्येक विषयके लिए पृथक् अध्यापक रहते थे। इस प्रकारकी शिक्षा-संस्थाएँ किसी महान् विद्वान् द्वारा संचालित होती थी। शान्तिनाथचरितमें वर्णित कपिल जिस सत्यकिके विद्यालयमें पहुँचा था, उसमे कई अध्यापक थे और अनेक विषयोंका अध्यापन होता था। कवि कहता है—

> अवापदध्यापकधुर्यसत्यकेर्मठं पठच्छात्रकुलैः समाकुलम् ।
> अलब्धमध्यं जलराशिवज्जडैः सरस्वती सन्तति शालिभिर्वृतम् ॥शा० १।१११
> ....
>
> कदाचिदध्यापकजीवितेश्वरा प्रतीतिमाशा किल जम्बुकाख्या ।
> रस. पतिं प्राह विचारचातुरी विरञ्चिकन्याकमनीयकान्तिभृत् ॥ वही, १।११०

सत्यकिके मठ—विद्यालयमें अनेक छात्र और कई अध्यापक रहते थे। सत्यकि कुलपति था और जम्बुक नामका शिक्षक उस संस्थाका प्राचार्य था। 'अध्यापक-जीवितेश्वरा' पद जम्बुकको प्राचार्य ध्वनित करता है। जम्बुक प्राचार्य होने के कारण ही सत्यकिके अधिक निकट था। इसी कारण उसका साहस कपिलके साथ कुलपतिकी पुत्री सत्यभामाका विवाह कर देनेका हुआ। यथा—

---

[1] पार्श्वनाथचरित द्वितीय सर्ग—वादिराज।

[2] क्षत्रचूडामणि २।१।

विचार्य चाध्यापक एव जम्बुका वचो मनोहारि तदामयतौ हितम् ।
व्यवाहयत्तां कपिलेन कन्यकां महोत्सवात् कोविदवर्णनातिगात् ॥ शा० १।१२६

कपिलकी अध्यापनशैली, विषयका पाण्डित्य, ज्योतिष, निमित्त आदिका परिज्ञान समस्त व्यक्तियोंको आश्चर्यचकित कर रहा था। इस सन्दर्भमें आया हुआ 'न कैर्जनैः'[१] पद विचारणीय है, क्योंकि कपिलकी परीक्षा, पाठनशैली, ग्रहातिचारादि ज्ञान छात्रों और शिक्षकोंमें से किसे मुग्ध नहीं कर रहा था। इससे वह संकेत सहजमें उपलब्ध होता है कि सत्यकिके विद्यालयमें अध्यापकोंकी संख्या अधिक थी।

क्षत्रचूड़ामणिसे यह भी ज्ञात होता है कि राजा-महाराजाओंके बालक अपने यहाँ ही गुणी शिक्षकको रखकर अध्ययन करते थे। हेमाभ नगरीके निकट दृढ़मित्र राजाके पुत्र सुमित आदिने जीवन्धरकुमारको धनुर्विद्याके लिए शिक्षक नियत किया था। राजाने जीवन्धरकुमारसे शिक्षकपद ग्रहण करनेकी प्रार्थना की थी।

सुतविद्यार्थमर्थ्यं पार्थिवस्तमयाचत ।
आराधनैकसम्पाद्या विद्या न ह्यन्यसाधना ॥ क्षत्र० ७।७४

गुरुकी सेवा-शुश्रूषासे ही विद्याकी प्राप्ति होती है, अन्य प्रकारसे नहीं। अतएव दृढ़मित्र राजाने अपने राजकुमारोंको शिक्षित बनानेके लिए विद्वान् जीवन्धरसे विनयपूर्वक प्रार्थना की।

जीवन्धरकुमारने भी निष्कपटभावसे राजकुमारोंको शिक्षा दी और राजकुमार भी विनयपूर्वक अध्ययन करते रहे। फलतः वे कुछ ही दिनोंमें गुरुके समान ही विद्वान् हो गये।

प्रश्रयेण बभूवुस्ते, प्रत्यक्षाचार्यरूपकाः ।
विनयः खलु विद्यानां दोग्ध्री सुरभिरंजसा ॥ क्षत्र० ७।७७

जिस प्रकार कामधेनु इच्छित मनोरथोंको पूर्ण करती है, उसी प्रकार गुरुकी सच्ची सेवा-शुश्रूषा और विनय करनेसे इच्छित विद्याकी प्राप्ति होती है। अतएव वे राजकुमार गुरु जीवन्धरकी सच्ची सेवा करनेसे साक्षात् गुरुके समान हो गये।

उक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि शिक्षाके लिए घरपर शिक्षकको रखकर शिक्षा दिलाना, एक चौथी शिक्षा-संस्था जैसी ही वस्तु है। पर यह राजा-महाराजा या सेठ-साहूकारोंके यहाँ कुछ ही दिनोंतक रहती थी। शिक्षकसे मनमुटाव होनेपर या शिक्षाके समाप्त हो जानेपर अथवा किसी कारणसे शिक्षकके ही रुष्ट होकर चले जानेपर अध्ययनक्रम टूट जाता था।

सुयोग्य माता-पिता भी अपने बच्चोंको स्वयं शिक्षा देते थे। आदिदेव ऋषभने अपने पुत्र भरत, बाहुबली एवं कन्याओंको स्वयं ही उनको बुद्धि और प्रतिभाके अनुसार शिक्षा दी थी।

---

[१] तद्भुवां पाठनिमित्तकारणाद्ग्रहातिचारादिविबोधनादपि ।
नवीनजामातृतया च सत्यकेरपूजि भक्त्या कपिला न कैर्जनै ॥ —शान्तिनाथचरित १।१२७

पाठ्यक्रम और शिक्षाके विषय

काव्यग्रन्थोंमें पाठ्यग्रन्थोंके विषयमें एकरूपता नहीं मिलती है और न पात्रोंके अध्ययनका क्रम ही एकरूपमें उपलब्ध है। अतः शिक्षाके विषयोंपर क्रमबद्धरूपमें प्रकाश डालना कुछ कठिन-सा है। पार्श्वनाथचरितमें वज्रनाभकी शिक्षाका निर्देश करते हुए दो प्रकारकी शिक्षा बतलायी गयी है—शस्त्र और शास्त्र। शास्त्रविद्यामें सर्वप्रथम व्याकरणके अध्ययनका जिक्र किया है—'गुण और वृद्धि संख्यासे सहित, श्रेष्ठ सन्धिज्ञापक सूत्रोंसे ग्रथित और भाषाको सीखनेमें कारण व्याकरणका अध्ययन किया।'[1] शत्रुंजयकाव्यमें शास्त्रविद्याके अन्तर्गत वेद, वेदांग, कौटिल्यका अर्थशास्त्र एवं काव्य-कला आदिकी गणना की है।[2] इसी काव्यमें ऋषभदेव अपने पुत्र और पुत्रियोंको निम्नलिखित विषयोंकी शिक्षा देते हुए दृष्टिगोचर होते है।

> अध्यजीगपदीशोऽपि, भरतं ज्येष्ठनन्दनम्।
> द्वासप्ततिकलाकाण्डं, सोऽपि बन्धूनशिक्षयत् परान्॥ शत्रु० ३।१२९
> लक्षणानि गजाश्वस्त्रीपुंसामीशस्त्वपाठयत्।
> सुतं च बाहुबलिनं सुन्दरीं गणितं तथा॥ वही० ३।१३०
> अष्टादशलिपीर्नाथो, दर्शयामास पाणिना।
> अपसव्येन सब्राह्म्या ज्योतीरूपा जगद्धिता॥ वही, ३।१३१

७२ कलाओंकी शिक्षा भरतको प्राप्त हुई। गजलक्षण, अश्वलक्षण, स्त्रीलक्षण, पुरुषलक्षण आदिकी शिक्षा बाहुबलीको और गणित तथा अठारह प्रकारकी लिपियोंकी शिक्षा ब्राह्मीको प्राप्त हुई।

पद्मानन्दकाव्यमें भरतको बहत्तर कलाओंकी शिक्षा प्राप्त होनेका निर्देश है।[3] ये कलाएँ निम्न प्रकार है—

१. लेख—सुन्दर और स्पष्ट लिपि लिखना तथा स्पष्टरूपसे अपने भाव और विचारोंकी अभिव्यजना लेखन द्वारा करना।

२. रूप—चित्रकलाका ज्ञान—इस कलामें धूलिचित्र सादृश्यचित्र और रस-चित्र ये तीन प्रकारके चित्र आते है।

३. गणित—अंकगणित, बीजगणित और रेखागणितका ज्ञान।

४. नाट्य—नाटक लिखने और खेलनेकी कला। इस कलामें सुर-ताल आदिकी गतिके अनुसार अनेकविध नृत्यके प्रकार सिखलाये जाते हैं।

---

[1] गुणवरप्रतिपन्नसाधुसन्धि प्रथमोदीरितवृद्धिभावशुद्धम्।
प्रथतः पितुराज्ञयाध्यगीष्ट स्वसम व्याकरणं सकृत्तचौलः॥ पार्श्व० ५।४।

[2] वेदवेदाङ्गविज्ञानन् कौटिल्यकुशलां कलाम्।
सोऽर्च्यते कार्यतो लोकै' कन्दमूलफलाम्बुभुक्॥—शत्रु० १३।४५२।

[3] आदिमं द्व्यधिकसप्तति कला. ..पद्मानन्द, बड़ौदा, सन् १९३२ ई०, १०।७६।

५. गीत—किस समय कौन-सा स्वर आलापना चाहिए, अमुक स्वरको अमुक समयपर आलापनेसे क्या प्रभाव पड़ता है? इन समस्त विषयोंकी जानकारी परिगणित है।

६. वादित्र—संगीतके स्वरभेद और ताल आदिके अनुसार वाद्यकलाका परिज्ञान।

७. पुष्करगत—बाँसुरी और भेरी आदिके वादनकी कला।

८. स्वरगत—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषादका परिज्ञान।

९. समताल—वाद्योंके अनुसार हाथ या पैरोंकी गतिको साधना।

१०. द्यूत—जुवा खेलनेकी कला। प्राचीनकालमें जुवाको मनोविनोदका साधन माना गया है, अतः इसकी गणना कलाओंमें होती है।

११. जनवाद—मनुष्यके शरीर, रहन-सहन, बात-चीत, खान-पान आदिके द्वारा उसका परीक्षण करना कि यह किस प्रकृतिका है और किस पद या किस कार्यके लिए उपयुक्त है।

१२. प्रोक्षत्व—वाद्यविशेषकी कला।

१३. अर्थपद—अर्थशास्त्रकी जानकारी। इसके अन्तर्गत रत्नपरीक्षा और धातुवाद ये दोनों ही सम्मिलित हैं।

१४. दिव्यमृत्तिका—जलवाली मिट्टीका परीक्षण। किस स्थानमें जल है और किस स्थानमें नहीं, यह मिट्टीके परीक्षणसे अवगत कर लेना।

१५. अन्नविधि—भोजन निर्माण करनेकी कला, विविध प्रकारके खाद्योंको तैयार करना, इस कलाका उद्देश्य है।

१६. पानविधि—शरबत, पानक आदि विभिन्न प्रकारके पेय पदार्थ तैयार करनेकी कला।

१७. वस्त्रविधि—वस्त्र निर्माणकी कला।

१८. शयनविधि—शय्या निर्माण तथा शयन सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातोंकी जानकारी।

१९. आर्या—आर्या छन्दके विविध रूपोंकी जानकारी।

२०. प्रहेलिका—पहेली बूझनेकी योग्यता।

२१. मागधिका—मागधी भाषा और साहित्यकी जानकारी।

२२. गाथा—गाथा लिखना और समझना।

२३. श्लोक—श्लोक रचना करना और समझना।

२४. गन्धयुक्ति—इत्र, केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थोंकी पहचान और उनके गुण-दोषोंका परिज्ञान।

२५. मधु सिक्थ—मोम या आलता बनानेकी विधिकी जानकारी।

२६. आभरणविधि—आभूषण निर्माण और धारण करनेकी कला।

२७. तरुणपरिकर्म—अन्य व्यक्तियोंको प्रसन्न करनेकी कला।

२८. स्त्रीलक्षण—नारियोंकी जाति और उनके गुण-अवगुणोंकी पहचान।

२९. पुरुषलक्षण—पुरुषोंकी जाति और गुण-अवगुणोंकी पहचान।

३०. हयलक्षण—घोड़ोंकी परीक्षा तथा उनके शुभाशुभका परिज्ञान।

३१. गजलक्षण—हाथियोंकी जातियाँ तथा उनके शुभाशुभकी जानकारी।

३२. गोलक्षण—गायोंकी जानकारी।

३३. कुक्कुटलक्षण—मुर्गोंकी पहचान और उनके शुभाशुभ लक्षणोंका परिज्ञान।

३४. मेढ्लक्षण—मेढ़ेकी पहचान और शुभाशुभ लक्षणोंका परिज्ञान।

३५. चक्रवलक्षण—चक्रपरीक्षा और चक्रसम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३६. छत्रलक्षण—छत्रपरीक्षा और छत्रसम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३७. दण्डलक्षण—दण्डपरीक्षा और दण्डसम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३८. असिलक्षण—असिपरीक्षा और असिसम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान।

३९. मणिलक्षण—मणि, हीरा, रत्न, मुक्ता आदिकी परीक्षा।

४०. काकिणीलक्षण—सिक्कोंकी जानकारी।

४१. चर्मलक्षण—चर्मकी परीक्षा करानेकी जानकारी।

४२. चन्द्रचरित—चन्द्रमाकी गति, विमान एवं अन्य तद्विषयक जानकारी।

४३. सूर्यचरित—सूर्यकी गति, विमान एवं अन्य तद्विषयक जानकारी।

४४. राहुचरित—राहु ग्रहसम्बन्धी जानकारी।

४५. ग्रहचरित—अन्य समस्त ग्रहोंकी गति, आदिका ज्ञान।

४६. सौभाग्यकर—सौभाग्यसूचक लक्षणोंकी जानकारी।

४७. दौर्भाग्यकर—दुर्भाग्यसूचक चिह्नोंकी जानकारी।

४८. विद्यागत—शास्त्रज्ञान प्राप्त करना।

४९. मन्त्रगत—दैहिक, दैविक और भौतिक पदार्थोंको दूर करनेके लिए मन्त्र-विधिका परिज्ञान।

५०. रहस्यगत—जादू, टोने और टोटकोंका परिज्ञान।

५१. सम्भव—प्रसूति विज्ञान।

५२. चार—तेज गमन करनेकी कला।

५३. प्रतिचार—रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करनेकी कला।

५४. व्यूह—व्यूहरचना की कला। युद्ध करते समय सेनाको कई भागोंमें विभक्त कर दुर्लंघ्य भागमें स्थापित करनेकी कला।

५५. प्रतिव्यूह—शत्रुके द्वारा व्यूहरचना करनेपर उसके प्रत्युत्तरमें प्रतिव्यूह रचनेकी कला।

५६. स्कन्धावारनिवेशन—छावनियाँ बसानेकी कला। सेनाको रसद आदि भेजनेका प्रबन्ध कहाँ और कैसे करना चाहिए, आदिका परिज्ञान।

५७. नगरनिवेशन—नगर बसानेकी कला।

५८. स्कन्धवारमान—छावनीके प्रमाण—लम्बाई, चौड़ाई एवं अन्य विषयक मानकी जानकारी।

५९. नगरमान—नगरका प्रमाण जाननेकी कला।

६०. वास्तुमान—भवन, प्रासाद और गृहके प्रमाणको जाननेकी कला।

६१. वास्तुनिवेशन—भवन, प्रासाद और गृह बनानेकी कला।

६२. इष्वस्त्र—बाण प्रयोग करनेकी कला।

६३. त्सरुप्रवाद—असिशास्त्रका परिज्ञान।

६४. अश्वशिक्षा—अश्वको शिक्षा देनेकी कला—नाना प्रकारकी चालें सिखलाना।

६५. हस्तिशिक्षा—हाथीको शिक्षित करनेकी कला।

६६. धनुर्वेद—धनुर्विद्याकी जानकारी।

६७. हिरण्यवाद (हिरण्यपाक)—चाँदीके विविध प्रयोग और उसके रूपोंको जाननेकी कला, सुवर्णवाद (सुवर्णपाक)—सोनेके विविध प्रयोग और उसको जाननेकी कला; मणिवाद (मणिपाक)—मणिसम्बन्धी विविध प्रयोगोकी जानकारी एवं धातुवादका ज्ञान।

६८. बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, अस्थियुद्ध एवं युद्धातियुद्धकी कला।

६९. सूत्रखेल, नासिकाखेल, वृत्तखेल, धर्मखेल एवं धर्म आदिका कलात्मक परिज्ञान।

७०. पत्रच्छेद, कटकच्छेद एवं प्रतरच्छेदकी कला।

७१. सजीव और निर्जीव—मृत या मृततुल्य व्यक्तिको जीवित करनेकी कला तथा यन्त्र आदिके द्वारा मारण कलाका ज्ञान।

७२. शकुन्तरुत—पक्षियोंकी आवाज द्वारा शुभाशुभका परिज्ञान।

अठारह प्रकारकी लिपियोंकी शिक्षा भी पाठ्यक्रममें सम्मिलित है। इन लिपियोंके नाम निम्न प्रकार है—

(१) ब्राह्मी, (२) यवनालिका, (३) दोषोरिका, (४) खरोष्ट्रिका, (५) खरशाविका, (६) प्रहरातिगा, (७) उच्चतरिका, (८) अक्षरपृष्ठिका, (९) भोगवतिका, (१०) वेनतिका, (११) निह्नविका, (१२) अंकलिपि, (१३) गणितलिपि, (१४) गान्धर्वलिपि, (१५) आदर्शलिपि, (१६) माहेश्वरीलिपि, (१७) दामिलिपि और (१८) बोलिन्दिलिपि।

शास्त्र अध्ययनमें वेद-वेदांग, न्याय, सांख्यके साथ जैनवाङ्मयका अध्ययन भी लिया जाता था। पार्श्वनाथचरितमें बताया गया है कि भूताचलपर जो तापस आश्रम

था, उसमें वेद-वेदांगका अध्ययन कराया जाता था। 'द्विज छात्र जिस समय अपने वेदोंका अध्ययन समाप्त कर चुकते हैं, तो उन्हें वहाँके पिंजरोंमें बैठे हुए तोता और मैना उनकी बोलीका कर्णप्रिय मिष्ट भाषामें अनुवाद करते सुनायी पड़ते हैं।'[1] प्रद्युम्न-चरितके 'वेदविदः षडंगमन्त्रार्थं' (प्र० ९।२०३) से भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है।

'सुधीरधीयन् परमागम' (पार्श्व० ४।४०) द्वारा परमागम—द्वादशाङ्ग जैन वाङ्मयके अध्ययनपर प्रकाश पड़ता है। सामान्यतः शिक्षाका पाठ्यक्रम कला और विज्ञानमें परिसमाप्त था। "कलाकलापं सकलं समग्रहीत् कुशाग्रबुद्धिः कुशली स लीलया' (शान्तिनाथचरित ९।२५८) से भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है।

अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें बताया गया है[2] कि राजकुमारोंको (१) चक्र, (२) धनुष, (३) वज्र, (४) खड्ग, (५) क्षुरिका, (६) तोमर, (७) कुन्त, त्रिशूल, (८) शक्ति, (९) परशु, (१०) मक्षिका, (११) भल्लि, (१२) भिन्दिपाल, (१३) मुष्टि, (१४) लुण्ठि, (१५) शंख, (१६) पाश, (१७) पट्टिश, (१८) ऋष्टि, (१९) कणय, (२०) कम्पन, (२१) हल, (२२) मुसल, (२३) गुलिका, (२४) कर्तरि, (२५) करपत्र, (२६) तलवार, (२७) कुद्दाल, (२८) दुस्फोट, (२९) गोफणि, (३०) डाह, (३१) डच्चूस, (३२) मुद्गर, (३३) गदा, (३४) घन, (३५) करपत्र और (३६) कर-वालिका—भुजालीकी शिक्षा अपेक्षित थी।[3] राजकुमारोंको अश्व-संचालन, आगम, युद्धनीति एव राजनीतिकी शिक्षा आवश्यक थी। उनको साम, दाम, दण्ड, भेद, नीतिकी भी शिक्षा दी जाती थी। काव्योंके प्रायः समस्त राजपुत्र राजनीति और रणनीतिमें प्रवीण परिलक्षित होते हैं।

शिक्षाका वास्तविक लक्ष्य 'हेयोपादेयविज्ञान नोचेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ' (क्षत्रचूड़ामणि २।४४)—हेयोपादेयज्ञान—कर्तव्य-अकर्तव्यकी जानकारी प्राप्त करना है, यदि हेयोपादेय—हिताहितकारी वस्तुओंको ग्रहण करना और छोड़ना, यह ज्ञान प्राप्त न हुआ तो शिक्षा प्राप्त करनेमें किया गया परिश्रम व्यर्थ है। पाठ्यक्रममें अनेक विषयोंके रहनेपर भी व्याकरण ज्ञान आवश्यक माना गया है। कवि धनंजयने अपने द्विसन्धान काव्यमें लिखा है—

पदप्रयोगे निपुणं विना मे सन्धौ विसर्गे च कृतावधानम्।
सर्वेषु शास्त्रेषु जितश्रमं तच्चापेऽपि न व्याकरणं मुमोच ॥ द्वि० ३।३६

---

[1] द्विजैरहस्याध्ययनस्य पश्चादनन्तरं पञ्जरवासितानाम्।
यत्रानुवादः शुकसारिकाणामाकर्ण्यते कर्णरसायनश्री ॥ पार्श्व० २।७७

[2] पद्मानन्द ४।२२।

[3] अश्वशिक्षागमाभ्यासकुशलं तं महीपतिम्—वर्धमान कवि विरचित वरांगचरित, ५।८।

शब्द और धातुओंके प्रयोगमें निपुणता, सत्त्व-णत्वकरण, सन्धि तथा विसर्ग करनेमें न चूकनेवाले तथा समस्त शास्त्रोंके परिश्रमपूर्वक अध्येता व्यक्ति भी व्याकरणके अध्ययनके अभावमें विषय और भाषा दोनोंके ज्ञानसे शून्य होते हैं।

विद्या और विद्वान्‌की महिमा

जो विद्वान् है और जिसने शस्त्र एवं शास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है वह लोकद्वय पूज्य है। विद्याधन सर्वोत्तम है—

विद्या हि विद्यमाने यं वितीर्णापि प्रकृष्यते।
न कृष्यते च चौराद्यैः पुष्यत्येव मनीषितम्॥ क्षत्र० २।२५

विद्याधनका प्रभाव अचिन्त्य है। व्यय करनेपर भी इसकी वृद्धि ही होती है। चोर तथा बन्धु आदिके द्वारा यह धन छीना नही जा सकता और इच्छा पूर्ति करनेमें भी यह रामबाण है।

वैदुष्येण हि वंश्यत्वं वैभवं सदुपास्यता।
सदस्यता च मुक्तेन विद्वान्सर्वत्र पूज्यते॥ क्षत्र० २।२६

विद्वत्तासे मनुष्यको कुलीनता, धन-सम्पत्ति, मान्यता और सम्यक्त्व आदि ही प्राप्त नहीं होते; किन्तु सर्वत्र समादर प्राप्त होता है।

वैपश्चित्यं हि जीवानामाजीवितमभिनन्दितम्।
अपवर्गेऽपि मार्गोऽयमदः क्षीरमिवौषधम्॥ क्षत्र० २।२७

विद्वत्ता मनुष्यके लिए जीवन पर्यन्त प्रतिष्ठाजनक होती है और जिस प्रकार दूध पौष्टिक होनेके साथ-साथ औषधिरूप भी है, उसी प्रकार विद्वत्ता भी लौकिक प्रयोजन साधक होती हुई मोक्षका कारण बनती है।

नारी शिक्षा

पद्मानन्द काव्यमें वर्णित ऋषभदेव आख्यानमें बताया गया है कि पुत्रोंके समान ही ऋषभदेवने ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी अपनी कन्याओंको शिक्षा दी थी। क्षत्रचूडामणिमें आया है कि गुणमालाने जीवन्धरके पास प्रेमपत्र भेजा था तथा प्रत्युत्तर में जीवन्धरने भी प्रेमपत्र लिखा था, जिसे पढ़कर वह बहुत प्रसन्न हुई थी।[1] शान्तिनाथचरितमें वर्णित सत्यकिकी पुत्री सत्यभामा भी विदुषी है।[2] उसने अनेक शास्त्रोंका अध्ययन किया है। प्रत्येक तीर्थंकरकी माता देवियोंके प्रश्नोंका उत्तर देती है। समस्या-

---

[1] कुमुदे गुणमालापि, दृष्ट्वा पत्रेण पत्रिणम्।
स्वस्यैव सफली यत्न' प्रीतये हि विशेषतः॥ क्षत्र० ४।४३।

[2] शान्तिनाथचरित, वाराणसी, वी० नि० सं० २४३७, १।१२१-२२।

पूर्ति करती हैं और पहेलियाँ भी बूझती हैं। अतः इस प्रकार ज्ञान वैदुष्यके बिना सम्भव नहीं है।[1] स्पष्ट है कि नारी शिक्षाका प्रचार संस्कृत काव्योंके समयमें था।

दमितारि अपनी पुत्री कनकश्रीको नृत्य-संगीतकी शिक्षाके लिए किराती एवं वावरीके वेषधारी अनन्तवीर्यको सौंपता है। इससे स्पष्ट है कि नारी शिक्षामें नृत्य संगीतकी शिक्षा मुख्य थी।[2]

ज्योतिष, शकुन और आयुर्वेद

संस्कृत जैन काव्योंमें प्रसंगवश निमित्त, शकुन, ज्योतिष और आयुर्वेदके कई सिद्धान्त वर्णित हैं। महाकवि असगने ज्योतिषीको त्रिकालविद कहा है। त्रिपृष्ठके जन्मके समय ही ज्योतिषियोंने उसे अर्द्धचक्री होनेकी घोषणा की थी।[3] क्षत्रचूड़ामणि काव्यमें आया है कि क्षेमपुरीमें रहनेवाले सेठ सुभद्रकी कन्या क्षेमश्रीकी जन्मकुण्डली बनाकर ज्योतिषियोने घोषणा की थी कि जिस व्यक्तिके पधारनेसे सहस्रकूट चैत्यालयके किवाड़ खुल जायेंगे, उसी व्यक्तिके साथ क्षेमश्रीका विवाह होगा।[4] इसी प्रकार गरुडवेग राजाकी पुत्री गंधर्वदत्ताके जन्मके समय ज्योतिषियोंने उसके विवाहके सम्बन्धमें निमित्तोंकी घोषणा की है।[5] अतः यह स्पष्ट है कि ज्योतिषका प्रचार साधारण जनतामें था और जन्मके समय लग्न कुण्डली भी बनायी जाती थी।

असगके वर्द्धमानचरितमें निमित्त शास्त्रमें प्रवीण संभिन्न नामक दैवज्ञका आख्यान आया है। ज्वलनजटी विद्याधरको जब स्वयंप्रभाके लिए योग्य वर नहीं मिला तो उसने संभिन्न दैवज्ञसे एकान्तमें पूछा—"सुलोचना—सुन्दर नेत्रोंवाली स्वयंप्रभाके योग्य हमको कोई पति नहीं दिखलाई पड़ रहा है। अतः अब आप अपने दिव्यचक्षुओंसे उसके लिए देखिए। मुझे उसका विवाह किस प्रकार करना चाहिए, इसमें आप ही प्रमाण हैं।"[6] संभिन्न बोला—"इसी भरतक्षेत्रमें भरत राजाके वंशमें प्रजापति नामका एक राजा है। वह बड़ा उदार है और उसका नाम भी अन्वर्थ है। इसके दो विजयी पुत्र हैं—विजय और त्रिपृष्ठ। अत्यधिक बलके धारक ये दोनों भाई क्रमशः पहले बलभद्र और नारायण हैं। त्रिपृष्ठ इस विद्याधरोंके इन्द्रको रणमें दुर्मद करेगा और

---

[1] वीरनन्दीकृत चन्द्रप्रभचरित, मम्बई १६।७०।
धर्मशर्माभ्युदय, मम्बई, सन् १९३३ ई०; पचम सर्ग।
असग कवि कृत वर्धमानचरित, सोलापुर १७।३२-६८।

[2] अथ स्वपुत्रीं कनकश्रियं द्विधा रुचापि नाम्नापि समर्पयन्नृप.।
तदैव ताभ्यामबला गुणोज्ज्वलां प्रमोदयन्नाटकसारशिक्षणैः॥
—शान्तिनाथचरित, वाराणसी, वी० नि० सं० २४३७, ६।७१

[3] वर्द्धमानचरित ५।६१।

[4] जन्मलग्ने च दैवज्ञा…क्षत्रचूड़ामणि ६।४३।

[5] मुहूर्त्तज्ञा जन्मलग्ने व्यजीगणन्… वही, ३।३१।

[6] कुशलं सकले निमित्ततन्त्रे…वर्धमानचरित ५।१०७।

उसको मारकर अर्द्धचक्रवर्ती होगा। अतएव विद्याधरोंके निवासस्थानमें सारभूत कन्यारत्नको निस्सन्देह वासुदेव—त्रिपृष्ठको देना चाहिए, उनके सहयोगसे उत्तर श्रेणीको पारकर आपकी भी वृद्धि होगी।"[1]

नवग्रह और ग्रहण

शान्तिनाथचरितमें मुनिभद्रने श्लेष द्वारा नवग्रहोंकी सूचना दी है। इस सन्दर्भमें ग्रहोंका प्रभाव भी व्यंजित हो गया है—

> त्वमेव सूरः परतापनत्वाद्दुर्गाश्रयत्वात्किमु नासि सोमः।
> त्वं मङ्गलो भूतनयस्त्वमेव बुधः प्रतीतव्यवहारसौम्यः ॥ शान्ति० २।४९
> गुरुस्त्वमालम्बनभूतजीव ! प्रभो ! कविस्त्वं श्रुतकाव्यनामा।
> शनैश्चरस्त्वं श्रितमन्दभावस्तमो द्विषन्पार्थिव सैंहिकेयः ॥ वही, २।५०
> चन्द्रावदाताद्भुतवंशकेतुस्त्वं विग्रहात्मा किमनुग्रहात्मा ॥ वही २।५१

स्पष्ट है कि सूर्यको रक्त वर्ण, पित्त प्रकृति, परतापन—पापग्रह कहा है। चन्द्रमा पश्चिमोत्तर दिशाका स्वामी, श्वेतवर्ण, जलग्रह है। मंगल दक्षिण दिशाका स्वामी, पुरुष जाति, पित्त प्रकृति, पृथ्वी तत्त्व और मतान्तरसे अग्नि तत्त्व युक्त है। यह स्वभावतः पापग्रह है और धैर्य तथा पराक्रमका स्वामी है। बुध नपुंसक, त्रिदोष प्रकृति, सौम्य और पृथ्वी तत्त्व है। यह शुभग्रहोंके साथ रहनेसे शुभ और पापग्रहोंके साथ रहनेसे पापी होता है। गुरु पूर्वोत्तर दिशाका स्वामी, पुरुष जाति, पीत वर्ण और शक्तिशाली है। यह लग्नमें बली और चन्द्रमाके साथ रहनेसे चेष्टावली होता है। शुक्र दक्षिण-पूर्वका स्वामी, गौरवर्ण, कार्यकुशल और स्त्रीग्रह है। यह छठे स्थानमें निष्फल और सातवेंमें अनिष्टकर होता है। शनि पश्चिम दिशाका स्वामी नपुंसक वातश्लेषिक प्रकृति, कृष्णवर्ण और वायुतत्त्व है। यह सप्तम स्थानमें बली और वक्रीग्रह या चन्द्रमाके साथ रहनेसे चेष्टावली होता है। राहु दक्षिण दिशाका स्वामी, कृष्णवर्ण और क्रूर ग्रह है। जिस स्थानपर राहु रहता है, उस स्थानकी उन्नतिको रोकता है। केतु भी कृष्णवर्ण और क्रूरग्रह है। इसमें चर्मरोग, मातामह, हाथ-पैर और क्षुधाजनित कष्ट आदिका विचार किया जाता है।

ग्रहोंके इस संक्षेप विचारके अनन्तर जन्मकुण्डलीमें रहनेवाले ग्रहोंकी स्थिति एवं उच्चताके निर्देश भी जैन महाकाव्योंमें उपलब्ध होते हैं।[2] पार्श्वनाथचरितमें वादिराजने ग्रहोंके शुभत्वका निरूपण करते हुए लिखा है—

> रवेरिवास्याखिलदिक्प्रभाविनो भिदेव भाम्नो भृशमुल्लसिष्यतः।
> प्रसूतिकाले कृतिनो नवग्रहैः शुभेतरावस्थितिरभ्यमुच्यत ॥पार्श्व० ४।११६

---

[1] अस्मिन्प्रतीहि भरते भरतेशवंशे -वर्धमानचरित ५।११०-१११ सम्भिन्नको इस सन्दर्भमें—"अवित-थगिर" (५।११३) यथार्थ भविष्यवक्ता कहा गया है।

[2] शुभे विलग्ने ग्रहयोगसत्तिथौ त्रिकोणगै केन्द्रगतैः शुभग्रहैः।

—वर्धमानकवि—वरांगचरित १।३४।

ग्रहोंके शुभत्वका और अशुभत्वका विचार ज्योतिष शास्त्रमें विस्तारसे आया है। सामान्यतः ग्रहोंके दो भेद हैं—शुभग्रह और अशुभग्रह। चन्द्र, गुरु, शुक्र शुभग्रह हैं, बुध शुभ ग्रहोंके साथ रहनेसे शुभग्रह माना जाता है और पापग्रहोंके साथ रहनेसे पापग्रह या अशुभग्रह। शेष ग्रह अशुभ हैं। जन्मके समय छठे, आठवें और बारहवें भावके स्वामी जिन भावों—स्थानोंमें रहते हैं, अशुभ होते हैं। ग्यारहवें भावमें सभी ग्रह शुभ फल देते हैं। किसी भावका स्वामी पापग्रह हो और वह लग्नसे तृतीय स्थानमें पड़ा हो तो शुभाशुभ—मध्यम होता है। जिस भावमें शुभग्रह रहता है, उस भावका फल उत्तम और जिसमें पापग्रह रहता है, उस भावका फल अनिष्टकर होता है। लग्न, चतुर्थ, पंचम, सप्तम, नवम और दशम भावमें शुभग्रहोका रहना शुभ होता है। जो भाव अपने स्वामी, शुक्र, बुध या गुरु द्वारा युक्त अथवा दृष्ट हो, अथवा जिस भावमें शुभग्रह स्थित हो अथवा जो भाव शुभग्रहके द्वारा दृष्ट हो, उस भावका शुभ फल होता है। जिस भावका स्वामी पापग्रहसे युक्त अथवा दृष्ट हो या पापग्रह बैठा हो तो उस भावको भी अशुभ कहा जाता है।

भावाधिपति, मूलत्रिकोण, स्वक्षेत्रगत, मित्रगृही और उच्चस्थानका होनेपर भी ग्रह शुभ माना जाता है। सूर्य, मंगल, शनि और राहु क्रमशः अधिक-अधिक अशुभ हैं, ये ग्रह अपनी—अशुभग्रहोकी राशियोंमें रहनेसे विशेष अशुभ एवं शुभग्रहकी राशि, मित्रकी राशि और अपने उच्चमे रहनेसे अल्प अशुभ होते हैं। चन्द्रमा, बुध, शुक्र, केतु और गुरु ये क्रमशः अधिक-अधिक शुभग्रह हैं। यों केतु-फल विचार करते समय अशुभ-ग्रह माना जाता है। जन्मकुण्डलीके अष्टम और द्वादश भावमें रहनेवाले सभी ग्रह अशुभ होते हैं।[1]

कवि अमरचन्द्रसूरिने पद्मानन्दकाव्यमें ऋषभदेवके जन्मके समयकी जिस स्थितिका चित्रण किया है, उससे ज्योतिषके अनेक तथ्योंपर प्रकाश पड़ता है—

धनुराशिश्रिते चेन्दा-वुच्चस्थेषु ग्रहेष्वपि।
अर्धरात्रे सुवर्णाभं वृषाङ्कं युगधर्मिणाम्॥ पद्मानन्द ७।३२५

जन्मके समय धनुराशिमें चन्द्रमा और शेष ग्रहोंका अपनी उच्च राशियोंमे रहना निर्वाणप्राप्ति योग कहलाता है।

सूर्यका मेषके[2] १० अंशपर, चन्द्रमाका वृषके ३ अंशपर, मंगलका मकरके २८ अंशपर, बुधका कन्याके १५ अंशपर, बृहस्पतिका कर्कके ५ अंशपर, शुक्रका मीनके २७ अंशपर और शनिका तुलाके २० अंशपर परमोच्च होता है।

लग्न एवं ग्रहोंके सम्बन्धमें शान्तिनाथचरितमें मुनिभद्रने निर्देश उपस्थित करते हुए लिखा है—

---

[1] भारतीय ज्योतिष, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२ ई०, पृ० ३३५-३३६।

[2] अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीराझषवणिजौ च दिनाकरादितुङ्गा'॥
—बृहज्जातक, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १९३८ ई०; १।१३, पृ० १५।

लग्ने प्रशस्ते पतिमित्रपूर्णदृष्ट्या ग्रहेष्टे बलकालमाने ।
षड्वर्गशुद्धे च तयोः पुरोधा अमीकयम्मक्षुकरं करेण ॥ शान्ति० ४।१२२

उक्त पद्यमें निम्न ज्योतिष तत्त्व उल्लिखित हैं—

(१) शुभ लग्न, (२) मित्र दृष्टि, (३) ग्रहोंका बलाबल, (४) ग्रहोंका स्वामित्व और (५) षड्वर्ग शुद्धि ।[1]

जन्म समयमें क्रान्तिवृत्तका जो प्रदेश—स्थान क्षितिजवृत्तमें लगता है, वही लग्न कहलाता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि दिनका उतना अंश, जितनेमें किसी एक राशिका उदय होता है, लग्न कहलाता है। अहोरात्रमें बारह राशियोंका उदय होता है, इसलिए एक दिनरातमें बारह लग्नोंकी कल्पना की गयी है। 'राशीनामुदयो लग्नं'—एक राशिके उदयकालको लग्न कहा जाता है। लग्न बारह हैं, इनमें मेष क्रूर, वृष शुभ, मिथुन अशुभ, कर्क शुभ, सिंह अशुभ, कन्या शुभ, तुला अशुभ, वृश्चिक शुभ, धनु अशुभ, मकर शुभ, कुम्भ अशुभ और मीन शुभ है।[2] वस्तुतः लग्नका शुभाशुभत्व उसके स्वामी, दृष्टि, उच्च, नीचत्व आदि अनेक दृष्टियोसे विचार करनेपर ज्ञात होता है। मेष, वृष, धनु, मकर चतुष्पाद है, इनका स्वभाव अग्निके समान है। सिंह, धनु और मेष भूमि है। कन्या, वृष और मकर वायु हैं। मिथुन, तुला और कुम्भ आकाश हैं। मीन, वृश्चिक और कर्क जल हैं। तुला और मकर अग्नि भी है। इन लग्नोंका फल स्थानानुसार होता है।[3]

मित्रदृष्टि

सूर्यके मंगल, चन्द्रमा और बृहस्पति मित्र; शुक्र और शनि शत्रु एवं बुध सम हैं। चन्द्रमाके सूर्य और बुध मित्र; बृहस्पति, मंगल, शुक्र और शनि सम हैं। मंगलके सूर्य, चन्द्रमा एवं बृहस्पति मित्र, बुध शत्रु एवं शुक्र और शनि सम हैं। बुधके सूर्य और शुक्र मित्र; शनि, बृहस्पति और मंगल सम एवं चन्द्रमा शत्रु हैं। बृहस्पतिके सूर्य, मंगल और चन्द्रमा मित्र; शनि सम एवं शुक्र और बुध शत्रु हैं। शुक्रके शनि, बुध मित्र; चन्द्रमा, सूर्य शत्रु और बृहस्पति, मंगल सम है। शनिके सूर्य, चन्द्रमा और मगल शत्रु; बृहस्पति सम एवं शुक्र और बुध मित्र हैं।[4]

जो ग्रह जिस स्थानपर रहता है, वह उससे दूसरे, तीसरे, चौथे, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें भावके ग्रहोंके साथ मित्रता रखता है—तात्कालिक मित्र होता है और अन्य स्थानों—प्रथम, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम और नवमके ग्रह शत्रु होते हैं।[5]

---

१. वर्धमान कवि—वरांगचरित २।४२।
२ त्रैलोक्यप्रकाश, ७३।
३. त्रैलोक्यप्रकाश, लाहौर, सन् १९४४ ई०, ७६-७७।
४. शत्रुमन्दसितौ समश्च शशिजौ··· बृहज्जातक, लखनऊ, १९४४ ई० २।१६।
५ अन्योन्यस्य धनव्ययायसहज··· वही, २।१८।

नैसर्गिक और तात्कालिक मैत्री इन दोनोंके सम्मिश्रणसे पाँच प्रकारके मित्र और शत्रु होते हैं—(१) अतिमित्र, (२) अतिशत्रु, (३) मित्र, (४) शत्रु और (५) उदासीन—सम।[1]

तात्कालिक और नैसर्गिक दोनों जगह मित्र होनेसे अतिमित्र; दोनों स्थानोंपर शत्रु होनेसे अतिशत्रु, एकमें मित्र और दूसरेमे सम होनेसे मित्र; एकमें सम और दूसरेमें शत्रु होनेसे शत्रु एवं एकमें शत्रु और दूसरेमें मित्र होनेसे सम—उदासीन ग्रह होते हैं।

ग्रहोंका बलाबल

स्थानबल, दिग्बल, कालबल, नैसर्गिकबल, चेष्टाबल और दृग्बल ये छह प्रकारके बल है। ग्रहोंके बलका साधन गणित द्वारा होता है; पर फलितज्योतिषकी दृष्टिसे उच्च, स्वगृही, मित्रगृही, मूलत्रिकोणस्थ, स्वनवांशस्थ अथवा द्रेष्काणस्थ स्थानबल माना जाता है। बुध और गुरु लग्नमें रहनेसे दृग्बली; शुक्र और चन्द्रमा चतुर्थमें रहनेसे दृग्बली; शनि सप्तममें रहनेसे एवं सूर्य और मंगल दशम स्थानमे रहनेसे दिग्बली होते है। रात्रिमें जन्म होनेसे चन्द्र, शनि और मंगल तथा दिनमें जन्म होनेपर सूर्य, बुध और शुक्र कालबली होते हैं। शनि, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, चन्द्र और सूर्य उत्तरोत्तर बली होते है। इनका यह नैसर्गिकबल कहलाता है। मकरसे मिथुन पर्यन्त किसी राशिमे रहनेसे सूर्य और चन्द्रमा तथा मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि चन्द्रमाके साथ रहनेसे चेष्टाबली होते है। शुभग्रहोंसे दृष्टग्रह दृग्बली होते है।[2]

दृष्टि—सभीग्रह अपने स्थानसे सातवें भावको पूर्ण दृष्टिसे देखते हैं। मंगल सातवें भावके साथ चतुर्थ और अष्टमको, गुरु सप्तमके साथ पंचम और नवमको एवं शनि सप्तमके साथ तृतोय और दशमको पूर्ण दृष्टिसे देखते है।[3]

ग्रहोंका स्वामित्व

मेष और वृश्चिकका मंगल, वृष और तुलाका शुक्र, कन्या और मिथुनका बुध, कर्कका चन्द्रमा, सिंहका सूर्य, मीन और धनुका बृहस्पति, मकर और कुम्भका शनि, कन्याका राहु एवं मिथुनका केतु स्वामी होता है।[4]

षड्वर्ग

राशि, होरा, द्रेष्काण, नवांश, द्वादशांश और त्रिशांश ये षड्वर्ग है।[5] जो ग्रह जिस राशिका स्वामी होता है, वह राशि उस ग्रहकी राशि कहलाती है। होरा १५

---

[1] भारतीय ज्योतिष, ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२ ई०,।

[2] स्वोच्चसुहृत्स्वत्रिकोणनवांशै—बृहज्जातक, लखनऊ, २।१९-२१।

[3] त्रिदशत्रिकोणचतुरस्रसप्तमान्य· ·वही, २।१३।

[4] क्षितिजसितज्ञचन्द्ररविसौम्यसितावनिजा·····बृहज्जातक १।६।

[5] त्रैलोक्यप्रकाश, ५६।

अंशका होता है। इस प्रकार एक राशिमें दो होरा होते हैं। विषम राशि—मेष, मिथुन आदिमें १५ अंशतक सूर्यका होरा और १६ अंशसे ३० अंशतक चन्द्रमाका होरा तथा समराशिमें (वृष, कर्क आदिमें) १५ अंशतक चन्द्रमाका होरा और १६ अंशसे ३० अंशतक सूर्य का होरा होता है।

१० अंशका एक द्रेष्काण होता है। इस प्रकार एक राशिमें तीन द्रेष्काण—१ अंशसे १० अंशतक प्रथम द्रेष्काण, ११ से २० अंशतक द्वितीय द्रेष्काण और २१ से ३० अंशतक तृतीय द्रेष्काण समझना चाहिए।

नवांश— एक राशिके नौवें भागको नवमांश या नवांश कहते हैं। यह ३ अंश २० कलाका होता है। गणितविधिसे नवांश निकालनेका नियम यह है कि अभीष्ट संख्यामें राशि अंकको ९ से गुणा करनेपर जो गुणनफल आवे, उसके अंशमे ३।२० का भाग देकर जो नवांश मिले उसे राशिमें जोड़ देनेसे नवाश आ जायेगा। पर १२ से अधिक होनेपर १२ का भाग देनेसे जो शेष रहे, वही नवांश होगा।

द्वादशांश—एक राशिमें बारह द्वादशाश होते है अर्थात् राशिके बारहवें भाग २½ अंशका एक द्वादशांश होता है। द्वादशांश गणना अपनी राशिसे ली जाती है।

त्रिशांश—विषम राशियों—मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धनु और कुम्भमें पहला ५ अंश मंगलका, दूसरा ५ अंश शनिका, तीसरा ८ अंश बृहस्पतिका, चौथा ७ अंश बुधका और पाँचवाँ ५ अंश शुक्रका त्रिशाश होता है।

समराशियाँ—वृष, कर्क, कन्या, वृश्चिक, मकर और मीनमें पहला ५ अंश शुक्रका, दूसरा ७ अश बुधका, तीसरा ८ अंशतक बृहस्पतिका, चौथा ५ अंशतक शनिका और पाँचवाँ ५ अशतक मंगलका त्रिशांश होता है।[1]

ग्रहण और अयन

चन्द्रग्रहणका काव्यात्मक वर्णन धर्मशर्माभ्युदयमे आया है। "एक दिन पूर्णिमाकी रात्रिमे जब कि आकाश मेघरहित होनेसे बिलकुल स्वच्छ था, पतिहीन स्त्रियोंको कष्ट पहुँचानेके पापसे ही मानो राहुके द्वारा ग्रस्त होनेवाले चन्द्रमाको देखा।"[2]

चन्द्रग्रहणके सम्बन्धमे पुरानी मान्यता यही है कि राहु चन्द्रमाको ग्रस्त करता है, इससे चन्द्रग्रहण होता है। पृथ्वीकी छाया और चन्द्रमाके गणित द्वारा ग्रहणकी स्थितिका वर्णन काव्यग्रन्थोमें नहीं आया है।

अयनके सम्बन्धमें महाकवि असगने काव्यरूपमें वर्णन करते हुए लिखा है—"सूर्य समान पाद्मनियोको बर्फसे मुरझाई हुई देखकर क्रोधसे दक्षिणायनको छोड़ हिमालयकी ओर मानो उसका निग्रह करने के लिए ही उत्तरायण हो गया है।"[3]

---

[1] भारतीय ज्योतिष, ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२ ई०, पृ० २४०-२५३।
[2] धर्मशर्माभ्युदय ४।४१।
[3] असग द्वारा बिरचित वर्धमानचरित २।५३।

उक्त वर्णनसे यह स्पष्ट है कि वर्षाऋतुसे हेमन्तऋतु पर्यन्त दक्षिणायन और शिशिरऋतुसे ग्रीष्मर्तु पर्यन्त उत्तरायण होता है। जैन ग्रन्थोंके अनुसार सूर्य जब जम्बूद्वीपके अन्तिम आभ्यन्तर मार्गसे बाहरकी ओर निकलता हुआ लवण समुद्रकी ओर जाता है, तब बाह्य लवण समुद्रके अन्तिम मार्गपर चलनेतकके कालको दक्षिणायन और जब सूर्य लवण समुद्रके बाह्य अन्तिम मार्गसे भ्रमण करता हुआ आभ्यन्तर जम्बूद्वीपकी ओर आता है, उसे उत्तरायण कहते हैं।[1]

शतपथब्राह्मणमें अयनका विचार ऋतुओंके अनुसार ही आया है। "वसन्तो ग्रीष्मे वर्षा.। ते देवा ऋतवः""स (सूर्यः) पत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति""यत्र दक्षिणा वर्तते पितृषु तर्हि भवति।"[2]

सप्तसन्धान काव्यमें नायकोके जन्म समयका वर्णन करते हुए लिखा है—

मृगेङ्कसारेऽर्कविदो. प्रमादौ कर्कोदये देवगुरोः सुधांशोः।
शनेस्तुलाभे वृषभे सुकाव्ये तमोऽव्ययेऽभूज्जिनदेवजन्म॥

—सप्तसन्धान, सूरत, वि० सं० २०००, २।१५

मुहूर्त

शुभकार्योंके लिए शुभदिन, नक्षत्र एवं लग्नका विचार प्राचीन समयसे होता आ रहा है। समयके शुभाशुभत्वका प्रभाव प्रत्येक वस्तुपर पड़ता है। शुभ—अनुकूल समयमे कार्य करनेपर शीघ्र सफलता प्राप्त होती है और प्रतिकूल समयमें कार्य करनेपर सफलता मिलती ही नही, अथवा बहुत कम प्राप्त होती है। काव्योंमें विवाहादिके मुहूर्त स्पष्ट तो नही है, पर पात्रोंके विवाह शुभदिन, शुभलग्न और शुभमुहूर्तमें सम्पन्न हुए हैं। सप्तसन्धानकाव्यमें विवाहमें वर्ज्य दस दोषोमेंसे वेधदोषके त्यागका कथन किया है।[3]

अन्य मुहूर्तोमें विद्यारम्भके मुहूर्तका निर्देश उपलब्ध होता है। अभयकुमारचरितमें बताया गया है कि अभयकुमारके पाँच वर्षके होनेपर शुक्लपक्षकी पंचमी गुरुवारमें पुष्यनक्षत्रके रहनेपर विद्यारम्भ किया गया।[4] ज्योतिषमें गुरुपुष्यका बहुत महत्त्व वर्णित है। इस योगमे कोई कार्य करनेसे सफलता प्राप्त होती है।

समरयात्राके समय मुहूर्त और शकुनोंका विचार किये जानेका निर्देश है। हम्मीरकाव्यमें शुभलग्न और विजययोगमें समरयात्रा करनेका कथन है।[5] यात्राके समय जन्म समयकी शुभग्रह सहित राशियाँ जन्मलग्नमें हों अथवा जिन शत्रुओंके

---

१. शतपथ ब्राह्मण, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० १९९४-९७, २।१।३।
२ भारतीय ज्योतिष भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२ ई०, पृ० ५७-५८।
३. सप्तसन्धान सूरत, वी० नि० सं० २४७०, १।७।
४. अभयकुमारचरित, द्वितीय सर्ग।
५. हम्मीरकाव्य, ३।१६।

जन्मलग्नसे अष्टम राशि यात्राके लग्नमें हो और जन्म समयमें सूर्याक्रान्त राशिसे दूसरी राशि लग्नमें स्थित हो तो यह विजययोग कहलाता है।[1] इस योगमें सामरिक आक्रमण सफल होता है।

युवराजपद देनेके मुहूर्तका वर्णन महाकवि असगने अपने वर्धमानचरितमें किया है—'राजाने शुभलग्न, श्रेष्ठ पुष्यनक्षत्र, शुभवार (बुध, गुरु, शुक्र और सोम) और सूर्यकी दृष्टि पूर्वको देखकर सामन्त, मन्त्री और उनके नीचे रहनेवाले समस्त लोगोंके साथ अनुपम अभिषेक करके वैभवपूर्वक इस राजकुमारको युवराज पद दिया।[2]

संस्कृतकाव्य-कालमें विजययात्राका विचार किया जाता था। ज्योतिषी शुभ तिथि, नक्षत्र, योग, बार, करणरूप पंचांगकी शुद्धिके अनन्तर लग्नशुद्धि एवं ग्रहोंके बलाबलका विचार करता था। प्रायः समस्त सामरिक यात्राओंमें कवियोंने इस बातका ध्यान रखा है कि उनके पात्र शुभसमयमें यात्रा करें। भरतचक्रवर्ती भी दिग्विजयके लिए प्रस्थान शुभमुहूर्तमें ही करते हैं।[3]

शकुन विचार

शकुन और अपशकुनोंका विचार भी मनुष्यके जीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यात्रा, विवाह, विद्यारम्भ प्रभृति मांगलिक कार्योंके अवसरपर घटित होनेवाले शकुन और अपशकुनोंका विचार काव्योंके अधिकाश पात्रोंके जीवनमे मिलता है। विजययात्राके समय मंगलसूचक शकुनोंका होना आवश्यक माना गया है। त्रिपृष्ठ द्वारा आक्रमण किये जानेके समय नगरमें मंगलकी सूचना प्रकट करनेवाले शकुन घटित हुए।[4] हम्मीरकाव्यमें भी आया है कि हम्मीरकी सेनाने युद्धके लिए प्रस्थान किया तो उसे दधि, दूर्वा, जलपूर्ण कलश आदि शुभ शकुन दिखलाई पड़े।[5] त्रिपृष्ठके प्रस्थानके समय धान्य-अंकुरोसे परिपूर्ण सुवर्णकुम्भ द्वारपर रख दिये गये थे।[6]

नलायनमें राज्यके नष्ट होनेकी सूचना देनेवाले अपशकुनोंका वर्णन करते हुए बताया गया है कि नलको राज्यत्यागके पूर्व आकाशमें दो सूर्य उदित होते हुए दिखलाई पड़े। रात्रिमें इन्द्रधनुष दीख पड़ा। ग्रह एक-दूसरेसे टकराते हुए दिखलाई पड़े। उल्कापात, केतुका उदय, दिनमें चन्द्रमाका निकलना और रात्रिमें अस्त होना, दिग्दाह, रजोवृष्टि, भूमि-प्रकम्प आदि अनेक विकार दिखलाई पडे। वन्यपशु ग्रामोंमें और ग्रामपशु वनोंमें रहने लगे। सिंह, वृक आदि हिंसक पशुओंका चीत्कार सुनाई पड़ता है। दुर्गपक्षी नीड बनाकर बैठा रहता है। स्थलचरजीव जलमें और जलचर

---

[1] मुहूर्तचिन्तामणि, सस्कृत पुस्तकालय, बनारस, वि० सं० १९९६, ११।४८।

[2] वर्धमानचरित, सोलापुर, १।६०।

[3] पद्मानन्दकाव्य, बड़ौदा, १५।१५।

[4] वर्धमानचरित, सोलापुर, ७।६१ तथा वर्धमान कवि—वरांगचरित २।४७।

[5] हम्मीरकाव्य ३।१७।

[6] वर्धमानचरित, सोलापुर ६।१७।

जीव स्थलमें रहने लगते हैं।[1] कविका यह वर्णन भद्रबाहुसंहिताके त्रयोदश अध्यायमें मिलता-जुलता है।

कविका यह विश्वास है कि अशौच स्थितिमें रह जानेपर अशुभग्रह शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं। पुरुषोंका वामचक्षु और स्त्रियोंका दक्षिणचक्षु फड़कना अशुभ माना गया है। दमयन्ती अपने दक्षिण चक्षुके स्पन्दनको पति विरहकी सूचना मानती है।[2] शुभशकुनोंमें दूध, दही, कमल, सधवा स्त्री, पुष्प, ऊख, जलपूर्ण कलश, मछली, सिंहासन, मंगलगान और मदिराका सामने आना परिगणित है। बन्ध्या नारी, अस्थि, सर्प, इन्धन, तैल, विकृतअंग-व्यक्ति एवं रजस्वला नारीका दर्शन अशुभ होता है।[3]

स्वप्न विचार

स्वप्नशास्त्रमें दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक और दोषज इन सात प्रकारके स्वप्नोंका वर्णन आया है। प्रत्येक जैन संस्कृत काव्यमे स्वप्नका उल्लेख अवश्य मिलता है। तीर्थंकर या अन्य किसी भी महापुरुषकी माताको स्वप्नदर्शन होता है। माता प्रातःकाल शय्यासे उठकर अपने पतिसे स्वप्नोंका फल पूछती है। आदिदेव ऋषभको आहारदान देनेके पूर्व श्रेयान्स नृपतिको भी स्वप्नदर्शन हुआ था। 'स्वप्नं समाकर्ण्यम्' (शान्ति ५।११), 'स्वप्नानुसाराद्विवधे' (शान्ति० ५।१२), 'दृष्टस्त्वया स्वप्ने बालाशोकः समौषिकः' (क्षत्र० १।२५), 'स्वप्नदृष्टकृते सद्यो, नष्टासुं किं तनोति माम्' (क्षत्र० १।२९) प्रभृतिमे स्वप्नोंके सम्बन्धमें अनेक तथ्य अंकित है। सामुद्रिक सम्बन्धी उल्लेख द्विसन्धान (३।३१) में आये है।

आयुर्वेद

स्वास्थ्यके सम्बन्धमें काव्योंके पात्रोंको बराबर ध्यान बना रहता है। अतः प्रसंगवश अनेक चर्चाएँ आयुर्वेद सम्बन्धी आ गयी हैं। शान्तिनाथचरितमें समस्त रोगोंका हेतु अजीर्ण दोषको माना है—

रोगा वैद्यविशारदैर्निगदिताः सर्वेऽप्यजीर्णोद्भवाः ॥ शान्ति० १४।१९

चन्द्रप्रभचरितमें आचार्य वीरनन्दीने बताया है कि जो शीघ्र ही सुख पानेकी इच्छासे अन्तमें हितकारी मार्गके विपरीत आचरण करता है, वह कल्याणके मार्गसे उस प्रकार दूर हो जाता है, जिस प्रकार कुपथ्यका सेवन करनेवाला ज्वरका रोगी आरोग्यसे दूर हो जाता है। कविने इस सन्दर्भमें यह सिद्धान्त बताया है कि तात्कालिक सुख प्राप्ति की कामनासे जो अपथ्य—विषयसुखका सेवन करता है, वह व्यक्ति अपना हितसाधन नही कर सकता।

---

[1] नलायन, ४।६।६५-७३।

[2] वही, २।६।८ तथा नेत्रस्पन्दनके लिए जयन्तविजय १६।२४।

[3] विशेषके लिए देखें—चन्द्रप्रभचरित १५।२५-३०।

परिणामहिते समीहिते पथि सद्यः सुखलिप्सया न यः ।
स शिवादतिविप्रकृष्यते ज्वररोगीव विरुद्धसेवया ॥ चन्द्र० १।७१

चन्द्रप्रभचरितमे प्रयुक्त क्षाम, विपाण्डु और गंडलेखाको तीन रोग विशेषके रूपमें ग्रहण किया जा सकता है । क्योंकि इसी पद्यका उत्तरार्ध ज्वरहीनापि दधात्यरोचकत्वम्' (चन्द्र० ६।६२) में भी अन्नपानके अधिक सेवनसे अजीर्ण होनेका सिद्धान्त निरूपित है । पद्मानन्दकाव्यमे निरूपित आम्रफलके गुण आयुर्वेदशास्त्रमें वर्णित गुणोंसे मिलते-जुलते है । बताया है—'तृषा-क्षुधा-तापसमापकानि' (पद्मानन्द २।५६) अर्थात् आम्रफल प्यास, भूख और ताप—लू आदिके प्रकोपका शमन करता है । स्वास्थ्यके लिए आहार-भोजन ग्रहण अत्यावश्यक माना गया है, यतः भोजनके बिना शरीरकी स्थिति नहीं रह सकती है (पद्मानन्द १३।१९७) । इसी काव्यमें अष्टाग आयुर्वेदका भी कथन आया है (पद्मा० ६।१७) रसायन एवं काष्ठादि औषधियोंका नाम निर्देश भी उपलब्ध होता है (पद्मा० ६।४२) ।

प्रेम, सौन्दर्य-बोध और जीवनसम्भोग

संस्कृत जैन काव्योमें नीतिबोध, तत्त्वबोध और धर्मचर्चाओंके अतिरिक्त प्रेम और सौन्दर्यके चित्र भी सुन्दर अंकित हुए हैं । जैन काव्योंके नायकोका लक्ष्य केवल न तो महाभारतके समान खोये हुए राज्यको प्राप्त करना है और न रामायणके समान पैतृक अधिकारको पुनः हस्तगत करना ही है; बल्कि उनके जीवनका लक्ष्य चिरन्तन सौन्दर्यकी उपलब्धि करना है । यह उपलब्धि कामभोगोंके गुणात्मक परिवर्तनद्वारा निर्वाण या मोक्षमें परिवर्तित हो जाती है । यही कारण है कि प्रायः समस्त संस्कृत जैन काव्योंके आरम्भिक कई सर्ग नायक-नायिकाओके सौन्दर्य और उनके सयोग-वियोगके लम्बे वर्णनोंमें समाप्त हो जाते हैं । प्रसंगवश इस प्रकारके वर्णनोमें तपस्वी, मुनि, राजा, मन्त्री, पुरोहित आदिके वर्णनोंके साथ ऋतुविहार, जलविहार, पुष्पावचय, दोलाक्रीडा एवं सुरतिक्रीड़ा प्रभृतिका रस और चमत्कारपूर्ण चित्रण किया है । जीवनके विविध भोगपक्षोंका उद्घाटन सरस और मनोरम शैलीमें सम्पन्न हुआ है । कवियोंने सौन्दर्यका चित्रण कर अस्तित्वके क्षणोंको कलापूर्ण बनानेका प्रयास किया है । लौकिक और भौतिक सौन्दर्य भोगसे जब चरम तृप्ति प्राप्त नही होती और उसकी निस्सारता प्रत्यक्ष हो जाती है, तब कवि नायकको आध्यात्मिक सौन्दर्यकी साधनामें रत दिखलाता है । संयम, तप और त्यागकी चर्चा उस सौन्दर्यकी उपलब्धिमें सहायक होती है, जो सौन्दर्य चिरन्तन और अधूमिल है । जिसमें वासना या लौकिक जीवनका भोग रंचमात्र भी नही है । महाकवि असगने 'प्रियेषु यत्प्रेमरसावहत्वं तच्चारुताया हि फलं प्रधानम्' (वर्धमान च० १२।२८) प्रियवस्तुओमें जो प्रेम रस उत्पन्न होता है, वह चारुता—रमणीयताका प्रधानफल है, कहकर सौन्दर्यकी परिभाषा अंकित की है । कविकी दृष्टिमें

'न चारुतापि सुभगत्वविहीनः' (वर्धमान च० १३।४)—चारुता—सुन्दरता भी सुभगत्व हीन प्रशंस्य नहीं है।

सुन्दर वह वस्तु है, जो उपयोगी न .होनेपर भी हमारी चेतनाको रसात्मक (Aesthetic) बनाती है। वस्तुतः सौन्दर्य एक विशेष प्रकारकी मनोदशा है, इसका भावन या आस्वादन इन्द्रिय संवेदन या कल्पना द्वारा होता है। व्यक्तिको जिस वस्तु या व्यापारसे सुख प्रतीत होता है, वह वस्तु या व्यापार उसके लिए सुन्दर है। सौन्दर्य का विवेचन करते हुए आचार्य शिवबालकरायने लिखा है—"वस्तु और व्यक्तिकी चित्त-वृत्तिका सम्यक् योग—संयोग रमण कहलाता है। जिस वस्तु या व्यापारके साथ चित्त रमण करता है, वह रमणीय हो जाता है, सुन्दर लगता है। इसलिए, सौन्दर्य वह गुण है, जो वस्तु और व्यक्तिके बाह्य और अन्तस्के सामंजस्यसे उत्पन्न होता है। यह गुण वस्तुपर आरोपित होते समय सुन्दर और चित्तमें अनुभूत होते समय सुखद प्रतीत होता है। सुखानुभूतिका कारण चित्तवृत्तियोंका सामंजस्य है।"[1] 'वक्रोक्तिजीवितम्'मे बताया है—'सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारो'[2] अर्थात् सौन्दर्य सहृदयोंके हृदयको हरण करनेवाला होता है। इसीसे लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्यकी सिद्धि होती है। सौन्दर्य निर्णयके लिए कुछ प्रतिमान है, इन प्रतिमानोंके आधारपर वस्तुकी आकृतिको सुन्दर कहा जायेगा।

समरूपता (सिमेट्री)—वस्तुके एक समान अंगोंमे समरूपताका होना आवश्यक है। जैसे किसी व्यक्तिकी एक आँख करेलेकी फाँकके समान बड़ी और दूसरी बादामकी तरह छोटी हो, तो समरूपताके अभावमें वह कुरूप कहलायेगा। शरीरके विभिन्न अंगोंमें समविभाजन और सन्तुलनका होना आवश्यक है।

आनुगुण्य (प्रपोर्शन)—अंगोमे समानुपात या प्रमाणबद्धताका होना आनुगुण्य है। विशाल भवनका विशाल सिंहद्वार हो सौन्दर्यको सृष्टि कर सकता है, लघुसिंह द्वार नहीं।

औचित्य (प्रोप्राइटी)—सौन्दर्यके सृजनमें औचित्यका रहना अनिवार्य है। इस गुणसे विविध अंगोंके बीच सामंजस्यका बोध होता है। इन्द्रधनुष सात विभिन्न रंगोंमें एकलयताकी अनुभूति होती है। विविधता (वैराइटी)—कभी-कभी विविधता भी सौन्दर्यका उत्पादक होती है। उपवनमें विकसित नाना रंगके पुष्प किसका मन अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते हैं। संगीतमें स्वर लहरीका वैविध्य ही कानोंके लिए अमृत बन जाता है। एकरूपता नीरसता उत्पन्न करती है, तो वैविध्य सरसता। काव्यमें नाना घटनाओंके वर्णन जहाँ वैचित्र्यजन्य आनन्द उत्पन्न करते हैं, वहाँ वैचित्र्यमें निहित उद्देश्यकी सिद्धिसे तृप्तिपूर्ण आनन्दानुभवन होता है।

---

[1] कालिदासके सौन्दर्य सिद्धान्त और मेघदूत, अर्चना प्रकाशन, आरा, सन् १९६४ ई०, पृ० १-२।

[2] वक्रोक्तिजीवित, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, प्र० आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली, सन् १९५५ ई०, पृ० ६ प्रथमोन्मेष, कारिका ३।

सौन्दर्याधायक अन्य गुणोंमें संयम, व्यंजना, कोमलता, मसृणता, वर्णप्रदीप्ति आदि अनेक तत्त्व हैं, जिनका अल्पाधिक मात्रामें सुन्दर वस्तुमें होना आवश्यक है।

साधारणत: सौन्दर्यके दो रूप उपलब्ध होते हैं, प्रकृतिमूलक और कलामूलक। प्रकृतिमूलकमें विश्वमें दृष्टिगोचर होनेवाले सम्पूर्ण पदार्थ और व्यापारका सौन्दर्य आता है; और कलामूलकमें कल्पना और भावनासे उत्पन्न सौन्दर्य परिगणित है। प्रकृति और मानव एक-दूसरेके प्रति प्रणयका संचार करते हैं, जिससे जड, प्रकृति और चेतन व्यक्ति दोनोंमें क्षोभ उत्पन्न होता है। नारीका रूप और यौवन प्रेमीके चरणोंमें अर्पित होनेके लिए विकल है और प्रेमीका पौरुष एवं विक्रम प्रेयसीके रूपलावण्यपर निछावर होनेके लिए। इस प्रकारका पारस्परिक प्रणय ही सम्भोगसुखका विस्तार करता है। संस्कृतके जैन कवियोंकी दृष्टिमें रतिसुख सर्वथा गर्हित नही है। उचित मात्रामें यह स्वस्थ जीवनका स्वस्थ प्रकार है। जबतक जीवन और जगत्से प्यार है, रूप और यौवनके प्रति आकर्षण है, तबतक सम्भोगसुखको मिथ्या और अश्लील नही माना जा सकता। जैन कवियोंने दृष्टि परिवर्तित होनेपर ही इस सुखको मिथ्या कहा है, सर्वथा या एकान्तरूपसे नही। संस्कृत जैन काव्योंमें जीवन सम्भोगका उदात्त रूप अंकित है। पात्र जबतक सांसारिक प्रपंचोंमें संलग्न रहते है, वे राज्यसंचालनके समान ही जीवन भोगोंको भोगते है। कल्पनाकी उठती हुई तरंगोंपर नायको या पात्रोका नव-नव विलास दृष्टिगोचर होता है। महाकवि हरिचन्द्रने लिखा है—"नेत्र निमीलित कर स्त्रियोके रतिसुखका अनुभव करनेवाले पतियोंने निर्निमेष नेत्रों द्वारा उपभोग करने योग्य स्वर्गका सुख तुच्छ समझा।"[1] कवि नयचन्द्रसूरिने रतिसुखको परमात्मानुभूतिसे बड़ा बताया है। उनका मत है कि परमात्मानुभूतिसे उत्पन्न आनन्दमें एक ही व्यक्तिको सुख उत्पन्न होता है, पर रतिसुखमें दो व्यक्तियों—दम्पतिको आनन्दानुभूति होती है। अतएव रतिसुखकी समता परमात्मानुभूति नहीं कर सकती है।[2]

जीवनसम्भोगका वर्णन सौन्दर्य विश्लेषणके अनन्तर ही किया जायेगा। यहाँ सौन्दर्य-चेतनाके विभिन्न रूपोका उद्घाटन करते हुए मनोरम चित्रोंका अंकन किया जा रहा है। सौन्दर्यके दो क्षेत्र है—मानव-जगत् और प्रकृति। मानवका शरीर नेत्रोंको आकृष्ट करता है और उसका आनन्द भावनासे सीधा सम्बन्ध है। पुरुष शरीरको अपेक्षा नारी शरीरके चित्रणमें कवियोंने अधिक रस लिया है। अलंकार ग्रन्थोंमे शोभा, कान्ति और दीप्तिको अंगज अलंकार माना[3] है। ये बाह्य शारीरिक सौन्दर्यके परिचायक हैं।

---

[1] मीलितेक्षणपुटै रतिसौख्यं योषितामनुभवद्भिरभीष्टै'।
निर्निमेषनयनैकविभोग्यं तन्त्रिविष्टपसुखं लघु मेने॥ १५।६१—ध० श० ब० १९३३ ई०।

[2] रतिरसं परमात्मरसाधिक कथममी कथयन्तु न कामिन'।
यदि सुखी परमात्मविदेकको रतिविदौ सुखिनौ पुनरप्युभौ। ७।१०४
—हम्मीर० ब० १८७९ ई०।

[3] साहित्य दर्पण, छात्रपुस्तकालय, कलकत्ता, सन् १९२७ ई०, पृ० ९९।

इनमें रमणीय सौन्दर्य तथा अंग-प्रत्यंका चित्रण किया जाता है। बाह्य सौन्दर्यका भावनासे सम्बन्ध रहता है और हृदयमें भावुकता उत्पन्न होनेपर सौन्दर्यका अनुभव होने लगता है। शोभा[1] सामान्य सौन्दर्यका परिचायक है और कान्ति[2] दीप्तिमें[3] काम-वासना संस्कारजन्य सौन्दर्यका वर्णन किया जाता है। यह चक्षुग्राह्यरूप सौन्दर्य सचमुच बड़ा प्रभावशाली होता है, इससे इन्द्रिय-तृप्ति और हृदय-तुष्टि होती है। जैन कवियोंने इस दिशामें अपनी प्रखर प्रतिभाका परिचय दिया है।

शरीर-सौन्दर्य चित्रणकी दो परम्पराएँ है—(१) सामान्य शरीर चित्रण और (२) अंग-प्रत्यंग-सौन्दर्य चित्रण। द्वितीय सौन्दर्यचित्रणको नख-शिख या शिख-नख वर्णन भी कहते हैं। संस्कृत जैन काव्योंमे दोनों ही प्रकारके सौन्दर्य चित्र पाये जाते हैं।

नारी-शरीर सौन्दर्य

जैन कवियों द्वारा नारीके शारीरिक सौन्दर्यका मनोरम चित्रण किया गया है। महाकवि वीरनन्दी, हरिचन्द्र, नयचन्द प्रभृति कवियोने नारीके लावण्य और रूपका चित्रण कर जोवन-सम्भोगका स्पष्ट अंकन किया है। इन कालक्रमानुसार सर्वप्रथम आचार्य वीरनन्दीके नारी-सौन्दर्य-चित्रोंको उपस्थित करते है। राजा महासेनकी महिषी लक्ष्मणाके रूप-लावण्यका चित्रण करते हुए कवि कहता है—

"कामदेवकी पत्नी रतिके समान अथवा कमलनिवासका त्याग कर विष्णुपत्नी लक्ष्मीके तुल्य या पातालसे प्रकट हुई नागकन्याके समान यह लक्ष्मणा है।[4] महावृक्षकी लताके समान सच्छाया—छायायुक्त, रानीके पक्षमें कान्तियुक्त; मेघोंकी पदवी—आकाशके समान बड़े तारागुच्छो—तारागणों रानीके पक्षमे मोतियोसे परिपूर्ण; धनुषकी शोभाके समान श्रेष्ठवंश (बाँस, रानीके पक्षमे कुल) से उत्पन्न और सुकविकी वाणीके समान सुन्दर (वर्ण—अक्षर, रानीके पक्षमें वर्ण-रंगवाली) वह राजाकी रानी थी।'[5] उसके दोनों नेत्र चंचल थे, पर चित्त चंचल नही था; उसकी चाल धीमी थी, पर परोपकार-की प्रवृत्ति शिथिल न थी; उसके स्तन कठोर थे पर वाणी कठोर न थी; केशोंमें भंग—वक्रता—टेढ़ापन था, पर सदाचारके सम्बन्धमें वक्रता न थी। कही केवल सौभाग्य होता है, कही केवल रूप ही होता है, कही केवल विनय गुण ही होता है और कही केवल शील होता है, पर लक्ष्मणामें ये सब बातें थी।"[6]

---

[1] रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरंगभूषणम्. शोभा प्रोक्ता।
—साहि० द०, कलकत्ता, सन् १९२७ ई०, ३।१०३, पृ० १०१।

[2] सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायिता द्युति। —वही, ३।१०४, पृ० १०१।

[3] कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते। वही, ३।१०५, पृ० १०१।

[4] चन्द्र० च०, १९२२ ई०, १६।१६।

[5] वही, १६।१७।

[6] वही, १९१२ ई १६ १८-१९।

महाकवि वादिराज नारीकी जंघाओंका चित्रण करता हुआ कहता है—

"कामकी पताकाके समान प्रतीत होनेवाली विजया रानीकी जंघाएँ क्रीड़ा करती हुई मछलियोंके समान सुन्दर और सुगठित थीं। वे प्रत्येक दर्शकके मनको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थीं।"[1]

"दूसरोंसे सर्वथा अजित, हथिनीकी सूँड़के समान और स्थूल उस मृगनयनीकी वे जँघाएँ कामदेवका आलय थीं और उनकी कान्ति नवीन चम्पक पुष्पके समान थी।"[2]

"अनेक पत्रोंसे निर्मित, अतएव निस्सार रम्भा और अजरा—जरारहित रम्भाएँ—देवांगनाएँ उसकी सार और स्थूल जँघाओंको न जीत सकी थीं। अतएव वे लज्जित होकर जंगलमें चली गयीं और कुछ रम्भाएँ विरक्त हो अप्सराओंमें सम्मिलित हो गयीं"।[3]

अन्य अंगोंका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—"अत्यन्त सुन्दर और पुष्ट रत्न-मेखलासे वेष्टित, यौवनसे विभूषित उस सुन्दर दन्तवाली रानीका कटितट कामालयके नित्य समीप रहनेसे नाना प्रकारकी प्रांगिक लीलाओंको किया करता था।"[4]

"स्तनोंके पार्श्ववर्ती और अपने विरोधी स्थूल गुणके भयसे ही मानो गुणोंका नाश न करनेवाली उस रानीकी जो कृशता थी, वह मध्यस्थ—कटिस्थ हो गयी।"[5]

"रतिके निमित्त उस अनिन्द्य सुन्दरी रानीके सौन्दर्यको लेनेके हेतु कामदेवके द्वारा भेजा गया राग (लालिमा) नूतन पल्लवरूपी लक्ष्मीको मूल्यके रूपमें लेकर आया, पर इस मृगनयनीके पास आते ही वह सब कुछ भूल गया और इस रूपवतीका हाथ पकड़कर यहीं रह गया।"[6]

"उस कृशांगीकी पाँचों अंगुलियाँ केतकीकी सूचीके समान थीं; कामदेवने उनके द्वारा महाराजका मन बेधकर अपने वश कर लिया था, अतएव तभीसे लोग कामदेवको पंचबाण कहने लगे हैं।"[7]

"शुद्ध सरस्वती जिस प्रकार मुखको शोभित करनेवाली होती है, विधिपूर्वक प्रयुक्त होनेपर मनका हरण करती है, निर्दोष वर्णोंसे रहित होती है और शास्त्रका अनुवर्तन करती है, उसी प्रकार उस रानीकी अपंग लक्ष्मी—नेत्रोंके प्रान्तभागकी शोभा, भी मुखकमलको सुशोभित करनेवाली थी। स्वाभाविक सुन्दरतासे चित्त-हरण करती थी। निर्मलवर्ण—शुक्लतासे शोभित थी और कर्णतक लम्बायमान थी।"[8]

---

[1] पा० च०, मा० दि० सं० १९७३, ४।८७।

[2] वही, ४।८८।

[3] वही, ४।८९।

[4] वही, ४।९०।

[5] वही, ४।९२।

[6] तदीयसौन्दर्यविशेषविस्मितस्मरेण रागो रतये विचोदित।
प्रकल्प्य मूल्यं नवपल्लवश्रियं बली मृगाक्ष्या करमग्रहीद्ध्रुवम्॥—वही, ४।९६।

[7] वही, ४।९७।

[8] वही, ४।१०१।

"अनंगके साथ विद्वेष करनेवाले उस रानीके सघनकेश कुन्तलभाव (बरछा-धारण करनेवाले पुरुषत्व, केशत्व) को धारण कर संसारमें सबसे पवित्र उसके सिरपर आक्रमण कर तमःस्वभाव (कृष्ण, क्रोध) वाले हो गये थे।"[1]

धर्मशर्माभ्युदयमें महाकवि हरिचन्द्रने नारीरूपका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। युवती होते ही सुव्रताका लावण्य अपूर्व हो गया। कविने रमणीयचित्र प्रस्तुत किये हैं। कवि कहता है—

"सुन्दर कमरवाली उस सुव्रताने शनैः-शनैः मौगध्य अवस्थाको व्यतीत कर ब्रह्मा द्वारा अमृत, चन्द्रमा, मृणाल, मालती और कमलके स्वत्वसे निर्मितकी तरह सुकुमार तारुण्य अवस्थाको धारण किया।"[2]

"जो भी व्यक्ति उसके सौन्दर्यरसका पान करते थे, कामदेव उन सबको अपने बाणों द्वारा जर्जर कर देता था। यदि ऐसा न होता तो सौन्दर्यरसके पीनेके साथ ही स्वेद जलके बहाने उसके शरीरसे बाहर क्यों निकलने लगता ?"[3]

"हे मा ! मैं आजसे लेकर कभी भी तुम्हारे मुखकमलकी शोभाका अपहरण न करूँगा—मानो यह विश्वास दिलानेके लिए ही चन्द्रमाने अपने समस्त परिवारके साथ नखोंके बहाने उस पतिव्रताके चरणोंका स्पर्श किया था।"[4]

"उस सुव्रताके जंघायुगल यद्यपि सुवृत्त थे—गोल थे, (पक्षमें सदाचारी थे) फिर भी स्थूल ऊरुओंका समागम प्राप्त होनेसे (पक्षमें मूर्खोंका भारी समागम प्राप्त होनेसे) उन्होंने इतनी विलोमता—रोमशून्यता (पक्षमें विरुद्धता) धारण कर ली थी कि जिससे अनुयायी मनुष्यको भी कामसे दुःखी करनेमें न चूकते थे (पक्षमें पाँच-छह बाणोंसे पीड़ित करनेमें पीछे नहीं हटते थे)।"[5]

"उस सुव्रताके उत्कृष्ट ऊरु-युगल ऐसे सुशोभित होते थे, मानो स्तनरूपी उन्नत कूटसे शोभायमान उसके शरीररूपी काम-क्रीड़ागृहके नूतन-सन्तप्त सुवर्णके बने स्तम्भ ही हों।"[6]

"कामदेवने सुव्रताके जड़-स्थूल (पक्षमें मूर्ख) नितम्बमण्डलको गुरु बनाकर (पक्षमें अध्यापक बनाकर) कितनी सी शिक्षा ली थी, फिर भी देखो कितना आश्चर्य है कि उसने अच्छे-अच्छे विद्वानोंका भी मद खण्डित कर दिया।"[7]

"इधर एक ओर घनिष्ठ मित्रों (अत्यन्त सदृश) की तरह स्तन विद्यमान हैं और दूसरी ओर गुरुतुल्य (स्थूल) नितम्बमण्डल स्थित है, इन दोनोंके बीचमें कान्ति-

---

[1] पा० च०, मा० बि० स० १९७३, ४।१०४।

[2] धर्मशर्माभ्युदय, निर्णयसागर, बम्बई, १९३३ ई० २।३६।

[3] वही, २।३७।

[4] वही, २।३८।

[5] वही, २।४०।

[6] वही, २।४१।

[7] वही, २।४२।

रूपी प्रियाकी किस प्रकार सेवा करूँ—मानो इस चिन्तासे ही उसका मध्यभाग अत्यन्त कृशताको प्राप्त हो रहा था"।[1]

"यदि विधाताने उस सुलोचनाके स्तनोंको अमृतका कलश न बनाया होता, तो तुम्हीं कहो उसके शरीरसे लगते ही मृतक कामदेव सहसा कैसे जी उठता"।[2]

"सुन्दर भौंहोंवाली उस सुव्रताकी भुजाएँ आकाशगंगाकी सुवर्ण-कमलिनीके मृणाल दण्डके समान कोमल थी और उनके अग्रभागमें निर्मल कंकणोंसे युक्त दोनों हाथ कमलोंकी तरह सुशोभित होते थे"।[3]

"यदि श्रीकृष्णका वह पांचजन्य नामका शंख उन्हींके हाथमें स्थित सुवर्ण-कंकणकी प्रभासे व्याप्त हो जावे तो उसके साथ नत भौंहोंवाली सुव्रताके रेखात्रय विभूषित कण्ठकी उपमा दी जा सकती है अथवा नहीं भी दी जा सकती"।[4]

"ऐसा लगता है कि विधाताने उस चपललोचनाके कपोल बनानेके लिए मानो पूर्णचन्द्रमाके दो टुकड़े कर दिये हों। इसीलिए तो उस चन्द्रमामें कलंकके बहाने पीछेसे की हुई सिलाईके चिह्न वर्तमान हैं"।[5]

"उसकी नाक क्या थी? मानो ललाटरूपी अर्धचन्द्रसे झरनेवाली अमृतकी धारा ही जमकर दृढ़ हो गयी हो अथवा उसकी नाक दन्तरूपी रत्नोंके समूहको तौलने की तराजू थी, पर उसने अपनी कान्तिसे सारे संसारको तोल डाला था—सबको हलका कर दिया था"।[6]

"हमारे कर्णभूषणके कमलको जीतकर आपलोग कहाँ जा रहे है? इस प्रकार मार्ग रोकनेवाले कानोपर कुपित हुए की तरह उसके नेत्र अन्तभागमें कुछ-कुछ लाली धारण कर रहे थे"।[7]

"उस निरवद्य सुन्दरीको बनाकर विधाता सृष्टिके ऊपर मानो कलश रखना चाहते थे, इसीलिए तो उन्होंने तिलकसे चिह्नित भौंहेके बहाने उसके मुखपर 'ॐ' यह मंगलाक्षर लिखा था"।[8]

"स्थूल कन्धों तक लटकते हुए उसके कान क्या थे? मानो कपोलोके सौन्दर्य-

---

१. धर्मशर्माभ्युदय नि० ब०, १९३३ ई० २।४४।

२. वही, २।४७।

३. वही, २।४८।

४. वही, २।४९।

५. कपोलहेतो' खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा।
विलोक्यतामस्य तथाहि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम्॥ धर्म०, २।५०।

६. ललाटलेखाशकलेन्दुनिर्गलत्सुधोरुधारेव घनत्वमागता।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत्॥ वही, २।५३।

७. जितास्मदुत्तंसमहोत्पलैर्युवां क्व याथ इत्यध्वनिरोधिनोरिव।
उपात्तकोपे इव कर्णयोः सदा तदीक्षणे जग्मतुरन्तशोणताम्॥ वही, २।५४।

८. वही, २।५५।

रूपी स्वल्पजलाशयमें प्यासके कारण पड़ते हुए समस्त मनुष्योंके नेत्ररूपी पक्षियोंको पकड़नेके लिए विधाताने जाल ही बनाये हों।"[1]

"उस नतभ्रूके ललाटपर कालागुरु चन्दनकी जो पत्रयुक्त लताएँ बनी हुई थीं, उनसे ऐसा जान पड़ता था, मानो कामदेवने समस्त संसारके तिलक स्वरूप अपने श्रेष्ठ गुणोंके द्वारा प्रमाणपत्र ही प्राप्त कर लिया हो।"[2]

"दाँतोंकी उज्ज्वल कान्तिसे फेनिल, अधरोष्ठरूप मूँगासे सुशोभित और बड़े-बड़े नेत्ररूपी कमलोंसे युक्त उसके मुख-सौन्दर्य सागरमें घुंघराले बाल लहरोंकी तरह जान पड़ते थे।"[3]

"रे चन्द्र! उस सुव्रताके मुखचन्द्रकी तुलनाको प्राप्त होते हुए तुझे चित्तमें लज्जा भी न आयी? जिन पयोधरोंकी (मेघों, स्तनों) उन्नतिके समय उसका मुख अधिक शोभित होता है, उन पयोधरों (मेघों) की उन्नतिके समय तुम्हारा पता भी नहीं चलता"।[4]

"ऐसा लगता है कि मानो समस्त सौन्दर्यसे द्वेष रखनेवाले ब्रह्माजीसे इस सुव्रता की रचना घुणाक्षरन्यायसे ही हो गयी है। इनकी चतुराईको तो तब जाने, जब यह ऐसी ही किसी अन्य सुन्दरीको बना दें।"[5]

इस प्रकार कवि हरिचन्द्रने रमणी सौन्दर्यका चित्रण किया है। इस सन्दर्भमें विशुद्ध विलासिनी तरुणियोंके हाव-भावोंका भी संकेत निहित है। इस प्रसंगमें आकर्षण भावनाका भी रम्य चित्रण किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि चरणोंके वर्णनमें चरणोंकी लाली और कोमलता; स्तनवर्णनमें विशालता और सघनता; ग्रीवावर्णनमें वर्तुलाकारता और निर्मलता; कपोलवर्णनमें सुकुमारता और सुगन्ध; नासिकावर्णनमें तुलोपमता; भृकुटिवर्णनमे ऊँकारता, मुखपर बिखरे हुए केशोंमें चन्द्रग्रहण—राहुग्रस्तता एवं नेत्रवर्णनमें दीर्घाकारता, निर्मलता और श्वेतताका चित्रण किया है।

कवि सुव्रताके यौवनका चित्रण करता हुआ कहता है—"असार संसाररूपी मरुस्थलमे घूमनेसे खेद-खिन्न मनुष्योंके नेत्ररूपी पक्षियोंको आनन्द देनेके लिए इस मृगनयनीका यह नवयौवनरूपी वृक्ष मानो अमृतके प्रवाहसे सींचा जाकर ही वृद्धिको प्राप्त हुआ।"[6]

रमणी-सौन्दर्यके साथ पुरुष-सौन्दर्यका चित्रण भी कवियोने किया है। कवि हरिचन्द्र धर्मनाथका वर्णन करता हुआ कहता है—"चक्र, कमल और शंख आदि

---

[1] धर्म०, २।५७।
[2] वही, २।५८।
[3] वही, २।५६।
[4] वही, २।६०।
[5] वही, २।६१।
[6] वही, २।६८।

चिह्नोंके देखनेसे उत्पन्न अपने पतिके निवासगृहकी शंकासे ही मानो लक्ष्मी नूतन पल्लवके समान लाल-लाल दिखनेवाले उनके चरणकमलोंके युगलको नहीं छोड़ रही थी।"[१]

"जिनके मध्यमें पादांगुष्ठके नखोंसे उठनेवाली किरणरूपी श्रेष्ठ छड़ी विद्यमान है, ऐसी उनकी दोनों जंघाएँ सुवर्ण निर्मित स्तम्भोंसे सुशोभित नूतन धर्म लक्ष्मीके झूला की हँसी उड़ा रही थीं।"[२]

"उनकी दोनों जाँघें ऐसी मालूम पड़ती थीं, मानो जिनका वेग और बल कोई नहीं रोक सका, ऐसे तीनो लोकोके नेत्र और मनरूपी हाथीको बाँधनेके लिए प्रजापतिने दो स्तम्भ ही बनाये हैं।"[3]

"जो अपनी तीन रेखाओंके द्वारा मानो यही प्रकट कर रहा है कि मेरी सौन्दर्य-सम्पत्ति तीनों लोकोंमें अधिक है, ऐसे धर्मनाथके कण्ठको देखकर बेचारा शंख लज्जासे ही मानो जीर्ण-शीर्ण हो समुद्रमें जा डूबा।"[४]

"यह निश्चित था कि धर्मनाथका मुखचन्द्र सर्वथा निरुपम है, फिर भी चन्द्रमा उसकी बराबरीका भयंकर पाप कर बैठा। यही कारण है कि अब भी वह उदित होते समय तो स्वर्ण जैसी कान्तिवाला होता है, पर कुछ समयके बाद ही उस भयंकर पापके कारण कोढ़से सफेद हो जाता है।"[५]

"यमुना-जलकी तरंगोंके समानटे ढ़े-मेढ़े सचिक्कण काले केश भगवान्के मस्तकपर ऐसे सुशोभित होते थे, मानो श्रेष्ठ सुगन्धितसे मुक्त मुखरूप प्रफुल्लित कमलपर चुप बैठे हुए भ्रमरोंके समूह ही हो।"[६]

नगर-सौन्दर्य

जैनकाव्योंमें सौन्दर्य चेतना कई रूपोंमें उपलब्ध होती है। नर-नारीके सौन्दर्यके समान नगर, भवन और अट्टालिकाओके भी उदात्त चित्र अंकित हैं। कवियोंका सौन्दर्य-बोध अनेक प्रकारकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा सम्पन्न हुआ है। काव्योंमें वापी, भवन, वृक्ष, नगर, सरोवर आदि भी मानवकी सौन्दर्य-पिपासाको शान्त करते हैं। कवि हरिचन्द्र कहता है—

"उस समय वह नगर भी चन्दनके छिड़कावसे ऐसा जान पड़ता था, मानो हँस रहा हो, फहराती हुई ध्वजाओंसे ऐसा लगता था, मानो नृत्य कर रहा हो और फूलोंके समूहसे ऐसा विदित होता था, मानो रोमांचित हो रहा हो।"[७]

---

[१] धर्म०, ६।१८।

[२] वही, ६।१९।

[3] वही, ६।२०।

[४] वही, ६।२५।

[५] वही, ६।२६।

[६] स्निग्धा बभुर्मूर्धनि तस्य कुन्तलाः कलिन्दकन्याम्बुतरङ्गभङ्गुराः।
फुल्लाननाम्भोरुहि सारसौरभे निलीनर्नि शब्दमधुव्रता इव॥ धर्म०, ६।२७।

[७] वही, ३।५।

कवि वीरनन्दीने लिखा है—

"रातके समय चारों ओर खिले हुए नक्षत्र ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो वे उस पुरकी आकाशसे बातें करती हुई चहारदीवारीकी चोटीपर रखे हुए प्रज्वलित रत्न-दीपक ही हों।"[१]

"आकाशस्थित पूर्ण चन्द्रमण्डलमें लाछन—मलिन चिह्नको देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि इस रत्नसंचयपुरके ऊँचे भवनोंकी रगड़से ही चन्द्रमण्डलमें दाग आ गया है।"[२]

महाकवि असगने कहा है—

"श्वेतातपत्रा नगरीको दीवालोंपर कहीं-कहीं पड़ती हुई नीलमणिकी लम्बी-लम्बी किरणें सर्पके समान मालूम होती हैं। अतएव उसको पकड़नेके लिए वहाँ मयूरी बार-बार आती है। यतः काले सर्पका स्वाद लेनेके लिए उसका चित्त चंचल रहता है।"[3]

"स्फटिक अथवा रत्नोंकी निर्मल भूमिमे वहाँकी स्त्रियोंके मुखकी जो प्रतिच्छायाएँ पड़ती हैं, उनपर कमलकी अभिलाषासे भ्रमर-समूह आ बैठता है। *ठीक ही है—जिनकी आत्मा भ्रान्त हो जाती है, उनको किसी भी प्रकारका विवेक नहीं रहता।*"[४]

प्रकृति सौन्दर्य

अनादिकालसे प्रकृति मानवको सौन्दर्य प्रदान करती चली आ रही है। वन, उपवन, पर्वत, नदी, नाले, उषा, सन्ध्या, रजनी, ऋतु सदासे अन्वेषणके विषय रहे है। भावोंकी सचाई (Sincerity) या सद्यः रसोद्रेकको क्षमता कोई भी कलाकार प्रकृतिके अंचलसे ही ग्रहण करता है। अधिकांश संस्कृतके जैन कवि गृहत्यागी संन्यासी हैं, अतः उन्हें प्रकृतिके खुले वातावरणमें रहनेका अधिक अवसर प्राप्त हुआ है। नवोढा नायिकाके समान सन्ध्याको एकाएक वृद्धा, कलूटी रजनीके रूपमें परिवर्तित होते देखकर नायकोंको आत्मोत्थानकी प्रेरणा देनेका पूरा प्रयास कवियोंने किया है। वे अपने काव्योंमें प्रकृतिके उन्हीं रम्य दृश्योंको स्थान देते है, जो मानवकी हृदयवीनके तारोको झनझना देनेकी क्षमता रखते हैं। वनविभूति एवं नदी-नाले ही नही, अपितु श्मशानभूमि भी जैन कवियोंको सुन्दर प्रतीत हुई हैं। यतः मुनि-यतियोंके ध्यान-स्थल उनकी साधनाके कारण और अधिक रम्य बन गये हैं। यहाँ उदाहरणार्थ कतिपय सुन्दर चित्रोंका आकलन उपस्थित किया जाता है।

---

१. चन्द्र० १।२३।

२, वही, १।२४।

३. यत्सौधकौण्डश्येषु विलम्बमानानितस्ततो नीलमहामयूखान्।
ग्रहीतुमायान्ति मुहुर्मयूर्य कृष्णोरगास्वादनलोलचित्ता ॥ वर्धमान च० १।२३।

४ विनिर्मलस्फाटिकरत्नभूमौ संक्रान्तनारीवदनानि यत्र।
अभ्येति भृङ्ग' कमलाभिलाषी भ्रान्तात्मनो नास्त्यथवा विवेक' ॥ वही, १।२४।

कवि वीरनन्दी सरोवरोंमें विकसित नीलकमलोंका चित्रण करता हुआ कहता है—"जहांकी सुन्दरी स्त्रियोंके नेत्रकमलोंकी शोभाके आगे अपनी शोभा फीकी पड़ जानेसे सन्तापको प्राप्त नीलकमल हवाकी हिलोरोंसे हिलते हुए, ठण्डे तालाबोंके पानीमें, जी की जलन मिटानेके लिए लोटा करते हैं"।[१]

सन्ध्याकी लालिमाका चित्रण करता हुआ कहता है—"सूर्यास्त होते ही सन्ध्याकी अरुणिमा सर्वत्र व्याप्त हो गयी और वह इस प्रकार शोभायमान हुई, मानो किसी आगतपतिकाने सारे शरीरमें कुंकुम ही लगाया हो"।[२]

कवि हरिचन्दने सूर्यास्त, सन्ध्या, सूर्योदय, षड्ऋतु, चन्द्रग्रहण, चन्द्रोदयका भव्य वर्णन किया है और प्रकृति-सौन्दर्यका उद्घाटन सूक्ष्म रूपमें उपस्थित किया है। कवि सूर्यास्तके समय उसके अरुण वर्ण होनेकी कल्पना करता हुआ रम्य रूप उपस्थित करता है—

"उस समय सूर्य स्वच्छन्दतापूर्वक प्रेमियोके पास आना-जाना रूप उत्सवमें रुकावट डालनेके कारण अत्यन्त कुपित व्यभिचारिणी स्त्रियोंके लाल-लाल लाखों कटाक्षों से ही मानो रक्तवर्ण हो गया था"।[3]

"जब कालरूपी वानरने मधुके छत्तेकी तरह सूर्य बिम्बको अस्ताचलसे उखाड़कर फेंक दिया, तब उड़नेवाली मधु-मक्खियोंकी तरह अन्धकारसे यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया"।[४]

"उस समय लाल-लाल सूर्य समुद्रके जलमें विलीन हो गया, वह ऐसा जान पड़ता था, मानो विधातारूपी स्वर्णकारने फिरसे संसारका आभूषण बनानेके लिए उज्ज्वल सुवर्णकी तरह सूर्यका गोला तपाया है। और किरणाग्र (पक्षमें हस्ताग्र) रूपी संडशीसे पकड़कर उसे समुद्रके जलमें डाल दिया हो"।[५]

'कमलवनकी लक्ष्मी सूर्यका विरह सहनेमें असमर्थ थी, अतः अपने घरमें पत्ररूपी किवाड़ बन्द कर लाल-लाल कान्तिके छलसे प्रवासी सूर्यके साथ ही मानो चली गयी थी"।[६]

"तदनन्तर जिसने सन्ध्याके लालिमारूपी रुधिरको पीनेके लिए तारा रूप दाँतोंसे युक्त मुँह खोल रखा है और कालके समान जिसकी भयंकर मूर्ति है, ऐसा अन्धकार वेतालके समान प्रकट हुआ"।[७]

---

[१] विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पलैः सितेतराण्यम्बुरुहाणि योषिताम्।
मरुच्चलद्वीचिनि यत्र शीतले लुठन्ति तापादिव दीर्घिकाजले॥ चन्द्र० १।३६।

[२] चन्द्र०, १०।३।

[३] धर्म० १४।३।

[४] वही, १४।२२।

[५] वही, १४।११

[६] वही, १४।१३।

[७] वही, १४।२१।

चन्द्रोदयके वर्णन प्रसंगमे कविने सुन्दर उत्प्रेक्षाओं द्वारा रम्य चित्र प्रस्तुत किये हैं। "उस समय उदयाचलपर अर्धोदित चन्द्रमाका तोताकी चोंचके समान लाल शरीर ऐसा शोभित हो रहा था, मानो प्रदोष (सन्ध्याकाल) रूप पुरुषके साथ समागम करनेवाली पूर्व दिशारूपी स्त्रीके स्तनपर दिया हुआ नखक्षत हो हो"।[1]

"ज्यों ही चन्द्रमारूपी चतुर (पक्षमें कलाओंसे युक्त) पतिने जिसमें नेत्ररूपी कमल निमीलित हैं, ऐसे रात्रिरूपी युवतीके मुखका रागपूर्वक चुम्बन किया, त्यों ही उसकी अन्धकाररूपी नीली साड़ीकी गाँठ खुल गयी और यह स्वयं चन्द्रकान्त मणिके छलसे द्रवीभूत हो गयी"।[2]

"जिस चन्द्रमाने उदयाचलपर लालकान्ति प्राप्त की थी, मानो भीलोंने उसके हरिणको बाणोंसे घायल कर दिया हो, वही चन्द्रमा आगे चलकर स्त्रियोंके हर्षाश्रुजलसे धुलकर ही मानो अत्यन्त उज्ज्वल हो गया था"।[3]

"जब रात्रिके समय चन्द्रमा आकाश-रूप आँगनमें आया, तब तरंगरूप भुजाओं को हिलाता हुआ समुद्र ऐसा जान पड़ता था, मानो पुत्रवत्सल होनेके कारण चन्द्रमारूप पुत्रको गोदमें लेनेके लिए ही उमँग रहा हो"।[4]

"रात्रिके समय ज्यो ही ओषधिपति चन्द्रमा कुमुदिनियोके साथ विलासपूर्वक हास्य क्रीड़ा करनेके लिए प्रवृत्त हुआ, त्यों ही प्रभावशाली महौषधियोंको पंक्ति मानो ईर्ष्यासे ही प्रज्वलित हो उठी"।[5]

"जिस प्रकार दक्षिण नायक अपने हाथोंसे अपनी समस्त स्त्रियोको अलंकृत करता है, उसी प्रकार चन्द्रमाने भी अपनी किरणोंके अग्रभागसे आकाश और पृथ्वी दोनोंको हो चन्दनमिश्रित कर्पूरके समूहसे अथवा मालतीमालाओके समूहसे ही मानो अलंकृत किया था।"[6]

"मैंने अमृतकी खान होकर भी केवल देवोंको ही अजरामरता प्राप्त करायो, संसारके अन्य प्राणियोको नहीं, अपनी इस अनुदारतासे लज्जित होता हुआ ही मानो यह चन्द्रमा पूर्ण होकर भी बार-बार अपनी कृशता प्रकट करता रहता है"।[7]

सांस्कृतिक सौन्दर्य

सांस्कृतिक तत्त्व जीवन-मूल्योंकी उपलब्धिमें सहायक होते हैं। कुछ कार्यव्यापार संस्कृति विशेषकी पृष्ठभूमिमें विशेषरूपसे सुन्दर जान पड़ते हैं। नारीके लिए मातृत्व

---

१. धर्म० १४।२६।
२ वही, १४।३६।
३. वही, १४।४१।
४. वही, १४।४२।
५. वही, १४।४४।
६. वही, १४।४८।
७. वही, ४।४८।

का होना एक आवश्यक गुण है। यही कारण है कि प्रत्येक काव्यमें नायक-नायिकाको पुत्र प्राप्तिकी चिन्ता होती है। माता-पिताको पुत्रके विवाह वर्णनका बड़ा अरमान रहता है। जब धर्मनाथ विवाह कर वापस लौटते हैं, तो उनके माता-पिता वर-वधूको देखनेके लिए बेचैन हैं। कवि हरिचन्द्रने इस प्रसंगका रमणीय चित्रण किया है।

"वर-वधूके देखनेके लिए जिनके नेत्र सतृष्ण हो रहे हैं, ऐसे माता-पिताको उस समय एक ही साथ वह सुख प्राप्त हुआ, जो कि अल्प पुण्यात्मा मनुष्योंको सर्वथा दुर्लभ था और पहले जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ था"।[1]

"राजाने वह दिन स्वर्गरूपी नगरके समान समझा था; क्योंकि जिस प्रकार स्वर्गरूपी नगरमें नन्दनवनको देखनेसे आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उस दिन भी नन्दन—पुत्रके देखनेसे आनन्द उत्पन्न हो रहा था; जिस प्रकार स्वर्गरूपी नगरदेवियाँ कल्प-वृक्षोंकी क्रीड़ासे अलस होती हैं, उसी प्रकार उस दिन भी तरुण स्त्रियाँ सुन्दरराग-की लीलासे अलस थी और स्वर्गरूपी नगर जिस प्रकार प्रारब्ध संगीतसे मनोहर होता है, उसी प्रकार वह दिन भी प्रारब्ध संगीतसे मनोहर था"।[2]

कवि वीरनन्दीने नारीके सांस्कृतिक सौन्दर्यका विवेचन करते हुए लिखा है—

"प्रशंसनीय और शरद् ऋतुके स्वच्छ चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल समस्त पातिव्रत्य आदि गुण मानो अपने शरीरको अत्यन्त उज्ज्वल करनेके लिए कान्ति शोभारूपी निर्मल जलमें स्नान कर, उस सुन्दरीके शरीरमें इकट्ठे हुए थे। लक्ष्मीने सारे संसारकी सुन्दरियोंमें शील, क्षमा, विनय और रूप-गुणके कारण पूजनीया जो श्रीकान्ता रानी है, उन्हें अपने स्वामी श्रीषेणके मनको रमानेमें सहायकरूपसे सादर स्वयं स्वीकार किया"।[3]

कवि हरिचन्द्रने पुत्र-स्पर्शके सौन्दर्यका चित्रण करते हुए लिखा है—

"पुत्रके शरीरका समागम पाकर राजा आनन्दसे अपने नेत्र बन्द कर लेता था, और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो गाढ आलिंगन करनेसे इसका शरीर हमारे भीतर कितना प्रविष्ट हुआ? यही देखना चाहता है"।[4]

"उस पुत्रको गोदमें रख आलिंगन करते हुए राजा हर्षातिरेकसे जब नेत्र बन्द कर लेता था, तब ऐसा मालूम पड़ता था, मानो स्पर्शजन्य सुखको शरीररूप घरके भीतर रख दोनों किवाड़ ही बन्द कर लिये हों"।[5]

इसी प्रकार संयम, व्रत और शीलसे युक्त होनेपर व्यक्तिका सौन्दर्य एक अन्य प्रकारका ही होता है। अन्तरात्माके पवित्र होनेसे चारों ओर तेज व्याप्त हो जाता है

---

[1] धर्म० १८।४।

[2] वही, १८।५।

[3] चन्द्र० च० ३।१६।

[4] धर्म० ६।१०।

[5] वही, ६।११।

और विरोधी प्राणी भी अपना वैर-विरोध भूलकर एक साथ निवास करने लगते हैं। कवि असग साधकके संयमी शरीरके सौन्दर्यका चित्रण करता हुआ कहता है—

"अन्धकारको दूर करनेवाले अत्यन्त निर्मल मुनियोंके गुणगण अत्यन्त निर्मल उस मुनिराजको पाकर इस तरह अधिक शोभाको प्राप्त हुए जैसे स्फटिकके उन्नत पर्वतको प्राप्तकर चन्द्रकिरणें शोभित होती हैं"।[1]

"जिस प्रकार शरद् ऋतुके समय अमृत रस टपक रहा है, ऐसी शीतल किरणें चन्द्रमाको प्राप्त होती हैं, उस प्रकार उस प्रशमनिधिके पास जनताके हितके लिए अनेक लब्धियाँ आ पहुँची। इन लब्धियोंसे उसकी दिव्य आभा चमकने लगी"।[2]

जीवन-संभोग

सौन्दर्यचेतनाके विश्लेषण प्रसंगमें कहा गया है कि वनविहार, जलकेलि, उपवनयात्रा, संभोगक्रीड़ा, गोष्ठीसमवाय आदिका चित्रण प्रत्येक जैनकाव्यमें उपलब्ध है। कवियोंने जीवनसंभोगके अनेक रूप अंकित किये हैं। कामसूत्रके समान जैन-काव्योंमें पाँच प्रकारके सामूहिक विनोद पाये जाते हैं।

घटानिबन्धन[3] देवायतनमें जाकर सामूहिक नृत्य, गान करने अथवा गोष्ठीका बोधक है। विभिन्न ऋतुओंके अवसरपर आयोजित होनेवाले उत्सव इसीके अन्तर्गत आते थे। घटानिबन्धनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्तन वसन्तावतारके दिनोंमें हुआ करता था।[4] दूसरा मनोरंजन गोष्ठी समवाय[5] बतलाया गया है। इस प्रकारकी गोष्ठियाँ नागरक अपने घरपर ही आयोजित करता था अथवा किसी गणिकाके घर भी गोष्ठी आयोजित हुआ करती थी। विद्या और कलामें प्रवीण गणिकाएँ गोष्ठी समवायमें भाग लिया करती थीं और पुरुषोंके समान विविध प्रकारकी काव्य-समस्याओं, नृत्यगान एवं रसालाप द्वारा उपस्थित सभ्योंका मनोविनोद किया करती थी। विविध प्रकारके उत्सवोंमें भी वे भाग लेकर रसका संचार करती थी।[6]

तीसरा मनोरंजन समापानक है। सामूहिकरूपमें यथेष्ट मदिरापान करना समापानक कहलाता था। इस प्रकारके समापानक मनोरंजन वर्षमें एकाध बार सम्पन्न

---

[1] वर्ध० १६।५१।

[2] वही, १६।५३।

[3] घटानिबन्धनम्, गोष्ठीसमवाय', समापानकम्, उद्यानगमनम्, समस्या क्रीडाश्च प्रवर्तयेत्।—वात्स्यायन कामसूत्रम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी १, सन् १९६४ ई०, १।४।१४।

[4] चन्द्रप्रभचरितम्, निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९१२ ई०, का अष्टम सर्ग तथा धर्मशर्माभ्युदय, बम्बई, सन् १९३३ ई० का एकादश सर्ग; जयन्तविजय, बम्बई, सन् १९०२ ई० का सप्तम सर्ग, नरनारायणानन्द, बड़ौदा, सन् १९१६ ई० का चतुर्थ सर्ग एवं नेमिनिर्वाण, बम्बई, सन् १९३६ ई० का षष्ठ सर्ग।

[5] चन्द्रप्रभ का नवम सर्ग, धर्मशर्माभ्युदय का पन्द्रहवाँ सर्ग, नरनारायण का तृतीय सर्ग एवं नेमिनिर्वाण का अष्टम तथा नवम सर्ग।

[6] पार्श्वनाथचरित, मा० च० दि० जै० ग्र० म० २।५०, २।९८, ६।२४।

किये जाते थे। गाना-बजाना और नृत्य आदि भी सम्पन्न किये जाते थे। कवि वाग्भटने अपने नेमिनिर्वाण काव्यमें लिखा है—

"कामीजनोने कामज्वर बढ़ाने एवं रमणियोंमें काम आसक्ति उत्पन्न करने के लिए विशद, सुगन्धित, सरस एवं शीतल मधुपान करना आरम्भ किया। हर्षित भ्रमरोंसे युक्त, सुगन्धित, उज्ज्वल और स्वर्णपात्रमें सुशोभित मद्य कमलकी गन्धके समान प्रतीत हो रही थी। इस मधुका पान कर युवकोंकी स्थिति बालकोंके समान हो गयी। वे अस्पष्ट बोलने लगे, उनके वस्त्र खिसकने लगे, वे लड़खड़ाकर चलने लगे और पृथ्वी पर गिरनेसे वस्त्र गन्दे होने लगे। मधु पीनेके कारण उनकी विविध प्रकारकी काम चेष्टाएँ घटित हुई।"[1]

कवि हरिचन्द्रने लिखा है—"चन्द्रमाके उदयमे विकसित होनेवाला, सुगन्धित कलिकाओंसे युक्त और दाँतोंके समान केसरसे सुन्दर कुमुद जिस प्रकार भ्रमरोके मधुपान करने का पात्र होता है, उसी प्रकार चन्द्रमाके समान प्रकाशमान सुगन्धित, पत्ररचनाओं से युक्त एवं केसरके समान दाँतोंसे सुन्दर स्त्रीका मुख मधुपान करनेवाले लोगोका मधुपात्र हुआ था"।[2]

"अधिकताके कारण जिससे भरा हुआ मधु छलक रहा है, ऐसे पात्रमें जब तक दम्पतियोंके चित्त उत्सुक हुए कि उसके पहले ही प्रतिबिम्बके छलसे उनके मुख अतिलोलुपताके कारण शीघ्र निमग्न हो गये"।[3] विलाससम्पन्न स्त्रियोने पात्रके अन्दर दाँतोंकी कान्तिसे मिश्रित जिस लाल मधुका बड़ी रुचिके साथ पान किया था, वह ऐसा जान पड़ता था, मानो भाईचारेके नाते अमृतसे ही आलिंगित हो रहा है।[4]

चौथा सावन उद्यानगमन है। उद्यानगमन यात्रा के एक दिन पूर्व नागरक बन-ठनकर तैयार हो जाते थे। यह यात्रा किसी ऐसे उद्यान या वन में की जाती थी, जो नागरकोके निवासस्थानसे इतनी दूरपर हो कि सन्ध्या तक घर वापस आ सकें। उद्यान-यात्रामें अन्तःपुरिकाओ और गणिकाओका समवाय रहता था। चन्द्रप्रभ काव्यमें इस उद्यान-यात्राका अच्छा वर्णन है।[5]

त्याग, तपस्या, संयम और इन्द्रियनिग्रहका सर्वोपरि मूल्य स्थापित करनेपर भी जैन-काव्योंमें प्रेम, कामविलास और जीवन संभोगोंका मनोरम चित्रण किया गया है। अतः मानव जीवनको सरस और सृजनशील बनानेके लिए प्रेमकी बहुत आवश्यकता है। प्रेमके अनेकानेक रूपोमे पति-पत्नीका प्रेम सर्वाधिक पूर्ण और तादात्म्य मूलक है।

---

[1] नेमि० १०।१ नरनारायण, ६।३।

[2] धर्म० १५।२।

[3] वही, १५।३।

[4] वही, १५।४।

[5] चन्द्र० च० ६।२, ६।३।

इस प्रेमके स्तरोंके सम्बन्धमें विचार करनेपर स्थूल रूपसे इसके तीन स्तर माने जा सकते हैं—भौतिक, आत्मिक और आध्यात्मिक।

शारीरिक मिलनके पूर्व जिस प्रकारके उल्लास, पुलक, आनन्द, पीड़ाका अनुभव प्रेमीको होता है, उस प्रकारका अनुभव अन्य किसी भौतिक उपलब्धिके द्वारा नहीं हो पाता। यह सत्य है कि अनुराग-आकर्षणमें मण्डन—साज-शृंगारका भी महत्त्व है। अतः कवियोने मण्डनका भी सुन्दर चित्रण किया है। जीवन संभोगोंमे प्रसाधनोंका स्थान कम महत्त्वपूर्ण नही है। कवि हरिचन्द्रने विभिन्न अंग-प्रत्यंगके मण्डनोंका वर्णन करते हुए लिखा है—

"जिसके कलशतुल्य स्तन कस्तूरी और कर्पूरके श्रेष्ठ पंकसे लिप्त है, ऐसी कोई स्त्री मानो अपनी सखियोको यह दिखला रही थी कि मेरे हृदयमें घूली और मदसे युक्त कामदेवरूपी गजेन्द्र विद्यमान है"।[1]

"किसी एक स्त्रीने गलेमें मोतियो और मणिओंसे बनी वह हारलता धारण की थी, जो कि सौन्दर्यरूपी जलसे भरी नाभिरूपी वापिकाके समीप घटीयन्त्रकी रस्सियोंकी शोभा धारण कर रही थी"।[2]

"कामविलाससे पूर्ण लीलाओमें सतृष्ण स्त्रियाँ विविध प्रकारका उत्तम शृंगार कर मनमे नये-नये मनसूबे बाँधती हुई अपने-अपने पतियोके साथ अपने-अपने निवास स्थानपर गयी।"[3]

दोलाविलास और पुष्पावचय प्रसंगोमें प्रत्येक जैन-काव्यमे जीवन संभोगके उत्कृष्ट चित्र अंकित हुए है। कवि अमरचन्द्रसूरिने लिखा है—"दोलाविलासमें झूलती हुई रमणियोके जूडे ढीले पड़ जाते है, जिससे उनसे पुष्प बिखर पडे है। दोलाविलासकी इस लीलासे ऐसा प्रतीत होता है कि कामदेव तीनों लोकोको विलाससे मुग्ध जानकर तरकशसे फूलोंके बाण छोड़ रहा है"।[4]

इस प्रकार संस्कृत जैन-काव्योंमें कामभोगके चित्र उपस्थित किये गये हैं। प्रेम निःस्वार्थ होनेपर भी वासनायुक्त है। त्यागकी भावनाके रहनेपर भी अपरोक्ष रूपमें कुछ पानेकी भावना रहती है। वस्तुत. प्रेममें वासना उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार पुष्पोमे गन्ध। प्रेममें हमें जो मानसिक और शारीरिक सुख प्राप्त होता है, वह वासनाका ही एक रूप है। पवित्र और वासनाहीन प्रेम अलौकिक या माध्यमिक होता है, लौकिक नही।

---

१. धर्म० १३।६७।

२. वही, १३।६८।

३. वर्ध० १३।७०।

४. दोलाकलाविलसितेन विलासिनीनां, मत्वा वशां त्रिजगतीमपि पञ्चबाण.।—बा० भा० आ० प० ७।७०।

कामको मानव-जीवनका आधार कहा जाता है। वात्स्यायनने "कामं च यौवने"[1] सूत्रमें युवावस्थामें कामसेवनका विधान किया है। यही कारण है कि संस्कृत काव्योंमें पंचेन्द्रियोंके विषयभोगोंका चित्रण किया है। प्रसाधनोंमें आभूषणोंके अतिरिक्त केसर, कस्तूरी, कर्पूर, चन्दन और कुंकुमके लेप काव्योंमें वर्णित हैं।

एक ओर जहाँ यौवनके विलास अंकित हैं, तो दूसरी ओर जैन-काव्योंमें विषयभोगोंकी निस्सारता भी। अष्टसिद्धि, नवनिधि एवं छियानबे हजार पत्नियोंका स्वामी अजितसेन चक्रवर्ती सोचता है :—

वपुर्धनं यौवनमायुरन्यदप्यशाश्वतं सर्वमिदं शरीरिणाम्।
तथाप्ययं शाश्वतमेव मन्यते जनः प्रमोहः खलु कोऽप्ययं महान्॥
—चन्द्रप्र० ११।११

मदान्धकान्तानयनान्तचञ्चलाः सदा सहन्ते न सहासितुं श्रियः।
ज्वलज्जराविग्रहविभुंजो जये कियच्चिरं स्थास्यति यौवनं वनम्॥

—चन्द्र० ११।१५

कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिर्भवाग्निरुत्तुङ्गतरः समुत्थितः।
न शान्तिमायाति भृशं परिज्वलन्न यद्ययं ज्ञानजलैर्निषिच्यते॥
—वही, ११।१९

दुरन्तभोगाभिमुखां निवर्तयन्न शेमुषीं यः सुखलेशलोभितः।
—वही, ११।२३

इस प्रकार विरक्ति, संयम, तपश्चरण एवं साधनाके भी मनोरम चित्र अंकित किये गये है। कहाँ चक्रवर्तीका विलास-वैभव और कहाँ पात्रोंका अरण्यवास। दोनों ही प्रकारका सौन्दर्य अपने-अपने ढंगका है। यों तो वात्स्यायनने भी "स्थविरे धर्मं मोक्षं च"[2] सूत्रमें काम-भोगोंके अनन्तर वृद्धावस्थामें धर्म और मोक्ष पुरुषार्थके सेवनका विधान किया है।

---

[1] कामसूत्र—जयमंगलाटीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् १९६४ ई०, प्रथम अधिकरण, द्वितीय अध्याय, सूत्र ३।

[2] कामसूत्र, वही, १।२।४।

सम्पत्ति और उपभोग

अपना अस्तित्व बनाये रखनेकी प्रवृत्तिके कारण ही मनुष्य कुछ करना चाहता है। यही कारण है कि आत्मसंरक्षणकी प्रवृत्ति (Self Preservation) ने मनुष्यको धनार्जनके लिए बाध्य किया है। अर्जनकी भावना केवल मनुष्यमें ही नही, पशु, पक्षी और चीटियोंमें भी पायी जाती है। मधुमक्खी भी बुरे दिनोंके लिए कुछ अर्जन करके रखती है। यतः वैयक्तिक और सामाजिक सम्बन्धोंका निर्वाह सम्पत्तिके बिना नही हो सकता है। सम्पत्तिके लिए अँगरेजीका समानार्थक शब्द प्रोपरटी (Property) है, इस शब्दकी उत्पत्ति लैटिन Propriatas से हुई है और यह भी Propius से बना है, जिसका अर्थ होता है (One's own)। Propius भी सम्भवतः Prope से बना है, जिसका अर्थ समीप है। अर्थात् प्रोपरटी शब्द (Property) का प्रयोग, जो कुछ भी व्यक्तिके नजदीक है या उसका अपना है, के लिए हुआ है। शनैः-शनैः इसका विस्तार स्वामित्वके अधिकारके लिए किया जाने लगा। अतएव जिस वस्तुपर स्वामित्व हो, वह सम्पत्ति (Whatever is owned is property) है। केवल वस्तुका स्वामित्व ही सम्पत्ति नही, प्रत्युत स्वामित्वपर अधिकार बनाये रखना, उसका शोषण करना एवं उसका पूर्णतया उपभोग करना सम्पत्तिके अन्तर्गत है। सम्पत्तिके पर्यायवाची धन, वैभव और ऐश्वर्य भी माने जाते हैं। यद्यपि इन शब्दोंमे व्युत्पत्तिकी अपेक्षा अर्थ-भेद है, पर सामान्यतया इन्हें सम्पत्तिका वाचक माना जाता है।

संस्कृत जैन काव्योमे जहाँ सम्पत्तिके विपुल परिमाणका उल्लेख मिलता है, वहाँ सन्तुलन बनाये रखनेके लिए सम्पत्ति त्यागके भी उदाहरण आये हैं। परिग्रह परिमाण-व्रतका उद्देश्य अर्थव्यवस्थाको सुदृढ करना है। जैन काव्योंके पात्र—राजा, महाराजा, सेठ-साहूकार, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, विद्याधर, नारायण-कामदेव, मुनि-गुरु, पुरोहित, मन्त्री, पशु-पक्षी एवं साधारण जन-समूहसे गृहीत किये गये है। इन पात्रोंको भी भोगी और योगी इन दो वर्गोंमे विभक्त किया जा सकता है। भोगी वे पात्र है, जो सम्पत्ति—ऐश्वर्ययुक्त हो विविध सासारिक सुखोंका भोग करते हैं और योगी वे हैं, जो सम्पत्ति एवं भोगोंका त्यागकर चिरन्तन सुखकी प्राप्तिके लिए साधना करते हैं। प्रायः प्रौढ अवस्था तक पात्र भोगी और तदनन्तर योगीके रूपमे दिखलाई पड़ते हैं।

सम्पत्तिका चरम संचय चक्रवर्तीमें पाया जाता है। प्रायः सभी काव्योमें चक्रवर्ती या तीर्थंकरकी विभूति दृष्टिगोचर होती है। चक्रवर्तीकी सम्पत्तिके सम्बन्धमे कहा गया है—

"पूर्वजन्मके किये अलौकिक पुण्य प्रतापसे छियानबे हजार रानियोके मुख-कमलके रस लेनेवाले भ्रमर वे चक्रवर्ती राजा थे। उनके मन्दिरका आँगन वर्षाकालके बिना भी मन्दगामी चौरासी लाख हाथियोके मदजलकी कीचड़से दुर्लंघ्य बना रहता था। उनकी

सेनाका समूह तरंगोंके समुद्रके समान और वायुके समान चंचल चालवाले अठारह करोड उत्तम घोडोंसे सदा शोभित रहता था।"[1]

"शुद्ध कुन्दके समान उज्ज्वल तीन करोड़ गायें शरद ऋतुके बादलोंसे परिपूर्ण दिशाओंके समान देख पडती थी। उसके यहाँ एक करोड़ हलों द्वारा कृषि की जाती थी।"[2]

चक्ररत्न, खड्गरत्न, छत्ररत्न, चर्मरत्न, दण्डरत्न, काकिणीरत्न, दर्पणरत्न, चूडामणिरत्न, गजरत्न, अश्वरत्न, सेनापतिरत्न, पुरोहितरत्न, शिल्पिरत्न और गृहपति-रत्न ये चौदह रत्न चक्रवर्तीको प्राप्त थे।[3]

चक्रवर्तीको मनचाही विचित्र वस्तुएँ नवनिधियोंके द्वारा प्राप्त होती थी। पाण्डु नामक निधिसे गेहूँ, चावल, जौ, चना, उडद, अलसी, तिल, मूँग, कोदो, मटर, अरहर आदि अन्न प्राप्त होते थे।[4] पिंगल नामक निधिसे रत्नोंकी कान्तिके समान मनोहर इच्छित सुन्दर कुण्डल, अँगूठी, चन्द्रहार, मणिमेखला प्रभृति आभूषण प्राप्त हुए।[5] इन आभूषणोंमें विचित्र प्रकारकी मणियाँ जटित रहती थी। कालनामक निधिसे सब ऋतुओंमें होनेवाले वृक्ष, गुल्म, लता आदि वनस्पतियोंके मनोहर अभीष्ट फल, पुष्प और पल्लव प्राप्त होते थे।[6] शंखनिधि उन चक्रवर्ती राजाको बाँसुरी, मुरज, वीणा आदि कानोंको सुख देनेवाले वाद्य प्रदान करती थी।[7]

पद्म नामक निधि विचित्र सूक्ष्म वस्त्र, नेत्र-कलाबत्तू और रेशमसे बुने वस्त्र चीनके रेशमी वस्त्र, कमरबन्द, रत्न कम्बल, दुपट्टे और अन्यान्य साधारण वस्त्र एवं सुखदायक मनोरम वस्त्र प्रदान करती थी।[8]

महाताल निधिसे सुन्दर ताम्बे सुवर्ण, शीशे, चाँदी और लोहे आदि धातुओंके बने उपकरण प्राप्त होते थे।[9]

माणव नामक निधि पाश, बाण, चक्र, मुद्गर, शक्ति, शंकु, खड्ग, तोमर आदि शत्रुओंको नष्ट करनेवाले चमकदार शस्त्र देती थी।[10]

---

१. चन्द्रप्रभ०, ७।७२।

२. तस्य मारुतविलास वही ७।७४—७५-७६।
तथा—वर्धमानचरित—असग कवि, १४।१५–२४।
पद्मानन्द—अमरचन्द्रसूरि—१६।१८५-२०२।

३ वीरनन्दी विरचित चन्द्रप्रभचरित, काव्यमाला ३०, ७।१-१७।

४ वही, ७।१९।

५ चन्द्रप्रभ० ७।२० तथा—वर्धमानचरित—असग १४।२८।

६ चन्द्रप्रभ० ७।२१ तथा—वर्ध०—असग कवि १४।२९।

७, चन्द्र० ७।२२ तथा वर्ध० १४।३१।

८, चन्द्र० ७।२३ तथा वर्ध० १४।३२।

९, चन्द्र० ७।२४। तथा वर्धमानचरित १४।३०, महातालका नाम वर्धमानचरितमें भूरिकाल आया है।

१०, चन्द्र० ७।२५ तथा वर्ध० १४।३३।

नैसर्प निधिसे तकिया, बिछौना, पलंग, तोसक, रजाई आदि विविध प्रकारके शयन सम्बन्धी उपकरण प्राप्त होते थे।[1] आसन, पीढ़ा, दोला आदि सामग्री भी इसी निधिसे प्राप्त होती थी।

जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें मेघोंके गर्जन और वर्षण द्वारा मयूरोंके मनोरथ पूर्ण होते हैं, इसी प्रकार नवनिधियोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले अपरिमित धनधान्यसे चक्रवर्तीके मनोरथ पूर्ण होते थे।[2]

चक्रवर्तीको दश प्रकारके भोग प्राप्त थे। नाट्य, निधि, रत्न, भोजन, आसन, शयन, पात्र, वाहन और पुर ये दश प्रकारके भोगोंको प्रतिदिन भोगता था।[3] चक्रवर्ती की सेवामें सोलह हजार अमर सदा प्रस्तुत रहते थे।[4] भोजन, वस्त्र, आभरण, शय्या, आसन, सवारी आदि समस्त भोग्य पदार्थ उन्हें प्राप्त थे।

काव्योंके अध्ययनसे साधारण व्यक्तियोंका जीवन भी सम्पन्न प्रतीत होता है। लवंग, इलायची[5], कर्पूर, चन्दन, केशर, ताम्बूल[6], कालागुरु[7] प्रभृति सुगन्धित पदार्थों का उपयोग साधारण जनता भी करती थी। भवनोंको सुगन्धित करनेके लिए कालागुरु[8] धूमका प्रयोग किया जाता था। त्रिकटु[9] जैसी ओषधियाँ स्वास्थ्य संवर्द्धनके साथ विलासके रूपमें व्यवहृत की जाती थीं। विलासी व्यक्ति पुष्पशय्या कदलीगृहोंमें निर्मित कराते थे। अंगरागके रूपमें चन्दन, कर्पूर और केशरसे निर्मित सुगन्धित चूर्णका व्यवहार करते थे।[10]

वस्त्रोंमें रेशमी, ऊनी और सूती तीनों[11] प्रकारके वस्त्रका व्यवहार किया जाता था। चीनी सिल्क भी काममें लायी जाती थी। मन्दिरोंकी ध्वजाएँ चीनी सिल्ककी ही बनायी जाती थीं। आभूषणोंमें मणिपाजेब[12], नूपुर[13], कांची[14], मणिहार[15], मुक्ताहार,[16]

---

१. चन्द्रप्रभचरित ७।२६ तथा वर्धमानचरित १४।२६।
२ वर्धमानचरित १४।३५-३६।
३. सैन्यनाट्यनिधिरत्नभाजनान्यासन शयनभाजने पुरम्। चन्द्र ७।७७।
४ षोडशामरसहस्रसेव्यताम् —वही ७।७८।
५. धर्मशर्माभ्युदय, ३।३०।
६. पार्श्वनाथचरित वादिराज कवि ६।२२ तथा वरांगचरित वर्धमान कवि २।५५।
७. वर्धमानचरित—असग कवि ४।७।
८. वही।
९. जैनमेघदूत, मेरुतुंगकवि४।२१।
१०. वर्धमान कवि विरचित वरांगचरित, सोलापुर, सन् १९२७ ई० ९।४०।
११. चन्द्रप्रभचरित वीरनन्दी ७।२३।
१२. वादिराज कवि पार्श्वनाथचरित ६।२५।
१३. वही ४।८४, १२ वही ४।९१।
१४. वर्धमानचरित असग कवि १।२।
१५. वादिराज पार्श्वनाथचरित ३।५१।
१६. वही।

अंगद[1]; कुजक[2], बाजूबन्द[3], कडे[4], कुण्डल[5] के व्यवहारका उल्लेख आया है। नारियाँ मस्तकमें सुन्दर तिलक, केशर-कस्तूरीका अंगराग, नेत्रोंमें अंजन एवं केशोंको सुगन्धित रखती थी[6]। स्त्रियोंके स्तनोपर पत्रावली लेखन[7] भी मनोरम रूपमें किया जाता था।[8] कुण्डल, कर्णफूल[9] और मोतियोंके हार धारणकी प्रथा नारियोंमें विशेषरूप से वर्तमान थी। पैरोंमें महावर[10] लगानेका भी उल्लेख मिलता है।

विभिन्न प्रकारकी सवारियाँ काममे लायी जाती थी। बैलगाडियाँ सामान ढोनेके साथ सवारीके भी काममें लायी जाती थी।[11] रथ,[12] हाथी,[13] घोडे,[14] टट्टू,[15] गर्दभ और ऊँटोका[16] प्रयोग सवारीके लिए किया जाता था। दूधके लिए गाय,[17] भैंस और बकरीको पालनेकी प्रथा वर्णित है।[18] गायें विशेषरूपसे पाली जाती थी और उनके लिए जंगलमें चारागाह होते थे।

काव्योंमें हाथियोंकी भद्र, मन्द और मृग जातियोका निर्देश उपलब्ध होता है।[19] जैनकुमारसम्भवके टीकाकारने ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अंजन, पुष्पदन्त, सार्वभौम, सुप्रतीक और दिग्गज इन आठ प्रकार की गज जातियोका निर्देश किया है।[20] घोडोमें चित्र-विचित्र कदम भरनेवाले काम्बोज, वनायुज, बाह्लिक और पारसीक देशके घोडोका उल्लेख आया है।[21]

ग्रीष्मऋतुमे धनिको द्वारा की जानेवाली क्रीडाओंका समस्त जैन काव्योंमें सुन्दर वर्णन आया हैं। शीतल जल, चन्दन, कर्पूर आदिके व्यवहारके साथ दीर्घिकाओमे क्रीड़ा करनेके सुन्दर चित्रण उपलब्ध होते हैं—

> धनेश्वराः कृत्रिमदीर्घिकासु क्रीडन्ति समं कलत्रैः।
>
> —मुनिभद्र; शान्तिनाथचरित १०।१०६

१-२ वादिराज पार्श्वनाथचरित ३।५६।

३-५ असग कवि वर्धमानचरित ६।२१।

६ हरिचन्द्र कवि—धर्मशर्माभ्युदय ३।१५-१६।

७-८. धर्मशर्माभ्युदय ३।२२।

९ वर्धमानचरित असग कवि १।२६।

१०. चन्द्रप्रभचरित—वीरनन्दी ६।७।

११ वादिराज कवि—पार्श्वनाथचरित ६।२६।

१२ असग कवि वर्धमानचरित २।६६ तथा वादिराज पार्श्वनाथचरित ७।३७।

१३ वादिराज पार्श्वनाथचरित ६।२२, वर्धमानचरित असग कवि २।७०।

१४. पार्श्व० ६।२१ तथा घोडेका पलान आदि पार्श्व० ६।२९।

१५. पार्श्वचरित—६।२३।

१६ असग कवि—वर्धमानचरित ७।७३।

१७. वही, ११।२१।

१८. असग कवि—वर्धमानचरित ७।९०।

१९. हरिचन्द्र कवि धर्मशर्माभ्युदय ६।४६।

२०. जैनकुमारसम्भव ६।३४।

२१. धर्मशर्माभ्युदय ६।५०।

तालवृन्तसे वीजन किया जाता था।[1] फलोंमें नारंगी, जामुन, जम्बीरी, नीबू, दाडिम, शरीफा आदिका उपभोग करते थे।[2] विभिन्न प्रकारके सुगन्धित लाक्षापाक आदि तैल एवं गोरोचन आदि सुगन्धित पदार्थ व्यवहृत किये जाते थे। मणिकम्बलके उपयोग किये जानेका भी निर्देश उपलब्ध है।' 'भोज्यैश्चित्ररसैश्चित्राः' (पद्मा० ७ १६१) से षट्रसपूर्ण भोजनकी; 'नानारूपाणि मण्यङ्गा' (पद्मा० ७।१६२) से नाना प्रकारकी मणियोंके व्यवहारकी एवं 'मधुरा. शर्करा. पीयूषपेयाम्भि पयांसि' (पद्मा० ७।१६६) से शर्करा मिश्रित दुग्धपान किये जानेकी सूचना उपलब्ध होती है।[3] सुगन्धित मालाओंका धारण करना, चन्दनद्रवका लेपन,[4] सुपाड़ी, कत्था, चूना, केसरयुक्त पानका सेवन;[5] लड्डू, पकौड़ी, माठा[6] आदि पक्वान्नोंके उपभोग किये जानेके निर्देश प्राप्त हैं। रत्नप्रदीप एव मंगलप्रदीप दोनो ही काममें लाये जाते थे।[7] प्रातःकाल उठकर दन्तधावन करनेकी प्रथा तथा नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोके उपयोग किये जानेका उल्लेख भी मिलता है।[8] गुड़, तैल, घी, धान्य, दूध आदिका व्यवहार प्रचुररूपमें किया जाता था।[9] महाकवि धनजयने 'प्रवालमुक्ताफल·····' (द्विसन्धान १।३२) तथा 'पट्य. पटक्षौमदुकूल-कम्बलं' (द्विसन्धान १।३३) में मूँगा, मोती, शंख, सीप, नीलम, हीरा, गरुडमणि, धोती, सिले कपड़े, दुकूल, कम्बल, विविध रत्न, सोना, चाँदी और लौह वस्तुओंके उपभोग करनेका निर्देश किया है।

संगीत-तत्त्व

संस्कृत जैनकाव्योंमें उपभोगकी सामग्रियोंमें संगीतका भी निर्देश उपलब्ध होता है। गीत, नृत्य और वाद्यका समाहार संगीत है। संगीतका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन करना है। विभिन्न प्रकारके मनोरंजनके अवसरोंपर गायन-वादनका आयोजन दिखलाई पड़ता है। मन्त्र और श्लोक सुरताल एवं लयके योगसे उच्चारित होनेपर संगीतका सृजन करते हैं। श्रुतिविवरण, स्वरविवरण, वाद्यविवरण, ग्राम्यविवरण, मूर्च्छना, कूटतान, रागविवरण, राग-रागिनियोंका विनियोग विवरण, नर्तन आदि संगीतके सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। राग, ताल, नृत्य, भाव एवं हस्त आदिके विविध संकेत भी काव्योमें उपलब्ध होते हैं। जन्म, विवाह, राज्याभिषेक आदिके अवसरपर प्रत्येक काव्यमें संगीत और नृत्यकी योजना उपलब्ध होती है।

---

[1] मुनिभद्र शान्तिनाथचरित १०।१०९।

[2] वही, १०।३२८।

[3] अमरचन्द कवि—पद्मानन्द ६।५३-५४, ६।६५।

[4] वही, ९।९२।

[5] वही, ९।९१।

[6] वही, ९।९०।

[7] मुनिभद्र शान्तिनाथचरित ९।४४।

[8] वर्द्धमान कवि—वरांगचरित ३।२।

[9] वही, ८।३१।

संगीतके प्रमुख तीन अंगोमेंसे सर्वप्रथम वाद्यसंगीतका विवेचन किया जाता है। वाद्यसंगीतके प्रसंगमें अनेक प्रकारके वाद्योंका नामनिर्देश मिलता है। कवि वर्द्धमानने अपने वरांगचरितमें लिखा है—

भेरीमृदङ्गकसालकाहलाशङ्खवेणवः ।
ढक्कापणवतूर्याणि शृङ्गाणि पटहादयः ॥ वरांगचरित ८।१०१

अर्थात्—भेरी, मृदंग, कंसाल, काहला, शंख, वेणु, ढक्का, पणव, तूर्य, शृंग और पटह वाद्य है। इन वाद्योकी मनोरम ध्वनि श्रोताओंको विह्वल कर देती है। इसी काव्यमें प्रकारान्तरसे वाद्योके नाम निम्नांकित रूपमें उपलब्ध होते हैं—

मृदङ्गकाहलाभेरीतालशङ्खरवैरमी ।
मेघगम्भीरनिर्घोषास्तिराकुर्वन्ति सर्वदा ॥ वरांगचरित ११।६२

पूर्वोक्त वाद्योमें ताल—तांसाका नाम नही आया था, इस पद्यमें यह एक नया नाम आया है।

वाद्यध्वनिका प्रयोग अनेक प्रकारसे होता था। मंगल अवसरोंपर वाद्यध्वनि होती थी, युद्धके अवसरपर की जानेवाली वाद्यध्वनि सैनिकोंमे वीरताका संचार करती थी। हम्मीर काव्यमें बताया गया है कि गोरीने वाद्य बजानेवालोको घूंस देकर विपरीत वाद्य बजानेके लिए कहा।[1] वाद्यध्वनि सुनकर घोडे नृत्य करने लगे थे। वीरताकी अपेक्षा उनमे शृङ्गार और ललितरसका संचार हो गया था।[2]

पार्श्वनाथचरितमें वादिराजने वल्लकी[3], पटह[4], वेणु[5], वीणा[6]की मधुर ध्वनियोंका उल्लेख किया है। वर्द्धमानचरितमें महाकवि असगने तूर्य और शंखको मंगलवाद्य कहा है।[7] इन दोनो वाद्योका प्रयोग प्रातःकाल अथवा मंगलोत्सवके अवसरपर ही होता था।

धर्मशर्माभ्युदयमें बताया गया है कि मृदंग और झल्लरीके शब्दोकी मंगलध्वनिके बीच धर्मनाथका अभिषेक सम्पन्न हुआ।[8] संगीत प्रारम्भ होनेके पूर्व मृदंग ध्वनिका होना आवश्यक माना गया है।[9] तुरहीकी गणना प्रातःकालीन मंगलसूचक वाद्योमें की गयी है। वन्दीजन शयनगृहके द्वारपर स्थित होकर तूर्यवाद्य द्वारा मधुर संगीतसे राजाओंकी निद्राको दूर करते थे।[10]

---

१. हम्मीरकाव्य, ३।५४।
२. वही, ३।५९-६०।
३. वादिराज कवि—पार्श्वनाथचरित ९।८४।
४. वही, १०।६९।
५ वही, ११।२३।
६ वही, ११।३३।
७. असग कवि—वर्द्धमानचरित ६।३७।
८. हरिचन्द्र कवि—धर्मशर्माभ्युदय १८।४५।
९. वही, १।७६।
१०. वीरनन्दी कवि—चन्द्रप्रभचरित १०।६२।

जयशेखरसूरिने जैनकुमारसंभवमें वीणाका उल्लेख किया है। इस काव्यके टीकाकार धर्मशेखरने नकुलोष्ठी, किन्नरी, शततन्त्री, जयाहस्तिका, कुब्जिका, कच्छपी, घोषवती, सारंगी, उदुंबरी, तिसरी, ढिंबरी, परिवादिनी और आलाविणी इन चौदह प्रकारकी वीणाओंका नाम निर्देश किया है।[1]

गानेवाली स्त्रीको साधित स्वर गुणवाली कहा गया है। टीकाकारने साधित स्वर गुणकी व्याख्या करते हुए सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कोस मूर्छना और उनचास तानका गीतमें रहना माधुर्यसूचक माना है। सुस्वरा, सुताल, सुपद, शुद्ध, ललित, सुबद्ध, सुप्रमेय, सुराग, सुरम्य, सम, सदर्थ, सुग्रह, हृष्ट, सुकाव्य, सुयमक, सुरक्त, सम्पूर्ण, सालंकार, सुभाषाभव्य, सुसन्धि व्युत्पन्न, गम्भीर, स्फुट, सुप्रभ, अग्राम्य, कुंचितकंपित, समायात, ओजसः संगत, प्रसन्नस्थिर, सुखस्थानक, द्रुत, मध्य, विलंबित, द्रुतविलंबित, गुरुत्व, प्राजलत्व और उक्त प्रमाण ये छत्तीस गीत के गुण बताये है।[2]

पद्मानन्द काव्यमे सप्तस्वरोका बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है। बताया है कि मयूरकी ध्वनिके समान षड्ज स्वर,[3] बकरीकी ध्वनिके समान कोमल गान्धारगान[4], क्रौंचपक्षीकी ध्वनिके समान मध्यम स्वर[5], बसन्तके समय कोकिलाके गानके समान पचम स्वर[6], घोडेके हीसनेकी ध्वनिके समान मनोरम धैवत[7] स्वर, हथिनीको काम-विह्वल करनेके समय हाथी द्वारा की जानेवाली मनोरम चिंघाड़ ध्वनिके समान वैवत स्वर[8] और गाय या वृषभको डकारके समान ऋषभ[9] स्वर होता है। इन सप्त स्वरोका आरोह-अवरोह मनोरम और मधुर संगीतका सृजन करता है।

इसी काव्यमें बताया है कि वीणादि वाद्योंसे तत ध्वनि, तालादिसे घन ध्वनि, वंशादिसे शुषिरध्वनि और मुरजादिकसे आनद्ध ध्वनि उत्पन्न होती है।[10]

गाते समय गीतके आदिमें नकार, मध्यमें घकार और अन्तमें हकारका निषेध किया गया है। आदिमें नकारके रहनेसे गायक और श्रोताओंका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। मध्यमें घकारका प्रयोग रहनेसे घात होता है और अन्तमें हकारके रहनेसे लक्ष्मीका विनाश होता है।[11]

---

[1] जयशेखर कवि—जैनकुमारसम्भव १०।७२ में 'वल्लकी' की व्याख्या।

[2] वही, 'साधितस्वरगुणा' पदकी व्याख्या—१०।७२ पृ० ३५८-५९।

[3] केकित्रपुष' कलषड्जाराविण.—पद्मानन्द ८।६०।

[4] रामकामलतर दधतो गान्धारगानमिव· ·वही, ८।६१।

[5] क्रौंचरूपमुपचर्य चुकूजुर्मध्यमध्वनि—वही, ८।६२।

[6] रेजिरे रचितपञ्चमगाना वसन्तकाकिनवपु प्रतिमाना—वही, ८।६३।

[7] धैवतध्वनिमनोरममश्वीभूय—वही, ८।६४।

[8] सम्मदोदितनिषादनिनादा'—वही, ८।६५।

[9] लक्षणाद्वृषभतो -वही, ८।६६।

[10] पद्मानन्द ४।३२।

[11] उद्गगानादौ नकारो न मध्ये घकार एव च।
अन्ते हकारो नाकार्यस्त्रयो गीतस्य वैरिणः॥

गानेके समय एकचित्त होना आवश्यक माना गया है।[1] कण्ठका कोमल होना एवं मूर्छनाके समय दृष्टिका संकोचन और गलेमें लोच रहनेसे ही संगीतमें माधुर्य आदि गुणोंकी अभिव्यजना होती है।[2]

वाद्य और नृत्यके संयोगका चित्रण अनेक स्थलोंपर आया है। महाकवि धनंजयने लिखा है—"मंगलके लिए बजाये गये पटह आदि वाद्य जोर-जोरसे बजने लगे थे। वेश्याओके झुण्डके झुण्ड राजमहलपर आकर नाच रहे थे। नृत्योंके आचार्य नट, गायनाचार्य तथा अभिनयाचार्योंके कुशल वंशधर आकर मंगलपाठ कर रहे थे।"[3]

स्पष्ट है कि वाद्योंके साथ नृत्य सम्पन्न होता था। प्रत्येक मांगलिक अवसरपर नृत्य, गीत और वाद्य-ध्वनि सम्पादित की जाती थी। महाकवि वादिराजने गीत, नृत्य और वाद्यका उल्लेख करते हुए लिखा है—"गोपियाँ सुन्दर वेणुओके शब्दोसे प्रतिध्वनित, कोमल मधुर गीत गाने लगीं और हर्षविभोर होकर नृत्य करने लगी"।[4]

हम्मीरकाव्यमें धारादेवीके मयूरनृत्यका वर्णन आया है।[5] वर्द्धमानचरितमे अलसायो हुई वधुओके नृत्य करनेका उल्लेख है।[6] पद्मानन्द काव्यमें हल्लोसक—हेलया लस्यते—नृत्यतेऽस्मिन्निति हल्लीसकं—स्त्रीणां मण्डलेन नृत्यम्—अर्थात् स्त्रियाँ मण्डलाकार रूपमें जो नृत्य करती है, का कथन किया है। लास्य नृत्यका कथन भी इसी पद्यमें है।[7] वाद्यपूर्वक नृत्य करनेकी प्रथाका समर्थन प्राय: समस्त सस्कृत जैनकाव्योंमें उपलब्ध होता है। गाते हुए नृत्य करनेका निर्देश जैनकुमारसम्भवमे पाया जाता है।

सुश्रुताक्षरपथानुसारिणी ज्ञातसंमतकृताङ्गिकक्रिया।
आत्मकर्मकलनापटुर्जगौ कापि नित्यनिरता स्वमार्हतम्॥

—जैनकुमारसंभव १०।६१

प्रद्युम्नचरितमें महासेनने "नृत्यप्रगीतैरुरुजयनिनदैर्वंशवीणामृदङ्गैः" (प्रद्युम्न १४।४७) में संगीत और वाद्यपूर्वक नृत्य करनेका उल्लेख किया है। अतएव स्पष्ट है कि काव्यकालमें जीवनके भोगोपभोगोंमें संगीतकी गणना की जाती थी और संगीतका प्रचार सर्वत्र था। यशोधरचरितमे भी वादिराजने मनोहर गीतध्वनिपूर्वक सरस नृत्य किये जानेका उल्लेख किया है। मनोविनोदके लिए गीत और वाद्यपूर्वक नृत्य किया जाता था।[2]

इस प्रकार काव्योंमें संगीत सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है।

नकारे नष्टसर्वस्व धकारे घातमेव च।
हकारे निहता लक्ष्मीस्तस्माद्गीत न धारयेत्॥—जैन० कु० सं०, १०।७२ की टीका, पृ० ३५८।

१-२. जैनकुमारसंभव १०।६५।

३ द्विसन्धान काव्य ४।२२ तथा ४।२४।

४. पार्श्वनाथचरित ४।१३४-१३५।

५ हम्मीरकाव्य १३।११-१७।

६. वर्धमानचरित ६।१८।

७. पद्मानन्दकाव्य ६।१०२।

८ यशोधरचरित ३।५।

९. मेरुतुंग—जैनमेघदूत २।१४, २।१६।

दर्शन-तत्त्व

संस्कृत जैन काव्योंमें प्रसंगवश वैदिक और अवैदिक दोनों ही दार्शनिक विचार-धाराओंके मौलिक सिद्धान्त निबद्ध किये गये हैं। काव्यरसके साथ आत्मशोधन एवं आत्मतत्त्वका निरूपण प्रायः प्रत्येक काव्यमें आया है। यद्यपि कवियोंका उद्देश्य दर्शन-शास्त्रकी गूढ़ और गहन बातोंपर प्रकाश डालना नहीं है, तो भी काव्यात्मक वर्णनोंके सन्दर्भमें जीवन और जगत्‌के रहस्योंका उद्घाटन होनेसे विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायोंके मूलभूत सिद्धान्तोंकी मीमांसा समाविष्ट हो गयी है।

'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातुसे निष्पन्न होता है, इसका अर्थ स्थूल नेत्रसे स्थूल पदार्थोंको और सूक्ष्मनेत्र (प्रज्ञाचक्षु) से सूक्ष्म तत्त्वोंको देखना है। करणव्युत्पत्ति से 'दर्शन' का अर्थ है, जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया जाय। भाव-व्युत्पत्तिसे इसका अर्थ ज्ञान है। सामान्यतः दर्शनका प्रयोग आलोचनात्मक व्याख्यान, तार्किक पर्यवेक्षण या तत्त्वचिन्तनके लिए होता है। पारिभाषिक अर्थमें 'दर्शन' तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान अथवा परमपदज्ञानका वाचक है। वह आध्यात्मिक प्रत्यक्ष है। अनुभवका प्रमाणपूर्वक उपस्थापन एवं उसकी तर्कसंगत मीमांसा है।[1] संसारके मर्मका, जीवन-मरणके रहस्यका, सुख-दुःख के हृदयका, अपने स्वरूपका, पुरुष और पुरुषकी प्रकृतिका, जिस ज्ञानसे दर्शन हो जाय, वह 'दर्शन' है।[2] युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके प्रयत्नको ही 'दर्शन' कहते हैं।[3] वस्तुतः जीवनके प्रति मनुष्यका दृष्टिकोण ही दर्शन है, जो प्रत्येक व्यक्तिके लिए पृथक् होता है। मानव-मस्तिष्कमें आस-पासके पदार्थोंको समझनेके लिए जिज्ञासाकी लहरें उत्पन्न होती रहती हैं। फलतः संसार नित्य है या अनित्य ? सृष्टिकर्ता कोई है या नहीं ? आत्माका स्वरूप क्या है ? पुनर्जन्म होता है या आत्मा इस शरीरके साथ ही समाप्त हो जाती है ? ईश्वरकी सत्ता है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर ही दर्शनशास्त्रके प्रणयनका इतिहास है।

प्रायः समस्त संस्कृत जैन काव्योंमें आत्माकी सत्ता सिद्ध की गयी है। काव्य-रचयिताओंका यह उद्देश्य रहा है कि पाठक जगत्‌के भौतिक स्वरूप मात्रको इतिश्री न मान लें। वह आत्मस्वरूपको पहचाननेके लिए मननके साथ त्याग, तप, समाधि और भावना शुद्धिको अपनाये। सांसारिक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति कर निर्वाण सुखको प्राप्त करना ही प्राणीका यथार्थ लक्ष्य है। फलत. आत्मतत्त्वको न माननेवाले चार्वाक, तत्त्वोपप्लववाद, शून्यवाद (माध्यमिक), बाह्यानुमेयवाद (सौत्रान्तिक), क्षणिकवाद, मायावाद, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा प्रभृति दार्शनिक सम्प्रदायोंकी मीमांसा की

---

[1] इण्डियन फिलासफी, (इण्डियन एडिशन)—जार्ज अलेन ऐण्ड अन्विन लिमिटेड, लन्दन १९४० ई०, प्रथम जिल्द, पृ० ४३-४४।

[2] दर्शनका प्रयोजन (तृतीय संस्करण), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, सं० २०१०, पृ० २०।

[3] भारतीय दर्शन—चटर्जी एवं दत्त, पुस्तक भण्डार, पटना, पृ० १।

गयी है। सर्वप्रथम चार्वाक दर्शनकी समीक्षा चन्द्रप्रभ, धर्मशर्माभ्युदय, वर्द्धमानचरित, जयन्तविजय, पद्मानन्द एवं शान्तिनाथचरितके आधारपर उपस्थित की जायेगी।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक शब्द दो प्रकारसे निष्पन्न होता है। एक 'चर्व' धातुके आगे उणादि प्रत्यय जोड़नेपर चार्वाक शब्द बनता है तथा द्वितीय चारु और वाक् इन दो शब्दोंके योगसे। आचार्य हेमचन्द्रके मतानुसार चार्वाक वे हैं, जो पुण्य और पापके परोक्ष फल-स्वरूप वस्तुजातको चर्वित कर जाते हैं[1] अर्थात् परोक्षभूत परलोक आदिका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। द्वितीय व्युत्पत्तिके अनुसार चार्वाक वे हैं, जो लोगोंको प्रिय लगनेवाली बातें कहते हैं।[2]

चार्वाक दर्शनका उदय पारलौकिक बातोंकी चिन्ताकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप हुआ है। जो लोग यज्ञानुष्ठान, तपस्या या अन्य साधनाओं द्वारा परलोकको सुखमय बनाना चाहते थे, उनको प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य सुखकी विशेषता बतलानेके लिए चार्वाक दर्शन उपस्थित होता है। जैन काव्योंमें चार्वाक दर्शनका सन्दर्भ उसी स्थलपर आता है, जब कोई पात्र भौतिक सुखको निस्सार समझकर छोड़ता हुआ परिलक्षित होता है। संसारकी यातनाओंसे व्याकुल हुआ पात्र जब किसी ज्ञानी महर्षिके समक्ष पहुँचकर आत्मिक शान्तिका उपाय पूछता है, तो कोई साथी चार्वाक दर्शनके तर्क उपस्थित कर उस विरक्त होते हुए व्यक्तिको स्त्री, पुत्र, वैभव, मित्र, भोगोपभोग आदिमें आसक्त बनाये रखनेका प्रयास करता है। आचार्य अनेक तर्कों और प्रमाणोंके आधारपर देहात्मवाद या भौतिक सुखवादका निरसन कर आत्मवादकी स्थापना करते हैं।

धर्मशर्माभ्युदयमें बताया गया है कि जब दशरथ नामक नृपति परलोककी सिद्धिके हेतु राज्यलक्ष्मीको तृणके समान त्याग करने लगा, तो सुमन्त्र नामका मन्त्री कहने लगा—

"राजन्! आपके द्वारा प्रारम्भ किया हुआ यह कार्य आकाश-पुष्पके आभूषणोंके समान निर्मूल जान पड़ता है, क्योंकि जब जीव नामका कोई पदार्थ ही नहीं है, तब उसके परलोककी चर्चा करना बिलकुल व्यर्थ है। इस शरीरके सिवाय कोई भी आत्मा

---

[1] चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यते पुण्य-पापादिकं परोक्षजातमिति चार्वाका।
हेमशब्दानुशासन, स्वोपज्ञवृत्ति और न्यास सहित, जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, राजनगर, वी० नि० स० २४७७, २४८३, उणादि सूत्र ३७।

[2] They were called Carvaka because they would only eat but would not accept any other religious or moral responsibility. The word comes from carv to eat The Dhurtta Carvakas held that there was nothing but the four elements of earth, water, air and fire and that the body was but the result of atomic combination. There was no self or soul, no virtue or vice—History of Indian Philosophy, by S Das Gupta, Cambridge University Press, 1932, Vol I, P. 79

भिन्न अवयवोंमें न तो जन्मके पहले प्रवेश करती दिखलाई देती है और न मरनेके बाद निकलती ही है। जिस प्रकार गुड़, अन्नचूर्ण, पानी और आँवलोंके संयोगसे एक उन्माद पैदा करनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, अग्नि, जल और वायुके संयोगसे कोई इस शरीररूपी यन्त्रका संचालक उत्पन्न हो जाता है। अत: हे देव! प्रत्यक्षको छोड़कर परोक्षके लिए व्यर्थ प्रयत्न न करें। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो गायके स्तनको छोड़ सींगोसे दूध दुहेगा ?"[1]

सुमन्त्र द्वारा उपस्थित किये गये इस पूर्वपक्षमे चार्वाक दर्शनके निम्नलिखित सिद्धान्त प्रस्फुटित हुए हैं—

१. देहात्मवाद या अनात्मवाद[2]—शरीर ही आत्मा है, इससे भिन्न कोई आत्मा नही है। अतएव पुनर्जन्म और परलोकका अभाव है। यदि शरीरसे भिन्न कोई आत्मा है और मरनेपर यह आत्मा परलोक चली जाती है, तो बन्धु-बान्धवोंके स्नेहसे आकृष्ट हो वह वहाँसे लौट क्यो नही आती ? हमें इन्द्रियातीत कोई आत्मा दिखलाई नही पड़ती है। अत. भूतचतुष्टयके संयोगसे उत्पन्न शक्ति विशेष ही आत्मा है।

२. प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, अनुमान आदि प्रमाण किसी विश्वसनीय व्यक्तिने कहा "पर्वतपर अग्नि है" इस कथनसे हमे शब्द प्रमाण द्वारा अग्निका ज्ञान हुआ। पर इसके पश्चात् यह इच्छा होती है कि लक्षणों द्वारा अग्निका ज्ञान प्राप्त किया जाय। पश्चात् देखा कि पर्वतपर धुआँ उठ रहा है, अत: हेतु द्वारा अग्निको जाना; पर अभी भी प्राकृत वस्तुके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होनेसे हमारे मनमें विश्वास होनेपर भी दिदृक्षा बनी हुई है। अतएव एक बार जब हम अपनी आँखोसे पर्वतपर अग्निको देख लेते हैं, तब फिर किसी बातकी अपेक्षा नही रह जाती। शंका या तर्क-वितर्कके लिए अन्त.करणमे कोई स्थान नही रहता। इसी कारण प्रत्यक्ष निर्विवाद और निरपेक्ष सिद्ध होता है। उसे प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नही होती।

चार्वाकके मतमें अनुमानादि प्रमाणोमें निश्चयात्मकताका अभाव है, अत: वे प्रमाण नही है। इस प्रसंगमे चार्वाकव्याप्तिज्ञानकी ग्राहकताका भी खण्डन करता है।[3]

३. भौतिक सुखवाद[4]—प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाले इन्द्रिय सुखोके अतिरिक्त अतीन्द्रिय सुख नामक कोई वस्तु है ही नही। जो वस्तुएँ सुखदायक प्रतीत होती हैं, उनका उपभोग करना चाहिए। स्वर्ग या नरक, धर्म-अधर्म अथवा पुण्य-पाप आदिकी सत्ता नही है, अत. प्रत्यक्ष परिदृश्यमान जगत् ही सब कुछ है, इसका उपयोग करना ही जीवनका लक्ष्य है।

---

१. धर्म० ४।६२-६५।

२. तत शरीरी न शरीरत पृथक्, कोऽप्यस्ति तत् क. परलोकमेष्यति।
धर्मोऽप्यधर्मोऽपि न सौख्य-दु.खयो हेतु विना जीवमिमौ खपुष्पवत् ॥—पद्मानन्द ३।१२४

३. चन्द्रप्रभ० च० २।७१।

४. पद्मानन्द ३।१३०, वही, ३।१३१, वही ३।१३३।

४. भूतचतुष्टयवाद[1]—प्रत्यक्ष द्वारा भौतिक जगत्का ज्ञान प्राप्त होता है। यह जगत् चार प्रकारके भौतिक तत्त्वोंसे बना हुआ है। वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये चार ही भौतिक तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंका ज्ञान हमें इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है। संसारके जितने द्रव्य हैं, सभी इन चार तत्त्वोंसे बने हुए हैं।

५. मृत्युके बाद आत्मास्तित्वका अभाव[2]—मृत्युके बाद मनुष्यका अस्तित्व अवशिष्ट नहीं रहता। अतः भूतचतुष्टयसे उत्पन्न शक्ति भी मरनेपर नष्ट हो जाती है, अपने मूल भूतोंमें मिल जाती है।

चार्वाकमतका निरसन—उत्तरपक्ष

सुमन्त्रके प्रत्यक्ष भोगवादके तर्कोंको सुनकर राजा दशरथ कहने लगा—"मन्त्रिन्! *यह जीव अपने शरीरमें सुखादिकी तरह स्वसंवेदनसे जाना जाता है,* क्योंकि उसके स्वसंविदित होनेमें कोई भी बाधक कारण नहीं है। और दूसरी बात यह है कि बुद्धिपूर्वक कार्यव्यापार देखा जाता है, अतः जिस प्रकार अपने शरीरमें जीव है, उसी प्रकार दूसरेके शरीरमें भी जीव है, यह अनुमानसे जाना जाता है। तत्काल उत्पन्न हुआ बालक जो माताके स्तन पीता है, उसे पूर्वभवका संस्कार छोडकर अन्य कोई भी सिखानेवाला नहीं है। इसलिए यह जीव नया ही उत्पन्न होता है, ऐसा आत्मज्ञ मनुष्यको नहीं कहना चाहिए। यह आत्मा अमूर्त्तिक है और एक ज्ञानके द्वारा ही जानी जा सकती है, अतः इसे मूर्त्तिक दृष्टि नहीं जान पाती। अरे अन्यकी बात जाने दो, बड़े-बड़े निपुण मनुष्योंके द्वारा भी *लायी हुई तीक्ष्ण तलवार क्या कभी आकाशका भेदन कर सकती है।*"[3]

"भूतचतुष्टयके संयोगसे जीव उत्पन्न होता है, यह कथन भी निराधार है; क्योंकि बटलोईमें दाल बनाते समय जल, अग्नि, वायु और पृथिवी इन चारों तत्त्वोंका संयोग है, पर चेतनकी उत्पत्ति नहीं होती। गुड़ आदिके सम्बन्धसे होनेवाली जिस अचेतन उन्मादिनी शक्तिका कथन किया है, वह उदाहरण चेतनके विषयमें व्यवहृत नहीं किया जा सकता।"[4]

चार्वाकने केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना है, इस प्रमाणकी सत्यता भी वह अनुमानके अभावमें सिद्ध नहीं कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष

---

[1] पद्मानन्द ३।१२१।

[2] साक्षादभावात्त परलोकिनस्ततः' वही, ३।१२२।
तं प्राच्यजन्मप्रभवानुयायिनी' वही, ३।१३५। तथा—जैनकुमारसम्भव १०।६६।

[3] जीव स्वसंवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात्।
कायें परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टे' स्व इवानुमेय ॥—धर्म० ४।६८-७०।

[4] संयोगतो भूतचतुष्टयस्य यज्जायते चेतन इत्यवादि।
मरुज्ज्वलत्पावकतापिताम्भ स्थाल्यामनेकान्त इहास्तु तस्य ॥ वही, ४।७१-७२।

प्रमाण सर्वथा मान्य है, क्योंकि यह दोषरहित है, तो इस वाक्यमें हेतुका प्रयोग होनेसे अनुमान आ ही जाता है। वचनसे जहाँ भी प्रत्यक्षकी सिद्धि की जायगी, वहाँ अनुमान स्वयं ही आ उपस्थित होगा। प्रत्यक्ष प्रमाणके समर्थनके लिए कोई न कोई युक्ति उसे देनी ही पड़ेगी। इस युक्तिसे ही अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जाता है। यदि चार्वाक यह कहे कि अनुमानादि प्रमाण कभी-कभी दोषयुक्त होते हैं, और प्रत्यक्ष निर्दोष है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण है, और अनुमानादि प्रमाण नहीं, तो यह कहना भी असमीचीन है; क्योंकि प्रत्यक्ष भी कभी-कभी दोषयुक्त और भ्रामक देखा जाता है। अतः वह भी प्रमाण नहीं बन सकेगा।[1]

चार्वाक परलोक आदिका निषेध भी अनुमानके बिना नहीं कर सकता है और किसीको प्रतिभाकी जानकारी भी अनुमानके बिना सभव नहीं है। प्रत्यक्षकी प्रामाणिकता अनुमानके आधारपर ही सिद्ध होती है; क्योंकि अतीतके प्रामाणिक प्रत्यक्षोंके आधारपर ही भविष्यके प्रत्यक्षोंके सम्बन्धमें अनुमान किया जाता है। अतः चार्वाकको स्वपक्ष सिद्धि और परपक्षके निरसनके लिए अनुमानको प्रमाण मानना आवश्यक है।

चैतन्यवादका[2] निरसन कर भूतचतुष्टयरूप आत्मतत्त्वकी सिद्धि जो चार्वाकने की है, वह भी सदोष है। यतः पृथिवी, अप्, तेज और वायु ये तत्त्व हैं, इनके समुदायसे शरीर, इन्द्रिय और विषयाभिलाषा अभिव्यक्त होती है, तो यह चैतन्याभिव्यक्ति सत्की होती है या असत्की अथवा सदसद्रूपकी। प्रथम पक्षमें अनादि और अनन्तत्व चैतन्यकी सिद्धि हो जायगी। दूसरी बात यह है कि सत् चैतन्यकी अभिव्यक्ति माननेपर "परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः" यह भी स्वतः खण्डित हो जायगा। असत् चैतन्यकी अभिव्यक्तिरूप द्वितीय पक्ष स्वीकार करनेपर प्रतीति विरोध आता है, क्योंकि किसी असत् वस्तुकी अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती है। कथंचित् सत्-असत् माननेपर परमतका प्रवेश हो जायगा।

भूतचतुष्टयको चैतन्यके[3] प्रति उपादान कारण मानते है या सहकारी कारण मानते है। उपादान कारण तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि चैतन्यके साथ भूतचतुष्टयका अन्वय ही नहीं है। जिस वस्तुका जिसके साथ अन्वय रहता है, वही वस्तु उसका उपादान होती है, जैसे मुकुटका निर्माण सुवर्णके होनेपर होता है, स्वर्णका

---

[1] सोऽयं चार्वाक प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ इत्याचक्षाण कथमत एवाध्यक्षादे प्रामाण्यादिकं प्रसाधयेत। प्रसाधयन् वा कथमतीन्द्रियेतरार्थविषयमनुमानं न प्रमाणयेत।
—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९१२ ई०, द्वि० परि०, पृ० ४६।

[2] पृथ्व्यादिकेभ्यो तनुचेतना भवेत प्रत्येकमेभ्यो मिलितेभ्य एव वा—पद्मानन्द ३।१४६-४७।
तथा—पृथिव्य (व्या) पस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा, तेभ्यश्चैतन्यमित्यत्राभिव्यक्तिमुपयातीति प्रमेयकमल० सन् १९१२ ई०, पृ० ३० पू०।

[3] तोयादिकेभ्यो विसदृक्स्वरूपिणा···पद्मानन्द काव्य ३।१४६, तथा चैतन्यं प्रत्युपादानकारणत्वं सहकारिकारणत्व वा भूतानामिति··।
—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, सन् १९१२ ई०, पृ० ३०।

मुकुटके साथ अन्वय माना जायगा पर भूतचतुष्टयके रहनेसे तो आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती है, अतः भूतचतुष्टयको आत्माका उपादान नहीं माना जा सकता। एक बात यह भी है कि संसारमें सजातीय कारणसे सजातीय कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है, विजातीयकी नहीं। जब भूतचतुष्टय स्वयं अचेतन है तो चैतन्यकी उत्पत्तिमे कारण कैसे हो सकता है और यह कहना भी भ्रान्त है कि चैतन्यशक्ति शरीरके नाशके साथ ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि पूर्वभवकी स्मृति आदिसे पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है।

चार्वाकका यह कथन भी निराधार है कि चैतन्य आत्माका धर्म नहीं, शरीरका है। अतः पंचेन्द्रिय विषयोंका उपभोग ही जीवनका सर्वस्व है। स्वर्ग, नरक आदिकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती है। यह कथन भी निराधार है। यतः शरीरसे भिन्न स्वसंवेदन द्वारा आत्माकी सिद्धि होती है। अतएव जन्मसे पूर्व और पश्चात् भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध है।[1] चेतन आत्माकी सिद्धि हो जानेपर पुण्य, पाप, सुख, दुःख स्वर्ग, नरक आदिका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। जब आत्मा कर्त्ता और भोक्ता है, तो फिर भोगवादका वैयर्थ्य स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। मनुष्य विषय और कषायोंके अधीन होकर जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उसीके अनुसार वह पुण्य और पाप अर्जन करता रहता है। जब शुभका उदय आता है, तो प्राणीको अनुकूल सामग्रीके मिलनेसे सुखानुभूति होती है और जब अशुभका उदय आता है, तो प्रतिकूल सामग्रीके मिलनेसे दुःखानुभूति होती है। सुख और दुःखका कर्त्ता और भोक्ता यह जीवात्मा स्वयं ही है।

यदि ससार में पुण्य-पाप या शुभाशुभकी स्थिति न मानी जाय तो एक व्यक्तिको सुन्दर रूपवान् और प्रिय रूपमे पाते हैं, तो दूसरेको कुरूप अप्रिय और नाना विकृतियोंसे पूर्ण। एक ही माता-पिताकी विभिन्न सन्तानोंमे विभिन्न गुणोका समावेश पाया जाता है। एक पुत्र प्रतिभाशाली और सच्चरित्र है, तो दूसरा निर्बुद्धि और दुराचारी। एक धनी है तो दूसरा दरिद्र है, एक दुःखी है तो दूसरा सुखी है, इस प्रकारकी भिन्नता कर्मवैचित्र्यके बिना सम्भव नही है। जिसका जिस प्रकारका अदृष्ट होता है, वह उसी प्रकारकी भोगसामग्री प्राप्त करता है। अतएव जिस प्रकार कृषक खेतमें उत्पन्न हुई फसलमें-से कुछ धान्यबीजके लिए रख छोड़ता है और शेषको अपने उपयोगमें ले आता है, उसी प्रकार शुभोदयके फलको भोगनेके अनन्तर इस शरीर द्वारा तपश्चरण आदि कर पुनः शुभोदयका अर्जन करना बुद्धिमानी है। भोगोंका त्याग किये बिना साधना सम्भव नही और न बिना साधनाके उत्तम भोगोका मिलना ही सम्भव है। अतएव पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदिका विश्वास करना और पुनर्जन्म मानना तर्कसगत है।

---

१. पद्मानन्द ३।१४३, ३।१५३।

२. पद्म० ३।१५५, ३।१५६-१५७।

धूर्त चार्वाकके मायावादकी समीक्षा

पद्मानन्द काव्यमें मायावादकी मीमांसा उपलब्ध होती है; पर यह मायावाद वेदान्तका नहीं है; इसकी वर्णन शैली चार्वाक जैसी भौतिक है। इस सन्दर्भमें शंकरके अद्वैतवादी तर्कोंका अवलम्बन नहीं ग्रहण किया गया है। इसमें भौतिकवादकी जितनी गन्ध है, उतनी आध्यात्मिकवादकी नहीं। इसे हम एक प्रकारसे चार्वाकका मायावाद कह सकते हैं, पर विचारणीय प्रश्न यह है कि प्रत्यक्षैक प्रमाणवादी चार्वाकके यहाँ मायाका क्या स्थान? कवि अमरचन्द्रसूरिका यह मायावाद एक विचित्र प्रकारका है। हमारा अनुमान है कि यह मायावाद चार्वाकके अन्तर्गत धूर्तसम्प्रदायका है। वेणीसंहार नाटकमें मुनिवेषधारी एक धूर्त चार्वाककी चर्चा मिलती है।[1] जिस समय स्वपक्षीयविजयसंवादसे द्रौपदी और युधिष्ठिर अपार हर्षमें मग्न होकर अपने राज्याभिषेकके लिए सामग्री संचय कर रहे थे, उसी समय दुर्योधनका मित्र चार्वाक पिपासाकुल तपस्वीके वेषमें युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुआ था। इस धूर्त चार्वाकने दुर्योधनके गदाप्रहारसे भीमके धराशायी होनेका मिथ्या समाचार सुनाकर युधिष्ठिर और द्रौपदीको शोकाकुल बना दिया था। वेणीसंहारका यह तपस्वी धूर्त चार्वाक सम्प्रदायका अनुयायी था। धूर्तसम्प्रदायके अनन्तर सुशिक्षित चार्वाक सम्प्रदायका प्रादुर्भाव होता है। इस सम्प्रदायके अनुयायी लोकयात्रा निर्वाहके लिए कार्यकारण सम्बन्धको भी स्वीकार करते हैं।[2] इस सम्प्रदायके अनुसार अर्थ और काम ये दो पुरुषार्थ मान्य हैं। चार्वाकोंका एक सुशिक्षिततर सम्प्रदाय भी है, जो जैविक सुखको ही मनुष्यता मानता है।[3] अतएव यह स्वीकार करना कि पद्मानन्द काव्यका मायावाद धूर्तसम्प्रदायके चार्वाकका है, अनुचित नहीं।

इस मायावादके सन्दर्भकी संकेत ध्वनि यह है कि उपलभ्यमान सुखकी अपेक्षा महत्तर सुखकी कामना करना माया है, भ्रम है। भोग सुख क्षणिक होनेसे मिथ्या है, यह कथन औचित्य पूर्ण कदापि नहीं। मालतीकुसुमकी आयु किंशुकके समान दीर्घ नहीं होती, तब भी कोई उसे मिथ्या मानकर त्याग नहीं देता। अतः दीर्घसुख भोगनेकी अभिलाषासे विषय सुखोंका त्याग करना माया है। इस माया या भ्रमके कारण ही मनुष्य तपश्चरण एवं संयमकी प्रवृत्तिको स्वीकार करता है।

पद्मानन्दमें माया सिद्धान्तकी स्थापना करते हुए बताया है—"इस संसारमें तात्त्विक—वास्तविक कुछ भी नहीं है, यह जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है, वह सब मायाका विस्तार है। दृश्यमान यह जगत् स्वप्न और इन्द्रजालके समान अयथार्थ है।

---

१. वेणीसंहार, सम्पादक गुरुप्रसाद शास्त्री, प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय गायघाट, बनारस, सन् १९३९ ई०; षष्ठ अंक।

२. चार्वाक दर्शनकी शास्त्रीय समीक्षा, लेखक डॉ० सर्वानन्द पाठक, प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६५ ई०, पृ० ५४-५५।

३. वही, पृ० ५५-५६।

गुरु, शिष्य, पुण्य, अपुण्य, पुत्र, पिता, पत्नी, पति इत्यादि जितने व्यवहार हैं, वे सब अतात्त्विक हैं—झूठ हैं ।[1]

श्रृगाल मांसके टुकडे लेकर नदीके तटसे दौड़ता हुआ जा रहा था, कि उसे मछली दिखलाई पडी । वह मांसके टुकड़ेको नदीके तट पर छोड़, मछलीको पकड़ने दौड़ा । इसी बीच एक गीध उस मांसके टुकडेको लेकर उड़ गया और मछली भागकर नदीके गम्भीर जलमें प्रविष्ट हो गयी ।

इसी प्रकार जो उपलभ्यमान विषय-सुखोंको त्याग कर पारलौकिक सुखोंकी कामनासे तपश्चरण आदि करते हैं, वे स्वयं अपनेको धोखा देते हैं और उक्त श्रृगालके समान दोनों ही प्रकारके सुखोंसे वंचित हो जाते हैं ।[2]

उत्तरपक्ष

उक्त मायावाद असमीचीन है, यतः असत् वस्तुसे कार्यसम्पादन नहीं हो सकता है। यदि असत् वस्तु कार्यकारी मानी जाय तो स्वप्नमें दिखलाई पड़नेवाला हाथी सवारीका कार्य अवश्य सम्पन्न करेगा, पर ऐसा देखा नहीं जाता है, अतः सर्वथा असत् वस्तु कोई भी नहीं है ।[3]

यदि वस्तुओंमें पारमार्थिक[4] कार्यकारणता नहीं है, तो फिर सर्पसे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि सर्प वास्तविक भयोत्पत्तिका कारण ही नहीं है, तब उससे भयभीत होनेकी क्या आवश्यकता है तथा विपक्ष समूहसे भागते क्यों है ?

विषय भोगोंमें अत्यधिक तृष्णा रखनेवाले व्यक्तियोंने इस प्रकारके वितण्डावादके द्वारा लोकको धोखेमें डाला है। कल्याण और मंगलसे पराङ्मुख रहनेवाले व्यसनी व्यक्तियोंने अपने थोथे तर्कों द्वारा आत्मकल्याण करनेवालोंको व्यसनोंमें संलग्न करानेका प्रयास किया है ।[5]

राजन् ! विवेकका अवलम्बन[6] लेकर मोहान्धकूपसे निकलनेका प्रयास करना चाहिए । अतएव आप विषय प्रपंचको छोड़कर विषयत्याग रूप आत्म कल्याणके मार्गमें लगनेका प्रयास कीजिए । व्यक्तिकी तृप्ति इन विषयभोगोंसे अभी नहीं होती है, विषय प्रपंचमें जितना मनुष्य आसक्त होता जाता है, उतना ही वह विवेकको भूलता जाता है।

---

१. पद्मा० ३।१६६, वही, ३।१६३ ।
२. वही, ३।१६८, वही, ३।१६९ ।
३ वही, ३।१७१ ।
४ वही, ३।१७२ ।
५. वही, ३।१७३ ।
६ वही, ३।१७४, वही, ३।१८४ ।

पारमार्थिक सुखको माया कहना तर्कसंगत नही, इस सुखकी अनुभूति स्वसंवेदन द्वारा होती है। जो सुख क्षीयमान है और जिसके सेवनके लिए इन्द्रियसंयोगकी आवश्यकता है, वह कभी अभ्रान्त या शाश्वतिक नही हो सकता। अतीन्द्रिय सुख तथा शरीरसे भिन्न पुण्यापुण्यरूप कर्मोके फलोपभोगी चेतन आत्माका अस्तित्व स्वीकार करना परमावश्यक है। मायाके कारण इस मिथ्याभूत संसारमें पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, बन्धन-मुक्ति आदिका अनुभव होता है, यह कथन निराधार है। वस्तुओंको वास्तविक प्रतीति कार्य-कारण सम्बन्धरूप अनुमानसे होती है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान द्वारा पदार्थोंकी जानकारी प्राप्त की जाती है। अतएव आत्मकेन्द्रित, संकीर्ण, स्थूल, इन्द्रियोपभोगजनित पशु-सुलभ सुखको ही पुरुषार्थ मानकर ग्रहण करना अत्यन्त अनुचित है। आत्मिकसुखको माया कहना और इन्द्रियग्रामकी यथोचितरूपमे तृप्ति करना मनुष्यके उन्मादरोगके सिवाय और क्या कहा जा सकता है?

कार्य-कारण सम्बन्ध तथा कर्मफलको माया माननेसे लोकव्यवहारका निर्वाह नही हो सकता है। अतएव धूर्त चार्वाकने परलोक चिन्ता, संयम एवं तपस्याको माया कहा था, वह असमीचीन है। जीवनको सुखमय बनानेके लिए आध्यात्मिक और नैतिक नियमोंका पालन करना अत्यावश्यक है। आत्माका अस्तित्व स्वानुभूति या स्वसंवेदन द्वारा सिद्ध होता है।

तत्त्वोपप्लववाद

चार्वाकदर्शनके कई रूप उपलब्ध होते है। तत्त्वोपप्लव सिद्धान्त भी चार्वाकका है। यह भूतचैतन्यवादी चार्वाकसे भी नास्तिकतामें आगे है। भूतचैतन्यवादी कमसे कम भूतचतुष्टयका अस्तित्व स्वीकार करता था तथा उसकी सिद्धिके लिए एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी मानता था, पर तत्त्वोपप्लववादी कुछ भी नही मानता है। उसके मतसे समस्त प्रमेयतत्त्व और प्रत्यक्षादि प्रमाणतत्त्व उपप्लुत—बाधित हैं। अतः आत्मसिद्धिके लिए पुरुषार्थ करना व्यर्थ है।

चन्द्रप्रभचरितमें अनेक दार्शनिक चर्चाओंके साथ तत्त्वोपप्लववाद भी आया है। तत्त्वोपप्लववादी[1] चार्वाक कहता है कि प्रमाणसे सिद्ध होनेवाला जोव नामका कोई पदार्थ नही है। अतएव जीवके आश्रयसे सिद्ध होनेवाला अजीव पदार्थ भी कैसे सिद्ध

---

[1] केचिदित्थ यतः प्राहुर्नास्तिकागममाश्रिताः।
न जोवः कश्चिदप्यस्ति पदार्थो मानगोचर ॥ वीरनन्दी—चन्द्रप्रभ २।४४
अजोवश्च कथं जीवापेक्षस्तस्यात्यये भवेत्।
अन्योन्यापेक्षया तौ हि स्थूलसूक्ष्माविव स्थितौ ॥ वही, २।४५।
कथं च जोवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादयस्ततः।
सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये ॥—वही २।४६।
तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम् ॥
प्रसार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत् ॥ वही, २।४७।

हो सकता है ? ये दोनों परस्परमें एक-दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं। स्थूल और सूक्ष्म धर्म-की तरह एक-दूसरेके आश्रित हैं। अतएव आश्रयके अभावमें आश्रयी और आश्रयीके न रहनेसे आश्रयकी स्थिति सम्भव नहीं है। जब जीव नहीं है, तो जीवके धर्म, बन्ध और मोक्षादि किस प्रकार घटित हो सकते हैं। धर्मकी स्थिति धर्मीसे ही होती है।

इस प्रकार विचार करनेपर तत्त्वसिद्धिके सम्बन्धमें बाधा आती है। विचार करते ही उसका स्वरूप उपप्लुत—बाधित होने लगता है। और जब तत्त्वस्वरूप ही उपप्लुत है तो फिर प्रमाणादिका स्वरूप किस प्रकार स्थिर रह सकेगा ? वह तो विचार करते ही जीर्णवस्त्रके समान खण्डित हो जायगा।

अनेक मतावलम्बी[1] जीवको स्वीकार करते हैं, पर उसके स्वरूपके सम्बन्धमें उनमें पर्याप्त मतभेद है। अतः किसकी बातको यथार्थ समझा जाये। सांख्य जीवको त्रिकाल—भूत, भविष्यत् और वर्तमानमें व्याप्त और अविनाशी मानते हैं। मीमांसक जीवको कर्तृत्व शक्तिहीन, नैयायिक अज्ञानमय और बौद्ध जीवको विज्ञानमय मानता है। विभिन्न मतावलम्बियोंकी उक्त मान्यताएँ ही जीवका अभाव सिद्ध करनेमें सहायक हैं।

वस्तुतः यहाँ तत्त्वोपप्लववादी[2] तत्त्ववादियोंसे प्रश्न करता है कि जो तत्त्व—प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व आप मानते है, वे प्रमाण सिद्ध है अथवा बिना प्रमाणके। यदि प्रमाण सिद्ध हैं, तो वह प्रमाण भी किसी अन्य प्रमाणसे सिद्ध होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होनेसे किस प्रकार प्रमाणतत्त्वकी सिद्धि हो सकेगी। यदि यह कहा जाये कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाणका व्यवस्थापक है और द्वितीय प्रथमका। यह कथन भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है। यदि प्रमाणकी प्रमाणता स्वयं ही व्यवस्थित मानी जाये तो समस्त प्रमाणवादियोंके यहाँ कोई विवाद नहीं होना चाहिए। विवाद उठनेपर उसकी व्यवस्था प्रमाण द्वारा स्वीकार करनेमें पूर्ववत् अन्योन्याश्रय दोष आयेगा। यदि प्रमाणके बिना ही प्रमाणतत्त्वकी सिद्धि मानी जाये तो तत्त्वोपप्लवकी सिद्धि भी बिना प्रमाणके मान लेनेमें क्या हानि है ? यदि तत्त्ववादी यह माने कि विचारके बाद प्रमाणादि तत्त्वकी व्यवस्था होती है और विचार जिस किसी तरह किये जानेपर उपालम्भके योग्य नहीं है। अन्यथा किसी वचनका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। यह प्रक्रिया तो तत्त्वोपप्लवमें भी लगायी जा सकती है।

प्रमाणका प्रामाण्य किस प्रकार स्थिर किया जाता है[3]—(१) निर्दोष कारण समुदायसे उत्पन्न होनेसे (२) बाधा रहित होनेसे (३) प्रवृत्ति सामर्थ्यसे अथवा (४) अविसंवादी होनेसे। प्रथम पक्ष असमीचीन है, क्योंकि कारणोंकी निर्दोषता किस

---

[1] वीरनन्दी – चन्द्रप्रभ २।४८।

[2] विद्यानन्द अष्टसहस्री, रामचन्द्र नाथारंगजी गान्धी, अकलूज (सोलापुर), सन् १९१५ ई०, पृ० ३७।

[3] " किमदुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन, आहोस्विद्बाधारहितत्वेन, प्रवृत्तिसामर्थ्येन अन्यथा वा।... जयराशि—तत्त्वोपप्लवसिंह, ओरियंटल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, सन् १९४० ई०।

प्रमाणसे जानी जायेगी। प्रत्यक्ष और अनुमानादिसे निर्दोषता नहीं जानी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ गुण और दोष दोनोंका आश्रय हैं, अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें दोषोकी आशंकाकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। द्वितीय पक्ष भी असमीचीन है—क्योंकि बाधकोंकी उत्पत्तिके अभावमें प्रमाणता माननेपर मिथ्याज्ञानमें भी कुछ समयतक बाधकोंकी उत्पत्ति नही होती है, अतः वह भी प्रमाण हो जायेगा। यदि सर्वदाके लिए बाधाका अभाव माना जाये, तो इसका निश्चय किस प्रकार होगा ?

एक बात यह है कि किसी एकको बाधाकी उत्पत्तिका अभाव प्रमाणताका कारण है अथवा सबकी बाधाकी उत्पत्तिका अभाव प्रमाणताका कारण है। प्रथम पक्ष स्वीकार करनेपर विपर्ययज्ञानमें भी किसी-किसीको बाधाकी उत्पत्ति नही होती, अतः वह भी प्रमाण हो जायेगा। सबकी बाधाकी उत्पत्तिका अभाव भी अर्थज्ञानमें प्रमाणताका कारण नही है, क्योंकि किसीको बाधाकी उत्पत्ति नही होगी इसे अल्पज्ञानी कैसे जानेगा ?

प्रवृत्तिसामर्थ्य द्वारा भी प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय नही किया जा सकता, क्योकि इसमें अनवस्थादोष आता है। प्रवृत्तिसामर्थ्य है क्या ? यदि फलके साथ सम्बन्ध होनेका नाम प्रवृत्तिसामर्थ्य है तो बताइए कि वह सम्बन्ध ज्ञात होकर ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय कराता है या अज्ञात रहकर। अज्ञात रहकर तो वह ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चायक नही हो सकता है, अन्यथा कोई भी अज्ञात किसीका भी निश्चायक हो जायेगा। यह सर्वविदित सिद्धान्त है कि अज्ञात ज्ञापक नही होता। यदि ज्ञात होकर ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चायक है, तो बतलाइए कि उसका ज्ञान उसी प्रमाणसे होता है या अन्य प्रमाणसे। प्रथम पक्ष असत् है, अन्योन्याश्रय दोष होनेसे। द्वितीय पक्ष माननेपर चक्रकदोष आयेगा।

यदि सजातीय ज्ञानको उत्पन्न करनेका नाम प्रवृत्तिसामर्थ्य माना जाये, तो यह कथन भी गलत है, यतः सजातीय ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय प्रथम ज्ञानसे माननेपर अन्योन्याश्रय और अन्य प्रमाणसे माननेपर अनवस्थादोष आता है। इस प्रकार प्रमाणका लक्षण उत्पन्न नही होनेपर प्रमेयतत्त्वकी सिद्धिका अभाव स्वतः आ जाता है। अतएव प्रमाण-प्रमेय सभी उपप्लुत—बाधित है।

उत्तरपक्ष-समीक्षा

तत्त्वोपप्लववादीका यह कथन सर्वथा निराधार है कि जीवसिद्धि किसी भी प्रमाणसे नही होती। जीवके नास्तित्व[1] सिद्ध करनेमें जो अनुपलब्धि हेतु दिया गया है, वह निस्सार है; क्योकि प्रत्येक प्राणीमें जीवके होनेका प्रमाण यही है कि वह स्वसंवेदन[2] ज्ञान द्वारा अपनेको सुखी-दुःखी आदि अनुभव करता है।

---

[१] वीरनन्दी-चन्द्रप्रभ २।५४।

[२] वही, २।५५।

इसलिए सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भावोंको प्राप्त जीवपदार्थ प्रत्यक्ष जान पड़ता है। दूसरे यह नियम है कि धर्मी वह होता है, जो प्रमाणसे सिद्ध है। इस नियमके अनुसार तत्त्वोपप्लववादीके किये हुए इस अनुमानका कि—'जीव कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती', यहाँ जीवरूपी धर्मी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध ठहरता है।

जब जीव पदार्थ प्रमाणसे सिद्ध है, तब उसका नास्तित्व सिद्ध करनेके लिए व्यर्थ हेतुका प्रयोग कर अपनी हँसी कराना है। यह कहना[1] ठीक नहीं है कि ज्ञान कलश आदिके समान ज्ञेय होनेसे अपने स्वरूपको नहीं जानता, किन्तु अन्य पदार्थोंको जानता है अर्थात् जैसे कलशको अपना ज्ञान नहीं होता, पर औरोंको उसका ज्ञान होता है, उसी तरह ज्ञानको स्वयं अपने स्वरूपका निश्चय नहीं होता, किन्तु उसके रूपका निश्चय दूसरा उत्तरकालीन ज्ञान करता है, यह ठीक नहीं है। ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है, दीपकके समान। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपक अपनेको प्रकाशित करके ही अन्य विषयोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनेको जानकर ही अन्य विषयों या भावोंको जानता है। जो ज्ञान अपनेको नहीं जानता, उसकी प्रवृत्ति अन्य विषयोंमे हो ही नहीं सकती, क्योंकि पूर्व-पूर्वके ज्ञेयरूप ज्ञानका निश्चय करनेके लिए उत्तरोत्तर जो भी ज्ञान होंगे, वे भी ज्ञेय ही होंगे। अतः जब वे ज्ञानस्वरूपके निश्चय करनेमें हो चरितार्थ हो जायेंगे तब उनकी प्रवृत्ति दूसरे विषयमें नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर जो ज्ञान अज्ञात है, वह ज्ञान प्रथम ज्ञानका बोध करानेवाला नहीं हो सकता और यदि ऐसा नहीं मानते तो अनन्त अनवस्थादोषरूपी लता फैलकर समस्त आकाशको व्याप्त कर लेगी। इस कारण पदार्थका ज्ञान अप्रत्यक्ष ठहरा और उसके अप्रत्यक्ष होनेपर पदार्थकी भी वही स्थिति होगी। यदि अप्रत्यक्ष ज्ञानसे भी विषयका निश्चय स्वीकार करते हैं तो दूसरेका जाना हुआ विषय भी अपनेको विदित हो जायेगा। इस प्रकार जीव अपने शरीरमें अपने ज्ञानसे प्रत्यक्ष सिद्ध है और अन्यके शरीरमें अनुमानसे सिद्ध है। अतएव तत्त्वोपप्लववादी द्वारा खण्डन किये गये जीवका अस्तित्व स्वसंवेदन सिद्ध होता है।[2]

यदि यह कहा जाये कि गर्भमे[3] आनेसे लेकर मरणपर्यन्त स्वानुभवरूप प्रमाणसे जीवका अस्तित्व सिद्ध होनेपर भी गर्भमें आनेके पहले और मरनेके बाद किस प्रमाणसे उसका अस्तित्व सिद्ध होगा? यह तर्क समीचीन नहीं है, जिस प्रकार वायु, अग्नि और जल आदि अनादि अनन्त है, उसी प्रकार जीव भी अनादि, अनन्त सिद्ध है, क्योंकि जो नित्य है, उसका कोई कारण नहीं होता। नित्यको यह कारणहीनता असिद्ध नहीं है, यतः इस कारणहीनताको असिद्ध करनेवाला कोई भी हेतु नहीं है।

---

१. चन्द्रप्रभ २।५६-६०।

२. वही, २।६१।

३. वही, २।६२-६४।

यदि वायु आदि तत्त्वोंको जीवका कारण मानते हैं, तो वे सब मिलकर कारण हैं या पृथक्-पृथक् । प्रथम पक्ष असमीचीन है, यतः जड़ तत्त्वोंसे चेतन जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । प्रसिद्धि है[1] कि सजातीयसे सजातीयकी उत्पत्ति होती है, विजातीयसे नहीं । अन्यथा जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति और पृथ्वीसे वायुकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी । द्वितीय पक्ष माननेपर भूतोंके समान ही जीवोंकी संख्या हो जायेगी ।

यदि यह माना जाये कि ये तत्त्व चेतनजीवके उपादान कारण नहीं हैं, सहकारी कारण हैं, तो यह भी निराधार है; क्योंकि उपादानके अभावमें केवल सहकारी कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । अतएव अनुपलब्धि हेतुसे जीवका अभाव सिद्ध नहीं है[3]; क्योंकि उसकी उपलब्धि स्वसंवेदन ज्ञानसे होती है ।

आत्मा और पृथ्वी आदि तत्त्वोंकी एकता असिद्ध है । आत्मा चेतन है और तत्त्व जड है । दोनों पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होते हैं और दोनोंके लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं[4] ।

जो आत्मामें नित्यत्वैकान्त मानते हैं, उनका अभिमत भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे खण्डित है; क्योंकि सुख-दुःखादि[5] परिणामोंमें विवर्तमान आत्मा स्वानुभवसे प्रत्येक प्राणीमें पृथक्-पृथक् प्रकाशित होती है ।

अतएव जीव प्रत्यक्ष सिद्ध है और एक नहीं, अनेक हैं । सुख-दुःखादि परिणाम जीवसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं, क्योंकि यदि ये पर्याय जीवसे भिन्न होते तो ये जीवके हैं, इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पना नहीं हो सकती थी । यदि यह कहा जाये कि भेद रहनेपर भी समवाय सम्बन्धके निमित्तसे यह कल्पना हो सकती है, तो यह भी ठीक नहीं है । यतः नित्य उपकारी नहीं होता और सब प्रकारके सम्बन्धोंकी कल्पना उपकारके आधारपर ही पायी जाती है । अतएव समवाय सम्बन्धकी कल्पना भी अयुक्त है ।[6]

यदि नित्यको उपकारी माना जाये तो वह उपकार भिन्न है[7] या अभिन्न ? यदि भिन्न मानते हैं तो सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । यदि किसी अन्य उपकारकी अपेक्षा करके सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तो अनवस्था दोष आता है । अतएव जीव सुख-दुःखादि पर्यायोंसे अभिन्न है । यह स्वदेह प्रमाण, पुण्य-पापका कर्ता और तज्जन्य फलका भोक्ता, चैतन्यस्वरूप, प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है ।[8]

---

१. चन्द्रप्रभ २।६६ ।
२. वही, २।६८ ।
३. वही, २।६९–७२ ।
४. वही, २।७३ ।
५. यत' स्ववेदनावात्या···चन्द्रप्रभ २।७६ ।
६. वही, २।७७ ।
७. वही २।७८-७९ ।
८. वही, २।८७-८८ ।

जीवके सिद्ध होनेपर जीवतत्त्वकी अपेक्षा रखनेवाले अजीव आदि पदार्थ भी प्रमाणसे सिद्ध हो जाते हैं और पुण्य-पाप आदिकी व्यवस्था बन जाती है।[1]

प्रमाणके निरसनार्थ जो युक्तियाँ दी गयी हैं, वे भी निस्सार हैं। क्योंकि स्याद्वाददर्शनमें ज्ञानकी प्रमाणता न निर्दोषकारण समूहसे उत्पन्न होनेके कारण है, न बाधाओंके उत्पन्न न होनेके कारण है, न प्रवृत्तिसामर्थ्यके द्वारा और न अविसंवादित्वके द्वारा ही। यतः इन चारों पक्षोंमें पूर्वोक्त दोष आते हैं। अतएव स्याद्वाददर्शनमें प्रामाण्यकी व्यवस्था बाधकोंकी सम्भावनाका सुनिश्चित अभाव होनेसे ही होती है। समस्त देशों और समस्त कालोंके पुरुषोंकी अपेक्षा अभ्यस्त विषयमें प्रमाणमें बाधकोंकी सम्भावनाका अभाव स्वयं ही अच्छी तरह निश्चित प्रतीत होता है, अपने स्वरूपकी तरह। पर अनभ्यस्त विषयमें बाधकोंकी सम्भावनाका अभाव परसे सुनिश्चित होता है। इस प्रकार प्रामाण्यके निश्चयमें स्याद्वादियोंके यहाँ अन्योन्याश्रय, अनवस्था, अतिप्रसंग एवं चक्रक दोष नहीं आते हैं।

तत्त्वोपप्लववादी समस्त वस्तुओंके ज्ञापक प्रमाण विशेषोंका अभाव प्रत्यक्षसे करता है या अनुमानसे। प्रथम पक्ष असमीचीन है, अतिप्रसंग दोष आनेसे (प्रत्यक्ष प्रमाणकी स्वीकारताका दोष)। अनुमानसे भी उनका अभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि तत्त्वोपप्लववादी अनुमान मानता ही नहीं।

यदि स्वयं असिद्ध प्रमाण द्वारा वस्तुकी व्यवस्था मानी जाये तो समस्त प्रमाण सभी वादियोंके अपने-अपने इष्टतत्त्वके भी साधक हो जायेंगे। अतः तत्त्वोपप्लवकी सिद्धि किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। किसी न किसी ज्ञानको प्रमाणभूत मानकर चलना पडेगा। अतः प्रमाण-प्रमेयकी व्यवस्था माने बिना लोक व्यवहारका भी निर्वाह नहीं होगा।

बौद्धदर्शन-समीक्षा

(सन्तानवाद और क्षणिकत्व विचार)

चन्द्रप्रभचरित, पद्मानन्द और जैनकुमारसम्भवमें प्रसंगवश बौद्धदर्शनके कुछ सिद्धान्तोंकी समीक्षा की गयी है। चन्द्रप्रभचरितमें चित्तसन्ततिरूप आत्माका विस्तारसे विचार किया है। बताया है—"आत्माको चित्तसन्ततिमात्र मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि सन्तान सन्तानीको छोड़कर और कुछ नहीं है।"[2] बौद्ध कहता है—"परमार्थसन्तः कार्य-कारणभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानाः पूर्वोत्तरचित्तक्षणाः प्रतिक्षणविशरारवोऽपरामृष्टभेदाः सन्तानशब्दवाच्याः"[3] सन्ततिरूप चित्तक्षणोंको प्रतिक्षण विनाशीक माननेपर भी

---

[1] चन्द्रप्रभ २।८६।

[2] वही, २।८४।

[3] न्यायकुमुद चन्द्रोदय, प्रथम भाग, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९३८ ई०, पृ० ६-८।

सन्तानापेक्षया सम्बन्ध बना रहनेसे कर्मफल सम्बन्ध बन जाता है, अतः कृतनाश और अकृताभ्यागम नामक दोष नहीं आते। सन्तान सन्तानीसे भिन्न भी नहीं है, क्योंकि व्यवहार चलानेके लिए भिन्न क्षणोंमें भी अभेद कल्पना की जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि परस्पर भिन्न चित्तक्षणोंमें सादृश्यकी उत्पत्ति न होनेसे प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न नही होगा। जिस प्रकार प्रतिक्षण विनाशी दीपककी लौमें सादृश्य होनेसे 'स एवायं प्रदीपः' इस प्रत्यभिज्ञानकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार चित्तसन्ततिमें भी सादृश्यसे एकत्वकी प्रतीति हो जायेगी। और न नित्य एकान्तवादके समान इस चित्त सन्ततिमें क्रम और युगपत्से अर्थक्रियाकारित्वका विरोध ही होगा।

बौद्धदर्शनमें मान्य उक्त चित्तसन्ततिरूप सिद्धान्त भी सदोष है। क्षणिकैकान्तमें कार्यकारणभाव नही बन सकता है। इसमें कार्य क्या होगा और कारण क्या? जो प्रयत्नके अनन्तर उत्पन्न होता है, वह कार्य है, पर सर्वथा असत् वस्तुमें उत्पत्तिरूप कार्य सम्भव नही है। सन्ततिको पंक्ति और सेनाके समान बुद्धिकल्पित ही नही कहा जा सकता है, यह वास्तविक कार्य-कारण परम्पराको ध्रुवकोल है। अतः क्षणिकैकान्तमें कार्य-कारण व्यवस्थाके घटित न होनेपर असत्पना आ जायेगा। विनाशको पदार्थका स्वभाव माना है अर्थात् बौद्धदर्शनमें पदार्थ प्रतिक्षण स्वभावसे हो विनष्ट होते रहते हैं। घटकी उत्पत्तिके समयसे ही घट विनाश स्वभाववाला है, अतएव वह अपने विनाशके लिए मुद्गरादि कारणोकी अपेक्षा नही रखता है; किन्तु स्वतः ही प्रतिक्षण विनष्ट होता रहता है।[1]

बौद्धाभिमत सन्तान सन्तानीसे भिन्न है या अभिन्न? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जायेगा तो नित्यत्वापत्ति आ जायेगी। द्वितीय पक्ष स्वीकार करना भी असमीचीन है, यतः अभिन्न माननेपर सन्तान-सन्तानीका भेद हो नही बन सकेगा।

'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' यह भी असमीचीन है। यतः क्षणिकवाद माननेपर यदि एक व्यक्तिने कोई काम किया और दूसरे ही क्षण वह व्यक्ति दूसरा बन गया, तो इस दूसरे व्यक्तिको समानताके आधारपर पहलेके कर्मका फल कैसे दिया जा सकता है? अतः 'कृतनाश' नामक दोष आता है।

क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाली आत्मामें कृतकर्मोका योग भी सम्भव नहीं है। क्योंकि आत्माके परिवर्तन होनेके साथ कर्मयोगमें भी परिवर्तन होता जायेगा। अतः कृतकर्म भोग नामक दोष क्षणिकवादमें आता है।

क्षणिकवादमें भवभंग और मोक्षभंग नामक दोष भी आते हैं। क्षण-क्षण विनाशीक आत्माका संसार और मोक्ष कुछ भी सिद्ध नही हो सकता है। जब व्यक्ति क्षणिक है, तो दुःख भी क्षणिक होने चाहिए, अतः उनसे छुटकारा पानेका कौन प्रयत्न करेगा? और प्रयत्न करनेवाला भी क्षणिक है, इसलिए दुःखोंसे छुटकारा भी दूसरे ही

---

[1] जैनकुमारसम्भव, सूरत, सन् १९४६ ई०, १०।६३।

व्यक्तियोंको मिलेगा। क्षणिकवादमें निर्वाणकी स्थिति भी सिद्ध नही हो सकती है।

क्षणिकवादमें ज्ञान और मानसकी विभिन्न क्रियाएँ जैसे स्मृति (Memory) प्रत्यभिज्ञा (Recognition) आदिको भी नही समझा जा सकता है, जब क्षण-क्षणमें मनुष्यमें परिवर्तन होता रहता है, तो पिछले अनुभवकी याद किसे रह सकती है।

क्षणिकवादके आधारपर कार्यकारण सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है। यदि एक कारण एक ही क्षण रहता है और अगले क्षण बिलकुल ही नही रहता, तो उससे कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? वस्तुका पूर्वापर सम्बन्ध-रहित सर्वथा विनाश माननेपर क्रमका अभाव होनेसे अर्थक्रियाकारित्व कभी भी सम्भव नही है। अतः आत्माको क्षणिक नही माना जा सकता।[1]

सांख्य दर्शन

आत्माकी भोक्तृत्व शक्तिको माननेवाले सांख्य दर्शनके अनेक विचारोको काव्य प्रणेताओंने पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थित कर सच्चिदानन्दरूप आत्माकी सिद्धि की है। काव्य रचयिताओका ध्येय अपने पात्रोके समक्ष आत्मा और जगत्का वास्तविक सम्बन्ध दिखलाना ही है। अतः महाकवि वीरनन्दोने 'नित्य' 'एकान्त' पक्षका निरसन करते हुए सांख्य दर्शनकी समीक्षा की है।[2] साख्य दर्शनमें मूलतः दो तत्त्व है—प्रकृति और पुरुष। यों पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये गये है। साख्य दर्शनका मुख्याधार सत्कार्यवाद है। सत्कार्यवाद माननेवालोमें भी दो मत है—परिणामवाद और विवर्तवाद। परिणामवादके अनुसार कारण कार्यमे बदल जाता है और विवर्तवादके अनुसार कारणका कार्यमे बदल जाना वास्तविक नही, बल्कि आभासमात्र है। सांख्य परिणामवादको मानता है, इसके अनुसार समस्त उत्पत्ति आविर्भाव है और विनाश तिरोभाव है। सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए साख्य दर्शनमें निम्न तर्क उपस्थित किये गये है।—

१. असदकरणात्—जो नही है, उसमें उत्पन्न करनेका सामर्थ्य नहीं है। असत्में कारण व्यापार नही हो सकता है। अतः यदि कार्य कारणमे पहलेसे ही वर्तमान रहे तो वह आकाश कुसुम हो जायेगा अथवा शशविषाणके समान हो जाये तो कभी पैदा हो नही कर सकते हैं।

२. उपादानग्रहणात्—वस्तुकी उत्पत्तिके लिए एक विशेष कारणकी आवश्यकता होती है। यदि उपादान कारणमें कार्यका अस्तित्व न माना जाये, तो उससे कार्य उत्पन्न नही हो सकता है। अत: वास्तवमे कार्य उपादान कारणकी अभिव्यक्ति ही है, क्योंकि वह उसमे अनिवार्य रूपसे सम्बन्धित है।

३. सर्वसम्भवाभावात्—यदि उपादान कारणका कार्यसे सम्बन्ध न हो तो किसी भी कारणसे कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है।

---

१. पद्मानन्द ३।१६२, ३।१६३, ३।१६५।

२. चन्द्रप्रभचरित २।७४-८३।

४. शक्तस्य शक्यकरणात्—उत्पत्ति अव्यक्तशक्तिको व्यक्त करना है। जिस कारणमें जिस कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति होगी, उससे वही कार्य उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न माना जाये तो बालूसे तैल भी निकाला जा सकता है।

५. कारणभावात्—कारण और कार्यमें अभेद अथवा तादात्म्य है। अभिव्यक्तिके मार्गसे बाधाको हटा देनेसे कार्य कारणसे आविर्भूत हो जाता है। अतः कारणमें कार्य पहले ही मौजूद है।

परिणामवादके आधारपर सांख्य दार्शनिक जगत्के मूल कारण प्रकृतिपर पहुँचते है। यह प्रकृति ही संसारका मूल उपादान है। यह समस्त विषयोंका अनादि मूलस्रोत होनेसे नित्य और निरपेक्ष है; यतः सापेक्ष और अनित्य पदार्थ जगत्का मूल कारण नही हो सकता। मन, बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म कार्योंका आधार होनेके कारण प्रकृति गहन, अनन्त और सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति सम्पन्न है। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणोसे प्रकृति बनी है। इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है तथा समस्त पदार्थोंमे इन तीनों गुणोका अन्वय देखा जाता है, अतः प्रकृति ही समस्त पदार्थोंका उपादान है। कारणरूप प्रकृति अव्यक्त है और कार्यरूप व्यक्त[1]। प्रकृतिसे प्रथम बुद्धि उत्पन्न होती है, इसे महान् कहते है। महान्से मैं सुखी हूँ, सुन्दर हूँ आदि अहंकार; अहंकारसे चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ; इस प्रकार कुल सोलह तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है[2]। पुनः पंच तन्मात्राओंसे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतोकी उत्पत्ति होती है। इन २३ तत्त्वोंमें प्रकृति कारण ही है, कार्य नही। महान्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ कार्य और कारण दोनो हैं, शेष सोलह केवल कार्य है, कारण नही। पुरुष न किसीका कारण है और न कार्य।

सांख्य दर्शनमे पुरुष (आत्मा)का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे भिन्न है; शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, निर्गुण और निष्क्रिय है। ज्ञान गुण प्रकृतिमें रहता है, पुरुषमें नहीं। यह उदासीन, अकर्ता, मध्यस्थ, साक्षी और द्रष्टा है। प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष भोक्ता है। प्रकृतिके समस्त कार्य पुरुषके लिए होते हैं; पुरुष प्रकृतिका अधिष्ठाता है।

अचेतन प्रकृति अन्धी है और निष्क्रिय होनेसे पुरुष लँगड़ा है। अतः अन्धे

---

[1] हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
—सांख्यकारिका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९५३ ई०, १०।

[2] प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशक।
तस्मादपि षोडशकात पञ्चभ्य: पञ्चभूतानि॥—वही, २२।

और लँगडे पुरुषोंके संयोगके समान प्रकृति और पुरुषके संयोगसे प्रकृति कार्य करती है।[१]

चन्द्रप्रभचरितमें सांख्य द्वारा अभिमत कूटस्थ नित्यकी मीमांसा की गयी है। पुरुष—आत्मामें कभी कोई विकार नही होता। प्रकृतिका घनिष्ठ सम्बन्ध उसमें किसी भी प्रकारका परिणमन उत्पन्न नही कर सकता है, जो कुछ भी विकार दिखलाई पड़ता है, वह प्रकृतिका धर्म है।

समीक्षा

सांख्य द्वारा अभिमत जीवमें नित्यत्वैकान्तकी कल्पना प्रमाण द्वारा सिद्ध नही होती है; क्योंकि सुख-दुःख आदि परिणामोमें विवर्तमान जीव विभिन्न प्रकारके सुख-दुःखके चक्रमें पड़ा हुआ है। प्रत्येक प्राणीमें अनुभवसे सुख-दुःखादिरूप परिणामोंकी प्रतीति हो रही है। अतः जीवको नित्यैकान्त नही माना जा सकता है। सुख-दुःख आदि परिणाम जीवसे भिन्न नही है। यदि ये परिणाम जीवसे भिन्न होते तो ये जीवके हैं, इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पना हो नही हो सकती है। यदि यह कहा जाये कि सुख-दुःखादि पर्यायें जीवमें समवाय सम्बन्धसे रहती है, तो यह कहना भी असत्य है, क्योकि नित्य पदार्थ किसीका समवायी नही बन सकता है। इसका कारण यह है कि नित्य पदार्थ उपकारी नहीं होता है और बिना किसी भी तरहके उपकारके लिए दो पदार्थोंमें सम्बन्धकी व्यवस्था नही बन सकती है। यदि किसी प्रकार नित्य पदार्थको उपकारी मान भी लिया जायं तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह उपकार उस नित्य पदार्थसे भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है, तब तो उसका कैसे कहला सकता है? और यदि अभिन्न है, तब सुख-दुःखादि पर्यायासे जीव भी अभिन्न सिद्ध होगा। इस प्रकार जीवका परिणामित्व सिद्ध हो जानेसे उसकी कूटस्थ नित्यताका खण्डन हो जाता है।

आत्माको अकर्ता भी नही माना जा सकता है, क्योंकि कर्तृत्व शक्तिहीन आत्मामें बन्ध-मोक्षकी स्थिति सिद्ध नही हो सकेगी। जो शुभ और अशुभ क्रियाओको नहीं कर रहा है, वह किस प्रकार बन्धको प्राप्त हो सकता है। आत्माको अकर्ता मानकर बद्ध मानना किसी तरह युक्तिसंगत नही है। जो लोग आत्माका भोक्ता मानते हैं उन्हें उसे कर्ता मानना ही पड़ेगा, क्योंकि भोक्ताका अर्थ भुजि क्रियाका कर्ता होता है। सांख्य दर्शनका यह सिद्धान्त निराधार है कि कर्तृत्व शक्ति कही रहती है और भोक्तृत्व शक्ति कही। वस्तुतः कर्तृत्व और भोक्तृत्वमें कोई विरोध नही है।[२]

यदि यह कहा जाये[३] कि प्रकृति—प्रधानके बन्ध आदि होता है, तो यह कहना

---

१. सर्वदर्शनसग्रह चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६४ ई०, ११ सूत्र, पृष्ठ ६४५।

२. चन्द्रप्रभ २।७५-७७ तथा २।८१।

३. वही, २।८३।

भी अनुचित है; क्योंकि अचेतन प्रकृतिमें बन्धकी कल्पना नही की जा सकती है। यह कैसी विचित्र बात होगी कि करे कोई और फल किसीको मिले। जब प्रकृति कर्त्री है और पुरुष भोक्ता है, तो पुरुषको भी कर्ता और प्रकृतिको भी भोक्ता मानना होगा। पर जड़प्रकृतिमें बन्ध और फलानुभवनकी क्रिया नही मानी जा सकती है, अन्यथा बहुत बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न होगी। अतएव जीवको अकर्तृत्व मानना अत्यन्त पाप है।

सांख्यने संसार[1] के पदार्थोंको प्रकृतिका विकार होनेसे सत्त्व, रज और तमरूप माना है, यह भी असिद्ध है। घटादि पदार्थोंमें सत्त्व, रज और तम इन गुणोंका अन्वय भी नही पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि अमूर्त आकाश और मूर्त पृथिवीकी उत्पत्ति एक कारणसे नही हो सकती है। यदि किसी एक कारणसे विजातीय कार्यकी उत्पत्ति मानी जाये तो अचेतन भूतोंसे चेतनकी उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी।

अन्वय-व्यतिरेक[2] के निश्चयसे ही कार्य-कारण सम्बन्ध माना जाता है, पर प्रधानसे महदादिकी उत्पत्तिके निश्चयमें अन्वय-व्यतिरेककी उपलब्धि नही है; अत. प्रधानसे महान् और महान्से अहंकार इत्यादि सृष्टि प्रक्रिया सिद्ध नही हो सकती है। एक बात यह भी है कि नित्य कारण नही हो सकता है, क्रम-अक्रमरूपसे अर्थक्रियाका विरोध होनेसे।

जो सत्कार्यवाद कहा गया है, वह सर्वथा सत् है या कथंचित् ? दूधमें सर्वदा दहीकी स्थितिके वर्तमान रहनेपर दूधसे सम्पन्न होनेवाले कार्य किस प्रकार सम्पन्न होंगे ? अतएव जो सर्वथा सत् है, वह किसीके द्वारा उत्पन्न नही हो सकता। प्रधानमें कारणता भी नही बन सकती है, कार्यके अविद्यमान रहनेसे। जो अविद्यमान कार्य है, उसमे कारणता नही हो सकती है। यदि शक्तिरूपसे सत्कार्य मानते है तो शक्ति दध्यादि कार्योंसे भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न माननेपर कारणमें कार्यका सद्भाव किस प्रकार सिद्ध होगा ? अभिन्न माननेपर दध्यादि नित्य हो जायेंगे, अतः कारण व्यापार व्यर्थ हो जायेगा। जो उत्पत्ति पक्षमे दिये गये है, वे अभिव्यक्ति पक्षमें भी ज्योंके त्यों आपतित होते है। अतएव ज्ञानदर्शन-चारित्ररूप, कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति समन्वित आत्मा है।

मीमांसादर्शन

चन्द्रप्रभचरित और जैनकुमारसम्भवमें मीमांसादर्शनकी चर्चा आयी है। जयन्तविजयकाव्यमें भी मीमासकके द्वारा सर्वज्ञसिद्धिका निरसन तत्पश्चात् उत्तरपक्षके रूपमें सर्वज्ञका समर्थन किया गया है। पक्ष-प्रतिपक्षकी स्थापनामें प्रायः उन्ही तर्कोंका प्रयोग किया गया है, जो तर्क जैन न्याय ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं।

---

[1] जैनकुमारसम्भव १०।६२।

[2] प्रमेयकमलमार्तण्ड, बम्बई सन् १९१२ ई०, द्वि० प०, पृ० ८० ८४।

मीमांसक जीवाजीवादि[1] पदार्थोंको स्वीकार करते हैं, पर मोक्षके सम्बन्धमें विवाद करते हैं। उनका अभिमत है कि स्वर्गके अतिरिक्त मुक्ति नामका कोई पदार्थ ही नहीं है, पर उनका यह कथन अनुमान-बाधित है। कर्मक्षयकी सिद्धि करनेके लिए सबल अनुमान वर्तमान है, यथा—किसी आत्मामें समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है, यतः कर्मक्षयका कार्यस्वरूप सर्वज्ञत्व उसके बिना नहीं हो सकता है—'कर्मक्षयो मोक्षोऽस्ति तत्कार्यसकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तेः' (चन्द्र० २।९२) इस अनुमानका साधक सर्वज्ञत्व हेतु असिद्ध नही है, क्योंकि उसका बाधक कोई प्रमाण नही है। प्रत्यक्ष तो सर्वज्ञका बाधक नही हो सकता है, क्योंकि वह इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय पदार्थके सम्बन्धमें न इस प्रत्यक्ष द्वारा विधान ही सिद्ध हो सकता है और न निषेध ही। अनुमान भी सर्वज्ञका खण्डन करनेमें समर्थ नही है, क्योकि उसके पुरुषत्वादि हेतु अनेकान्त दोषसे दूषित है। जो जो पुरुष होता है, वह वह सर्वज्ञ नही हो सकता, यदि यह व्याप्ति स्वीकार की जाये, तो कोई पुरुष वेदोंके द्वारा भी सब पदार्थोंका जाननेवाला नही हो सकता। जिस प्रकार पुरुष होनेपर भी किसीको वेदार्थका सम्पूर्ण ज्ञाता माना जाता है, उसी प्रकार आवरणके क्षय होनेसे किसीको समस्त पदार्थोंका ज्ञाता माना जा सकता है। अनुमानके समान उपमान भी सर्वज्ञका बाधक नही है। जैसे किसी भी देश और कालमे गधा सीगवाला नही हो सकता, वैसे कभी भी कोई पुरुष सर्वज्ञ नही हो सकता, यह उपमान तो सर्वज्ञाभाव वादियोके इष्टका विघातक है। यदि इस प्रकारका उपमान मान लिया जाये तो हस्त-पद विशिष्ट पुरुषरूप आकाशगामी विद्याधर आदिका आकाशमे चलना भी असिद्ध हो जायेगा। अर्थापत्ति प्रमाणसे भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध नही कर सकते है; क्योकि ऐसा कोई भी कार्य नही है, जो सर्वज्ञाभावकी कल्पना करनेवाला हो। जिस प्रकार दिनमें भोजन न करनेवाले देवदत्तको देखकर यह कल्पना होती है कि वह रात्रिमें अवश्य खाता होगा; क्योंकि भोजनके बिना पीनत्वकी सम्भावना नही की जा सकती है। अतः सर्वज्ञाभावको सिद्ध करनेवाला कोई अर्थापत्तिका उत्पादक कार्य नही है। नित्य-अनित्य आगम सर्वज्ञाभावको सिद्ध नही कर सकता है। अतएव मोक्षकी सिद्धि सर्वज्ञत्व हेतुके द्वारा हो जाती है।[2]

पुनः मीमांसक कहता है—धर्म, अधर्म, स्वर्ग, देवता, नरक आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अवश्य है, पर उनका ज्ञान वेदके द्वारा हो संभव है, किसी पुरुषके द्वारा नहीं। पुरुष रागादि दोषोसे युक्त है; क्योंकि रागादि दोषोंसे युक्त होना पुरुषमात्रका स्वभाव है तथा वे किसी भी पुरुषसे सर्वथा दूर नहीं हो सकते। इस प्रकारकी अवस्थामे अज्ञानी पुरुषोके द्वारा उन धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान संभव नही है। बताया गया है—

---

[1] चन्द्रप्रभ २।६१-६६।
[2] वही, २।१००-१०१।

"चोदना हि भूतं, भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलं, नान्यत् किचनेन्द्रियम्" ।—शावरभाष्य १।१।५

अतः धर्मज्ञानमे वेद ही अन्तिम प्रमाण है, रागादिमान होनेसे कोई पुरुष विशेष नही। पुरुषोंका अनुभव और तर्क परस्परमे बाधित होनेसे कर्मज्ञताकी सिद्धि नही हो सकती है। धर्माधर्मका यथार्थ साक्षात्कार करनेवाला कोई भी व्यक्ति नही है और न उस प्रकारके व्यक्तिकी सिद्धि किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे ही होती है। यथा—

सर्वज्ञो नास्ति यद्ग्राह्यः प्रमाणैः पञ्चभिर्न सः ।
यदेवं तद्‌भवेद्व यथा व्योमसरोरुहम् ॥

—जयन्तविजय, बम्बई, सन् १९०२ ई०, १५।१७

यदि प्रत्यक्षसे सर्वज्ञका सद्भाव मानते हैं, तो किस इन्द्रिय प्रत्यक्षसे। जिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्षसे सुन्दर रमणियोका रूप-दर्शन होता है, उस प्रकार कोई भी सर्वज्ञ चक्षु इन्द्रियके द्वारा कभी नही दिखलाई पड़ा है।[1]

रसना इन्द्रियसे जिस प्रकार रमणीके अधरामृतका स्वाद अवगत किया जाता है, उस प्रकार कोई सर्वज्ञ तो रसना इन्द्रियके द्वारा आस्वादित नहीं होता।[2]

श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा सुन्दर और माधुर्यपूर्ण लय एवं मूर्च्छनाओंसे युक्त गायन-वादनका ग्रहण होता है, उस प्रकार श्रोत्रसे सर्वज्ञकी कोई ध्वनि सुनाई नही पड़ती है।[3]

कर्पूर, कस्तूरी, केसर, चन्दन प्रभृति पदार्थोंकी सुगन्धको घ्राण इन्द्रिय ग्रहण करती है, पर इसके द्वारा सर्वज्ञकी गन्ध कहीसे भी ग्रहण नही की जाती है। यदि कोई सर्वज्ञ है तो पुष्पोंकी गन्धके समान उसका भी घ्राण इन्द्रियसे ग्रहण होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नही है।[4]

स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा भी सर्वज्ञका स्पर्श नही होता है। जिस प्रकार स्पर्शन इन्द्रियसे विभिन्न प्रकारके स्पर्शोंकी अनुभूति प्राप्त की जाती है। अंगनाके विविध अंगोंका स्पर्श कर आह्लादका अनुभव किया जाता है, उस प्रकार सर्वज्ञ स्पर्शसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है।[5]

इस प्रकार पंचेन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा सर्वज्ञका ग्रहण संभव नही है। अनुमानके द्वारा भी उस सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि साध्य-साधनके सम्बन्धको जिसने ग्रहण किया है, ऐसे पुरुषके ही साधनरूप एक देश धूमके देखनेसे असन्निकृष्ट—दूरवर्ती परोक्ष अग्निमें, जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे अनुमान कहते हैं। सर्वज्ञके सद्भावका अविनाभावी न तो स्वभाव लिंग ही दिखलाई पड़ता है और न कार्यलिंग ही। सर्वज्ञके

---

[1] जयन्तविजय १५।१८।

[2] वही, १५।१९।

[3] वही, १५।२०।

[4] वही, १५।२१।

[5] वही, १५।२२।

जाननेसे पहले उसके सद्भावका अविनाभावी सर्वज्ञके स्वभावका और उसके कार्यका निश्चय नही किया जा सकता ।[1]

उपमानसे भी सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध नही होता; क्योंकि सर्वज्ञके सदृश अन्य पुरुषका मिलना असम्भव है । हम गौको देखकर वनमें उसके सदृश गवयका निश्चय करते हैं, पर सर्वज्ञके सदृश कोई भी व्यक्ति दिखलाई नही पड़ता है, अतएव उपमान सर्वज्ञ सद्भावको सिद्ध करनेमें असमर्थ है ।

आगमसे भी सर्वज्ञका सद्भाव नही जाना जाता । यदि आप कहें कि आगमसे सर्वज्ञका सद्भाव जाना जाता है, तो बतलाइए कि नित्य आगम सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध करता है कि स्मृति आदि रूप अनित्य आगम । नित्य आगम तो माना नही जा सकता; क्योंकि वह अर्थवादरूप है अर्थात् प्रकृतिगत तत्त्वोंका सामान्यरूपसे स्तुति निन्दा करनेवाला और यज्ञ-यागादि कर्मविशेषोंका संस्तवन करनेवाला है, अतः उसके द्वारा सर्वज्ञरूप किसी पुरुषविशेषके सद्भावका ज्ञान होना संभव नही है । दूसरी बात यह भी है कि वेदरूप अनादि आगमसे आदिमान् पुरुषका कथन होना घटित भी नही हो सकता । अनित्य आगम भी सर्वज्ञको सिद्ध नही करता है । बतलाइए यह अनित्य आगम सर्वज्ञ प्रणीत है या असर्वज्ञ प्रणीत । प्रथम पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष है, प्रथम सर्वज्ञ सिद्ध हो जाये, तब उसके द्वारा प्रणीत आगमकी प्रमाणता सिद्ध हो और जब आगमकी प्रमाणता सिद्ध हो जाये, तब उसके द्वारा सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध हो । असर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम तो सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमे असमर्थ है । अतएव आगम द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि असम्भव है ।[3]

अनन्यथाभूत अर्थके अभावसे अर्थापत्ति[4] भी सर्वज्ञके सद्भावकी बोधिका नही है; क्योकि धर्मादिकका उपदेश व्यामोहसे भी सम्भव है । उपदेश दो प्रकारका है—सम्यक् उपदेश और मिथ्योपदेश । उनमेंसे मनु आदि पुरुषोंका सम्यक् उपदेश है; क्योंकि उनके वेदमूलक यथार्थज्ञानका उदय पाया जाता है और बुद्ध आदिका उपदेश मिथ्या है, व्यामोहपूर्वक है, वेदके अर्थका ज्ञाता न होनेसे ।

अतएव सर्वज्ञके विषयमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणोकी प्रवृत्ति न होनेसे अभाव प्रमाणकी ही प्रवृत्ति होती है; इसके द्वारा तो सर्वज्ञका अभाव ही सिद्ध होगा[5], सद्भाव नही । भावअंशकी सिद्धि प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंसे ही होती है ।

---

१. जयन्तविजय १५।२४ ।
२. वही, १५।२५ ।
३. वही, १५।२६ ।
४. वही, १५।२७ ।
५. वही, १५।२८ ।

उत्तरपक्ष

"नास्ति सर्वज्ञः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकगोचरातिक्रान्तत्वात्" कोई सर्वज्ञ नही है, सदुपलम्भक प्रमाणपंचकका विषय न होनेसे, यह अनुमान असमीचीन है। सर्वज्ञको न ग्रहण करनेवाले जिन पाँच प्रमाणोंका आपने उल्लेख किया है, वे आत्मीय हैं या परकीय ? यदि यह कहें कि स्वयं प्रत्यक्षादिके द्वारा गृहीत न होनेपर वस्तुका सद्भाव नहीं माना जाता है, तो दादा, परदादाका अस्तित्व तो आपने प्रत्यक्षसे जाना नही है, फिर आप अपने दादा-परदादाका अस्तित्व क्यों स्वीकार करते हैं। यतः उनके समक्ष तो आपका जन्म भी नही हुआ था, फिर बिना देखे-समझे उनको अपने दादा-परदादाके रूपमें आपको स्वीकार नही करना चाहिए। यदि आप यह कहें कि अन्य प्रामाणिक व्यक्तियोके द्वारा देखे जानेसे उनका अस्तित्व स्वीकार करना पडता है, तब तो आपको सर्वज्ञका अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा; क्योंकि अन्य व्यक्तियोंके प्रमाणसे तो सर्वज्ञको सिद्धि होती है।[१]

सर्वज्ञाभाव सिद्धिके लिए जिन पंचप्रमाणोंका आपने प्रयोग किया है, वे ज्ञात हैं या अज्ञात। प्रथम पक्ष माननेपर अनवस्था नामका दोष आयेगा; क्योंकि प्रमाणपंचकसे जिसने यह जान लिया कि कोई सर्वज्ञ नहीं है, तो जाननेवाला व्यक्ति स्वयं ही सर्वज्ञ हो जायेगा। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करते हैं तो हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायेगा।[२]

"पुरुषत्वान्न सर्वज्ञः अस्मदादिवत्" यह अनुमान भी अयुक्त है, क्योंकि सन्दिग्ध विपक्षावृत्ति होनेसे। यदि यह कहा जाये कि इन्द्रियापेक्षया कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, तो इसमें हमें सिद्धसाध्यता है। हम भी मानते हैं कि इन्द्रियज्ञानसे कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नही हो सकता है। सकल आवरणके विगलित हो जानेपर ही कोई भी व्यक्ति अतीन्द्रिय ज्ञान शक्ति-सम्पन्न होता है और वही त्रिलोकके त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोका प्रत्यक्षरूपसे साक्षात्कार करता है।[३]

सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ किसी पुरुष विशेषके प्रत्यक्ष है[४], क्योंकि वे अनुमेय हैं, यथा अग्नि। दूसरी युक्ति यह है कि सर्वज्ञताके रोकनेवाले अज्ञानादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरणोंका किसी आत्मविशेषमें अभाव देखा जाता है। "किसी पुरुष विशेषमें ज्ञानके प्रतिबन्धकोंका पूर्णतया क्षय हो जाता है; क्योंकि उनकी अन्यत्र न्यूनाधिकता देखी जाती है।"[५] प्रतिबन्धकोके दूर हो जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए कोई ज्ञेय अज्ञेय नही रहता। ज्ञेयों—पदार्थोंका अज्ञान या तो आत्मामें उन सब ज्ञेयोंके जाननेकी

---

[१] जयन्तविजय १५।२९।

[२] वही, १५।४५।

[३] वही, १५।४७।

[४] सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा' अनुमेयत्वात्—अष्टसहस्री, बम्बई सन् १९१५ ई०, पृ० ५६-६२।

[५] दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्ति अतिशायनात—वही ५०-६२।

सामर्थ्य न होनेसे होता है अथवा ज्ञानके प्रतिबन्धकोंके रहनेसे होता है। आत्मामें ज्ञ है और तप, संयमादिकी आराधना द्वारा प्रतिबन्धकोंका अभाव पूर्णतया संभव है, ऐसी स्थितिमें आत्मामें सर्वज्ञता सम्भाव्य है।

यदि पुरुष होनेसे ही धर्माधर्मादि[1] अतीन्द्रिय ज्ञेयोंका ज्ञान न माना जाये तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओं और उनसे होनेवाला शुभाशुभका अविसंवादी उपदेश कैसे संभव हो सकेगा? इन्द्रियोंकी अपेक्षा किये बिना ही उनका अतीन्द्रियार्थ विषयक उपदेश सत्य और यथार्थ देखा जाता है अथवा जिस प्रकार सत्य स्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भावी राज्यादि लाभका यथार्थबोध कराता है, उसी प्रकार सर्वज्ञज्ञान भी समस्त पदार्थोंमें अविसंवादी और स्पष्ट होता है तथा उससे इन्द्रियोंकी आंशिक भी सहायता नहीं होती। इन्द्रियोंसे तो सीमित ज्ञान ही उत्पन्न होता है, पर अतीन्द्रिय ज्ञान समस्त पदार्थोंको ग्रहण करता है।

जिस प्रकार परिमाण अणुपरिमाणसे बढता-बढ़ता आकाशमें महापरिमाण या विभुत्वका रूप ले लेता है, क्योंकि उसकी तरतमता देखी जाती है, उसी तरह ज्ञानके प्रकर्षमें भी तारतम्य देखा जाता है। अतः जब यह ज्ञान सम्पूर्णताको प्राप्त हो जाता है, तो सर्वज्ञता आ जाती है।

प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण तो सर्वज्ञतामें बाधक नहीं है। अभाव-प्रमाण भी उसका निषेध नहीं कर सकता है[2], यतः अभाव प्रमाणके लिए यह आवश्यक है कि जिसका अभाव करना है, उसका स्मरण और जहाँ उसका अभाव करना है, वहाँ उसका प्रत्यक्षदर्शन अनिवार्य है। अतः तीनों कालों और तीनों लोकोंके अतीत, अनागत और वर्तमान कालीन अनन्त पुरुषोंमें सर्वज्ञता नहीं थी, नहीं है और न होगी, इस प्रकारका ज्ञान उसीको हो सकता है, जिसने उन समस्त पुरुषोंका साक्षात्कार किया हो। अतः जिसने वह साक्षात्कार किया है, वही सर्वज्ञ है। अतएव बाधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे आत्मामें सर्वज्ञता सिद्ध है तथा सर्वज्ञत्व हेतुसे मोक्ष प्राप्ति भी।

न्यायदर्शन-समीक्षा

न्यायदर्शनके सम्बन्धमे जैनकुमारसम्भवमें निम्नलिखित पद्य आया है और टीकाकार धर्मशेखरसूरिने न्यायदर्शनमें मान्य सोलह पदार्थोंके नाम तथा संक्षिप्त समालोचना उपस्थित की है। कविने लिखा है —

तत्त्वषोडशकतोऽधिकं स्वकं,
गीततत्त्वमुपनीतनिर्वृति।
व्यञ्जतीह विधिनाच्युतेन का-
प्यक्षपादमतमन्यथाकृतम्॥ जैनकुमारसम्भव १०।६४

---

[1] जयन्तविजय, १५।५३-५४।

[2] वही, १५।५१-५२।

"नैयायिकमते हि—प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वादजल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानि षोडशतत्त्वानि, सृष्टिसंहार-कर्ता मोक्षदो देवो महेशः"—जैनकुमारसम्भव १०।६४ की टीका, पृ० ३५२।

न्यायदर्शनका विषय-न्यायका प्रतिपादन करना है और न्यायका अर्थ है विभिन्न प्रमाणोंके द्वारा अर्थकी परीक्षा करना। इन प्रमाणोंके स्वरूपका वर्णन करनेसे इस दर्शनको न्यायदर्शन कहा जाता है। नैयायिकके यहाँ प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, अनुमान, आगम, और उपमान इन चार प्रमाणोंको स्वीकार करता है। नैयायिकोंने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख और अपवर्ग (मुक्ति) ये बारह प्रमेय माने गये हैं।[1]

नैयायिक सन्निकर्षको प्रमाण मानता है। सन्निकर्ष इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धको कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ दोनों ही अचेतन है, अतः उनका सम्बन्ध सन्निकर्ष भी अचेतन और अज्ञानरूप ही होगा। अतएव उसे प्रमाण नही माना जा सकता है। सन्निकर्षके संयोग, संयुक्त समवाय और संयुक्त समवेत आदि छह भेद हैं। जिस प्रकार चक्षु और रसमें संयुक्त समवायरूप सन्निकर्ष होनेपर भी वह प्रमाको उत्पन्न नही करता है, उसी प्रकार चक्षु और रूपका संयुक्त समवायरूप सन्निकर्ष भी प्रमाकी उत्पत्तिका कारण नही है। अतः सन्निकर्षको प्रमाण मानना ठीक नही है।

नैयायिकने महेशको सृष्टिकर्ता माना है—"विभक्त्यधिकरणभावापन्नं उर्वीपर्वत-तरुतन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकम्, कार्यत्वादचेतनोपादानत्वात्सन्निवेशविशिष्टत्वाद्वा वस्त्रा-दिवत्।"[2]

विवादापन्न उर्वी (पृथ्वी), पर्वत, तरु (वृक्ष) और तनु (शरीर) आदिक पदार्थ बुद्धिमद्धेतुक है, अर्थात् किसी बुद्धिमान्के द्वारा किये गये है। जो-जो कार्य होते है, वे किसीके द्वारा किये जाते है, यथा वस्त्रादि। दूसरी युक्ति यह है कि उर्वी, पर्वत आदिका उपादान कारण अचेतन है, अतः उन्हें किसी चेतन पुरुषसे अधिष्ठित होकर ही कार्यरूपमें परिणत होना चाहिए। तीसरी युक्ति यह है कि उर्वी पर्वतादिमें संस्थान—आकार सम्बन्धी विशेषता पायी जाती है, जो कि बिना किसी बुद्धिमान् पुरुषके सम्भव नहीं है। अतः इस सृष्टिका कोई बुद्धिमान् कर्ता अवश्य और वह बुद्धिमान् महेश्वर ही है, अन्य नहीं। ईश्वरसिद्धिके लिए दिया गया कार्यत्व हेतु असिद्ध भी नही है, क्योंकि सावयव होनेसे कार्यत्व सिद्ध है। विरुद्ध भी नही है, विपक्ष अबुद्धिमन्निमित्तकसे व्यावृत होनेसे। अनैकान्तिक भी नही है, विपक्षभूत परमाणु आदिमें नही रहता है।

यहाँ कार्यत्व हेतुसे क्या अभिप्राय है? स्वकारणसत्तासमवायको कार्यत्व कहते

---

[1] गौतमन्यायसूत्र १।१।९ तथा तर्कभाषा; चिदानन्द संस्कृत विद्याभवन, काशी, सन् १९५२ ई०, प्रमेय अधिकार, पृ० ५६।

[2] प्रमेयरत्नमाला, चौखम्बा, १९६४ ई०, द्वितीय समुद्देश, पृ० ६६।

हैं, अभूत्वाभावित्वको, अक्रियादर्शीके कृतबुद्धयुत्पादकत्वको या कारण व्यापारानुविधायित्वको ? प्रथम पक्षमें योगियोंका समस्त कर्मक्षय भी तनुकरण-भुवनादिके समान पक्ष के अन्तर्गत है। पर कार्यत्व हेतुकी प्रवृत्ति नहीं है, अतः भागासिद्ध है। द्वितीय पक्ष भी सदोष है; यतः जो कार्य पहले न होकर आगामी कालमें हो, उसे अभूत्वाभावित्व कहते हैं और यह अभूत्वाभावित्व भिन्नकालवर्ती दो क्रियाओंके अधिकरणभूत कर्ताके सिद्ध हो जानेपर ही सिद्ध हो सकता है। पर कार्यमें भवन और अभवन इन दोनों क्रियाओंके आधारभूत एक कर्ताका अनुभव नही हो रहा है। यदि अभूत्वाभावित्वको मान भी लिया जाये तो भी तनुकरण भुवनादिक सभी मतवालोंके द्वारा कार्यत्व स्वीकार न किये जानेके कारण भागासिद्ध हो जायेगा। यदि तीसरा विकल्प अक्रियादर्शीके कृतबुद्धयुत्पादकत्व लिया जाये तो भी पृथ्वी आदिके बुद्धिमद्धेतुकता सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। हम पूछते है कि यह कृतबुद्धि जिस पुरुषने संकेत ग्रहण कर रखा है, उसके उत्पन्न होगी, अथवा जिसने संकेत नही ग्रहण किया है, उसके होगी ? यदि संकेत ग्रहण करनेवाले मानेंगे, तो आकाशादिके भी बुद्धिमान् द्वारा किये जानेका प्रसंग प्राप्त होगा। बिना संकेतके तो कृतबुद्धिका उत्पन्न होना असिद्ध है। चौथा विकल्प स्वीकार करनेपर कारणमात्र-व्यापारानुविधायित्व लिया जायेगा कि कारणविशेष व्यापारानुविधायत्व। कारणमात्रकी अपेक्षा माननेपर कार्यत्व हेतुविरुद्ध है। कारणविशेष माननेपर इतरेतराश्रय दोष है। अतएव उर्वी, पर्वत, तरु, तन्वादिक बुद्धिमद्धेतुक सिद्ध नही हो सकते। इस प्रकार महेश्वर जगत्कर्ता और सर्वज्ञ नही हो सकता है।[1]

नैयायिक द्वारा मान्य प्रमाण-प्रमेयकी आलोचना भी जैन न्यायके ग्रन्थोमें पायी जाती है।

जैन दर्शन

(तत्त्वविचार)

प्रायः प्रत्येक महाकाव्यमें तीर्थंकर, मुनि आचार्य और यतियोंके उपदेश उपलब्ध होते है। इन उपदेशोमें अन्य दर्शनोंकी समीक्षाके साथ जैन दर्शनके मौलिक सिद्धान्त भी निबद्ध हैं। चन्द्रप्रभचरित, धर्मशर्माभ्युदय और नेमिनिर्वाणके अन्तिम सर्गोमे तीर्थंकरका उपदेश गुम्फित है, जिसमें जैन तत्त्वज्ञान और आचारपर प्रकाश डाला गया है। यह यथार्थ है कि जैन दर्शनका विकास मात्र तत्त्वज्ञानकी भूमिपर न होकर आचारकी भूमिपर हुआ है। जीवन शोधनकी व्यक्तिगत मुक्ति-प्रक्रिया और समाज तथा विश्वमे शान्ति स्थापनकी लोकैषणाका मूलमन्त्र अहिंसा है। अतः मुमुक्षुको दुःखोंसे निवृत्ति प्राप्त करनेके लिए तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता है। प्रयोजनीभूत तत्त्व सात हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा

---

[1] विशेषके लिए देखें—प्रमेयरत्नमाला, चौखम्बा, १९६४ ई०, पृ० ९९–१२०।

और (७) मोक्ष। पुण्य और पाप, ये दोनों बन्धतत्त्व ही के अन्तर्गत होनेके कारण पृथक् तत्त्व रूपमें परिगणित नहीं हैं। इनको अलग माननेसे नौ पदार्थ हो जाते हैं।[1]

१. जीवतत्त्व

जीवतत्त्व अमूर्तिक है और चेतना लक्षणसे युक्त है। वह कर्ता है, भोक्ता है, शरीर प्रमाण है, ऊर्ध्वगामी और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्ययुक्त है। आत्मामें स्वभावत: वीतरागता, चेतना, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण वर्तमान हैं। पर संयोगसे राग, द्वेष, तृष्णा, दु:ख आदि विकार आत्मामे निहित है। अत: आत्माके यथार्थ स्वरूप द्वारा ही विकारी और परसंयोगी प्रवृत्तिको दूर कर उसे शुद्ध और निर्मल बनाया जा सकता है। रोगीको जबतक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो, तबतक उसे यही निश्चय नही हो सकता है कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है, इससे छुटकारा पानेके लिए प्रयास करना मेरा कर्तव्य है। अपने उत्थान और पतनके लिए जीव स्वयं ही उत्तरदायी है। अपने कार्योंसे ही वह बंधता है और अपने कार्योंसे ही वह उस बन्धनसे मुक्त होता है। अन्य कोई न उसे बांधता है और न बन्धनसे मुक्त करता है। अपनी उन्नति या अवनतिका दायित्व जीवपर ही निर्भर है। अपने द्वारा बाँधे गये कर्मोंके फलको भोगते समय जीवके जो भाव होते है, जीव उन भावोंका कर्ता माना जाता है। जिस प्रकार जीव अपने भावोका कर्ता है, उसी तरह उनका भोक्ता भी है। यदि आत्मा सुख-दु:ख का भोक्ता न हो तो सुख-दु:खकी अनुभूति ही नही हो सकती और यह अनुभूति चैतन्यका धर्म है।

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्तने जीवतत्त्वका विश्लेषण करते हुए लिखा है—"It is well to remember that according to the Jains the soul occupies the whole of the body in which it lives, so that from the tip of the hair to the nail of the foot, wherever there may be any cause of sensation, it can atonce feel it."[2]

जीवतत्त्वका वर्गीकरण[3] मुक्ति-योग्यता, वर्तमान-स्थिति,[4] अवस्थाविशेष एवं इन्द्रिय संवेदनके आधारपर किया गया है। प्रथम प्रकारकी अपेक्षा जीवके दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न होनेकी क्षमता—मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता हो, वह भव्य और जिसमें इस प्रकारकी योग्यता न हो, वह अभव्य है। वर्तमान स्थितिकी अपेक्षा भी जीवके दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। जो कर्मबद्ध है और एक गतिसे दूसरी गतिमें जन्म ग्रहण करता है और मरणको

---

[1] चन्द्रप्रभ च० १८।२-४ तथा धर्मशर्माभ्युदय ११।८-१०।

[2] A History of Indian Philosophy, Cambridge University Press, 1932, P. 189.

[3] चन्द्र० १८।५।

[4] धर्म० २१।११.१२।

प्राप्त होता है, वह संसारी जीव है तथा जो कर्मबन्धनसे छूट कर मुक्त हो चुका है, वह मुक्त जीव है। अवस्थाविशेष—गतिकी अपेक्षा संसारी जीव चार प्रकारके है—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इस पृथ्वीके नीचे सात नरक हैं, उनमें जो जीव निवास करते हैं, वे नारकी हैं। ऊपर स्वर्गोंमे जो निवास करते है, वे देव है। स्त्री और पुरुषादि मनुष्य गति है, शेष पशु, पक्षी, कीड़े, मकोडे, पेड़-पौधे आदि तिर्यंच गतिके जीव हैं। देव, नारकी और मनुष्योंमें पाँचो ही इन्द्रियाँ होती है; पर तिर्यंचोंमें इन्द्रिय संवेदनकी अपेक्षा जीवोंके पाँच भेद है।[1] पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोके केवल एक स्पर्शन इन्द्रियजन्य संवेदन ही होता है, उनको ज्ञान प्राप्त करनेका माध्यम एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। इन जीवोको स्थावर भी कहा गया है। जैन दर्शनके अनुसार पेड-पौधे, जल, अग्नि, पृथ्वी और वायुमें भी जीव है। पृथ्वी में कीड़े, मकोड़े तो रहते ही है, पर पर्वत, मिट्टी आदिमें पृथ्वीकायिक जीव रहता है। इसी प्रकार जलमें रहनेवाले अनेक जीवोके अतिरिक्त जल स्वयं जलकायिक जीवोके शरीरका पिण्ड है। यही बात अग्निकाय और वायुकायके सम्बन्धमें भी जाननी चाहिए। लट आदि जीव स्पर्शन और रसना इन्द्रियसे संवेदन प्राप्त करते है, अतः इन्हे दो इन्द्रिय जीव कहते है। चीटी आदिके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ और इन तीनों इन्द्रियोके द्वारा इन्हें सवेदन होता है। भ्रमर, मक्खी आदिके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं तथा सर्प, नेवला, पशु, पक्षी आदिके पाँच इन्द्रियाँ है। इन इन्द्रियोंके द्वारा उक्त जीव अपने-अपने योग्य स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दका संवेदन ग्रहण करते रहते हैं। काव्यग्रन्थोंमें जीवकी योनि, जन्म और शरीर आदिका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

जैन दर्शनमे बहुजीववाद स्वीकार किया गया है तथा प्रत्येक जीवकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है।

२. अजीवतत्त्व

अजीव द्रव्यके पाँच भेद है[2]—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त है, वह पुद्गल है।[3] यह स्कन्ध अवस्थामें पूरण—अन्यान्य परमाणुओंसे मिलना और गलन—कुछ परमाणुओका बिछुड़ना, इस प्रकार उपचय और अपचयको प्राप्त होता रहे, वह पुद्गल है। समस्त दृश्य जगत् इस पुद्गलका ही विस्तार है। मूल दृष्टिसे पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप है। अनेक परमाणुओसे मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्त द्रव्य है। प्रत्येक परमाणुमें स्वभावतः एक रस, एक रूप,

---

[1] धर्म० २१।१७-१८।

[2] चन्द्रप्रभ च० १८।६७।

[3] वही, १८।७८।

एक गन्ध और दो स्पर्श होते है । स्कन्ध अपने परिणमनोंकी अपेक्षा छह प्रकारका होता है ।[1] बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ये छह भेद हैं। पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार विभाग होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्धदेश और स्कन्धदेशका आधा स्कन्धप्रदेश होता है । परमाणु अविभागी है । इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियोंके विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गल द्रव्यके ही विविध परिणमन हैं ।

परमाणुओंमें स्वाभाविक स्निग्धता और रुक्षता होनेके कारण परस्पर बन्ध होता है, जिससे स्कन्धोकी उत्पत्ति होती है । परमाणुओ द्वारा स्कन्ध बननेकी प्रक्रिया यह है कि शक्तिको अपेक्षा द्व्यंश अधिक स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष एवं रूक्ष और स्निग्ध परमाणु परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त होते है। बन्धकालमें जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणुका अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्शके अनुकूल परिणमन करा लेता है । इस प्रकार दो परमाणुओसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओसे त्र्यणुक और चार-पाँच आदि परमाणुओसे चतुरणुक, पंचाणुक आदि स्कन्ध उत्पन्न होते रहते है ।

शब्द, बन्ध, स्थूलता, सूक्ष्मता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत और गर्मी आदि पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याएँ है । पुद्गल परमाणु स्वभावत. क्रियाशील है। उसकी गति तीव्र, मन्द और मध्यम अनेक प्रकारकी होती है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अपान, श्वासोच्छ्वास आदि पुद्गलसे ही निर्मित है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य

जीव और पुद्गलके समान धर्म और अधर्म द्रव्य भी दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, इनका अर्थ पुण्य-पाप नही है । जीव और पुद्गल स्वयं गति स्वभाववाले है, अतः यदि वे गति करते है, तो स्वयं रुकनेका प्रश्न ही नही है । अतः आचार्योंने लोक और अलोकके विभागके लिए लोकवर्ती आकाशके बराबर एक अमूर्तिक निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलोको गमन करनेमें साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्यको प्रेरणा करके नही चलाता है, किन्तु जो स्वयं गति करते है, उनको माध्यम बनकर सहारा देता है । इसका अस्तित्व लोकके भीतर तो साधारण है, परलोककी सीमाओंपर नियन्त्रकके रूपमें है । सीमाओंपर ही इन दोनों द्रव्योंकी शक्तिका पता लगता है। धर्मद्रव्यके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमातक समाप्त करनेको विवश है, उससे आगे नही जा सकते ।[2]

जिस प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिके लिए साधारण कारण हैं, उसी प्रकार जीव और पुद्गलोको स्थितिके लिए अधर्मद्रव्य साधारण कारण है । यह

---

[1] चन्द्रप्रभ च० १८।७६ ।

[2] वही, १८।६९-७० ।

भी धर्मद्रव्यके समान लोकाकाशके बराबर है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे रहित अमूर्तिक और निष्क्रिय है। ये दोनों द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त हैं। लोक और अलोक विभाग इन दोनों द्रव्योंके सद्भावका फल है।[1]

आकाशद्रव्य

आकाशजीव, अजीवादि समस्त द्रव्योंको अवगाह—स्थान देता है अर्थात् जीव पुद्गलादि समस्त पदार्थ युगपत् जिसमें अवकाश प्राप्त करते हैं, वह आकाश है। यह भी निष्क्रिय और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। अवकाश दान ही इसका असाधारण गुण है। दिक् द्रव्यका अन्तर्भाव आकाशमें ही हो जाता है। पुद्गलका एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। इस नापसे आकाश अनन्तप्रदेशी है। इसके दो भेद है—लोकाकाश और अलोकाकाश।[2]

कालद्रव्य

समस्त द्रव्योंके उत्पादादिरूप परिणमनमें सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण—वर्तना है। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें सहकारी होता है और समस्त लोकाकाशमें घडी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारोंमें निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्योंके समान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त है, अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालाणु अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये हुए है। धर्म और अधर्मके समान यह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेशपर एक-एक कालाणु अवस्थित है। कालके दो भेद हैं—निश्चयकाल और व्यवहारकाल।[3]

इस प्रकार जैन दर्शनमें छह द्रव्य और काल द्रव्यको छोड शेष पाँच अस्तिकाय कहलाते हैं। जिसमें गुण और पर्याय पाये जायें वह द्रव्य है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त द्रव्य होता है।

३. आस्रवतत्त्व

कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं।[4] वह द्वार, जिसके द्वारा जीवनमें सर्वदा कर्मपुद्गलोंका आगमन होता है, जीवकी एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। आशय यह है कि हम मनके द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचनके द्वारा जो कुछ बोलते और शरीरके द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं, उससे कर्मवर्गणाएँ आत्मामें संचित

---

[1] चन्द्रप्रभ च० १८।७१।
[2] वही, १८।७२।
[3] वही, १८।७४–७६।
[4] वही, १८।८२।

होती है। आशय यह है कि जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव होता है, उन्हें भावास्रव और कर्मका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। शुभ आस्रव पुण्यास्रव है और अशुभ पापास्रव।

४. बन्ध

दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावोंसे कर्मोंका बन्धन होता है, उन भावोंको भावबन्ध कहते हैं और कर्मपुद्गलोंका आत्म-प्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है।[1]

५. संवर

जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था, उन द्वारोंका निरोध करना संवर है। आस्रव योग—मन, वचन और कायसे होता है. अतः योगको रोकना ही संवर है। संवरमें नये कर्मोंका आना रोका जाता है।[2]

६. निर्जरा

पूर्वबद्ध कर्मोंको थोड़ा-थोड़ा नष्ट करना निर्जरा है। यह दो प्रकारकी है—औपक्रमिक या अविपाक और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक। तप आदि साधनाओंके द्वारा कर्मोंका फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रति समय प्रत्येक प्राणीके होती रहती है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थसे अपने संचित कर्मोंको उदयावस्थाको प्राप्त हुए बिना ही नष्ट कर सकता है। संवरपूर्वक सम्पन्न होनेवाली निर्जरा ही कर्म मुक्तिका कारण है।[3]

समस्त कर्म बन्धनोंसे छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष या मुक्ति शब्दका अर्थ ही छुटकारा है। जब जीव समस्त कर्मबन्धनसे छूट जाता है, तो वह मुक्त जीव कहलाता है।[4]

पूर्वोक्त सात तत्त्वोंमेंसे जीव और अजीव दो मूल तत्त्व हैं, इनके संयोगसे ही संसारकी सृष्टि होती है। संसारके मूल कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा संसारसे युक्त होनेका कारण संवर और निर्जरा है। संवर और निर्जराके द्वारा जीवको जो पद प्राप्त होता है, वह मोक्ष है, यह मोक्ष ही जीवका चरम लक्ष्य है।

---

[1] चन्द्रप्रभ, १८।६६।

[2] वही, १८।१०६।

[3] वही, १८।१०९, ११०।

[4] वही, १८।१३०।

कर्मसिद्धान्त

जैन दर्शनके अनुसार पुद्गलरूप कार्माणवर्गणाएं समस्त संसारमें व्याप्त हैं। जीवके राग-द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर ये कार्माणवर्गणाएं ही कर्मरूपमें परिणत हो जाती हैं। जीव और कर्मका यह सम्बन्ध अनादि है। जिस प्रकार कनक अनादिसे अशुद्ध है, खानसे निकालनेके अनन्तर उसे शुद्ध किया जा सकता है, उसी प्रकार अनादि कर्म मैलयुक्त अशुद्ध आत्मा भी प्रयत्नपूर्वक संयम, तपश्चरण और ध्यानसे शुद्ध की जा सकती है। आत्माकी कर्तृत्व और भोक्तृत्वशक्तिके कारण कर्मफलका अनुभव यह जीव स्वयं करता है। अन्य कोई दैवीशक्ति उसे दण्ड या पुरस्कार नही देती है। कर्म सिद्धान्तमे मनुष्यके व्यक्तित्व, उसके गुण, आचरण और सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ सम्यक् प्रकार घटित हो जाती है।

जीवके राग-द्वेषादिभावोसे योग—आत्मप्रदेशोमे परिस्पन्दन होता है, इससे कर्मके योग्य पुद्गल खिचते है। कर्म परमाणुओको जीवतक लानेका कार्य जीवकी योगशक्ति और उसके साथ बन्ध करानेका काम कषाय—राग-द्वेष-मोह रूप भाव करते है। योग—मन, वचन और कायकी तीव्रता या मन्दता कर्म परमाणुओंकी हीनाधिक संख्याको उपस्थित करती है और कषाय—विकारोकी तीव्रता एव मन्दता अनुभाव और स्थिति—फलकी तीव्रता या मन्दता और समय-सीमाको प्रस्तुत करती है। इस प्रकार योग और कषायसे जीवके आधारपर बन्धके पाँच कारण बतलाये है[1]—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्हें आस्रवप्रत्यय भी कहा जाता है। आत्मस्वरूप भूलकर शरीरादिपर द्रव्यमें आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है। इसके कारण जीवके समस्त विचार और क्रियाएं शरीराश्रित व्यवहारोंमें उलझी रहती है।

छह कायके जीवोकी हिंसासे और इन्द्रियोंके विषयोसे निवृत्ति नही होना अविरति है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते है कि सदाचार या चारित्रधारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्तिका नही होना अविरति है।

प्रमादका अर्थ है अपने कर्तव्यमें अनादरभाव। पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें लीन होनेके कारण; राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओमें रस लेनेके कारण; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे कलुषित होनेके कारण तथा निद्रा और प्रणयमें मग्न होनेके कारण कुशल कर्तव्यमार्गमें अनादरभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकारकी असावधानी कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो उत्पन्न करती ही है, साथ ही हिंसाकी भूमिका भी तैयार हो जाती है। यतः प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है।

आत्माका स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है, पर कषायोंके कारण राग-द्वेषरूप विकृति उत्पन्न होती है। कषाएँ चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों आत्माकी विभावदशा हैं।

---

१. चन्द्रप्रभ च० १८।६५।

मन, वचन और शरीरके निमित्तसे आत्म प्रदेशोंमें परिस्पन्द अर्थात् किया होती है, इसे 'योग' कहते हैं। यह योग शुभ और अशुभ दो प्रकारका होता है। इस प्रकार योगादि पाँच प्रत्ययोंसे बन्ध होता है।

बन्ध चार प्रकारका है[1]—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। बन्धको प्राप्त होनेवाले कर्म परमाणुओंमें अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है। उनकी संख्याका नियत होना प्रदेशबन्ध है। उनमें कालकी मर्यादाका पड़ना कि अमुक समयतक जीवके साथ बँधे रहेंगे, स्थितिबन्ध है और फल देनेकी शक्तिका उत्पन्न होना अनुभागबन्ध है। कर्मोंमें अनेक प्रकारके स्वभावका पड़ना तथा उनकी संख्याका हीनाधिक होना योगपर निर्भर है। इस तरह प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगसे होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषायसे।

कर्मोंके भेद

प्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं[2]—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण कर्म जीवके ज्ञानगुणको घातता है। इसके कारण कोई अल्पज्ञानी और कोई विशेषज्ञानी होता है। ज्ञानावरणके पाँच भेद हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरण कर्म जीवके दर्शन गुणको आच्छादित करता है। दर्शनावरणके नौ भेद हैं[3]—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि।

ज्ञान और दर्शनके विषयमें किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण धर्म और दर्शनावरण कर्मके आस्रव हैं।[4]

जो सुख और दुःखका वेदन—अनुभव वेदनीय कर्मके उदयसे होता है। वेदनीय कर्मके दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। निज आत्मामें, पर आत्मामें या उभय आत्माओंमें स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, बध और परिवेदन ये असातावेदनीय कर्मके आस्रव है। प्राणि-अनुकम्पा व्रति-अनुकम्पा, दान और सराग-संयम आदिका उचित ध्यान रखना तथा क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्मके आस्रव हैं।[5]

जीवको मोहित करनेवाला कर्म मोहनीय कहलाता है। इसके मूलतः दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय जीवको सच्चे मार्गपर चलने नहीं देता है। इसके २८ भेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व—मिश्र।

---

[1] चन्द्रप्रभ च० १८।९७।

[2] वही, १८।९८।

[3] भेदाः पञ्च नव· , वही, १८।९९।

[4] वही, १८।८४।

[5] वही, १८।८५-८६।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद ये नौ अकषाय मोहनीय और अनन्तानुबन्धी, असत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे सोलह कषाय मोहनीय हैं। केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवका अपर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रव हेतु हैं। कषायके उदयसे होनेवाला आत्माका तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय कर्मका आस्रव है।[1]

जो किसी समय सीमातक जीवको किसी एक शरीरमें रोके रहता है, वह आयुकर्म है। इसके चार भेद हैं—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु। बहु आरम्भ और परिग्रहका भाव नरकायुके आस्रव; माया तिर्यंचायुके आस्रव; अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहका भाव मनुष्यायुके आस्रव एवं सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप देवायुके आस्रव हेतु है।[2]

जिसके कारण शरीर और अंगोपांग आदिकी रचना हो, वह नामकर्म है। नामकर्मके ४२ भेद है।

योगकी वक्रता और विसंवादन ये अशुभनाम कर्मके आस्रव हैं। इसके विपरीत योगकी सरलता और अविसंवादन ये शुभनाम कर्मके आस्रव हैं। दर्शनविशुद्धि विनय सम्पन्नता, शील और व्रतोंमें निर्दोषवृत्ति, सतत ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तिके अनुसार त्याग, तप, साधु समाधि, वैयावृत्यकरण, अरहन्त भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यक क्रियाओंका पालन, मार्गप्रभावना और प्रवचन वात्सल्य ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव हेतु हैं।[3]

गोत्रकर्मके कारण मनुष्य उच्च या नीचकुलमें जन्म लेता है। इसके दो भेद हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणोंका आच्छादन और असद्‌गुणोका उद्भावन नीचगोत्रके आस्रव हेतु हैं। परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रवृत्ति और निराभिमानता उच्चगोत्रके आस्रव हेतु हैं।[4]

इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा उत्पन्न करनेवाला कर्म अन्तराय है। इसके पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। विघ्न करना अन्तराय कर्मका आस्रव हेतु है।[5]

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। मोहनीयकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर; नाम और गोत्रकी बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। आयुकी तेतीस सागरकी स्थिति है। वेदनीयकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।[6]

---

[1] चन्द्रप्रभ च० १८।८७–८८।

[2] वही, १८।८९–९०।

[3] वही, १८।९१।

[4] वही, १८।९२।

[5] वही, १८।९३।

[6] वही, १८।१००–१०२।

जीव कर्मोंको कब और कैसे बाँधता है और उनका बँटवारा कैसे होता है, स्थिति और अनुभागका क्या नियम, इत्यादि बातोंपर भी संक्षेपमें प्रकाश डाला गया है।[1] बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना कर्मोंकी इन मुख्य दस अवस्थाओंका वर्णन नहीं आया है। इस प्रकार संक्षेपमें कर्मसिद्धान्तका निरूपण काव्य ग्रन्थोंमें किया गया है।

जैन दर्शनके अन्य विषय ज्ञानमीमांसा[2] और स्याद्वादके संकेत भी आये हैं। नय[3] और निक्षेपका संक्षिप्त निर्देश भी उपलब्ध होते हैं। आत्मोत्थानकी भूमिकाके रूपमें चतुर्दश गुणस्थानोंका भी उल्लेख किया गया है।[4]

आचार

जैन काव्योंमें दर्शन-तत्त्वोंके समान ही आचार सम्बन्धी निर्देश भी प्रचुररूपमें उपलब्ध हैं। इन समस्त उल्लेखोंको एकत्र कर विश्लेषण करनेसे एक नया ही शोध प्रबन्ध तैयार हो जायेगा। अतएव संक्षेपमें प्रमुख जीवन-सिद्धान्तोंको उपस्थित किया जाता है।

श्रावकाचारके निरूपणके पूर्व उन जीवनमूल्योंको प्रस्तुत किया जा रहा है, जो मानवमात्रको समानरूपसे उपयोगी हैं। जिनका आचरण करनेके लिए किसी सम्प्रदाय या धर्मविशेषके अवलम्बनकी आवश्यकता नही है।

दान, शील, तप और सद्भावना, इन चार मानवतावादी तत्त्वोंका निर्देश पद्मानन्द,[5] शान्तिनाथचरित[6], अभयकुमारचरित प्रभृति काव्योंमें आया है। संग्रह और अर्जनका जीवनके लिए जितना मूल्य है, उससे भी अधिक दान का। प्रकृतिने स्वभावसे ही जीवमात्रको दानी बनाया है। जो केवल बटोरता है, बाँटना नहीं जानता, उसके जीवनमें आनन्द नही आ सकता है। संचय करते समय इस बातकी ओर ध्यान रहना चाहिए कि संचयका उद्देश्य संचयमात्र न हो, बल्कि दान देना होना चाहिए। जो अपने ही स्वार्थों और अपनी ही मान्यताओंमें बँधा रहता है, वह व्यक्ति दान नहीं दे सकता और अहं की परिधिमें आबद्ध हो जानेके कारण वह दास ही बना रहता है। अतः दान देनेसे सच्चा सन्तोष मिलता है। वस्तुओंके प्रति ममताका त्याग दान है, इस प्रकारके दानसे ही मानवताका सच्चा विकास होता है। परिग्रहके संचयमें दानकी भावना रहनेसे अहंकार और ममताका संवर्धन नही हो पाता। मानवजातिकी उन्नतिमें दानका महत्त्व सर्वदा अक्षुण्ण बना रहेगा। करुणा, दया, सहानुभूति प्रभृति मानवता

---

[1] चन्द्रप्रभचरित १८।१०३-१०४।

[2] पद्मानन्दकाव्य, २।१३५ तथा १४।२०८।

[3] वही, १४।२६१।

[4] वही, ३।१

[5] वही, २।१७७।

[6] शान्तिनाथचरित ३।३६।

पोषक गुणोंका उदात्तीकरण दान द्वारा ही होता है। जिस व्यक्तिमें यह गुण नहीं है, उसकी संवेदनाएँ अन्तर्मुखी नही हो सकती और न उसके जीवनमें सार्थक रागात्मक क्षणोंकी सृष्टि ही सम्भव है।

शील दूसरा जीवन-मूल्य है। इसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व इन तीनों गुणोंकी सम्पृक्त अन्विति विद्यमान है। नैतिकतासे अनैतिकता, अहिंसासे हिंसा, प्रेमसे घृणा, क्षमासे क्रोध, उत्सर्गसे संघर्ष एवं मानवतासे पशुतापर विजय प्राप्त करना शीलके अन्तर्गत है।[1]

शीलके अन्तर्गत पंचाणुव्रत, विचार-समन्वय और संयम ये सात जीवन-मूल्य परिगणित है। समाज और व्यक्तिके बीच अधिकार और कर्तव्यकी शृंखला स्थापित करना, उनके उचित सम्बन्धोंका सन्तुलन बनाये रखना, सहयोगकी भावना उत्पन्न करना आदि अहिंसाके द्वारा ही सम्भव है। अहिंसाका वास्तविक लक्ष्य यही है कि वर्गभेद और जातिभेदसे ऊपर उठकर समाजका प्रत्येक सदस्य अन्यके साथ शिष्टता और मानवताका व्यवहार करे। छल, कपट, शोषण, अनीति, अत्याचार प्रभृति अहिंसाके द्वारा दूर हो सकते हैं। अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए सत्य, अचौर्य आदि व्रतोका विधान किया गया है। आत्मवंचना, कूटनीति और धोखेका त्याग सत्यवचन द्वारा ही होता है। अचौर्यव्रत द्वारा समाजके अधिकारोकी रक्षा की जाती है। ब्रह्मचर्यका अर्थ है अपने स्वरूपका आचरण करना। इन्द्रियोंकी उद्दामवृत्तिका त्याग करनेसे ही स्वरूपका आचरण सम्भव है। साम्राज्यवाद और पूँजीकी आसुरी लीलाओका त्याग परिग्रहके नियमसे ही हो सकता है। तृष्णा और कामनाओका नियन्त्रण अपरिग्रहकी भावना द्वारा होता है। विचार समन्वयकी वृत्ति उदारता उत्पन्न करती है। मनुष्यमें सहिष्णुता, उदारता और सत्यान्वेषणकी कामनाका जन्म विचार-समन्वयके द्वारा ही होता है। संयम द्वारा इन्द्रिय निग्रह और इच्छाओका निरोध होता है।

आत्मविकास और आत्मोत्थान तपस्याके द्वारा ही सम्भव है। आस्तिक्यभावकी उद्बुद्धि एवं असत् प्रवृत्तियोका त्याग तपसे होता है।[2]

जीवनके बनावटी व्यवहारोंका त्याग करके सच्चे हृदयसे सभीके प्रति निर्मल भावना रखना सद्भावना है। ईर्ष्या, राग-द्वेष, घृणा आदिका त्याग सद्भावनासे होता है।[3]

कवि वर्धमानने अमने वरागचरित काव्यमें लोकधर्मका निर्देश करते हुए लिखा है—'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, पात्रदान, जिनपूजा, जिनगुणचिन्तन, धर्मध्यान, तप, साधुसंगति, धर्मके प्रति भक्ति, गुरुजनोके प्रति विनय, बन्धुओंमें स्नेह, दीन और अनाथोंपर करुणाबुद्धि, शत्रुओंके प्रति वीरतापूर्णप्रताप एवं आश्रितोंके

---

[1] पद्मानन्द २।२११; शान्तिनाथ ३।३८।

[2] शान्तिनाथ ३।४०।

[3] वही, ३।४१।

सुख-दुःखका विचार रखना आवश्यक है।'[1] दान और परोपकारको लोकधर्मका मूल माना है।[2]

कवि वर्धमानने लोकधर्ममें भगवद्भक्तिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है, यद्यपि यह परम्परा जटासिंहनन्दीके वरांगचरितसे गृहीत है, तो भी प्रस्तुत करनेकी शैली कविकी अपनी है। कविने जिनालय निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा एवं पूजा विधिका निर्देश किया है। जिनालय रत्न, सुवर्ण, पाषाण या लकड़ीका निर्माण कराके हो रहा हो, उस भूमिकी जल और बालुका आदिसे शुद्धि करनी चाहिए। वास्तुशुद्धिकी विधिसे भूमिकी शुद्धि करनेके अनन्तर विशाल शिलाओं द्वारा शुभमुहूर्तमें चैत्यालयका निर्माण कराना। इस चैत्यालयकी दीवालोंका निर्माण स्फटिक शिलाओ द्वारा, स्तम्भोंका वैडूर्य मणियो द्वारा, शिखरको स्वर्ण और रत्नोसे जटित करना तथा शिखरोपरि स्वर्ण कलश, मणिमय रत्नविभूषित स्थापित करना चाहिए। मन्दिरके ऊपर मणिजटित स्वर्णदण्डमें मधुर स्वरवाली किंकिणियोंसे युक्त पताकाएँ फहराती रहें। जिनमन्दिरके समक्ष विशाल मण्डप रहे, जिस मण्डपकी दीवालोंपर पक्षियोंके नाना प्रकारके चित्र अंकित हों। मन्दिरका गोपुर अत्यन्त विशाल और उन्नत होना चाहिए। विशालवेदी स्वर्ण और रत्नजटित बनवानी चाहिए। मन्दिरके भीतर पुष्करिणी स्वच्छ जलसे पूर्ण रहनी चाहिए। स्वच्छ, श्वेत वर्णके मन्दिरके चारो ओर चार दरवाजे तथा परकोटाका रहना भी आवश्यक है।[3]

मन्दिरनिर्माणके अनन्तर स्वर्ण, रत्न, पाषाण, धातुमय बिम्बोंकी नाना प्रकारकी ओषधि सामग्री, कुकुम, कर्पूर, चन्दन, कस्तूरी, विविधवस्त्र एव पूजा-सामग्रीसे युक्त होकर प्रतिष्ठाकी विधि सम्पन्न करनी चाहिए। सर्वप्रथम जल द्वारा प्रतिमा शुद्धि करनी चाहिए। पश्चात् तिलक औषधियोंके द्वारा तिलक सम्पन्न करके प्रतिष्ठाचार्य नयनोन्मीलनका सम्पादन करे। एक हजार आठ कलशोसे शान्ति एवं हवन विधि सम्पन्न करे। प्रतिष्ठाके अनन्तर याजक चतुर्विध संघको दान, मान द्वारा सम्मानित करे।

प्रतिष्ठा सम्पन्न होनेपर प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक एवं अष्टद्रव्योंसे पंचोपचार पूजा करनेका विधान किया गया है।

वैदिक सम्प्रदायमे छह प्रकारकी पूजा मानी गयी है—पंचोपचार, दशोपचार[4], षोडशोपचार[5], अष्टादशोपचार,[6] षट्त्रिंशदुपचार[7] और षष्ट्युपचार[8]।

---

[1] वरांगचरित ३।४२-४३।

[2] वही, ३।४२।

[3] वही, १२।१४-३४।

[4] देवपूजा और कुण्डनिर्माण विधान, प्र० प्रह्लादजी महाराज गौड, सुरेका भवन, बनारस, १९५५ ई०, पृ० ५।

[5] वही, पृ० २।

[6] आसन, स्वागतप्रश्न, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, उपवीत तथा आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, तर्पण, माला, अनुलेपन, नमस्कार और विसर्जन।—वही, पृ० ६।

[7] आसनाभ्यञ्जने तद्वदुद्वर्तननिरूपणे…वही, पृ० ६-७।

[8] वही, पृ० १०-११।

पंचोपचार पूजाके सम्बन्धमें अनेक मान्यताएँ हैं। जाबालिने ध्यान, आवाहन, भक्तिनिवेदन, नीराजन और प्रणामको पंचोपचार कहा है।[1] आचार-चिन्तामणि और विश्वामित्र संहितामें 'गन्धादिका नैवेद्यान्ता पूजा पंचोपचारिकी'[2]—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यको पंचोपचारिकी पूजा कहा है। यही मत मन्त्रमहार्णव, फेत्कारिणी तन्त्र, आचारभूषण, तत्त्वचिन्तामणि, रुद्रयामल, बृहन्नीलतन्त्र, विद्यार्णवतन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंका है।

कवि वर्धमान द्वारा उल्लिखित पंचोपचार[3] उक्त पंचोपचारसे भिन्न प्रतीत होता है। हमारा अनुमान है कि यह पंचोपचार आवाहन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जनरूप है। जैन आम्नायमे यही पंचोपचार मान्य है।

श्रावकाचारका श्राद्धधर्म

श्रावकाचारका दूसरा नाम श्वेताम्बर सम्प्रदायके कवियों द्वारा विरचित काव्योंमें श्राद्धधर्म भी आया है। धर्म श्रद्धालु होनेसे श्रावकको श्राद्ध कहा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके कवियोंने श्रावकके मूल गुणोंका उल्लेखन ही किया है, पर दिगम्बर सम्प्रदायके कवियोंने मूल गुणोंका निर्देश करनेके उपरान्त ही श्रावकके उत्तर गुणोंका विवेचन किया है।

महाकवि वादीभसिंहने अपने क्षत्रचूड़ामणिकाव्यमे अष्ट मूलगुणोका उल्लेख किया है—

अहिसा सत्यमस्तेयं, स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ।
मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम्॥ क्षत्र० ७।२३

मद्य, मांस, मधुत्याग तथा पंचाणु व्रतोंको अष्टमूल गुण कहा है। महाकवि हरिचन्द्रने पंचोदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधुत्यागको अष्टमूल गुण बताया है—

मधुमांसासवत्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम्।
अमी मूलगुणाः सम्यग्दृष्टेरष्टौ प्रकीर्तिताः॥ धर्मशर्मा० २१।१३२

श्रावकको सप्तव्यसन त्याग भी करना चाहिए। सप्तव्यसनोंका निरूपण करते हुए लिखा है—

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्धिः स्तेयवृत्तिता।
परदाराभियोगश्च त्याज्यो धर्मधुरन्धरैः॥ धर्म० २१।१३३
मोहादभूति यः सप्त व्यसनान्यत्र सेवते।
अपारे दुःखकान्तारे संसारे बम्भ्रमीति सः॥ वही, २१।१३४

कहीं-कहीं द्वात्रिंशदुपचार, अष्टत्रिंशदुपचार, चतुश्चत्वारिंशदुपचारका भी उल्लेख पाया जाता है। —वही, पृ० १०।

[1]-[2] वही, पृ० ५।

[3] पञ्चोपचारपूजां कर्तुं·· वरांगचरित १२।२३ तथा वही, १२।१६–पंचामृताभिषेकादि।

श्रावकके उत्तर गुण

उत्तर गुणोंकी भूमि सम्यग्दर्शन है, इसके बिना संसारतापको नष्ट करनेवाले व्रत सफल नहीं होते हैं। धर्म, देव, गुरु तथा तत्त्वोंका शंकादि दोषरहित, जो निर्मल श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन है। धर्म दस लक्षण रूप हैं। क्षुधा, तृषादि अठारह दोषोंसे रहित आप्त होता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित गुरु होता है। सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित, जीवादि तत्त्वोंकी अनुभूति और ज्ञान ही आत्म कल्याणका साधन है।[1]

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, प्रशंसन और संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं। अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धिका होना मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व ही संसार परिभ्रमणका कारण है।

श्रावकके उत्तरगुण बारह हैं[2]—पाँच अणुव्रत,[3] तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत। आरम्भके सिवा अन्य कार्योंमें होनेवाली हिंसा अर्थात् संकल्पी हिंसाका त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।[4] अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिए स्थूल झूठ न स्वयं बोलना और न दूसरोंसे बुलवाना तथा इस प्रकारका सत्य, जिससे किसीका अपकार हो रहा हो, न स्वयं बोलना और न अन्यसे बोलनेको कहना सत्याणुव्रत है।[5] किसीकी गिरी, पड़ी या भूली हुई वस्तुको न स्वयं लेना और न दूसरोंको लेनेके लिए कहना अचौर्याणुव्रत है। स्वविवाहित पत्नीके अतिरिक्त संसारकी अन्य स्त्रियोंको माँ-बहन और पुत्रीके समान समझना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।[6] आवश्यकताको कम करते हुए भोगापभोगकी सामग्रीकी मर्यादा करना और अवशेष परिग्रहका त्याग करना परिग्रह परिमाणव्रत है।[7]

अहिंसाव्रतको विशुद्ध रखनेके लिए भक्ष्याभक्ष्यका विवेक आवश्यक है। अतः देशविरत श्रावकको दो मुहूर्तके बाद पुनः न छाने हुए पानी तथा मक्खनका सेवन नहीं करना चाहिए। दो दिनतक दही, जिसपर फूल (भकूंडा) आ गया है, इस प्रकारका ओदन, कच्चे गोरससे मिला हुआ द्विदल, घुना, चलित स्वाद तथा नया अंकुर निकला हुआ अनाज; चमड़ेके वर्तनमें रखनेसे अपवित्र हुए तैल, पानी, घी आदि; गीलाकन्द, कलींदा (तरबूज), मूली, फूल, अनन्तकाय, अज्ञातफल एवं सन्धान आदिके सेवनका

---

[1] धर्मशर्माभ्युदय २१।१२६-२७।
यशोधरचरित, धारवाड, १९६३ ई०, ४।२३ इसी काव्य (४।२७) में मद्य, मांस और मधुके त्यागका भी कथन किया है।

[2] पद्मानन्द २।२१२; प्रद्युम्नचरित ५।१४४।

[3] पद्मानन्द २।२१३।

[4] वही, २।२२१।

[5] वही, २।२२२।

[6] वही, २।२३१।

[7] वही, २।२३२।

त्याग करना चाहिए। रात्रि भोजन और दिवामैथुनका त्याग भी अपेक्षित है।[1] अग्निपर बिना गर्म किये गये मक्खन, कांजी, तुम्बी, पंचोदुम्बर, बेलफल, केवड़ा, निम्बपुष्प आदिका सेवन न करना चाहिए।[2]

पंचमी, अष्टमी और चतुर्दशीको अपनी शक्तिके अनुसार अनशन, ऊनोदर, रसत्याग आदि रूप एवं साधुजनोंको भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए।[3]

दिग्, देश और अनर्थदण्डोसे मन, वचन और कायपूर्वक निवृत्त होना तीन गुणव्रत हैं। ये गुणव्रत संसार-रूप समुद्रमें नौकाका कार्य सम्पन्न करते हैं।[4]

महाकवि वादीभसिंह और अमरचन्द्रसूरिने तत्त्वार्थसूत्रमें उल्लिखित गुणव्रतोंकी परम्परा, जिसका निर्देश धर्मशर्माभ्युदयकाव्यमें उपलब्ध होता है, का अनुसरण नही किया है। वादीभसिंहने[5] रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे उल्लिखित दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इन तीन गुणोंका निरूपण किया है। पद्मानन्दकाव्यमें अमरचन्द्रसूरि[6]ने भोगोपभोगव्रतकी विशुद्धिके लिए पन्द्रह खरकर्म एवं भक्ष्याभक्ष्यका त्याग भी अंकित किया है।

दिग्व्रतकी परिभाषामें कोई अन्तर नही है। जो वस्तु एक बार सेवन की जा सके उसे भोग और जो बार-बार सेवन की जाये, उसे उपभोग कहते है। इस व्रतवालेको मक्खन, पंचोदुम्बर, मद्य, मास, मधु, दो दिनके उपरान्तका दही, पुष्पित ओदन, आमगोरस सम्पृक्त द्विदल, अविज्ञात फल, पुष्प, अचार, बैगन, अनन्तकाय, बहुबीजा, चौराईका शाक, वृक्षकी छाल, किशलय, गुडूची, शतावरी, गिरिकर्णिका, आर्द्रक, आर्द्र कन्द, प्याज, लहसुन, सूरण, आलू, मूली, गाजर, विदारीकन्द, हल्दी, वर्षाऋतुमें पत्तोंवाले शाक, महुआ, बेलफल एवं रात्रि भोजनका त्याग करना चाहिए।[7]

भोगोपभोग व्रतको शुद्ध बनाये रखनेके लिए पन्द्रह खरकर्मोंका त्याग आवश्यक माना है। धर्मशर्माभ्युदय और पद्मानन्द दोनों ही काव्योंमें इनका विस्तृत वर्णन है। झाडू, कोल्हू, शस्त्र, अग्नि, मूसल तथा उखली आदिका देना; मुर्गा, कुत्ता, बिलाव, मैना, तोता आदिका पालना; कोमला, गाड़ी, बाग-बगीचा, भाड़ा तथा पटाका आदिसे आजीविका करना, तिल, पानी तथा ईख आदिके यन्त्र लगाना; बनमें अग्नि लगाना; दाँत, केश, नख, अस्थि, चर्म, रोम, निन्दनीय रस, सन, हल, लाख, लोहा तथा विष आदिका बेचना; बावड़ी, कुँआ, तालाब आदिका सुखाना, भूमिका जोतना, बैल आदि

---

[1] धर्मशर्मा० २१।१३५–१४०।
[2] वरांगचरित (वर्धमान कवि), १२।११-१२।
[3] वही, १२।१३।
[4] धर्मशर्माभ्युदय २१।१४३।
[5] क्षत्रचूड़ामणि ७।२४।
[6] पद्मानन्द २।२४०।
[7] वही, २।२४२–२४६।

पशुओको बधिया करना, उन्हें समयपर आहार पानी न देना, अधिक भार लादना, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, चित्रकर्म, लेप्यकर्म,[1] हिंसक वस्तुओका दान, असतीपोषण—हिंसक जन्तुओंका पालन करना आदि वर्ज्य है।

अनर्थदण्ड—बिना प्रयोजन दूसरे प्राणियोंका पीडा पहुँचानेवाला कार्य अनर्थदण्ड है। इसके पाँच भेद हैं—पापोपदेश,[2] हिंसादान, दु:श्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या। मानवका अहित करनेवाले कार्योंका—हिंसा, धोखा, बेईमानी, कुशील प्रभृतिका उपदेश देना पापोपदेश है। प्राणघातक विष, अस्त्र आदिका दान देना हिंसादान है। किसीकी बुराईका चिन्तन करना अपध्यान है। जिन शास्त्र या उपन्यास आदिके सुनने और पढनेसे मनमें कालुष्य उत्पन्न हो, उनका सुनना-पढना अपश्रुति है। बिना आवश्यकताके पृथ्वी खोदना, वनस्पति काटना, अश्लील चर्चाएँ करना एवं व्यर्थ बकवाद करना प्रमादचर्या है।

शिक्षाव्रतोंके सम्बन्धमें भी मतभेद है। वादीभसिंहने[3] रत्नकरण्डके समान प्रोषधोपवास, सामाजिक, देशावकाशिक और वैयावृत्य इन चार शिक्षाव्रतोंका उल्लेख किया है। धर्मशर्माभ्युदयमें[4] सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं। पद्मानन्दमें देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषध और अतिथि संविभाग शिक्षाव्रतोंका उल्लेख मिलता है।[5]

श्रावकको ग्यारह प्रतिमाएँ और संल्लेखना विधि भी उपलब्ध होती है। आर्त्त, रौद्र ध्यान छोड़ धर्मध्यान करना एवं आत्मशुद्धिके लिए अन्य व्रतानुष्ठानोका पालन करना श्रावकाचारके अन्तर्गत हैं।

मुनि-आचार

मुनि या साधुके आचारके सम्बन्धमें जैन काव्योंमे पर्याप्त सामग्री आयी है। पाँच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। श्रावक जिन व्रतोंका एक देशसे पालन करता है, साधु उन्हें पूरी तरहसे पालते हैं। छह कामके जीवोंकी हिंसाका त्याग, इन्द्रियोका निग्रह एवं राग, द्वेष, काम, क्रोधादि भावोंका अभाव पाया जाता है। प्रमाद वर्जनरूप पाँच समितियोंका पालन तथा पंचेन्द्रियोके जो विषय अच्छे लगते हैं, उनसे रागका अभाव एवं जो बुरे लगते हैं, उनसे द्वेषाभाव रखते हैं। षट् आवश्यक—प्रतिदिन सामायिक, तीर्थंकरोंकी स्तुति, उन्हें नमस्कार, दोषोंका शोधन, भविष्यमें लग सकने वाले दोषोंसे बचनेके लिए अयोग्य वस्तुओंका मन, वचन और कायसे त्याग

---

[1] धर्मशर्माभ्युदय २१।१४४-१४८ तथा पद्मानन्द २।२५४-२६६।

[2] पद्मानन्द काव्यमें अनर्थ दण्डके अपध्यान, पापोपदेश, हिंसादान और प्रमादाचरण भेदोंका उल्लेख है —पद्मानन्दमें सभी व्रतोंकी परिभाषाएँ अंकित हैं।—पद्मानन्द २।२७१-२७७।

[3] क्षत्रचूडा० ७।२५।

[4] धर्मशर्माभ्युदय २१।१५०-१५२।

[5] पद्मानन्द २।२७८-२८४।

करने, लगे हुए दोषोंका शोधन करने, तपवृद्धि एवं निर्जराके लिए कायोत्सर्ग करना षड् आवश्यकके अन्तर्गत है।[1] स्नान त्याग, दन्तधावन त्याग, भूमिशयन, खड़े होकर भोजन ग्रहण, दिनमें एक बार भोजन, नग्न एवं केशलुंचन २८ मूल गुणोंके अन्तर्गत हैं।

मुनिको उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, आर्जव आदि दश धर्मोंका पालन करना, बाईस परिषहोंका सहन करना, बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तन करना, पाँच चरित्रोंका पालन करना एवं आत्मशोधनके हेतु गुण स्थानोंका आरोहण करना चाहिए।[2] ध्यान द्वारा कर्मोंको क्षय करनेकी विधिका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है।[3] अनशन, ऊनोदर, व्रत परिसंख्यान, रसत्याग आदि द्वादशव्रतोके पालनके साथ एकावली, द्विकावली प्रभृति कर्मनिर्जराके हेतु व्रतोका आचरण करना मुनि आचारके अन्तर्गत है।

●

---

[1] वर्धमानकवि कृत वरांगचरित १३।५७ तथा असग कवि कृत वर्धमानचरित १२।५०।

[2] वर्धमानचरितमें मुनि धर्मका विशेष वर्णन १५।५२–१६१।

[3] वही, १५।१५० तथा १६।४२। तथा—क्षत्रचूड़ामणिमें अनुप्रेक्षाके हेतु ११।२९–८० पद्मानन्द २।२८५–३१०।

उपसंहार

पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि जैन कवियोंने संस्कृत भाषामें सभी प्रकारकी काव्य विधाओंपर शताधिक काव्य लिखे हैं। चरितनामान्त महाकाव्य, इतरनामान्त महाकाव्य, ऐतिहासिक महाकाव्य, सन्धान महाकाव्य, एकार्थकाव्य, लघुकाव्य, सन्देश या दूतकाव्य, सुभाषित और स्तोत्र काव्य प्रभृति विधाओंपर सुन्दर रचनाएं निबद्ध कर संस्कृत काव्य भाण्डारको समृद्ध बनाया है। केवल रचना-बाहुल्य ही नही है, अपितु काव्यकलाकी दृष्टिसे अधिकाश काव्य संस्कृत काव्यकोषकी अमूल्य मणियाँ हैं। यत्र-तत्र प्राप्त होने वाले साम्प्रदायिक निर्देशोने उन मणियोंकी दीप्तिको आभाहीन नही होने दिया है। काव्यचमत्कार सौन्दर्यबोधके विविध उपकरण एवं रसानुभूति समस्त महाकाव्योंमे अनुस्यूत है। अनेक रुचिर और प्रभावोत्पादक चरित्रोकी अवतारणा संस्कृत काव्यकी समृद्धिमें बहुमूल्य योगदान स्वीकार करनेमे किसी भी प्रकारकी हिचक नही होगी। सौन्दर्य और जीवन संभोगके चित्र उपस्थित करते हुए यौवनस्फीत विलासिनियोंके साथ जलविहार, आसवपान, नर्तकियोंका झूम-झूमकर नृत्य, नाना वाद्योंकी स्वरध्वनियाँ, नाट्याभिनय, दोलारोहण और जीवनके अन्य विविध मार्मिक पक्षोका चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जीवनके आमोद-प्रमोदोंके साथ जीवन मूल्योंकी व्याख्या निबद्ध कर प्रवृत्ति मार्गसे निवृत्ति मार्गकी ओर मोड़कर एक नये स्थापत्यका सूत्रपात किया है। यह स्थापत्य संस्कृत काव्यके लिए एक प्रकारसे नयी भेंट है।

नख-शिख वर्णनमें कवियोकी रसीली चेतना, उनकी कमनीय कल्पना एवं अचूक अन्वीक्षणका मनोरम उन्मीलन पाया जाता है। संस्कृत काव्यके लिए उक्त रसलिप्सु चेतनाका हृदयावर्जक चित्रण अमूल्य निधि है। कवियोंका प्रकृति-अनुराग, कल्पनाकी उर्वर कमनीयता, अन्तःकरणके अप्रतिम माधुर्य एवं रसान्वेषी विलास-चेतनाकी व्यंजना सर्वत्र पायी जाती है। व्यंग्यभावों एवं रसोंका सुन्दर चित्रण, ध्वन्यात्मकताका निदर्शन, प्रबन्ध-पटुता, भावानुभूतिकी तीव्रता, वस्तुविन्यासकी सतर्कता, विलास-वैभव और पौरुष-पराक्रमसे अन्वित जटिल चित्रण, प्रकृति निरीक्षणका मंजुल विज्ञापन, लोक-शीलका उद्घाटन एवं भोगवादके ऊपर श्रमण परम्पराकी प्रतिष्ठा संस्कृत जैन काव्योंमें पायी जाती है। अलंकारशास्त्रियों द्वारा प्रथित महाकाव्यके समस्त लक्षण एवं सौन्दर्योपकरणोंका प्रयोग संस्कृत जैन काव्योंमें सर्वत्र पाया जाता है। कर्मवादकी कलात्मक व्यंजना, पुनर्जन्मकी व्याख्या, आध्यात्मिक जीवनके विभिन्न रूप, धार्मिक क्रियाओंके फलितार्थ एवं परलोकसाधनाके चित्रण काव्यात्मक रसमयी

शैलीमें किये गये हैं। घोर शृंगारमें डूबे हुए सामन्त, राजा-महराजा, माण्डलिक, विद्याधर, चक्रवर्ती प्रभृति किसी एक छोटेसे निमित्तको प्राप्त कर विरक्त हो जाते हैं और उन्हें विलास-वैभव तथा जीवनोपभोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं। फलतः वे मुनि बन वनकी ओर प्रस्थान करते हैं और वीतरागताकी उपलब्धिके लिए संचेष्ट हो जाते हैं। पात्रोका इस प्रकारका गुणात्मक परिवर्तन संस्कृत काव्य विद्याके लिए एक नयी काव्य चेतना है।

श्रेण्य संस्कृत काव्योंमें बलदेव (रामचन्द्र, बलराम आदि), वासुदेव (नारायण श्रीकृष्ण, लक्ष्मण आदि), प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण—रावण, जरासन्ध, मधुकैटभ आदि) एवं कामदेव (बाहुबली, प्रद्युम्न, हनुमान्, जीवन्धर आदि) प्रभृतिका व्यक्तिके रूपमे चित्रण किया गया है; पर संस्कृत जैन काव्योंमें ये पद हैं, व्यक्ति नहीं। इन पदोपर जो भी व्यक्ति आता है, उसकी सामान्य संज्ञा बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव एवं कामदेव होती है, और विशेष संज्ञा समयानुसार रामचन्द्र, बलराम आदि सम्पादित की जाती है। वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि पदो (Posts) को अलंकृत करनेवाले व्यक्तियोमे अपनी-अपनी संज्ञाके अनुसार रूप-सौन्दर्य, शक्ति, बल-वैभव आदि निहित रहते हैं। वासुदेव—नारायणोंके साथ प्रतिवासुदेव—प्रतिनारायण शत्रुता करते हैं, फलतः युद्ध भूमिमें नारायणो द्वारा प्रतिनारायणोंका वध सम्पन्न होता है। कामदेव पदधारी बाहुबली, हनुमान्, वसुदेव, प्रद्युम्न, जीवन्धर प्रभृति चौबीस व्यक्ति होते हैं। ये अनुपम सुन्दर, पुण्यात्मा, प्रतापी और चरमशरीर—तद्भवमोक्षगामी माने गये हैं। इनके अपूर्व लावण्यसे आकृष्ट होकर अनेक स्त्रियाँ इनका वरण करती हैं, पर अन्तमें ये समस्त वैभवका त्याग कर मुनिपद धारण कर तपश्चर्या करते हैं और निर्वाणलाभ करते हैं। इस प्रकार जैन कवियोने संस्कृत काव्योको पात्र-चयनकी दृष्टिसे पदो (Posts) पर आसीन होनेवाले महान् व्यक्तियोको प्रस्तुत कर चरित्र विश्लेषणकी एक नयी स्थापत्य प्रक्रिया अंकित की है। जैन काव्योंमें महान् व्यक्तियोंके तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव एवं कामदेव पदोको स्वीकार किया गया है। अतः कथानक रूढ़ियाँ, अप्रस्तुत विधान, शैली, शीलनिरूपण, छन्दश्चयनकी दृष्टिसे मौलिकताओंके साथ कुछ समताएँ भी पायी जाती हैं। जन्म-जन्मान्तरकी कथानक-योजना प्रत्येक पदधारी व्यक्तिके जीवनमें भी क्रमिक विकास एवं व्यक्तित्वमे प्रादुर्भूत होनेवाले अन्तर्द्वन्द्वोंका सूत्रपात करती है, जिससे काव्योमें काव्यकलाका उत्कृष्ट रूप समवेत हो जाता है।

श्रेण्य संस्कृत काव्योंमें चित्रित ऋषि-मुनियोंके अभिशाप और वरदान जैन काव्योमे कर्मशृंखलाके रूपमें व्यक्त हुए हैं। अवसर-विशेषपर उपवन या नगरके बाहर किसी वाटिकामे मुनिराजका पदार्पण होता है, राजा परिजन और पुरजन सहित मुनिकी वन्दनाके लिए जाता है। वह वन्दनाके अनन्तर मुनिराजसे अपनी पूर्वभवावली पूछता है। मुनिराज पूर्वभवोका वृत्तान्त सुनाते हैं और किसी विशेष प्रश्नके साथ कर्मोंके

फलका कार्यकारण सम्बन्ध जोड़ते हैं। इस प्रकार काव्यके वातावरणपर पौराणिक छाया आ जानेपर भी पात्रोंके यथार्थ क्रियाकलाप समस्त काव्यको रम्य बना देते हैं। व्यक्तियोंके संकटके समयमें उलझी हुई समस्याओंका समाधान मुनियोंके द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध विश्लेषणपूर्वक ही उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार पात्रोंके जीवनमूल्य श्रेण्य संस्कृत काव्योंकी अपेक्षा कुछ परिवर्तित मिलते हैं। इतना होनेपर भी जैन कवियो द्वारा संस्कृत काव्यको रसमय अमूल्य कृतियाँ प्रदान की गयी है। इनके अध्ययनके बिना संस्कृत काव्यका अध्ययन निश्चयतः अधूरा माना जायेगा।

जैन कवियों द्वारा संस्कृत काव्यका सूत्रपात ईसवी सन्‌की द्वितीय शतीके कवि समन्तभद्रकी स्तुति-रचनाओ द्वारा होता है।[1] समन्तभद्रने वैदिक ऋषियोंके स्तोत्र-स्तवन काव्यकी परम्परापर स्तुतियोंका प्रणयन किया है। इनके स्तोत्र दो धाराओमें विभक्त दिखलाई पड़ते हैं—बुद्धिवादी नैयायिकके रूपमे तीर्थंकरोको अन्य देवोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट बतलानेके लिए आप्तमीमासा[2] और युक्त्यनुशासन[3] जैसी दार्शनिक स्तोत्र धारा एवं भक्तिभावपूर्ण तीर्थंकरोंके गुणानुवादके रूपमे बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र[4] और स्तुतिविद्या[5] जैसी काव्यात्मक स्तोत्रधारा। समन्तभद्रके काव्यात्मक स्तोत्रोमें इतिवृत्तात्मक अनेक सकेत उपलब्ध होते है। प्रबन्ध काव्यका आरम्भ रविषेणके पद्मचरित या जटासिंहनन्दीके वरांगचरितसे होता है। रविषेणका समय ई० सन् ६७६ है[6], जटासिंहनन्दीका ई० सन् ७७८ से पूर्व है।[7] अतः जैन कवियों द्वारा प्रबन्ध काव्य लिखे जानेकी परम्परा पद्मचरित और वरागचरितसे आरम्भ हुई है। ये दोनों ही पौराणिक काव्य है। इनमे पद्मचरितकी अपेक्षा वरागचरितमें काव्यतत्त्व अधिक है। वस्तुवर्णन और भावाभिव्यंजनमें महाकाव्यके शास्त्रीय लक्षण घटित है। अतएव आठवी शतीसे अठारहवी शतीतक जैनकवियो द्वारा संस्कृतमें विभिन्न काव्य विधाओंका संवर्धन होता रहा है। काव्यकी कुछ विधाएँ तो ऐसी है, जिनका संवर्धन विशेषरूपसे जैन कवियो द्वारा ही सम्पन्न हुआ है।

पादपूर्ति या समस्यापूर्ति काव्य विधाका विकास जैन कवियों द्वारा सर्वाधिक सम्पन्न हुआ है। ई० सन् ९वी शतीमे जिनसेन द्वितीयने मेघदूतके समस्त श्लोकोकी

---

[1] रत्नकरण्डश्रावकाचार—प्रभाचन्द्र टीका, मा० दि० जैन० ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० स० १९८२, प्रस्तावना भाग पं० जुगलकिशोर मुख्तार कृत तथा अनेकान्त वर्ष १४, किरण १, समन्तभद्रका समय निर्णय शीर्षक प्रबन्ध। सिद्धिविनिश्चय टीका,, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५९ ई०, प्रथम भाग, प्रस्तावना पृ० १७ एव श्री पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य—जैन दर्शन, ग० व० जैन ग्रन्थमाला, काशी, सन् १९५५ ई०, पृ० २१-२२।

[2] सनातन जैन ग्रन्थमाला, बनारस, सन् १९१४ ई०।

[3] पं० जुगलकिशोर मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या सहित—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १९५१ ई०।

[4] उपर्युक्त संस्थासे १९५१ ई० में प्रकाशित।

[5] वही, सन् १९५० ई० में प्रकाशित।

[6] द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते।—पद्मचरित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९ ई०, १२३।१८२।

[7] इसी शोध-प्रबन्धका प्रथम परिवर्त।

पादपूर्तिमय पार्श्वाभ्युदय[1] नामक काव्य ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तोंमे सम्पन्न किया है। मेघदूतके शृंगार रसका शान्त रसके रूपमे अद्भुत परिवर्तन किया गया है। कविने मूलकाव्यकी पद्यावलियोंके भावसौकुमार्य और पदलालित्यकी पूर्ण रक्षा की है। मेघदूतके अन्तिमचरणकी पादपूर्ति रूप चारित्रसुन्दर गणिने वि० सं० १४८४ में शीलदूत[2] नामक काव्य १३१ पद्योंमें रचा है। इसी शताब्दीमें सांगणके पुत्र विक्रमने मेघदूतके चतुर्थ-पादकी पूर्ति कर १२६ पद्योंमें नेमिदूत[3] या नेमिचरितकी रचना की है। इस काव्यमें तीर्थंकर नेमिनाथका चरित अंकित है। मेघदूतके अन्तिमपादकी समस्यापूर्तिके रूपमे १४१ पद्योंमे चन्द्रदूत[4] नामक काव्य उपलब्ध है। मेघविजय महोपाध्यायने मेघदूतके चतुर्थचरणकी समस्यापूर्तिके रूपमे १३० पद्योंमें मेघदूत समस्यालेख[5] लिखा है।

माघकाव्यकी समस्यापूर्तिके रूपमें मेघविजयने देवानन्द[6] नामक काव्यकी रचना की है। कविने इसमें माघ काव्यके प्रत्येक श्लोकका अन्तिम चरण लेकर और तीन पाद स्वयं नये लिखकर विजयदेवसूरिके विभिन्न समयका इतिहास काव्य रूपमे अंकित किया है।

नैषधकाव्यके प्रथम सर्गके समस्त श्लोकोके प्रत्येक पादकी समस्यापूर्तिके रूपमे मेघविजयके छह सर्गोमें शान्तिनाथ चरितका प्रणयन किया है।[7] इस प्रकार मेघदूत, माघ और नैषध काव्यकी समस्यापूर्तिके रूपमे काव्योका प्रणयन जैनकवियो द्वारा सम्पन्न हुआ है।

खरतरगच्छीय महोपाध्यायने भक्तामर जैनस्तोत्रके चतुर्थपादको समस्यापूर्तिके रूपमें ऋषभदेवकी स्तुति ४५ पद्योमें लिखी है। कीर्तिविमलके शिष्य लक्ष्मीविमलने भक्तामरके चतुर्थपादको पूर्ति कर शान्तिभक्तामरकी रचना की है। धर्मसिंहके शिष्य रत्नसिंहसूरिने ४९ पद्योंमे नेमिभक्तामरकी रचना कर नेमि राजिमतीकी स्तुति की है। इसका दूसरा नाम प्राणप्रिय काव्य है। धर्मवर्द्धनगणिने समस्यावद्धभक्तामरस्तोत्र[8] का प्रणयन किया है। इस स्तोत्रमे वीरस्तुति गर्भित की गयी है। भावप्रभसूरिने भक्तामर स्तोत्रके चतुर्थपादकी पूर्तिके रूपमे नेमिभक्तामर[9] का सृजन किया है। धर्मसिंहसूरिका सरस्वती भक्तामर[10] स्तोत्र भी भक्तामरकी समस्यापूर्तिके रूपमें लिखा गया है।

---

[1] निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९०९ ई०।
[2] यशोविजय ग्रन्थमाला बनारस, वी० नि० स० २४३९।
[3] जैन प्रेस, कोटा, वि० स० २००५।
[4] जैनसिद्धान्त भास्कर भाग ३, किरण १, पृ० ३३-३४।
[5] जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० स० १९७०।
[6] सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद—कलकत्ता, सन् १९३७ ई०।
[7] श्री पं० हरगोविन्ददास द्वारा संशोधित और विविध साहित्य शास्त्रमाला द्वारा सन् १९१८ में प्रकाशित।
[8] स्तोत्ररत्नाकर प्रथम भाग, म्हेसाणा, सन् १९१३ ई०, पृ० ६।
[9] वही, पृ० २३, प० ३।
[10] वही, पृ० ३९, पद्य ५।

भक्तामरस्तोत्रकी पादपूर्तिके रूपमे शताधिक स्तोत्रकाव्य लिखे गये हैं। कल्याणमन्दिर स्तोत्रके चतुर्थचरणकी पादपूर्तिके रूपमें जैनधर्मवरस्तोत्र[1] की रचना भावप्रभसूरिने वि० सं० १७८१ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमीको की है। कल्याणमन्दिरकी पादपूर्तिके रूपमें पार्श्वनाथ स्तोत्र भी प्राप्य है।

शिवमहिम्न स्तोत्रकी पादपूर्ति रत्नशेखरसूरिने ऋषभमहिम्न स्तोत्रके रूपमें की है।[2]

इस प्रकार संस्कृतके जैन कवियोने समस्यापूर्ति काव्य विधाका संवर्द्धन तो किया ही, साथ ही नवीन अर्थका विन्यास कर एक नयी शैलीकी उद्भावना की। शृंगारकी रसधाराको वैराग्यकी ओर मोड़ना और मेघदूत आदि काव्योके चरणोको ग्रहण कर नवीन अर्थकी उद्भावना कर देना साधारण बात नही है।

जिस प्रकार समस्यापूर्ति काव्यविधाको जैन कवियोंने पुष्ट किया है, उसी प्रकार सन्धान महाकाव्य विधाको भी। उपलब्ध सन्धान काव्योमें धनंजयका द्विसन्धान काव्य ही प्राचीन है। यो तो दण्डीकृत द्विसन्धानका निर्देश भोजकृत शृंगार प्रकाशमें उपलब्ध होता है, पर यह प्राप्त नही है। अतएव द्विसन्धान काव्योकी परम्परा धनंजयसे प्रारम्भ मानी जाये तो अनुचित नही है। विद्यामाधव कृत पार्वतीरौक्मणीय (वि० सं० ११८३), कविराज कृत राघवपाण्डवीय (वि० स० १२३०), सोमेश्वर कृत राघवयादवीय, वेंकटाध्वरीकृत यादवराघवीय (१७वी शती), रघुनाथाचार्य, श्रीनिवासाचार्य और वासुदेवकृत राघवयादवीय, रामचन्द्रकृत रसिकरंजन (ई० सन् १५२४), चिदम्बरकृत राघवयादवपाण्डवीय (सन् १५८६ ई०), अनन्ताचार्य कृत राघवयादवीय, सूर्यकविकृत कृष्णविलोमकाव्य प्रभृति सन्धात्मक रचनाएँ धनंजयके पश्चात् ही निबद्ध की गयी हैं। आचार्य हेमचन्द्रने सप्तसन्धान काव्यकी रचना की थी, पर यह काव्य वि० सं० १७६० के पहले ही नष्ट हो गया है।[3] अतएव सप्तसन्धान काव्यकी रचना मेघविजय गणिने सम्पन्न की है। धनजयका द्विसन्धान—राघवपाण्डवीय प्रत्येक दृष्टिसे कविराजके राघवपाण्डवीयकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। भावव्यंजना और अर्थश्लेषकी अपेक्षा धनंजयका द्विसन्धान अधिक उपादेय है। वैदर्भी शैलीमे यह काव्य रचा गया है। प्रसाद और माधुर्य गुण कविराजके राघवपाण्डवीयकी अपेक्षा धनंजयके द्विसन्धानमें अधिक व्यक्त हैं। चतुःसन्धान और पंचसन्धानोंकी रचना भी जैनकवियोने सम्पन्न की है।

चरितकाव्य तो जैन कवियोंने संस्कृतमें सर्वाधिक लिखे है। इनमें-से अधिकाश काव्य काव्यगुणोकी दृष्टिसे उत्तम कोटिके है। वीरनन्दि कविका चन्द्रप्रभचरित वर्णन, वस्तुयोजना, रसभावनिरूपण एव वैदर्भी शैलीकी अपेक्षा रघुवंशके समकक्ष है। भावत-

---

[1] देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्डके ८४ वें ग्रन्थांकके रूपमें प्रकाशित।

[2] सन् १९०७ में जैन स्तोत्र तथा स्तवन सग्रह अर्थ सहित नामक ग्रन्थमें प्रकाशित है।

[3] सप्तसन्धान--मेघविजय गणि, जैन साहित्यवर्धक सभा गोपीपुरा, सूरत, वि० सं० २०००, ग्रन्थप्रशस्ति प० २।

रलतामें चन्द्रप्रभ रघुवंशसे एक कदम आगे ही है, पीछे नही। व्यंजना और अप्रस्तुत योजना रघुवंशमें चन्द्रप्रभकी अपेक्षा अधिक व्यवहृत है, पर शीलनिरूपणमें वीरनन्दी कालिदाससे पीछे नही हैं। शील, शौर्य एवं ऐश्वर्यको जितनी व्यापक अभिव्यंजना चन्द्रप्रभमें की गयी है, उतनी रघुवंशमें नही। इन्दुमती स्वयंवर प्रसंगका कालिदासने जितना उदात्त चित्रण किया है, उतना उदात्त चन्द्रप्रभका सम्भवतः कोई भी सन्दर्भ नही है, पर श्रीवर्मा और अजितसेनकी दिग्विजययात्रा रघुकी दिग्विजय यात्रासे अधिक प्रभावक है। चन्द्रप्रभके षष्ठ सर्गमें वर्णित षड्ऋतुवों, पर्वत, वन, कुमार अजितसेनका पराक्रम, शशिप्रभाके साथ अजितसेनका विवाह प्रभृति सन्दर्भ रघुवंशके सन्दर्भांशोंसे अधिक सरस हैं। अतः चन्द्रप्रभचरितको रघुवंशकी कोटिका काव्य माना जा सकता है।

महाकवि असगका वर्द्धमानचरित और वाग्भटका नेमिनिर्वाण कई दृष्टियोंसे किरातके समान काव्यगुण सम्पन्न है। यद्यपि यह सत्य है कि किरातमें जितना अर्थ-गाम्भीर्य है, उतना उक्त दोनों काव्योंमें नही है, पर तो भी प्रकृति वर्णन, अप्रस्तुत विधान, शृगारका सरस चित्रण, पदलालित्य, मध्यम समासशैली एवं कल्पना सम्पत्ति उक्त दोनो काव्योमे किरातके समान ही है। वर्द्धमानचरित जैसा कथाप्रवाह किरातमें नही है। वर्द्धमानचरितकी कथावस्तु मन्थरगतिसे आगे बढ़ती है, बीच-बीचमे एक-से-एक सुन्दर वर्णन आते गये है। कथावस्तुमें नाटकोयता वर्तमान है। नेमिनिर्वाणमे वनविहार, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, रतिकेलि प्रभृति किरातके समान हो है। कविने प्रणयकलाके उत्कृष्ट रूपको प्रतिष्ठा की है। किरातके पाँचवें और पन्द्रहवें सर्गमे प्रस्तुत की गयी शब्दक्रीडा (Le jeuxde mots) उक्त दोनो काव्योमे भले ही न मिले, पर शृगार-के चित्रण किसी भी दृष्टिसे भारवीसे कम नही है। नादानुकृति अनेक पद्योमे किरातके समान ही है। वर्णनकी चित्रमत्तामे किरातके समान ही उक्त दोनो काव्योंमें प्रहर्षिणी छन्दका प्रयोग किया गया है। वर्द्धमानचरितकी उक्तियाँ किरातके समान ही स्वाभा-विकता, व्यंग्य तथा पाण्डित्यसे भरी हुई हैं।

हरिचन्द्र कविका धर्मशर्माभ्युदय शिशुपालवधके समकक्ष है। यह काव्य कई स्थलोपर कलात्मक सजावटकी दृष्टिसे शिशुपालवधसे भी आगे है। दोनोंमें कल्पनाकी उदात्तता, शब्द सम्पत्तिका अक्षय भाण्डार और अलंकारोंकी मनोरम छटा समान है। दोनों—धर्मशर्माभ्युदय और शिशुपालवधकी शैलीमें धीर-गाम्भीर्य संगीत है। भावोकी मौलिकता, पदविन्यास एवं मानवोचित प्रकृतिको शृंगारी चेष्टाएँ दोनो काव्योंमें तुल्य है। माघकी अपेक्षा धर्मशर्माभ्युदयमें कालिदास जैसी भावतरलता, प्रसादगुण एवं वैदर्भी शैलीका प्रयोग व्यवस्थित रूपमे पाया जाता है। माघने जहाँ शुक्रनीति, कामन्दीय नीतिसार और व्याकरण, दर्शन, न्याय, अलंकार शास्त्र आदिके पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग कर अपने काव्यको जटिल बना दिया है, वहाँ धर्मशर्माभ्युदयमें यह जटिलता नाममात्रको भी नही है। हरिचन्द्रका व्यक्तित्व किसी रूपमें माघसे कम नही है। धर्म-शर्माभ्युदयमें स्वभावोक्ति और प्रौढोक्तियोंका प्रयोग माघके समान ही उपलब्ध है।

श्लिष्ट प्रयोग, चित्रकाव्यके संकेत तथा यमक योजना माघ जैसी भले ही धर्मशर्माभ्युदयमें न हो, पर उसका उन्नीसवाँ सर्ग चित्रकाव्यका अनुपम उदाहरण है। अनुप्रास भी धर्मशर्माभ्युदयमें माघके समान हैं। ऋतुवर्णन, पुष्पचयन, दोलाक्रीडा, मदिरापान, सुरतक्रीड़ा प्रभृति चित्रण दोनों काव्योंमें तुल्य हैं।

महाकवि वस्तुपालके नरनारायणानन्दकी तुलना किरातसे की जा सकती है। यह काव्य कलावादिताकी दृष्टिसे शिशुपालवधकी समकक्षता नहीं कर सकता है, और न माघ जैसा समवंत पाण्डित्य ही वस्तुपालमें पाया जाता है, पर तो भी भावपक्षकी दृष्टिसे नरनारायणानन्द माघकी अपेक्षा अधिक समृद्ध है। यह काव्य रघुवंश जैसा स्थिर प्रभाव डालता है और प्रत्येक सहृदय पाठकको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। वस्तुपालके नरनारायणानन्दमें नादानुकृति भारविके समान ही उपलब्ध होती है। कलावादिताकी दृष्टिसे वस्तुपाल और भारवि समान हैं। दोनोंके काव्योंमें चित्रमत्ता, प्रहेलिका गोमूत्रकादिबन्ध समान रूपमें उपलब्ध हैं। भारविके समान वस्तुपालमें भी स्वभावोक्तियाँ पायी जाती हैं। निष्पक्ष आलोचना करनेपर यह कहा जा सकता है कि कलावादिता वस्तुपालमें भारविसे अधिक और माघसे कम है। अतः नरनारायणानन्दको किरातसे ऊँचा और माघसे कुछ नीचा माना जा सकता है।

नैषधकाव्यकी कोटिका काव्य जैन कवियोंने प्रायः नहीं लिखा है। यद्यपि मुनिभद्रने शान्तिनाथचरितको माघ और नैषधसे भी श्रेष्ठ काव्य लिखने की प्रतिज्ञा की है, पर कवि अपनी प्रतिज्ञामें सफल नहीं हो सकता है। शान्तिनाथचरितमें प्रसादगुण है। कविने भावतरलताको बनाये रखनेका पूरा प्रयास किया है। भाषा प्रौढ और परिमार्जित है। चरितकाव्य और चित्रकाव्यके समन्वयका प्रयास शान्तिनाथचरितमें किया गया है। हाँ श्रीहर्ष जैसा दर्पोन्मत्त पाण्डित्य इस काव्यमें नहीं है। यद्यपि इस काव्यका कथानक बहुत विस्तृत है, पर कहीं भी विश्रृंखलता नहीं आने पायी है। प्रबन्ध निर्वाहकी दृष्टि से है यह काव्य भारवि और माघ दोनोंके काव्योंसे श्रेष्ठ है, पर कलावादिताकी दृष्टिसे न्यून।

जैन कवियोंने जहाँ चन्द्रप्रभचरित, वर्धमानचरित, प्रद्युम्नचरित, धर्मशर्माभ्युदय, नेमिनिर्वाण, नरनारायणानन्द, शान्तिनाथचरित जैसे कलापूर्ण काव्य प्रदान किये; वहाँ श्रेणिकचरित जैसे द्व्याश्रय काव्य भी। जिनप्रभसूरिके श्रेणिकचरितकी तुलना भट्टिकाव्यसे की जा सकती है। भट्टिने जहाँ पाणिनि व्याकरण सम्मत शुद्ध प्रयोगोंका दिग्दर्शन कराया है, वहाँ जिनप्रभसूरिने कातन्त्र व्याकरण सम्मत प्रयोग दिखलानेका प्रयत्न किया है। दोनों ही कवि अपने-अपने प्रयोगोंमें सफल रहे हैं। दोनोंके काव्यग्रन्थ वैयाकरणोंके लिए दीपक तुल्य हैं, पर व्याकरण न जाननेवालोंके लिए अन्धेके हाथमें दिये गये दर्पणके समान हैं। भट्टिकाव्यमें दसवेंसे तेरहवें सर्ग तक शब्दालंकार और अर्थालंकारके विभिन्न भेद-प्रभेदोंका व्यवहार किया है, किन्तु जिनप्रभसूरिने अलंकार प्रयोगसे अपनेको अलग ही रखा है। जहाँतक उद्देश्यका प्रश्न है, जिनप्रभसूरि भट्टिसे

किसी भी दृष्टिसे कम सफल नहीं है। रसानुभूतिकी दृष्टिसे दोनों ही काव्य अधिक महत्त्व नहीं रखते। दोनोंके हृदयकी रसिकताको उनके पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्वने कुचल दिया है। जहाँ ये कवि व्याकरणके संकीर्णपथसे बाहर आते हैं, वहाँ प्रकृतिके रमणीय दृश्य उपलब्ध होते हैं।

अमरचन्द्रसूरिका व्यक्तित्व कुछ अंशोंमें श्रीहर्षके समान है। इनके पद्मानन्द और बालभारतमें कालिदास जैसी प्राञ्जलता और भारवि जैसी अर्थगरिमाके दर्शन होते हैं। इन्होंने कालिदासके चरण-चिह्नोंका अनुकरण किया है, पर साथ ही श्रीहर्षके व्यक्तित्वको भी छूनेकी चेष्टा की है। अमरचन्द्र आशुकवि हैं, इनमें स्वाभाविक काव्य प्रतिभा पायी जाती है। बालभारतके आदिपर्वके सप्तम और अष्टम सर्ग नैषधके साथ टक्कर लेते हैं। पद्मानन्दके कई सन्दर्भ पदलालित्यकी दृष्टिसे नैषधके तुल्य है।

जैनकुमारसम्भव महाकवि कालिदासके कुमारसम्भवकी समकक्षता करनेके लिए ही लिखा गया है। इसमें कालिदासके कुमारसम्भवके समान उत्कट शृंगाररस तो नहीं पाया जाता है, पर कार्तिकेयजन्मके समान ही कुमार भरतके जन्मकी कथावस्तु वर्णित है। माधुर्यका मधुरनिवेश, प्रसादकी स्निग्धता, पदोंकी सरसशय्या, अर्थका सौष्ठव एवं अलंकारोंके मजुल प्रयोग दोनों काव्योंमें समान रूपसे उपलब्ध है। यद्यपि जैन-कुमारसम्भवमे उपमाओंकी रसात्मकता तथा रसपेशलता कालिदासके कुमारसम्भवके समान नहीं है, तो भी अश्लीलतासे रहित होनेके कारण जैनकुमारसम्भवमें औचित्यका समवाय पाया जाता है। ऋषभदेवके विवाहका मर्मस्पर्शी चित्रण शंकरके विवाहके समान ही प्रतीत होता है। इस काव्यमें पार्वती तपस्या जैसा कोई सन्दर्भ नहीं आया है।

बुद्धचरित और सौन्दरनन्दकी समकक्षता चन्द्रप्रभचरित, वादिराजके पार्श्वनाथ-चरित और जयन्तविजयके साथ सरलतापूर्वक की जा सकती है। चन्द्रप्रभचरित कई दृष्टियोंसे बुद्धचरितसे आगे है। मानव हृदयकी परिवर्तनशील वृत्तियोंका उद्घाटन कवि वीरनन्दीने अश्वघोषकी अपेक्षा अधिक किया है। सांसारिक अनुभवोंकी अभिव्यंजना अश्वघोषके काव्योंकी अपेक्षा उक्त काव्योंमें अधिक हुई है। प्रद्युम्नचरित अपनी मनो-रंजकता और साहसिक कार्योंके लिए सौन्दरनन्दसे किसी प्रकार पीछे नहीं है। इस काव्यमें कालिदासकी रसभावमयी पद्धतिके दर्शन होते हैं। नैसर्गिकता, पात्रोंमें सजीवता, पारिवारिक कलह एवं सपत्नी ईर्ष्याकी अभिव्यंजना बड़े ही सुन्दर रूपमें प्रस्तुत हुई है।

ऐतिहासिक काव्योंमें नयचन्द्रसूरि कृत हम्मीरमहाकाव्य उत्तम कोटिका काव्य है, इसकी तुलना संस्कृतके प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य विल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित से की जा सकती है। दोनों काव्योंमें ऐतिहासिक घटनाक्रमको विशेष महत्त्व दिया है। विक्रमांकदेवचरितकी कतिपय पौराणिक घटनाओंको छोड़ शेष समस्त घटनाएँ प्रमाण मानी जाती हैं, पर हम्मीर महाकाव्यमें दी गयी समस्त घटनाएँ पूर्णतया इतिहास सम्मत और प्रामाणिक हैं। जहाँतक काव्यकलाका प्रश्न है, राजतरंगिणी निस्सन्देह

उच्चकोटिका काव्य है, पर उससे कम उच्चकोटिका काव्य हम्मीर भी नहीं है। कालिदास जैसी भावतरलता, नैषध जैसा पदलालित्य एवं भारवि जैसा अर्थगाम्भीर्य हम्मीरकाव्यमें पाया जाता है। कल्पना-प्रवणता, भाषा सौन्दर्य एवं भावपक्षकी सुन्दरताके लिए राजतरंगिणी प्रसिद्ध है। ये सभी गुण हम्मीरकाव्यमें भी उपलब्ध हैं। वस्तुतः राजतरंगिणी और हम्मीर महाकाव्यमें ऐतिह्य निर्वाह तथा काव्यकलाकी दृष्टिसे कौन काव्य श्रेष्ठ है, इसका निर्णय करना कठिन है।

महाकवि हेमचन्द्र द्वारा लिखित कुमारपालचरित द्वयाश्रयके साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने गुजरातके राजाओंका चरित अपने आश्रय-दाता कुमारपाल तक निबद्ध किया है। कुमारपाल सन् ११४४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ और सन् ११५२ ई० में वह जैनधर्ममें दीक्षित हुआ। कविने गुजरातका प्रामाणिक इतिहास इस काव्यमें अंकित किया है। अतः काव्यमूलक कम होनेपर भी ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। हेमचन्द्रका व्यक्तित्व पाणिनि, भट्टि और पतंजलिके समन्वित रूपमें उपलब्ध है।

गुजरातके इतिहासकी दृष्टिसे वसन्तविलास भी महत्त्वपूर्ण है। इस काव्यके श्रीकरणपदलाभ नामक तृतीय सर्गमें मूलराजसे लेकर भीमदेव द्वितीय तक के गुजरातके राजाओंका पराक्रम वर्णित है। बताया गया है कि वीरधवल और उसके पूर्वजोंने गुजरातको किस प्रकार छिन्न-भिन्न होनेसे बचाया है। भीमदेवने अवन्ती-नरेशको युद्धमें परास्त किया है तथा सिद्धराज जयसिंहने धाराधिपति को। कवि बालचन्द्रसूरि वस्तुपालका समकालीन है, अतः घटनाओंकी सचाईमें शंका नहीं की जा सकती। वस्तुपालके मन्त्रित्वकालमें एक बार मारवाड़ देशके राजाओं और लूणसाक नृपतिमें युद्ध छिड़ गया। मारवाड़ देशके राजाओंके निमन्त्रणपर वीरधवल भी युद्धमें शामिल हुआ। इस समय राज्यको अरक्षित पाकर भृगुकच्छके शासक शंख नृपतिने आक्रमण किया। वस्तुपालने वीरतापूर्वक रक्षा कर राज्यको सुरक्षित रखा। इस प्रकार इस काव्यकी तुलना ऐतिहासिक सामग्रीकी दृष्टिसे पद्मगुप्त परिमलके नवसाहसाङ्क-चरितके साथ की जा सकती है। दोनों काव्योंमें ऐतिह्य तथ्य समान है। अन्तर इतना ही है कि एकमें गुजरातका इतिहास अंकित है और दूसरेमें मालवाका। प्रसादगुण और चारुता दोनों काव्योंमें समान हैं। प्राकृतिक वर्णन भी उपलब्ध हैं।

सर्वानन्द कविके 'जगडूचरित'की तुलना कवि चन्द्रशेखरके 'सुरजनचरित' काव्यसे की जा सकती है। सुरजनचरितका नायक राजा सुरजन अकबरका विश्वास-पात्र सामन्त था। उसने अनेक महत्वपूर्ण स्थानोंपर युद्ध किये थे। इस काव्यमें बीस सर्ग हैं और बून्दीके हाडावंशीय राजाओंका चरित बड़ी सुन्दरतासे अंकित किया गया है। जगडूचरितमें जगडूशाहकी उदारता और दुष्कालके समय दी गयी सहायताका सुन्दर चित्रण किया गया है। दोनोंके काव्योंमें ऐतिह्यके साथ अतिशयोक्तियोंकी भरमार है। काव्यगुण दोनोंमें प्रचुररूपमें वर्तमान हैं। अतएव संक्षेपमें संस्कृतमें

ऐतिहासिक काव्य लिखनेका श्रेय काश्मीरी कवियोंके समान जैन कवियोंको भी प्राप्त है। गुजरातका प्रामाणिक इतिहास जैन काव्योंमें अंकित है।

संस्कृतके संदेश काव्योंमें मेघदूत जैसा जाज्वल्यमान हीरकमणि अन्य उपलब्ध नहीं है। बाह्य प्रकृतिको मनोरम झाँकी प्रस्तुत करने एवं अन्तस्तलमें सतत् उदय होनेवाले भावोंके चित्रणमें यह काव्य अपनी तुलना नही रखता। पर इसकी समस्या पूर्तिके रूपमें रचा गया पार्श्वाभ्युदय अपने ढंगका अनोखा काव्य है। जैन कवियोंने दूत-काव्यके क्षेत्रमें एक नयी दिशाका उद्घाटन किया है। सिद्धान्त, तत्व एवं नियम आदिका परिज्ञान करनेके लिए शान्तरस प्रधान जैनकवियोंने दूत काव्य लिखे हैं। भाव, भाषा, शैली एवं दृश्यचित्रणमें ये काव्य मेघदूतकी निकटता प्राप्त कर लेते है, पर कमी इतनी ही है कि विरहावस्थाका मार्मिक चित्रण नही हो पाया है। अतः दूत-काव्यकी समृद्धि एवं शान्तरस प्रधान एक नयी काव्य प्रक्रियाका उद्भावन जैन कवियोका स्मरणीय है। सन्देश प्रधान काव्योंका अध्ययन जैन कवियोके अध्ययनके अभावमे निश्चयतः अपूर्ण रहेगा।

स्तोत्र काव्यके क्षेत्रमें भी जैन कवियोंने अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ भेटकर अपने हृदयकी कोमल वृत्तियोंका उद्घाटन किया है। स्तोत्र काव्योंके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि कवियोने किसी संकटके समय ही इनकी रचना की है। वे इष्टदेवको अपने भक्तिपूर्ण हृदय द्वारा द्रवित कर अभीष्टकी सिद्धि कर लेना चाहते हैं। अतः मानतुंगके भक्तामरकी तुलना मयूरभट्टके सूर्यशतकसे की जा सकती है। सर्पविषको दूर करनेके हेतु रचा गया धनंजयका विषापहार भी 'चण्डशतक' के समान है। कुलशेखर का कुन्दमाला वादिराजके एकीभावके समकक्ष है। दोनों ही कवि अपनी दीन-हीन दशाका वर्णन करते हुए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। भगवान्के चमत्कारी रूपके समक्ष मनकी भावनाको व्यक्त करनेमें दोनो कवि समान रूपसे मौन हैं। भाव, भाषा और शैलीगत चमत्कारकी दृष्टिसे जैन स्तोत्र शैव, एवं वैष्णव स्तोत्रोंसे रंचमात्र भी न्यून नही है। जैनोके सहस्राधिक स्तोत्र कोमल कमनीय भावनाओंकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे स्तोत्र काव्यके लिए अमूल्य रत्न हैं। इन रत्नोंको संस्कृत काव्यके खजानेसे निकाल देनेपर उसकी आभामें फीकापन आये बिना न रहेगा।

काव्य-मणियोंके अतिरिक्त कतिपय काव्यतथ्य भी जैन काव्योंसे संस्कृत काव्यको उपलब्ध हुए हैं। शिशुपालवधमें शिशुपालके कई जन्मोंका निर्देश किया गया है। हमारा अनुमान है कि जैन कवियोंके जन्मान्तरवादका ही यह परिणाम है। जैन काव्यकी यह शैली कि नायकके अनेक जन्मोंका वृत्तान्त किया जाता है। इसका प्रतिफलन संभवतः शिशुपाल वधपर है, जिससे उसके कई जन्मोंकी चर्चा की गयी है।

नैषध काव्यमें अनेक दर्शनोंका चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। न्याय-वैशेषिक (नैषध २।३२, ३।१७, १।५९, ३।३७, ५।२९, ३।१२५, ४।३, ७।७५, ८।३, १०।८२, १७।७९, १७।१४५); पूर्वमीमांसा (नैषध २२।३५, १०।८१, २।६१,

५।३९, १४।७३, ६।५१, ६।१०२, १७।१६); साङ्ख्य-योग (५।९४, ६।४६); उत्तर-मीमांसा (नैषध १।४०, ३।३, ३।४, ५।८, ९।१२१, ८।२५, ९।९४, ११।१२९, २१।१०७; १७।७४); बौद्धदर्शन (नैषध २१।८७, २१।२४, १०।८८) एवं चार्वाक दर्शन (नैषध १७।७७, १७।७८, १७।३७, १७।३९, १७।४८, १७।५९, १७।६८, १७।४०, १७।५२, १७।५३, १७।५४, १७।५५, १७।६२) का ऊहापोह प्रस्तुत किया गया है। जैन काव्योंमें वीरनन्दीके चन्द्रप्रभचरितसे उक्त दर्शनोंका ऊहा-पोह आरम्भ हो गया है। धर्मशर्माभ्युदय और पार्श्वनाथचरित (वादिराज) में भी उक्त विचार-धाराएँ आयी हैं। अतः नैषधका यह दार्शनिक सन्दर्भ चन्द्रप्रभकाव्य, धर्मशर्माभ्युदय और पार्श्वनाथचरितसे अनुप्राणित माना जाये तो पक्षपातकी बात नहीं कही जा सकती है। राम-रावण, कृष्ण-शिशुपाल, कौरव-पाण्डव आदिका विरोध पूर्वजन्मोंसे चला आ रहा है। अतः इसे जैन कवियों द्वारा निरूपित कर्मसंस्कारका प्रभाव माना जाये, तो अनुचित नहीं है। इस प्रकार जैन कवियोंने काव्यविधा, पात्रचयन एवं कथानकरूढ़ियाँ जैसे काव्य सिद्धान्त संस्कृत काव्योंको प्रदान किये हैं।

●

परिशिष्ट १

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

[अ]

अकलंक ३५, २३६
अगरचन्द नाहटा २७, २२६
अग्निपुराण १
अजयपाल ३४, ४६
अजितसेन ८६, ४३३
अजितस्तवन ७०, ७१
अजितशान्तिस्तव ७०
अनंगवलय ३९१
अनन्तवीर्य १९६, २२०,२२४
अनन्तकीर्ति १९६
अनुयोगद्वारसूत्र ९
अनेकान्तपत्र ६४
अप्पयदीक्षित २३७, ३२९
अभयदेव ३२, ६०, १७९, ३०३, ३०८, ३२८
अभयकुमारचरित २९
अभयनन्दि ७५
अभिनन्दनस्तव ७१
अभिनवगुप्त १९८
अमरचन्द्रसूरि ३२९, ३३०, ३५०, ३५२, ३५६, ६०७
अमरचन्द्र ३५२
अमरकीर्ति १९८
अमरुक ६
अमितगति ५५, २१०, ४९४
अम्बिकास्तोत्र ७१, ३३१
अमृतलाल शास्त्री २३६
अमृतचन्द्रसूरि ४९
अरस्तु २८७
अरिसिंह ४८, ३३०, ५१९
अश्वघोष ५, ६, २३, १३२
अष्टापदस्तवन ७१
अष्टांगहृदय २८२
असग कवि २३८, ५३४
अर्हद्दास १२, ३५

[आ]

आचार्यभक्ति ५९, ६६
आत्मानुशासन ५५
आदिपुराण ३५६, ४७३
आदिदेवस्तोत्र ७०
आदिनाथस्तोत्र ३३१
आत्ममीमांसा ६४
आशाधर ३५, ७०, ३२९
ओझाजी २८२

[उ]

उत्तराध्ययन ५६, ५१८
उपदेशचिन्तामणि ४६४
उपासकाध्ययन २१०
उपनिषद् २
उपमितिभवप्रपंचकथा ५१८

उदयप्रभसूरि ४६, ३३०, ५१९
उद्योतनसूरि २३, ५१८
उपसग्गहर स्तोत्र ५९
उवासगदसा २३५, २३६

[ऋ]

ऋग्वेद २, ८५, ४७१
ऋतुसंहार ६
ऋषभचरित ४६४
ऋषभपंचाशिका ६०
ऋषभस्तवन ७१
ऋषभजिनस्तुति ७०

[ए]

एकीभावस्तोत्र ७०, १७५
ए० बी० कीथ ३, ५००
ए० एन० उपाध्ये १९८

[क]

कथासरित्सागर ४३९
कनकनन्दि ७६
कप्फिणाभ्युदय २३७
कल्याणमन्दिर ५९, ५०९
कवि वल्लभ ४२८
कवि देवरभट्ट ५२५
करकण्डुचरिउ ४९
कर्नल टॉड ४१५
कर्पूरमंजरी २३५, ४००
कर्मकाण्ड ७६
कल्हण ८, ४२
कातन्त्रव्याकरण ३१
कादम्बरी ५२३
कामशास्त्र ३६
काव्यकल्पलतावृत्ति ३५३
काव्यमीमांसा २३५
कालिदास ५, १३३, ४२१, ४७१, ४७८
काशीप्रसाद जायसवाल ५२०
किरातार्जुनीयम् १०४, १०६, १३२,१३५
    १६१, १६३
कीर्तिकौमुदी ३२९, ३३०, ५१९
कुन्दकुन्द ५९, ४३३
कुमुदचन्द्र ५९, १९७, ५०८
कुमारदास ७
कुमारिल ४४१
कुमारोदय २८८
कुमारसम्भव ६, ३२, १०२, १३२, १६३,
    ४४८
कुवलयमाला २३,५१८
कुवलयानन्द ३२९
कृष्णकथा ३६६
कृष्णचरित ३६८
के० के० हिण्डी २६८
के० पी० पाठक ३६४
कैलाशचन्द्र शास्त्री ४२,२३५, २३६, ४४१
कोविदानन्द ३२९
कौटिल्य ३८६
कौमुदीमित्रानन्द ३२९
क्षत्रचूडामणि ४८,२३९

[ख]

खेतक ४८०

[ग]

गउडवहो ४३,२३५
गणितशास्त्र ३८२
गणितसारसंग्रह ५१६
गद्यचिन्तामणि ४७, २३७, २३९, ४४०,
    ४४२
गाथासप्तशती ३
गिरिनारस्तवन ७१

गुणकरसेन १०९
गुणचन्द्र ३०७
गुणनन्दि ७५
गुणभद्र २, २७, ३५, ३७, ५५, ११३, २१३, ५१६
गुरुप्रक्रम ४९७
गुरुभाई पुष्पसेन ४३३
गुहसेन ५१५
गृह्यसूत्र २
गोम्मटसार ७५, ७६
गौतम स्तोत्र ७०
गौतमस्वामी ४६६

[घ]

घोरशिव ३०७

[च]

चउपन्नमहापुरिसचरिउ १०८
चण्डप ३४
चण्डरुचि ८८
चण्डिकाप्रसाद २७९
चतुर्विंशतिजिनस्तुति ६८
चतुर्विंशतिसन्धान ४२
चतुर्विंशतिस्तव ४१, ६०, ७०, ७१
चतुस्सन्धान ४१
चन्द्रकीर्ति १९७, ४३३
चन्द्रतिलक २९
चन्द्रदूत ५३, ४९२
चन्द्रप्रभचरित २३, २७, ४९, ७५, ७९, ८७, १०७, १३३, १६५, २३५
चन्द्रभानु ३७०
चन्द्रसूरि २१३, ४५१
चरकसंहिता २३५
चारित्रभूषण ४६७
चारित्रसुन्दरगणि ४६७, ४८५
चारित्रभक्ति ५९, ६६
चिन्तामणि ४७८
चेतोदूत ५३, ४९०
चैत्यभक्ति ६६

[छ]

छन्दरत्नावली ३५३

[ज]

जगडूचरित ४४
जगदीशचन्द्र जैन २८२
जगदेकमल्लवादी १७२
जगदेव ४०१
जगन्नाथ पण्डितराज ४१, ४२
जटिलमुनि २०७
जम्बुकवि ४९२
जम्बूस्वामिचरित ४९, ४५४
जयचन्द्र ४६
जयतिलक ४८, ७०
जयधवला ४७३
जयन्तभट्ट ४४१
जयन्तविजय ३३, ३०३, ३२५, ३२७
जयन्तसिंह ४४
जयसिंहनन्दी २१, २३, २०७
जयसिंहसूरि ३४, ४४, ४६ २८३, ३३०
जयसेन १०९
जानकीहरण ७
जार्ज चार्पेंटियर ५६
जिनचतुर्विंशतिका ७०
जिनदत्तसूरि ३५२
जिनपाल २७
जिनप्रभसूरि ६०, ७०, ·१८
जिनवल्लभसूरि ६०, ७०
जिनशेखर ३०३
जिनशतकालंकार ६३, ६७

जिनसेन ११६, २३७, ५१६
जिनसेन द्वितीय ७०
जिनसहस्रनामस्तोत्र ७०
जिनस्तवन ७१
जिनस्तुतिशतम् ६३
जिनस्तोत्रम् ७०
जिनेन्द्रगुणसंस्तुति ६७
जिनेश्वरसूरि ३०३
जीवन्धरचम्पू १६६, २३७, ४३९
जीवन्धरचरित ४९
जैनकाव्य ११
जैनकुमारसम्भव ४६३
जैनमेघदूतम् ४२२
ज्योतिप्रसाद जैन २७
ज्ञानसूर्योदय नाटक ४८९

[ट]

टी० ए० कुप्पुस्वामी ४४१
टोडरानन्द ३२९

[त]

तपोभूषण १०८
तर्कशास्त्र ३८७
तिलोयपण्णत्ति ४४, ७९, १८०, २४२
तीर्थकल्प ५१८
तीर्थंकरभक्ति ६६
तोरणाचार्य ४२७
त्रिपिटक ९
त्रिपुरुषप्रसाद ५१९
त्रिभुवनकीर्ति ४९

[द]

दण्डी २७८
दयापाल पण्डित ४३३
दरबारीलाल कोठिया १९८, २३६, ४४१
दशकुमारचरितम् २७८
दशभक्त्यादिमहाशास्त्र १९७
दशमस्कन्ध (श्रीमद्भागवत) ११५
दर्शनसार १७३
दानलोचनस्तोत्र ७०
दानस्तुति ३
दामकीर्ति ४६७
दामभूषण ४८९
दिवाकर मुनि ५५
दिग्विजयमहाकाव्य ५१, ३८९
दुर्गवृत्तिद्व्याश्रय ३१
दुलीचन्द्र देसाई ३९९
देव ११, ३५६
देवगुप्त ५१८
देवनन्दि ६६, ५१६
देवप्रभ ३७
देवराय प्रथम १९८
देववर ३६६
देवसूरि ५१, २१३
देवसेनसूरि १७३
देवागमस्तोत्र ६१, ६४
देवानन्दमहाकाव्य ४९, ३८८
देवानन्दाभ्युदय ३८७
देवेन्द्रकीर्ति १९७
देवेन्द्रमुनि ४३०, ४८९
देशनन्दि १९७
दौर्बलि जिनदास २८२
द्व्याश्रय २५, ३१
द्वात्रिंशिका ६४
द्वादशारनयचक्र ५१८
द्विसन्धानमहाकाव्य ३६३, ३६६

[ध]

धनंजय ४१, ६९, १४३, १९६, ३६३,
३६४, ५२०

धनपाल ६०
धनेश्वर ५८, ४४९
धन्यकुमारचरित २७, ४९, ४३४
धम्मिलचरित ४६४
धरणि पण्डित १९६
धरसेन द्वितीय ५१५
धर्मपरीक्षा ४९४
धर्मभूषण तृतीय १९८
धर्मशेखर ७१
धर्मशर्माभ्युदय ३२, १६६, २३३
धर्मसिंह ४०३
धर्मसूत्र २
धर्मसेन २०१
धर्माभ्युदय काव्य ४६, ५१९
धातुपरायण ४८३
धृतषेण २२

[न]

नन्दीश्वरभक्ति ६६
नयचन्द्र ४४, ४००, ४०९, ४१४
नयनन्दि १९७
नरचन्द्रसूरि ३३०
नरनारायणानन्द ३३, ३२९, ३३१, ३५३
५१९
नरेन्द्रप्रभसूरि ३३०
नलायनकाव्य ५४५
नलोदयकाव्य ८
नवखण्डपार्श्वस्तव ४१
नवसाहसांकचरित ८, ४३, ११०
नागकुमारकाव्य ५२
नाथचरित ७६
नाथूरामप्रेमी २३५, २३६, ४४१, ४७३
४८०
नानाक पण्डित ३३०
नाममाला ३६२
नायाधम्मकहा २८२
नाराशंसि ४
निर्वाणभक्ति ५९, ६६
नीतिशास्त्र ४२६
नीतिवाक्यामृत ५२१
नेमिचन्द्राचार्य ७६, ५१८
नेमिनाथ २१, ११३
नेमिचरित ४८०
नेमिदूत ५३
नेमिनाथचरित २९
नेमिनाथस्तोत्र ३३१
नेमिनिर्वाणकाव्य ३२
नैषधकार १७२
नैषधचरित ८, ४९, १३२, १३९, २४०
नैषधपरिशीलन २७९
नहुषकाव्य ४२०
न्यायकुमुदचन्द्र १७४
न्यायदीपिका १९७, १९८
न्यायमंजरी ४४१
न्यायविनिश्चयविवरण १७५
न्यायसारदीपिका ३९९

[प]

पञ्चकल्याणस्तव ७०
पञ्चगुरुभक्ति ६६
पञ्चतीर्थस्तुति ४१
पञ्चसन्धान ४१
पञ्चसिद्धान्तिका ६०
पण्डिताचार्यप्रशस्ति ४३६
पतंजलि ५
पद्मगुप्त ८, ४३
पद्मचरित २१
पद्मानन्दकाव्य ५५,३२९,३५०,३५३,५१९

पद्मनन्दि १९७, ४८९
पद्मनाभचरित ४९, ७७
पद्मप्रभ १९७
पद्मसुन्दर ४८
पवनदूतम् ५३, ४८९
परमाध्यात्मतरंगिणी ४९
परमेष्ठीकवि २३९
परिमल ४४१
पल्यकीर्ति १९६
पाण्डवचरित २७, २८
पाण्डवपुराण ४९
पाण्डवीय ३६३
पात्रकेसरी ६७, ४३३
पार्श्वनाथचरित २७, २८, २९, ७६, ३६४, ५२५
पार्श्वनाथस्तवन ४१, ७०
पार्श्वनाथस्तोत्र ७०
पार्श्वाभ्युदयकाव्य ५३, २३७, ४७२
पासणाहचरिउ १७९, १८०
पीठदेव ४५
पुण्डरीकचरित २९
पुराणतिलक ७७
पुरुदेवचम्पू २८१
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २१०
पुष्पदन्त ५१६, ५१७
पुष्पनन्दि ४२७
पुष्यमित्र ५
पूज्यपाद ३५, ६६
पूर्णभद्र १११
पूर्णसिंह ४५४
प्रतापसिंह ४५
प्रद्युम्नचरित २५, १०९, १३२, ५२४
प्रद्युम्नानन्द ३२९
प्रबन्धचिन्तामणि ११०, ४५०, ४६४
प्रबन्धकोष २१४
प्रबोधचन्द्र १२९
प्रभावकचरित ४५०
प्रभाचन्द्र ६१, ३५०, ३६४, ४२७
प्रमेयकमलमार्तण्ड १७४, ३६४

[फ]

फतेहसिंह ४८०

[ब]

बंकेय ४३०
बनारसीदास ३८८, ४९७
बट्टकेर ५६
बप्पभट्टि ६९
बाणभट्ट ६, ८, ४३, ४७
बालचन्द्र ३३, ४४, ३३०, ५१९
बालबोध व्याकरण ४८३
बुद्धचरित ६, २३, ३२, १३२
बुद्धिसागरसूरि ३०३
ब्रह्मजिनदास ४९
ब्रह्मनेमिदत्त ४९

[भ]

भक्तामरस्तोत्र ५८, ६८, ५०१
भट्टारक हरिश्चन्द्र २३५
भट्टि कवि ६, २६
भद्रबाहु ५९
भद्रसूरि २१३
भद्रेश्वरसूरि ४४, ४५, २१३
भरतेश्वराभ्युदय २३७
भवभूति ४३
भव्यजनकण्ठाभरण ५५
भानुकुमार ११७
भारतानन्द ३२९
भारवि ५, ६, १६१, ३५८
भावदेवसूरि २९

भावनाद्वात्रिंशति ४९२
भूतबलि ५१७
भूपालकवि ४६
भूपालचरित ४६
भोज ३४, ११०, ४०३, ४०७
भोजदेव ४०४, ४४१
भोलाशंकरव्यास ९

[म]

मलधारिदेवप्रभसूरि २७, २८
मल्लवादिसूरि ४५०, ५१८
मलयसुन्दरी चरित ४८, ५२
मल्लिषेण ५२
महत्तर गणपति ४३०
महच्चरिउ ३०८, ३५८
महादेवस्तोत्र ७०
महानन्दकवि ३२९
महापुराण ५१६
महाप्रबन्ध ५
महाभारत ३, ४, ८, ३६३
महावीरकवि ५१६
महासेन २५, ८०, ११८
महासेनसूरि १०९
महासेनाचार्य १०९
महावीरस्तोत्र ७०
महीपालचरित ५२, ४६७
महेन्द्रपण्डित ३५२
महेन्द्रप्रभसूरि ४६३
महेन्द्राचार्य ३९९
माघ ५, ६, १२, ५०, १३२
माणिक ३२९
माणिक्यचन्द्र २७, २८, ४४, १७९, ३३०
माणिक्यसेन २७
मातंग १११
मानतुंग २९, ५८, ६०, ६८
मानभद्रसूरि २१३
मीमांसाश्लोकवार्तिक ४४१
मुक्तिप्रबोध ३८८
मुनिभद्र २९, ५८८
मुनिसुन्दर ७१
मुनिशेखरसूरि ४६३
मुनिसुव्रतचरित २७
मुनिसुव्रतदेवस्तव ७०
मृगावतीचरित २७
मेघचन्द्रप्रशस्ति ४३०, ४३६
मेघदूत ६, ५३, १०१, १३२, ३८५, ४७२
मेघदूत (जैन) ४७८
मेघदूत समस्या ५३
मेघविजय ४१, ४९, ३८७
मेरुतुंग ११०, ४६३
मेरुविजय ४९, ५११
मोहराजपराजय ५१९
मोहनलाल देसाई ४७८

[य]

यश:पाल ५१९
यशोधरचरित १७४, १७५, ४५४, ४५९, ४८९
यशस्तिलकचम्पू ५१६
याकोबी ३
यादवाभ्युदय २३७
युक्त्यनुशासन ६१, ६४
युक्तिप्रबोधनाटक ३८९
युधिष्ठिरविजय ८
योगभक्ति ५९, ६६

[र]

रघुवंश ६, ३२, १०२, १३२, ३८३, ४३२
रतिपाल ४०४
रत्नकरण्डश्रावकाचार २३१
रत्ननन्दि ४६७
रत्नशेखरसूरि ४१
रत्नसार २८
रत्नाकर कवि ४४
रम्भामंजरी ४००
रविकीर्ति ४२३, ५१६
रविषेण २१
रसगंगाधर ४२
राघवनैषधीय ४, ८१
राघवपाण्डवीय ८
राजतरंगिणी ८, ४३
राजशेखर २१४, ३०३, ३६५
रामकथा ३६६
रामकृष्णगोपाल भण्डारकर ३५२
रामचन्द्रशुक्ल १२९
रामचरित ४, ४९, ३६३
रामायण ३, ४, ८, ३६३
रायमल ७६
रायमल्लाभ्युदय ४८, ५२
रायभट ३६६
राहुलसांकृत्यायन ३५२
रुद्रट ३१४
रूपचन्द ४६६

[ल]

लघुशतपदी ४८३
लाटीसंहिता २१०
लाडवागड १०९
लावण्यविजय ५११
ल्यूडर्स ३

[व]

वज्रनन्दि ४३३
वरांगचरित २१, २२, २३, २९, १३३, १७२, १९६
वर्धमानचरित २४, २९, १३९, १९८, २३७
वर्षप्रबोध २८८, २८९
वासुदेवहिण्डी ४३९
वसन्तविलास ३३, ५१९
वस्तुपाल ३४, ३६, ४६, ७१, ३२९, ४५२, ५१९
वाक्पतिराज ४३
वाग्भट्ट ४६, २८२, २८३, ४०२, ४११, ४५२
वाग्भट्ट द्वितीय ३२
वाग्भट्टालंकार २८३
वागर्थसंग्रह २३७
वात्स्यायन ६
वादिचन्द्र ४८९
वादिराज ७०, ७६, १७२, ३६४, ४३३, ४५९, ५३५
वादिसिंह १९६
वादीभसिंह ४७, ४८, १७५, २३६, ४३३, ४३९, ४४१
वाररुच ५
वारुणी १४७
वाल्मीकि ४, ११४
वासुदेवशरण अग्रवाल ४३९
विक्रमकवि ४७८
विक्रमांकदेवचरित ८, ४३
विक्रमादित्य ४३
विजयदेव ५०

विजयपाल ५१९
विजयप्रभसूरि ५१, ४९१
विजयसेनसूरि ३३०
विजयेन्दु २१३, ४६७
विण्टरनित्स ९, १६
विद्यानन्द १९६
विद्यापति ४१९
विद्वद्रत्नमाला ४७८
विधिसूत्र ३८२
विनयचन्द्र पण्डित ३६६
विनयचन्द्रसूरि २७, २८
विनय विजयगणि ४८७, ४९२
विनयसागर ४१९
विमलकवि ५५
विमलकीर्ति ५३
विमलचन्द्र ४३३
विविधतीर्थकल्प २८२
विल्हण कवि ८, २७
विषापहारस्तोत्र ३६५
विष्णुपुराण ११६
वीतरागस्तोत्र ७०
वीरदेवगणि ४६९
वीरधवल ३३
वीरनन्दी २३, २४, ७५, ८०, ८७, १०२,
    १९६, ४३२, ५२२
वीरनारायण ४३१
वीरसेनाचार्य ४७२
वीरस्तोत्र ७१
वीरसलदेव ४४, ४५, ३२९, ३५१
वृषभदास ४५४, ४५५
वेणीसंहार १०७
वेंकटनाथ २३७
वेंकटाध्वरि ३२९
वैराग्यशतक ५५

[श]

शत्रुञ्जयमाहात्म्य ४८
शत्रुञ्जयस्तव ७१
शाकटायनव्याकरण ५१६
शान्तिजिनस्तोत्र ७०
शान्तिराज ४१
शान्तिनाथचरित २४, २७, २९, ४९,
    १७८, २१६, ३८८, ४५४
शान्तिभक्ति ६६
शान्तिसूरि ५१८
शान्तिस्तोत्र ६३
शालिभद्रचरित २७
शाश्वतजिनस्तवन ७१
शिशुपालवध ३२, ७०, १०७, १६४,
    ३९०
शीलदूत ५३, ४८७
शुभकीर्ति १९८
शुभचन्द्र २७, ४९, ५५
शुभचन्द्रप्रशस्ति ४३६
शोभन मुनि ७०
श्रीकण्ठ ८
श्रीचन्द्र १९७
श्रीधर १९७, ३५६
श्रीपालचरित ४९, ४८९, ५१९
श्रीपाल आख्यान ४८९
श्रीमद्भागवत ५, ११५
श्रीहर्ष १३७, १३८
श्रीविंशतिजिनस्तव ७१
श्रुतभक्ति ६६
श्रुतमुनिप्रशस्ति ४३६
श्रेणिकचरित २९, ३१, ४९
श्रेयांसचरित २९
श्रौतसूत्र २
शृंगारवैराग्यतरंगिणी ५५

[ष]

षट्खण्डागम ७८, ३६५, ५१७

[स]

सकलकीर्ति ४९, १७१, ४५४
सट्टक ३०८
सनतकुमारचरित २७
सप्ततिजिनस्तवन ७१
सप्तति भाष्य ४८३
सप्तसन्धान ४१, ३८७
समराइच्चकहा २३६, ४६१
समयसार ४९
समाधिभक्ति ६६
सरस्वतीकण्ठाभरण ३३०
सरस्वतीस्तोत्र ६८, ७०
सर्वार्थसिद्धि २३५, २३९, ३५४, ५१६
सर्वजिनपञ्चकल्याणकस्तव ७०
सागारधर्मामृत २१०
सामुद्रिकशास्त्र ३८१
सिद्धगुणस्तोत्र ७०
सिद्धभक्ति ५९, ६६
सिद्धान्तागमस्तोत्र ७०
सिद्धसेन ६५, ४५०
सिंहनन्दी ४३३
सिद्धहेमशब्दानुशासन २६
सुकुमालचरित ४९, ४५४
सुकृतसंकीर्तन ५१९
सुदर्शनचरित ४९
सुदसणचरिउ ४५७
सुबन्धु २३५
सुराचार्य ४१
सुलोचनाचरित ४८९
सुषेणचरित ५२
सूक्ति.मुक्तावली ५५, ३३१, ४९७
सोमकीर्ति ४८
सोमतिलक ४१, ७१
सोमदेव १७५, ५१६
सोमप्रभ ५५
सौन्दरनन्द ६, ३२, १६२
स्तुतिविद्या ६३
स्तोत्ररत्नकोष ७१
स्थूलभद्राचार्य ४८६
स्मृतिग्रन्थ ५०६

[ह]

हनुमच्चरित ४९
हम्मीरकाव्य ४६, ३९९, ४१६, ५३५
हरिदत्तसूरि ८, ४१
हरिभद्र ४६१, ५१८
हरिवंशपुराण ५३, ११३, ४७२
हर्षचरित ४३
हर्षवर्धन ७, ४३
हारावलीस्तोत्र ७०
हीरविजय ५०
हीरालाल जैन ३६४
हेमचन्द्राचार्य २५, २६, ३१, ४६, ७०,
४९१, ५१८
होलिकाचरित ४९०

●

परिशिष्ट २

काव्यात्मक-पारिभाषिक शब्द

[अ]

अतिशयोक्ति ९४, १२७, १५७, १९२, ३७७, ३७९, ४१२, ५०२,
अथर्वण ४९६
अनन्वय ३४८
अनुच्छेद १००
अनुप्रास १२४, १५४, १९५, ३९८
अनुभाव १२३, ४१०
अनुमान ९७
अनुलोम ६३
अनुशीलनात्मक ४९९
अनुष्टुप् २३, २९, ९९, १३०, १६१, ३५३, ४५२, ४५८
अनुज्ञा ३२२
अन्तरितावेष्टित ४७५
अन्तर्द्वन्द्व ४५१
अन्योन्य ३२३
अपभ्रंश ४५४
अपरवक्त्र ३८१
अपरान्तिका ९९
अपशब्द १६१
अपह्नुति ९६, १२७, १५७
अभिव्यंजना ६१, ४६०, ४८५
अभिलेख १७, ४१, ४१९
अभिसारिका ४६६
अमर्ष १५२
अमात्य ३८६
अर्थसौष्ठव ३०८
अर्थान्तरन्यास २३, ९५, १२८, १५८ १९२. ४१२, ४४६
अर्थालंकार ३६४, ४१०
अर्थावृत्ति ३२३
अर्द्धपादवेष्टित ४७५
अर्थभ्रम ६३, २७०
अर्थविधान ३६३
अलंकार १८, ३२, ३७८, ४७६
अलंकार-योजना १२४
अलंकृत शैली २
असंगति १२८, १९३, २६८

[आ]

आकृति-सौन्दर्य ३४३
आख्यान ४, १७, ५०८
आख्यानकी १६१
आद्यन्तश्लेष ३११
आमर्ष १२३
आर्या २०८
आर्ष-प्राकृत ३
आलंबन ३७२
आलिंगन ३७३
आवेग ९२, १२२, १५१, २०४
आक्षेप ९६, ३७९

[इ]

इतिवृत्त ८१, ३६४, ३७१, ३९८
इतिवृत्तात्मक ३७१
इन्द्रवज्रा ६१, ६६, ६९
इन्द्रवंशा २२६, २२७

[उ]

उग्रता १८३
उत्प्रेक्षा २, २३, ३७, ९३, १२६, १३७, १५५, १७१, १९१, २०७, ३७७, ३७८, ४११, ४५३, ४९५
उपवन-विहार ८२
उदात्त ४
उदात्त चरित ४००
उदात्तीकरण ६१
उदाहरण १९२
उद्यानक्रीड़ा २८
उद्दीपन ३७३
उद्वेग १५३, २०६
उपजाति २३, ६१, ९९, १३०, २०८, २२६, ३२४, ४५२, ५०३
उपमा २, ६, २३, ३७, १२५, १५५, १९०, ३७७, ४११, ४५३, ५१०
उपमान ४११
उपमेय ४११
उपमेयोपमा ४२५
उपदेशवादी ६
उपेन्द्रवज्रा ६१, ६६, १३०
उल्लेख २६८, ३२२

[ए]

एकान्तरित ४७५
एकावली ३७, ९८, १५९
एकार्थकाव्य १७, ४५९

[ऐ]

ऐतिहासिक महाकाव्य ३९८

[ओ]

ओज ४१३
ओजगुण ४३५

[औ]

औत्सुक्य २०

[अं]

अंगीरस ३६०

[क]

कथा ३८८
कथानियोजन १४५
कथावस्तु ३९१
कटाक्षलीला ३७७
कर्मसंस्कारप्रधान प्रबन्ध १९
कम्प १२२, १५१
करुणरस ६, १८४, २०५, ३९४
कला ५२०
कलापक्ष ६
कल्पना २१९
कल्पनातत्त्व २२०
काव्य ३५८, ३८८, ५१८
काव्य-कला ३५८, ३८७, ५११
काव्यचमत्कार १७१, ५०७
काव्य-तत्त्व ३६३
काव्यगुण ४५१
काव्यलिंग २३, १९४, ३९७
काव्य-विद्या ३९८
क्लिष्टता १६१
कुटकम् ९९
कोमलकान्त ३९८
कोमलपद-न्यास २०३
क्षेमंकर १७८

[ख]

खण्डकाव्य १७, ४७, ४५९
खलनायक ११७

[ग]

गणपाठ ३२२
गर्व १५१
गाथा १७
गीति २०८
गीतिकाव्य १७
गुण १००
गोमूत्रिका ३३५
ग्लानि ९२, १२२, १५१, २०६, २२२

[घ]

घटना-विकास ४५३

[च]

चक्रबन्ध ६३, २७०
चतुरंगिणी ३७०
चन्द्रोदय ४०७, ४६६
चरित ३५५
चरितनामान्त-लघुकाव्य २१
चित्रण २९
चित्रमत्ता ३३५
चित्रमय १३०
चंचलता १५२

[छ]

छन्द १८, ६६, २१३
छन्दपरिवर्तन ५२
छन्दयोजना ९९, १६१, ३९८
छन्दोनिर्माण १२९
छेकानुप्रास ३६०

[ज]

जगत्परक प्रबन्ध २०
जलकेलि ८२
जलक्रीड़ा २६, ८०, २४२, ३४१, ४०७,
    ४४८
जलविहार ८६
जलोद्धतगति ३८१
जीवपरक प्रबन्ध १९

[त]

तत्त्वोपप्लववाद ६०९
तद्गुण २६९
तद्धित ३८२
तुल्ययोगिता १९३, ४१२

[द]

दण्डनायक ५२६
दण्डनीति ५२७
दक्षिण-भ्रू ३९६
द्व्यन्तरित ४७५
द्व्याश्रयश्लेष ७
दीपक ९५
दीपशिखा ६, ३५१
दुःखान्त ४०८
दुर्जय ३८६
द्रुतविलंबित २३, ९९, १३०, २२६
दैन्य १५३
दैवीकाव्य २
दोलाक्रीड़ा ३५९
दोला-विलास ३५९
दृढ़मूर्तिबिम्ब १७८
दृश्य-योजना २०३, ४५३
दृष्टान्त ९५, १५७, १९२

[ध]

धातुपाठ ३८२
धृति १५३, ३०६

[न]

नखक्षत ४५६
नर्मवचनपूर्ण ३५७
नवकल्पना ४८९
नवीनश्रृंगार ४८५
नाटक २१३
नाट्यशास्त्र ५१८
नायक ११७
नराशंसी १
नारिकेलफलसम्मितं वचो ७
निजंधरी २०
निपाल ९७
निर्वेद ९२, १२४, १५३
नृत्यगान २१५

[प]

पट्टावलि १४०
पद-लालित्य १३३, ४८६
पद-विन्यास ७, १६१
पद्मराग ३६६
पर्यायोक्ति ९८
परिसंख्या २३, ३७, ९७, १२८, १५९, १६६, ३००, ३२३, ३९७, ४१२, ४५३, ४७८
पादवेष्टित ४७५
पालि ३
पुनरुक्ति १२४
पुष्पबाण ४८४
पुष्पवृष्टि ५०१
पुष्पावचय २४२, ४६२
पुष्पिताग्रा २३, ९९, ३२४, ५०३
पौराणिक २, ३१९
पौराणिकता ३५८, ४६०
पौराणिक महाकाव्य १९
प्रकरण १००
प्रचारवादी ६
प्रबन्धकाव्य ३६३
प्रतिनायक ११७
प्रतिनायक अथर्वण ४६०
प्रतिमा ३७२
प्रभावोत्पादकता १००
प्रमाणिका ३२४
प्रमिता १३०
प्रमिताक्षरा ९९
प्रशस्ति १३९
प्रसाद ४१३
प्रसाद गुण ३६०, ३९८, ४१४, ४८२
प्रसादगुणमधुरा १३०
प्रहर्षिणी २३, ९९, १३०, १६१
प्रहेलिका ३३५
प्राकृत ३, ४५४, ४८३
प्रातिभज्ञान १७
प्रेम-विरह ४८१
प्रौढोक्ति ७, ८
पंचसंधि ३०९
पृथ्वी ९९, १३०, २२६, ३१९

[ब]

बधिरत्व ३९६
बालक्रीड़ा ८२, ४८४

[भ]

भक्ति-भावना ५००
भयानक १५१, ३६०, ३७४, ३९४, ४१३

भयानक रस १२१, १८४, २२१
भाव १८१, ४१०, ४९९
भाव-गाम्भीर्य २०३
भावना २१९
भावपक्ष ६, ७
भाव-साम्य १३९
भावाभिव्यक्ति ४३४
भावाभिव्यंजन ८१
भाव-विश्लेषण ४८६
भाषा १८, १००, ४१३
भाषा और शैली १३०
भुजंग प्रयात २३, २०८
भ्रान्तिमान् ९५, १२६, १५६, १९४, २६९
भ्रू ३९६
भ्रूविलास ४७६

[म]

मति १५३
मधुरता १००
मन-मयूर १३०, ३८०
मनोवेग-मूलक ३४७
मन्थन-दण्ड ३५७
मन्दाक्रान्ता ६९, ९९, १३०, १६१, २०९, ४७२, ४९०
मयूर ३७३
मर्मस्पर्शी ४५७
महाकाव्य ४, १७, ४५९
माघकाव्य ५०
माधुर्य ३६४, ४१३, ५१०
मानव-काव्य २
मालभारिणी २३
मालती १८१
मालिनी २३, ९९, २०८, ४५८
मांगलिक ३५७
मिश्रित उपमान ३४८
मुरजबन्ध ६३
मंजुलता १००

[य]

यथासंख्या ९७, ४१३
युद्ध ५०३
यमक ७, १२४, १५४, १९५, ३६०, ४११

[र]

रचनातन्त्र १२
रचना-विधान ३६३
रतिक्रीड़ा २४२
रथोद्धता १३०, १८१
रस १८१, २२५, ४८६
रस-योजना ४१०
रसोद्बोधक ९३
रसोद्बोधन ३७१
रूपक २, २३, ३७, ९४, १५६, १८६, १९१, ३००, ३२२, ३७७, ४११, ४५३
रूपाकृति १४१
रोमांच १२२
रौद्र ३१४, ४१३
रौद्ररस १२३, २२१

[ल]

लक्षणा १५१
लघुसमासान्त ४७१
ललिता ९९, १३०
लक्षण-ग्रन्थ ३५३
लालित्य ५१०
लिंगानुशासन ३८२

लीला-विनोद ४६२
लोक-गीत २

[व]

वंशस्थ २३, ६१, ६६, ९९, १३०, १६१, २०८, ३२४, ३८०
वंशस्थ छन्द ४५८
वंशोन्नत १३०
वक्रोक्ति ३७९
वन-क्रीडा ४०७
वन-विहार ८७
वनाग्नि ५०३
वसन्त ४४८
वसन्त-क्रीडा ३५६
वसन्ततिलका २३, ६१, ९९, १३०, २०८, २२६, ५०२
वसन्तश्री १७८, ४६२
वस्तु-वर्णन १३७, ३७४, ४५३, ४५९
वस्तु-व्यापार १८, २७, ३२, ८१, ११७, १४९
वस्तु-संविधान ६
वातावरण २१९
वात्सल्य ४४७
वानर-वंश ३६८
विचार-गाम्भीर्य ४०७
विधा ३६६
विनोक्ति १६०
विन्यास ४
विप्रलम्भ ४८, २०३
विभावना १२८, १५८, १९३
विभाव ३७४, ४१०
बिम्ब-योजना २०३
विरह-भाव ५०५
विरह-वेदना ४८१
विरोध ३९५
विरोधाभास २३, ६९, १२८, १५९, ३७८, ४१३
विरोधाभास अलंकार ५०४
विलासिनी ३५९
विलासलीला ३५९, ३७५
विविधविषयक २६७
विशेषोक्ति १६०, १९४
वीभत्स ३७४, ४१३
वीर ३६०, ४१३, ४५८, ४७१
वीररस १२१, १८५, २०४, २२१, ३७५
वृत्तमात्र १५५
वृत्रभंग १६१
वृषभ ३९४
वेणीकृपाण ३५१
वैतालीस ३२०
वैदिक ४
वैदिक-काव्य २
वैदर्भी ४६६, ५१०
वैदर्भी-शैली ६, १००, ४८९
वैयाकरण ३८१
व्यंजक ४९९
व्यंजना ३७५, ४२४, ४६१
व्यतिकर १५८
व्यतिरेक १२७, २६९
व्याकरण ३८७, ३८८, ५१८

[श]

शब्दालंकार ३६४, ४१०, ४३५
शाब्दिक क्रीड़ा ७
शार्दूलविक्रीडित ६६, ६९, ९९
शान्त ४८५
शान्तरस ९२, १२३, १८६, १९५, ४७१, ४८७

शालिनी ९९, १३०, २२६
शास्त्रज्ञान ३९६
शिखरिणी ६९, ९९, २२६, ४६०
शिलालेख ३,.४००
शील ४९१
शीलस्थापत्य २२७
शैली ४, १८, १००, ३९८, ४१३, ४८६
श्रृंगार ६, ३६०, ३७४, ३९४, ४७१
श्रृंगाररस २०३, ४९२
श्लेष ७, १२५, १५४, १९५, ३६३,
    ३७१, ३९८, ४५३
श्लेषकाव्य ८
श्लेषजनित ४२८
श्लेषयोजना ७
श्लोक ३६३

[ष]

षड्भाषा ३९९

[स]

संगीतोपकरण ३४७
संचारी २०४, २२१, ३७४, ४१०
संप्रेषणीयता १४
संदर्भ नियोजन १३७
सदेह १५८, १९३
संधानकाव्य ५०४
संधानशैली ३६६, ४९२
संध्या ४०७
संयोगश्रृंगार ४९२
संशय ९६, ४१३
संस्कृत ४१९, ४५४
सर्ग २१
सर्गबद्धता ५२
सट्टक ४००
समस्यापूर्ति ४९, ४७१
समासोक्ति १९४
समुच्चय ३८०
सरलता १३०
सरसता १००
सहोक्ति ९८, १६०, ३००, ३२३
सात्त्विक ४१०
सामाजिक-चेतना ६
सर्वतोभद्र ६३
साहित्यक्षेत्र २६६
सुरतकेलि ७०४
सुरत-क्रीड़ा ३३२
सुरत-वर्णन ३७१
सुहृद् ३८६
सूर्योदय ४६६
सौन्दर्यानुभूति १७१
स्तनमण्डल ३७५
स्तुति ५०२
स्तोत्र काव्य ५०३
स्मृति १५१
स्रग्धरा ९९, १३०, २०८, २२६
स्वभावोक्ति ९९, १६०
स्वागता ९९, १३०
स्वाभाविकता १३०
स्वेदव्यभिचारी १८२

[ह]

हरिणी ९९, १३०, १९८, २२७, ३२४
हिन्दी-भाषा ४५४
हेतूत्प्रेक्षा ८

●

परिशिष्ट ३

देश, नगर, ग्राम, वन, नदी एवं पर्वतादि

[अ]

अंगदेश २४०, ४५४
अंजनगिरि २८६
अजगरपुर २०२
अजन्ता ६
अजमेर ४६, ४१७
अणहिलपत्तन ३३, ४५४
अणहिलपुर ४५
अणहिलवाड ३३०
अन्धवती नदी ४९१
अयोध्या नगरी ८०, १११, १७८, ३७१, ४६६
अलकापुरी ७८, १४१, ४७३, ४७४
अवन्ती ३३, ४५९
अवन्तिदेश १४६, ४६९
अश्वपुर १७७
अहमदाबाद ५०, ५१८
आदित्यपुर ७८
आन्ध्रप्रदेश २४०
आबू पर्वत ४१७
आम्रकूट पर्वत ४७४
आर्यावर्त २४४

[उ]

उज्जयिनी ६, १४३, ४६७, ५१५
उत्तमपुर १९८, २००

[क]

कच्छ १४२
कटाहद्वीप ४६७
कट्टगेरि १७४
कर्णाटक ११०, ४७२
कनखल ४१४
कन्नोज ४३
कपित्थवन १८९
कलिंग देश ३, २४०, ४४१
कांचीपुर ४२१
काठियाबाड़ ५१७
कालिन्दी ४१९
काशी ४५
काश्मीर ८
कुण्डपुर १४३, ३८०
कुण्डिनपुर ११०, १२५, २७२
कुणालद्वीप ४२१
कुरुक्षेत्र ४७४
केरल २४०
कैलाश ४१२, ४७८
कोंकण ४२२
कोकनूर ४३०
कोल्लूर ४३०, ४८७
कोशलदेश १४, ४२१
क्रौंचरन्ध्र ४७४
कोशलपुरी १११, १९८

क्षिप्रानदी ४०३
क्षेमपुरी ४४४

[ख]

खण्डिलपुर ४१७
खाण्डववन १७

[ग]

गंगा ४३५
गंजामपुर ४४०
गगनविलासपुर ३०६
गया १८५
गिरनार ३३
गिरिवज्रनगर १९८
गुजरात ३३, ४५, ५०, ५१, ३२९
गुर्जर ४२१
गोदावरी ४४६

[च]

चन्द्रनगर १२९
चन्द्रपुरी ७९, ८०
चम्पापुरी ४५४
चित्रकूट ४१७

[ज]

जबालपुर ४६
जम्बूद्वीप १४

[द]

दक्षिणदेश १७४
दक्षिणश्रेणी १४१
दण्डकारण्य ३६७
दन्तिवन १४६
दशपुर ४१४
देवगिरि ४७४
देलवाड़ा ३३१

द्राविड़ १७२, ४५१
द्वारकापुरी १०८, ११६, ३८७
द्वारावती ११०, ११५, १३३, ३७१

[ध]

धारानगरी ३४
धोल १८

[न]

नरसिंहपुर ४७८
नर्मदा नदी ४९२
नागौर २८२
नासिक ५१६
नीलवन ३६

[प]

पंचवटी १७१
पश्चिमविदेह ७७, १७७
पांचाल ६९
पाटण ५१९
पाटलिपुत्र २४२
पिष्टपुर ४३१
पुण्डरीकिणीपुर २१५
पुरुखेटक ५१६
पुष्कर ४०३
पोदनपुर १४१, ४७३
प्रतापगढ़ ४७९
प्रेमिलतीर्थ ३३

[ब]

बंकापुर ५१६
बटभद्रपुर ४९२
बड़नगर ५१९
बड़ौदा ४१
बीकानेर २७

बीजापुर ४१९
ब्रह्मावर्तदेश ४७४

[भ]

भरतक्षेत्र १४, १४३, ३९६
भारतवर्ष २४४
भिन्नमाल या श्रीमाल ५१८
भीमरथपुर ४१६
भीमानदी ४२०
भूताचल २४
भृगुकच्छ ३३०
भृगुपुर ४९२

[म]

मणिकूट ७९
मत्स्यदेश ११६
मथुरा ३८९, ५१५
मरुभूमि ४७३
मलखेड ४७२
महाराष्ट्र ४१७, ४३१, ४७२
मानसरोवर २२३
मान्यखेट ४७२, ५१६
मान्यपुर ४२७
मायावती ११६
मारवाड़ ५०, ५१, ४८३
मालवा ४१, ४६, ४२१, ४४९
मुलतान ४१६
मेरुपर्वत ५०३
मेवाड़ ५१, ४०३, ४१७

[य]

यमुना ३८
योगिनीपुर ४१८

[र]

रणस्तम्भपुर ३९९, ४०२, ४११, ४१७
रत्नगिरि ४३१
रत्नपुर २१४, २२३, २४२, २४४, ४६८
रत्नसंचयपुर ९५, २१५, ४६८
रथनूपुर १४१
रम्यानदी १९८
राजगृह २९, ३६, १४०, ३६९
राजपुर ४५९
राजपुरी ४४३
रामनगर २८२
रीठपुर ४२२
रेवानदी ४३६
रैवतीद्वीप ४२०
रैवतगिरि ४५१

[ल]

ललितपुर १९८, २००
लाटदेश ४२१
लिम्रपुर ३३

[व]

वंग २४०
वत्सदेश २३९
वनवासीपुरी ४२०
वर्फानिपुर ४०३
वलभी ५१५
वशिष्ठाश्रम ४०३
वसन्तपुर ३५४
वाराणसी ३८९, ४७९
वामनपुरी ४८०
विजयनगर १९७, १९८, २३७
विजयार्द्ध ११९, १७७
विदर्भ ११५, १३५, २४०
विन्ध्यपुर १९८
विन्ध्यगिरि १६७, १९८, २३८, २४०, ४९९

विन्ध्याचल २४२, २४५
विपुलपुर ७८
विलासपुर २७
वैशाली ३८९

[श]

शंखवती नगरी २८२
शिप्रा ४१७
शीतोदा नदी १८५
शेषगिरि ४४०
श्रीपर्वत ३०७
श्रीपुरनगर ७७, ८०, ४६८

[स]

सतलुज २
सरसावा ९४
सरयू ३७२
सिद्धपुर ४९२
सिन्धुनद २१३
सिंहलद्वीप ४६८
सीता नदी २३९, ४७४
सुमेरुपर्वत २८५
सुसीमा नगरी २९१
सूरत ३७०, ४९२
सौराष्ट्र ५१, ११३, ११८

[ह]

हस्तिनापुर १२५, ३६९, ३७२
हाथीगुम्फा ३
हिमालय १२७, ४१२, ४०७

●

परिशिष्ट ४

व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द

[राजा, रानी, देव, तीर्थंकर एवं अन्य व्यक्तिवाचक शब्द]

[अ]

अकबर ४१
अर्ककीर्ति २१४
अग्निशर्मा १८१
अघोरघण्ट ३१२
अच्युत ७८
अजयपाल ४१५
अजित ५६
अजितंजय ७८
अजितदेव ४९७, ५११
अजितनाथ ४५१
अजितबल ५११
अजितसेन ७८, १७५, ४३३, ५१६, ५३७
अजितसेना ७८, ८०
अतिबल ३५५
अतिरथ २३९
अतिवीर १४४
अनंगमंजरी २८
अनन्तमती २१४, २१७
अनन्तवीर्य २१५
अनन्तसेना १९८
अभयकुमार २९
अभयरुचि ४५९
अभयारानी ४५७
अम्बिकादेवी ४००
अमिततेज २१४
अमोघवर्ष ४३०, ४७२, ५१६
अरविन्द मुनि ३०, १७५
अरिंजय १११
अरिष्टनेमि २८६
अर्जुनदेव ४०३, ४१६
अर्जुन भूपति ३६६, ४१६
अलाउद्दीन ३९९, ४८४
अशनिवेग ४९०
अशोक ३, ३६, ३९, ९८, १४७, ४०९
अश्वसेन ३१, ३८९
अष्टलक्ष्मी ४२
अहमिन्द्र ७९

[आ]

आदिनाथ ६८, ५०१
आनन्द १७८
आबूपति ४१७
आर्यदेव २३४
आर्यनन्दी ४४३

[इ]

इन्दुमती ६
इन्दुषेण २१४
इन्द्र ७०, ४२९, ४६४

इन्द्रजीत ३६९
इन्द्रभूति ५९, ४३४
इन्द्राणी ४६०
इन्द्रसेन २००

[ई]

ईशानेन्द्र २१५

[उ]

उग्रसेन २८६
उदधिकुमार ११७
उड्डानसिंह ४०६
उदयन ४७
उदयराज ४०२
उपेन्द्रसेन २००
उर्वशी १
उल्लूखाँ ४०३, ४१७

[ऋ]

ऋषभदेव ४१, ५६, ६१, १४८, ३५३, ३५४, ३५५

[क]

कनकवती ३०६, ३१२
कनकचूड २६
कनकनन्दी ५१७
कनकप्रभ ७७, ७८
कनकमाला १४१, १४८, ४४४, ५३८
कनकश्री २१५, २२०
कनकसेन १७४
कपिल १४२, २१४
कमठ ३०, १७५, १८३
कमलादेवी २८
कर्णदेव २८३
कर्णराज २६
कर्णाटकनरेश ३०६
कर्पूरदेवी ४०१
कांचीनरेश ३०६
कामदेव ११९, ३६९, ४२९, ४४१, ४४५, ४४८
कालसंवर १११, १२०, ५२६
किरणवेग ३०
कीचक ३६७
कीर्तिपाल ४६९
कीर्तिवर्मा ४२०
कुणिक २९
कुणाल ४२१
कुन्ती ३६६
कुन्थुनाथ १९७
कुमारपाल २६
कुमारसेन ४३५
कुम्भकरण ३६२
कुश-लव ४
कृष्ण १२
कृष्णवर्मा द्वितीय ४२२
कृष्णराज ४२७
केशव ३५४, ३७०
कैटभ १११
कौशल्या ३६६
क्षेमंकर १४३, २१५
क्षेमराज २६
क्षेमश्री ४४४

[ग]

गगनवल्लभ २१५
गणधर १८
गन्धर्वदत्ता ५४५, ५४६
गुणमाला ४४४, ५४६
गुणवती १९८
गुणसुन्दरी ४५१

गुणसेन १८१, ४३३
गुंददेव ४०१
गुर्जरेश्वर ३५१
गुरुवीरसेन ३६५
गोपालचन्द्र ४०१
गोविन्दराज ४०२, ४१५, ४२७
गोविन्द द्वितीय ४२९
गोविन्द ४२१, ४४३
गौतमगणधर ४३७
गोरो ११४

[च]

चण्डप्रद्योत २९
चण्डमारी ४५९
चण्डरुचि ७८
चक्रेश्वरी देवी ४६८
चन्द्रप्रभ ६३, ८०
चन्द्रमति ४५९
चन्द्रराज ४०१
चन्द्रलेखा ४६८
चामुण्डराय २५, ३४, ४०१, ५१६
चारणमुनि १०८
चालुक्य चक्रवर्ती १७४, ४२०, ४२१
चेटकनरेश २९
चेदिराज १३६
चेलना २९
चालुक्यनरेश १७४
चोहानपति ४०१

[ज]

जगडूसाह ४४, ४५
जनकनन्दिनी ३६९
जम्बूमाली २५
जय ३८
जयतिलक ५२
जयपाल ४०१, ४१५
जयराज ४०१, ४१२
जयवर्मा ७८
जयसिंह २६, ३४, ४६, १७४, ३९९, ५१७
जयावती १४१
जरासन्ध ३६८
जलालुद्दीन ४०२, ४१५
जहाँगीर ५०
जाम्बवती ११२
जिनशत्रु ४६८
जिनदत्त २९
जिनप्रभ २९
जिनमती ४५४
जितशत्रु ४६८
जिनसेन ५३, ११३, ३५५, ४७२
जीवन्धर ५४५
जीवानन्द ३५४
जैत्रसिंह ४१४, ४२०
ज्योतिप्रभा १४२
ज्वलनजटी १४१, ५१७

[ड]

डूंगरसिंह ४००

[त]

तारा ४९१
तुगलग २१३
तेजपाल ३४
तैलप ५१७

[द]

दधीचि ४००
दमयन्ती १३९, २२६
दमनक ३९

दमितारी २१५
दशरथ २२९
दाशरथि ३६६
दिलीप १०३, ३८३
दुर्योधन १३५, १६३, ३६६, ३६७, ६०७
दुर्लभदेवी २५
दुर्लभराज २५, ३३, ३४, ४०१
दुर्विनीत ५१६
देवदत्त ११४
देवनन्द ३६६
देवपाल ५४०
देवराय १९८
देववर्मा ५१५
देवसेन २००
देवसेना १९८
द्रोणाचार्य ४०, ३६६
द्रौपदी १०५, ३६७, ६०७

[ध]

धनपाल ७०
धनरथ २१५
धनसार्थवाह ३५४
धनेश्वर २९१
धन्यसेन २४२
धरणीधर ३२९
धरणीध्वज ७८
धरणेन्द्र १७९, ३५५
धर्मघोष ३५४
धर्मनाथ २३४, २४१, ५२३
धर्मभूषण १५७
धर्मराज ३६७
धर्मसिंह ४०४
धर्मसेन १९८, १९९
धारादेवी ४०३, ४०४
धारणी १२७
धूमकेतु ११६
धूर्जटी ४३३
धृतराष्ट्र ४, ३६६

[न]

नकुल ३६६
नन्दन १४०, ४०१, ४१५
नन्दिनी १०२
नन्दिवर्द्धन १४०
नरदेव ४०१, ४१५
नल-दमयन्ती ८, २८, ३६८, ४२०
नागचन्द्र ३६५
नागनन्दि १३९
नागराज धरणेन्द्र ४७४
नाभिराय २८१, ४६४
नारद ७८, ११०, ११६
नारायण १८, ११५
निसुरत खाँ ४०५, ४१८
नीलकण्ठ १४१, ५३८
नीलदेवी ४८३
नेमिकुमार ४१, ३९०, ४७९
नेमिनाथ ५३, १२३, ३६६, ३८७
नेमिषेण ४९४

[प]

पद्मानन्द ४०
पद्मनाभ ७८, ४११
पद्मप्रभ ६१, १९७
पद्ममन्त्री ३५४
पद्मशंकर २९
परमेष्ठी ४४५
परशुराम २८
पवनकुमार ३६९
पाण्डु ३६६

पार्वती १२७, २३४, ४४८, ४८१
पार्श्वनाथ ३०, ५३, १७१, २४२, ३६५,
    ३८७, ४३३
पुलकेशी ४२२, ५६६
पृथ्वीराज ४०१, ४०७
प्रतापराज २७२
प्रतापसिंह ४५
प्रभावती ७८, १४३
प्रद्युम्न ११२, ११६
प्रियकारिणी १४३, १९९
प्रीतिमती ११२

[फ]

फिरोजशाह तुगलक २१३

[ब]

बज्रजंघ ३५४, ३५६
बलभद्र ३६८
बलराम १०७, ११०, १२०, ३७०, ५४८
बाहुबलि ३५५, ४५१
बुद्ध ७०
बृहस्पति ७०
ब्रह्मा ७०, ४११
ब्रह्मदत्ता १७८

[भ]

भगवान् ऋषभदेव ५०१
भगवान् महावीर १०, २९
भगीरथ २४०
भद्रबाहु ४३३, ४८६
भरत ३५५
भीम २६, ३४, १११, १६३, ३६६,
    ५४७
भीमसेन २८, ४१५, ४५१
भीष्म १११, ११५, १२७, ३९०
भीष्मकन्या १२६
भुजबली ४४०
भूतानन्द १७९
भैरवानन्द ४६०
भोगीवर्मा ४२२
भोज ४१३

[म]

मकरध्वज १९८
मण्डुकेश्वर २६
मतसागर १७८
मन्दाकिनी ४३४
मदनवर्मा ४५
मनीषी शुकनास ४४०
मनोरमा २००, ३५६
मरुभूति ३०, १७५, १८१, ५३८
महमूद गजनवी ४१६
महाबल ३५४
महावीर ५९, ६४, १४४, ३०७, ३८७,
    ५०८
महारानी ब्राह्मीदेवी ४७३
महादेवी सुप्रभा २४२
महिमाशाह ४०४, ४१८
महीपाल ४५१, ५४०
महेन्द्र २२, २५, ७८, ३०६
महेन्द्रप्रभ ४८३
महेश्वर ५०९
मागध देव १८५
माघव १११
मानतुंग ५००
माद्रि ३६६
मालदेव ३४
मायावती ११५
मारिदत्ता ४५९

मारसिंह ५१६
मुनिसुव्रत ३५, ३६६
मूलराज २५, ३४
मृगावती १४१
मृगसेना १९९
मेघकुमार ५४७
मेघनाथ २१५, ३७०
मेरुतुंग ४२२
मोरध्वज ३८५

[य]

यक्ष ४६८
यक्षपत्नी ४७४
यदुवंश २८३
यम-यमी १
यशोमती ४५९
यशोवर्मा २६, ४३
यशोधर ४५९
युधिष्ठिर १०४, १३५, ३६६, ६०७
योगिनी २६
योगीन्द्र ५०९
यौधेय ४५९

[र]

रघु १०३, ३८३
रणमल ४०७, ४१२
रति (कामदेवपत्नी) ४६०
रतिपाल ४०४, ४१८
रत्नचन्द्र २८
रत्नसिंह ४६७
रत्नावती ४४६
रथ्यादेवी २३४
रविवर्मा ५१५
राजा प्रसेनजित् २९
राजा मारिदत्त ४६०
राजा महासेन २४०
राजिमती २८६, ४८०, ४८४
राजुल २८७
राजा महेन्द्रदत्त १९८
राधा ४४६
रानी अभयमती ४५४, ४५६
रामचन्द्र १२, २६९, २९९, ३६३, ३६६,
३८७
रामपाल ३६३
रायमल्ल ५१६
रावण २९९, ३६८
रुक्मिणी १११, ११६, ५३८
रोहिता ३९५

[ल]

लक्ष्मण ७९, २३४, २६७, ३६३
लक्ष्मी १६७
लक्ष्मीदेवी २५, २६
लक्ष्मीमती ८०
लवणप्रसाद ४५
ललिताग २८, ३५६, ३६०
लालचन्द्र १९६

[व]

वज्रघोष १७६, १९४,
वज्रनाभ १७७
वज्रबाहु १७८
वज्रवीर्य ३१, ५३८
वज्रसेन १४३
वत्सराज ४१७, ४२७, ४३०
वरदत्त १९९
वर्धमान १९६, २०१, ३९०, ५१७
वल्लभराज २५, ४०१
वसन्तपाल ३४
वसुदेव ८, ५०, ३६४, ३६९, ३८९, ४१५

वसुन्धरा ५३८
वस्तुपाल ३३
बालचन्द्र ३५
विक्रमादित्य ५४५
विग्रहराज ४०१, ४१५
विजयनरेश ४२९, ४९०
विजय सिंह ५१, २१४
विजयसेन ५१
विद्युत्मति ३०
विद्युतवेग १७७
विद्युन्माला १७१
विनयसेन ४७३
विनयादित्य ५१६
विन्दुमेन २१४
विभीषण ३६८
विमलचन्द्र ५१७
विशाखनन्दी १४१
विश्वभूति ३०, १४०, ५३५
विश्वनन्दी १४०
विश्वसेन १७८, २१६, ३८९
विश्वसेना १९९, ४७३
वीरनारायण ४०२, ४१५
वीरमदेव ३९९, ४००
वीरसिंह ४००

[श]

शम्बर १८०, ४७३, ४७४
शम्बासुर ११६
शशिप्रभा ७८, ४०८, ४६८, ५३७
शहाबुद्दीन ४०१, ४१४
शान्तिनाथ १२५, ३८७
शान्तन ३९०
शान्तिवर्मा ५१५
शिव ८, ७०, २३४
शिवादेवी २८४
शिलादित्य ४४९
शिशुपाल १०७, ११०, १११, १२१
शीतला २५
शुभंकरा ३१
शूर्पणखा १७१, ३६७
श्रीकान्त ७८
श्रीकान्ता ७७, ८०, ८५
श्रीकृष्ण २१, ११६, ३८७, ५३८
श्रीजिनदत्त ४७९
श्रीधरमुनि ७७, ७८
श्रीनाथ १३९
श्रीपाल ४१, १७२, १७३
श्रीमती ३५४
श्रीवर्मा ७५, १६६, ५२४
श्रीषेण ७७, ८०, २१४, ५२१
श्रेणिक २९

[स]

सत्यन्धर ४४२
सत्यभामा ११७, २१४, ५४८
सनतकुमार २७
सन्मति १९६
सम्रादित्य १८१
समुद्रगुप्त ४२०, ४२४
समाधिगुप्त १७७
सरस्वती २६, ३६६, ४३५
सर्पकुमार २९
सर्वदेव ४९७
सहदेव ३६६
सागरदत्त ४४४
सागरबुद्धि १९९
सागरसेना ४५४
सातवाहन ३

सात्यकि ३३७, ५४८
सिद्धार्थ ३७९
सिद्धराज ३४
सिद्धसेना ५०९
सिन्धुराज ४३, १०९, ११०
सिंघलभूपति ३०५, ३१२
सिंघराज ४१५
सुकेशी १९९
सुग्रीव ३६८, ३६९
सुतारा २९, २१४
सुदक्षिणा १०२, ३८३, ३८४
सुदर्शन १४३, ४५७
सुदत्त मुनि ४५९
सुधर्माचारि ४६०
सुनन्दा १९८, ३५४, ४४६, ४६४
सुनन्दा सेठानी ४४३
सुभद्रा २४१, ४५१, ५३८
सुमंगला ४६४
सुयोधन १०५
सुरमंजरी ४४४, ५४६
सुल्तान मुहम्मद ४१५
सुवर्णबाहु ८१
सुव्रता २३३, २४२, २४८
सुवर्णनाभ ७७, १०७
सुशीला १४३
सुषेन १९९, २००, २४१
सूर्यप्रभ १४३
सेठ सुदर्शन ४५४
सोम ३४
सोमदत्त १३७
सोमेश्वर ३३०, ४०१, ५१७
सोमनाथ २६
सोमप्रभादेवी ७७
सोमश्री ४६७
सौभाग्यसुन्दरी ४६९
स्वयंप्रभा १४१, १७६, ३६०
स्वर्णनाभ ७९

[ह]

हरिराज ३०५, ३१२, ४१५
हरिश्चन्द्र ३०, १६६
हर्षनाथ ४१५
हीरादेवी ४०२
हेमरथ ११२, १४३